Chapter एक

महाराज प्रियव्रत का चरित्र

इस अध्याय में बताया गया है कि राजा प्रियव्रत किस प्रकार से राजसी ऐश्वर्य तथा वैभव भोग कर पुन: पूर्ण ज्ञान को परावृत हुए। राजा प्रियव्रत पहले सांसारिक ऐश्वर्य से विरक्त थे और बाद में अपने राज्य के प्रति आसक्त हो गए, किन्तु अन्त में वे पुन: भौतिक सुख से विरक्त हो गये और इस प्रकार से उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जब राजा परीक्षित ने यह सुना, तो वे आश्चर्य से स्तब्ध रह गये, किन्तु साथ ही वे कुछ मोहग्रस्त भी हुए कि भौतिक सुख (भुक्ति) से विरक्त रहने वाला एक भक्त किस प्रकार बाद में इसमें आसक्त हो गया। इस प्रकार विस्मित होकर उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से इसके विषय में प्रश्न किया।

राजा के पूछने पर शुकदेव गोस्वामी ने कहा कि भक्तियोग दिव्य होने के कारण किसी भौतिक प्रभाव से विचलित नहीं हो सकता। प्रियव्रत को यह दिव्य ज्ञान नारद के उपदेशों से प्राप्त हुआ था, अत: वे राज्य का सुखोपभोग करने के लिए, भौतिक जीवन में प्रवेश करने के इच्छुक नहीं थे। किन्तु ब्रह्माजी तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र जैसे उच्च देवताओं की प्रार्थना पर उन्होंने राज-पाट स्वीकार कर लिया।

प्रत्येक वस्तु परम नियन्ता भगवान् के वश में है, अत: प्रत्येक प्राणी को उनके अनुसार कार्य करना चाहिए। जिस प्रकार से बैल को नथ से बंधी रस्सी द्वारा वश में रखा जाता है वैसे ही समस्त बद्ध जीवात्माएँ प्रकृति-गुणों के अधीन कार्य करने के लिए वशीभूत हैं। अत: सभ्य मनुष्य वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कार्य करता है। यहाँ तक कि किसी को भौतिक जीवन में भी कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं है। प्रत्येक प्राणी को परमेश्वर द्वारा प्रदत्त एक विशिष्ट प्रकार की देह ग्रहण करनी पड़ती है और उसी के अनुसार उसे नाना प्रकार के सुख-दुख उठाने पड़ते हैं। अत: यदि कोई बनावटी ढंग से भी गृह-त्याग करके वन चला जाता है, तो वह पुन: भौतिक जीवन में लिप्त हो जाता है। इन्द्रियों को वश करने के लिए गृहस्थजीवन एक दुर्ग के समान है। इन्द्रियों को वश में कर लेने के बाद चाहे कोई घर में रहे या वन में, कोई अन्तर नहीं पड़ता।

जब महाराज प्रियव्रत ने ब्रह्माजी के उपदेश का पालन करते हुए राज-सिंहासन स्वीकार कर लिया, तो उनके पिता मनु गृह-त्याग कर वन चले गये। उसके पश्चात् प्रियव्रत ने विश्वकर्मा की पुत्री बर्हिष्मती से विवाह किया। बर्हिष्मती के गर्भ से उनके दस पुत्र हुए जिनके नाम थे—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। उनसे एक कन्या भी जन्मी जिसका नाम ऊर्जस्वती था। महाराज प्रियव्रत अपनी पत्नी तथा परिवार के साथ कई हजार वर्षों तक जीवित रहे। महाराज प्रियव्रत के रथ के पहियों की खाँच से सात समुद्र तथा सात द्वीप उत्पन्न हुए। प्रियव्रत के दस पुत्रों में से तीन ने संन्यास ग्रहण कर लिया। इनके नाम थे—कवि, महावीर तथा सवन। शेष सात पुत्र सात द्वीपों के राजा हुए। महाराज प्रियव्रत के दूसरी पत्नी भी थी जिससे उत्तम, रैवत तथा तामस नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इन सबों ने मनु की पदवी प्राप्त की। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी ने बताया कि महाराज प्रियव्रत ने किस प्रकार मुक्ति प्राप्त की।

राजोवाच
प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने ।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; **प्रिय-व्रतः**—राजा प्रियव्रत; **भागवतः**—परमभक्त; **आत्म-आरामः**—आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखनेवाला; **कथम्**—क्यों; **मुने**—हे मुनि; **गृहे**—घर पर; **अरमत**—भोग किया; **यत्-मूलः**—जिसे मूल कारण मानते हुए; **कर्म-बन्धः**—सकाम कर्मों का बन्धन; **पराभवः**—उद्देश्य की पराजय।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे मुनिवर, परम आत्मदर्शी भगवद्भक्त राजा प्रियव्रत ने ऐसे गृहस्थ जीवन में रहना क्यों पसन्द किया, जो कर्म-बन्धन (सकाम कर्म) का मूल कारण तथा मानव जीवन के उद्देश्य को पराजित करने वाला है?

तात्पर्य : *भागवत* के चतुर्थ स्कंध में श्रील शुकदेव गोस्वामी ने बताया है कि नारद मुनि ने प्रियव्रत को मानव जीवन के उद्देश्य के विषय में पूर्णतया उपदिष्ट किया था। मानव जीवन का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार करने के पश्चात् क्रमशः भगवान् के धाम को वापस जाना है। जब नारद मुनि राजा को इस सम्बन्ध में पूर्णतया उपदेश दे चुके थे, तो फिर उन्होंने भवबन्धन के मूल कारण गृहस्थजीवन में पुनः प्रवेश क्यों किया? महाराज परीक्षित अत्यन्त विस्मित थे कि आत्म-साक्षात्कार करने वाले तथा भगवान् के प्रथम कोटि के भक्त राजा प्रियव्रत गृहस्थजीवन में कैसे रहे। भक्त को गृहस्थजीवन के लिए वस्तुतः

कोई आकर्षण नहीं होता, किन्तु आश्चर्य है कि राजा प्रियव्रत ने गृहस्थजीवन का बहुत अधिक भोग किया। कोई यह तर्क कर सकता है कि गृहस्थजीवन का भोग क्यों अनुचित है? इसका उत्तर यह है कि गृहस्थजीवन में प्राणी सकाम कर्म के फल से बँध जाता है। गृहस्थजीवन का सार इन्द्रिय-सुख है और जब तक मनुष्य इन्द्रिय-सुख प्राप्त करने की दिशा में मन को लगाता रहता है, तब तक वह कर्म-फल से बँधा रहता है। आत्म-साक्षात्कार के प्रति ऐसी अनभिज्ञता ही मानव जीवन की सबसे बड़ी पराजय है। यह मनुष्य जीवन विशेषरूप से कर्मबन्धन से बाहर निकलने के लिए प्राप्त होता है, किन्तु जब तक मनुष्य जीवन के उद्देश्य को विस्मृत करता हुआ सामान्य पशु की तरह आचरण अर्थात् आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—करता है तब तक वह बद्ध जीवन में फंसा रहता है। ऐसा जीवन *स्वरूप-विस्मृति* अर्थात् अपनी वास्तविक वैधानिक स्थिति को भूलना कहलाता है। इसीलिए वैदिक सभ्यता में जीवन का शुभारम्भ ब्रह्मचारी के रूप में होता था। ब्रह्मचारी का परम कर्तव्य होता था कि वह संयम का पालन करे और संभोग से विरत रहे। अत: यदि कोई ब्रह्मचर्य के नियमों में पूर्णत: प्रशिक्षित होता है, तो फिर वह गृहस्थजीवन में प्रवेश नहीं करता। तब वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है, जिसका अर्थ है पूर्ण ब्रह्मचर्य। इस प्रकार राजा परीक्षित आश्चर्यचकित थे कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के नियमों में प्रशिक्षित होकर भी महाराज प्रियव्रत ने गृहस्थ आश्रम में क्यों प्रवेश किया?

इस श्लोक में *भागवत आत्माराम:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई भगवान् के ही समान आत्मतुष्ट होता है, तो उसे *भागवत आत्माराम:* कहा जाता है। तुष्टि कई प्रकार की होती है। कर्मीजन अपने सकाम कर्मों से, ज्ञानीजन ब्रह्मज्योति में मिल जाने तथा भक्तजन भगवान् की सेवा में तत्पर रहने से तुष्ट रहते हैं। भगवान् आत्मतुष्ट रहते हैं, क्योंकि वे परम ऐश्वर्यवान् हैं और जो उनकी सेवा करने से संतुष्ट होता है, वह *भागवत आत्माराम:* कहलाता है। *मनुष्याणां सहस्रेषु*—हजारों पुरुषों में से कोई एक पुरुष मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है और हजारों ऐसे प्रयत्न करने वाले पुरुषों में किसी एक को इस संसार की चिन्ताओं से मुक्ति मिल पाती है तथा वह आत्मतुष्ट हो पाता है। किन्तु यह तुष्टि भी अनन्तिम तुष्टि नहीं होती। ज्ञानी तथा कर्मी सकाम होते हैं और योगी भी, किन्तु भक्त निष्काम होते हैं। भगवान् की सेवा में जो तुष्टि होती है उसे *अकाम* कहते हैं और यही परम तुष्टि है। इसीलिए महाराज परीक्षित ने जिज्ञासा की कि जो परम पद पर रह कर पूर्ण तुष्ट रहा हो वह गृहस्थजीवन से कैसे तुष्ट हो सकता

था ?

इस श्लोक में आगत *पराभव* शब्द भी उल्लेखनीय है। जब कोई पुरुष गृहस्थजीवन में तुष्ट रहता है, तो वह अभागा होता है। क्योंकि ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल चुका होता है। प्रह्लाद महाराज ने बताया है कि गृहस्थजीवन के कार्य-कलापों में मनुष्य किस प्रकार उलझता जाता है। *आत्मपातं गृहं अन्धकूपम्*—गृहस्थ जीवन अंधकूप के समान है। यदि कोई इस कूप में गिर जाता है, तो उसकी आत्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है। अगले श्लोक में यह बताया गया है कि गृहस्थजीवन बिताते हुए भी महाराज प्रियव्रत किस प्रकार मुक्त परमहंस बने रहे।

न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ ।
गृहेष्वभिनिवेशोऽयं पुंसां भवितुमर्हति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; नूनम्—निश्चय ही; मुक्त-सङ्गानाम्—विरक्त; तादृशानाम्—ऐसे; द्विज-ऋषभ—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, विप्रवर; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; अभिनिवेशः—अत्यधिक अनुरक्ति; अयम्—यह; पुंसाम्—मनुष्यों का; भवितुम्—होना; अर्हति—सम्भव है।

भक्त-जन निश्चय ही मुक्त पुरुष होते हैं। अतः हे विप्रवर, वे सम्भवतः गृहकार्यों में दत्तचित्त नहीं रह सकते।

तात्पर्य : *भक्तिरसामृतसिंधु* ग्रन्थ में कहा गया है कि मनुष्य ईश्वर की भक्ति करने से जीवात्मा की दिव्य स्थिति को तथा भगवान् को जान सकता है। भगवान् को जानने का एकमात्र उपाय भक्ति है। *श्रीमद्भागवत* (११.१४.२१) में इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् करते हैं। *भक्त्याहम् एकया ग्राह्यः*—भक्ति के द्वारा ही मुझे जाना जा सकता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* (१८.) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— *भक्त्या मामभिजानाति*—केवल भक्ति द्वारा मुझे समझा जा सकता है। अतः गृहस्थजीवन में लिप्त होना भक्त के लिए असम्भव है क्योंकि भक्त तथा उसके साथी मुक्त होते हैं। प्रत्येक प्राणी आनन्द की खोज में रहता है, किन्तु इस भौतिक जगत में कभी भी आनन्द नहीं मिल सकता। इसकी प्राप्ति केवल भक्ति में सम्भव है। पारिवारिक कार्यों में अनुरक्ति तथा भक्ति में कोई मेल नहीं है। अतः महाराज परीक्षित को यह सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ कि महाराज प्रियव्रत भक्ति के साथ-साथ गृहस्थजीवन में भी अनुरक्त थे।

महतां खलु विप्रर्षे उत्तमश्लोकपादयोः ।
छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः ॥ ३॥

शब्दार्थ

महताम्—परम भक्तों की; खलु—निश्चय ही; विप्र-ऋषे—हे विप्रों में ऋषि; उत्तम-श्लोक-पादयोः—भगवान् के चरणकमलों की; छाया—छाया से; निर्वृत—तृप्त; चित्तानाम्—जिनकी चेतना; न—नहीं; कुटुम्बे—पारिवारिक सदस्यों पर; स्पृहा-मतिः—आसक्ति सहित चेतना।

जिन सिद्ध महात्माओं ने भगवान् के चरणकमलों की शरण ली है वे उन चरणकमलों की छाया से पूर्णतया तृप्त हैं। उनकी चेतना कभी भी कुटुम्बीजनों में आसक्त नहीं हो सकती।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—*निताइ पद-कमल, कोटिचन्द्र सुशीतल, ये छायाय जगत जुड़ाय।* उन्होंने भगवान् नित्यानन्द के चरणकमलों की छाया को इतना शीतल तथा सुन्दर बताया है कि भौतिक कार्यों की अग्नि से सदैव संतप्त रहने वाले समस्त भौतिक वादी उन चरणकमलों की छाया में आकर पूरी-पूरी राहत पाते हैं और तृप्त हो जाते हैं। गृहस्थजीवन तथा आध्यात्मिक जीवन का अन्तर वही समझ सकता है, जिसने परिवार में रहकर कष्ट भोगे हैं। अत: जो एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण में पहुँच जाता है, वह फिर गृहस्थ जीवन के कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट नहीं होता। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.९) में कहा गया है— *परं दृष्ट्वा निवर्तते*—अच्छा स्वाद चखने के पश्चात् मनुष्य निम्न कार्यों का त्याग कर देता है। इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों की शरण में आते ही मनुष्य गृहस्थ जीवन से विरक्त हो जाता है।

संशयोऽयं महान्ब्रह्मन्दारागारसुतादिषु ।
सक्तस्य यत्सिद्धिरभूत्कृष्णे च मतिरच्युता ॥ ४॥

शब्दार्थ

संशयः—सन्देह; अयम्—यह; महान्—महान्; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; दार—स्त्री; आगार—घर; सुत—बच्चे; आदिषु—इत्यादि के प्रति; सक्तस्य—अनुरक्त पुरुष का; यत्—क्योंकि; सिद्धिः—सिद्धि; अभूत्—हो गया; कृष्णे—श्रीकृष्ण में; च—भी; मतिः—आसक्ति; अच्युता—अविचल।

राजा ने आगे पूछा, हे विप्रवर, मेरा सबसे बड़ा सन्देह यही है कि राजा प्रियव्रत जैसे व्यक्ति के लिए, जो अपनी पत्नी, सन्तान तथा घर के प्रति इतने आसक्त थे, कृष्ण-भक्ति में सर्वोच्च अविचल सिद्धि प्राप्त कर पाना कैसे सम्भव हो सका?

तात्पर्य : राजा परीक्षित को आश्चर्य हुआ कि जो व्यक्ति पत्नी, बच्चों तथा घर के प्रति इतना अनुरक्त हो वह किस प्रकार परम कृष्णभक्त हो सकता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा है—*मतिर्न कृष्णे*

परत: स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्। एक *गृहव्रत* अर्थात् जिसने गृहकार्यों के पालन का व्रत ले रखा हो कभी कृष्णभक्त नहीं हो सकता, क्योंकि अधिकांश गृहव्रत इन्द्रियतुष्टि में लगे रहते हैं, अत: वे भौतिक जगत के अन्धतम स्थानों में गिर जाते हैं (*अदान्त-गोभिर्विशतां तमिस्रम्*)। भला ऐसे व्यक्ति कृष्णभक्ति में किस प्रकार पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं? महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से इस सन्देह को दूर करने की प्रार्थना की।

श्रीशुक उवाच
बाढमुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवत रमहंसदयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति. ॥ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; बाढम्—ठीक; उक्तम्—आपने जो कहा; भगवत:—भगवान् का; उत्तम-श्लोकस्य—जिनकी प्रशंसा उत्तम श्लोकों से की जाती है; श्रीमत्-चरण-अरविन्द—अत्यन्त सुन्दर सुरभित कमल पुष्पों के समान चरणों का; मकरन्द—मधु; रसे—अमृत में; आवेशित—डुबोया हुआ, सराबोर; चेतस:—जिनके हृदय; भागवत—भक्तों की; परमहंस—मुक्त पुरुष; दयित—रुचिकर, मनोहारी; कथाम्—यशोगान; किञ्चित्—कभी-कभी; अन्तराय—अवरोधों से; विहताम्—अवरुद्ध; स्वाम्—अपने; शिव-तमाम्—अत्यन्त शुभ; पदवीम्—पद को; न—नहीं; प्रायेण—प्राय:; हिन्वन्ति—त्यागते हैं।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—तुम्हारा कथन सही है। ब्रह्मा के समान सिद्ध पुरुषों के द्वारा दिव्य श्लोकों से प्रशंसित भगवान् की कीर्ति परम भक्तों तथा मुक्त पुरुषों के लिए अत्यन्त मनोहारी है। जो भगवान् के चरणकमलों के अमृततुल्य मधु में अनुरक्त है तथा जिसका मन सदैव उनकी कीर्ति में लीन रहता है, वह भले ही कभी कभी किसी बाधा से रुक जाये, किन्तु जिस परम पद को उसने प्राप्त किया है उसे वह कभी नहीं छोड़ता।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी ने राजा के दोनों कथनों को स्वीकार किया—पहला तो यह कि जो व्यक्ति कृष्णभक्ति को प्राप्त है, वह पुन: भौतिक जीवन स्वीकार नहीं कर सकता और दूसरा यह कि जिसने एक बार भौतिक जीवन स्वीकार कर लिया है, वह कभी भी अपने जीवन में कृष्णभक्ति ग्रहण नहीं कर सकता—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने इस दोनों कथनों को स्वीकार तो कर लिया, किन्तु साथ ही यह स्पष्टीकरण दिया कि जिस व्यक्ति ने पहले भगवान् की कीर्ति मन से स्वीकार की है, वह कभी-कभी बाधाओं से प्रभावित हो सकता है, किन्तु तो भी वह अपनी उच्च भक्ति के पद को नहीं छोड़ पाता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भक्ति के मार्ग में दो प्रकार की बाधाएँ आती हैं। प्रथम, वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करना जिसे *वैष्णव अपराध* कहते हैं श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्तों को वैष्णव अपराध से बचने के लिए सतर्क किया है और इसकी तुलना प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध से की है। जब कोई प्रमत्त हाथी किसी सुन्दर उद्यान में घुस जाता है, तो वह प्रत्येक वस्तु को विनष्ट करके खेत को उजाड़ देता है। इसी प्रकार वैष्णव-अपराध की शक्ति इतनी प्रबल है कि बड़ा से बड़ा भक्त भी अपराध करने पर अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को खो देता हैं। चूँकि कृष्णभक्ति शाश्वत है, अत: इसे पूर्णतया विनष्ट नहीं किया जा सकता, किन्तु इसकी प्रगति को कुछ काल के लिए रोका तो जा ही सकता है। इस प्रकार वैष्णव-अपराध भक्ति के मार्ग में पहली बाधा है। किन्तु कभी-कभी भगवान् या उनके भक्त अपनी किसी की भक्ति को जानबूझ कर अवरुद्ध करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष पूर्वजन्म में जय-विजय नामक वैकुण्ठ के द्वारपाल थे, किन्तु भगवदिच्छा से वे तीन जन्मों तक उनके शत्रु बने रहे। इस प्रकार भगवदिच्छा दूसरे प्रकार की बाधा है। किन्तु दोनों ही दशाओं में एक बार कृष्णभक्ति प्राप्त कर लेने के बाद विशुद्ध भक्त विनष्ट नहीं होता। अपने गुरुजनों (स्वायंभुव तथा ब्रह्मा) के आदेश से प्रियव्रत ने गृहस्थजीवन स्वीकार किया था, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्तियोग के पद से उसको हाथ धोना पड़ा। कृष्णभक्ति तो पूर्ण एवं शाश्वत है, अत: किसी भी दशा में वह नष्ट नहीं हो सकती। चूँकि इस जगत में कृष्णभक्ति के पथ पर अनेक भौतिक बाधाएँ आती हैं, अत: कभी-कभी अनेक अवरोध प्रकट होते दिख सकते हैं। तो भी *भगवद्गीता* (९.३१) में भगवान् श्रीकृष्ण घोषित करते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*—"एक बार मेरे चरणकमलों में शरण लेने पर उसका विनाश नहीं होता।"

इस श्लोक में *शिवतमाम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। इसका अर्थ है "अत्यन्त शुभ।" भक्ति का मार्ग इतना शुभ होता है कि भक्त का कभी नाश नहीं हो सकता। *श्रीमद्भगवद्गीता* (६.४०) में श्रीकृष्ण ने स्वयं इसका वर्णन किया है—*पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते*—"हे अर्जुन! भक्त का न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म में विनाश होता है।" अन्यत्र (६.४३) भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट बताया है कि यह कैसे होता है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

कभी-कभी भगवान् के आदेश से कोई परम भक्त इस भौतिक जगत में सामान्य मनुष्य की भाँति जन्म लेता है। ऐसा भक्त पूर्वाभ्यास के कारण अकारण ही भक्ति में संलग्न हो जाता है। अपने चारों ओर की परिस्थितियों के कारण सभी प्रकार की बाधाओं के आने पर भी वह स्वतः अपनी भक्ति में तब तक तत्पर रहता है, जब तक कि वह फिर से सिद्ध नहीं हो जाता। बिल्वमंगल ठाकुर पूर्वजन्म में महान् भक्त थे, किन्तु अगले जन्म में उनका पतन हुआ और वे एक वेश्या से अनुरक्त हो गये। किन्तु जिस वेश्या के प्रति वे इतने आकृष्ट हुए थे उसी के वचनों से अचानक उनकी जीवन-धारा बदल गई और वे एक महान् भक्त बन गये। सिद्ध भक्तों के जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण ले लेने पर मनुष्य का विनाश नहीं हो सकता (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*)।

तो भी वास्तविकता यही है कि पापमय जीवन के फलों से पूर्णतया मुक्त होने पर ही कोई भक्त बनता है। *भगवद्गीता* (७.२८) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

"जिन पुरुषों ने पिछले जन्मों में तथा इस जीवन में पुण्य कर्मों का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त हुए पुरुष निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हैं।" दूसरी ओर जैसाकि महाराज प्रह्लाद ने कहा है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा

मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

जो व्यक्ति सांसारिक गृहस्थ जीवन—घर, कुटुम्ब, स्त्री, संतान इत्यादि—में अत्यधिक आसक्त है, वह कृष्णभक्ति विकसित नहीं कर सकता।

इन बाह्यरूपी विरोधाभासों का समाधान एक भक्त के जीवन में भगवान् के अनुग्रह से मिलता है, अतः भक्त को कभी मुक्ति के पथ से भ्रष्ट नहीं होना पड़ता, जिसका वर्णन इस श्लोक में *शिवतमां पदवीम्* के रूप में किया गया है।

यर्हि वाव ह राजन्स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो ब्रह्मसत्रेण दीक्षिष्यमाणोऽवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवरगुणगणैकान्तभाजनतया स्वपित्रोपामन्त्रितो भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद्यद्यपि तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—चूँकि, क्योंकि; वाव ह—निस्संदेह; राजन्—हे राजन्; सः—वह; राज-पुत्रः—राजकुमार; प्रियव्रतः—प्रियव्रत; परम—महान; भागवतः—भक्त; नारदस्य—नारद के; चरण—चरणकमल की; उपसेवया—सेवा से; अञ्जसा—शीघ्र; अवगत—परिचित हो गया; परम-अर्थ—दिव्य विषय; स-तत्त्वः—समस्त ज्ञेय तथ्यों सहित; ब्रह्म-सत्रेण—ब्रह्म की निरन्तर चर्चा से; दीक्षिष्यमाणः—पूर्ण समर्पण की कामना से; अवनि-तल—भूतल पर; परिपालनाय—राज्य करने के लिए; आम्नात—शास्त्रों में निर्दिष्ट; प्रवर—सर्वोच्च; गुण—गुणों के; गण—समूह से; एकान्त—विचलित हुए बिना, अविचल; भाजनतया—पात्रता के कारण; स्व-पित्रा—अपने पिता के द्वारा; उपामन्त्रितः—आज्ञा दिये जाने पर; भगवति—भगवान् में; वासुदेवे—सर्वव्यापी ईश्वर में; एव—निश्चय ही; अव्यवधान—बिना विराम के; समाधि-योगेन—मग्न होकर योग साधने से; समावेशित—अत्यन्त समर्पित; सकल—समस्त; कारक—इन्द्रियाँ; क्रिया-कलापः—जिनके समस्त कार्य; न—नहीं; एव—इस प्रकार; अभ्यनन्दत्—अभिनन्दित; यद्यपि—यद्यपि; तत्—वह; अप्रत्याम्नातव्यम्—किसी प्रकार उल्लंघन न करने योग्य; तत्-अधिकरणे—उस पद को ग्रहण करने में; आत्मनः—अपने आपको; अन्यस्मात्—अन्य कार्यों से; असतः—भौतिक; अपि—निश्चय ही; पराभवम्—ह्रास; अन्वीक्षमाणः—दूरदर्शिता से।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्, राजकुमार प्रियव्रत महान् भक्त थे क्योंकि उन्होंने अपने गुरु नारद के चरणकमलों को प्राप्त कर दिव्य ज्ञान में उच्चतम सिद्धि प्राप्त की। परम ज्ञान के कारण वे आत्म-विषयों की चर्चा में सदैव संलग्न रहे और उन्होंने अपना ध्यान किसी ओर नहीं मोड़ा। इसके बाद राजकुमार के पिता ने आदेश दिया कि वह संसार पर राज्य करने का भार ग्रहण करे। उन्होंने प्रियव्रत को आश्वस्त करना चाहा कि शास्त्रों के अनुसार यह उसका कर्तव्य है, किन्तु प्रियव्रत ने तो निरन्तर भक्तियोग की साधना में रत रह कर भगवान् का स्मरण करते हुए समस्त इन्द्रियों को ईश्वर की सेवा में अर्पित कर रखा था। अतः पिता की आज्ञा अनुलंघ्य होने पर भी राजकुमार ने उसका स्वागत नहीं किया। इस प्रकार उन्होंने अपने अन्तःकरण में यह प्रश्न किया कि संसार पर राज्य करने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करके कहीं वे अपनी भक्ति से पराङ्मुख तो नहीं हो जायेंगे?

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा*—"विशुद्ध वैष्णव या गुरु के चरणकमलों की सेवा किये बिना भवसागर से निस्तार नहीं है।" राजकुमार प्रियव्रत नारद के चरणकमलों की नियमित सेवा करते थे और इस प्रकार उन्हें दिव्य-तत्त्वों का सही ज्ञान (*सतत्त्वतः*) हो गया था। *स-तत्त्वतः* का अर्थ है कि प्रियव्रत को आत्मा, भगवान् तथा आत्मा

एवं भगवान् के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान था। वे इस भौतिक जगत के विषय में तथा ईश्वर से इसके सम्बन्ध के विषय में भी सब कुछ जानते थे। अत: राजकुमार ने ईश्वर की भक्ति में अपने को लगाये रखने का निश्चय किया।

जब प्रियव्रत के पिता स्वायंभुव मनु ने उनसे संसार पर राज्य करने के दायित्व को स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने उनके इस प्रस्ताव का स्वागत नहीं किया। यह महान् मुक्त भक्त का लक्षण है। सांसारिक व्यापारों में लीन होते हुए भी वह उनमें रुचि नहीं दिखाता, वरन् भगवान् की सेवा में तल्लीन रहता है। इस प्रकार ईश्वर की सेवा करते हुए भी वह सांसारिक व्यापारों को उनसे प्रभावित हुए बिना ऊपर-ऊपर से करता रहता है। उदाहरणार्थ, बच्चों के प्रति आकर्षण न होते हुए भी वह उनकी चिन्ता करता है और उन्हें भक्त बनने की शिक्षा देता है। इसी प्रकार वह अपनी पत्नी से प्रिय वचन बोलता है, किन्तु वह उससे आसक्त नहीं रहता। भक्ति भक्त के द्वारा परमात्मा के समस्त गुण ग्रहण कर लेता है। श्रीकृष्ण के एक से एक परम सुन्दरी सोलह हजार पत्नियाँ थीं और वे प्रत्येक से प्रिय पति की तरह आचरण करते थे, किन्तु वे किसी के प्रति आकृष्ट या आसक्त नहीं हुए। इसी प्रकार भक्त भले ही गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके अपनी पत्नी तथा पुत्रों से अत्यन्त प्यार जताता रहे, किन्तु इन कार्यों में वह कभी आसक्त नहीं होता।

यह श्लोक बताता है कि अपने गुरु के चरणकमलों की सेवा करने से प्रियव्रत को शीघ्र ही कृष्णभक्ति की सिद्ध-अवस्था प्राप्त हो गई। आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की यही एकमात्र विधि है। वेदों में कहा गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन: ॥

"यदि किसी को भगवान् तथा गुरु में अविचल श्रद्धा हो, तो मनुष्य को वैदिक ज्ञान का सार प्राप्त हो जाता है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३) भक्त निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करता रहता है। "हरे कृष्ण मंत्र" का कीर्तन करते हुए उसे 'कृष्ण' तथा 'हरे' शब्दों से तुरन्त ही ईश्वर की समस्त लीलाओं का स्मरण हो आता है। चूँकि भक्त का समग्र जीवन ईश्वर की भक्ति में समर्पित रहता है, अत: वह एक क्षण के लिए भी ईश्वर को नहीं भुला पाता। जिस प्रकार एक सामान्य पुरुष अपने मन को भौतिक

गतिविधियों में लगाता है उसी प्रकार एक भक्त अपने मन को आध्यात्मिक कार्यों में लगाता है। इसे *ब्रह्म-सत्र* अथवा सदैव भगवान् का चिन्तन कहते हैं। श्रीनारद ने राजकुमार प्रियव्रत को इस साधना में पूर्णतया दीक्षित कर दिया था।

अथ ह भगवानादिदेव एतस्य गुणविसर्गस्य परिबृंहणानुध्यानव्यवसितसकलजगदभिप्राय आत्मयोनिरखिलनिगमनिजगणपरिवेष्टितः स्वभवनादवततार. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; ह—निस्संदेह; भगवान्—सर्वशक्तिमान; आदि-देवः—प्रथम देवता; एतस्य—इस ब्रह्माण्ड के; गुण-विसर्गस्य—तीनों गुणों की उत्पत्ति; परिबृंहण—कल्याण; अनुध्यान—सदैव ध्यानमग्न; व्यवसित—ज्ञात; सकल—सम्पूर्ण; जगत्—ब्रह्माण्ड का; अभिप्रायः—परम उद्देश्य; आत्म—परम-आत्मा; योनिः—जिसके जन्म का स्रोत; अखिल—सम्पूर्ण; निगम—वेदों के द्वारा; निज-गण—अपने गणों (सहयोगियों) से; परिवेष्टितः—घिरे हुए; स्व-भवनात्—अपने धाम से; अवततार—नीचे आये।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे बोलेः इस ब्रह्माण्ड के आदि जीव एवं सर्वशक्तिमान देवता ब्रह्माजी हैं, जो इस सृष्टि की समस्त गतिविधियों के विकास के लिए उत्तरदायी हैं। भगवान् से प्रत्यक्ष जन्म लेकर वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हित को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं, क्योंकि वे सृष्टि का उद्देश्य जानते हैं। ऐसे परम शक्तिशाली देवता ब्रह्माजी अपने पार्षदों तथा मूर्तिमान वेदों सहित अपने सर्वोच्च लोक से उस स्थान पर उतरे जहाँ राजकुमार प्रियव्रत ध्यान कर रहे थे।

तात्पर्य : जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में व्याख्या की गई है, भगवान् विष्णु प्रत्येक वस्तु के कारण है—*जन्माद्यस्य यतः।* चूँकि ब्रह्मा का जन्म सीधे भगवान् विष्णु से हुआ था, अतः वे *आत्मयोनि* कहलाते हैं। उन्हें *भगवान्* भी कहा जाता है, यद्यपि सामान्य रूप से भगवान् से विष्णु या श्रीकृष्ण का बोध होता है। कभी-कभी ब्रह्मा, नारद या शिव जैसी महान् विभूतियों को भी भगवान् कहकर सम्बोधित किया जाता है क्योंकि वे भगवान् का कार्य करते हैं। ब्रह्मा को इसलिए भगवान् कहा जाता है, क्योंकि वे इस ब्रह्माण्ड के गौण स्रष्टा हैं। वे सदैव इस विचार में रहते हैं कि इस भौतिक जगत में भोग हेतु आई बद्ध-जीवात्माओं को किस प्रकार उन्नत किया जाये। इसीलिए वे ब्रह्माण्ड भर में प्रत्येक प्राणी के मार्गदर्शन हेतु वैदिक ज्ञान को प्रसारित करते रहते हैं।

वैदिक ज्ञान के दो विभाग किये गये हैं—प्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग। निवृत्ति मार्ग इन्द्रिय सुख के बहिष्कार का मार्ग है, जबकि प्रवृत्ति मार्ग वह मार्ग है, जिससे जीवात्माएँ सुखोपभोग का अवसर

दिये जाने के साथ ही इस प्रकार निर्देशित की जाती हैं कि वे भगवान् के धाम को वापस जा सकें। चूँकि ब्रह्माण्ड पर राज्य करना एक महान् उत्तरदायित्व है, अत: विभिन्न युगों में ब्रह्मा अनेक मनुओं को सृष्टि भार उठाने के लिए बाध्य करते रहते हैं। प्रत्येक मनु के अधीन अनेक राजा रहते हैं, जो ब्रह्मा के कार्य को सम्पादित करते रहते हैं। पिछले विवरण से यह समझा जा सकता है कि ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद ने विश्व का शासन इसलिए सँभाला क्योंकि उनके बड़े भाई प्रियव्रत जीवन के प्रारम्भ से ही तप कर रहे थे। इस प्रकार प्रचेताओं तक ब्रह्माण्ड के राजा उत्तानपाद के वंशज ही रहे। चूँकि प्रचेताओं के पश्चात् कोई उपयुक्त राजा नहीं हुआ, अत: स्वायंभुव मनु गन्धमादन पर्वत से अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत को वापस लाने पहुँचे, जहाँ वे ध्यान कर रहे थे। उन्होंने प्रियव्रत से विश्व का शासन सँभालने के लिए प्रार्थना की। किन्तु जब उन्होंने मना कर दिया, तो प्रियव्रत को मनाने के लिए सत्यलोक से ब्रह्माजी नीचे उतरे। ब्रह्माजी अकेले नहीं, आए थे उनके साथ मरीचि, आत्रेय तथा वसिष्ठ जैसे अन्य मुनि भी थे। वे अपने साथ अपने स्थायी साथी साक्षात् वेदों को भी लेते आये जिससे प्रियव्रत को विश्वास हो सके कि वैदिक आज्ञा का पालन करना तथा विश्व-शासन का भार सँभालना उनके लिए अनिवार्य था।

इस श्लोक में *स्व-भवनात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिससे यह सूचित होता है कि ब्रह्माजी अपने धाम से उतरे। प्रत्येक देवता का अपना धाम है। देवताओं के राजा इन्द्र, चन्द्र लोक के स्वामी चन्द्र तथा सूर्य ग्रह के प्रमुख श्रीविग्रह सूर्य के अपने-अपने धाम हैं। देवताओं की संख्या कई लाख है और विभिन्न नक्षत्र तथा ग्रह उनके धामस्वरूप हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में मिलती है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—"जो देवताओं की उपासना करते हैं, वे उनके लोकों को जाते हैं।" भगवान् ब्रह्मा का धाम सर्वोच्च लोक, सत्यलोक अथवा कभी-कभी ब्रह्मलोक कहलाता है। सामान्य रूप से ब्रह्मलोक वैकुण्ठ जगत का सूचक है और ब्रह्मा का धाम सत्यलोक है, किन्तु वहाँ पर ब्रह्मा के निवास करने के कारण कभी-कभी इसे ब्रह्मलोक भी कहा जाता है।

स तत्र तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथममरपरिवृढैरभिपूज्यमान: पथि पथि च वरूथश: सिद्धगन्धर्वसाध्यचारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्धमादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान् ब्रह्मा); तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; गगन-तले—आकाश मंडप के नीचे; उडु-पतिः—चन्द्रमा; इव—सदृश; विमान-आवलिभिः—अपने-अपने विमानों में; अनुपथम्—पथ में; अमर—देवताओं के; परिवृढैः—नायकों द्वारा; अभिपूज्यमानः—पूजित होकर; पथि पथि—एक के बाद एक पथ पर; च—भी; वरूथशः—समूहों में; सिद्ध—सिद्धलोक के वासियों द्वारा; गन्धर्व—गन्धर्वलोक के वासियों द्वारा; साध्य—साध्यलोक के वासियों द्वारा; चारण—चारणलोक के वासियों द्वारा; मुनि-गणैः—तथा मुनियों के द्वारा; उपगीयमानः—पूजित होकर; गन्ध-मादन—उस लोक का जहाँ गंधमादन पर्वत है; द्रोणीम्—घाटी या किनारे को; अवभासयन्—प्रकाशित करते हुए; उपससर्प—पहुँचा।.

ज्योंही भगवान् ब्रह्मा अपने वाहन हंस पर आरूढ होकर नीचे उतरे, तो सिद्धलोक, गंधर्वलोक, साध्यलोक तथा चारणलोक के समस्त वासी तथा मुनि एवं अपने-अपने विमानों में उड़ते हुए देवताओं ने आकाशमण्डल के नीचे एकत्र होकर उनका स्वागत किया और पूजा की। विभिन्न लोकों के वासियों से आदर तथा स्तवन पाकर भगवान् ब्रह्मा ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों प्रकाशमान नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा हो। तब ब्रह्माजी का विशाल हंस गंधमादन की घाटी में प्रियव्रत के पास पहुँचा जहाँ वे बैठे हुए थे।

तात्पर्य : इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओं के लोकों के बीच नियमित अन्तर्ग्रहीय यात्रा होती है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह भी प्रकट होती है कि एक ऐसा लोक भी है, जो पर्वतों से अधिकतर आच्छादित है, जिनमें से गन्धमादन पर्वत एक है। इस पर्वत पर प्रियव्रत, नारद तथा स्वायंभुव मनु—ये तीन महापुरुष आसीन थे। *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड विभिन्न लोकों से पूरित है और प्रत्येक लोक का अपना अद्वितीय ऐश्वर्य है। उदाहरणार्थ, सिद्धलोक के सभी वासी योगशक्तियों में अत्यधिक सिद्ध हैं। वे विमानों या अन्य उड़ने वाले यानों के बिना ही एक ग्रह से दूसरे तक उड़ान भर सकते हैं। इसी तरह गन्धर्वलोक के वासी गायन विद्या में कुशल हैं और साध्यलोक के वासी महान् साधु हैं। निस्सन्देह, अन्तर्ग्रहीय व्यवस्था का अस्तित्व है तथा एक ग्रह के वासी दूसरे ग्रह को जाते रहते हैं। लेकिन पृथ्वी पर अभी तक कोई ऐसी मशीन आविष्कृत नहीं हो पायी जो एक ग्रह से दूसरे को जा सके, यद्यपि चन्द्रमा तक सीधे जाने का असफल प्रयास किया गया है।

तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः सहसैवोत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ह वा—निश्चय ही; एनम्—उसको; देव-ऋषिः—देवर्षि नारद; हंस-यानेन—अपने वाहन हंस द्वारा; पितरम्—अपने पिता; भगवन्तम्—सर्वशक्तिमान; हिरण्य-गर्भम्—भगवान् ब्रह्मा को; उपलभमानः—समझकर; सहसा एव—तुरन्त; उत्थाय—उठ कर; अर्हणेन—पूजन-सामग्री; सह—सहित; पिता-पुत्राभ्याम्—प्रियव्रत तथा उनके पिता स्वायंभुव मनु; अवहित-अञ्जलिः—आदरपूर्वक हाथ जोड़कर; उपतस्थे—अर्चना की।.

नारद मुनि के पिता भगवान् ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। नारद ने ज्योंही विशाल हंस को देखा, वे तुरन्त समझ गये कि ब्रह्माजी आए हैं, अतः वे स्वायंभुव मनु तथा अपने द्वारा उपदेश दिये जाने वाले उनके पुत्र प्रियव्रत सहित अविलम्ब खड़े हो गये। तब उन्होंने हाथ जोड़कर आदरपूर्वक भगवान् की आराधना प्रारम्भ की।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में आया है, ब्रह्माजी के साथ अन्य देवता भी थे, किन्तु उनका विशेष विशिष्ट विशाल हंस था। अत: जैसे ही नारद मुनि ने हंस को देखा, वे समझ गये कि उनके पिता ब्रह्माजी, जिन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है, आ रहे हैं। वे ब्रह्माजी का स्वागत करने तथा उनका सम्मान करने के लिए तुरन्त स्वायंभुव मनु तथा उनके पुत्र प्रियव्रत सहित उठ खड़े हुए।

भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतारसुजयः प्रियव्रतमादिपुरुषस्तं सदयहासावलोक इति होवाच. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ब्रह्मा; अपि—भी; भारत—हे राजा परीक्षित; तत्—उनके द्वारा; उपनीत—आगे लायी गयी; अर्हणः—पूजन-सामग्री; सूक्त—वैदिक शिष्टाचार के अनुसार; वाकेन—वाणी से; अतितराम्—अत्यधिक; उदित—प्रशंसित; गुण-गण—गुणसमूह; अवतार—नीचे उतरने के कारण; सु-जयः—जिसकी कीर्ति; प्रियव्रतम्—प्रियव्रत को; आदि-पुरुषः—आदि पुरुष; तम्—उनको; स-दय—दयापूर्वक; हास—हँसते हुए; अवलोकः—जिनकी दृष्टि; इति—इस प्रकार; ह—निश्चय ही; उवाच—कहा।.

हे राजा परीक्षित, चूँकि ब्रह्माजी सत्यलोक से भूलोक में उतर चुके थे, अतः नारद मुनि, राजकुमार प्रियव्रत तथा स्वायंभुव मनु ने आगे बढ़कर पूजन सामग्री अर्पित की और वैदिक विधि के अनुसार अत्यन्त शिष्ट वाणी से उनकी प्रशंसा की। तब इस ब्रह्माण्ड के प्रथम पुरुष ब्रह्मा प्रियव्रत पर सदय मन्द मुस्कान-युक्त दृष्टि डालते हुए उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : प्रियव्रत से भेंट करने के लिए ब्रह्माजी सत्यलोक से नीचे उतरे जिससे यह सूचित होता है कि मामला अत्यन्त गंभीर था। नारद मुनि प्रियव्रत को आध्यात्मिक जीवन, ज्ञान, त्याग तथा भक्ति के मूल्य का उपदेश देने के लिए पधारे थे और ब्रह्मा यह जानते थे कि नारद के उपेदश अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। अत: ब्रह्माजी जानते थे कि जब तक वे स्वयं प्रियव्रत को मनाने के लिए गंधमादन पर्वत नहीं जाते, प्रियव्रत अपने पिता की आज्ञा मानने वाले नहीं। ब्रह्माजी का उद्देश्य प्रियव्रत के संकल्प को भंग करना था। अत: उन्होंने पहले प्रियव्रत को सदय दृष्टि से देखा। उनके मन्द हास तथा दयापूर्ण

भंगिमा से यह भी सूचित हो रहा था कि यद्यपि ब्रह्माजी प्रियव्रत से गृहस्थ जीवन स्वीकार करने का अनुरोध करेंगे, किन्तु प्रियव्रत का भक्तियोग से सम्पर्क टूटेगा नहीं। वैष्णव के आशीर्वाद से सब कुछ सम्भव है। *भक्तिरसामृतसिंधु* में इसे *कृपा-सिद्धि* अथवा गुरुजन के आशीर्वाद मात्र से सिद्धि की प्राप्ति कहा गया है। यदि शास्त्रों में उल्लिखित अनुष्ठानों का पालन किया जाये, तो प्राणी प्राय: मुक्त और सिद्ध बन जाता है। फिर भी अनेक पुरुष अपने गुरु या गुरुजन के आशीर्वाद मात्र से सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

प्रियव्रत भगवान् ब्रह्मा के पौत्र थे और जैसाकि कभी-कभी पौत्र तथा पितामह में हँसी-हँसी में स्पर्धा होती है, इस प्रसंग में भी प्रियव्रत ध्यान में स्थित के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे, जबकि ब्रह्माजी उन्हें ब्रह्माण्ड का शासक बनाने पर तुल गये थे। अत: ब्रह्मा की सदय मुस्कान तथा दृष्टि का अभिप्राय था, ''हे प्रियव्रत! तुमने संकल्प लिया है कि गृहस्थ जीवन स्वीकार नहीं करोगे, किन्तु मैं तुम्हे विश्वास दिलाने पर तुल गया हूँ कि तुम्हें इसे स्वीकार करना होगा।'' वास्तव में ब्रह्माजी प्रियव्रत के त्याग, तप, संयम तथा अनुरक्ति के उच्च आदर्श की प्रशंसा करने के लिए पधारे थे, जिससे वह गृहस्थ जीवन को स्वीकार कर लेने पर भी भक्ति के मार्ग से विचलित न हो।

इस श्लोक में *सूक्त-वाकेन* एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। वेदों में ब्रह्मा की यह स्तुति है—*हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्।* बह्मा का स्वागत उचित वैदिक स्तुतियों से किया गया, इसलिए वे अत्यधिक प्रसन्न थे।

श्रीभगवानुवाच
निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम् ।
वयं भवस्ते तत एष महर्षि-
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—परम पुरुष ब्रह्मा ने कहा; निबोध—ध्यानपूर्वक सुनो; तात—मेरे प्रिय पुत्र; इदम्—यह; ऋतम्—सत्य; ब्रवीमि—बोल रहा हूँ; मा—मत; असूयितुम्—ईर्ष्यालु; देवम्—भगवान्; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; अप्रमेयम्—जो हमारे प्रयोगात्मक ज्ञान से परे है; वयम्—हम; भव:—शिवजी; ते—तुम्हारा; तत:—पिता; एष:—यह; महा-ऋषि:—नारद; वहाम:—पालन करते हैं; सर्वे—सभी; विवशा:—विचलित होने में अशक्त; यस्य—जिसकी; दिष्टम्—आज्ञा।

इस ब्रह्माण्ड के परम पुरुष भगवान् ब्रह्मा ने कहा—हे प्रियव्रत, मैं जो कुछ कहूँ उसे ध्यान

से सुनो। परमेश्वर से ईर्ष्या न करो क्योंकि वे हमारे प्रयोगात्मक परिमापों से परे हैं। हम सबों को, जिसमें शिवजी, तुम्हारे पिता तथा महर्षि नारद भी सम्मिलित हैं, परमेश्वर की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। हम उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते।

तात्पर्य : बारह भक्त महाजनों में से चार—स्वयं ब्रह्मा, उनके पुत्र नारद, स्वायंभुव मनु तथा शिवजी—प्रियव्रत के सम्मुख उपस्थित थे। उनके साथ अनेक अधिकृत साधुजन भी थे। ब्रह्माजी प्रियव्रत को सर्वप्रथम यह बताना चाहते थे कि यद्यपि ये सभी महापुरुष *अधिकारी* हैं, किन्तु वे इस श्लोक में वर्णित *देव* अर्थात् *सदैव कीर्तिमय* भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। भगवान् की शक्ति, कीर्ति तथा शौर्य कभी न घटने वाले हैं। *ईशोपनिषद्* में ईश्वर को *अपापविद्ध* कहा गया है, जिससे यह सूचित होता है कि वे भौतिक पापों से कभी प्रभावित नहीं होते। *श्रीमद्भागवत* में भी वर्णित किया गया है कि भगवान् इतने शक्तिशाली हैं कि उन पर हमारे विचार में समझे जानेवाला कोई भी कुत्सित कृत्य असर नहीं कर सकता है। परमेश्वर के पद की व्याख्या करने के लिए कभी-कभी सूर्य का उदाहरण दिया जाता है, जो मिट्टी में से मूत्र को उड़ा देता है, किन्तु स्वयं कलुषित नहीं होता। भगवान् पर यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता कि वे कोई गलत काम करते हैं।

ब्रह्माजी प्रियव्रत को ब्रह्माण्ड के शासन का भार स्वीकार करने के लिए प्रेरित करने गये, तो वे किसी सनकवश नहीं गये। वे तो भगवान् की आज्ञा का ही पालन कर रहे थे। दरअसल, ब्रह्मा तथा अन्य प्रमाणित अधिकारी उन भगवान् की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं करते, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में विराजमान हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये*—ईश्वर ने ब्रह्मा को उनके हृदय के भीतर से वैदिक ज्ञान की शिक्षा दी। जीवात्मा भक्ति से जितना ही पवित्र होता जाता है, वह भगवान् के उतने ही निकट सम्पर्क में आता है, जैसाकि *श्रीमद्भगवद्गीता* (१०.१०) में पुष्टि की गई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो मेरी सतत भक्ति से और प्रीतिपूर्वक पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे मेरे पास आ सकें।'' अत: ब्रह्माजी अपनी सनक से प्रियव्रत के पास नहीं आये थे अपितु यही समझना

चाहिए कि भगवान् ने उन्हें प्रियव्रत को मनाने की आज्ञा दी थी। चूँकि उन्हें भौतिक इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता इसीलिए उन्हें यहाँ *अप्रमेय* कहा गया है। इसीलिए भगवान् ब्रह्मा ने प्रियव्रत को पहले यह समझाया कि वे उनके शब्दों को ध्यानपूर्वक और ईर्ष्यारहित होकर सुनें।

यहाँ पर संकेत दिया गया है कि अन्य कुछ कार्य करना चाहते हुए भी मनुष्य को कुछ विशिष्ट कार्य क्यों करने पड़ते हैं। कोई भी प्राणी, चाहे वह शिवजी, ब्रह्माजी, मनु या महर्षि नारद के समान शक्तिशाली क्यों न हो, परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। ये सभी महाजन निश्चय ही अत्यन्त शक्तिमान हैं, किन्तु उनमें भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने की तनिक भी शक्ति नहीं है। चूँकि ब्रह्माजी भगवान् की आज्ञानुसार प्रियव्रत के पास आये थे, अत: सर्वप्रथम उन्होंने प्रियव्रत के मन से इस भ्रान्ति को दूर करना चाहा कि वे उसके शत्रु जैसा कार्य कर रहे हैं। ब्रह्माजी परमेश्वर की आज्ञा का पालन कर रहे थे अतएव प्रियव्रत को ब्रह्माजी के आदेश को जो भगवान् की इच्छा के अनुसार था, स्वीकार करना श्रेयस्कर था।

न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा
न योगवीर्येण मनीषया वा ।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा
कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; तस्य—उसका; कश्चित्—कोई भी; तपसा—तप से; विद्यया—विद्या से; वा—अथवा; न—कभी नहीं; योग—योगबल से; वीर्येण—शारीरिक बल से; मनीषया—बुद्धि से; वा—अथवा; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अर्थ—भौतिक ऐश्वर्य से; धर्मैः—धर्म से; परतः—किसी बाह्य शक्ति से; स्वतः—अपने प्रयास से; वा—अथवा; कृतम्—आज्ञा; विहन्तुम्—टालने में; तनु-भृत्—भौतिक देह स्वीकार करने वाला जीवात्मा; विभूयात्—समर्थ है।

भगवान् की आज्ञा को कोई न तो तपोबल, वैदिक शिक्षा, योगबल, शारीरिक बल या बुद्धिबल से टाल सकता है, न ही कोई अपने धर्म की शक्ति या भौतिक ऐश्वर्य से अथवा किसी अन्य उपाय से, न स्वयं या न पराई सहायता से परमात्मा के आदेशों को चुनौती दे सकता है। ब्रह्मा से लेकर एक चींटी तक, किसी भी जीवात्मा के लिए ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है।

तात्पर्य : *गर्ग उपनिषद्* में गर्गमुनि अपनी पत्नी से कहते हैं—*एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गर्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः*—"हे गर्गी! प्रत्येक वस्तु भगवान् के वश में है। यहाँ तक कि सूर्य-चन्द्र तथा अन्य नियन्ता एवं देवतागण, यथा ब्रह्मा तथा इन्द्र, सभी उनके वश में हैं।" चाहे सामान्य मनुष्य

हो या पशु, जिस किसी ने भौतिक देह धारण की है, वह भगवान् की नियंत्रण-सीमा से बाहर नहीं रह सकता। भौतिक देह में इन्द्रियाँ सम्मिलित हैं, किन्तु तथाकथित वैज्ञानिकों की इन्द्रिय-गतिविधियाँ निरर्थक लगती हैं क्योंकि वे ईश्वर के नियम अथवा प्रकृति के नियमों से विमुक्त होना चाहते हैं। *भगवद्गीता* से (७.१४) भी इसकी पुष्टि होती है। *मम माया दुरत्यया*—प्रकृति के नियंत्रण को पार कर पाना दुस्तर है, क्योंकि इसके पीछे भगवान् का हाथ रहता है। कभी-कभी हम अपने तप, त्याग तथा योगबल पर गर्व करते हैं, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के नियमों तथा आदेशों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। चाहे योग शक्ति से हो, वैज्ञानिक शिक्षा से हो अथवा तपोबल से हो। यह असम्भव है।

यहाँ *मनीषया* (बुद्धि से) शब्द का विशेष महत्त्व है। प्रियव्रत तर्क कर सकते थे कि ब्रह्मा उनसे गृहस्थ जीवन तथा राजपाट स्वीकार करने का अनुरोध कर रहे हैं, जबकि नारद मुनि ने उनसे गृहस्थ जीवन में न प्रवेश करने तथा भौतिक मामलों में न उलझनें का उपदेश दिया था। इनमें से किसे स्वीकार किया जाये? यह प्रियव्रत के समक्ष उलझन थी, क्योंकि ब्रह्माजी तथा नारद मुनि दोनों ही प्रामाणिक महाजन हैं। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत *मनीषया* शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि इससे सूचित होता है कि नारद मुनि तथा ब्रह्मा दोनों ही उपदेश देने के लिए अधिकृत थे, अत: प्रियव्रत इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, किन्तु उन्हें दोनों का उपदेश पालन करने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करना था। ऐसी दुविधाओं को हल करने के लिए श्रील रूप गोस्वामी ने बुद्धि का अत्यन्त स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया है। उनका कथन है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जत:।

निर्बन्ध: कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमच्युते॥

विषयान् अर्थात् भौतिक व्यापारों को बिना आसक्ति के स्वीकार करना चाहिए और प्रत्येक वस्तु ईश्वर की सेवा से जोड़ दी जानी चाहिए। यही वास्तविक बुद्धि (मनीषा) है। यदि कोई कृष्ण की सेवा के लिए प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करता है, तो भौतिक जगत में गृहस्थ होना या राजा होना हानिकर नहीं है। इसके लिए विमल बुद्धि की आवश्यकता है। मायावादी दार्शनिक कहते हैं—*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—यह संसार मिथ्या है और केवल परब्रह्म ही सत्य है। किन्तु ब्रह्मा तथा महामुनि नारद की

परम्परा का अर्थात् ब्रह्मसम्प्रदाय का बुद्धिमान भक्त इस जगत को मिथ्या नहीं मानता। जिसकी भगवान् ने सृष्टि की वह मिथ्या कैसे हो सकती है, किन्तु सुख के लिए उसका उपयोग अवश्य ही मिथ्या है। जैसाकि *भगवद्गीता* (.२९) में कहा गया है कि प्रत्येक वस् तु भगवान् के भोग के निमित्त है। *भोक्तारंयज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—भगवान् सम्पूर्ण यज्ञ तथा तप के परम भोक्ता हैं, अत: उनके भोग तथा सेवा के निमित्त ही प्रत्येक वस्तु होनी चाहिए। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का ध्यान न रखते हुए प्रत्येक वस्तु का उपभोग परमेश्वर की सेवा के लिए करना चाहिए। अपनी बुद्धि का यही उचित उपयोग है।

भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं
शोकाय मोहाय सदा भयाय ।
सुखाय दु:खाय च देहयोग-
मव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भवाय—जन्म के निमित्त; नाशाय—मृत्यु के लिए; च—भी; कर्म—कार्य; कर्तुम्—करने के लिए; शोकाय—शोक के लिए; मोहाय—मोह के लिए; सदा—सदैव; भयाय—भय के लिए; सुखाय—सुख हेतु; दु:खाय—दुख हेतु; च—भी; देह-योगम्—भौतिक देह से सम्बन्ध; अव्यक्त—भगवान् द्वारा; दिष्टम्—निर्देशित; जनता—जीवात्माएँ; अङ्ग—हे प्रियव्रत; धत्ते—धारण करती हैं।.

हे प्रियव्रत, भगवान् की आज्ञा से ही सभी जीवात्माएँ जन्म, मृत्यु, कर्म, शोक, मोह, भविष्य के संकटों के प्रति भय, सुख तथा दुख के हेतु विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करती हैं।

तात्पर्य : जितनी भी जीवात्माएँ इस संसार में आई हैं, वे सुखोपभोग के प्रयोजन से आई हैं, किन्तु अपने कर्म के अनुसार उन्हें भगवान् की आज्ञा से प्रकृति द्वारा प्रदत्त एक न एक शरीर धारण करना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—*प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:*—भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति सारे कार्य करती है। आधुनिक विज्ञानी यह नहीं जानते कि चौरासी लाख प्रकार के शरीर क्यों हैं। तथ्य यह है कि सभी शरीरों को उनकी इच्छानुसार कार्य करने की भगवान् छूट देते हैं, किन्तु इसके साथ ही उन्हें अपने कर्मों के फल के अनुसार शरीर स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के शरीर हैं। कुछ जीव अल्पजीवी हैं, तो कुछ दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं। किन्तु इनमें से प्रत्येक जीव, ब्रह्मा से लेकर चींटी तक, भगवान् के आदेशानुसार कार्य करता है, क्योंकि वे प्रत्येक हृदय में स्थित हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१.१) में इस प्रकार हुई

है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सभी प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति होती है।" किन्तु यह सच नहीं है कि कुछ जीवात्माओं को भगवान् एक प्रकार का और अन्यों को अन्य प्रकार का आदेश देते हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा की कुछ-न-कुछ इच्छा होती है और परमेश्वर उसकी पूर्ति के लिए उसे अवसर प्रदान करते हैं। इसलिए सर्वोत्तम मार्ग यही है कि भगवान् को आत्मसमर्पण करके उनकी इच्छानुसार कार्य किया जाये। जो ऐसा करता है, वह मुक्त हो जाता है।

यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः
सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय
प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; वाचि—वैदिक आदेश के रूप में; तन्त्याम्—लम्बी रस्सी से; गुण—गुण; कर्म—(तथा) कर्म की; दामभिः—रस्सियों से; सु-दुस्तरैः—टाल पाना अत्यन्त कठिन है; वत्स—हे बालक; वयम्—हम; सु-योजिताः—लगे हुए हैं; सर्वे—सभी; वहामः—पालन करते हैं; बलिम्—ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उनकी आज्ञाओं को; ईश्वराय—भगवान् को; प्रोताः—बद्ध होकर; नसि—नाक में; इव—सदृश; द्वि-पदे—दो पैर वाले (हाँकने वाले) को; चतुः-पदः—चौपाया (बैल)।

हे बालक, हम सभी अपने गुण तथा कर्म के अनुसार वैदिक आज्ञा द्वारा वर्णाश्रम विभागों में बँधे हुए हैं। इन विभागों से बच पाना कठिन है, क्योंकि ये वैज्ञानिक विधि से व्यवस्थित हैं। अतः हमें वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों का पालन उन बैलों के समान करना चाहिए जो नाक में बँधी नकेल खींचने वाले चालक के आदेश पर चलने के लिए बाध्य हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *तन्त्यां गुणकर्मदामभिः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हमें प्रकृति के गुणों के साथ अपने संसर्ग के अनुसार शरीर प्राप्त होता है और तदनुसार हम कर्म करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है गुण तथा कर्म के अनुसार सामाजिक प्रणाली के चार विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—व्यवस्थित हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं, क्योंकि कुछ का कहना है कि जब पूर्वजन्म के गुण तथा कर्म के अनुसार देह प्राप्त होती है, तो जन्म के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक पदवी निर्धारित होनी चाहिए। किन्तु अन्यों का कथन है कि पूर्वजन्म के गुण तथा कर्म के अनुसार जन्म ही

महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं क्योंकि इस जीवन में भी गुण तथा कर्म बदल सकते हैं। इस प्रकार उनका कहना है कि इसी जीवन के गुण तथा कर्म के अनुसार वर्णाश्रम के चार विभाग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—किये जाने चाहिए। नारद मुनि ने *श्रीमद्भागवत* में इस मत की पुष्टि की है। महाराज युधिष्ठिर को गुण तथा कर्म के लक्षणों का उपदेश देते हुए नारद मुनि ने बताया कि इन लक्षणों से समाज-विभाजन को नियंत्रित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर शूद्र के लक्षणों वाला हो, तो उसे शूद्र कहलाना चाहिए और इसी प्रकार यदि शूद्र में, ब्राह्मण के गुण हों, तो उसे ब्राह्मण कहलाना चाहिए।

वर्णाश्रम प्रणाली वैज्ञानिक है, अत: यदि हम वर्ण तथा आश्रम के विभागों को वैदिक निर्देशों के अनुसार स्वीकार कर लें, तो हमारा जीवन सफल हो सकेगा। जब तक मानव समाज इस प्रकार से विभाजित और व्यवस्थित नहीं हो जाता, वह कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। *विष्णुपुराण* (३.८.९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पंथा नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

''भगवान् विष्णु की आराधना वर्णाश्रम प्रणाली में निर्देशित कर्तव्यों के समुचित पालन से की जाती है। भगवान् को प्रसन्न करने का कोई अन्य साधन नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वह वर्णाश्रम धर्म में स्थित रहे।'' पूरा मनुष्य-समाज भगवान् विष्णु की आराधना के निमित्त है। किन्तु इस समय मानव-समाज को यह पता नहीं है कि जीवन का यही परम ध्येय या सिद्धि है। इसलिए मनुष्यों को भगवान् विष्णु की पूजा न करके पदार्थ की पूजा करने की शिक्षा दी जाने लगी है। आधुनिक समाज के निर्देशानुसार मनुष्य सोचते हैं कि वे पदार्थ को गगनचुम्बी इमारतें, बड़ी-बड़ी सड़कें, स्वयंचालित वाहन इत्यादि में परिणत करके सभ्यता को प्रगति के पथ पर ले जा सकते हैं। ऐसी सभ्यता निश्चय ही भौतिकतावादी है, क्योंकि इस सभ्यता के लोगों को जीवन-लक्ष्य का पता नहीं है। जीवन का लक्ष्य तो विष्णु को प्राप्त करना है। किन्तु लोग विष्णु तक न पहुँच कर भौतिक शक्ति के बाह्य रूप से मोहित हो जाते हैं। अत: भौतिक प्रगति अंधी होती है और इसके जननायक भी अंधे होते हैं। वे अपने अनुयायियों को उल्टी दिशा में ले जा रहे हैं।

अत: सबसे अच्छा यही है कि वेदों की आज्ञा मानी जाये जिसका उल्लेख इस श्लोक में *यद्-वाचि* के रूप में हुआ है। इस आज्ञा के अनुसार हर व्यक्ति को चाहिए कि वह यह जाने कि वह ब्राह्मण है अथवा क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र और इसी के अनुसार उसे शिक्षा मिलनी चाहिए तभी उसका जीवन कृतार्थ है अन्यथा सारे मानव समाज में दुर्व्यवस्था फैल जायेगी। यदि मानव समाज वर्ण तथा आश्रम के अनुसार वैज्ञानिक दृष्टि से विभाजित हो जाये और वैदिक आज्ञा का पालन किया जाये, तो मनुष्य का जीवन, चाहे वह जिस पद पर हो, सफल (कृतार्थ) हो सकेगा। ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मणों को दिव्य पद प्राप्त होगा, शूद्रों को नहीं। यदि वैदिक आज्ञा का पालन किया जाये, तो सभी वर्ण, चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो, दिव्य पद तक पहुँच जाएंगे। वेदों की आज्ञाएँ भगवान् के प्रत्यक्ष आदेश हैं। इस श्लोक में रस्सी से नाथे हुए बैल का दृष्टान्त दिया गया है, जो हाँकने वाले के निर्देशानुसार चारों ओर घूमता है। इसी प्रकार यदि हम वेदों के निर्देशानुसार चलें, तो हमारा जीवन-पथ सुस्थिर हो। अन्यथा अपनी सनक के अनुसार कार्य करते रहने से हमारा जीवन निराशापूर्ण बन जाएगा। चूँकि इस समय लोग वेदों के निर्देशानुसार नहीं चल रहे इसलिए इतनी अव्यवस्था है। अत: हमें चाहिए कि हम ब्रह्माजी द्वारा प्रियव्रत को दिये गये निर्देश को वास्तविक वैज्ञानिक निर्देश मान कर अपने जीवन को फलीभूत करें। *भगवद्गीता* (१६.२३) में भी इसकी पुष्टि हुई है—

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत: ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

यदि हम शास्त्रों अर्थात् वेदों के निर्देश के अनुसार नहीं चलते, तो हमें जीवन में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, सुख अथवा उच्च पद प्राप्त करने की बात तो दूर रही।

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग
दु:खं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथश्
चक्षुष्मतान्धा इव नीयमाना: ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ईश-अभिसृष्टम्—ईश्वर द्वारा उत्पन्न या प्रदत्त; हि—निश्चय ही; अवरुन्ध्महे—हमें स्वीकार करना होता है; अङ्ग—हे प्रियव्रत; दु:खम्—दुख; सुखम्—सुख; वा—अथवा; गुण-कर्म—गुण तथा कार्य की; सङ्गात्—संगति से; आस्थाय—स्थित होकर; तत् तत्—स्थिति; यत्—जो शरीर; अयुङ्क्त —उसने प्रदान किया; नाथ:—परमेश्वर; चक्षुष्मता—नेत्रयुक्त पुरुष के द्वारा; अन्धा:—अंधे पुरुष; इव—सदृश; नीयमाना:—ले जाया जाकर।

हे प्रियव्रत, भगवान् विभिन्न गुणों के साथ हमारे संसर्ग के अनुसार हमें विशिष्ट शरीर प्रदान करते हैं और हम सुख तथा दुख प्राप्त करते हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह जिस रूप में है वैसे ही रहे और भगवान् द्वारा उसी प्रकार मार्गदर्शन प्राप्त करे जिस प्रकार एक अंधा व्यक्ति आँख वाले व्यक्ति से प्राप्त करता है।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति भौतिक साधनों के द्वारा अपने विशिष्ट शारीरिक सुख तथा दुख से बच नहीं सकता। कुल मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक में कुछ न कुछ सुख तथा दुख भोगना होता है। इसे हम बदल नहीं सकते क्योंकि सुख तथा दुख उन भगवान् के द्वारा निर्धारित हैं जिनके निर्णय के अनुसार ही हमें अपना शरीर मिला है। चूँकि हम भगवान् के विधान से बच नहीं सकते, अतः हमें चाहिए कि जिस प्रकार अंधा व्यक्ति किसी आँख वाले व्यक्ति के द्वारा पथ पर ले जाया जाता है उसी प्रकार हम ईश्वर के द्वारा संचालित हों। यदि हम परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो, भगवान् ने जिस स्थिति में हमें डाल दिया है उसी में रहें और उनके आदेशों का पालन करते रहें, तो हम सिद्ध (पूर्ण) हो सकते हैं। जीवन का मुख्य लक्ष्य भगवान् के आदेशों का पालन है। ऐसे ही निर्देश हमारे धर्म या कर्तव्य के अंग हैं।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य समस्त व्यापारों को त्याग कर मेरे समक्ष आत्मसमर्पण करके मेरा अनुगमन करो। भगवान् के निर्देशों का पालन करते हुए आत्मसमर्पण की यह विधि किसी जाति विशेष के लिए नहीं है। एक ब्राह्मण भी समर्पण कर सकता है और एक क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी। सभी इस विधि को अपना सकते हैं। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः*—मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् का उसी प्रकार अनुगमन करे जिस प्रकार एक अंधा व्यक्ति किसी आँख वाले व्यक्ति का करता है। यदि हम वेदों तथा *भगवद्गीता* में दिये गये भगवान् के निर्देशों का पालन करते हैं, तो मारा जीवन कृतार्थ हो जाएगा। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं (*गीता* १८.६)—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"निरन्तर मेरे विषय में सोचो, मेरे भक्त बनो तथा मेरा पूजन करो और मुझे ही प्रणाम करो। इस

प्रकार तुम निश्चय ही मेरे धाम को प्राप्त होगे। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तुम मेरे अतिशय प्रिय सखा हो।'' यह निर्देश सभी लोगों के लिए है—चाहे वह ब्राह्मण हो अथवा क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र। यदि कोई, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो, भगवान् को आत्मसमर्पण करता है और उनके निर्देशों का पालन करता है, तो उसका जीवन कृतार्थ होगा।

पिछले श्लोक में बैलगाड़ी को हाँकने वाले के निर्देश पर घूमने वाले बैलों की उपमा दी गई है। बैल हाँकनेवाले के प्रति पूर्णतया समर्पित रहते हैं जिसके कारण वह उन्हें जहाँ चाहता है ले जाता है और जैसा चाहता है खाने को देता है। इसी प्रकार भगवान् के प्रति पूर्णत: समर्पित होकर हमें सुख अथवा दुख के लिए ग्लानि नहीं करनी चाहिए; हमें ईश्वर द्वारा निर्धारित पद से संतुष्ट रहना चाहिए। हमें भक्ति-मार्ग का पालन करना चाहिए और ईश्वर द्वारा प्रदत्त सुख तथा दुख से असतुंष्ट नहीं होना चाहिए। सामान्य रूप से रजो तथा तमो गुणों के वशीभूत होकर लोग चौरासी लाख योनियों में घूमने वाली भगवान् की व्यवस्था को नहीं समझ पाते, किन्तु मनुष्य योनि को यह विशेष सुविधा प्राप्त है कि वह इस व्यवस्था को समझे, भक्ति करे और ईश्वर के निर्देशों का अनुगमन करते हुए उच्च पद प्राप्त करे। सम्पूर्ण जगत गुणों के, विशेष रूप से रजो तथा तमों गुणों के, अधीन कार्यशील है, किन्तु यदि लोग परमेश्वर के यश के श्रवण तथा कीर्तन में संलग्न रहें, तो उनका जीवन सफल हो सकता है और वे परम सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अत: *बृहन्नरदीय पुराण* में कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इस कलियुग में आध्यात्मिक पूर्णता हेतु पावन हरि नाम के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है, नहीं है, नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् का पवित्र नाम सुनने का अवसर प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार से वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझेगा और सतोगुण से ऊपर दिव्य पद को प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार उसके उन्नति-पथ के सभी अवरोध छिन्न-छिन्न हो जाएँगे। अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् ने हमें जिस स्थिति में रख दिया है उसी से हम सन्तुष्ट रहें और हम उनकी भक्ति में संलग्न रहने का प्रयास करें। तभी हमारा जीवन सफल हो सकेगा।

मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात्स्वदेह-
मारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।
यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः
किं त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मुक्तः—मुक्त पुरुष; अपि—ही; तावत्—तब तक; बिभृयात्—धारण करना चाहिए; स्व-देहम्—अपना शरीर; आरब्धम्—पूर्व कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त; अश्नन्—स्वीकार करते हुए; अभिमान-शून्यः—अभिमान रहित; यथा—जिस प्रकार; अनुभूतम्—जैसा अनुभव किया गया हो; प्रतियात-निद्रः—निद्रा से जगा हुआ; किम् तु—लेकिन; अन्य-देहाय—दूसरी देह के लिए; गुणान्—गुणों को; न—नहीं; वृङ्क्ते—भोगता है।.

मुक्त होते हुए भी मनुष्य पूर्व कर्मों के अनुसार प्राप्त देह को स्वीकार करता है। किन्तु वह भ्रान्तिरहित होकर कर्म-वश प्राप्त सुख तथा दुख को उसी प्रकार मानता है, जिस प्रकार जाग्रत मनुष्य सुप्तावस्था में देखे गये स्वप्न को। इस तरह वह दृढ़प्रतिज्ञ रहता है और भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर दूसरा शरीर पाने के लिए कभी कार्य नहीं करता।

तात्पर्य : बद्ध तथा मुक्तजीव में यही अन्तर है कि बद्धजीव देहात्मबुद्धि से प्रभावित रहता है, किन्तु मुक्तजीव जानता है कि वह देह नहीं वरन् देह से भिन्न आत्मा है। प्रियव्रत ने यह विचार किया होगा कि जो आध्यात्मिक ज्ञान में इतने उन्नत हैं बद्धजीव प्रकृति के नियमानुसार कर्म करने के लिए बाध्य है, तो फिर वे जो आध्यात्मिक ज्ञान में इतने बढ़े चढ़े हैं आध्यात्मिक उन्नति में उसी प्रकार से बन्धन तथा बाधाओं को क्यों स्वीकार करें? इस सन्देह को दूर करने के लिए ही ब्रह्माजी ने उन्हें बताया कि मुक्तजन भी पूर्वकर्मों के फल को इस जीवन में स्वीकार करने में आपत्ति नहीं करते। सोते समय स्वप्न में अनेक मिथ्या वस्तुएँ दिखती हैं, किन्तु जागने पर मनुष्य इसकी परवाह नहीं करता और वास्तविक जीवन में आगे बढ़ता रहता है। इसी प्रकार, एक मुक्त व्यक्ति—जो भली भाँति जानता है कि वह शरीर नहीं वरन् आत्मा है—अज्ञानवश किये गये विगत कर्मों की परवाह नहीं करता और अपने वर्तमान सामाजिक कार्यों को इस प्रकार से करता है कि उनका कोई प्रतिफल (बन्धन) नहीं होता। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* (३.९) में हुआ है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—यदि कोई यज्ञपुरुष भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म करता है, तो उस कर्म का बन्धन नहीं होता, किन्तु कर्मीजन, जो अपने लिए कर्म करते हैं अपने कर्म फलों से बँधे रहते हैं। अत: मुक्त पुरुष अतीत में अज्ञानतावश जो कुछ कर चुका है उसके सम्बन्ध में सोच-विचार नहीं करता, उल्टे वह इस प्रकार से कर्म करता है कि सकाम कर्मों के फलस्वरूप दूसरा शरीर न धारण करना पड़े। जैसाकि *भगवद्गीता*

(१४.२६) में स्पष्ट किया गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

सं गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्णरूप से मेरी भक्ति करता है, जो किसी स्थिति में उससे च्युत नहीं होता वह अविलम्ब तीनों गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।" चाहे पूर्वजन्मों में जो भी कर्म किये गए हों, यदि इस जीवन में हम ईश्वर की शुद्ध भक्ति करते हैं, तो हम सदैव ब्रह्मभूत (मुक्त)अवस्था को प्राप्त होंगे और हमें दूसरा शरीर नहीं धारण करना पड़ेगा। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* (*भगवद्गीता* ४.९)। जो मनुष्य इस प्रकार कर्म करता है, उसे शरीर त्यागने के बाद दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता, वरन् वह भगवान् के धाम को वापस जाता है।

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्
यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

भयम्—भय; प्रमत्तस्य—मोहग्रस्त का; वनेषु—वनों में; अपि—भी; स्यात्—होना चाहिए; यतः—क्योंकि; सः—वह (जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं); आस्ते—रहता है; सह—साथ; षट्-सपत्नः—छह सपत्नियाँ; जित-इन्द्रियस्य—इन्द्रियों को जीतने वाले का; आत्म-रतेः—आत्मतुष्ट; बुधस्य—ऐसे विद्वान का; गृह-आश्रमः—गृहस्थ जीवन; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; करोति—कर सकता है; अवद्यम्—क्षति।

जो मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत है, भले ही वह वन-वन विचरण करता रहे, तो भी उसे बन्धन का भय बना रहता है क्योंकि वह मन तथा ज्ञानेन्द्रियाँ—इन छः सपत्नियों के साथ रह रहा होता है। किन्तु आत्मतुष्ट विद्वान जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हो, उसे गृहस्थ जीवन कोई क्षति नहीं पहुँचा पाता।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर का गीत है—*गृहे वा वनेते थाके, 'हा गौरांग' बले डाके*—चाहे कोई वन में रहे या घर में, यदि वह श्री चैतन्य की भक्ति में लगा हुआ है, तो वह मुक्त पुरुष है। यहाँ भी इसी को दुहराया गया है। यदि इन्द्रियों को वश में नहीं किया गया, तो योगी बनने के लिए वन में जाना निरर्थक है। चूँकि अनियंत्रित मन तथा इन्द्रियाँ उसके साथ जा रही होती हैं इसलिए गृहस्थ जीवन त्याग कर वन में रहने पर भी उसे कुछ लाभ नहीं होगा। प्राचीन काल में भारत के ऊपरी भागों के

वणिकजन बंगाल जाया करते थे, अत: एक परिचित कहावत है, ''यदि आप बंगाल जाते हैं, तो भाग्य आपका पीछा करता है।'' अत: हमारा पहला कर्तव्य है कि हम इन्द्रियों को वश में रखें, किन्तु वे बिना भगवद्भक्ति के वशीभूत नहीं होतीं, अत: हमारा परम कर्तव्य है कि अपनी इन्द्रियों को भक्ति में लगाएँ। *हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते*—भक्ति का अर्थ है ईश्वर की सेवा में विशुद्ध इन्द्रियों का लगना।

यहाँ पर ब्रह्माजी यह इंगित करते हैं कि इन्द्रियों को वश में किये बिना वन में जाने की अपेक्षा श्रेयस्कर होगा कि उन्हें ईश्वर की सेवा में संलग्न किया जाय। गृहस्थाश्रम ऐसे आत्मजयी पुरुष को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता; उसे सांसारिक बन्धन में नहीं डाल सकता। श्रील रूप गोस्वामी ने इस स्थिति को आगे स्पष्ट किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

''यदि कोई मनसा वाचा कर्मणा ईश्वर की भक्ति में लगा रहता है, तो उसकी परिस्थितियों कुछ भी हों, उसे मुक्त पुरुष मानना चाहिए।'' श्रील भक्तिविनोद ठाकुर एक निष्ठावान अधिकारी तथा गृहस्थ थे फिर भी भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के सन्देश को दूर-दूर तक फैला कर उन्होंने जो सेवा की वह अद्वितीय है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ठाकुर का कथन है—*दुर्दान्तेन्द्रिय-काल-सर्प-पटली प्रोत्खात-दंष्ट्रायते।* हमारी इन्द्रियाँ निश्चिय ही हमारी परम शत्रु हैं अत: उनकी तुलना विषधर सर्पों से की गई है। किन्तु यदि विषैले सर्प के विषदन्त निकाल लिये जाँय, तो वह डरावना नहीं रह जाता। इसी प्रकार यदि इन्द्रियाँ ईश्वर की सेवा में लगी हों, तो उनके कार्यों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में तो भक्त इसी जगत् में भ्रमण करते हैं, किन्तु चूंकि उनकी इन्द्रियाँ ईश्वर की सेवा में लगी रहती हैं इसलिए वे इस जगत से सदा विलग रहते हैं। वे सदैव दिव्य अवस्था में रहते हैं।

य: षट्सपत्नान्विजिगीषमाणो
गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम् ।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन्

क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; षट्—छः; सपत्नान्—प्रतिपक्षी (शत्रु); विजिगीषमाणः—जीतने की आकांक्षा रखने वाले; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; निर्विश्य—प्रवेश करके; यतेत—प्रयत्न करना चाहिए; पूर्वम्—प्रथम; अत्येति—जीत लेता है; दुर्ग-आश्रितः—सुरक्षित स्थान (दुर्ग) में रहते हुए; ऊर्जित-अरीन्—अत्यन्त प्रबल शत्रुओं को; क्षीणेषु—क्षीण; कामम्—विषयवासना; विचरेत्—विचरण कर सकता है; विपश्चित्—अत्यन्त अनुभवी, विद्वान।

गृहस्थाश्रम में रह कर जो मनुष्य अपने मन तथा पाँचों इन्द्रियों को विधिपूर्वख जीत लेता है, वह उस राजा के समान है, जो अपने किले (दुर्ग) में रहकर अपने बलशाली शत्रुओं को पराजित करता है। गृहस्थाश्रम में प्रशिक्षित हो जाने पर तथा कामेच्छाओं को क्षीण करके मनुष्य बिना किसी भय के कहीं भी घूम सकता है।

तात्पर्य : चार वर्णों तथा चार आश्रमों की वैदिक प्रणाली अत्यन्त वैज्ञानिक है और इसका एकमात्र उद्देश्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व विद्यार्थी को जितेन्द्रिय बनने की पूरी शिक्षा दी जाती है। ऐसे वयस्क विद्यार्थी को ही गृहस्थ बनने की अनुमति प्रदान की जाती है और चूँकि इसके पूर्व उसे इन्द्रियों को जीतने की शिक्षा दी जा चुकी होती है इसलिए ज्योंही तरुणावस्था की प्रबल तरंगें समाप्त हो जाती हैं और वह पचास वर्ष या इससे अधिक आयु प्राप्त कर लेता है, तो वह गृहस्थ जीवन त्याग कर वानप्रस्थी बन जाता है। इसके पश्चात् और आगे शिक्षित होकर वह संन्यास ग्रहण करता है। तब वह पूर्ण विद्वान तथा विरक्त पुरुष होता है और भौतिक इच्छाओं से आकृष्ट होने के भय के बिना वह कहीं भी घूम सकता है। इन्द्रियों को प्रबल शत्रु माना जाता है। जिस प्रकार से सुदृढ़ दुर्ग में स्थित राजा प्रबल शत्रुओं को जीत सकता है उसी प्रकार से गृहस्थाश्रम में रहकर एक गृहस्थ अपनी युवावस्था की विषय-वासनाओं को जीत सकता है और वानप्रस्थ तथा संन्यास ग्रहण करने पर अत्यन्त निर्भय, नि:शंक रहता है।

त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोश-
दुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः ।
भुङ्क्ष्वेह भोगान्पुरुषातिदिष्टान्
विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम स्वयं; तु—तब; अब्ज-नाभ—जिनकी नाभि कमल-पुष्प के सदृश है, ऐसे भगवान्; अङ्घ्रि—चरण; सरोज—कमल; कोश—मुँह, सम्पुट; दुर्ग—किला; आश्रितः—शरणागत; निर्जित—विजित; षट्-सपत्नः—छ:शत्रु (मन तथा अन्य

पाँच इन्द्रियाँ); भुङ्क्ष्व—भोग करो; इह—जगत में; भोगान्—भोग्य वस्तुएँ; पुरुष—परम पुरुष द्वारा; अतिदिष्टान्—विशेषतया आदेशित; विमुक्त—मुक्त हुआ; सङ्गः—भौतिक लगाव से; प्रकृतिम्—स्वाभाविक स्थिति; भजस्व—भोग करो।

ब्रह्माजी ने आगे कहा—हे प्रियव्रत, कमलनाभ ईश्वर के चरणकमल के कोश में शरण लेकर छहों ज्ञान इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो। तुम भौतिक सुख-भोग स्वीकार करो, क्योंकि भगवान् ने तुम्हें विशेष रूप से ऐसा करने के लिए आज्ञा दी है। इस तरह तुम भौतिक संसर्ग से मुक्त हो सकोगे और अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हुए भगवान् की आज्ञाएँ पूरी कर सकोगे।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में तीन प्रकार के प्राणी हैं—वे जो अत्यधिक इन्द्रिय-भोग करने का प्रयास करते हैं, कर्मी कहलाते हैं; इनसे ऊपर ज्ञानी हैं, जो इन्द्रियों की वासनाओं को रोकने का यत्न करते हैं और इनसे भी ऊपर योगी हैं जिन्होंने पहले ही इन्द्रियों को जीत लिया है। किन्तु इनमें से कोई भी दिव्य स्थिति को प्राप्त नहीं हैं। केवल भक्त, जो ऊपर उद्धृत तीन में से किसी प्रकार के नहीं है, दिव्य होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में व्याख्या की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्णरूप में मेरी भक्ति में लगा है और किसी भी स्थिति में गिरता नहीं वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया को पार करके ब्रह्म स्तर पर पहुँच जाता है।'' यहाँ ब्रह्माजी प्रियव्रत को गृहस्थ जीवन नहीं, अपितु भगवान् के चरणकमल के दुर्ग के भीतर (*अब्ज-नाभांघ्रि-सरोज*) शरण लेने का उपदेश देते हैं। जब भौंरा कमल की कली के छेद में घुसकर मधुपान करता है, तो वह कमल की पंखड़ियों से भलीभाँति रक्षित होता है। उसे सूर्यप्रकाश तथा अन्य बाहरी कारण प्रभावित नहीं कर पाते। इसी प्रकार भगवान् के चरणकमलों में शरण लेने वाले को भय नहीं सताते। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं

महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं

पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥

''जिसने भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण की है उसके लिए प्रत्येक वस्तु सरल हो जाती

है—यहाँ तक कि इस भवसागर (*भवाम्बुधि*) का संतरण गोखुर (*वत्स-पदम्*) के समान सरल हो जाता है। ऐसे भक्त के लिए उस स्थान में, जहाँ प्रति पद पर बाधा हो, रहने का प्रश्न ही नहीं उठता है।''

हमारा वास्तविक कर्तव्य भगवान् की आज्ञा का पालन करना है। यदि हम अपने संकल्प में दृढ़ हैं, तो हम चाहे स्वर्ग में रहें या नरक में, सर्वत्र सुरक्षित हैं। यहाँ पर *प्रकृतिं भजस्व*—ये शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। *प्रकृतिम्* का अर्थ है किसी की स्वाभाविक स्थिति। प्रत्येक जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति है कि वह भगवान् का चिरन्तन दास है। इसीलिए ब्रह्माजी ने प्रियव्रत को उपदेश दिया, ''अपनी मूल स्थिति में भगवान् के चिरन्तन दास के रूप में बने रहो। यदि तुम उनकी आज्ञा का पालन करते हो, तो भौतिक भोग (भुक्ति) के बीच रहते हुए भी नीचे नहीं गिरोगे।'' कर्मफलों से प्राप्त होने वाली भुक्ति भगवान् द्वारा प्रदत्त भुक्ति से भिन्न होती है। कभी-कभी भक्त परम ऐश्वर्यवान होता है किन्तु भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए ही वह ऐसे किसी पद स्वीकार करता है। अत: भक्त भुक्ति से प्रभावित नहीं होता। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के भक्तजन श्री चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा के अनुसार संसार भर में उपदेश दे रहे हैं। उनकी अनेक कर्मियों सें भेंट होती रहती है, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुग्रह से वे विषय-तरंगों से कभी प्रभावित नहीं होते। भक्तों को उनका आशीर्वाद प्राप्त है जैसाकि *चैतन्य चरितामृत* (मध्य ७.१२९) में कहा गया है—

कभु ना बाधिबे तोमार विषय-तरंग।
पुनरपि एइ ठाञि पाबे मोर संगे॥

ऐसा एकनिष्ठ भक्त जो श्री चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय का विश्व भर में उपदेश देता है उसे विषय-तरंगें नहीं सतातीं। उल्टे, वह कालक्रम के साथ श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण में वापस जाता है और इस प्रकार उनसे उसकी शाश्वत संगति बनी रहती है।

श्रीशुक उवाच
इति समभिहितो महाभागवतो भगवतस्त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; समभिहितः—पूर्णतया उपदिष्ट; महा-भागवतः—परम भक्त; भगवतः—अति शक्तिमान ब्रह्माजी का; त्रि-भुवन—तीनों लोकों के; गुरोः—गुरु की; अनुशासनम्—आज्ञा, आदेश; आत्मनः—स्वयं का; लघुतया—लघुता के कारण; अवनत—झुका हुआ; शिरोधरः—उसका शिर; बाढम्—जो आज्ञा; इति—इस प्रकार; स-बहु-मानम्—अत्यन्त आदर समेत; उवाह—पालन किया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—इस प्रकार तीनों लोकों के गुरु ब्रह्माजी द्वारा भलीभाँति उपदेश दिये जाने पर अपना पद छोटा होने के कारण प्रियव्रत ने नमस्कार करते हुए उनका आदेश शिरोधार्य किया और अत्यन्त आदरपूर्वक उसका पालन किया।

तात्पर्य : श्री प्रियव्रत ब्रह्माजी के पौत्र थे, अतः सामाजिक शिष्टाचार के नाते उनका पद छोटा था और छोटों का यह धर्म है कि वे अपने गुरुजनों के आदेश का पालन करें। इसीलिए प्रियव्रत ने तुरन्त कहा, ''जो आज्ञा मै आपके आदेश का पालन करूँगा।'' प्रियव्रत को महाभागवत अर्थात् महान् भक्त कहा गया है। महान् भक्त का यह कर्तव्य है कि वह अपने गुरु अथवा गुरु के भी गुरु की आज्ञा का परम्परानुसार पालन करे। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में कथित है—*एवं परम्परा प्राप्तम्*—मनुष्य को गुरु परम्परा से भगवान् के आदेश प्राप्त करने होते हैं। भगवान् का भक्त अपने को भगवान् के दासों का भी दास मानता है।

भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः
प्रियव्रतनारदयोरविषममभिसमीक्षमाणयोरात्मसमवस्थानमवाड्मनसं क्षयमव्यवहृतं प्रवर्तयन्नगमत्. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—परम शक्तिमान ब्रह्माजी; अपि—भी; मनुना—मनु द्वारा; यथावत्—अभीष्ट रूप से; उपकल्पित-अपचितिः—आराधित होकर; प्रियव्रत-नारदयोः—प्रियव्रत तथा नारद की उपस्थिति में; अविषमम्—बिना द्वेष के; अभिसमीक्षमाणयोः—दृष्टिपात करते हुए; आत्मसम्—अपने पद के अनुकूल; अवस्थानम्—अपने धाम को; अवाक्-मनसम्—मन तथा वाणी के वर्णन से परे; क्षयम्—ग्रह, लोक; अव्यवहृतम्—अपूर्व स्थित; प्रवर्तयन्—विदा लेते हुए; अगमत्—वापस चले गये।

इसके पश्चात् मनु ने ब्रह्माजी को संतुष्ट करते हुए विधिवत् पूजा की। प्रियव्रत तथा नारद ने भी किसी प्रकार का विरोध दिखाये बिना ब्रह्माजी की ओर देखा। प्रियव्रत से उसके पिता की मनौती स्वीकार कराकर ब्रह्माजी अपने धाम सत्यलोक को चले गये, जिसका वर्णन भौतिक मन तथा वाणी के परे है।

तात्पर्य : मनु को अत्यधिक सन्तोष हुआ कि ब्रह्माजी ने उसके पुत्र प्रियव्रत को जगत के शासन का भार सँभालने के लिए राजी कर लिया था। प्रियव्रत तथा नारद भी संतुष्ट थे। यद्यपि ब्रह्मा ने प्रियव्रत

को सांसारिकता स्वीकार करने के लिए बाध्य करके उनके ब्रह्मचारी बने रहने तथा भगवद्भक्ति में पूर्णतया लीन रहने के व्रत को खण्डित कर दिया था, तो भी नारद तथा प्रियव्रत ने ब्रह्माजी पर रोष प्रकट नहीं किया। नारद को इसका किंचित दुख नहीं था कि प्रियव्रत को अपना शिष्य बनाकर उन्हें हताशा हुई है। प्रियव्रत तथा नारद समान रूप से महात्मा थे, जो ब्रह्मा का सम्मान करना जानते थे। अत: ब्रह्माजी पर किसी प्रकार का रोष न प्रकट करते हुए उन्हें भावुक होकर सम्मान प्रकट किया। इसके पश्चात् ब्रह्माजी अपने स्वर्गीय धाम, सत्यलोक, चले गये जिसे यहाँ पर अवर्णनातीत और अगम्य कहा गया है।

इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्माजी अपने धाम को वापस चले गये जो उनके व्यक्तित्व के ही समान महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के सृजन कर्ता और उसके यहाँ के सर्वाधिक वरेण्य विभूति हैं। *भगवद्गीता* (८.१७) में उनकी जीवन-अवधि का वर्णन है—*सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदु:*—चारों युग की कुल अवधि ४३,००,००० वर्ष है। यदि इसे १००० से गुणा किया जाये, तो जो कालावधि प्राप्त होगी वह ब्रह्मा के जीवन के बारह घण्टे के तुल्य है। अत: किसी के लिए ब्रह्मा के बारह घण्टों का सही अनुमान लगा पाना भी कठिन है। फिर भला उनके सौ वर्ष के पूरे जीवन का अनुमान तो दूर रहा। तो हम उनके धाम को कैसे समझ सकते हैं? तो वैदिक साहित्य बताता है कि सत्यलोक में जन्म, मृत्यु, जरा या व्याधि नहीं होते। दूसरे शब्दों में, सत्यलोक ब्रह्मलोक से आगे स्थित है, अत: यह वैकुण्ठ लोक के ही तुल्य हुआ। ब्रह्मा के धाम का वर्णन हमारे वर्तमान पद से परे है, इसलिए उसे *अवाङ्-मनसा-गोचर* कहा गया है—अर्थात् वाणी तथा मन के वर्णन से परे। वैदिक साहित्य में ब्रह्मा के धाम का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*यद् वै परार्ध्यं तद् उपारमेष्ठ्यं न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नीर्तिर्न चोद्वेग:*—''सत्यलोक में, जो लाखों-करोड़ों वर्ष की दूरी पर स्थित है वहाँ न शोक है, न जरा, मृत्यु, चिन्ता या शत्रुओं का प्रभाव।''

मनुरपि परेणैवं प्रतिसन्धितमनोरथ: सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरामण्डलस्थितिगुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषयविषजलाशयाशाया उपरराम. ॥ २२॥

शब्दार्थ

मनु:—स्वायंभुव मनु; **अपि**—भी; **परेण**—ब्रह्मा द्वारा; **एवम्**—इस प्रकार; **प्रतिसन्धित**—पूर्ण हुआ; **मन:-रथ:**—अपना मनोरथ; **सुर-ऋषि-वर**—महर्षि नारद की; **अनुमतेन**—अनुमति से; **आत्म-जम्**—अपने पुत्र को; **अखिल**—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; **धरा-**

मण्डल—लोकों का; स्थिति—पालन; गुप्तये—रक्षा हेतु; आस्थाप्य—स्थापित करके; स्वयम्—स्वयं; अति-विषम—अत्यन्त भयावने; विषय—सांसारिक प्रपंच; विष—विष का; जल-आशय—समुद्र; आशाया:—कामनाओं से; उपरराम—निवृत्ति प्राप्त की।

इस प्रकार ब्रह्माजी की सहायता से स्वायंभुव मनु का मनोरथ पूर्ण हुआ। उन्होंने महर्षि नारद की अनुमति से अपने पुत्र को समस्त भूमण्डल के पालन का भार सौंप दिया और इस तरह स्वयं भौतिक कामनाओं के अति दुस्तर तथा विषमय सागर से निवृत्ति प्राप्त कर ली।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु एक प्रकार से निराश ही थे क्योंकि नारद जैसी विभूति ने उनके पुत्र प्रियव्रत को गृहस्थाश्रम न स्वीकार करने का उपदेश दे रखा था। अब वे अत्यधिक प्रसन्न थे, क्योंकि ब्रह्माजी ने बीच में पड़कर उनके पुत्र प्रियव्रत को राज्यभार सँभालने के लिए राजी कर लिया था। *भगवद्गीता* से हमें यह जानकारी मिलती है कि वैवस्वत मनु सूर्यदेव के पुत्र थे और उनके पुत्र महाराज इक्ष्वाकु ने इस पृथ्वीलोक पर शासन किया। किन्तु ऐसा लगता है कि स्वायंभुव मनु पर समस्त ब्रह्माण्ड के पालन और रक्षा करने का भार था। *धरामण्डल* का अर्थ ''लोक'' है। उदाहरणार्थ, यह पृथ्वी धरा-मंडल कहलाती है। किन्तु *अखिल* का अर्थ सम्पूर्ण अथवा विश्वव्यापी है। अत: यह समझ पाना कठिन है कि महाराज प्रियव्रत कहाँ स्थित थे, किन्तु इस वर्णन से यह निश्चित रूप से प्रकट है कि उनका पद वैवस्वत मनु से बड़ा था, क्योंकि उनपर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों का भार सौंपा गया था।

एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वायंभुव मनु को ब्रह्माण्ड के सभी लोकों के राज्यभार से निवृत्ति मिलने पर अत्यधिक संतोष हुआ। आजकल राजनीतिक व्यक्ति राष्ट्रपति या ऐसे उच्च पद को प्राप्त करने की आकांक्षा से जनमत प्राप्त करने हेतु अपने-अपने आदमी नियुक्त करने के लिए उत्सुक होते हैं, जो द्वार-द्वार जाकर उनका प्रचार करें। इसके विपरीत यहाँ हम पाते हैं कि समस्त संसार का राज्य भार सँभालने के लिए प्रियव्रत को ब्रह्मा द्वारा मनाया जाना पड़ा। इसी प्रकार उनके पिता स्वायंभुव मनु ने विश्व का राज्य अपने पुत्र को सौंपते हुए अत्यन्त शान्ति महसूस की। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में राजा तथा उनके राज्य-अधिकारी इन्द्रिय-भोग के लिए इन पदों को स्वीकार नहीं करते थे। ऐसे महान् राजा राजर्षि कहलाते थे और प्रजा की भलाई के लिए राज्य का पालन और संरक्षण करने के लिए शासन करते थे। प्रियव्रत तथा स्वायंभुव मनु का इतिहास बताता है कि किस प्रकार आदर्श राजा नि:स्वार्थ भाव से राज्य का संचालन करते थे और अपने को भौतिक आसक्ति से

कलुषित होने से दूर रखते थे।

यहाँ पर विषयों की तुलना विष-सागर से की गई है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने भी अपने एक गीत में इन्हें ऐसा ही बताया है—

संसार विषानले, दिवा-निशि हिया ज्वले,

जुडाइते ना कैनु उपाय

''मेरा हृदय संसार की अग्नि में सदा जलता रहता है और उससे उबरने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है।''

गोलोकेर प्रेम-धन, हरि-नाम-संकीर्तन

रति ना जन्मिल केने ताय

''इसकी एकमात्र औषधि हरिनाम संकीर्तन अर्थात् 'हरे कृष्ण महामंत्र' का जप है, जो गोलोक वृन्दावन से लाया गया है। मैं कितना अभागा हूँ कि उसके लिए मुझमें तनिक भी आकर्षण नहीं है।'' मनु ने ईश्वर के चरणकमल की शरण चाही थी, इसलिए उनके पुत्र प्रियव्रत के राज्य संभाल लेने पर वे अत्यन्त शान्त हुए। यही वैदिक-सभ्यता की परम्परा है। जीवन के अन्तिम समय प्रत्येक व्यक्ति को विषयों से मुक्त होकर भगवान् की भक्ति में पूर्णतया लगना चाहिए।

सुरर्षि-वर अनुमतेन शब्द भी सार्थक हैं। मनु ने महर्षि नारद की अनुमति से अपने पुत्र को राज्य दे दिया। इसका विशेष उल्लेख यहाँ इसलिए हुआ है क्योंकि नारद चाहते थे कि प्रियव्रत समस्त विषयों से मुक्त रहें, किन्तु जब ब्रह्माजी तथा मनु की प्रार्थना पर प्रियव्रत ने ब्रह्माण्ड का राज्य-भार स्वीकार कर लिया, तो नारद भी अत्यन्त प्रसन्न हुए।

इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिलजगद्बन्धध्वंसनपरानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरतध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्धनो महतां महीतलमनुशशास. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ह वाव—निस्सन्देह; सः—वह; जगती-पतिः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का राजा; ईश्वर-इच्छया—भगवान् के आदेश से; अधिनिवेशित—पूर्णतया संलग्न; कर्म-अधिकारः—भौतिक कार्यों में; अखिल-जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; बन्ध—बन्धन; ध्वंसन—विनष्ट करते हुए; पर—दिव्य; अनुभावस्य—जिसका प्रभाव; भगवतः—भगवान् के; आदि-पुरुषस्य—आदि पुरुष के; अङ्घ्रि—चरणकमल में; युगल—दो; अनवरत—अहर्निश; ध्यान-अनुभावेन—ध्यान द्वारा;

परिरन्धित—विनष्ट; कषाय—समस्त मल; आशयः—अपने हृदय में; अवदातः—नितान्त शुद्ध; अपि—यद्यपि; मान-वर्धनः—केवल सम्मान देने के लिए; महताम्—बड़ों को; महीतलम्—भौतिक संसार पर; अनुशशास—राज्य किया।

भगवान् की आज्ञा का पालन करते हुए महाराज प्रियव्रत सांसारिक कार्यों में अनुरक्त रहने लगे, किन्तु उन्हें सदैव भगवान् के उन चरणकमलों का ध्यान बना रहा जो समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्ति दिलाने वाले हैं। यद्यपि महाराज प्रियव्रत समस्त भौतिक कल्मषों से विमुक्त थे, किन्तु अपने बड़ों का मान रखने के लिए ही वे इस संसार पर शासन करने लगे।

तात्पर्य : *मानवर्धनो महताम्* ("अपने से श्रेष्ठजनों के प्रति सम्मान प्रकट करना") शब्दसमूह अत्यन्त सार्थक है। यद्यपि महाराज प्रियव्रत पहले से ही मुक्त पुरुष थे और भौतिक वस्तुओं के प्रति उनका कोई आकर्षण नहीं था, किन्तु ब्रह्माजी का मान रखने के लिए ही उन्होंने शासन-भार सँभालने में पूरा ध्यान दिया। अर्जुन ने भी ऐसा ही किया था। अर्जुन को राजनैतिक कार्यों में भाग लेने अथवा कुरुक्षेत्र में युद्ध करने में कोई अभिरुचि नहीं थी, किन्तु जब श्रीकृष्ण ने उन्हें वैसा करने का आदेश दिया, तो उन्होंने बड़े ही अच्छे ढंग से अपने कर्तव्य का पालन किया। जो नित्य ही भगवान् के चरणकमलों का ध्यान धरता है, वह इस संसार के समस्त कल्मषों से ऊपर रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४७) में कहा गया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"समस्त योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी दिव्य सेवा करता है, वह मुझसे परम अतरंग रूप में जुड़ा हुआ है और सबसे श्रेष्ठ है।" इसलिए महाराज प्रियव्रत मुक्त पुरुष एवं परम योगियों में से थे, फिर भी ब्रह्मा के आदेशानुसार वे बाह्य रूप से ब्रह्माण्ड के शासक बने। इस प्रकार अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान का प्रदर्शन उनका एक और असाधारण गुण था। *श्रीमद्भागवत* (६.१७.२८) में कहा गया है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनर्केष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

यदि भगवान् की आज्ञापालन का अवसर आता है, तो वास्तविक रूप से बढ़ा-चढ़ा भक्त किसी प्रकार भयभीत नहीं होता। मुक्त पुरुष होते हुए भी प्रियव्रत द्वारा सांसारिक कार्यों में निरत होने का यही

कारण है। इसी सिद्धान्त के कारण एक महाभागवत, जिसका इस संसार से कोई सरोकार नहीं होता, भक्ति के द्वितीय स्तर पर उतर कर विश्व भर में भगवान् की महिमा का उपदेश देता है।

अथ च दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मतीं नाम तस्यामु ह वाव आत्मजानात्मसमानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान्दश भावयाम्बभूव कन्यां च यवीयसीमूर्जस्वतीं नाम. ॥ २४॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; च—भी; दुहितरम्—पुत्री को; प्रजापतेः—प्रजापतियों में से एक की; विश्वकर्मणः—विश्वकर्मा नामक; उपयेमे—ब्याह लिया; बर्हिष्मतीम्—बर्हिष्मती को; नाम—नाम; तस्याम्—उसमें; उ ह—जैसाकि प्रसिद्ध है; वाव—आश्चर्यजनक; आत्म-जान्—पुत्रों को; आत्म-समान—अपने ही सदृश्य; शील—चरित्र; गुण—गुण; कर्म—कार्य; रूप—सुन्दरता; वीर्य—बल; उदारान्—जिसकी उदारता; दश—दस; भावयाम् बभूव—उसके उत्पन्न हुई; कन्याम्—कन्या; च—भी; यवीयसीम्—सबसे छोटी; ऊर्जस्वतीम्—ऊर्जस्वती; नाम—नाम की।.

तदनन्तर महाराज प्रियव्रत ने प्रजापति विश्वकर्मा की कन्या बर्हिष्मती से विवाह किया। उससे उन्हें दस पुत्र प्राप्त हुए जो सुन्दरता, चरित्र, उदारता तथा अन्य गुणों में उन्हीं के समान थे। उनके एक पुत्री भी हुई जो सबसे छोटी थी। उसका नाम ऊर्जस्वती था।

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत ने ब्रह्मा का आदेश पालन करके के लिए न केवल राज्यभार स्वीकार किया, वरन् प्रजापतियों में से एक, प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री से विवाह भी किया। चूँकि महाराज प्रियव्रत दिव्य ज्ञान में निष्णात् थे, अत: वे चाहते तो घर लौटकर ब्रह्मचारी रहते हुए शासन-भार सँभालते, किन्तु गृहस्थाश्रम में आकर उन्होंने पत्नी भी स्वीकार की। नियम यह है कि जो गृहस्थ बन जाता है उसे उस आश्रम में पूर्णरूप से रहना चाहिए जिसका अर्थ है कि वह अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ शान्तिपूर्वक रहे। जब चैतन्य महाप्रभु की प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया, तो उनकी माँ ने दूसरा ब्याह करने का अनुरोध किया। उस समय उनकी आयु बीस वर्ष की थी और चौबीस वर्ष की आयु में वे संन्यास ग्रहण करने जा रहे थे, तो भी अपनी माँ के अनुरोध पर उन्होंने विवाह कर लिया। उन्होंने अपनी माँ से कहा, ''जब तक मैं गृहस्थाश्रम में हूँ, मेरी पत्नी होनी चाहिए, क्योंकि गृहस्थ जीवन का अर्थ घर में ही बने रहना नहीं होता। वास्तविक गृहस्थ जीवन का अर्थ है पत्नी के साथ घर में रहना।''

इस श्लोक के तीन शब्द—*उ ह वाव*—महत्त्व के हैं। इनका प्रयोग आश्चर्य प्रकट करने के लिए हुआ है। प्रियव्रत महाराज ने संन्यास का व्रत ले रखा था, किन्तु पत्नी स्वीकार करके पुत्र उत्पन्न करने से संन्यास-मार्ग का कोई सम्बन्ध नहीं है—ये कार्य तो भोग मार्ग को बताते हैं। अत: यह विस्मय की

बात थी कि संन्यास मार्ग के अनुगामी प्रियव्रत महाराज ने अब भोग-मार्ग को स्वीकार कर लिया।

कभी-कभी मेरी आलोचना इसलिए की जाती है, क्योंकि संन्यासी होते हुए भी मैं अपने शिष्यों के विवाहोत्सवों में सम्मिलित हुआ हूँ। यहाँ पर बता दिया जाये कि चूँकि हमने कृष्णभावनामृत संघ प्रारम्भ किया है और मानव समाज में आदर्श विवाह सम्पन्न होने चाहिए, इसलिए आदर्श समाज की स्थापना के लिए हमें इसके कुछ सदस्यों के विवाह में भाग लेना ही चाहिए, भले ही हमने संन्यास क्यों न स्वीकार कर रखा हो। यह उन व्यक्तियों को आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है जिनकी रुचि चारों सामाजिक आश्रमों तथा चारों आध्यात्मिक आश्रमों की दिव्य प्रणाली, जिसे *दैव-वर्णाश्रम* कहते हैं, स्थापित करने में नहीं है। तो भी श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने दैव-वर्णाश्रम की पुनर्स्थापना करनी चाही थी। दैव-वर्णाश्रम में 'जन्म से' सामाजिक स्तर नहीं स्वीकार किया जाता, क्योंकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि इसके निर्धारक तत्त्व *गुण* तथा *कर्म* हैं। कृष्णभावनामृत के लिए उपयुक्त समाज को बनाये रखने के उद्देश्य से इसी दैव-वर्णाश्रम की सारे विश्व में पुनर्स्थापना की जानी चाहिए। मूर्ख आलोचकों के लिए यह आश्चर्यजनक हो सकता है, किन्तु कृष्णभावनामृत संघ के कार्यों में से यह एक है।

आग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठसवनमेधातिथिवीतिहोत्रकवय इति सर्व एवाग्निनामानः. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आग्नीध्र—आग्नीध्र; इध्म-जिह्व—इध्मजिह्व; यज्ञ-बाहु—यज्ञबाहु; महा-वीर—महावीर; हिरण्य-रेतः—हिरण्यरेता; घृतपृष्ठ—घृतपृष्ठ; सवन—सवन; मेधा-तिथि—मेधातिथि; वीतिहोत्र—वीतिहोत्र; कवयः—(तथा) कवि; इति—इस प्रकार; सर्वे—ये सभी; एव—निश्चय ही; अग्नि—अग्नि देवता के; नामानः—नाम।.

महाराज प्रियव्रत के दस पुत्रों के नाम थे—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। ये अग्निदेव के भी नाम हैं।

एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन्. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एतेषाम्—इनमें से; कविः—कवि; महावीरः—महावीर; सवनः—सवन; इति—इस प्रकार; त्रयः—तीन; आसन्—थे; ऊर्ध्व-रेतसः—परम (नैष्ठिक) ब्रह्मचारी; ते—वे; आत्म-विद्यायाम्—दिव्य ज्ञान में; अर्भ-भावात्—बचपन से; आरभ्य—प्रारम्भ

करके; कृत-परिचयाः—अत्यधिक परिचित; पारमहंस्यम्—मानव जीवन की उच्चतम सिद्धि का; एव—निश्चय ही; आश्रमम्—आश्रम; अभजन्—पालन किया।.

इन दस पुत्रों में से तीन—कवि, महावीर तथा सवन—पूर्ण ब्रह्मचारी रहे। इस प्रकार बालपन से ब्रह्मचर्य जीवन की शिक्षा प्राप्त करने के कारण वे सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् परमहंस आश्रम से पूर्णतया परिचित थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *ऊर्ध्व-रेतसः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे ऐसे पुरुष का बोध होता है, जो विषयी जीवन पर विजय प्राप्त करके अपने वीर्य को स्खलित नहीं होने देता वरन् इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु को शरीर में संचित करके अपने मस्तिष्क को उर्वर बनाता है। जो पुरुष विषयी जीवन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकता है, वह अपने मस्तिष्क से आश्चर्यजनक काम ले सकता है, विशेषकर उसकी स्मरण शक्ति अपूर्व हो जाती है। इस प्रकार से विद्यार्थी अपने गुरु से वैदिक उपदेशों को एक बार सुनकर उन्हें अक्षरशः स्मरण रख सकते थे।

अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *अर्भ-भावात्* है, जिसका अर्थ है ''बालपन से ही।'' इसका दूसरा भी अर्थ है—''बच्चों को अत्यधिक प्रिय होने के कारण।'' दूसरे शब्दों में, परमहंस का जीवन दूसरों के लाभ के लिए समर्पित रहता है। जिस प्रकार से पिता अपने पुत्र प्रेम के कारण अनेक वस्तुओं का त्याग करता है उसी प्रकार से साधु पुरुष समाज-हित के लिए समस्त शारीरिक सुखों का परित्याग कर देते हैं। इस प्रसंग में छः गोस्वामियों से सम्बन्धित एक श्लोक है—

त्यक्त्या तूर्णमशेष-मंडल-पति-श्रेणीं सदा तुच्छवत्।

भूत्वा दीन-गणेशकौ करुणया कौपीन-कंठाश्रितौ॥

दीन पतित आत्माओं के प्रति दयाभाव के कारण छः गोस्वामियों ने अपने मंत्रिपद को त्याग कर याचक बनने का व्रत लिया। उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को यथासम्भव करके एक कौपीन तथा एक कमंडलु धारण किया। इस प्रकार वे वैष्णव साहित्य का संग्रह और प्रकाशन करके श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेशों का पालन करते हुए वृन्दावन में रहे।

तस्मिन्नु ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणाविगलितपरमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः. ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस परमहंस आश्रम में; उ—निश्चय ही; ह—इतना प्रसिद्ध; वा—निश्चय ही; उपशम-शीला:—संन्यास आश्रम में; परम-ऋषय:—महान् ऋषि; सकल—समस्त; जीव—जीवात्माओं का; निकाय—समूह; आवासस्य—निवास का; भगवत:—भगवान्; वासुदेवस्य—भगवान् वासुदेव का; भीतानाम्—जो भौतिक अस्तित्व के कारण भयभीत हैं, उनका; शरण-भूतस्य—जो एकमात्र शरण है; श्रीमत्—भगवान् का; चरण-अरविन्द—चरणकमल; अविरत—निरन्तर; स्मरण—स्मरण; अविगलित—निष्कलुषित; परम—परम; भक्ति-योग—भक्ति का; अनुभावेन—बल से; परिभावित—शुद्धीकृत, विमल; अन्त:—भीतरी; हृदय—हृदय; अधिगते—देखा हुआ; भगवति—भगवान्; सर्वेषाम्—सब; भूतानाम्—भूतात्माओं में से; आत्म-भूते—शरीर के भीतर स्थित; प्रत्यक्—प्रत्यक्ष; आत्मनि—परम-आत्मा में; एव—निश्चय ही; आत्मन:—अपना; तादात्म्यम्—गुण में एक समान; अविशेषेण—बिना अन्तर के; समीयु:—साक्षात्कार किया।

जीवन प्रारम्भ से ही संन्यास आश्रम में रहकर ये तीनों अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करते हुए महान सन्त हो गये। उन्होंने अपने मन को उन भगवान् के चरणकमलों में सदैव केन्द्रित रखा, जो समस्त जीवात्माओं के विश्रामस्थल (आश्रय) हैं और वासुदेव नाम से विख्यात हैं। जो भव-स्थिति से भयभीत हैं उनके लिए भगवान् वासुदेव ही एकमात्र शरण हैं। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान धारण करने के कारण महाराज प्रियव्रत के ये तीनों पुत्र शुद्ध भक्ति से सिद्ध बन गये। वे अपनी भक्ति के बल से परमात्मा के रूप में प्रत्येक के हृदय में निवास करने वाले भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सके और इसका अनुभव कर सके कि उनमें तथा भगवान् में, गुण के अनुसार, कोई अन्तर नहीं है।

तात्पर्य : संन्यासी जीवन में *परमहंस* अवस्था सर्वोच्च है। संन्यास की चार अवस्थाएँ होती हैं—*कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य* तथा *परमहंस*। वैदिक प्रणाली के अनुसार संन्यास आश्रम स्वीकार कर लेने पर गाँव के बाहर कुटी में रहना होता है और भोजन आदि आवश्यक वस्तुएँ घर से भेजी जाती हैं। यह *कुटीचक* अवस्था है। जब संन्यासी और आगे बढ़ता है, तो वह घर की कोई वस्तु स्वीकार नहीं करता, वरन् वह अपना भोजन आदि आवश्यक पदार्थ कई स्थानों से एकत्र करता है। यह प्रणाली *माधुकरी* कहलाती है, जिसका शाब्दिक अर्थ है "भौंरों की वृत्ति।" जिस प्रकार भौंरे थोड़ा-थोड़ा करके अनेक पुष्पों से मधु संचित करते हैं उसी प्रकार से संन्यासी को द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगनी चाहिए और प्रत्येक घर से थोड़ा ही ग्रहण करना चाहिए। यह *बहूदक* अवस्था कहलाती है। अधिक अनुभवी होने पर संन्यासी भगवान् वासुदेव की महिमा का उपदेश देने के लिए विश्वभर का भ्रमण करता है। तब वह *परिव्राजकाचार्य* कहलाता है। संन्यासी को *परमहंस* अवस्था तब प्राप्त होती है, जब वह अपना उपदेश-कार्य समाप्त करके अध्यात्म जीवन बिताने के उद्देश्य से एक स्थान पर

टिक जाता है। सच्चा परमहंस वह है, जो अपनी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रखता है और ईश्वर की शुद्ध सेवा में लगा रहता है। अत: प्रियव्रत के ये तीनों पुत्र प्रारम्भ से ही परमहंस अवस्था को प्राप्त थे। ईश्वर की सेवा में तल्लीन रहने के कारण उनकी इन्द्रियाँ उन्हें विचलित नहीं कर सकती थीं। इसीलिए तीनों भाइयों को इस श्लोक में *उपशमशीला:* कहा गया है। *उपशम* का अर्थ है "पूर्णत: दमित।" चूँकि उन्होंने अपनी इन्द्रियों को पूर्णत: दमित कर लिया था इसलिए वे महान् साधु तथा ऋषि माने जाते हैं।

इन्द्रियों को दमित करने के अनन्तर तीनों भाइयों ने अपना मन वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणकमलों में लगा दिया। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—*वासुदेव: सर्वम् इति*—अर्थात् वासुदेव के चरणकमल ही सर्वस्व हैं। भगवान् वासुदेव समस्त जीवात्माओं के आगार हैं। जब इस विराट जगत का लय हो जाता है, तो समस्त जीवात्मनाएँ गर्भोदकशायी विष्णु की परम देह में प्रविष्ट होती हैं, जो महाविष्णु में लीन हो जाते हैं। ये दोनों विष्णुतत्त्व वासुदेव तत्त्व ही हैं; इसीलिए कवि, महावीर तथा सवन—ये तीनों भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में सदैव ध्यानस्थ रहे। इस प्रकार वे वह समझ सके कि हृदय में स्थित परम आत्मा भगवान् ही है और वे अपने स्वरूप को उनमें पा सके। इसका आशय यह है कि केवल शुद्ध भक्ति से पूर्ण आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है। इस श्लोक में वर्णित *परम-भक्ति-योग* का यह भावार्थ है कि अमिश्रित (अनन्य) भक्ति के बल पर जीवात्मा के लिए ईश्वर की सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं रहता, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*वासुदेव: सर्वम् इति*)। *परम-भक्ति-योग* से मनुष्य स्वत: देहात्मबुद्धि से उबर सकता है और भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। इसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* में हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्त: सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

सिद्ध योगी, जिसे *सत्* या साधु कहते हैं सदा अपने हृदय में भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण स्वयं को स्वांशों द्वारा विस्तार देते हैं और इस तरह भक्त अपने हृदय में निरन्तर उनका दर्शन पा सकता है।

अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन्नुत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः. ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अन्यस्याम्—अन्य; अपि—भी; जायायाम्—स्त्री से; त्रयः—तीन; पुत्राः—पुत्र; आसन्—थे; उत्तमः तामसः रैवतः—उत्तम, तामस तथा रैवत; इति—इस प्रकार; मनु-अन्तर—मन्वन्तर कल्प के; अधिपतयः—शासक।.

महाराज प्रियव्रत की दूसरी पत्नी से तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम उत्तम, तामस तथा रैवत थे। बाद में इन्होंने मनवन्तर कल्पों का भार सँभाला।

तात्पर्य : ब्रह्मा के एक दिन में १४ मन्वन्तर होते हैं। एक मनु का जीवन काल अर्थात् एक मन्वन्तर की अवधि ७१ युग है और प्रत्येक युग में ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। इन मन्वन्तरों पर शासन करने वाले प्रायः समस्त मनु महाराज प्रियव्रत के वंशज ही रहे। इनमें से तीन—उत्तम, तामस तथा रैवत—का विशेष उल्लेख हुआ है।

एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहताखिलपुरुषकारसारसम्भृतदोर्दण्डयुगलापीडितमौर्वीगुणस्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेधमानप्रमोदप्रसरणयौषिण्यव्रीडाप्रमुषितहासावलोकरुचिरक्ष्वेल्यादिभिः पराभूयमानविवेक इवानवबुध्यमान इव महामना बुभुजे. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; उपशम-अयनेषु—सभी सुयोग्य; स्व-तनयेषु—अपने पुत्रों में से; अथ—तत्पश्चात्; जगती-पतिः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; जगतीम्—ब्रह्माण्ड को; अर्बुदानि—अर्बुद (१०,००,००,००० की संख्या); एकादश—ग्यारह; परिवत्सराणाम्—वर्षों का; अव्याहत—बिना रोकटोक के; अखिल—विश्वव्यापी; पुरुष-कार—शौर्य; सार—शक्ति; सम्भृत—प्रदत्त; दोः-दण्डः—बलिष्ठ भुजाओं वाले; युगल—दो; आपीडित—खींची गई; मौर्वी-गुण—धनुष की डोरी; स्तनित—टंकार से; विरमित—पराजित; धर्म—धार्मिक नियम; प्रतिपक्षः—विपक्षी; बर्हिष्मत्याः—अपनी पत्नी बर्हिष्मती का; च—तथा; अनुदिनम्—प्रतिदिन; एधमान—वर्धमान; प्रमोद—मनोरंजन; प्रसरण—सुशीलता, सौजन्य; यौषिण्य—स्त्रियोचित व्यवहार; व्रीडा—लज्जा से; प्रमुषित—संकुचित; हास—हँसी, हास्य; अवलोक—चितवन; रुचिर—मनोहर; क्ष्वेलि-आदिभिः—विनोद इत्यादि; पराभूयमान—पराजित होकर; विवेकः—अपने वास्तविक ज्ञान; इव—सदृश; अनवबुध्यमानः—विवेकहीन व्यक्ति; इव—सदृश; महा-मनाः—महान् आत्मा; बुभुजे—राज्य किया, भोगा।.

इस प्रकार से कवि, महावीर तथा सवन के परमहंस अवस्था में भलीभाँति प्रशिक्षित हो जाने पर महाराज प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक ब्रह्माण्ड पर शासन किया। जिस समय वे अपनी बलशाली भुजाओं से धनुष की डोरी खींच कर तीर चढ़ा लेते थे उस समय धार्मिक जीवन के नियमों को न मानने वाले उनके विपक्षी विश्वपर शासन करने के उनके अद्वितीय शौर्य से डर कर न जाने कहाँ भाग जाते थे। वे अपनी पत्नी बर्हिष्मती को अगाध प्यार करते थे और समय बीतने के साथ ही उनका प्रणय भी बढ़ता गया। अपनी स्त्रियोचित वेशभूषा, उठने-बैठने, हँसी तथा

चितवन से महारानी बर्हिष्मती उन्हें शक्ति प्रदान करती थी। इस प्रकार महात्मा होते हुए भी वे अपनी पत्नी के स्त्री-उचित व्यवहार में खो गये। वे उसके साथ सामान्य पुरुष-सा आचरण करते, किन्तु वे वास्तव में महान् आत्मा थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *धर्म-प्रतिपक्ष:* धार्मिक सिद्धान्तों के विरोधी से किसी विशेष धर्म का नहीं वरन् वर्णाश्रम धर्म का संकेत मिलता है। सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने एवं नागरिकों को जीवन-लक्ष्य अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान की ओर क्रमश: अग्रसर होने के लिए आवश्यक है कि वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन किया जाये। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि वर्णाश्रम धर्म के पालन में महाराज प्रियव्रत इतने कठोर थे कि इसकी उपेक्षा करने वाले युद्ध के लिए ललकारे जाने या दंडित किये जाने की चेतावनी पर राजा से दूर भागते फिरते थे। दरअसल महाराज प्रियव्रत को अपने दृढ़ संकल्प के कारण लड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी; उनके विपक्षी वर्णाश्रम धर्म के नियमों का उल्लंघन करने का दुस्साहस नहीं कर सकते थे। कहा गया है जो मानव समाज वर्णाश्रम धर्म द्वारा चालित नहीं है, वह बिल्लियों तथा कुत्तों के पशु-समाज से बढ़कर नहीं है। अत: महाराज प्रियव्रत ने अपने असाधारण तथा अद्वितीय शौर्य से वर्णाश्रम धर्म को दृढ़ बनाये रखा।

इस प्रकार का कठोर जागरूक जीवन बनाये रखने के लिए मनुष्य को अपनी पत्नी से प्रोत्साहन की आवश्यकता पड़ती है। वर्णाश्रम धर्म प्रणाली में, ब्राह्मण तथा संन्यासियों को स्त्रियों से किसी प्रकार के प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु क्षत्रियों तथा गृहस्थों को अपने कर्तव्य-पालन के लिए अपनी पत्नियों से प्रोत्साहन लेने की आवश्यकता रहती है। वास्तविकता तो यह है कि कोई गृहस्थ या क्षत्रिय अपनी पत्नी के सहयोग के बिना अपना दायित्व अच्छी तरह से निभा ही नहीं सकता। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि गृहस्थ को अपनी पत्नी के साथ रहना चाहिए। क्षत्रियों को राज-काज चलाने में प्रोस्ताहित किए जाने के लिए कई पत्नियाँ रखने की छूट थी। कर्म तथा राजनैतिक कार्य के जीवन में योग्य पत्नी का साहचर्य अनिवार्य है। अत: सुचारु रूप से कर्तव्य पालने के लिए महाराज प्रियव्रत ने अपनी सुन्दर पत्नी बर्हिष्मती का लाभ उठाया, क्योंकि वह स्त्रियोचित वेशभूषा, मुस्कान तथा अपने नारी सुलभ शारीरिक हाव-भावों से अपने महान् पति को प्रसन्न रखने में दक्ष थी। वह महाराज प्रियव्रत को प्रोत्साहित करती रहती जिससे वे उचित रीति से

शासन करते थे। इस श्लोक में *इव* शब्द का दो बार प्रयोग यह बताने के लिए किया गया है कि महाराज प्रियव्रत स्त्री-दास के रूप में आचरण करते हुए ऐसे प्रतीत होते थे जैसे कि वे मानवोचित विवेक खो बैठे हों। किन्तु वास्तव में वे अपने महात्मा पद के प्रति भिज्ञ थे, यद्यपि ऊपर से वे कर्मी पति का-सा आचरण कर रहे थे। इसप्रकार महाराज प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक राज्य किया। एक अर्बुद दस करोड़ (१०,००,००,०००) वर्ष के तुल्य होता है।

यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन्भगवानादित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन्समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद्द्वितीय इव पतङ्गः. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; अवभासयति—प्रकाश देता है; सुर-गिरिम्—सुमेरु पर्वत की; अनुपरिक्रामन्—परिक्रमा करते हुए; भगवान्—परम शक्तिमान; आदित्यः—सूर्यदेव; वसुधा-तलम्—अधोलोक पर; अर्धेन—आधे से; एव—निश्चय ही; प्रतपति—तप्त करता है; अर्धेन—आधे से; अवच्छादयति—अँधेरे से ढके रहता है, अँधेरा करता है; तदा—उस समय; हि—निश्चय ही; भगवत्-उपासना—भगवान् की उपासना द्वारा; उपचित—उन्हें पूरी तरह प्रसन्न करके; अति-पुरुष—परम पुरुष; प्रभावः—प्रभाव; तत्—वह; अनभिनन्दन्—बिना प्रशंसा किये; समजवेन—समान बलशाली के द्वारा; रथेन—रथ पर; ज्योतिः-मयेन—ज्योतिर्मय, प्रकाशवान्; रजनीम्—रात्रि को; अपि—भी; दिनम्—दिन; करिष्यामि—बना दूँगा; इति—इस प्रकार; सप्त-कृत्—सात बार; वस्तरणिम्—सूर्य की कक्ष्या का अनुगमन करते हुए; अनुपर्यक्रामत्—परिक्रमा करते हुए; द्वितीयः—दूसरा; इव—सदृश; पतङ्गः—सूर्य।

इस प्रकार सुचारु रूप से राज्य करते हुए राजा प्रियव्रत एक बार परम बलशाली सूर्यदेव की परिक्रमा से असन्तुष्ट हो गये। सूर्यदेव अपने रथ पर आरूढ़ होकर सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते हुए समस्त लोकों को प्रकाशित करते हैं, किन्तु जब सूर्य उत्तर दिशा में रहता है, तो दक्षिण भाग को कम प्रकाश मिलता है और जब सूर्य दक्षिण दिशा में रहता है, तो उत्तर भाग को कम प्रकाश मिलता है। राजा प्रियव्रत को यह स्थिति नहीं भायी इसलिए उन्होंने संकल्प किया कि ब्रह्माण्ड के उस भाग में जहाँ रात्रि है, वहाँ वे दिन कर देंगे। उन्होंने एक प्रकाशमान रथ पर चढ़कर सूर्यदेव की कक्ष्या का पीछा करके अपनी इच्छा पूर्ण की। वे ऐसे विस्मयजनक कार्यकलाप इसीलिए कर पाये, क्योंकि उन्होंने भगवान् की उपासना के द्वारा शौर्य अर्जित किया था।

तात्पर्य : बँगला में एक कहावत है कि वह इतना बलवान है कि चाहे, तो रात को दिन और दिन को रात कर दे। यह कहावत प्रियव्रत के शौर्य के कारण ही प्रचलित है। उनके कार्यों से यह पता चलता है कि भगवान् की उपासना से वे कितने शक्तिशाली हो गये थे। भगवान् कृष्ण को योगेश्वर कहा

गया है *भगवद्गीता* (१८.७८) में कहा गया है कि जहाँ जहाँ योगेश्वर रहते हैं वहाँ वहाँ विजय, धन तथा ऐश्वर्य रहते हैं (*यत्र योगेश्वर: कृष्ण:*)। भक्ति इतनी बलशाली होती है। जब भक्त की मनोकामना पूर्ण होती है, तो वह उसकी निजी शक्ति से नहीं, वरन् शक्ति के स्वामी (योगेश्वर कृष्ण) के अनुग्रह से होती है। उनके अनुग्रह से भक्त को ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं जिनकी बड़े से बड़े वैज्ञानिक कल्पना तक नहीं कर सकते।

इस श्लोक के वर्णन से ऐसा लगता है कि सूर्य घूमता है। आधुनिक ज्योतिर्विदों के अनुसार सूर्य एक स्थान पर स्थिर है और सौर मण्डल से घिरा हुआ है, किन्तु यहाँ हम पाते हैं कि सूर्य स्थिर नहीं हैं, वह अपनी नियत कक्ष्या में चक्कर लगा रहा है। इस कथन की पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (.२) से होती है—*यस्याज्ञया भ्रमति संभृत-काल-चक्र:*—सूर्य भगवान् की आज्ञा के अनुसार स्थिर कक्ष्या में घूमता है। वैदिक साहित्य के नक्षत्र-विज्ञान अथवा ज्योतिर्वेद के अनुसार सूर्य छ: मास तक सुमेरु पर्वत के उत्तर में और छ: मास दक्षिण में घूमता रहता है। इस ग्रह (पृथ्वी) में यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि जब उत्तर में ग्रीष्म ऋतु होती है, तो दक्षिण में शीत ऋतु रहती है। इसी प्रकार इसके विपरीत भी होता है। कभी-कभी आधुनिक विज्ञानी दावा करते हैं कि उन्होंने सूर्य के सारे अवयवों का पता लगा लिया है, किन्तु फिर भी वे प्रियव्रत के समान दूसरा सूर्य प्रदान नहीं कर सकते।

यद्यपि प्रियव्रत महाराजने सूर्य के समान एक तेजस्वी रथ का आविष्कार कर लिया था, किन्तु उनकी इच्छा सूर्यदेव से प्रतिस्पर्धा करने की नहीं थी क्योंकि एक वैष्णव दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं करता। उनका उद्देश्य अधिकाधिक भौतिक लाभ प्रदान करना था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि महाराज प्रियव्रत के तेजस्वी सूर्य की किरणें अप्रैल तथा मई के महीनों में चन्द्रमा के समान सुहावनी थीं जबकि अक्टूबर तथा नवम्बर में प्रात: तथा सायंकाल इस सूर्य से सूर्यप्रकाश की अपेक्षा अधिक ताप प्राप्त होता था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महाराज प्रियव्रत अत्यन्त बलशाली थे और उनके कार्यों (चरित्र) से उनका शौर्य चातुर्दिक फैल गया था।

ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन्यत एव कृता: सप्त भुवो द्वीपा:. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ये—वे; वा उ ह—निश्चय ही; तत्-रथ—उस रथ के; चरण—पहियों की; नेमि—परिधि से; कृत—बने हुए; परिखाताः—खाइयाँ (गड्ढे); ते—वे; सप्त—सात; सिन्धवः—सागर; आसन्—हो गये; यतः—जिसके कारण; एव—निश्चय ही; कृताः—बने हुये; सप्त—सात; भुवः—भूमण्डल के; द्वीपाः—द्वीप।

जब प्रियव्रत ने अपना रथ सूर्य के पीछे हाँका, तो उनके रथ के पहियों की परिधि से जो चिह्न बन गये वे ही बाद में सात समुद्र हो गये और भूमण्डल सात द्वीपों में विभाजित हो गया।

तात्पर्य : कभी-कभी अन्तरिक्ष लोकों को द्वीप कहा जाता है। हम सागरों में विभिन्न प्रकार के द्वीपों से परिचित हैं। इसी प्रकार से चौदह लोक भी आकाश रूपी सागर के द्वीप हैं। सूर्य के पीछे रथ हाँकते हुए प्रियव्रत ने सात विभिन्न सागरों तथा लोकों की सृष्टि की जिन्हें मिलाकर भूमण्डल या भूलोक कहा जाता है। गायत्री मंत्र में हम ॐ *भूर् भुवः स्वः तत् सवितुर् वरेण्यम्*—जप करते हैं। भूलोक के ऊपर भुवर्लोक है और उससे भी ऊपर स्वर्गलोक है। इन सबों का नियंत्रण सविता (सूर्यदेव) द्वारा किया जाता है। प्रातःकाल उठने के पश्चात् गायत्री मंत्र का जाप करने से सूर्यदेव की आराधना की जाती है।

जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासङ्ख्यं द्विगुणमानेन बहिः समन्तत उपक्लिप्ताः. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

जम्बू—जम्बू; प्लक्ष—प्लक्ष; शाल्मलि—शाल्मलि; कुश—कुश; क्रौञ्च—क्रौंच; शाक—शाक; पुष्कर—पुष्कर; संज्ञाः—जाने जाते हैं; तेषाम्—उनमें से; परिमाणम्—परिमाप; पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्—अपने से पूर्व वाले से; उत्तरः उत्तरः—बाद वाले; यथा—क्रमानुसार; सङ्ख्यम्—संख्या; द्वि-गुण—दो गुना; मानेन—माप से; बहिः—बाहर; समन्ततः—चारों ओर; उपक्लिप्ताः—उत्पन्न किया।

(सात) द्वीपों के नाम हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक तथा पुष्कर। प्रत्येक द्वीप अपने से पहले वाले द्वीप से आकार में दुगुना है और एक तरल पदार्थ से घिरा है, जिसके आगे दूसरा द्वीप है।

तात्पर्य : प्रत्येक लोक के सागर का तरल पदार्थ भिन्न प्रकार का है। वे किस प्रकार स्थित हैं इसका विस्तृत विवरण अगले श्लोक में हुआ है।

क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्त द्वीपपरिखा इवाभ्यन्तरद्वीपसमाना एकैकश्येन यथानुपूर्वं सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु पृथक्परित उपकल्पितास्तेषु जम्ब्वादिषु

बर्हिष्मतीपतिरनुव्रतानात्मजानाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुहिरण्यरेतोघृतपृष्ठमेधातिथिवीतिहोत्रसंज्ञान्यथासङ्ख्येनैकैकस्मिन्नेकमेवाधिपतिं विदधे. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

क्षार—लवण, खारे; उद—जल; इक्षु-रस—गन्ने का रस; उद—जल; सुरा—मदिरा; उद—जल; घृत—घी; उद—जल; क्षीर—दुग्ध; उद—जल; दधि-मण्ड—मट्ठा; उद—जल; शुद्ध-उदाः—तथा पेय जल; सप्त—सात; जल-धयः—सागर; सप्त—सात; द्वीप—द्वीप; परिखाः—खाइयाँ; इव—सदृश्य; अभ्यन्तर—भीतरी; द्वीप—द्वीप; समानाः—के तुल्य; एक-एकश्येन—एक के बाद दूसरा; यथा-अनुपूर्वम्—क्रमानुसार; सप्तसु—सात; अपि—यद्यपि; बहिः—बाह्य; द्वीपेषु—द्वीपों में; पृथक्—अलग; परितः—चारों ओर; उपकल्पिताः—स्थित; तेषु—उनमें से; जम्बू-आदिषु—जम्बूद्वीप तथा अन्य द्वीप; बर्हिष्मती—बर्हिष्मती का; पतिः—पति; अनुव्रतान्—जो पिता के नियमों का पालन करने वाले थे; आत्म-जान्—पुत्रों को; आग्नीध्र-इध्मजिह्व-यज्ञबाहु-हिरण्यरेतः-घृतपृष्ठ-मेधातिथि-वीतिहोत्र-संज्ञान्—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि, वीतिहोत्र नाम वाले; यथा-सङ्ख्येन—क्रमानुसार; एक-एकस्मिन्—प्रत्येक द्वीप में; एकम्—एक; एव—निश्चय ही; अधि-पतिम्—राजा; विदधे—बना दिया।

ये सातों समुद्र क्रमशः खारे जल, ईख के रस, सुरा, घृत, दुग्ध, मट्ठा तथा मीठे पेय जल से पूर्ण हैं। सभी द्वीप इन सागरों से पूर्णतया घिरे हैं और प्रत्येक समुद्र घिरे हुए द्वीप के समान चौड़ा है। रानी बर्हिष्मती के पति महाराज प्रियव्रत ने इन द्वीपों का एकक्षत्र राज्य अपने पुत्रों को दे दिया जिनके नाम क्रमशः आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि तथा वीतिहोत्र थे। इस प्रकार अपने पिता के आदेश से ये सभी राजा बन गये।

तात्पर्य : यहाँ यह समझने की बात है कि प्रत्येक द्वीप भिन्न प्रकार के सागर से घिरा है और यहाँ कहा गया है कि प्रत्येक सागर की चौड़ाई उस द्वीप के समान है, जिसे वह घेरता है। किन्तु सागरों की लम्बाई द्वीपों की लम्बाई के तुल्य नहीं हो सकती। वीर राघव आचार्य के अनुसार प्रथम द्वीप की चौड़ाई एक लाख योजन है। एक योजन आठ मील के बराबर होता है, अतः प्रथम द्वीप की चौड़ाई आठ लाख मील हुई। इस द्वीप को घेरने वाले जल की चौड़ाई भले ही इतनी ही हो, किन्तु उसकी लम्बाई को भिन्न होना चाहिए।

दुहितरं चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद्देवयानी नाम काव्यसुता. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

दुहितरम्—पुत्री; च—भी; ऊर्जस्वतीम्—ऊर्जस्वती; नाम—नामक; उशनसे—महर्षि उशना (शुक्राचार्य) को; प्रायच्छत्—दे दिया; यस्याम्—जिससे; आसीत्—थी (उत्पन्न हुई); देवयानी—देवयानी; नाम—नामक; काव्य-सुता—शुक्राचार्य की पुत्री।

उसके बाद राजा प्रियव्रत ने अपनी पुत्र ऊर्जस्वती का विवाह शुक्राचार्य से कर दिया, जिसके गर्भ से देवयानी नामक पुत्री उत्पन्न हुई।

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य
पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम् ।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत
यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एवम्-विधः—इस प्रकार; पुरुष-कारः—अपना प्रभाव; उरु-क्रमस्य—भगवान् का; पुंसाम्—भक्तों का; तत्-अङ्घ्रि—उनके चरणारविन्द की; रजसा—धूलि से; जित-षट्-गुणानाम्—जिन्होंने छः प्रकार के विकारों को जीत लिया है; चित्रम्—विस्मयजनक; विदूर-विगतः—अस्पृश्य, पंचम वर्ण का व्यक्ति; सकृत्—एक बार; आददीत—यदि उच्चारण करे तो; यत्—जिसका; नामधेयम्—पवित्र नाम; अधुना—तुरन्त; सः—वह; जहाति—त्याग देता है; बन्धम्—भौतिक बन्धन।

हे राजन्, जिस भक्त ने भगवान् के चरणारविन्दों की धूलि में शरण ली है, वह षड् विकारों अर्थात् भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु के प्रभाव तथा मन समेत छहों इन्द्रियों को जीत सकता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त के लिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं क्योंकि चारों वर्णों से बाहर का व्यक्ति अर्थात् अस्पृश्य व्यक्ति भी भगवान् के नाम का एक बार उचार कर लेने मात्र से भौतिक बन्धनों से तुरन्त छूट जाता है।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से राजा प्रियव्रत के चरित्र का उल्लेख कर रहे थे और चूँकि राजा को इन आश्चर्यजनक असाधारण कार्यकलापों के प्रति सन्देह हुआ होगा इसलिए उन्होंने यह कह कर उन्हें फिर विश्वास दिलाया कि हे राजन्! प्रियव्रत के चरित्र पर सन्देह मत करो। भगवान् के भक्त के लिए सब कुछ सम्भव है, क्योंकि ईश्वर को "उरुक्रम" भी कहा गया है। उरुक्रम वामनदेव का नाम है, जिन्होंने अपने तीन पगों से सारी पृथ्वी नाप कर एक अद्‌भुत कार्य किया था। उन्होंने महाराज बलि से तीन पग भूमि माँगी और जब वे ऐसा करने के लिए राजी हो गये, तो उन्होंने सम्पूर्ण जगत को अपने दो पगों में नाप लिया और तीसरा पग महाराज बलि के सिर पर रख दिया। श्री जयदेव गोस्वामी कहते हैं—

छलयसि विक्रमणे बलिम् अद्‌भुत-वामन

पद-नख-नीर-जनित-जन-पावन

केशव धृत-वामन-रूप जय जगदीश हरे।

"भगवान् केशव की जय हो, जिन्होंने वामन रूप धारण किया। हे ब्रह्माण्ड के स्वामी! आप भक्तों के अमंगल को हर लेते हैं? हे अद्‌भुत वामनदेव! आपने अपने पगों से महान् असुर बलि महाराज को छला। जब आपने अपने चरणकमल भूमण्डल में गड़ा दिये, तो उस समय आपके नखों में जो जल

लग गया वह गंगा नदी के रूप में समस्त जीवात्माओं को पवित्र करता है।''

चूँकि भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अत: वे ऐसे कार्य कर सकते हैं, जो सामान्य व्यक्ति को अद्‌भुत लगे। इसी प्रकार से भगवान् के चरणारविन्द की शरण लेने वाला भक्त चरण-रज के प्रभाव से एक से एक अद्‌भुत कार्य कर सकता है, जो सामान्य मनुष्य के लिए अकल्पनीय है। इसलिए श्री चैतन्य महाप्रभु हमें भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का उपदेश देते हैं—

अयि नन्द-तनुज किंकरं

पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पाद-पंकज-

स्थित-धूली-सदृशं विचिन्तय॥

''हे नन्द महाराज के पुत्र! मैं आपका चिरन्तन दास हूँ फिर भी मैं न जाने किस तरह इस जन्म-मरण के सागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे इस सागर से उठाकर अपने चरणकमल की धूलि (कण) बना लें।'' भगवान् चैतन्य हमें भगवान् के चरणकमलों की धूलि के सम्पर्क में आने की शिक्षा देते हैं क्योंकि तब हमें निस्सन्देह सभी प्रकार की सफलता मिल जायेगी।

भौतिक देह के कारण प्रत्येक जीवात्मा इस जगत में भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु इन षड् विकारों से सदैव विक्षुब्ध रहता है। अन्य षड् विकार हैं—मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। पवित्र भक्त का क्या कहना अस्पृश्य चण्डाल तक ईश्वर का एक बार भी स्मरण करने पर भव-बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है। कभी-कभी ब्राह्मण जाति के लोग यह तर्क करते हैं कि जब तक देह न बदल जाये कोई किस प्रकार ब्राह्मण हो सकता है, क्योंकि यह देह पूर्वकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुई है, अत: जो पूर्वजन्म में ब्राह्मण का आचरण कर चुका है, वही ब्राह्मण परिवार में देह धारण कर सकता है। अत: उनका अभिमत है कि बिना ब्राह्मण देह के किसी को ब्राह्मण नहीं स्वीकार किया जा सकता। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि *विदूरविगत* भी, जो पंचम अस्पृश्य जाति का चण्डाल होता है, भगवान् का एक बार भी पवित्र नाम लेने पर मुक्त हो जाता है। मुक्त होने का अर्थ है तुरन्त ही उसका शरीर बदल जाता है। इसकी पुष्टि सनातन गोस्वामी ने की है—

यथा कांचनतां याति कांस्यं रसविधानत:।

तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥

जब कोई व्यक्ति, भले ही वह चांडाल ही क्यों न हो, शुद्ध भक्त द्वारा भगवान् के पवित्र नाम का जप करने की दीक्षा पाता है, तो उसका शरीर बदल जाता है, क्योंकि वह अपने गुरु के उपदेशों का पालन करता है। यद्यपि कोई यह नहीं देख पाता कि शरीर किस प्रकार बदला है, किन्तु हमें शास्त्रों के वचनों को प्रामाणिक मानकर ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा बिना तर्क किये समझना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट कथन है—*स जहाति बन्धम्*—वह अपने भौतिक बन्धन त्याग देता है। यह देह मनुष्य के कर्म के अनुसार भौतिक बन्धन का प्रतीक है। यद्यपि हमें कभी-कभी स्थूल देह बदलती हुई नहीं दिखती, किन्तु परमेश्वर के नाम-जप से सूक्ष्म शरीर तुरन्त बदल जाता है और चूँकि सूक्ष्म शरीर बदलता है इसलिए जीवात्मा तुरन्त बदल जाता है और चूँकि सूक्ष्म शरीर बदलता है इसलिए जीवात्मा तुरन्त भौतिक बन्धन से मुक्त हो जाता है। अन्ततः स्थूल देह में होने वाले परिवर्तन सूक्ष्म देह द्वारा ही संचालित होते हैं। इस स्थूल शरीर के विनष्ट हो जाने पर सूक्ष्म देह जीवात्मा को एक दूसरे स्थूल देह में ले जाती है। सूक्ष्म शरीर में मन प्रधान होता है, अतः यदि किसी का मन ईश्वर के चरणारविन्द में अथवा कार्यों के स्मरण में सदा आसक्त रहता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने अपने वर्तमान देह को पहले ही बदल दिया है और वह पवित्र हो चुका है। अतः यह अकाट्य है कि प्रामाणिक दीक्षा के द्वारा चाण्डाल भी ब्राह्मण बन सकता है।

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षिचरणानुशयनानुपतितगुणविसर्गसंसर्गेणानिर्वृतमिवात्मानं मन्यमान आत्मनिर्वेद इदमाह. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (महाराज प्रियव्रत); एवम्—इस प्रकार; अपरिमित—अद्वितीय; बल—शक्ति; पराक्रमः—जिसका प्रभाव; एकदा—एक बार; तु—तब; देव-ऋषि—महामुनि नारद के; चरण-अनुशयन—चरणकमलों में समर्पण; अनु—तत्पश्चात्; पतित—गिरा हुआ; गुण-विसर्ग—विषयों के (तीन गुणों से उत्पन्न); संसर्गेण—सम्पर्क होने से; अनिर्वृतम्—असंतुष्ट; इव—सदृश; आत्मानम्—अपने आपको; मन्यमानः—इस प्रकार सोचते हुए; आत्म—स्वयं; निर्वेदः—त्यागमय; इदम्—यह; आह—कहा।

इस प्रकार अपने पूर्ण पराक्रम तथा प्रभाव से भौतिक ऐश्वर्य का भोग करते हुए महाराज प्रियव्रत एक बार यह सोचने लगे कि यद्यपि मैं महामुनि नारद के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुका था और वास्तव में कृष्णभावनामृत के मार्ग पर था, किन्तु मैं अब न जाने क्यों फिर से भौतिक कार्यों के बन्धन में फँस गया हूँ। इस प्रकार उनका मन अशान्त हो उठा। वे विरक्त होकर बोलने

लगे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१..१७) में कहा गया है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-

र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत: ॥

"जिसने ईश्वर की सेवा करने के लिए अपना भौतिक कर्म छोड़ दिया है, वह अपरिपक्व अवस्था में रहने पर कभी-कभी गिर सकता है, किन्तु तो भी उसके असफल होने का कोई डर नहीं रहता। दूसरी ओर यदि कोई अभक्त अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों में पूरी तरह संलग्न रहे, तो भी उसे कुछ नहीं प्राप्त होता।" यदि कोई किसी भी तरह किसी महान् वैष्णव की शरण में जाता है और भावनावश या बोध होने के कारण कृष्णभावनामृत स्वीकार करता है, किन्तु कालान्तर में अपरिपक्व बोध के कारण यदि वह नीचे गिर जाता है, तो वह वास्तव में गिरा हुआ नहीं कहा जाता, क्योंकि कृष्णभावनामृत में लगे रहना एक प्रकार से स्थायी सम्पत्ति है। अत: यदि कोई नीचे गिरता है भी तो कुछ काल के लिए उसकी उन्नति रुक सकती है, किन्तु उपयुक्त अवसर आने पर वह फिर अवश्य दिखाई पड़ेगी। यद्यपि महाराज प्रियव्रत नारद मुनि के उपदेशों के अनुसार भगवान् के धाम वापस जाने के लिए सेवा कर रहे थे, किन्तु अपने पिता की प्रार्थना पर वे भौतिक विषयों में पुन: लौट आये। कालान्तर में उनमें अपने गुरु नारद के अनुग्रह से श्रीकृष्ण की सेवा करने की भावना पुन: जगी।

जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४१) में कहा गया है—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*—भक्तियोग से च्युत पुरुष को पुन: देवताओं का ऐश्वर्य प्राप्त होता है और उसका उपभोग कर लेने के पश्चात् उसे शुद्ध ब्राह्मण अथवा धनी परिवार में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है, जिससे वह अपनी कृष्णभक्ति को पुन: जाग्रत कर सके। प्रियव्रत के जीवन में ऐसा ही हुआ। इस सत्य के वे ज्वलन्त उदाहरण हैं। कालक्रम से जब उन्हें अपनी सम्पत्ति, पत्नी, राज्य तथा पुत्रों के भोग की कामना नहीं रह गई, तो उन्होंने सबको त्याग देना चाहा। अत: इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी महाराज प्रियव्रत के ऐश्वर्य का वर्णन कर चुकने के बाद उनकी विराग-प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं।

देवर्षि-चरणानुशयन शब्दों से यह सूचित होता है कि महाराज प्रियव्रत पूर्णतया देवर्षि नारद की शरण में जाकर उनके निर्देश से भक्ति की समस्त क्रियाओं तथा अनुष्ठानों का कठोरता से पालन कर रहे थे। जहाँ तक अनुष्ठानों के दृढ़तापूर्वक पालन का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है—*दण्डवत्-प्रणामास्तान् अनुपतितः*—गुरु को तुरन्त दण्डवत् प्रणाम करने तथा उसके आदेशों का पालन करने से विद्यार्थी उन्नति करता है। महाराज प्रियव्रत ये सारे कार्य नियमित रूप से कर रहे थे।

जब तक मनुष्य इस संसार में है, वह प्रकृति के तीन गुणों (*गुण-विसर्ग*) के वशीभूत रहता है। ऐसा नहीं है कि ऐश्वर्यवान होने के कारण प्रियव्रत भौतिक प्रभाव से मुक्त थे। इस संसार में अत्यन्त निर्धन पुरुष तथा अत्यन्त धनी पुरुष, दोनों ही, भौतिकता के वश में रहते हैं क्योंकि वैभव तथा दरिद्रता दोनों ही प्रकृति के भौतिक गुणों से उद्भूत हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.२७) में कहा गया है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैकर्माणि सर्वशः*—हमारे द्वारा अपनाए गए प्रकृति के गुणों के अनुसार प्रकृति हमें भौतिक भोग की सुविधा प्रदान करती है।

अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयां चकार. ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; असाधु—अच्छा नहीं; अनुष्ठितम्—हुआ; यत्—क्योंकि; अभिनिवेशितः—पूर्णतया निमग्न; अहम्—मैं; इन्द्रियैः—इन्द्रिय-भोग के लिए; अविद्या—अज्ञान से; रचित—बनाया हुआ; विषम—दुखदायी; विषय—इन्द्रियभोग; अन्ध-कूपे—अँधेरे कुएँ में; तत्—वह; अलम्—तुच्छ; अलम्—महत्त्वहीन या अधम का; अमुष्याः—उस; वनितायाः—पत्नी का; विनोद-मृगम्—नाचते हुए बन्दर की तरह; माम्—मुझको; धिक्—धिक्कार है; धिक्—धिक्कार है; इति—इस प्रकार; गर्हयाम्—आलोचना; चकार—की।.

राजा ने अपनी भर्त्सना इस प्रकार की—ओह! इन्द्रिय-भोग के कारण मैं कितना धिक्कारा जाने योग्य हो गया हूँ। मैं अब भौतिक सुख के अंधकूप में गिर गया हूँ। बहुत हुआ! अब मुझे और भोग नहीं चाहिए। तनिक मेरी ओर देखो—मैं कैसे अपनी पत्नी के हाथों में नाचने वाला बन्दर बन गया हूँ। इसलिए मुझे धिक्कार है।

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत के आचरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भौतिक ज्ञान की उन्नति कितनी निन्दनीय है। उन्होंने एक दूसरा सूर्य उत्पन्न करने जैसा अद्भुत कार्य किया जो रात के

समय प्रकाशमान था। उन्होंने ऐसा विशाल रथ तैयार कराया था जिसके पहियों की रगड़ से विशाल समुद्र बन गये थे। ये कार्य इतने महान् हैं कि आज का वैज्ञानिक यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि ऐसे कार्य किस प्रकार सम्पन्न हो सकते हैं। महाराज प्रियव्रत ने भौतिक क्षेत्र में अत्यन्त अद्भुत कार्य किये, किन्तु चूँकि वह इन्द्रियभोग अर्थात् राज्य के शासन तथा सुन्दर पत्नी के इशारों पर नाच रहे थे, इसलिए इन्होंने अपने आपको धिक्कारा। जब हम महाराज प्रियव्रत के इस उदाहरण पर विचार करते हैं, तो हमें पता चलता है कि भौतिक प्रगति की आधुनिक सभ्यता कितनी पतित है। आधुनिक तथाकथित वैज्ञानिक तथा अन्य भौतिकतावादी यह सोच कर अत्यधिक संतुष्ट हैं कि वे बड़े-बड़े पुल, सड़कें तथा मशीनें बना सकते हैं, किन्तु महाराज प्रियव्रत की तुलना में ये सारे कार्य नगण्य हैं। यदि इतने अद्भुत कार्यों के बावजूद महाराज प्रियव्रत अपने को धिक्कार सकते थे, तो हम भौतिक सभ्यता की तथाकथित प्रगति में कितने अधम और निन्दनीय हैं! इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस भौतिक जगत में फँसी हुई जीवात्माओं की समस्याओं को ऐसी उन्नति से कोई सरोकार नहीं है। दुर्भाग्यवश आज का मनुष्य अपने बंधन और निन्दनीय स्थिति को नहीं समझ सकता है और उसे यह भी पता नहीं है कि अगले जन्म में उसे किस प्रकार का शरीर धारण करना होगा। महान् राज्य, सुन्दर पत्नी तथा अद्भुत भौतिक कार्यकलाप—ये सभी आत्मसिद्धि में बाधक हैं। महाराज प्रियव्रत ने अत्यन्त निष्ठा के साथ महामुनि नारद की सेवा की थी, अत: भौतिक ऐश्वर्य स्वीकार कर लेने पर भी वे कर्म से विचलित नहीं हुए। वे पुन: कृष्णभक्त बन गये। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४०) में पुष्टि की गई है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

"कृष्णभावनामृत के लिए जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता है और न ह्रास। इस पथ में की गई थोड़ी भी सेवा भी बड़े से बड़े संकट से बचाने के लिए पर्याप्त है।" महाराज प्रियव्रत के जैसा संन्यास श्रीभगवान् के अनुग्रह से ही सम्भव है। सामान्य रूप से जब मनुष्य शक्तिमान होते हैं या उनके सुन्दर पत्नी, सुन्दर घर तथा भौतिक ऐश्वर्य होते हैं, तो वे अधिकाधिक फँसते जाते हैं। किन्तु महाराज प्रियव्रत ने देवर्षि नारद से शिक्षा प्राप्त की थी इसलिए तमाम बाधाओं के होते हुए भी वे अपने भीतर कृष्णभावनामृत को पुनरुज्जीवित कर सके।

परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शेनानुप्रवृत्तेभ्यः पुत्रेभ्य इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगां च महिषीं मृतकमिव सह महाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार. ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

पर-देवता—भगवान् के; प्रसाद—अनुग्रह से; अधिगत—प्राप्त किया; आत्म-प्रत्यवमर्शेन—आत्म-साक्षात्कार से; अनुप्रवृत्तेभ्यः—जो उसके पथ का सही सही अनुसरण करता है; पुत्रेभ्यः—अपने पुत्रों को; इमाम्—यह पृथ्वी; यथा-दायम्—उत्तराधिकार के अनुसार; विभज्य—बाँटकर; भुक्त-भोगाम्—जिसका भोग अनेक प्रकार से किया; च—भी; महिषीम्—रानी; मृतकम् इव—मृत शरीर की भाँति; सह—सहित; महा-विभूतिम्—परम ऐश्वर्य; अपहाय—त्याग कर; स्वयम्—स्वयं; निहित—पूर्णतया ग्रहण किया हुआ; निर्वेदः—त्याग; हृदि—हृदय में; गृहीत—स्वीकार किया; हरि—भगवान् की; विहार—लीलाएँ; अनुभावः—ऐसे भाव में; भगवतः—परम साधु पुरुष का; नारदस्य—नारद मुनि का; पदवीम्—पद; पुनः—फिर; एव—निश्चय ही; अनुससार—अनुसरण करने लगा।

भगवान् के अनुग्रह से महाराज प्रियव्रत का विवेक पुनः जाग्रत हो उठा। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अपने आज्ञाकारी पुत्रों में बाँट दी। अपनी पत्नी को जिसके साथ उन्होंने इन्द्रियसुख भोगा था और प्रभूत ऐश्वर्यशाली राज्य सहित सब कुछ त्याग कर वे सभी प्रकार की आसक्ति से रहित हो गये। विमल हो जाने से उनका हृदय भगवान् की लीलाओं का स्थल बन गया। इस प्रकार वे कृष्णभावनामृत के पथ पर पुनः लौट आये और महामुनि नारद के अनुग्रह से जिस पद को प्राप्त किया था उसको फिर से धारण किया।

तात्पर्य : अपने *शिक्षाष्टक* में श्री चैतन्य महाप्रभु ने बताया है कि—*चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं*—हृदय के स्वच्छ होते ही संसार की प्रज्ज्वलित अग्नि तुरन्त शमित हो जाती है। हमारे हृदय भगवान् की लीलाओं के लिए हैं। इसका तात्पर्य यह कि जैसा भगवान् ने स्वयं उपदेश दिया है (*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*) मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीकृष्ण का चिन्तन करे। यही हमारा कर्तव्य होना चाहिए। जिस पुरुष का हृदय स्वच्छ नहीं होता वह भगवान् की दिव्य लीलाओं के सम्बध में सोच भी नहीं पाता, किन्तु यदि वह भगवान् का फिर से ध्यान धरे, तो सांसारिक आसक्ति से सरलतापूर्वक विरक्त हो सकता है। मायावादी दार्शनिक, योगी तथा ज्ञानी इस भौतिक संसार को केवल यह कह कर कि *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—अर्थात् यह संसार असत्य है, वृथा है, अतः हमें ब्रह्म को ग्रहण करना चाहिए—इस संसार को त्यागने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार का कोरा सिद्धान्त लाभप्रद नहीं होगा। यदि हमें यह विश्वास हो कि ब्रह्म ही वास्तविक सत्य है, तो हमें अपने हृदयों में श्रीकृष्ण के चरणकमलों को धारण करना चाहिए जैसाकि महाराज अम्बरीष ने किया

(*स वै मन: कृष्णपदारविन्दयो:*)। मनुष्य को अपने हृदय में ईश्वर के चरणारविन्द धारण करने होते हैं; तभी उसे सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की शक्ति प्राप्त होती है।

महाराज प्रियव्रत ने अपना ऐश्वर्यशाली साम्राज्य तथा अपनी सुन्दर पत्नी की संगति को उसे मृतक तुल्य मान कर छोड़ दिया। किसी की पत्नी कितनी ही सुन्दर तथा आकर्षक क्यों न हो, किन्तु मृत होने पर उसके प्रति कोई मोह नहीं रह जाता। हम सुन्दर स्त्री की प्रशंसा उसके शरीर के कारण करते हैं, किन्तु आत्मा के निकल जाने पर वह शरीर किसी कामी पुरुष को आकर्षक नहीं लगता। महाराज प्रियव्रत भगवत्-अनुग्रह से इतने बलवान थे कि उन्होंने अपनी जीवित पत्नी को मृतक तुल्य मान कर उसकी संगति को छोड़ दिया। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है :-

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

''हे सर्वशक्तिमान! न तो मुझे धन संग्रह करने की कामना है, न सुन्दर स्त्रियों की, न ही मुझे अनुयायियों की आवश्यकता है। मैं तो जन्म-जन्मांतर आपकी अहैतुकी भक्ति की कामना करता हूँ।'' जो आत्म-जीवन में अग्रसर होना चाहता है उसके मार्ग में ऐश्वर्य तथा सुन्दर पत्नी के प्रति आसक्ति—ये दो बड़ी बाधाएँ हैं। इन आसक्तियों की भर्त्सना आत्महत्या से भी अधिक करनी चाहिए। अत: भौतिक अज्ञान को पार करने के इच्छुक व्यक्ति को नारी और धन की आसक्ति को छोड़ देना चाहिए। इन आसक्तियों से विमुक्त होने के बाद ही महाराज प्रियव्रत महामुनि नारद द्वारा उपदिष्ट नियमों का पालन कर सके।

तस्य ह वा एते श्लोकाः—
प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् ।
यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन्सप्त वारिधीन् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; ह वा—निश्चय ही; एते—ये सब; श्लोकाः—श्लोक; प्रियव्रत—राजा प्रियव्रत द्वारा; कृतम्—किये हुए; कर्म—कर्म; कः—कौन; नु—तब; कुर्यात्—कर सकता है; विना—बिना; ईश्वरम्—श्रीभगवान्; यः—जिसने; नेमि—अपने रथ के पहियों की परिधि के; निम्नैः—पहियों के दाब से; अकरोत्—कर दिया; छायाम्—अंधकार; घ्नन्—दूर करते हुए; सप्त—सात; वारिधीन्—समुद्रों को।

महाराज प्रियव्रत के कर्मों से सम्बन्धित अनेक श्लोक प्रसिद्ध हैं—''जो कुछ महाराज

प्रियव्रत ने किया उसे भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता था। उन्होंने रात्रि के अंधकार को दूर किया और अपने रथ के पहियों की नेमी से सात समुद्र बना दिये।''

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत के कार्यों के सम्बन्ध में संसार भर में अनेक उत्तम श्लोक प्रचलित हैं। वे इतने विख्यात हैं कि उनके कार्यों की तुलना भगवान् के कार्यों से की जाती है। कभी-कभी ईश्वर का परमनिष्ठ दास तथा भक्त भी भगवान् कहलाता है। श्रीनारद को भगवान् कहा जाता है और कभी-कभी शिव तथा व्यासदेव भी भगवान् कहे जाते हैं। कभी-कभी ईश्वर के अनुग्रह से शुद्ध भक्त को भी भगवान् की पदवी प्रदान की जाती है, जिससे वह अत्यन्त सम्मानित हो सके। महाराज प्रियव्रत ऐसे ही भक्त थे।

भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्‌गिरिवनादिभिः ।
सीमा च भूतनिर्वृत्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

भू-संस्थानम्—पृथ्वी की स्थिति; कृतम्—बनी; येन—जिसके द्वारा; सरित्—नदियों से; गिरि—पर्वतों से; वन-आदिभिः—वन आदि से; सीमा—सीमा रेखाएँ; च—भी; भूत—विभिन्न राष्ट्रों का; निर्वृत्यै—लड़ाई रोकने के लिए; द्वीपे द्वीपे—विभिन्न द्वीपों में; विभागशः—पृथक्-पृथक्।

''विभिन्न लोगों में पारस्परिक झगड़ों को रोकने के लिए महाराज प्रियव्रत ने नदियों, पर्वतों के किनारों तथा वनों के द्वारा राज्यों की सीमाएँ निर्धारित कीं, जिससे कोई एक दूसरे की सम्पत्ति में घुस न सके।''

तात्पर्य : महाराज प्रियव्रत ने विभिन्न राज्यों की सीमाएँ अंकित करने का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, वह आज भी पाला जाता है। जैसाकि यहाँ इंगित किया गया है, विभिन्न जातियों के लोग विभिन्न भागों में रहते हैं, अत: उन भागों की, जिन्हें यहाँ द्वीप कहा गया है, सीमाएँ विभिन्न नदियों, वनों तथा पर्वतों द्वारा सुनिश्चित कर दी जानी चाहिए। महाराज पृथु के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा गया है। वे महामुनियों की योजनाओं से अपने पिता के मृत शरीर से उत्पन्न हुए थे। महाराज पृथु का पिता अत्यन्त पापी था। इसलिए उसके मृत शरीर से सर्वप्रथम निषाद नामक एक श्याम पुरुष उत्पन्न हुआ। निषाद जाति को वन में रहने के लिए स्थान मिला, क्योंकि वे जन्म से चोर तथा उचक्के होते हैं। जिस प्रकार पशुओं को विभिन्न जंगलों तथा पहाड़ियों में रखा जाता है उसी प्रकार से जो भी मनुष्य पशु की भाँति होते हैं उन्हें भी वहीं रहना होता है। जब तक कृष्णभावना नहीं जगती, कोई भी मनुष्य सभ्य जीवन

नहीं बिता सकता, क्योंकि वह अपने कर्म तथा प्रकृतिक गुणों के प्रभाव के कारण किसी विशेष अवस्था में रहने के लिए बाध्य है। यदि मनुष्य मेल-मिलाप तथा शांति से रहना चाहते हैं, तो उन्हें कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि देहात्मबुद्धि से वे उच्चतम मानदण्ड को कभी भी नहीं प्राप्त हो सकते। महाराज प्रियव्रत ने इस भूमण्डल को अनेक द्वीपों में इसलिए विभाजित कर दिया जिससे प्रत्येक वर्ग के लोग शान्तिपूर्वक रह सकें और एक दूसरे से तकरार न हो। राष्ट्रवाद की आधुनिक संकल्पना महाराज प्रियव्रत द्वारा किये गये विभागों से ही धीरे-धीरे विकसित हुई है।

भौमं दिव्यं मानुषं च महित्वं कर्मयोगजम् ।
यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भौमम्—अधोलोक के; **दिव्यम्**—स्वर्ग के; **मानुषम्**—मनुष्यों के; **च**—भी; **महित्वम्**—समस्त ऐश्वर्य; **कर्म**—कर्म द्वारा; **योग**—योग द्वारा; **जम्**—उत्पन्न; **यः**—जिसने; **चक्रे**—किया; **निरय**—नरक से; **औपम्यम्**—उपमा अथवा समानता; **पुरुष**—भगवान् के; **अनुजन**—भक्त को; **प्रियः**—अत्यन्त प्यारा।

''नारद मुनि के महान् अनुयायी तथा भक्त महाराज प्रियव्रत ने अपने सकाम कर्मों तथा योग से प्राप्त किये गये समस्त ऐश्वर्य को, चाहे वह स्वर्गलोग, अधोलोक अथवा मानव समाज का हो, नरक तुल्य समझा।''

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि भक्त का पद इतना श्रेष्ठतम होता है कि उसे किसी भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा नहीं रह जाती। पृथ्वी, स्वर्गलोक तथा पाताल लोक में नाना प्राकर के ऐश्वर्य हैं, किन्तु भक्त यह जानता है कि ये सभी भौतिक हैं, अतः उनमें उसकी कोई रुचि नहीं होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है— *परं दृष्ट्वा निवर्तते।* कभी-कभी योगी तथा ज्ञानी स्वेच्छा से मुक्ति के लिए तप करने तथा दिव्य आनन्द का स्वाद चखने के लिए अपनी सम्पत्ति का त्याग करते हैं। तो भी वे प्रायः नीचे आ गिरते हैं, क्योंकि यह भौतिक सम्पत्ति का कृत्रिम त्याग है। मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन के प्रति उत्तम रुचि होनी चाहिए, तभी वह भौतिक सम्पत्ति को छोड़ पाता है। महाराज प्रियव्रत को आध्यात्मिक आनन्द का पूर्व अनुभव था, इसलिए उन्हें स्वर्गलोक, मर्त्यलोक या पाताललोक में प्राप्त किसी प्रकार के भौतिक सुख के प्रति कोई रुचि नहीं थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज प्रियव्रत का चरित्र'' नामक पहले अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

महाराज आग्नीध्र का चरित्र

इस अध्याय में महाराज आग्नीध्र के चरित्र का वर्णन किया गया है। जब महाराज प्रियव्रत आत्म-साक्षात्कार के हेतु चले गये, तो उनका पुत्र आग्नीध्र उनकी आज्ञानुसार जम्बूद्वीप का शासक बना जिसने इसके निवासियों का पिता की भाँति स्नेह के साथ पालन किया। एक बार महाराज आग्नीध्र को पुत्र प्राप्त करने की इच्छा हुई; अत: वे मन्दराचल की गुफा में तप करने के लिए प्रविष्ट हुए। उनकी इच्छा जानकर भगवान् ब्रह्मा ने आग्नीध्र की कुटी में पूर्वचित्ति नामक स्वर्ग की एक कन्या भेजी। वह अत्यन्त आकर्षक वेष बनाकर विविध प्रकार के स्त्रियोचित हाव-भावों के साथ उनके समक्ष आई। आग्नीध्र स्वभावत: उससे आकर्षित हो उठे। उस कन्या की गति, हावभाव, मुस्कान, मृदु वचन तथा चंचल चितवन उन्हें सम्मोहक लगी। आग्नीध्र चापलूसी में पटु थे अत: उन्होंने उस स्वर्ग-कन्या को मोह लिया और वह भी उनके मृदु वचनों में आकर उन्हें पति रूप में स्वीकार करने को तैयार हो गई। स्वर्ग में अपने लोक लौटने से पूर्व उसने अनेक वर्षों तक आग्नीध्र सहित राज-सुख भोगा। उसके गर्भ से आग्नीध्र के नौ पुत्र हुए जिनके नाम नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल थे। उन्होंने उन्हें उनके नामवाले क्रमश: नौ द्वीप प्रदान किये। किन्तु आग्नीध्र की इन्द्रियाँ तुष्ट नहीं हुई थीं, अत: वे,जा अपनी नैसर्गिक पत्नी के विषय में सोचते रहते थे। इसलिए अगले जन्म में वे उसी के लोक में उत्पन्न हुए। आग्नीध्र की मृत्यु के पश्चात् उसके नवों पुत्रों ने मेरु की नौ पुत्रियों से विवाह कर लिया जिनके नाम मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा तथा देववीति थे।

श्रीशुक उवाच

एवं पितरि सम्प्रवृत्ते तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो जम्बूद्वीपौकसः प्रजा औरसवद्धर्मावेक्षमाण: पर्यगोपायत्. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः—श्रीशुकदेव गोस्वामी; **उवाच**—बोले; **एवम्**—इस प्रकार; **पितरि**—जब उसके पिता ने; **सम्प्रवृत्ते**—मुक्ति मार्ग ग्रहण किया; **तत्-अनुशासने**—उसकी आज्ञानुसार; **वर्तमानः**—वर्तमान,उपस्थित; **आग्नीध्रः**—राजा आग्नीध्र; **जम्बू-द्वीप-**

ओकसः—जम्बूदीप के वासी; प्रजाः—नागरिक; औरस-वत्—अपने पुत्रों के समान; धर्म—धार्मिक नियम; अवेक्षमाणः—कठोरता से पालन करते हुए; पर्यगोपायत्—पूर्णतया सुरक्षित।

श्री शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—अपने पिता महाराज प्रियव्रत के इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन पथ अपनाने के लिए तपस्या में संलग्न हो जाने पर राजा आग्नीध्र ने उनकी आज्ञा का पूरी तरह पालन किया और धार्मिक नियमों के अनुसार उन्होंने जम्बूद्वीप के वासियों को अपने ही पुत्रों के समान सुरक्षा प्रदान की।

तात्पर्य : महाराज आग्नीध्र ने अपने पिता महाराज प्रियव्रत की आज्ञानुसार धार्मिक नियमों का पालन करते हुए जम्बूद्वीप के वासियों पर राज्य किया। वर्तमान अश्रद्धा के युग में ये नियम पूर्णतया विरोधी हैं। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि राजा नागरिकों की वैसी ही देख-रेख करता था जिस प्रकार पिता अपने ही पुत्रों की करता है। यहाँ यह भी बताया गया है कि उसने नागरिकों पर किस प्रकार—*धर्मावेक्षमाण:* अर्थात् धार्मिक नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए राज्य किया। किसी शासक के लिए यह आवश्यक है कि वह देखे कि उसकी प्रजा धार्मिक नियमों का कठोर पालन करती है। वैदिक धर्म के नियम वर्णाश्रम धर्म से प्रारम्भ होते हैं। धर्म से तात्पर्य भगवान् द्वारा प्रदत्त नियमों से है। धर्म का पहला नियम है भगवान् द्वारा निर्दिष्ट चारों आश्रमों के कर्तव्यों का पालन। व्यक्तियों के गुणों तथा कर्मों के अनुसार समाज को पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में और फिर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी में विभाजित किया जाता है। ये धार्मिक नियम हैं और राज्य के मुखिया (राजा) का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि उसके नागरिक इनका दृढ़ता से पालन करते हैं। उसे कोरे अधिकारी के रूप में कर्तव्य नहीं करना चाहिए, वरन् उसे पिता के तुल्य होना चाहिए जो अपने पुत्रों का सदैव हितैषी होता है। ऐसा पिता इसका पूरा ध्यान रखता है कि उसके पुत्र अपना कर्तव्यपालन कर रहे हैं और कभी-कभी वह उन्हें दंड भी देता है।

उपर्युक्त नियमों के विपरीत, कलियुग में राष्ट्रपति तथा प्रधान शासकगण केवल कर-संग्रह करने वाले हैं, जिन्हें इसकी तनिक भी परवाह नहीं रहती कि धार्मिक नियमों का पालन हो रहा है अथवा नहीं। सच तो यह है कि आज के प्रधान शासकगण सभी प्रकार के पापमय कार्यों का, विशेष रूप से व्यभिचार, मादक द्रव्य सेवन, पशुवध तथा द्यूत क्रीड़ा का सूत्रपात करते हैं। आजकल भारत में ये पापकर्म स्पष्ट देखे जा सकते हैं। यद्यपि एक शताब्दी पूर्व ये चार दुर्गुण भारतीय परिवारों में पूर्णतया

वर्जित थे, किन्तु अब प्रत्येक भारतीय परिवार में इनकी पैठ हो चुकी है, अत: वे धार्मिक नियमों का पालन नहीं कर पाते। प्राचीन राजाओं के नियम के विपरीत आधुनिक राज्य कर वसूलने के विज्ञापन में अधिक और नागरिकों के धार्मिक कल्याण के प्रति कम ध्यान देता है। अब राज्य धार्मिक नियमों के प्रति उदासीन है। *श्रीमद्भागवत* की भविष्यवाणी है कि कलियुग में शासन द्वारा दस्यु धर्म चलाया जाएगा, जिसका अर्थ होता है चोरों और उचक्कों द्वारा शासन। आधुनिक राज्यों के कर्णधार चोर और उचक्के ही हैं, जो नागरिकों की रक्षा करने के बजाय उनको लूटते हैं। यद्यपि चोर तथा उचक्के कानून की अवहेलना करके लूटपाट करते हैं, किन्तु इस कलियुग में कानून बनाने वाले स्वयं नागरिकों को लूटते हैं—ऐसा *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है। एक दूसरी भविष्यवाणी जिसे पूरा होना है, वह यह है कि नागरिकों तथा शासन के पापकर्मों से वर्षा दुर्लभ हो जायेगी, धीरे-धीरे पूर्ण अनावृष्टि के कारण अन्न नहीं उत्पन्न होगा। लोगों को मांस तथा बीज खाना पड़ेगा और अनेक सद्वृत्ति वाले मनुष्य अपने-अपने गृहों का त्याग कर देंगे, क्योंकि अकाल, कर तथा अनावृष्टि से वे अत्यधिक तंग हो उठेंगे। संसार को ऐसे विनाश से बचाने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन ही एकमात्र आशा है। यह समस्त मानव समाज के वास्तविक कल्याण हेतु अत्यन्त वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक आन्दोलन है।

स च कदाचित्पितृलोककाम: सुरवरवनिताक्रीडाचलद्रोण्यां भगवन्तं विश्वसृजां
पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाछ्येण तपस्व्याराधयां बभूव. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स:—वह (राजा आग्नीध्र); च—भी; कदाचित्—एक बार; पितृलोक—पितृलोक की; काम:—इच्छा करते हुए; सुर-वर—श्रेष्ठ देवताओं में से; वनिता—स्त्री जाति; आक्रीडा—विहार-स्थली; अचल-द्रोण्याम्—मन्दराचल की एक घाटी में; भगवन्तम्—सर्व शक्तिमान (भगवान् ब्रह्मा) को; विश्व-सृजाम्—जिन विभूतियों ने इस ब्रह्माण्ड की रचना की; पतिम्—स्वामी को; आभृत—संग्रह करके; परिचर्या-उपकरण:—पूजा की सामग्री; आत्म—मन का; एक-अछ्येण—पूरे मनोयोग से; तपस्वी—तप करने वाला; आराधयाम् बभूव—आराधना में लग गया।.

एक बार महाराज आग्नीध्र ने सुयोग्य पुत्र प्राप्त करने तथा पितृलोक का वासी बनने की कामना से भौतिक सृष्टि के स्वामी भगवान् ब्रह्मा की आराधना की। वे मंदराचल की घाटी में गये जहाँ स्वर्गलोक की सुन्दरियाँ विहार करने आती हैं। वहाँ उन्होंने वाटिका से फूल तथा अन्य आवश्यक सामग्री एकत्र की और फिर कठिन तप तथा उपासना में लग गये।

तात्पर्य : राजा *पितृलोककाम* अर्थात् पितृलोक में जाने का इच्छुक हो गया। पितृलोक का उल्लेख

भगवद्‌गीता में हुआ है (*यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः*)। इस लोक में जाने के लिए उत्तम पुत्र होने चाहिए जो भगवान् विष्णु को भेंट चढ़ाने के पश्चात् जो कुछ बचे उसे अपने पितरों (पूर्वजों) को चढ़ाएँ। श्राद्ध संस्कार का उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है, जिससे उनके प्रसन्न होने के बाद जो प्रसाद बचे उसे अपने पितरों को दिया जा सके जिससे वे प्रसन्न हों। पितृलोक के वासी प्रायः कर्मकाण्डी होते हैं और अपने पुण्यकर्मों के कारण वहाँ भेजे गये होते हैं। वे वहाँ तब तक रहते हैं जब तक उनके वंशज उन्हें विष्णु-प्रसाद भेंट करते रहते हैं। किन्तु पितृलोक के प्रत्येक प्राणी को पुण्यकर्मों के फलों से क्षय होने पर इस पृथ्वी में वापस आना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (९.२१) में पुष्टि की गई है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—जो पुरुष पुण्यकर्म करते हैं, वे स्वर्ग भेजे जाते हैं, किन्तु जब उनके पुण्यकर्मों का प्रभाव समाप्त हो जाता है, तो वे पुनः पृथ्वी पर वापस भेज दिये जाते हैं।

चूँकि महाराज प्रियव्रत परम भक्त थे अतः उनसे ऐसा पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ होगा जो पितृलोक भेजे जाने का कामी हो? भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—*पितॄन् यान्ति पितृव्रताः*—जो व्यक्ति पितृलोक जाना चाहते हैं उन्हें वहाँ भेज दिया जाता है। इसी प्रकार *यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—जो पुरुष वैकुण्ठ लोक जाना चाहते हैं, वे भी वहाँ जा सकते हैं। चूँकि महाराज आग्नीध्र एक वैष्णव-पुत्र थे, अतः उन्होंने वैकुण्ठ लोक जाने की कामना की होगी। तो फिर वे पितृलोक में क्यों जाना चाहते थे? इसके उत्तर में *भागवत* के एक टीकाकार गोस्वामी गिरिधर की टिप्पणी है कि आग्नीध्र उस समय उत्पन्न हुए थे जब महाराज प्रियव्रत अत्यन्त कामासक्त थे। इसे तथ्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि गर्भावस्था के समय जैसी मनोवृत्ति होती है उसी के अनुकूल पुत्र उत्पन्न होते हैं। अतः वैदिक प्रणाली के अनुसार पुत्रोत्पत्ति के पूर्व *गर्भाधान संस्कार* किया जाता है। इस संस्कार से पिता की मनोवृत्ति ऐसी हो जाती है कि जब वह अपनी पत्नी के गर्भ में वीर्य स्थापित करता है, तो उससे ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है, जिसका मन भक्ति से ओतप्रोत हो। किन्तु सम्प्रति ऐसा गर्भाधान-संस्कार नहीं है, अतः जब पुरुषों में कामवासना रहती है तभी सन्तान उत्पन्न होती है। विशेष रूप से इस कलियुग में कोई गर्भाधान संस्कार नहीं रह गया प्रत्येक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ कुत्तों तथा बिल्लियों जैसा संभोग करता है। अतः वैदिक आदेशों के अनुसार इस युग के सभी व्यक्ति प्रायः शूद्र कोटि के हैं।

निस्सन्देह, पितृलोक में भेजे जाने की कामना के पीछे महाराज आग्नीध्र की मनोवृत्ति शूद्र की सी नहीं थी; वे क्षत्रिय थे।

महाराज आग्नीध्र की इच्छा थी कि वे पितृलोक जाँए, इसलिए उन्हें पत्नी की आवश्यकता हुई, क्योंकि पितृलोक के इच्छुक पुरुष को अपने पीछे उत्तम पुत्र छोड़ जाना चाहिए जो प्रतिवर्ष भगवान् विष्णु से प्रसाद या पिण्ड उसे प्रदान करता रहे। उत्तम पुत्र पाने के लिए ही महाराज आग्नीध्र ने देवकुल की पत्नी चाही थी। अत: वे ब्रह्मा के आराधन हेतु मन्दराचल गये जहाँ सामान्य रूप से देवों की स्त्रियाँ आती हैं। *भगवद्गीता* (४.१२) में कहा गया है—*कांक्षन्त: कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवता:*—जो भौतिकतावादी इस संसार में शीघ्र फल चाहते हैं, वे देवताओं की पूजा करते हैं। इसकी पृष्टि *श्रीमद्भागवत* से भी होती है—*श्रीऐश्वर्य-प्रजेप्सव:*—जो पुरुष सुन्दर पत्नी, प्रचुर धन तथा अनेक पुत्रों की कामना करते हैं, वे देवताओं को पूजते हैं। किन्तु बुद्धिमान भक्त तो इन सबकी कामना नहीं करता। वह भगवान् के धाम को तुरन्त वापस जाना चाहता है। इस प्रकार वह भगवान् विष्णु की उपासना करता है।

तदुपलभ्य भगवानादिपुरुष: सदसि गायन्तीं पूर्वचित्तिं नामाप्सरसमभियापयामास. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; उपलभ्य—समझकर; भगवान्—सर्वशक्तिमान; आदि-पुरुष:—इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न पहले जीव; सदसि—सभा में; गायन्तीम्—नर्तकी; पूर्वचित्तिम्—पूर्वचित्ति; नाम—नामक; अप्सरसम्—स्वर्ग की नर्तकी, अप्सरा को; अभियापयाम् आस—नीचे भेजा।.

इस ब्रह्माण्ड के सर्वशक्तिमान तथा आदि पुरुष भगवान् ब्रह्मा ने राजा आग्नीध्र की अभिलाषा जानकर अपनी सभा की श्रेष्ठ अप्सरा को, जिसका नाम पूर्वचित्ति था, चुनकर राजा के पास भेजा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवान् आदि-पुरुष:* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही आदि-पुरुष हैं—*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।* भगवान् श्रीकृष्ण आदि पुरुष हैं। *भगवद्गीता* में अर्जुन ने उन्हें *पुरुषं आद्यं* कह कर सम्बोधित किया है। वे भगवान् कहे जाते हैं। किन्तु इस श्लोक में ब्रह्मा को *भगवान् आदि-पुरुष:* कहा गया है। भगवान् कहने का कारण यह है कि वे भगवान् का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं और इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव हैं। भगवान् ब्रह्मा महाराज आग्नीध्र की

अभिलाषा जान गये, क्योंकि वे भगवान् विष्णु के समान ही शक्तिमान हैं। जिस प्रकार परमात्मा पद पर स्थित भगवान् विष्णु जीवात्मा की अभिलाषा को जान लेते हैं उसी प्रकार से भगवान् ब्रह्मा भी जान लेते हैं, क्योंकि विष्णु उन्हें सूचित करने के माध्यम हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१.१) में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये*—भगवान् विष्णु अपने मन की प्रत्येक बात ब्रह्मा को बता देते हैं। चूँकि महाराज आग्नीध्र ने भगवान् ब्रह्मा की विशेष आराधना की, अत: वे उन पर परम प्रसन्न हुए और उनको संतुष्ट करने के लिए उन्होंने पूर्वचित्ति अप्सरा भेज दी।

सा च तदाश्रमोपवनमतिरमणीयं
विविधनिबिडविटपिविटपनिकरसंश्लिष्टपुरटलतारूढस्थलविहङ्गममिथुनैः प्रोच्यमानश्रुतिभिः
प्रतिबोध्यमानसलिलकुक्कुटकारण्डवकलहंसादिभिर्विचित्रमुपकूजितामलजलाशयकमलाकरमुपबभ्राम.
॥ ४॥

शब्दार्थ

सा—वह (पूर्वचित्ति); च—भी; तत्—महाराज आग्नीध्र को; आश्रम—ध्यान-स्थल के; उपवनम्—छोटा उद्यान, पार्क; अति—अत्यन्त; रमणीयम्—सुन्दर; विविध—अनेक प्रकार के; निबिड—घना; विटपि—वृक्ष; विटप—डालों के; निकर—समूह; संश्लिष्ट—संलग्न; पुरट—स्वर्णिम; लता—लताओं सहित; आरूढ—ऊपर चढ़ी हुई; स्थल-विहङ्गम—स्थल के पक्षियों के; मिथुनैः—जोड़ों सहित; प्रोच्यमान—कूजन करते हुए; श्रुतिभिः—सुहावने शब्दों से; प्रतिबोध्यमान—प्रतिध्वनित; सलिल-कुक्कुट—जल-कुक्कुट; कारण्डव—बत्तख; कल-हंस—अनेक प्रकार के हंसों; आदिभिः—इत्यादि, सहित; विचित्रम्—नाना प्रकार के; उपकूजित—शब्द से प्रतिध्वनित; अमल—निर्मल; जल-आशय—सरोवर या झील में; कमल-आकरम्—कमल पुष्पों की खान; उपबभ्राम—में चलने लगी।

श्री ब्रह्मा द्वारा भेजी गई अप्सरा उस उपवन के निकट विचरने लगी जहाँ राजा ध्यान में लगकर आराधना कर रहा था। वह उपवन सघन वृक्षों तथा स्वर्णिम लताओं के कारण अत्यन्त रमणीय था। वहाँ स्थल पर मयूर जैसे अनेक पक्षियों के जोड़े और सरोवर में बत्तख तथा हंस सुमधुर कूजन कर रहे थे। इस प्रकार वह उपवन वृक्षों, निर्मल जल, कमल पुष्प तथा सुमधुर कूजन करते विविध पक्षियों के कारण अत्यन्त सुन्दर लग रहा था।

तस्याः सुललितगमनपदविन्यासगतिविलासायाश्चानुपदं खणखणायमानरुचिरचरणाभरणस्वनमुपाकर्ण्य नरदेवकुमारः समाधियोगेनामीलितनयननलिनमुकुलयुगलमीषद्विकचय्य व्यचष्ट. ॥ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उस (पूर्वचित्ति) के; सुललित—अत्यन्त सुन्दर; गमन—चाल; पद-विन्यास—चलने की शैली से; गति—आगे आगे; विलासायाः—जिनकी लीला; च—भी; अनुपदम्—प्रत्येक पग से; खण-खणायमान—झंकार करते हुए; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; चरण-आभरण—चरणों के आभूषण; स्वनम्—ध्वनि को; उपाकर्ण्य—सुनकर; नरदेव-कुमारः—राजकुमार ने;

समाधि—समाधि दशा; योगेन—इन्द्रियों को नियंत्रित करके; आमीलित—अधखुले; नयन—नेत्र; नलिन—कमल की; मुकुल—कलियाँ; युगलम्—एक जोड़े के समान; ईषत्—कुछ-कुछ; विकचय्य—खोलकर; व्यचष्ट—देखा।

ज्योंही अत्यन्त मनोहर गति तथा हावभाव से युक्त पूर्वचित्ति उस पथ से निकली त्योंही प्रत्येक पग पर उसके चरण-नूपुरों की झंकार निकलने लगी। यद्यपि राजकुमार आग्नीध्र अधखुले नेत्रों से योग साध कर इन्द्रियों को वश में कर रहे थे, किन्तु अपने कमल सदृश नेत्रों से वे उसे देख सकते थे। तभी उन्हें उसके कंगनों की मधुर झंकार सुनाई दी। उन्होंने अपने नेत्रों को कुछ और खोला, तो देखा कि वह उनके बिल्कुल निकट थी।

तात्पर्य : ऐसा कहा जाता है कि योगीजन सदैव भगवान् का ध्यान अपने हृदय में करते रहते हैं। *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः* (*भागवत* १२.१३.१)। विषमयी इन्द्रियों को वश में करने वाले योगी भगवान् का नित्य दर्शन करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, योगियों को *सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रम्*—अर्थात् अधखुले नेत्रों से साधना करनी चाहिए। यदि नेत्र पूर्णरूप से बन्द रहेंगे, तो नींद आ सकती है। किन्तु कुछ नामधारी योगी अपने नेत्रों को बन्द करके ध्यान धारण करते हैं। यह योग की "फैशनपरस्त विधि" है, किन्तु हमने ऐसे योगियों को ध्यान के समय सोते तथा खर्राटे लेते सुना है। यह योग की विधि नहीं है। वास्तविक योग साधने के लिए नेत्रों को अधखुला रखते हुए नासिका के अगले भाग को देखना चाहिए।

यद्यपि प्रियव्रत के पुत्र आग्नीध्र योगाभ्यास कर रहे थे और प्रयास कर रहे थे अपनी इन्द्रियों को वश में करने के लिए, किन्तु पूर्वचित्ति के नूपुरों की झंकार से उनका ध्यान टूट गया। *योग इन्द्रियसंयमः*—वास्तविक योग का अर्थ है इन्द्रियों का नियंत्रण। मनुष्य को इन्द्रियों को वश में करने के लिए योगाभ्यास करना चाहिए, किन्तु भक्त अपनी शुद्ध इन्द्रियों से ईश्वर की सेवा में तत्पर रहता है, अतः उसका ध्यान भंग नहीं हो सकता (*हृषीकेण हृषीकेश-सेवनम्*)। अतः श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*दुर्दान्तेन्द्रिय-काल-सर्पपटली प्रोत्खात-दंष्ट्रायते* (*चैतन्य-चन्द्रामृत*)। निस्सन्देह योग्याभ्यास उपयोगी है, क्योंकि इससे विषधर तुल्य इन्द्रियाँ वशीभूत होती हैं। किन्तु जब कोई अपनी समस्त इन्द्रियों को ईश्वर की सेवा में लगाकर भक्ति करता है, तो इन्द्रियों का विषैलापन दूर हो जाता है। यह व्याख्या की जाती है कि सर्प से उसके विषदंतों के कारण डरा जाता है, किन्तु यदि उसके दाँतों को तोड़ दिया जाये तो सर्प भले ही डरावना लगे, किन्तु घातक नहीं होता। अतः भक्तों के समक्ष भले

ही हावभाव तथा सुललित भाव-भंगिमा करने वाली सैकड़ों-हजारों सुन्दरियाँ क्यों न उपस्थित हो जाँए, वे मोहित नहीं होते जबकि सामान्य योगी ऐसी सुन्दरियों से विपथ हो जाते हैं। यहाँ तक कि सिद्ध योगी विश्वामित्र ने मेनका से संभोग करने के लिए अपना योग भंग किया और उससे शकुन्तला उत्पन्न हुई। अत: योग का अभ्यास इन्द्रियों को वश में करने में पूर्ण समर्थ नहीं है। दूसरा उदाहरण आग्नीध्र का है जिनका ध्यान पूर्वचित्ति नामक अप्सरा के नुपूरों की मधुर झंकार से उसी तरह टूट गया जिस तरह विश्वामित्र का ध्यान मेनका की चूड़ियों की खनक से टूट गया था। राजकुमार स्वयं अत्यन्त सुन्दर था। जैसा यहाँ वर्णित है उसके नेत्र कमल की कली के समान थे और उसकी सुन्दर गति को देखने के लिए उस ने तुरन्त अपनी आँखें खोल ली। ज्योंही उसने अपने कमल-नेत्र खोले, तो देखा कि अप्सरा उसके पास ही उपस्थित है।

तामेवाविदूरे मधुकरीमिव सुमनस उपजिघ्रन्तीं
दिविजमनुजमनोनयनाह्लाददुघैर्गतिविहारव्रीडाविनयावलोकसुस्वराक्षरावयवैर्मनसि नृणां कुसुमायुधस्य विदधतीं विवरं निजमुखविगलितामृतासवसहासभाषणामोदमदान्धमधुकरनिकरोपरोधेन द्रुतपदविन्यासेन वल्गुस्पन्दनस्तनकलशकबरभाररशनां देवीं तदवलोकनेन विवृतावसरस्य भगवतो मकरध्वजस्य वशमुपनीतो जडवदिति होवाच. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; एव—निस्संदेह; अविदूरे—निकट ही; मधुकरीम् इव—मधुमक्खी के समान; सुमनसः—सुन्दर फूल; उपजिघ्रन्तीम्—सूँघती हुई; दिवि-ज—स्वर्गलोक में उत्पन्न होने वालों का; मनु-ज—मर्त्यलोक में जन्म लेने वालों का; मनः—मन; नयन—नेत्रों के लिए; आह्लाद—प्रसन्नता; दुघैः—उत्पन्न करती हुई; गति—अपनी चाल से; विहार—आमोद-प्रमोद से; व्रीडा—लज्जा से; विनय—विनयशीलता से; अवलोक—चितवन से; सु-स्वर-अक्षर—अपनी मधुर वाणी से; अवयवैः—शरीर के अंगों से; मनसि—मन में; नृणाम्—मनुष्यों के; कुसुम-आयुधस्य—हाथ में पुष्प-धनुष धारण करने वाले कामदेव का; विदधतीम्—करती हुई; विवरम्—कर्णगत; निज-मुख—अपने मुँह से; विगलित—उड़ेलती हुई; अमृत-आसव—मधु सदृश अमृत; स-हास—अपने हँसी में; भाषण—तथा बोलने में; आमोद—प्रसन्नता से; मद-अन्ध—नशे में अन्धा हुआ; मधुकर—मधुमक्खियों का; निकर—समूह; उपरोधेन—उसके चारों ओर से घिरे होने से; द्रुत—शीघ्रगामी; पद—पाँव का; विन्यासेन—भावपूर्ण पद चाप से; वल्गु—कुछ; स्पन्दन—गति; स्तन—उरोज; कलश—जल पात्र सदृश; कबर—बालों की चोटी; भार—भार; रशनाम्—करधनी; देवीम्—देवी को; तत्-अवलोकनेन—उसकी दृष्टि मात्र से; विवृत-अवसरस्य—अवसर पाकर; भगवतः—सर्वशक्तिमान का; मकर-ध्वजस्य—कामदेव का; वशम्—वश में; उपनीतः—लाया जाकर; जड-वत्—जड़ के समान; इति—इस प्रकार; ह—निश्चय ही; उवाच—वह बोला।.

वह अप्सरा सुन्दर तथा आकर्षक फूलों को मधुमक्खी के समान सूँघ रही थी। वह अपनी चपल गति, लज्जा, विनय, चितवन तथा मुख से निकलने वाली मधुर ध्वनि और अपने अंगों की गति से मनुष्यों तथा देवताओं के मन तथा ध्यान को आकर्षित करने वाली थी। इन सब गुणों के कारण उसने मनुष्यों के मनों में कुसुम धनुषधारी कामदेव के स्वागतार्थ कानों के मार्ग खोल

दिये थे। जब वह बोलती, तो उसके मुख से अमृत झरता था। उसके श्वास लेने पर श्वास का स्वाद लेने के लिए भौंरे मदान्ध होकर उसके कमलवत् नेत्रों के चारों ओर मँडराने लगते। इन भौंरों से विचलित होकर वह जल्दी-जल्दी चलने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु जल्दी चलने के लिए पैर उठाते ही उसके केश, उसकी करधनी तथा उसके जलकलश तुल्य स्तन इस प्रकार गति कर रहे थे, जिससे वह अत्यन्त मनोहर एवं आकर्षक लग रही थी। दरअसल ऐसा प्रतीत होता था मानो वह अत्यन्त बलशाली कामदेव के लिए प्रवेश-मार्ग बना रही हो। अतः राजकुमार उसे देखकर पूर्णतया वशीभूत हो गया और उससे इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : इस श्लोक में अत्यन्त सुन्दर ढंग से यह वर्णन किया गया है कि किसी सुन्दर स्त्री की गति तथा हावभाव, उसके केश तथा उसके स्तनों, नितम्बों और अन्य अंगों की रचना न केवल पुरुषों के मन को वरन् देवताओं के मन को भी मोह लेती है। *दिविज* तथा *मनुज* शब्द विशेष रूप से यह पुष्टि करते हैं कि स्त्रियों के संकेतों का आकर्षण न केवल इस लोक के प्राणियों को वरन् स्वर्गलोक के प्राणियों को भी मोहने वाला है। कहा जाता है कि स्वर्गलोक के प्राणियों का जीवन-स्तर मर्त्यलोक के जीवन-स्तर से कई हजार गुना उच्च है। अतः वहाँ की सुन्दर स्त्रियों का शरीर पृथ्वी पर रहने वाली स्त्रियों के शरीर से हजारों गुना अधिक लुभावना होगा। सृष्टिकर्ता ने स्त्रियों को इस प्रकार निर्मित किया है कि उनकी मधुर ध्वनि, चाल तथा उनके नितम्बों, उरोजों और अन्य अंगों का मनोहर रूप न केवल पृथ्वी पर के वरन् स्वर्ग तक के पुरुषों को आकर्षित करता है और उनमें काम-भाव जागरित हो उठते हैं। जब कोई पुरुष कामदेव अथवा स्त्री सौंदर्य के वशीभूत होता है, तो वह पत्थर के तुल्य जड़ हो जाता है। स्त्रियों के अंग-चालन से मोहित होकर पुरुष इसी भौतिक संसार में रहना चाहता है। इस प्रकार स्त्री के सुन्दर दर्शन तथा गति मात्र से वह वैकुंठ लोक नहीं जा पाता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने समस्त भक्तों को सुन्दरियों के आकर्षण एवं भौतिकतावादी सभ्यता से दूर रहने के लिए सचेत किया है। उन्होंने प्रतापरुद्र महाराज को देखने से भी इनकार कर दिया था, क्योंकि इस संसार में वह अत्यन्त ऐश्वर्यवान व्यक्ति था। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु का कहना है—*निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य*—"जो ईश्वर की भक्ति में रत हैं और भगवान् के धाम वापस जाना चाहते हैं उन्हें स्त्रियों के सुन्दर हावभाव से तथा अत्यन्त धनी पुरुषों के दर्शन से दूर रहना चाहिए।"

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य

पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।

सन्दर्शनं विषयिणाम् अथ योषितां च

हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु॥

"अहो! जो इस संसार-सागर को तरना चाहता है और भगवान् की निष्काम तथा दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हुआ है उसके लिए इन्द्रियभोग में लिप्त भौतिकतावादी पुरुष या स्त्री का दर्शन स्वेच्छा से विषपान करने से भी जघन्य है।"(*चैतन्य-चरितामृत* मध्य ११.८)। अत: जो भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है उसे चाहिए कि वह स्त्री के आकर्षक अंगों तथा धनी पुरुषों की सम्पत्ति के विषय में तनिक भी न सोचे। ऐसा सोचने से आध्यात्मिक जीवन की प्रगति रुक जाती है। किन्तु यदि भक्त एक बार कृष्णभावनामृत में स्थिर हो गया, तो ये आकर्षण उसके मन को क्षुब्ध नहीं करते।

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले
मायासि कापि भगवत्परदेवताया: ।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किं वा मृगान्मृगयसे विपिने प्रमत्तान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम हो; चिकीर्षसि—क्या करना चाहते हो; च—भी; किम्—क्या; मुनि-वर्य—हे मुनिश्रेष्ठ; शैले—इस पर्वत पर; माया—माया; असि—हो; कापि—कुछ; भगवत्—भगवान्; पर-देवताया:—दिव्य ईश्वर का; विज्ये—बिना डोरी के; बिभर्षि—धारण किये हुए; धनुषी—दो धनुष; सुहृत्—मित्र का; आत्मन:—अपने; अर्थे—हेतु; किम् वा—अथवा; मृगान्—जंगली पशु; मृगयसे—आखेट करने का प्रयत्न कर रहे हो; विपिने—इस वन में; प्रमत्तान्—धन से मतवालों का।

राजकुमार ने भूल से अप्सरा को सम्बोधित किया—हे मुनिवर्य, तुम कौन हो? इस पर्वत पर क्यों आये हो और क्या करना चाहते हो? क्या तुम भगवान् की कोई माया हो? तुम बिना डोरी वाले इन दो धनुषों को क्यों धारण किये हो? क्या इनसे कोई तुम्हारा प्रयोजन है या अपने मित्र के लिए इन्हें धारण किये हुए हो? सम्भवत: तुम इन्हें इस वन के मतवाले (पागल) पशुओं को मारने के लिए धारण किये हो।

तात्पर्य : वन में कठिन तपस्या करते हुए आग्नीध्र ब्रह्मा द्वारा भेजी गई पूर्वचित्ति की भंगिमाओं से मोहित हो गये। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:*—कामी पुरुष अपनी बुद्धि गँवा बैठता है। अत: बुद्धि खोने के पश्चात् आग्नीध्र स्त्री तथा पुरुष में अन्तर नहीं कर पाये। उन्होंने उसे

मुनि–पुत्र समझा इसलिए उसे *मुनिवर्य* कह कर सम्बोधित किया। किन्तु उसकी सुन्दरता के कारण उन्हें विश्वास नहीं हो पाया कि वह किशोर है, अत: उन्होंने उसके अंगों को ध्यान से देखना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्हें उसकी दो भौंहें दिखाई पड़ीं जिनको देख कर उन्हें भ्रम हुआ कि कहीं वह भगवान् की माया तो नहीं है। इसके लिए *भगवत्–पर–देवताया:* शब्दों का प्रयोग हुआ है। *देवता* अर्थात् देवतागण इस भौतिक जगत से सम्बन्धित हैं, किन्तु भगवान् इस भौतिक लोक से परे रहते हैं, अत: *पर–देवता* कहलाते हैं। यह भौतिक जगत माया के द्वारा सृजित है, किन्तु *पर–देवता* भगवान् के आदेश के अनुसार इसका सृजन होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*), इस संसार की सृष्टि का परम नियन्ता माया नहीं है। माया श्रीकृष्ण की ओर से कर्म करती है।

पूर्वचित्ति की भौंहें इतनी सुन्दर थीं कि आग्नीध्र ने उनकी तुलना डोरी विहीन धनुषों से की। इसलिए उन्होंने पूछा कि वे उसके अपने प्रयोजन के लिए थे, अथवा किसी अन्य के लिए थे। उसकी भौंहें वन के पशुओं को मारने के लिए प्रयुक्त धनुषों जैसी थीं। यह संसार वन के तुल्य है और उसके निवासी वन के पशुओं यथा हिरन तथा बाघ जैसे हैं जिनका शिकार किया जाता है। सुन्दर स्त्री की भौंहें ही उन्हें मारने वाली हैं। स्त्री की सुन्दरता से मोहित होकर संसार के सभी मनुष्य बिना डोरी वाले धनुष से मार दिये जाते हैं, किन्तु कोई यह नहीं देख पाता कि माया उन्हें किस प्रकार मारती है। पर यथार्थ में वे मारे जाते हैं (*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*)। अपनी तपस्या से आग्नीध्र जान सके कि भगवान् के आदेश से माया किस प्रकार कार्य करती है।

प्रमत्तान् शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *प्रमत्त* का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो अपनी इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर पाता। समस्त संसार ऐसे ही प्रमत्त या विमूढ़ व्यक्तियों द्वारा शोषित हो रहा है। अत: प्रह्लाद महाराज ने कहा है (*भागवत* ७.९.४३)—

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ–

मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्।

“वे क्षणिक सुख के लिए विषयों में सड़ते रहते हैं और इन्द्रिय भोग के लिए ही दिन–रात श्रम करते हुए जीवन नष्ट कर रहे हैं, उन्हें ईश्वर से किसी प्रकार का लगाव नहीं रहता। मैं उन्हीं के लिए

शोचमग्न हूँ और उन्हें माया के चंगुल से मुक्त करने की विभिन्न युक्तियाँ सोच रहा हूँ।" शास्त्रों में इन्द्रियतुष्टि के लिए कर्म करने वाले कर्मियों को प्रमत्त, विमुख तथा विमूढ़ कहा गया है। ये माया के द्वारा मारे जाते हैं। किन्तु जो अप्रमत्त अथवा धीर हैं, वे भली भाँति जानते रहते हैं कि मनुष्य का मुख्य कर्तव्य परम पुरुष की सेवा करना है। जो माया के अदृश्य धनुष तथा बाण से प्रमत्त हैं उन्हें वह मारने के लिए सदा तत्पर रहती है। आग्नीध्र ने पूर्वचित्रि से इस सबके बारे में पूछा।

बाणाविमौ भगवतः शतपत्रपत्रौ
शान्तावपुङ्खरुचिरावतितिग्मदन्तौ ।
कस्मै युयुङ्क्षसि वने विचरन्न विद्मः
क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोऽस्तु ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

बाणौ—दो बाण; इमौ—ये; भगवतः—आपके, सर्वशक्तिमान के; शत-पत्र-पत्रौ—कमल की पंखुडियों जैसे पंखों वाले; शान्तौ—शान्त; अपुङ्ख—पंखरहित; रुचिरौ—अत्यन्त सुन्दर; अति-तिग्म-दन्तौ—अत्यन्त तीक्ष्ण नोक वाले; कस्मै—किसको; युयुङ्क्षसि—बेध देना चाहते हो; वने—वन में; विचरन्—इधर-उधर घूमते हुए; न विद्मः—हम समझ नहीं सकते; क्षेमाय—कल्याण के लिए; नः—हमारे; जड-धियाम्—जड़-बुद्धि वालों को; तव—तुम्हारा; विक्रमः—शौर्य; अस्तु—हो।

तब आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के बाँके नेत्रों को देखा और कहा—हे मित्र, तुम्हारे बाँके नेत्र दो अत्यन्त शक्तिशाली बाण हैं। इन बाणों में कमल पुष्प की पंखुड़ियों जैसे पंख हैं। मूठरहित होने पर भी वे अत्यन्त सुन्दर हैं और उनके सिरे नुकीले तथा भेदने वाले हैं। वे अत्यन्त शान्त लगते हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी पर नहीं छोड़े जाएँगे। तुम इस वन में किसी न किसी को इन बाणों से बेधने के लिए विचरण कर रहे होगे, किन्तु किसे? यह मैं नहीं जानता। मेरी बुद्धि भी मन्द पड़ गई है और मैं तुम्हारा सामना नहीं कर सकता। दरअसल, पराक्रम में कोई भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता; इसीलिए मेरी प्रार्थना है कि तुम्हारा पराक्रम मेरे लिए कल्याणकारी हो।

तात्पर्य : आग्नीध्र पूर्वचित्ति के कटाक्ष की प्रशंसा करने लगे। उन्होंने उसके बाँके नेत्रों की तुलना तीक्ष्ण तीरों से की। यद्यपि उसके नेत्र कमल सदृश सुन्दर थे, किन्तु साथ ही वे मूठहीन तीरों के समान थे इसलिए आग्नीध्र उनसे भयभीत हो गया। उन्हें आशा थी कि उसके कटाक्ष उनके अनुकूल होंगे क्योंकि वे पहले से मोहित थे और जितना ही अधिक मोहित होते उनके लिए उसके बिना रह पाना उतना ही कठिन होगा। इसीलिए आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति से प्रार्थना की कि उसके कटाक्ष उनके लिए

कल्याणकारी हों। दूसरे शब्दों में, उन्होंने प्रार्थना की कि वह उनकी पत्नी बन जाये।

शिष्या इमे भगवत: परित: पठन्ति
गायन्ति साम सरहस्यमजस्त्रमीशम् ।
युष्मच्छिखाविलुलिता: सुमनोऽभिवृष्टी:
सर्वे भजन्त्यृषिगणा इव वेदशाखा: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शिष्या:—शिष्य; इमे—ये; भगवत:—पूज्य के; परित:—चारों ओर से घेरे हुए; पठन्ति—सुना रहे हैं; गायन्ति—गायन कर रहे हैं; साम—सामवेद; स-रहस्यम्—रहस्ययुक्त; अजस्त्रम्—निरन्तर; ईशम्—ईश्वर को; युष्मत्—तुम्हारी; शिखा—चोटी से; विलुलिता:—गिरे हुए; सुमन:—पुष्पों की; अभिवृष्टी:—वृष्टि; सर्वे—समस्त; भजन्ति—भोगते हैं; ऋषि-गणा:—ऋषि, मुनि; इव—सदृश; वेद-शाखा:—वैदिक शास्त्रों की शाखाएँ।

पूर्वचित्ति का अनुगमन करने वाले भौरों को देखकर महाराज आग्नीध्र बोले—भगवन्, ऐसा प्रतीत होता है मानो तुम्हारे शरीर को घेरे हुए ये भौंरे अपने पूज्य गुरु को घेरे हुए शिष्य हैं। वे सामवेद तथा उपनिषद् के मंत्रों का निरन्तर गायन कर रहे हैं और इस प्रकार तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। जैसे ऋषिगण वैदिक शास्त्रों की शाखाओं का अनुसरण करते हैं, ये भौंरें तुम्हारी चोटी से झड़ने वाले पुष्पों का आनन्द ले रहे हैं।

वाचं परं चरणपञ्जरतित्तिरीणां
ब्रह्मन्नरूपमुखरां शृणवाम तुभ्यम् ।
लब्धा कदम्बरुचिरङ्कविटङ्कबिम्बे
यस्यामलातपरिधि: क्व च वल्कलं ते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

वाचम्—गुंजरित ध्वनि; परम्—एकमात्र; चरण-पञ्जर—नूपुरों की; तित्तिरीणाम्—तीतरों की; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अरूप—बिना रूप के; मुखराम्—स्पष्ट सुनाई पड़ने वाला; शृणवाम—मैं सुनता हूँ; तुभ्यम्—तुम्हारा; लब्धा—प्राप्त; कदम्ब—कदम्ब पुष्प सदृश; रुचि:—मनोहर रंग; अङ्क-विटङ्क-बिम्बे—सुन्दर गोल नितम्बों पर; यस्याम्—जिस पर; अलात-परिधि:—ज्वलित अंगारों का घेरा; क्व—कहाँ; च—भी; वल्कलम्—ढकने के लिए वस्त्र; ते—तुम्हारा।

हे ब्राह्मण, मुझे तो तुम्हारे नूपुरों की झंकार ही सुनाई पड़ती है। ऐसा लगता है उनके भीतर तीतर पक्षी चहक रहे हैं। मैं उनके रूपों को नहीं देख रहा, किन्तु मैं सुन रहा हूँ कि वे किस प्रकार चहक रहे हैं। जब मैं तुम्हारे सुन्दर गोल नितम्बों को देखता हूँ, तो मुझे लगता है कि मानो वे कदम्ब के पुष्पों का सुन्दर रंग लिए हों। तुम्हारी कमर में जाज्वल्यमान अंगारों की मेखला पड़ी हुई है। दरअसल, ऐसा लगता है कि तुम वस्त्र धारण करना भूल गये हो।

तात्पर्य : पूर्वचित्ति को कामुक भाव से देखते हुए आग्नीध्र ने उस तरुणी के आकर्षक नितम्बों

तथा कटि भाग पर दृष्टि फेरी। जब मनुष्य किसी स्त्री को इस प्रकार कामेच्छा से देखता है, तो वह उसके मुख, स्तन तथा कटि पर मोहित हो जाता है, क्योंकि पुरुष को अपनी वासना तृप्त करने के लिए स्त्री पहले पहल अपनी सुन्दर मुखाकृति, अपने उरोजों के उभार और कटिभाग से आकर्षित करती है। पूर्वचित्ति ने सुन्दर पीला रेशमी वस्त्र पहन रखा था, अत: उसके नितम्ब कदम्ब पुष्प के समान लग रहे थे। करधनी के कारण उसकी कमर जाज्वल्यमान अंगारों से घिरी प्रतीत हुई। यद्यपि वह वस्त्रों से पूर्णत: सज्जित थी, किन्तु आग्नीध्र इतना काममोहित हो गया था कि उसे पूछना पड़ा ''तुम वस्त्ररहित होकर क्यों आई हो?''

किं सम्भृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते
मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशि: श्रिता मे ।
पङ्कोऽरुण: सुरभीरात्मविषाण ईदृग्
येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; सम्भृतम्—भरा हुआ; रुचिरयो:—अत्यन्त सुन्दर; द्विज—हे ब्राह्मण; शृङ्गयो:—दो सींगों के भीतर; ते—तुम्हारा; मध्ये—बीच में; कृश:—पतली; वहसि—धारण करते हो; यत्र—जिसमें; दृशि:—आँखें; श्रिता—टिकी हुई; मे—मेरी; पङ्क:—चूर्ण; अरुण:—लाल; सुरभि:—सुगंधित; आत्म-विषाणे—दो सींगों पर; ईदृक्—ऐसा; येन—जिसके द्वारा; आश्रमम्—आश्रम; सु-भग—हे भाग्यवान्; मे—मेरा; सुरभी-करोषि—सुगन्धित बना रहे हो।

तब आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के उभरे हुए उरोजों की प्रशंसा की। उन्होंने कहा—हे ब्राह्मण, तुम्हारी कमर अत्यन्त पतली है, किन्तु फिर भी तुम कष्ट सह कर इन दो सींगों को धारण कर रहे हो जिन पर मेरे नेत्र अटक गये हैं। इन दोनों सुन्दर सीगों के भीतर क्या भरा है? तुमने इनके ऊपर सुगन्धित लाल-लाल चूर्ण छिड़क रखा है मानो अरुणोदय का सूर्य हो। हे भाग्यवान्, क्या मैं पूछ सकता हूँ कि तुम्हें ऐसा सुगन्धित चूर्ण कहाँ से मिला जो मेरे आश्रम को सुरभित कर रहा है?

तात्पर्य : आग्नीध्र ने पूर्णचित्ति के उन्नत उरोजों की प्रशंसा की। उसके उरोजों को देखकर वह लगभग प्रमत्त हो उठा। तो भी वह नहीं पहचान पाया कि पूर्वचित्ति किशोर था या कोई किशोरी; इसीलिए उसने उसे *द्विज* (हे ब्राह्मण!) कहकर सम्बोधित किया। किन्तु द्विज अर्थात् ब्राह्मण बालक के वक्षस्थल पर सींग क्यों हों? क्योंकि बालक की कमर पतली थी, आग्नीध्र ने सोचा कि वह अत्यन्त कठिनाई से इनका भार ढो रहा है, अत: इनके भीतर अवश्य ही कुछ मूल्यवान वस्तु भरी होगी।

अन्यथा वह उनको क्यों वहन कर रहा है? जब किसी स्त्री की कटि पतली और उरोज उठे हुए होते हैं, तो वह अत्यन्त आकर्षक लगती है। आग्नीध्र ने मोहित नेत्रों से कृश शरीर वाली लड़की के लाल स्तनों का चिन्तन किया और कल्पना की कि उसके नितम्ब इसको कैसे वहन करते होंगे। आग्नीध्र ने कल्पना की कि उसके उन्नत उरोज उसके दो सींग हैं, जिन्हें उसने वस्त्र से इसलिए ढक रखा था, जिससे उनके भीतर के बहुमूल्य पदार्थ को कोई देख न सके। किन्तु आग्नीध्र उनको देखने के लिए अत्यन्त व्यग्र था, अत: उसने प्रार्थना की "कृपया इनसे आवरण हटा दो जिससे मैं देख सकूँ कि इनके भीतर क्या भरा है। विश्वास रखो कि मैं उन्हें ले नहीं भागूँगा। यदि तुम्हें कुछ असुविधा हो तो क्या मैं स्वयं खोलकर देख सकता हूँ कि इन उन्नत सींगों के भीतर क्या है?" वे उसके स्तनों के ऊपर फैले हुए सुरभित कुंकुम के लाल चूर्ण से चकित थे। इतने पर भी उसने पूर्वचित्ति को बालक समझ कर उसे *सुभग* अर्थात् भाग्यशाली मुनि कह कर सम्बोधित किया। यह बालक भाग्यशाली रहा होगा, अन्यथा इसके वहाँ खड़े होने से आग्नीध्र का पूरा आश्रम कैसे महक सकता था?

लोकं प्रदर्शय सुहृत्तम तावकं मे
यत्रत्य इत्थमुरसावयवावपूर्वौ ।
अस्मद्विधस्य मनउन्नयनौ बिभर्ति
बह्वद्भुतं सरसराससुधादि वक्त्रे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

लोकम्—आवास स्थान, देश; प्रदर्शय—दिखा दो; सुहृत्-तम—हे श्रेष्ठ मित्र, मित्रवर; तावकम्—इस प्रकार; मे—मुझको; यत्रत्य:—जिसमें उत्पन्न पुरुष; इत्थम्—इस तरह; उरसा—वक्षस्थल से; अवयवौ—दो अंग (उरोज); अपूर्वौ—अपूर्व; अस्मत्-विधस्य—मुझ जैसे व्यक्ति को; मन:-उन्नयनौ—चित्त को क्षुब्ध करने वाला; बिभर्ति—बना हुआ है; बहु—अनेक; अद्भुतम्—अद्‌भुत्; सरस—मृदुवचन; रास—मुस्कान जैसा हावभाव; सुधा-आदि—अमृत के तुल्य; वक्त्रे—मुख में।

मित्रवर, क्या तुम मुझे अपना निवास स्थान दिखा सकते हो? मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि उस स्थान के वासियों को तुम्हारे उन्नत उरोजों के समान अद्‌भुत् शारीरिक अंग किस तरह प्राप्त हुए हैं, जो मुझ जैसे देखने वाले के मन तथा नेत्रों को उद्वेलित कर रहे हैं। उनकी मधुर वाणी तथा मृदु मुस्कान से इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि उनके मुख में अमृत बसता होगा।

तात्पर्य : प्रमत्त आग्नीध्र ने उस स्थान को भी जानना चाहा जहाँ से वह ब्राह्मण-बालक आया था और जहाँ के मनुष्यों के वक्षस्थल इस प्रकार उठे हुए थे। उन्होंने सोचा कि सम्भवत: ऐसे आकर्षक अंग उनकी कठिन तपस्या के फलस्वरूप हों। आग्नीध्र ने इस बालिका को *सुहृत्तम* कहकर सम्बोधित

किया जिससे वह उसे वहाँ ले जाने से कहीं अस्वीकार न कर दे। आग्नीध्र न केवल उस बालिका के उन्नत उरोजों से मोहित थे, वरन् उसकी मधुरवाणी से भी आकृष्ट थे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके मुख से अमृत निकल रहा हो। इसलिए वे अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गये।

का वात्मवृत्तिरदनाद्धविरङ्ग वाति
विष्णोः कलास्यनिमिषोन्मकरौ च कर्णौ ।
उद्विग्नमीनयुगलं द्विजपङ्क्ति शोचि-
रासन्नभृङ्गनिकरं सर इन्मुखं ते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

का—क्या; वा—तथा; आत्म-वृत्तिः—शरीर के पालन हेतु भोजन; अदनात्—पान के चबाने से; हविः—यज्ञ की हवन सामग्री; अङ्ग—मेरे प्रिय मित्र; वाति—फैल रही है; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; कला—शरीर का अंश; असि—हो; अनिमिष—अपलक; उन्मकरौ—दो उज्ज्वल मगर; च—भी; कर्णौ—दो कान; उद्विग्न—परेशान, अस्थिर; मीन-युगलम्—दो मछलियों सहित; द्विज-पङ्क्ति—दाँतों की पाँत; शोचिः—सुन्दरता; आसन्न—सन्निकट; भृङ्ग-निकरम्—भौंरों का समूह; सरः इत्—सरोवर के सदृश; मुखम्—मुँह; ते—तुम्हारा।

मित्रवर, शरीर पालने के लिए तुम क्या खाते हो? ताम्बूल चबाने से तुम्हारे मुख से सुगन्ध फैल रही है। इससे यह सिद्ध होता है कि तुम सदैव विष्णु का प्रसाद खाते हो। निश्चय ही तुम भगवान् विष्णु के अंश स्वरूप हो। तुम्हारा मुख मनोहर सरोवर के समान सुन्दर है। तुम्हारे रत्नजटित कुंडल उन दो उज्ज्वल मकरों के तुल्य हैं जिनके नेत्र विष्णु के समान अपलक रहने वाले हैं। तुम्हारे दोनों नेत्र दो चंचल मछलियों के सदृश हैं। इस प्रकार तुम्हारे मुख-सरोवर में दो मकर तथा दो चंचल मछलियाँ एक साथ तैर रही हैं। इनके अतिरिक्त तुम्हारे दाँतों की धवल पंक्ति जल में श्वेत हंसों की पंक्ति के सदृश प्रतीत होती है और तुम्हारे बिखरे बाल तुम्हारे मुख की शोभा का पीछा करने वाले भौंरों के झुंड के समान हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु के भक्त उन्हीं के अंश भी हैं और *विभिन्नांश* कहलाते हैं। भगवान् विष्णु को सभी प्रकार की हवियाँ भेंट की जाती हैं और भक्तगण उनका बचा हुआ भोजन, अर्थात् प्रसाद खाते हैं, अतः हवि की सुगन्धि न केवल विष्णु से निकलती है, वरन् प्रसाद पाने वाले भक्तों के शरीरों से भी निकलती है। आग्नीध्र पूर्वचित्ति को उसके शरीर से निर्गत सुगन्धि के कारण भगवान् विष्णु का अंश मान रहे थे। इसके साथ ही साथ उसके मकराकार रत्नजटित कुंडलों, उसकी शरीर की सुगंध के पीछे मत्त होकर दौड़ने वाले भौंरों के समान काले बालों तथा हंसों के समान श्वेत दंतपंक्ति के कारण

आग्नीध्र ने उसके मुख की उपमा कमल पुष्पों, मछलियों, हंसों तथा भौंरों से अलंकृत सुन्दर सरोवर से दी।

योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो
दिक्षु भ्रमन्भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे ।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरूथं
कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो; असौ—वह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; कर-सरोज—कमल के समान हथेली वाला; हतः—आहत; पतङ्गः—गेंद; दिक्षु—समस्त दिशाओं में; भ्रमन्—घूमते हुए; भ्रमतः—चल, अस्थिर; एजयते—विक्षुब्ध करता है; अक्षिणी—नेत्रों को; मे—मेरे; मुक्तम्—बिखरे हुए; न—नहीं; ते—तुम्हारा; स्मरसि—क्या तुम्हें सुधि है; वक्र—घुँघराले; जटा—बालों का; वरूथम्—समूह, लटें; कष्टः—कष्टदायी; अनिलः—वायु; हरति—बहा ले जाता है; लम्पटः—धूर्त, परस्त्री पर आसक्त सदृश; एषः—यह; नीवीम्—अधोवस्त्र।

मेरा मन पहले ही से चंचल है और तुम इस गेंद को अपनी कमल सदृश हथेली से इधर-उधर फेंक कर मेरे नेत्रों को विक्षुब्ध कर रहे हो। तुम्हारे घुँघराले केश अब बिखरे हुए हैं, किन्तु तुम्हें उनको सँभालने की सुधि नहीं है। तुम इन्हें सँभाल क्यों नहीं लेते? यह धूर्त वायु स्त्रियों में आसक्त लम्पट पुरुष के समान तुम्हारे अधोवस्त्र को उठाने का प्रयत्न कर रहा है। क्या तुम्हें इसकी खबर नहीं है?

तात्पर्य : पूर्वचित्ति अपने हाथों में गेंद लिए हुए खेल रही थी जो उसकी कमलवृत् हथेली में पकड़े एक अन्य कमल पुष्प सा लग रहा था। इधर-उधर गति करने से उसके केश शिथिल हो गये थे और उसका नीवीबन्धन खुल रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो धूर्त वायु उसे नंगा करना चाह रहा हो। फिर भी उसने अपने बाल सँवारने या अपना वस्त्र सँभालने की कोई परवाह नहीं की। आग्नीध्र इस बाला की अनावृत्त सुन्दरता का दर्शन करना चाहता था, अत: उसके हाव-भाव से उसके नेत्र चंचल हो उठे।

रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोघ्नं
ह्येतत्तु केन तपसा भवतोपलब्धम् ।
चर्तुं तपोऽर्हसि मया सह मित्र मह्यं
किं वा प्रसीदति स वै भवभावनो मे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—सुन्दरता; तपः-धन—हे श्रेष्ठ तपस्वी; तपः चरताम्—तपस्या में संलग्न पुरुषों का; तपः-घ्नम्—तपों को विनष्ट करने वाला; हि—निश्चय ही; एतत्—यह; तु—निस्सन्देह; केन—किस; तपसा—तपस्या के द्वारा; भवता—तुम्हारे द्वारा; उपलब्धम्—प्राप्त किया; चर्तुम्—करने के लिए; तपः—तप; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; मया सह—मेरे साथ; मित्र—हे मित्र; मह्यम्—मुझको; किम् वा—अथवा सम्भव है; प्रसीदति—प्रसन्न होता है; सः—वह; वै—निश्चय ही; भव-भावनः—इस ब्रह्माण्ड का सृजनकर्ता; मे—मेरे साथ।

हे श्रेष्ठ तपस्वी, तुम्हें दूसरों की तपस्या को भंग करने वाला यह अद्भुत् रूप कहाँ से प्राप्त हुआ? तुमने यह कला कहाँ से सीखी? हे मित्र, तुमने इस सुन्दरता को प्राप्त करने के लिए कौन सा तप किया है? मेरी इच्छा है कि तुम मेरे साथ तपस्या में सम्मिलित हो जाओ, क्योंकि हो सकता है कि इस ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा भगवान् ब्रह्मा ने मुझ पर प्रसन्न होकर तुम्हें मेरी पत्नी बनने के लिए भेजा हो।

तात्पर्य : आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के अपूर्व सौंदर्य की प्रशंसा की। दरअसल, उसे ऐसा अद्वितीय सौंदर्य देखकर आश्चर्य हुआ जो पूर्व तपस्या का फल हो सकता है; इसीलिए उसने उस बालिका से प्रश्न किया कि उसने यह रूप कहीं अन्यों की तपस्या को भंग करने के लिए तो नहीं प्राप्त किया। उसने विचार किया कि हो न हो, ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी ने उस पर प्रसन्न होकर ही उसे उसकी पत्नी बनने के उद्देश्य से भेजा है। उसने पूर्वचित्ति से पत्नी बनने की प्रार्थना की जिससे वे दोनों मिलकर तपस्या कर सकें। दूसरे शब्दों में, यदि पति तथा पत्नी आत्म-ज्ञान के एक ही धरातल पर हों, तो उपयुक्त पत्नी गृहस्थ जीवन में तपस्या करने में अपने पति की सहयोगी होती है। आत्म-ज्ञान के बिना पति तथा पत्नी समान पद पर स्थित नहीं हो पाते। भगवान् ब्रह्मा की यही इच्छा रहती है कि अच्छी संतति जन्मे, अतः जब तक वे प्रसन्न नहीं होते किसी को अनुकूल पत्नी नहीं मिल सकती। वास्तव में विवाहोत्सव में ब्रह्मा की उपासना की जाती है। आज भी भारत में विवाह के निमंत्रण पत्रों के ऊपर भगवान् ब्रह्मा का चित्र बना रहता है।

न त्वां त्यजामि दयितं द्विजदेवदत्तं
यस्मिन्मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम् ।
मां चारुशृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते
चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वाम्—तुमको; त्यजामि—छोड़ूँगा; दयितम्—अत्यन्त प्रिय; द्विज-देव—ब्राह्मणों के उपास्य देवता, भगवान् ब्रह्मा से; दत्तम्—दिया हुआ; यस्मिन्—जिसको; मनः—मन; दृक्—आँखें; अपि—भी; नः—मेरा; न वियाति—दूर नहीं जाता है;

लग्नम्—दृढ़तापूर्वक लगा हुआ; माम्—मुझको; चारु-शृङ्गि—हे सुन्दर उन्नत उरोजों वाली स्त्री; अर्हसि—तुम्हे चाहिए; नेतुम्—पथ प्रदर्शन करना; अनुव्रतम्—अनुयायी; ते—तुम्हारा; चित्तम्—आकांक्षा; यतः—जहाँ कहीं भी; प्रतिसरन्तु—साथ चलें; शिवाः—अनुकूल; सचिव्यः—मित्रगण, सखियाँ।.

ब्राह्मणों के द्वारा पूजित भगवान् ब्रह्मा ने मुझपर अत्यन्त अनुग्रह करके तुमको मुझे दिया है; इसलिए मैं तुमसे मिल पाया हूँ। मैं तुम्हारा साथ नहीं छोड़ना चाहता, क्योंकि मेरे मन तथा नेत्र तुम्हीं पर टिके हुए हैं और वे किसी तरह दूर नहीं किये जा सकते। हे सुन्दर उन्नत उरोजों वाली बाला, मैं तुम्हारा अनुचर हूँ। तुम मुझे जहाँ भी चाहे ले जा सकती हो और तुम्हारी सखियाँ भी मेरे साथ चल सकती हैं।

तात्पर्य : अब आग्नीध्र अपनी दुर्बलता को बिना झिझक के स्वीकार करता है। वह पूर्वचित्ति पर मोहित था, अतः इसके पूर्व कि वह यह कहे कि मुझे तुमसे क्या प्रयोजन, वह उसके साथ विवाह करने की इच्छा व्यक्त करता है। वह इतना मोहित था कि उसके साथ कहीं भी जाने को तैयार था, चाहे वह स्वर्ग हो या नरक। जब कोई कामासक्त हो उठता है, तो वह बिना किसी शर्त के स्त्री के समक्ष आत्म-समर्पण कर देता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है कि जब कोई सनकी व्यक्ति की तरह हँसी-मजाक करने लगता है, तो वह कुछ भी कह सकता है, किन्तु उसके शब्द निरर्थक होते हैं।

श्रीशुक उवाच
इति ललनानुनयातिविशारदो ग्राम्यवैदग्ध्यया परिभाषया तां विबुधवधूं विबुधमतिरधिसभाजयामास. ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ललना—स्त्रियाँ; अनुनय—जीतने में; अति-विशारदः—अत्यन्त पटु; ग्राम्य-वैदग्ध्यया—अपनी इच्छाओं को पूरा करने में पटु; परिभाषया—चुने शब्दों से; ताम्—उस; विबुध-वधूम्—देव-कन्या को; विबुध-मतिः—देवताओं के तुल्य बुद्धि वाले आग्नीध्र ने; अधिसभाजयाम् आस—प्रसन्न कर लिया।.

श्रील शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—महाराज आग्नीध्र देवताओं के समान बुद्धिमान और स्त्रियों को रिझा करके अपने पक्ष में कर लेने की कला में अत्यन्त निपुण थे। अतः उन्होंने उस स्वर्गकन्या को अपनी कामपूर्ण वाणी से प्रसन्न करके उसको अपने पक्ष में कर लिया।

तात्पर्य : चूँकि राजा आग्नीध्र भक्त था, अतः वास्तव में भौतिक सुख की उसे तनिक भी इच्छा नहीं थी, किन्तु अपना वंश चलाने के लिए उसे पत्नी की आवश्यकता थी और भगवान् ब्रह्मा ने

पूर्वचित्ति को इसी प्रयोजन के लिए भेजा था, अत: उसने अपनी मीठी वाणी से उसे रिझा लिया। स्त्रियाँ मनुष्यों की मीठी वाणी से आकृष्ट हो जाती हैं। जो इस कला में दक्ष होता है उसे *विदग्ध* कहते हैं।

सा च ततस्तस्य वीरयूथपतेर्बुद्धिशीलरूपवय:श्रियौदार्येण पराक्षिप्तमनास्तेन
सहायुतायुतपरिवत्सरोपलक्षणं कालं जम्बूद्वीपपतिना भौमस्वर्गभोगान्बुभुजे. ॥ १८॥

शब्दार्थ

सा—वह स्त्री; च—भी; तत:—तत्पश्चात्; तस्य—उस; वीर-यूथ-पते:—वीरों के स्वामी की; बुद्धि—बुद्धि; शील—आचरण; रूप—सुन्दरता; वय:—अवस्था (तरुण); श्रिया—ऐश्वर्य; औदार्येण—(तथा) उदारता से; पराक्षिप्त—आकर्षित; मना:—मन वाली; तेन सह—उसके साथ; अयुत—दस हजार; अयुत—दस हजार; परिवत्सर—वर्ष; उपलक्षणम्—विस्तृत; कालम्—काल, समय; जम्बूद्वीप-पतिना—जम्बूद्वीप के राजा के साथ; भौम—पृथ्वी का; स्वर्ग—स्वर्गिक; भोगान्—सुख, भोग; बुभुजे—भोग किया।

आग्नीध्र की बुद्धि, तरुणाई, सौन्दर्य, आचरण, ऐश्वर्य तथा उदारता से आकर्षित होकर पूर्वचित्ति जम्बूद्वीप के राजा तथा समस्त वीरों के स्वामी आग्नीध्र के साथ कई हजार वर्षों तक रही और उसने भौतिक तथा स्वर्गिक दोनों प्रकार के सुखों का भरपूर भोग किया।

तात्पर्य : ब्रह्माजी की कृपा से राजा आग्नीध्र तथा स्वर्ग-कन्या पूर्वचित्ति की युति अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुई। इस प्रकार उन्होंने कई हजार वर्षों तक भौतिक तथा स्वर्गिक सुखों का भोग किया।

तस्यामु ह वा आत्मजान्स राजवर आग्नीध्रो
नाभिकिम्पुरुषहरिवर्षेलावृतरम्यकहिरण्मयकुरुभद्राश्वकेतुमालसंज्ञान्नव पुत्रानजनयत्. ॥ १९॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उससे; उ ह वा—निश्चय ही; आत्म-जान्—पुत्र; स:—उसने; राज-वर:—राजाओं में श्रेष्ठ; आग्नीध्र:—आग्नीध्र ने; नाभि—नाभि; किंपुरुष—किम्पुरुष; हरि-वर्ष—हरिवर्ष; इलावृत—इलावृत; रम्यक—रम्यक; हिरण्मय—हिरण्यमय; कुरु—कुरु; भद्राश्व—भद्राश्व; केतु-माल—केतुमाल; संज्ञान्—नामक; नव—नौ; पुत्रान्—पुत्रों को; अजनयत्—उत्पन्न किया।

राजाओं में श्रेष्ठ महाराज आग्नीध्र को पूर्वचित्ति के गर्भ से नौ पुत्र प्राप्त हुए जिनके नाम नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल थे।

सा सूत्वाथ सुतान्नवानुवत्सरं गृह एवापहाय पूर्वचित्तिर्भूय एवाजं देवमुपतस्थे. ॥ २०॥

शब्दार्थ

सा—वह; सूत्वा—जन्म देकर; अथ—तत्पश्चात्; सुतान्—पुत्रों को; नव—नौ; अनुवत्सरम्—प्रति वर्ष; गृहे—घर पर; एव—निश्चय ही; अपहाय—छोड़कर; पूर्वचित्ति:—पूर्वचित्ति; भूय:—पुन:; एव—निश्चय ही; अजम्—भगवान् ब्रह्मा के; देवम्—देवता; उपतस्थे—पास गई, उपस्थित हुई।

पूर्वचित्ति ने प्रति वर्ष एक-एक करके इन नौ पुत्रों को जन्म दिया, किन्तु जब वे बड़े हो

गये, तो वह उन्हें घर पर छोड़कर ब्रह्मा की उपासना करने के लिए उनके पास उपस्थित हुई।

तात्पर्य : ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब अप्सराएँ ब्रह्मा या इन्द्र जैसे श्रेष्ठ देवता की आज्ञा से इस पृथ्वी पर अवतरित हुईं, उनकी आज्ञानुसार विवाह किया और सन्तान उत्पन्न करने के बाद अपनी-अपनी पुरियों को पुनः लौट गईं। उदाहरणार्थ, स्वर्गसुन्दरी मेनका, जो विश्वामित्र मुनि को छलने के लिए आई थी, शकुन्तला को जन्म देने के पश्चात् अपने पति तथा अपनी पुत्री दोनों को छोड़कर स्वर्गलोक वापस चली गई। पूर्वचित्ति भी महाराज आग्नीध्र के संग स्थायी रूप से नहीं रही। अपने पति के गृहकार्यों में सहायता करने के पश्चात् वह महाराज आग्नीध्र तथा अपने नौ पुत्रों को त्याग कर ब्रह्मा की आराधना करने के लिए उनके पास लौट गई।

आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथाभागं जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आग्नीध्र-सुताः—महाराज आग्नीध्र के सब पुत्र; ते—वे; मातुः—माता के; अनुग्रहात्—अनुग्रह से अथवा माँ का दूध पीकर; औत्पत्तिकेन—सहज; एव—ही; संहनन—सुगठित शरीर; बल—शक्ति; उपेताः—प्राप्त; पित्रा—पिता द्वारा; विभक्ताः—विभाजित; आत्म-तुल्य—अपने ही समान; नामानि—नाम वाले; यथा-भागम्—ठीक से विभक्त; जम्बूद्वीप-वर्षाणि—जम्बूद्वीप के विभिन्न भागों (सम्भवतः एशिया तथा यूरोप दोनों); बुभुजुः—राज्य किया।.

अपनी माँ का दूध पीने के कारण आग्नीध्र के नवों पुत्र अत्यन्त बलिष्ठ एवं सुगठित शरीर वाले हुए। उनके पिता ने प्रत्येक को जम्बूद्वीप का एक-एक भाग दे दिया। इन राज्यों के नाम पुत्रों के नामों के अनुसार पड़े। इस प्रकार आग्नीध्र के सभी पुत्र पिता से प्राप्त राज्यों पर राज्य करने लगे।

तात्पर्य : आचार्यों ने इस श्लोक के *मातुः अनुग्रहात्* शब्दों का विशेष उल्लेख करते हुए इनका अर्थ ''उनकी माँ का स्तन-दुग्ध'' किया है। भारतवर्ष में यह आम विश्वास है कि यदि माँ अपने बच्चे को छह मास तक अपने स्तनों का दूध पिलाती है, तो बच्चे का शरीर अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट रहता है। इसके अतिरिक्त इस श्लोक में यह भी इंगित है कि आग्नीध्र के सभी पुत्रों की प्रकृति अपनी माँ के समान थी। *भगवद्गीता* की भी (१.४०) घोषणा है—*स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः*—दूषित स्त्री से वर्णसंकर (अयोग्य) पुत्र उत्पन्न होते हैं और जब वर्णसंकर जनसंख्या बढ़ती है, तो यह संसार नरक बन जाता है। अतः *मनुसंहिता* के अनुसार स्त्री को पवित्र तथा साध्वी रहने के लिए काफी संरक्षण की

आवश्यकता होती है, जिससे उसकी सन्तान मानव समाज के कल्याण में तत्पर हो सके।

आग्नीध्रो राजातृप्तः कामानामप्सरसमेवानुदिनमधिमन्यमानस्तस्याः सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध यत्र पितरो मादयन्ते. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आग्नीध्रः—आग्नीध्र; राजा—राजा; अतृप्तः—असन्तुष्ट; कामानाम्—इन्द्रियभोग से; अप्सरसम्—स्वर्ग सुन्दरी (पूर्वचित्ति) के विषय में; एव—निश्चय ही; अनुदिनम्—दिनोंदिन; अधि—अत्यधिक; मन्यमानः—सोचते हुए; तस्याः—उसका; स-लोकताम्—उसी लोक को; श्रुतिभिः—वेदों से; अवारुन्ध—प्राप्त किया; यत्र—जहाँ; पितरः—पूर्वज, पितृगण; मादयन्ते—आनन्द लेते हैं।

पूर्वचित्ति के चले जाने पर, अतृप्त वासना के कारण राजा आग्नीध्र उसी के विषय में सोचते रहते। अतः वैदिक आज्ञाओं के अनुसार राजा मृत्यु के पश्चात् उसी लोक में गये जहाँ उनकी पत्नी थी। यह लोक पितृलोक कहलाता है जहाँ कि पितरगण अत्यन्त आनन्द से रहते हैं।

तात्पर्य : यदि कोई किसी के विषय में निरन्तर सोचता है, तो मृत्यु के उपरान्त उसे वैसा ही शरीर प्राप्त होता है। महाराज आग्नीध्र सदा पितृलोक के विषय में सोच रहे थे, जहाँ उनकी पत्नी पहुँची थी, इसलिए मृत्यु के बाद उन्हें वह लोक मिला, जिससे वे उसके साथ पुनः रह सकें। *भगवद्गीता* का (८.६) भी कथन है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

"जीव अपना शरीर त्यागते समय जिस किसी भाव (दशा) का स्मरण करता है, वह उसे निश्चय ही प्राप्त करता है।" अत: हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हम निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करें, अथवा पूर्णत: कृष्णभावनाभावित हो जाँय, तो हमें गोलोक वृन्दावन प्राप्त हो सकता है जहाँ श्रीकृष्ण निरन्तर वास करते हैं।

सम्परेते पितरि नव भ्रातरो मेरुदुहितृर्मेरुदेवीं प्रतिरूपामुग्रदंष्ट्रीं लतां रम्यां श्यामां नारीं भद्रां देववीतिमिति संज्ञा नवोदवहन्. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सम्परेते पितरि—अपने पिता के प्रयाण के पश्चात्; नव—नौ; भ्रातरः—भाई; मेरु-दुहितृः—मेरु की पुत्रियाँ; मेरुदेवीम्—मेरुदेवी; प्रति-रूपाम्—प्रतिरूपा; उग्र-दंष्ट्रीम्—उग्रदंष्ट्री; लताम्—लता; रम्याम्—रम्या; श्यामाम्—श्यामा; नारीम्—नारी; भद्राम्—भद्रा; देव-वीतिम्—देववीति को; इति—इस प्रकार; संज्ञाः—नाम; नव—नौ; उदवहन्—विवाह कर लिया।

अपने पिता के प्रयाण के पश्चात् नवों भाइयों ने मेरु की नौ पुत्रियों के साथ विवाह कर लिया, जिनके नाम मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा तथा देववीति थे।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "महाराज आग्नीध्र का चरित्र" नामक दूसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म

इस अध्याय में आग्नीध्र के ज्येष्ठतम पुत्र राजा नाभि के निर्मल चरित्र का वर्णन किया गया है। पुत्रेच्छा से महाराज नाभि ने कठोर तपस्या की। उन्होंने अपनी पत्नी सहित अनेक यज्ञ किये और यज्ञों के स्वामी भगवान् विष्णु की आराधना की। भक्तों पर दयालु होने के कारण भगवान् महाराज नाभि की तपस्या से परम प्रसन्न हुए। वे साक्षात् चतुर्भुज रूप में राजा के समक्ष प्रकट हुए। यज्ञ करने वाले पुरोहित उन्हें देखकर उनकी स्तुति करने लगे। उन्होंने भगवान् से अपने ही समान पुत्र के लिए प्रार्थना की और भगवान् विष्णु ने राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से राजा ऋषभदेव के अवतार के रूप में जन्म लेना स्वीकार कर लिया।

श्रीशुक उवाच
नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी बोले; नाभिः—महाराज आग्नीध्र के पुत्र ने; अपत्य-कामः—पुत्रेच्छा से; अप्रजया—जिसे कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई थी; मेरुदेव्या—मेरुदेवी से; भगवन्तम्—भगवान्; यज्ञ-पुरुषम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता तथा स्वामी, भगवान् विष्णु को; अवहित-आत्मा—अत्यन्त ध्यानपूर्वक; अयजत—स्तुति और आराधना की।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि ने सन्तान की इच्छा की, इसलिए उन्होंने समस्त यज्ञों के भोक्ता एवं स्वामी भगवान् विष्णु की अत्यन्त मनोयोग से स्तुति एवं आराधना प्रारम्भ की। उस समय तक महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी ने किसी सन्तान को जन्म नहीं दिया था, अतः वह भी अपने पति के साथ भगवान् विष्णु की आराधना करने लगी।

तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान्भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्सया गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं मनोनयनानन्दनावयवाभिराममाविश्चकार. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—जब वह (नाभि); ह वाव—निश्चय ही; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; विशुद्ध-भावेन—शुद्ध, निष्कलुष मन से; यजतः—आराधना कर रहा था; प्रवर्ग्येषु—जबकि प्रवर्ग्य नामक कर्म; प्रचरत्सु—पालन किये जा रहे थे; द्रव्य—सामग्री; देश—स्थान; काल—समय; मन्त्र—स्तुति, मंत्र; ऋत्विक्—पुरोहित; दक्षिणा—पुरोहितों को मिलने वाली भेंटें; विधान—विधि; योग—तथा साधनों का; उपपत्त्या—करने से; दुरधिगमः—अप्राप्य; अपि—यद्यपि; भगवान्—भगवान्; भागवत-वात्सल्यतया—भक्त पर वत्सलता के कारण; सु-प्रतीकः—अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किये; आत्मानम्—अपने आपको; अपराजितम्—दुर्जेय; निज-जन—भक्त की; अभिप्रेत-अर्थ—कामना; विधित्सया—पूर्ण करने; गृहीत-हृदयः—जिनका मन आकृष्ट हो गया हो; हृदयङ्गमम्—मोहक; मनः-नयन-आनन्दन—मन तथा नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले; अवयव—अंगों से; अभिरामम्—सुन्दर; आविश्चकार—प्रकट किया।

यज्ञ में भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के सात दिव्य साधन हैं—(१) बहुमूल्य सामग्रियों या खाद्य पदार्थों का अर्पण (द्रव्य); (२) देश-अनुरूप कार्य करना, (३) काल-अनुरूप कार्य करना, (४) स्तुति अर्पण (मंत्र) ( ) पुरोहित लगाना (ऋ त्विक), (६) पुरोहितों को दान देना (दक्षिणा) तथा (७) विधि-नियमों का पालन करना। किन्तु सदैव ही इन सामग्रियों से भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तो भी ईश्वर अपने भक्त पर वत्सल रहते हैं। अतः जब भक्त महाराज नाभि ने शुद्ध मन से अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति सहित प्रवर्ग्य यज्ञ करते हुए ईश्वर की आराधना और प्रार्थना की तो अपने भक्तों पर वत्सलता के कारण परम कृपालु भगवान् राजा नाभि के समक्ष अपने दुर्जेय तथा चतुर्भुजी आकर्षक रूप में प्रकट हुए। इस प्रकार से भगवान् ने अपने भक्त की मनोकामना पूर्ण करने के लिए अपने भक्त के समक्ष अपना मनोहर रूप प्रकट किया। यह रूप भक्तों के मन तथा नेत्रों को प्रमुदित करने वाला है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.) में स्पष्ट कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"भक्तियोग के द्वारा ही मुझ परम पुरुष को यथारूप में जाना जा सकता है। इस प्रकार भक्तियोग द्वारा मुझे पूर्ण रूप से जानने वाला तुरन्त वैकुण्ठ जगत में प्रवेश कर सकता है।"

भगवान् को समझने और देखने का एकमात्र उपाय है भक्ति करना। यद्यपि महाराज नाभि ने निर्दिष्ट कर्तव्यों तथा यज्ञों का पालन किया, किन्तु तो भी यही समझना चाहिए कि ईश्वर उनके यज्ञों के

कारण नहीं, अपितु उनकी भक्ति के कारण उनके समक्ष प्रकट हुए। इसी हेतु ईश्वर उनके समक्ष अपने सुन्दर रूप में प्रकट होने के लिए राजी हुए। *ब्रह्म-संहिता* (.३०) में बताया गया है कि भगवान् अपने आदि रूप में परम सुन्दर हैं—*वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम्*—यद्यपि भगवान् श्याम रंग के हैं किन्तु वे अत्यधिक सुन्दर हैं।

अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि
विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुहवनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं
स्फुटकिरणप्रवरमुकुटकुण्डलकटककटिसूत्रहारकेयूरनूपुराद्यङ्गभूषणविभूषितमृत्विक्सदस्यगृहपतयोऽध
ना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमानमर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; ह—निश्चय ही; तम्—उसको; आविष्कृत-भुज-युगल-द्वयम्—जो चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए; हिरण्मयम्—अत्यन्त चमकीला; पुरुष-विशेषम्—समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ, पुरुषोत्तम; कपिश-कौशेय-अम्बर-धरम्—रेशमी पीताम्बर धारण किये; उरसि—वक्षस्थल पर; विलसत्—सुन्दर; श्रीवत्स—श्रीवत्स नामक; ललामम्—चिह्नयुक्त; दर-वर—शंख से; वन-रुह—कमल पुष्प; वन-माला—वन पुष्पों की माला; अच्छूरि—चक्र; अमृत-मणि—कौस्तुभ मणि; गदा-आदिभिः—गदा तथा अन्य चिह्नों से; उपलक्षितम्—लक्षणों से युक्त होकर; स्फुट-किरण—तेजस्वी, किरण-मण्डित; प्रवर—श्रेष्ठ; मुकुट—मुकुट, किरीट; कुण्डल—कर्णाभूषण, बालियाँ; कटक—कंकण; कटि-सूत्र—करधनी; हार—हार; केयूर—बाजूबंद; नूपुर—पाँवों में पहना जाने वाला आभूषण, पायल; आदि—इत्यादि; अङ्ग—शरीर के; भूषण—आभूषणों से; विभूषितम्—अलंकृत; ऋत्विक्—पुरोहितगण; सदस्य—पार्षद; गृह-पतयः—(तथा) राजा नाभि; अधनाः—निर्धन व्यक्ति; इव—सदृश; उत्तम-धनम्—प्रचुर धनराशि; उपलभ्य—पाकर; स-बहु-मानम्—अत्यन्त सत्कार सहित; अर्हणेन—पूजा सामग्री से; अवनत—झुका कर; शीर्षाणः—अपने शिर (मस्तकों); उपतस्थुः—स्तुति की।

भगवान् विष्णु राजा नाभि के समक्ष चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए। वे अत्यन्त तेजोमय थे और समस्त महापुरुषों में सर्वोत्तम प्रतीत होते थे। वे अधोभाग में रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे; उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न था, जो सदैव शोभा देता है। उनके चारों हाथों में शंख, कमल, चक्र तथा गदा थे उनके गले में वनपुष्पों की माला तथा कौस्तुभमणि थी। वे मुकुट, कुण्डल, कंकण, करधनी, मुक्ताहार, बाजूबंद, नूपुर तथा अन्य रत्नजटित आभूषणों से शोभित थे। भगवान् को अपने समक्ष देखकर राजा नाभि, उनके पुरोहित तथा पार्षद वैसा ही अनुभव कर रहे थे जिस प्रकार किसी निर्धन को सहसा अथाह धनराशि प्राप्त हुई हो जाए। उन्होंने भगवान् का स्वागत किया, आदरपूर्वक प्रणाम किया तथा स्तुति करके वस्तुएँ भेंट कीं।

तात्पर्य : यहाँ पर स्पष्ट बताया गया है कि भगवान् सामान्य मनुष्य की तरह नहीं प्रकट हुए। वे राजा नाभि तथा उनके पार्षदों के समक्ष सर्वश्रेष्ठ पुरुष (पुरुषोत्तम) के रूप में प्रकट हुए। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* भगवान् भी जीवित प्राणी हैं, किन्तु वे परम पुरुष हैं।

भगवद्गीता (७.७) में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—हे धनंजय, कोई भी सत्य मुझसे श्रेष्ठ नहीं।'' भगवान् श्रीकृष्ण से बढ़कर आकर्षक या प्रामाणिक अन्य कोई नहीं। ईश्वर तथा सामान्य प्राणी में यही अन्तर है। भगवान् विष्णु की दिव्य देह के इस विवरण द्वारा भगवान् विष्णु में तथा अन्य प्राणियों से सरलता से विभेद किया जा सकता है। फलतः महाराज नाभि ने अपने पुरोहितों तथा पार्षदों समेत भगवान् को नमस्कार किया और अनेक सामग्रियों से उनकी पूजा की। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः*—''इसे प्राप्त करके मनुष्य सोचता है कि इससे बड़ा अन्य लाभ नहीं है।'' जब कोई भगवान् का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है, तो उसे यही लगता है कि उसने सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्राप्त कर ली है। *रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते*—जब उच्चतर स्वाद मिलने लगता है, तो उसकी चेतना स्थिर हो जाती है। भगवान् का दर्शन कर लेने के बाद किसी भौतिक वस्तु के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता। तब मनुष्य भगवान् की उपासना में स्थिर हो जाता है।

ऋत्विज ऊचुः

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति
पुमान्प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी
रूपनिरूपणम्; सकलजननिकायवृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते. ॥ ४॥

शब्दार्थ

ऋत्विजः ऊचुः—ऋत्विजों ने कहा; अर्हसि—(स्वीकार) करें; मुहुः—पुनः पुनः; अर्हत्-तम—हे श्रेष्ठ पूज्य पुरुष; अर्हणम्—पूजा; अस्माकम्—हम सब की; अनुपथानाम्—जो आपके दास हैं; नमः—नमस्कार है; नमः—नमस्कार; इति—इस प्रकार; एतावत्—यहाँ तक; सत्—श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा; उपशिक्षितम्—सिखाये गये; कः—कौन; अर्हति—समर्थ है; पुमान्—मनुष्य; प्रकृति—भौतिक प्रकृति के; गुण—गुणों के; व्यतिकर—रूपान्तरों में; मतिः—जिसका मन (मग्न है); अनीशः—असमर्थ; ईश्वरस्य—भगवान् के; परस्य—परम; प्रकृति-पुरुषयोः—तीनों गुणों के अन्तर्गत; अर्वाक्तनाभिः—जो वहाँ तक नहीं पहुँचते अथवा जो इसी संसार के हैं; नाम-रूप-आकृतिभिः—नामों, रूपों तथा गुणों से; रूप—आपकी प्रकृति या स्थिति का; निरूपणम्—निश्चय करना; सकल—समस्त; जन-निकाय—मानव जाति का; वृजिन—पाप कर्म; निरसन—मिटाने वाले; शिवतम—अत्यन्त मंगलमय; प्रवर—श्रेष्ठतम; गुण-गण—दिव्य गुणों का; एक-देश—एक अंश; कथनात्—कथन से; ऋते—केवल।

ऋत्विजगण इस प्रकार ईश्वर की स्तुति करने लगे—हे परम पूज्य, हम आपके दास मात्र हैं। यद्यपि आप पूर्ण हैं, किन्तु अहैतुकी कृपावश ही सही, हम दासों की यत्किंचित सेवा स्वीकार करें। हम आपके दिव्य रूप से परिचित नहीं हैं, किन्तु जैसा वेदों तथा प्रामाणिक आचार्यों ने हमें शिक्षा दी है, उसके अनुसार हम आपको बारम्बार नमस्कार करते हैं। जीवात्माएँ प्रकृति के गुणों

के प्रति अत्यधिक आकर्षित होती हैं, अतः वे कभी भी पूर्ण नहीं हैं, किन्तु आप समस्त भौतिक अवधारणाओं से परे हैं। आपके नाम, रूप तथा गुण सभी दिव्य हैं और व्यावहारिक बुद्धि की कल्पना के परे हैं। भला आपकी कल्पना कौन कर सकता है? इस भौतिक जगत में हम केवल नाम तथा गुण देख पाते हैं। हम आपको अपना नमस्कार तथा स्तुति अर्पित करने के अतिरिक्त और कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। आपके शुभ दिव्य गुणों के कीर्तन से समस्त मानव जाति के पाप धुल जाते हैं। यही हमारा परम कर्तव्य है और इस प्रकार हम आपकी अलौकिक स्थिति को अंशमात्र ही जान सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् को भौतिक अनुभूति से कुछ भी सरोकार नहीं। यहाँ तक कि अद्वैतवादी शंकराचार्य भी यही कहते हैं—*नारायणः परोऽव्यक्तात्*—''भगवान्, नारायण, भौतिक अनुभूति से परे (अव्यक्त) हैं।'' हम भगवान् के रूप तथा लक्षणों को मन से गढ़ नहीं सकते। हमें वैदिक शास्त्रों में दिये गये उनके रूप तथा कर्म को मात्र स्वीकार कर लेना चाहिए। *ब्रह्म-संहिता* (.२९) में कहा गया है—

चिन्तामणि-प्रकर-सद्मसु कल्प-वृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मी-सहस्र-शत-सम्भ्रम-सेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि पुरुष गोविन्द की उपासना करता हूँ जो गायों को पालने वाले हैं। ये गाएँ सभी कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हैं, ये करोड़ों कल्पतरुओं से घिरी दिव्य मणियों से बने घरों में रहती हैं। उनकी सेवा सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ अत्यन्त आदर सहित करती हैं।'' हमें उनके स्वरूप एवं लक्षणों का कुछ-कुछ अनुभव वैदिक साहित्य में प्रायः उल्लेखों एवं ब्रह्मा, नारद, शुकदेव गोस्वामी जैसे सत्पुरुषों द्वारा दिये गये प्रामाणिक कथनों से प्राप्त होता है। श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—*अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियैः*—''हम अपनी भौतिक इन्द्रियों से श्रीकृष्ण के नाम, रूप तथा गुण के विषय में अनुमान नहीं कर पाते।'' इसीलिए ईश्वर के अन्य नाम भी हैं—*अधोक्षज* तथा *अप्राकृत,* जिनसे सूचित होता है कि वे सभी भौतिक इन्द्रियों से परे हैं। भगवान् अपने भक्तों पर

अहैतुकी कृपावश ही महाराज नाभि के समक्ष प्रकट हुए। इसी प्रकार जब हम भगवान् की भक्ति में रत रहते हैं, तो वे स्वयं दर्शन देते हैं—*सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयम् एव स्फुरत्यद:।* भगवान् को समझने की केवल यही विधि है। जैसाकि *भगवद्गीता* में इनकी पुष्टि हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:*—"भक्ति के द्वारा ही भगवान् को जाना जा सकता है।" इसके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है। हमें प्रामाणिक विद्वानों तथा शास्त्रों के वचनों को ही मानकर भगवान् के सम्बन्ध में चिन्तन करना चाहिए। हम ईश्वर के रूपों तथा लक्षणों की मनगढ़ंत कल्पना नहीं कर सकते।

परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

परिजन—आपके सेवकों द्वारा; अनुराग—अत्यन्त आह्लाद से; विरचित—की गई; शबल—गद्गद् वाणी से; संशब्द—स्तुति से; सलिल—जल; सित-किसलय—नव कोपलों से युक्त वृंत्त (पल्लव); तुलसिका—तुलसीदल; दूर्वा-अङ्कुरै:—(तथा) नई उगी दूब से; अपि—भी; सम्भृतया—किया गया; सपर्यया—पूजा द्वारा; किल—निस्सन्देह; परम—हे परमेश्वर; परितुष्यसि—संतुष्ट हो जाते हो।.

हे परमेश्वर, आप सभी प्रकार से पूर्ण हैं। जब आपके भक्त गद्गद् वाणी से आपकी स्तुति करते हैं तथा आह्लादवश तुलसीदल, जल, पल्लव तथा दूब के अंकुर चढ़ाते हैं, तो आप निश्चय ही परम सन्तुष्ट होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् को प्रसन्न करने के लिए न तो प्रचुर धन की आवश्यकता है, न शिक्षा या ऐश्वर्य की। यदि कोई प्रेम तथा आह्लादपूर्वक उनमें पूर्णतया मग्न रहे तो केवल कुछ पुष्प तथा जल चढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति*—"यदि कोई प्रेम तथा भक्तिवश मुझको पत्ती, फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।"

भगवान् को केवल भक्ति से प्रसन्न किया जा सकता है इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि ईश्वर केवल अनुराग (भक्ति) से प्रसन्न होते हैं। *हरि भक्ति विलास* में *गौतमीय तंत्र* का निम्नलिखित उद्धरण आया है—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वम् आत्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सल:॥

"श्रीकृष्ण केवल तुलसीदल तथा अंजुली भर जल चढ़ाने वाले भक्त के हाथों बिक जाते हैं, क्योंकि वे अपने भक्तों के प्रति परम वत्सल हैं।" भगवान् की अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपा रहती है, अत: निर्धन से निर्धन व्यक्ति जो भक्तिवश थोड़ा सा जल तथा एक पुष्प भी उन पर चढ़ाता है उससे वे प्रसन्न हो जाते हैं। अपने भक्तों के प्रति उनकी वत्सलता के कारण ही ऐसा होता है।

अथानयापि न भवत इज्यययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे. ॥ ७॥

शब्दार्थ

अथ—अन्यथा; अनया—यह; अपि—भी; न—नहीं; भवतः—आपका; इज्यया—यज्ञ द्वारा; उरुभार-भरया—तमाम सामग्री के भार से बोझिल; समुचितम्—वांछित, आवश्यक; अर्थम्—उपयोग; इह—यहाँ; उपलभामहे—हम देखते हैं।.

हमने आपकी पूजा में आपको अनेक वस्तुएँ अर्पित की हैं और आपके लिए अनेक यज्ञ किये हैं, किन्तु हम सोचते हैं कि आपको प्रसन्न करने के लिए इतने सारे आयोजनों की कोई आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी का कहना है कि यदि बिना भूख के किसी के सामने ढेर सारा भोजन रख दिया जाये तो उसका कोई महत्त्व नहीं होता। बड़े-बड़े याज्ञिक अनुष्ठानों में भगवान् को तुष्ट करने के लिए अनेक वस्तुएँ एकत्र की जाती हैं, किन्तु यदि ईश्वर के प्रति लगाव या प्रेम नहीं है, तो यह सारा आयोजन निरर्थक है। ईश्वर स्वयं में पूर्ण हैं और उनको हमसे कुछ नहीं चाहिए किन्तु यदि हम उन्हें थोड़ा जल, एक फूल तथा एक तुलसीदल भेंट कर दें तो वे इन्हें स्वीकार कर लेंगे। भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र साधन भक्ति है। बड़े-बड़े यज्ञों के आयोजन की कोई आवश्यकता नहीं होती। पुरोहितों को यह सोच कर विषाद हो रहा था कि वे भक्ति के पथ पर नहीं हैं और ईश्वर उनके यज्ञ से प्रसन्न नहीं हैं।

आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति. ॥ ८॥

शब्दार्थ

आत्मनः—अपने आप; एव—निश्चय ही; अनुसवनम्—प्रत्येक क्षण; अञ्जसा—प्रत्यक्ष; अव्यतिरेकेण—बिना व्यवधान के; बोभूयमान—वर्धमान; अशेष—असीम; पुरुष-अर्थ—जीवन-लक्ष्य; स्व-रूपस्य—आपका वास्तविक रूप; किन्तु—लेकिन; नाथ—हे ईश्वर; आशिषः—भौतिक सुख हेतु आशीर्वाद; आशासानानाम्—हम सबका जिन्हें सदैव कामना रहती है; एतत्—यह; अभिसंराधन—आपका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए; मात्रम्—केवल; भवितुम् अर्हति—हो सकता है।.

आप में प्रतिक्षण प्रत्यक्षतया, स्वयमेव, निरन्तर एवं असीमत: जीवन के समस्त लक्ष्यों एवं

ऐश्वर्यों की वृद्धि हो रही है। दरअसल, आप स्वयं ही असीम सुख तथा आनन्द से युक्त हैं। हे ईश्वर, हम तो सदा ही भौतिक सुखों के फेर में रहते हैं। आपको इन समस्त याज्ञिक आयोजनों की आवश्यकता नहीं है। ये तो हमारे लिए हैं जिससे हम आपका आशीर्वाद पा सकें। ये सारे यज्ञ हमारे अपने कर्म-फल के लिए किये जाते हैं और वास्तव में आपको इनकी कोई अवश्यकता ही नहीं है।

तात्पर्य : आत्म-निर्भर (सम्पूर्ण) होने के कारण परमेश्वर को बड़े-बड़े यज्ञों की आवश्यकता नहीं है। जो अपने स्वार्थ के लिए भौतिक ऐश्वर्य की कामना करते हैं उनके लिए सकाम कर्म की आवश्यकता है। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धनः*—यदि हम परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कर्म नहीं करते तो हम माया के कार्यों में लग जाते हैं। हम किसी विशाल मन्दिर का निर्माण करके हजारों डालर व्यय कर सकते हैं किन्तु ईश्वर को ऐसे मन्दिर की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर के पास अपने निवास के लिए ऐसे लाखों मन्दिर हैं, उन्हें हमारे प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें ऐश्वर्य के कार्य कदापि नहीं चाहिए। ऐसा कार्य तो हमारे आत्म-लाभ के लिए होता है। क्योंकि यदि हम अपने धन को विशाल मन्दिर-निर्माणकार्य में लगा देते हैं, तो हम अपने प्रयास के बन्धन से मुक्त रहते हैं। यह हमारे कल्याण के लिए है। साथ ही, यदि हम भगवान् के लिए कुछ अच्छा कार्य करते हैं, तो वे प्रसन्न होकर हमें आशीर्वाद देते हैं। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ऐसे विशाल आयोजन ईश्वर के लिए नहीं, अपितु हमारे अपने लिए होते हैं। यदि हम किसी प्रकार से ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त कर सकें, तो हमारा अन्तःकरण पवित्र हो सकता है और हम भगवान् के धाम वापस जाने के भागी बन सकते हैं।

तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष प्रकर्षकरुणया स्वमहिमानं
चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन्स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; यथा—जिस प्रकार; बालिशानाम्—मूर्खों का; स्वयम्—स्वयं; आत्मनः—अपना; श्रेयः—कल्याण; परम्—परम; अविदुषाम्—अज्ञानियों का; परम-परम-पुरुष—हे ईश्वरों के भी ईश, इशाधीश; प्रकर्ष-करुणया—प्रभूत अहैतुक करुणावश; स्व-महिमानम्—अपनी व्यक्तिगत महिमा; च—तथा; अपवर्ग-आख्यम्—अपवर्ग (मुक्ति) कहलाने वाली; उपकल्पयिष्यन्—देने की इच्छा से; स्वयम्—स्वयं; न अपचितः—समुचित रीति से पूजा न होने से; एव—यद्यपि; इतर-वत्—सामान्य पुरुष की भाँति; इह—यहाँ; उपलक्षितः—(आप) हैं और (हमारे द्वारा) देखे जा रहे हैं।.

हे ईशाधश, हम धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से पूर्णतया अनजान हैं क्योंकि हमें जीवन-लक्ष्य का ठीक से पता नहीं है। आप यहाँ हमारे समक्ष साक्षात् इस प्रकार प्रकट हुए हैं जिस प्रकार कोई व्यक्ति जानबूझ कर अपनी पूजा कराने के लिए आया हो। किन्तु ऐसा नहीं है, आप तो इसलिए प्रकट हुए हैं जिससे हम आपके दर्शन कर सकें। आप अपनी अगाध तथा अहैतुकी करुणावश हमारा उद्देश्य पूरा करने, हमारा हित करने तथा अपवर्ग का लाभ प्रदान करने हेतु प्रकट हुए हैं। हम अपनी अज्ञानता के कारण आपकी ठीक से उपासना भी नहीं कर पा रहे हैं, तो भी आप पधारे हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु स्वयं यज्ञ-स्थल पर उपस्थित हुए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका कोई निजी स्वार्थ था। इसी प्रकार मन्दिर में अर्चा-विग्रह रहता है। मात्र अपनी अहैतुकी करुणा से भगवान् उपस्थित होते हैं जिससे हम उनका दर्शन पा सकें। हम, दिव्य दृष्टि न होने के कारण ईश्वर के सत्-चित्-आनन्द विग्रह को नहीं देख सकते। हमें पत्थर तथा लकड़ी के समान स्थूल पदार्थ दिखाई पड़ते हैं इसीलिए वे मन्दिरों में पत्थर तथा लकड़ी का रूप धारण करके हमारी सेवा स्वीकारते हैं। यह ईश्वर की अहैतुकी कृपा का प्रदर्शन है। यद्यपि उनकी ऐसी वस्तुओं के प्रति कोई रुचि नहीं है, किन्तु हमारी प्रेमाभक्ति प्राप्त करने के लिए वे ऐसा करते हैं। वास्तव में हम भगवान् की पूजा के लिए उपयुक्त सामग्रियों की भेंट चढ़ा भी नहीं सकते क्योंकि हमें कोई ज्ञान नहीं है। मात्र अहैतुकी कृपावश ही महाराज नाभि के यज्ञ-स्थल में परमेश्वर प्रकट हुए।

अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्निजपुरुषेक्षणविषय आसीत्. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; अयम्—यह; एव—निश्चय ही; वरः—आशीर्वाद; हि—निस्सन्देह; अर्हत्-तम—पूज्यतम; यर्हि—क्योंकि; बर्हिषि—यज्ञ में; राज-ऋषेः—राजा नाभि का; वरद-ऋषभः—वरदायकों में श्रेष्ठ; भवान्—आप; निज-पुरुष—अपने भक्तों के; ईक्षण-विषयः—देखने योग्य वस्तु; आसीत्—हो गई है।

हे पूज्यतम, आप समस्त वरदायकों में श्रेष्ठ हैं और राजर्षि नाभि की यज्ञशाला में आपका प्राकट्य हमें आशीर्वाद देने के लिए हुआ है। चूँकि हम आपको देख पाये हैं इसलिए आपने हमें सर्वाधिक मूल्यवान वर प्रदान किया है।

तात्पर्य : *निज-पुरुष-ईक्षण-विषय— भगवद्गीता* (९.२९) में श्रीकृष्ण कहते हैं, *समोऽहं*

सर्वभूतेषु—"मैं किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी का पक्षपात करता हूँ; जीवमात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे प्रिय मित्र हैं और मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका प्रिय हूँ, उनमें हूँ।"

भगवान् सबके लिए समान हैं। इस अर्थ में न तो उनका कोई शत्रु है, न कोई मित्र। प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों का फल भोगता है और ईश्वर सबों के हृदय में स्थित होकर सबों को देखते तथा उन्हें वांछित फल देते हैं। जिस प्रकार भक्तगण ईश्वर को सर्वभावेन संतुष्ट देखना चाहते हैं उसी प्रकार से ईश्वर अपने भक्तों के समक्ष अपने को उपस्थित करने के लिए इच्छुक रहते हैं। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.८) में कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का विनाश तथा धर्म की फिर से स्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।"

इस प्रकार श्रीकृष्ण का आविर्भाव अपने भक्तों को भवबंधन से छुटकारा दिलाने तथा संतोष देने के लिए होता है। वे केवल दुष्टों को मारने के लिए अवतार नहीं लेते क्योंकि इस कार्य को तो उनके दूत भी कर सकते हैं। महाराज नाभि के यज्ञस्थल में भगवान् विष्णु का प्रकट होना राजा तथा उनके अनुचरों को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कुछ न था, अन्यथा वहाँ उनके उपस्थित होने का कोई प्रयोजन नहीं था।

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगण परममङ्गलायनगुणगणकथनोऽसि. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

असङ्ग—वैराग्य से; निशित—दृढ़ किया है; ज्ञान—ज्ञान की; अनल—अग्नि से; विधूत—हटाया गया; अशेष—असीम; मलानाम्—जिनकी मलिन वस्तुएँ; भवत्-स्वभावानाम्—जिन्होंने आपके गुण प्राप्त कर लिए हैं; आत्म-आरामाणाम्—जो आत्म-तुष्ट है, आत्माराम; मुनीनाम्—मुनियों का; अनवरत—लगातार, निरन्तर; परिगुणित—स्मरण करते; गुण-गण—जिसके सद्गुण समूह; परम-मङ्गल—परम-आनन्द; आयन—उत्पन्न करता है; गुण-गण-कथनः—जिसके लक्षणों का जप; असि—तुम हो।

हे ईश्वर, समस्त विचारवान मुनि तथा साधु पुरुष निरन्तर आपके दिव्य गुणों का गान करते

रहते हैं। इन मुनियों ने अपनी ज्ञान-अग्नि से अपार मलराशि को पहले ही दग्ध कर दिया है और इस संसार से अपने वैराग्य को सुदृढ़ किया है। इस प्रकार वे आपके गुणों को ग्रहण कर आत्म-तुष्ट हैं। तो भी जिन्हें आपके गुणों के गान में परम-आनन्द आता है उनके लिए भी आपका दर्शन दुर्लभ है।

तात्पर्य : महाराज नाभि के यज्ञस्थल में समवेत पुरोहितों ने भगवान् विष्णु के द्वारा साक्षात् दर्शन दिये जाने की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपने को परम धन्य माना। ईश्वर का दर्शन उन महान् सन्तों के लिए भी, जिन्होंने भौतिक संसार से वैराग्य ले लिया है और जिनके हृदय ईश्वर की महिमा का निरन्तर जप करने के कारण विमल हैं, दुर्लभ है। ऐसे मनुष्य ईश्वर के दिव्य गुणों का जप करके संतुष्ट रहते हैं। उन्हें ईश्वर के प्राकट्य की आवश्यकता नहीं रहती। ऋषिगण यह इंगित करना चाहते हैं कि ईश्वर का साक्षात्कार महान् साधुओं के लिए भी दुर्लभ है, किन्तु वे उन पर इतने प्रसन्न हुए कि वे साक्षात् प्रकट हो गये। इसलिए *समस्त* याजक अत्यधिक कृतकृत्य हुए।

अथ कथञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब भी; कथञ्चित्—किसी प्रकार से; स्खलन—ठोकर खाने; क्षुत्—भूख; पतन—गिरने; जृम्भण—जम्हाई लेने; दुरवस्थान—प्रतिकूल स्थिति में रहने के कारण; आदिषु—इत्यादि; विवशानाम्—असमर्थ; नः—हम सबका; स्मरणाय—याद रखने; ज्वर-मरण-दशायाम्—मृत्यु के समय तेज ज्वर की दशा में; अपि—भी; सकल—समस्त; कश्मल—पाप; निरसनानि—दूर करने वाले; तव—तुम्हारे; गुण—गुण; कृत—कर्म; नामधेयानि—नाम; वचन-गोचराणि—उच्चरित हो सकने वाले; भवन्तु—हो सकें।

हे ईश्वर, सम्भव है कि हम कँपकँपाने, भूखे रहने, गिरने, जम्हाई लेने या ज्वर के कारण मृत्यु के समय शोचनीय रुग्ण अवस्था में रहने के कारण आपके नाम का स्मरण न कर पाएँ। अतः हे ईश्वर, हम आपकी स्तुति करते हैं क्योंकि आप भक्तों पर वत्सल रहते हैं। आप हमें अपने पवित्र नाम, गुण तथा कर्म को स्मरण कराने में सहायक हों जिससे हमारे पापी जीवन के सभी पाप दूर हो जाँय।

तात्पर्य : जीवन की वास्तविक सफलता है *अन्ते नारायण-स्मृति* अर्थात् मृत्यु के समय ईश्वर के पवित्र, नाम, गुण तथा रूप का स्मरण। भले ही हम मन्दिरों में ईश्वर की पूजा में लगे रहें, किन्तु भौतिक

परिस्थितियाँ इतनी कठिन तथा दुस्तर हैं कि मृत्यु के समय रुग्ण अवस्था या मानसिक विक्षिप्तता के कारण हम ईश्वर को स्मरण करना भूल सकते हैं। इसीलिए हमें ईश्वर से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि हमें मृत्यु के समय अपने चरणकमल का स्मरण करने के योग्य अवश्य रखें, क्योंकि उस समय हमारी स्थिति दयनीय होगी। इस प्रसंग के लिए हमें *श्रीमद्भागवत* (६-२.९-१० तथा १४-१) देखना चाहिए।

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम्. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

किञ्च—इसके अतिरिक्त; अयम्—यह; राज-ऋषिः—पवित्र राजा (नाभि); अपत्य-कामः—सन्तान का इच्छुक; प्रजाम्—एक पुत्र; भवादृशीम्—आपके ही सदृश; आशासानः—आशा युक्त; ईश्वरम्—परम नियन्ता; आशिषाम्—आशीर्वादों का; स्वर्ग-अपवर्गयोः—स्वर्ग लोक तथा मुक्ति का; अपि—यद्यपि; भवन्तम्—आपको; उपधावति—उपासना करता है; प्रजायाम्—लड़के-बच्चे, सन्तान; अर्थ-प्रत्ययः—जीवन का परम लक्ष्य मानते हुए; धन-दम्—दानी को; इव—सदृश; अधनः—निर्धन पुरुष; फलीकरणम्—थोड़ी सी भूसी।.

हे ईश्वर, आपके समक्ष ये महाराज नाभि, हैं जिनके जीवन का परम लक्ष्य आपके ही समान पुत्र प्राप्त करना है। हे भगवन्, उसकी स्थिति उस व्यक्ति जैसी है, जो एक अत्यन्त धनवान पुरुष के पास थोड़ा सा अन्न माँगने के लिए जाता है। पुत्रेच्छा से ही वे आपकी उपासना कर रहे हैं यद्यपि आप उन्हें कोई भी उच्चस्थ पद प्रदान कर सकने में समर्थ हैं—चाहे वह स्वर्ग हो या भगवद्धाम का मुक्ति-लाभ।

तात्पर्य : पुरोहित कुछ-कुछ झेंपकरने लगे थे कि राजा नाभि ईश्वर से पुत्र का वर प्राप्त करने के लिए इतना बड़ा यज्ञ कर रहे हैं। ईश्वर उन्हें स्वर्ग या वैकुण्ठलोक भेज सकते थे। श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमें शिक्षा दी है कि भगवान् तक कैसे पहुँचा जाये और कैसे श्रेष्ठ वर माँगा जाये। वे कहते हैं—*न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।* वे भगवान् से कोई भौतिक वस्तु नहीं माँगना चाहते। भौतिक ऐश्वर्य का अर्थ है धन, उत्तम कुल, सुन्दर पत्नी तथा अनेक अनुचर, किन्तु बुद्धिमान-भक्त ईश्वर से ऐसी वस्तुओं की याचना नहीं करता। बस उसकी तो प्रार्थना है—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।* वे ईश्वर की प्रिय सेवा में निरन्तर लगे रहना चाहते हैं। वे न तो स्वर्ग चाहते हैं, न भवबन्धन से मुक्ति। यदि ऐसा होता, तो श्री चैतन्य महाप्रभु ने कदापि यह न कहा होता—*मम*

जन्मनि जन्मनि। जब तक कोई भक्त भक्त बना रहता है, उसके लिए इसका कोई महत्त्व नहीं रहता कि वह जन्म-जन्मांतर जन्म लेता रहेगा अथवा नहीं। शाश्वत स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ है भगवान् के धाम को वापस जाना। भक्त को भौतिक वस्तुओं से कोई सरोकार नहीं रहता। यद्यपि नाभि महाराज विष्णु जैसा पुत्र चाहते थे, किन्तु ईश्वर के समान पुत्रेच्छा भी इन्द्रिय-तृप्ति का एक रूप है। शुद्ध भक्त तो ईश्वर की प्रेमाभक्ति में लिप्त रहना चाहता है।

को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया
माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषयविषरयानावृतप्रकृतिरनुपासितमहच्चरणः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

कः वा—ऐसा कौन पुरुष है; **इह**—संसार में; **ते**—तुम्हारा (श्रीभगवान् का); **अपराजितः**—न पराजित हो सकने वाला; **अपराजितया**—अपराजित द्वारा; **मायया**—माया के द्वारा; **अनवसित-पदव्य**—जिसका पथ निर्दिष्ट न किया जा सके; **अनावृत-मतिः**—जिसकी बुद्धि मोहग्रस्त नहीं है; **विषय-विष**—विष तुल्य भौतिक सुख का; **रय**—पथ से होकर; **अनावृत**—खुला हुआ; **प्रकृतिः**—जिसका स्वभाव; **अनुपासित**—विना उपासना किये; **महत्-चरणः**—परम भक्तों के चरणकमल।

हे ईश्वर, जब तक मनुष्य परम भक्तों के चरणकमलों की उपासना नहीं करता, तब तक उसे माया परास्त करती रहेगी और उसकी बुद्धि मोहग्रस्त बनी रहेगी। दरअसल, ऐसा कौन है जो विष तुल्य भौतिक सुख की तरंगों में न बहा हो! आपकी माया दुर्जेय है। न तो इस माया के पथ को कोई देख सकता है, न इसकी कार्य-प्रणाली को ही कोई बता सकता है।

तात्पर्य : महाराज नाभि पुत्र-प्राप्ति के लिए महान् यज्ञ करने पर तुले थे। हो सकता है कि उनका पुत्र भगवान् के ही समान उत्तम हो, किन्तु ऐसी इच्छा चाहे छोटी हो या बड़ी, माया के प्रभाव से ही मन में आती है। भक्त कभी भी अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए किसी वस्तु की कामना नहीं करता। इसीलिए भक्ति को निष्काम (*अन्याभिलाषिता-शून्य*) कहा गया है। प्रत्येक प्राणी माया से प्रभावित है और सभी प्रकार की भौतिक कामनाओं में उलझा हुआ है। महाराज नाभि भी इसके अपवाद न थे। माया के प्रभाव से बचने का एकमात्र उपाय है कि बड़े-बड़े भक्तों की सेवा की जाये (*महच्चरण-सेवा*)। महान् भक्त के चरणकमलों की उपासना किये बिना माया के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। इसीलिए श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा*—"ऐसा कौन है, जो वैष्णव के चरणकमलों की सेवा किये बिना माया के चंगुल से बच सका हो।" माया अपराजित है और उसका प्रभाव भी अपराजित है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में भी हुई

है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यताया*—"मेरी त्रिगुणमयी दैवी शक्ति अपराजेय है।"

माया के इतने बड़े प्रभाव को भक्त ही लाँघ सकता है। यह महाराज नाभि का दोष न था कि उन्होंने पुत्र की इच्छा व्यक्त की। वे ऐसा पुत्र चाहते थे, जो भगवान् के ही सदृश सर्वश्रेष्ठ हो। ईश्वर के भक्त की संगति से भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा नहीं रह जाती। इसकी पुष्टि *चैतन्य चरितामृत* (मध्य २२.४) में की गई है—

'साधु संग,' 'साधु संग' सर्व-शास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

तथा (मध्य २२.१)—

महत्-कृपा बिना कोन कर्मे 'भक्ति' नय।

कृष्ण-भक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय॥

यदि कोई माया के प्रभाव से बचना चाहता है और घर को लौटने अर्थात् भगवान् के धाम जाने का इच्छुक है, तो उसे साधु (भक्त) की संगति करनी चाहिए। सभी शास्त्रों का यही मत है। भक्त के रंचमात्र सत्संग से माया के चंगुल से छूटा जा सकता है। शुद्ध भक्त की कृपा के बिना कोई किसी भी प्रकार से माया से नहीं बच सकता। निश्चित ही, ईश्वर की प्रेमाभक्ति पाने के लिए शुद्ध भक्त की संगति आवश्यक है। साधु संग के बिना माया के चंगुल से छूटना कठिन है। *श्रीमद्भागवत* (७..३२) में प्रह्लाद महाराज कहते हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥

जब तक कोई सिर पर महान् पुरुष (साधु) की धूलि को धारण नहीं करता, तब तक वह ईश्वर का भक्त नहीं बन सकता (*पादरजोऽभिषेकं*)। शुद्ध भक्त निष्किंचन होता है—अर्थात् उसे इस संसार के भोग की कोई इच्छा नहीं होती। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे भक्त के गुणों को प्राप्त करने के लिए उसकी शरण में जाये। शुद्ध भक्त माया के चंगुल से तथा उसके प्रभाव से सदैव मुक्त रहने वाला है।

यदु ह वाव तव पुनरदभ्रकर्तरिह समाहूतस्तत्रार्थधियां मन्दानां नस्तद्यद्देवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान्प्रतिवोढुमविदुषाम्. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; उ ह वाव—निस्संदेह; तव—तुम्हारा; पुनः—फिर; अदभ्र-कर्तः—हे ईश्वर, जो अनेक कर्म करता है; इह—यहाँ, इस-स्थल में; समाहूतः—आमंत्रित; तत्र—अतः; अर्थ-धियाम्—भौतिक कामनाओं को पूरा करने के लिए इच्छुक; मन्दानाम्—कम बुद्धि वाले, मूढ़; नः—हम सबका; तत्—वह; यत्—जो; देव-हेलनम्—भगवान् की अवहेलना; देव-देव—परम देव; अर्हसि—जो पसन्द आए; साम्येन—समभाव के कारण; सर्वान्—सब कुछ; प्रतिवोढुम्—सहने करते हैं; अविदुषाम्—हम अल्प ज्ञानियों का।

हे ईश्वर, आप अनेक अद्‌भुत कार्य कर सकने में समर्थ हैं। इस यज्ञ के करने का हमारा एकमात्र लक्ष्य पुत्र प्राप्त करना था, अतः हमारी बुद्धि अधिक प्रखर नहीं है। हमें जीवन-लक्ष्य निर्धारित करने का कोई अनुभव नहीं है। निसन्देह भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किये गये इस तुच्छ यज्ञ में आपको आमंत्रित करके हमने आपके चरण कमलों में महान् पाप किया है। अतः हे सर्वेश, आप अपनी अहैतुकी कृपा तथा समदृष्टि के कारण हमें क्षमा करें।

तात्पर्य : ऋत्विजगण निश्चित रूप से अप्रसन्न थे क्योंकि उन्होंने एक तुच्छ कार्य के लिए परमेश्वर को वैकुण्ठ से बुलाया था। शुद्ध भक्त नहीं चाहता कि वृथा ही ईश्वर दर्शन दें। ईश्वर विविध कार्यों में संलग्न रहते हैं और शुद्ध भक्त यह कभी नहीं चाहता कि अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए ऐसे ही उनका दर्शन करे। वह तो केवल उनके अनुग्रह पर आश्रित रहता है और जब ईश्वर प्रसन्न होते हैं, तो भक्त उन्हें प्रत्यक्ष देख सकता है। वैसे परमेश्वर ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा भी अलक्षित रहते हैं। भगवान् का आवाहन करके महाराज नाभि के ऋत्विजों ने अपने को अज्ञानी सिद्ध कर दिया था, तो भी परमेश्वर अपनी अहैतुकी कृपा से प्रकट हुए। इसीलिए सबों ने भगवान् से क्षमा-याचना की।

विद्वानों ने भौतिक लाभ के लिए भगवान् की उपासना की अनुमति नहीं दी है। *भगवद्‌गीता* (७.१६) में कहा गया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"हे अर्जुन! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा करने वाले, जिज्ञासु तथा ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।"

भक्ति की दीक्षा उसी समय प्रारम्भ होती है जब कोई विपदाग्रस्त होता है, धन चाहता है अथवा परम सत्य को जानना चाहता है। किन्तु इस प्रकार ईश्वर के पास जाने वाले लोग वास्तविक भक्त नहीं हैं। उन्हें पवित्र (सुकृतिना) मान लिया जाता है क्योंकि वे परम सत्य के बारे में जिज्ञासा करते हैं। वे ईश्वर के विविध कार्यों को न जानते हुए, भौतिक लाभ के लिए उन्हें वृथा ही तंग करते हैं। किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि तंग किये जाने पर भी ऐसे याचकों की मनोकामना पूर्ण करते हैं। शुद्ध भक्त तो *अन्याभिलाषिता-शून्य* होता है, उसकी उपासना के पीछे कोई उद्देश्य नहीं रहता। वह कर्म या ज्ञान के रूप में माया के प्रभाव द्वारा प्रेरित नहीं होता। शुद्ध भक्त अपनी परवाह किये बिना ईश्वर की आज्ञा-पालन करने के लिए सन्नद्ध रहता है। ऋत्विजगण कर्म तथा भक्ति के अन्तर से पूर्णत: परिचित थे, अत: अपने को सकाम कर्माधीन मानकर उन्होंने ईश्वर से क्षमा-याचना की। उन्हें यह ज्ञात था कि अत्यन्त क्षुद्र कार्य के लिए परमेश्वर को बुलाया गया है।

श्रीशुक उवाच

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दितचरणः सदयमिदमाह. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; निगदेन—गद्य स्तुति द्वारा; अभिष्टूयमानः—आराधित होकर; भगवान्—भगवान्; अनिमिष-ऋषभः—समस्त देवताओं में प्रमुख; वर्ष-धर—भारतवर्ष के सम्राट् राजा नाभिद्वारा; अभिवादित—पूजित होकर; अभिवन्दित—झुककर; चरणः—जिनके पाँव; सदयम्—कृपापूर्वक; इदम्—यह; आह—कहा।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—भारतवर्ष के सम्राट, राजा नाभि द्वारा पूजित ऋत्विजों ने गद्य में (सामान्यत: पद्य में) ईश्वर की स्तुति की और वे सभी उनके चरणकमलों पर झुक गये। देवताओं के अधिपति, परमेश्वर उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुए और वे इस प्रकार बोले।

श्रीभगवानुवाच

अहो बताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद्द्विजदेवकुलम्. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहो—ओह; बत—सचमुच प्रसन्न हूँ; अहम्—मैं; ऋषयः—हे ऋषियो; भवद्भिः—आप लोगों के द्वारा; अवितथ-गीर्भिः—जिनके वचन सत्य हैं; वरम्—वर पाने के लिए; असुलभम्—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है; अभियाचितः—याचना किया हुआ; यत्—वह; अमुष्य—राजा नाभि का; आत्म-जः—पुत्र; मया सदृशः—मेरे समान; भूयात्—हो; इति—इस प्रकार; मम—मेरा; अहम्—मैं; एव—केवल; अभिरूपः—समान; कैवल्यात्—अद्वितीय; अथापि—

तो भी; ब्रह्म-वाद:—ब्राह्मणों के वचन; न—नहीं; मृषा—झूठे; भवितुम्—होना; अर्हति—चाहिए; मम—मेरा; एव—निश्चय ही; हि—चूँकि; मुखम्—मुख; यत्—वह; द्विज-देव-कुलम्—शुद्ध ब्राह्मणों का कुल।

भगवान् बोले—हे ऋषियो, मैं आपकी स्तुतियों से परम प्रसन्न हुआ हूँ। आप सभी सत्यवादी हैं। आप लोगों ने राजा नाभि के लिए मेरे समान पुत्र की प्राप्ति के लिए स्तुति की है, किन्तु ऐसा पाना अति दुर्लभ है। चूँकि मैं अद्वितीय परम पुरुष हूँ और मेरे समान अन्य कोई नहीं है, अत: मुझ जैसा पुरुष पाना सम्भव नहीं है। तो भी आप सभी सयोग्य ब्राह्मण हैं, आपका वचन मिथ्या सिद्ध नहीं होना चाहिए। मैं सुयोग्य ब्राह्मणों को अपने मुख के समान उत्तम मानता हूँ।

तात्पर्य : *अवितथ-गीर्भि:* का अर्थ है ''वे जिनके वचन मिथ्या नहीं हो सकते।'' शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मणों (द्विज) को परमेश्वर के समान शक्तिमान होने का अवसर दिया जाता हैं। ब्राह्मण जो कुछ भी कहे वह न तो असत्य हो सकता है, न बदला जा सकता है। वैदिक आदेशों के अनुसार ब्राह्मण तो भगवान् का मुख है। इसीलिए समस्त संस्कारों में ब्राह्मण को भोजन दिया जाता है, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि जब ब्राह्मण भोजन करता है, तो भगवान् स्वयं भोजन करते हैं। इसी प्रकार, ब्राह्मण जो भी कहता है उसे बदला नहीं जा सकता। महाराज नाभि के यज्ञ में सम्मिलित होने वाले पुरोहित (ऋत्विज) न केवल ब्राह्मण थे, वरन् इतने योग्य थे कि वे देवों अथवा स्वयं ईश्वर के तुल्य थे। यदि ऐसा न होता, तो भला वे भगवान् विष्णु को यज्ञ-स्थल पर किस प्रकार बुला पाते? ईश्वर एक है। उसका किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नहीं है। कलियुग में विभिन्न सम्प्रदाय वाले अपने ईश्वर को दूसरों के ईश्वर से भिन्न मानते हैं, किन्तु यह असम्भव है। ईश्वर एक है और दृष्टिभेद की अवधारणाओं के अनुसार समझा जाता है। इस श्लोक के *कैवल्यात्* शब्द का अर्थ है कि ईश्वर का कोई प्रतियोगी नहीं है। ईश्वर केवल एक है। *श्वेताश्वतर उपनिषद* (६.८) में कहा गया है—*न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते*—''उसके तुल्य या उससे बड़ा कोई नहीं दिखता।'' ईश्वर की यही परिभाषा है।

तत आग्नीध्रीयेऽंशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमान:. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत:—अत:; आग्नीध्रीये—आग्नीध्र के पुत्र नाभि की स्त्री में; अंश-कलया—अपने रूप के एक अंश द्वारा; अवतरिष्यामि—मैं स्वयं अवतार लूँगा; आत्म-तुल्यम्—अपने ही समान; अनुपलभमान:—न पाकर।

चूँकि मुझे अपने तुल्य और कोई नहीं मिल पा रहा, इसलिए मैं स्वयं ही अंश रूप में आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से अवतार लूँगा।

तात्पर्य : भगवान् के सर्वशक्तिमान होने का एक यह उदाहरण है। यद्यपि वे अद्वितीय हैं, किन्तु कभी वे *स्वांश* द्वारा अपना विस्तार करते हैं, तो कभी *विभिन्नांश* द्वारा। यहाँ पर विष्णु अपने स्वांश को आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि की स्त्री मेरुदेवी के पुत्र के रूप में भेजने को तत्पर हो जाते हैं। ऋत्विज जानते थे कि भगवान् एक हैं, तो भी उन्होंने परमेश्वर से महाराज नाभि का पुत्र बनने के लिए स्तुति की जिससे संसार जान सके कि भगवान् एक हैं, उनके समान कोई अन्य नहीं। जब वे अवतरित होते हैं, तो वे विभिन्न शक्तियों के रूप में अपना विस्तार करते हैं।

श्रीशुक उवाच
इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान्. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; निशामयन्त्याः—सुनते हुए; मेरुदेव्याः—मेरुदेवी के समक्ष; पतिम्—उसके पति को; अभिधाय—कहकर; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; भगवान्—भगवान्।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—ऐसा कहकर भगवान् अदृश्य हो गये। राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी अपने पति के पास में ही बैठी थीं, फलस्वरूप परमेश्वर ने जो कुछ कहा था उसे वे सुन रही थीं।

तात्पर्य : वैदिक आदेशों के अनुसार पति को अपनी पत्नी के साथ यज्ञ करना चाहिए। *सपत्नीको धर्मम् आचरेत्*—धार्मिक कृत्यों को अपनी पत्नी के साथ साथ करना चाहिए। इसलिए महाराज नाभि ने इस महान् यज्ञ को अपनी पत्नी सहित सम्पन्न किया।

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान्परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवाववतार. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

बर्हिषि—यज्ञ स्थल में; तस्मिन्—उस; एव—इस प्रकार; विष्णु-दत्त—हे महाराज परीक्षित; भगवान्—भगवान्; परम-ऋषिभिः—महर्षियों द्वारा; प्रसादितः—प्रसन्न किये जाने पर; नाभेः प्रिय-चिकीर्षया—राजा नाभि को प्रसन्न करने के लिए; तत्-अवरोधायने—अपनी पत्नी में; मेरुदेव्याम्—मेरुदेवी में; धर्मान्—धार्मिक नियम; दर्शयितु-कामः—यह दिखाने के लिए कि किस प्रकार करना चाहिए; वात-रशनानाम्—संन्यासियों का (जो वस्त्र नहीं धारण करते); श्रमणानाम्—वानप्रस्थियों का; ऋषीणाम्—ऋषियों का; ऊर्ध्व-मन्थिनाम्—ब्रह्मचारियों का; शुक्लया तनुवा—उनके आद्य सत् स्वरूप में, जो गुणों के परे है; अवततार—अवतार लिया।.

हे विष्णुदत्त परीक्षित महाराज, उस यज्ञ के ऋषियों से भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए। फलस्वरूप उन्होंने स्वयं धर्माचरण करके दिखलाने (जैसा कि ब्रह्मचारी, संन्यासी, वानप्रस्थ

तथा गृहस्थ करते हैं) और महाराज नाभि की मनोकामना को पूरा करने का निश्चय किया। अतः वे अपने गुणातीत आद्य सत्व रूप में मेरुदेवी के पुत्र के रूप में प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् जब इस संसार में प्रकट होते हैं या अवतरित होते हैं, तो वे तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुण) से युक्त शरीर नहीं स्वीकार करते। मायावादी दार्शनिकों का कहना है कि निर्गुण ब्रह्म सत्त्व गुणमय देह स्वीकार करके इस संसार में प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि *शुक्ल* शब्द का भावार्थ *शुद्ध सत्त्व* वाला है। भगवान् विष्णु अपने शुद्ध-सत्त्व रूप में अवतरित होते हैं। शुद्ध सत्त्व से उस सत्त्वगुण का बोध होता है, जो कभी मलिन (दूषित) नहीं होता। इस भौतिक संसार में सत्त्वगुण भी रजोगुण तथा तमोगुण से दूषित हो जाता है। सत्त्वगुण के इन गुणों से कभी न दूषित होने पर ही वह शुद्धसत्त्व कहलाता है। *सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितम्* (*भागवत* ४.३.२३)। यही वसुदेव पद है, जिससे भगवान् वासुदेव का अनुभव किया जा सकता है। *भगवद्गीता* (४.७) में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

''हे भारत! जब कभी और जहाँ-कहीं धर्म की हानि तथा अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ।''

सामान्य जीवात्माओं की तरह भगवान् अवतार लेने के लिए प्रकृति के गुणों द्वारा बाध्य नहीं होते; वे *धर्मान् दर्शयितु-काम*—अर्थात् मनुष्यों को कार्य करके दिखाने के लिए प्रकट होते हैं। *धर्म* शब्द का व्यवहार मनुष्यों के प्रसंग में किया जाता है। इसका व्यवहार मनुष्यों से निकृष्ट जीवों यथा पशुओं के लिए नहीं किया जाता है। दुर्भाग्यवश मनुष्य कभी-कभी ईश्वर से निर्देशित हुए बिना मनमाने धर्म को गढ़ लेते हैं। वास्तव में धर्म मनुष्य द्वारा नहीं बनाया जा सकता। *धर्मं तु साक्षाद् भगवत्-प्रणीतम्* (*भागवत* ६.३.१९)—धर्म तो भगवान् की देन है, जिस प्रकार विधि (कानून) राज्य की देन होता है। मानव-निर्मित धर्म निरर्थक है। *श्रीमद्भागवत* में मानव निर्मित धर्म को *कैतव-धर्म* (धोखाधड़ी) कहा गया है। मानव समाज को धार्मिक नियमों का आचरण सिखाने के लिए भगवान् अवतरित होते हैं। ये धार्मिक नियम भक्तिमार्ग हैं। भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* में कहते हैं—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं*

व्रज। महाराज नाभि के पुत्र ऋषभदेव धर्म-नियमों का उपदेश देने के लिए इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। इसकी व्याख्या पाँचवें अध्याय में की जाएगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

भगवान् ऋषभदेव के लक्षण

इस अध्याय में महाराज नाभि के पुत्र ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन है जिनके शासन काल में संसार सभी प्रकार से सुखी रहा। जब ऋषभदेव महाराज नाभि के पुत्र रूप में प्रकट हुए, तो लोगों ने उन्हें अपने काल का महानतम एवं सुन्दरतम पुरुष माना। उनमें अंगसौष्ठव, प्रभाव, बल, उत्साह, कान्ति तथा अन्य दिव्य गुण अद्वितीय थे। ऋषभ शब्द श्रेष्ठ या परम का सूचक है। महाराज नाभि ने अपने पुत्र के अद्वितीय गुणों के कारण ही उसका नाम ऋषभ अथवा ''सर्वश्रेष्ठ'' रखा। उनका प्रभाव अनुपम था। यद्यपि तब वर्षा का अभाव हो गया था, किन्तु ऋषभदेव ने वर्षा के स्वामी, स्वर्ग के राजा इन्द्र की परवाह नहीं की। अपने ही सामर्थ्य से उन्होंने प्रचुर वर्षा से अजनाभ को ढक दिया। ऋषभदेव को पुत्र रूप में पाकर राजा नाभि बड़ी ही सावधानी से उसका पालन करने लगे। तत्पश्चात् उन्हें राज्य-भार सौंपकर वे गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये और बदरिकाश्रम में रहकर पूरी तरह से भगवान् वासुदेव की उपासना में लग गये। सामाजिक परिपाटी का पालन करने के लिए भगवान् ऋषभदेव कुछ काल तक गुरुकुल में विद्यार्थी के रूप में रहे और वहाँ से लौटने पर अपने गुरु की आज्ञा से जयन्ती को अपनी पत्नी रूप में स्वीकार किया जो स्वर्ग के राजा इन्द्र द्वारा उन्हें प्रदत्त की गई थी। जयन्ती से उनके सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें से सबसे ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था। महाराज भरत के शासनकाल से यह लोक भारतवर्ष कहलाया। ऋषभदेव के शेष पुत्रों में कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ तथा कीकट प्रमुख थे। अन्य पुत्रों के नाम कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन थे। ये नौ पुत्र राज-काज न करके भागवत के धार्मिक आदेशों का पालन करते हुए कृष्णभावनामृत के साधु-प्रचारक बन गये। इन सबके लक्षणों

तथा कार्यों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में कुरुक्षेत्र में वसुदेव और नारद के वार्तालाप के समय हुआ है। जनता को शिक्षा देने के लिए राजा ऋषभदेव ने अनेक यज्ञ किये और अपने पुत्रों को जनता पर शासन करना सिखाया।

श्रीशुक उवाच

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशमवैराग्यैश्वर्यमहाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा देवताश्चावनितलसमवनायातितरां जगृधुः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ ह—इस प्रकार (भगवान् के प्रकट होने के अनन्तर); तम्—उसको; उत्पत्त्या—आविर्भाव काल से; एव—ही; अभिव्यज्यमान—प्रकट रूप में; भगवत्-लक्षणम्—भगवान् जैसे लक्षणों से युक्त; साम्य—समभाव वाला; उपशम—इन्द्रियों तथा मन को वश में करते समय पूर्णतया शान्त; वैराग्य—गृहत्याग; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; महा-विभूतिभिः—महान् गुणों के कारण; अनुदिनम्—दिन-प्रतिदिन; एधमान—बढ़ता हुआ; अनुभावम्—उसकी शक्ति; प्रकृतयः—मंत्रीगण; प्रजाः—प्रजा, नागरिक; ब्राह्मणाः—ब्रह्म को जानने वाले विद्वान; देवताः—देवतागण; च—तथा; अवनि-तल—पृथ्वी पर; समवनाय—शासन करने के लिए; अतितराम्—उत्कट; जगृधुः—अभिलाषा होने लगी।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—जन्म से ही महाराज नाभि के पुत्र में भगवान् के लक्षण प्रकट थे, यथा चरणतल के चिह्न (ध्वज, वज्र इत्यादि)। यह पुत्र सबों के साथ समभाव रखनेवाला और अत्यन्त शान्त स्वभाव का था। यह अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में कर सकता था और परम ऐश्वर्यवान होने के कारण उसे भौतिक सुख की लिप्सा नहीं थी। इन समस्त गुणों से सम्पन्न होने के कारण महाराज नाभि का पुत्र दिनोंदिन शक्तिशाली बनता गया। फलतः समस्त नागरिकों, विद्वान ब्राह्मणों, देवताओं तथा मंत्रियों ने चाहा कि ऋषभदेव पृथ्वी के शासक बनें।

तात्पर्य : आजकल सस्ते अवतार होने लगे हैं, अतः अवतार में प्राप्य शारीरिक लक्षणों को ध्यान से देखना रोचक होगा। यह देखा गया था कि ऋषभदेव के पैरों में जन्म से ही दिव्य चिह्न (ध्वजा, वज्र, कमल इत्यादि) अंकित थे। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों वह बढ़ने लगा, उसकी ख्याति फैलने लगी। वह समभाव रखने वाला था। उसने न तो किसी एक का पक्ष लिया और न दूसरे की उपेक्षा ही की। ईश्वर के अवतार को छः ऐश्वर्यों से युक्त होना चाहिए। ये हैं—धन, बल, ज्ञान, सौन्दर्य, यश तथा त्याग। कहा जाता है कि ऋषभदेव सभी ऐश्वर्यों से युक्त होकर भी भौतिक सुख से परम विरक्त थे। वह आत्म-संयमी था, इसलिए सभी उन्हें चाहते थे। उनके अपूर्व गुणों के कारण सभी चाहते थे कि पृथ्वी

पर वही राज्य करें। ईश्वर के अवतार को अनुभवी लोग शास्त्रों में वर्णित लक्षणों द्वारा स्वीकार करते हैं। कभी भी मूर्ख लोगों की चाटुकारी से अवतार स्वीकार नहीं हो पाता।

तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार. ॥ २॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; ह वा—निश्चय ही; इत्थम्—इस प्रकार; वर्ष्मणा—रंग-रूप से; वरीयसा—श्रेष्ठ; बृहत्-श्लोकेन—कवियों द्वारा वर्णित समस्त उत्तम गुणों से अलंकृत; च—भी; ओजसा—शौर्य से; बलेन—बल से; श्रिया—सुन्दरता से; यशसा—यश से; वीर्य-शौर्याभ्याम्—प्रभाव तथा वीरता से; च—तथा; पिता—महाराज नाभि ने; ऋषभः—श्रेष्ठ; इति—इस प्रकार; इदम्—यह; नाम—नाम; चकार—रखा।

जब महाराज नाभि का पुत्र प्रकट हुआ, तो उसमें महाकवियों द्वारा वर्णित समस्त उत्तम गुण दिखाई पड़े यथा ईश्वर के लक्षणों से युक्त सुगठित शरीर, शौर्य, बल, सुन्दरता, नाम, यश, प्रभाव तथा उत्साह। जब उसके पिता महाराज नाभि ने इन समस्त गुणों को देखा, तो उसे मनुष्यों में श्रेष्ठतम अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति मान कर उसका नाम ऋषभ रख दिया।

तात्पर्य : किसी को ईश्वर या उसका अवतार मानने के पूर्व उसके शरीर में ईश्वर के लक्षण देखने चाहिए। महाराज नाभि के असाधारण रूप से शक्तिशाली पुत्र में समस्त लक्षण पाये गये थे। उसका शरीर सुगठित था और वह समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न था। वह प्रभावशाली था और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला था। फलस्वरूप उसका नाम ऋषभ रख दिया गया जिससे यह सूचित होता है कि वह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य था।

यस्य हीन्द्रः स्पर्धमानो भगवान्वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत्. ॥ ३॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; हि—निस्संदेह; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा इन्द्र; स्पर्धमानः—ईर्ष्या के कारण; भगवान्—परम ऐश्वर्यवान; वर्षे—भारतवर्ष में; न ववर्ष—वर्षा नहीं की; तत्—वह; अवधार्य—जानते हुए; भगवान्—भगवान; ऋषभदेवः—ऋषभदेव; योग-ईश्वरः—समस्त योग के स्वामी; प्रहस्य—हँसते हुए; आत्म-योग-मायया—अपने आत्मबल से; स्व-वर्षम्—अपने देश पर; अजनाभम्—अजनाभ; नाम—नामक; अभ्यवर्षत्—जल की वर्षा की।

भौतिक रूप से महान् ऐश्वर्यशाली स्वर्ग का राजा इन्द्र राजा ऋषभदेव से ईर्ष्या करने लगा। अतः उसने भारतवर्ष नामक लोक पर जल बरसाना बन्द कर दिया। उस समय समस्त योगों के स्वामी भगवान् ऋषभदेव इन्द्र का प्रयोजन समझ गये और थोड़ा मुस्काये। तब उन्होंने अपने

शौर्य तथा योगमाया से अजनाभ नाम से विख्यात अपने देश में अत्यधिक वर्षा की।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवान्* शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र तथा भगवान् के अवतार ऋषभदेव—इन दोनों को *भगवान्* कहा गया है। कभी-कभी नारद तथा ब्रह्मा भी भगवान् कहकर सम्बोधित किये जाते हैं। भगवान् का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्मा, शिव, नारद अथवा इन्द्र के समान अत्यन्त ऐश्वर्यवान एवं शक्तिशाली व्यक्ति। अपने अद्वितीय वैभव के कारण ये सभी भगवान् कहे जाते हैं। राजा ऋषभदेव भगवान् के अवतार थे, अत: वे आदि भगवान् थे। फलस्वरूप उन्हें यहाँ योगेश्वर कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि उनमें अत्यन्त दिव्य-शक्ति थी। वे वर्षा के लिए इन्द्र पर आश्रित न थे। वे स्वयं जल की पूर्ति कर सकते थे और उन्होंने ऐसा किया भी। *भगवद्गीता* में उल्लेख हुआ है कि *यज्ञाद्भवति पर्जन्यः*—यज्ञ करने से आकाश में वर्षा के मेघ दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि मेघ तथा वर्षा स्वर्ग के राजा इन्द्र के अधीन हैं, किन्तु यदि वह वर्षा नहीं करता है, तो यज्ञ अथवा यज्ञपति कहलाने वाले भगवान् यह कार्य अपने हाथों में ले लेते हैं। इसलिए अजनाभ देश में प्रचुर वर्षा हुई। यदि यज्ञपति चाहे, तो अपने किसी अधीनस्थ की सहायता के बिना भी कोई कार्य कर सकता है। इसीलिए भगवान् सर्वशक्तिमान कहलाते हैं। इस कलियुग में अन्तत: अनावृष्टि (वर्षा का अभाव) होगी, क्योंकि सामान्य जनता अपनी अविद्या तथा याज्ञिक सामग्री के अभाव के कारण यज्ञ की उपेक्षा करेगी। अत: *श्रीमद्भागवत* का उपदेश है—*यज्ञै संकीर्तन-प्रायै यजन्ति हि सुमेधसः।* वास्तव में, यज्ञ का प्रयोजन भगवान् को प्रसन्न करना है यद्यपि इस कलियुग में अभाव तथा अज्ञानता का बोलबाला है, किन्तु तो भी मनुष्य *संकीर्तन-यज्ञ* तो कर ही सकता है। प्रत्येक परिवार को चाहिए कि प्रति संध्या समय संकीर्तन-यज्ञ करे। इस प्रकार से वर्षा का अभाव नहीं रहेगा। भौतिक रूप से सुखी तथा मानसिक रूप से उन्नत होने के लिए अनिवार्य है कि इस युग में संकीर्तन-यज्ञ किया जाये।

नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं गृहीतनरलोकसधर्मं भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन्परां निर्वृतिमुपगतः. ॥ ४॥

शब्दार्थ

नाभिः—राजा नाभि; तु—निश्चय ही; यथा-अभिलषितम्—इच्छानुसार; सु-प्रजस्त्वम्—अत्यन्त सुन्दर पुत्र; अवरुध्य—पाकर; अति-प्रमोद—अत्यधिक प्रसन्नता; भर—की अति से; विह्वलः—विभोर होकर; गद्गद-अक्षरया—आह्लाद में शब्द न निकलने से; गिरा—वाणी से; स्वैरम्—स्वेच्छा से; गृहीत—स्वीकार किया; नर-लोक-सधर्मम्—मनुष्य की भाँति आचरण करके;

भगवन्तम्—श्रीभगवान् को; पुराण-पुरुषम्—जीवों में सर्वाधिक वय वाले; माया—योगमाया से; विलसित—मोहग्रस्त; मतिः—उसकी मति; वत्स—प्रिय पुत्र; तात—मेरे प्रिय; इति—इस प्रकार; स-अनुरागम्—अत्यन्त प्यार सहित; उपलालयन्—लालन-पालन करते हुए; पराम्—दिव्य; निर्वृतिम्—आनन्द; उपगतः—प्राप्त किया।

अपनी इच्छानुसार श्रेष्ठ पुत्र पाकर राजा नाभि दिव्य आनन्द के कारण विह्वल और पुत्र के प्रति अत्यन्त वत्सल हो उठे। उन्होंने गद्गद् वाणी से उसे ''मेरे प्रिय पुत्र! मेरे प्यारे!'' शब्दों से सम्बोधित किया। ऐसी बुद्धि योगमाया से उत्पन्न हुई जिसके कारण उन्होंने परम पिता भगवान् को अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया। ईश्वर भी अपनी परमेच्छा के कारण उनके पुत्र बने और सबों के साथ ऐसा व्यवहार किया जैसे वे कोई सामान्य मनुष्य हो। इस प्रकार वे अपने दिव्य पुत्र का बड़े ही लाड़-प्यार से लालन-पालन करने लगे और वे दिव्य आनन्द, हर्ष तथा भक्ति से भावविभोर हो गये।

तात्पर्य : यहाँ *माया* शब्द का प्रयोग मोह के अर्थ में हुआ है। भगवान् को अपने पुत्र रूप में पाकर, महाराज नाभि सचमुच मोहग्रस्त थे, किन्तु यह दिव्य मोह था। यह मोह आवश्यक है क्योंकि बिना इसके कोई क्यों परम पिता को अपना पुत्र स्वीकार करने लगा? भगवान् अपने एक भक्त के पुत्र रूप में वैसे ही प्रकट होते हैं जिस प्रकार श्रीकृष्ण नन्द महाराज और यशोदा के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे। ये भक्त अपने पुत्र को भगवान् रूप में कभी भी नहीं सोच सकते, क्योंकि ऐसा करने से पितृ-प्रेम में बाधा उत्पन्न होती है।

विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप. ॥ ॥

शब्दार्थ

विदित—भलीभाँति ज्ञात; अनुरागम्—लोकप्रियता; आपौर-प्रकृति—समस्त नागरिकों तथा प्रशासकों के बीच; जन-पदः—सामान्य जनों की सेवा की इच्छा से; राजा—राजा; नाभिः—नाभि; आत्मजम्—अपने पुत्र को; समय-सेतु-रक्षायाम्—धार्मिक जीवन के वैदिक नियमों के अनुसार जनता की रक्षा करते हुए; अभिषिच्य—राज्याभिषेक करके; ब्राह्मणेषु—ब्राह्मणों को; उपनिधाय—सौंप कर; सह—साथ; मेरुदेव्या—अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ. मेरुदेवी; विशालायाम्—बदरिकाश्रम में; प्रसन्न-निपुणेन—अत्यन्त संतोष एवं निपुणता के साथ रहते हुए; तपसा—तपस्या से; समाधि-योगेन—पूर्ण समाधि से; नर-नारायण-आख्यम्—नर-नारायण नामक; भगवन्तम्—भगवान्; वासुदेवम्—श्रीकृष्ण को; उपासीनः—उपासना करते हुए; कालेन—कालक्रम से; तत्-महिमानम्—महिमामय धाम, वैकुण्ठ लोक को; अवाप—प्राप्त किया।

राजा नाभि ने समझ लिया था कि उनका पुत्र ऋषभदेव नागरिकों, प्रशासकों तथा मंत्रियों में अत्यन्त लोकप्रिय है। अतः उन्होंने वैदिक धर्म-पद्धति अनुसार जनता की रक्षा के उद्देश्य से अपने

पुत्र को संसार के सम्राट के रूप में अभिषिक्त कर दिया और उसे विद्वान ब्राह्मणों के हाथों में सौप दिया जो शासन चलाने में उसका मार्ग-दर्शन कर सकें। फिर महाराज नाभि अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ हिमालय पर्वत स्थित बदरिकाश्रम में गये और वहाँ पर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक एवं निपुणता के साथ तपस्या में लग गये। पूर्ण समाधि में उन्होंने कृष्ण के ही अंश रूप भगवान् नर-नारायण की उपासना की, अतः कालक्रम में महाराज नाभि को वैकुण्ठ प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : जब महाराज नाभि ने देखा कि जनता तथा राज्य अधिकारियों के बीच उनका पुत्र ऋषभदेव अत्यन्त लोकप्रिय हो गया है, तो उन्होंने उसे राज्य-सिंहासन पर आसीन करने का निश्चय किया। साथ ही, वे अपने पुत्र को बुद्धिमान ब्राह्मणों के हाथों में सौंपना चाहते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि राजा को बुद्धिमान ब्राह्मणों की देखरेख में वैदिक नियमों के अनुसार राज्य करना होता था जिससे वे *मनुस्मृति* तथा इसी प्रकार के वैदिक शास्त्रों के अनुसार सलाह दे सकें। राजा का यह कर्तव्य है कि वह वैदिक नियमों के अनुसार शासन चलाए। वैदिक नियमों के अनुसार समाज चार वर्गों में विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।* समाज को इस प्रकार विभाजित करने के बाद यह राजा का कर्तव्य है कि वह यह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण (जाति) के अनुसार वैदिक नियमों का पालन करे। ब्राह्मण को चाहिए कि वह जनता को ठगे बिना ब्राह्मण का कर्तव्य निभाए। बिना योग्यता के किसी को ब्राह्मण कहलाने का अधिकार नहीं है। यह राजा का कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति वैदिक नियमानुसार अपना व्यावसायिक कर्तव्य निबाहे। साथ ही, जीवन के अन्त समय में वैराग्य अनिवार्य है। महाराज नाभि, राजा रहते हुए भी, गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये और अपनी पत्नी के साथ हिमालय बदरिकाश्रम चले गये जहाँ नर-नारायण विग्रह की उपासना की जाती है। *प्रसन्न-निपुणेन तपसा* शब्दों से सूचित होता है कि राजा ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तथा पटुता के साथ सभी प्रकार की तपस्याएँ की। सम्राट् होते हुए भी अपने सुविधामय जीवन का परित्याग करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। बदरिकाश्रम में कठिन तपस्या करते हुए भी वे परम प्रसन्न थे और सारा कार्य दक्षतापूर्वक करते रहे। इस प्रकार कृष्णभावनामृत (समाधि योग) में पूर्ण निमग्न रहकर और सतत वासुदेव कृष्ण का ध्यान करते हुए महाराज नाभि ने जीवन के अन्तिम काल में सफलता प्राप्त की और वैकुण्ठलोक को भेज दिए गये।

यही वैदिक जीवन पद्धति है। मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटकर घर लौटजाना चाहिए अर्थात् वापस चला-जाना चाहिए भगवान् के धाम जाना है। इस प्रसंग में *तन्महिमानम् अवाप* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। श्रील श्रीधर स्वामी का कहना है कि *महिमा* का अर्थ जीवन से मुक्ति है। अत: हमें इस जीवन में ऐसे कर्म करने चाहिए कि इस शरीर को त्यागने के बाद हम जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकें। यही *जीवन्मुक्ति* कहलाती है। श्रील वीर राघव आचार्य लिखते हैं कि *छान्दोग्य उपनिषद् में जीवन्-मुक्त* अर्थात् इस शरीर में ही जो मुक्त को चुका है उसके आठ लक्षण बताए गये हैं। पहला लक्षण है, *अपहत पाप*—अर्थात् वह समस्त पापकर्मों से मुक्त रहता है। जब तक मनुष्य माया के चंगुल में रहता है, वह पाप-कर्म में लगा रहता है। *भगवद्गीता* में ऐसे मनुष्यों को *दुष्कृतिन:* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे सदैव पापकर्म में रत रहते हैं। जो जीवन्मुक्त है, वह कभी पाप नहीं करता। व्यभिचार, मद्यपान, मांसाहार तथा द्यूत क्रीड़ा—ये ही पापकर्म हैं। जीवन्मुक्त मनुष्य का दूसरा लक्षण है, *विजर*—अर्थात् उसे वृद्धावस्था के कष्ट नहीं भोगने पड़ते। तृतीय लक्षण है, *विमृत्यु*—अर्थात् वह मनुष्य जो अपने आप को इस प्रकार तैयार करता है कि वह आगे और कोई शरीर धारण नहीं करता, क्योंकि इनकी मृत्यु होनी ही है। दूसरे शब्दों में, वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। चतुर्थ लक्षण है, *विशोक*—अर्थात् वह भौतिक शोक तथा हर्ष के प्रति उदासीन रहता है। पंचम लक्षण, *विजिघत्स* है, जिसका अर्थ है कि उसे भौतिक सुख की कामना नहीं रहती। षष्ठम लक्षण है, *अपिपाता*—अर्थात् वह अपने परम प्रिय ईश्वर श्रीकृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहता। सप्तम लक्षण है, *सत्य-काम*—जिसका अर्थ है कि उसकी समस्त आकांक्षाएँ परम सत्य श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख होती हैं। वह *सत्य-संकल्प* होता है। उसकी समस्त कामनाओं को पूरा करने वाले श्रीकृष्ण हैं। प्रथम तो भौतिक लाभ के लिए वह कोई इच्छा ही नहीं करता और यदि करता भी है, तो वह ईश्वर की सेवा मात्र करना चाहता है। इसीलिए उसे *सत्य-संकल्प* कहते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि *महिमा* का अर्थ वैकुण्ठलोक को—भगवद्धाम को वापस जाना है। श्रील शुकदेव का कथन है कि *महिमा* का अर्थ है कि भक्त भगवान् के गुणों को प्राप्त कर लेता है। इसे *सधर्म* अर्थात् सम-गुण कहते हैं। जिस प्रकार कृष्ण न तो जन्मते हैं और न मरते हैं उसी प्रकार उनके जो भक्त भगवान् के धाम पहुँच जाते हैं, वे फिर इस संसार के जन्म-मरण चक्र में नहीं पड़ते।

यस्य ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति—
को नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत्पुमान् ।
अपत्यतामगाद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; ह—निस्सन्देह; पाण्डवेय—वह महाराज परीक्षित; श्लोकौ—दो श्लोक; उदाहरन्ति—सुनाते हैं; कः—कौन; नु—तब; तत्—वह; कर्म—कार्य; राज-ऋषेः—पवित्र राजा; नाभेः—नाभि का; अनु—अनुगमन करते हुए; आचरेत्—आचरण कर सकता था; पुमान्—मनुष्य; अपत्यताम्—पुत्रत्व, पुत्र बनना; अगात्—स्वीकार किया; यस्य—जिसका; हरिः—भगवान् ने; शुद्धेन—पवित्र; कर्मणा—कर्म से।

हे महाराज परीक्षित, महाराज नाभि के यशोगान में प्राचीन मुनियों ने दो श्लोक रचे। उनमें से एक यह है, ''महाराज नाभि जैसी सिद्धि अन्य कौन प्राप्त कर सकता है? उनके कर्मों तक कौन पहुँच सकता है? उनकी भक्ति के कारण भगवान् ने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया।''

तात्पर्य : इस श्लोक में *शुद्धेन कर्मणा* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई कार्य भक्ति से नहीं किया जाता तो वह भौतिक प्रकृति के गुणों से दूषित हो जाता है। *भगवद्गीता* में इसकी व्याख्या *यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः* के रूप में की गई है। जो कर्म भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, वे ही शुद्ध हैं और वे ही प्रकृति के गुणों से कलुषित नहीं होते। अन्य सभी कर्म सतो रजो तथा तमोगुणों के द्वारा दूषित हो जाते हैं। इन्द्रियों की तुष्टि के लिए किए जाने वाले समस्त भौतिक कर्म संदूषित होते हैं, किन्तु महाराज नाभि ने ऐसा कोई दूषित कर्म नहीं किया। यहाँ तक कि यज्ञ के समय भी उन्होंने दिव्य कर्म ही किए थे। इसलिए उन्हें पुत्र रूप में भगवान् की प्राप्ति हुई।

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः ।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यः—ब्राह्मण-भक्त; अन्यः—कोई दूसरा; कुतः—कहाँ है; नाभेः—महाराज नाभि के अतिरिक्त; विप्राः—ब्राह्मण समुदाय; मङ्गल-पूजिताः—भली भाँति उपासित एवं तुष्ट; यस्य—जिसका; बर्हिषि—यज्ञ-स्थल में; यज्ञ-ईशम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता, श्रीभगवान्; दर्शयाम् आसुः—दर्शन कराया; ओजसा—अपनी ब्राह्म शक्ति से।

[दूसरी स्तुति इस प्रकार है] ''महाराज नाभि से बढ़कर ब्राह्मणों का उपासक (भक्त) कौन हो सकता है? चूँकि राजा ने योग्य ब्राह्मणों को पूजा से पूर्णतया सन्तुष्ट कर दिया था, इसलिए अपने ब्राह्म-तेज से उन्होंने महाराज नाभि को भगवान् नारायण का साक्षात् दर्शन करा दिया।''

तात्पर्य : यज्ञोत्सव के कार्य में लगे हुए पुरोहित सामान्य ब्राह्मण न थे। वे इतने शक्तिशाली थे कि

अपनी स्तुति से भगवान् का प्राकट्य करा सकते थे। इस प्रकार से महाराज नाभि को ईश्वर के साक्षात् दर्शन हो सके। जब तक कोई वैष्णव न हो, वह भगवान् को बुला नहीं सकता। ईश्वर किसी प्रकार का आमंत्रण स्वीकार नहीं करते। इसलिए *पद्म पुराण* में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

"भले ही कोई ब्राह्मण वैदिक ज्ञान के समस्त विषयों में कितना ही निपुण क्यों न हो, किन्तु यदि वैष्णव नहीं है, तो वह गुरु नहीं हो सकता, किन्तु यदि श्वपच (चांडाल) भी वैष्णव है, तो वह गुरु बन सकता है।" ये ब्राह्मण निश्चय ही वैदिक मंत्रों के उच्चारण में अत्यन्त पटु थे। वे वैदिक अनुष्ठान कराने में भी दक्ष थे और सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि वे सभी वैष्णव थे। अतः अपने आत्मबल से वे भगवान् का आवाहन करके अपने शिष्य महाराज नाभि को साक्षात् दर्शन दिला सके। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *ओजसा* शब्द की टीका "भक्ति के बल से" की है।

अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कर्म समाम्नायाम्नातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात् (अपने पिता के प्रयाण के पश्चात्); ह—निस्संदेह; भगवान्—भगवान्; ऋषभ-देवः—ऋषभदेव; स्व—अपना; वर्षम्—राज्य; कर्म-क्षेत्रम्—कार्य-क्षेत्र; अनुमन्यमानः—के रूप में स्वीकार करते हुए; प्रदर्शित—उदाहरणस्वरूप दिखाया गया; गुरु-कुल-वासः—गुरुकुल में रहते हुए; लब्ध—प्राप्त करके; वरैः—वरदान; गुरुभिः—गुरुओं से; अनुज्ञातः—आदेशित होकर; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थों के; धर्मान्—कर्तव्य; अनुशिक्षमाणः—उदाहरण द्वारा शिक्षा प्रदत्त; जयन्त्याम्—अपनी पत्नी जयन्ती से; इन्द्र-दत्तायाम्—भगवान् इन्द्र द्वारा प्रदत्त; उभय-लक्षणम्—दोनों प्रकार के; कर्म—कर्म; समाम्नायाम्नातम्—शास्त्रों में वर्णित; अभियुञ्जन्—करते हुए; आत्मजानाम्—पुत्रों को; आत्म-समानानाम्—अपने ही समान; शतम्—एक सौ; जनयाम् आस—उत्पन्न किया।

महाराज नाभि के बदरिकाश्रम प्रस्थान के पश्चात् परम ईश ऋषभदेव ने अपने राज्य को ही अपना कर्मक्षेत्र समझा। अतः उन्होंने सर्वप्रथम गुरुओं के निर्देश में ब्रह्मचर्य स्वीकार करके अपना दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए गृहस्थ के कर्तव्यों की शिक्षा दी। वे गुरुकुल में वास करने भी गये। शिक्षा पूरी होने पर उन्होंने गुरु-दक्षिणा दी और तब गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए। उन्होंने जयन्ती नामक पत्नी ग्रहण की और उससे एक सौ पुत्र उत्पन्न किये जो उनके ही समान बलवान तथा योग्य थे। उनकी पत्नी जयन्ती स्वर्ग के राजा इन्द्र द्वारा उन्हें भेंट में दी गई थी। ऋषभदेव

तथा जयन्ती ने श्रुति तथा स्मृति शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठानों का पालन करते हुए गृहस्थ जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का अवतार होने से ऋषभदेव को सांसारिक कार्यों से कोई सरोकार नहीं था। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है— *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*— अवतार का उद्देश्य भक्तों की रक्षा तथा अभक्तों के आसुरी कार्यों को रोकना है। ईश्वर के अवतार लेने के यही दो प्रयोजन होते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि उपदेश देने के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि वह व्यावहारिक जीवन बिताकर लोगों को दिखाये कि कार्य किस प्रकार करना चाहिए। *आपनि आचरि' भक्ति शिखाइमु सबारे*—जब तक कोई उसी रूप से आचरण नहीं करता, तब तक वह अन्यों को शिक्षा नहीं दे सकता। ऋषभदेव आदर्श राजा थे और उन्होंने गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त की, यद्यपि वे पहले से ही शिक्षित थे क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ होते हैं। यद्यपि गुरुकुल में उनके सीखने के योग्य कुछ भी नहीं था, किन्तु वे लोगों को यह शिक्षा देने के लिए वहाँ गये कि वैदिक गुरुओं से किस प्रकार शिक्षा प्राप्त की जाती है। इसके बाद वे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए और श्रुति-स्मृति-सम्मत वैदिक विधि से जीवन बिताने लगे। श्रील रूप गोस्वामी *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.१०) में *स्कन्द पुराण* का निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

श्रुतिस्मृतिपुराणादि पंचरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।

मानव समाज को वैदिक साहित्य जैसे श्रुति तथा स्मृति से प्राप्त उपदेशों का पालन करना चाहिए। *पाञ्चरात्रिक विधि* के अनुसार व्यावहारिक जीवन में भगवान् की यही उपासना है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह दिव्य जीवन बिता कर अन्त में भगवद्धाम जाये। महाराज ऋषभदेव ने इन समस्त नियमों का कठोरता से पालन किया। वे आदर्श गृहस्थ बने रहे और उन्होंने अपने पुत्रों को आध्यात्मिक-जीवन में पूर्णता प्राप्त करने की शिक्षा दी। उन्होंने जिस प्रकार पृथ्वी पर शासन किया और अवतार के रूप में अपना उद्देश्य पूरा किया उसके ये कुछेक उदाहरण हैं।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—जिनमें से; खलु—निश्चय ही; महा-योगी—ईश्वर का महान् भक्त; भरतः—भरत; ज्येष्ठः—सब से बड़ा; श्रेष्ठ-गुणः—उत्तम गुणों से सम्पन्न; आसीत्—था; येन—जिसके द्वारा; इदम्—यह; वर्षम्—लोक, देश; भारतम्—भारत; इति—इस प्रकार; व्यपदिशन्ति—लोग कहते हैं।

ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से सबसे बड़े पुत्र का नाम भरत था, जो श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न महान् भक्त था। उसी के सम्मान में इस लोक को भारतवर्ष कहते हैं।

तात्पर्य : भारतवर्ष नामक यह लोक *पुण्य भूमि* भी कहलाता है। आजके समय में भारत-भूमि या भारतवर्ष हिमालय पर्वत से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ एक लघु भूखण्ड है। कभी-कभी इस प्रायद्वीप को *पुण्य-भूमि* कहा जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस भूमि के वासियों को विशेष महत्ता प्रदान की है (*चैतन्यचरितामृत,* आदि ९.४१)—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

''जिसने भी भारतवर्ष में मनुष्य रूप में जन्म लिया है उसे परोपकार द्वारा अपना जीवन सार्थक बना लेना चाहिए।'' इस भूभाग के वासी अत्यन्त भाग्यशाली हैं। वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन को स्वीकार करके अपने जन्म को पवित्र बना सकते हैं और भारतभूमि के बाहर जाकर सारे विश्व के कल्याण हेतु इसका उपदेश दे सकते हैं।

तमनु कुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवति प्रधानाः. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; अनु—अनुसरण करते हुए; कुशावर्त—कुशावर्त; इलावर्तः—इलावर्त; ब्रह्मावर्तः—ब्रह्मावर्त; मलयः—मलय; केतुः—केतु; भद्र-सेनः—भद्रसेन; इन्द्र-स्पृक्—इन्द्रस्पृक; विदर्भः—विदर्भ; कीकटः—कीकट; इति—इस प्रकार; नव—नौ; नवति—नब्बे; प्रधानाः—से बड़े।

भरत के अतिरिक्त उनके निन्यानवे पुत्र और भी थे। इनमें से नौ बड़े पुत्रों के नाम कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ तथा कीकट थे।

कविर्हविरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥ ११ ॥

इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं वसुदेवनारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्यामः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कविः—कवि; हविः—हवि; अन्तरिक्षः—अन्तरिक्ष; प्रबुद्धः—प्रबुद्ध; पिप्पलायनः—पिप्पलायन; आविर्होत्रः—आविर्होत्र; अथ—भी; द्रुमिलः—द्रुमिल; चमसः—चमस; करभाजनः—करभाजन; इति—इस प्रकार; भागवत-धर्म-दर्शनाः—श्रीमद्भागवत के प्रामाणिक उपदेशक; नव—नौ; महा-भागवताः—परम भक्त; तेषाम्—उनमें से; सुचरितम्—अच्छे लक्षण; भगवत्-महिमा-उपबृंहितम्—भगवान् की महिमा से युक्त; वसुदेव-नारद-संवादम्—वसुदेव तथा नारद की वार्ता के अन्तर्गत; उपशमायनम्—मन को परम सन्तोष देने वाली; उपरिष्टात्—इसके बाद के, परवर्ती (ग्यारहवें स्कंध में); वर्णयिष्यामः—मैं विस्तार से व्याख्या करूँगा।

इन पुत्रों के अतिरिक्त कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन भी हुए। ये सभी परम भक्त एवं *श्रीमद्भागवत* के प्रामाणिक उपदेशक थे। ये भक्त भगवान् वासुदेव के प्रति अपनी उत्कट भक्ति के कारण महिमा-मण्डित थे। मन की पूर्ण तुष्टि के लिए मैं (शुकदेव गोस्वामी) इन नौ भक्तों के चरित्रों का वर्णन आगे चलकर नारद-वसुदेव संवाद प्रसंग के अन्तर्गत करूँगा।

यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यवीयांसः—इनसे छोटे; एकाशीतिः—इक्यासी; जायन्तेयाः—ऋषभदेव की पत्नी जयन्ती के पुत्र; पितुः—अपने पिता के; आदेशकराः—आदेशानुसार; महा-शालीनाः—परम विनीत; महा-श्रोत्रियाः—वैदिक ज्ञान में पारंगत; यज्ञ-शीलाः—अनुष्ठानों को करने में निपुण; कर्म-विशुद्धाः—अत्यन्त शुद्ध कर्मों वाले; ब्राह्मणाः—योग्य ब्राह्मण; बभूवुः—हुए।

उपर्युक्त उन्नीस पुत्रों के अतिरिक्त ऋषभदेव तथा जयन्ती से इक्यासी पुत्र और थे। ये अपने पिता की आज्ञानुसार अति सुसंस्कृत, शालीन, उज्ज्वल कर्मों वाले तथा वैदिक ज्ञान तथा अनुष्ठानिक कार्यों में निपुण हुए। इस प्रकार ये सभी पूर्ण रूप से योग्य ब्राह्मण बन गये।

तात्पर्य : इस श्लोक से एक अच्छी जानकारी प्राप्त होती है कि गुण तथा कार्य के अनुसार जातियाँ की अर्हताएँ कैसे बनती हैं। ऋषभदेव राजा थे, अत: निश्चय ही वे क्षत्रिय थे। उनके एक सौ पुत्र थे जिनमें से दस क्षत्रिय कर्म में लगे हुए थे और पृथ्वी पर राज्य कर रहे थे। उनके नौ पुत्र *श्रीमद्भागवत* के श्रेष्ठ उपदेशक (महाभागवत) हुए, जिसका अर्थ है कि वे ब्राह्मणों के पद से उच्च थे। शेष इक्यासी पुत्र योग्य ब्राह्मण हुए। ये कुछ ऐसे ज्वलंत उदाहरण हैं, जो यह बताते हैं कि कोई जन्म से नहीं वरन् अपने गुणों के कारण किसी कार्य के लिए योग्य (पात्र) बनता है। महाराज ऋषभदेव के

सभी पुत्र जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु अपने गुणों के कारण उनमें से कुछ क्षत्रिय बने, तो कुछ ब्राह्मण। उनमें से नौ पुत्र *श्रीमद्भागवत* के उपदेशक (*भागवत-धर्म-दर्शनाः*) थे जिसका तात्पर्य यह है कि वे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वर्गों से ऊपर उठ गये।

भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत्. ॥ १४॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; ऋषभ—ऋषभ; संज्ञः—नाम वाले; आत्म-तन्त्रः—पूर्णतया स्वतंत्र; स्वयम्—स्वयं; नित्य—शाश्वत; निवृत्त—विरक्त, मुक्त; अनर्थ—अनिच्छित वस्तुओं (जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि) की; परम्परः—परम्परा; केवल—केवल; आनन्द-अनुभवः—दिव्य आनन्द से परिपूरित; ईश्वरः—परमेश्वर, नियन्ता; एव—निस्सन्देह; विपरीत-वत्—विरुद्ध जैसे; कर्माणि—कर्मों को; आरभमाणः—करते हुए; कालेन—कालक्रम से; अनुगतम्—उपेक्षित; धर्मम्—वर्णाश्रम धर्म; आचरणेन—करने से; उपशिक्षयन्—उपदेश देकर; अ-तत्-विदाम्—अज्ञानी पुरुष; समः—समान; उपशान्तः—इन्द्रियों द्वारा अविचलित; मैत्रः—प्रत्येक व्यक्ति से मैत्री भाव; कारुणिकः—सबों पर सदय; धर्म—धार्मिक नियम; अर्थ—आर्थिक उन्नति; यशः—यश, कीर्ति; प्रजा—पुत्र तथा पुत्रियाँ; आनन्द—भौतिक सुख; अमृत—अमर जीवन; अवरोधेन—प्राप्त करने के लिए; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; लोकम्—सामान्य लोगों को; नियमयत्—नियमित किया।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार होने से भगवान् ऋषभदेव पूर्ण स्वतंत्र थे क्योंकि उनका यह स्वरूप शाश्वत तथा दिव्य आनन्दमय था। उन्हें भौतिक तापों के चार नियमों (जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि) से कोई सरोकार न था, न ही वे भौतिक दृष्टि से आसक्त थे। वे समानदर्शी थे। अन्यों को दुखी देखकर दुखी होते थे। वे समस्त जीवात्माओं के शुभचिन्तक थे। यद्यपि वे महान् पुरुष, परमेश्वर तथा सर्व-नियन्ता थे, तो भी वे ऐसा आचरण कर रहे थे, मानो कोई सामान्य बद्धजीव हो। अतः उन्होंने दृढ़तापूर्वक वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए तदनुसार कर्म किया। कालान्तर में वर्णाश्रम धर्म के नियम उपेक्षित हो चुके थे, फलतः अपने निजी गुणों तथा आचरण से उन्होंने अज्ञानी जनता को वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत कर्तव्य करना सिखाया। इस प्रकार उन्होंने सामान्य लोगों को गृहस्थाश्रम में प्रशिक्षित किया जिससे वे धार्मिक तथा आर्थिक उत्थान कर सकें और यश, सन्तान, आनन्द तथा अन्त में शाश्वत जीवन प्राप्त कर सकें। अपने उपदेशों से उन्होंने लोगों को गृहस्थाश्रम में रहते हुए वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हुए परिपूर्ण बनने की शिक्षा दी।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म तो अपूर्ण बद्ध आत्माओं के लिए है। इससे उन्हें आध्यात्मिक उन्नति करके

घर वापस जाने अर्थात् भगवान् के धाम जाने की शिक्षा मिलती है। जिस सभ्यता में जीवन का परम लक्ष्य ज्ञात न हो वह पशु समाज के तुल्य है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्।* मानव समाज का उद्देश्य आध्यात्मिक ज्ञान को बढ़ाकर समस्त मनुष्यों को जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चंगुल से मुक्त कराना है। वर्णाश्रम धर्म मानव समाज को इतना समर्थ बनाता है कि वह माया के चंगुल से बाहर निकल कर तथा उसके नियमों का पालन करके सफल हो सके। इस सम्बन्ध में *भगवद्गीता* (३.२१-२४) देखनी चाहिए।

यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो भी; शीर्षण्य—शीर्षस्थ महापुरुषों द्वारा; आचरितम्—आचरण किया जाता है; तत् तत्—वही; अनुवर्तते—अनुकरण करते हैं; लोकः—सामान्य जन।

महापुरुष जैसा जैसा आचरण करते हैं, सामान्यजन उसी का अनुकरण करते हैं।

तात्पर्य : ऐसा ही श्लोक *भगवद्गीता* (३.२१) में भी है। समाज में मनुष्यों के एक वर्ग को वैदिक आदेशों के अनुसार ब्राह्मणों के रूप में प्रशिक्षित होना चाहिए। इनसे नीचे के लोगों—शासकों, वणिकों तथा सेवकों—को इन बुद्धिजीवी लोगों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य परम दिव्य पद को प्राप्त हो सकता है और भौतिक आसक्ति से छूट सकता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इस भौतिक जगत को *दुःखालयमशाश्वतं* अर्थात् दुखों का अस्थायी स्थान कहा है। यदि कोई दुखों से समझौता भी कर ले, तो भी वह बच नहीं सकता। उसे इस शरीर का परित्याग करके दूसरा शरीर धारण करना ही होता है और हो सकता है कि यह मनुष्य-शरीर न हो। शरीर प्राप्त करते ही मनुष्य *देह-भृत्* अथवा *देही* हो जाता है अर्थात् उसे समस्त भौतिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। समाज के उन्नायकों को ऐसा आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उनका अनुकरण करके कोई भी मनुष्य संसार के बन्धन से छूट सके।

यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यद्यपि—यद्यपि; स्व-विदितम्—स्वतः ज्ञात; सकल-धर्मम्—विभिन्न प्रकार के कर्म; ब्राह्मम्—वैदिक उपदेश; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के द्वारा; दर्शित-मार्गेण—दिखलाये गये मार्ग द्वारा; साम-आदिभिः—साम, दम, तितिक्षा इत्यादि; उपायैः—साधनों से; जनताम्—सामान्य जन पर; अनुशशास—राज्य किया।

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव समस्त गुह्य वैदिक ज्ञान से परिचित थे, जिसमें सभी करणीय कर्मों से सम्बन्धित जानकारी सम्मिलित है, तो भी वे अपने को क्षत्रिय मान कर ब्राह्मणों के उन उपदेशों का अनुकरण करते थे, जिनका सम्बन्ध साम (मन पर नियंत्रण), दम (इन्द्रियों पर नियंत्रण), तितिक्षा (सहनशीलता) इत्यादि से था। इस प्रकार उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म पद्धति से जनता पर शासन किया। इसके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रियों को शिक्षा देता है और क्षत्रिय वैश्यों तथा शूद्रों के माध्यम से राज्य चलाता है।

तात्पर्य : यद्यपि ऋषभदेव समस्त वैदिक उपदेशों से भली भाँति अवगत थे तो भी सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए वे ब्राह्मणों के उपदेशों का पालन करते रहे। ब्राह्मण शास्त्रों के अनुसार उपदेश देते थे और अन्य समस्त जातियाँ उसका पालन करती थीं। *ब्रह्म* शब्द का अर्थ है "समस्त कार्यों का पूर्ण ज्ञान" और यह ज्ञान वैदिक साहित्य में गुह्य रूप से वर्णित है। ब्राह्मणों के रूप में शिक्षा-प्राप्त मनुष्यों को समस्त वैदिक साहित्य का ज्ञान होना चाहिए और इस ज्ञान का लाभ जनसाधारण को मिलना चाहिए। जनता का कर्तव्य है कि वह पूर्ण *ब्राह्मण* का अनुगमन करे। इस प्रकार कोई भी मन तथा इन्द्रियों को वश में करना सीख सकता है और धीरे-धीरे आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विविधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज. ॥ १७॥

शब्दार्थ

द्रव्य—यज्ञ की साम्रगी; देश—विशिष्ट स्थान, तीर्थ या मन्दिर; काल—उपयुक्त समय, यथा वसन्त; वयः—आयु, विशेषतया युवावस्था; श्रद्धा—अच्छाई में विश्वास; ऋत्विक्—पुरोहितगण; विविध-उद्देश—विभिन्न प्रयोजनों से विभिन्न देवताओं की पूजा करके; उपचितैः—समृद्ध होकर; सर्वैः—सभी प्रकार के; अपि—निश्चय ही; क्रतुभिः—याज्ञिक अनुष्ठानों द्वारा; यथा-उपदेशम्—उपदेश के अनुसार; शत-कृत्वः—एक सौ बार; इयाज—आराधना की।

भगवान् ऋषभदेव ने शास्त्रों के अनुसार सभी यज्ञों को सौ सौ बार सम्पन्न किया और इस प्रकार से भगवान् विष्णु को सभी प्रकार से तुष्ट किया। सभी अनुष्ठान उत्तम कोटि की सामग्री से तथा उचित समय में और पवित्र स्थानों पर युवा तथा श्रद्धालु पुरोहितों द्वारा सम्पन्न हुए। इस प्रकार भगवान् विष्णु की पूजा की गई और समस्त देवताओं को प्रसाद वितरित किया गया।

सारे अनुष्ठान तथा उत्सव सफल हुए।

तात्पर्य : कहा गया है कि—*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह* (*भागवत* ७.६.१)। अनुष्ठानों की सफलता के लिए इन्हें युवकों, हो सके तो बालकों द्वारा सम्पन्न कराया जाना चाहिए। मनुष्यों को बचपन से ही वैदिक संस्कृति की और विशेष रूप से भक्तिमय सेवा की, शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार कोई भी अपना जीवन सफल (पूर्ण) बना सकता है। वैष्णव कभी भी देवताओं का अनादर नहीं करता, किन्तु वह इतना मूर्ख नहीं होता कि प्रत्येक देवता को परमेश्वर मान ले। परमेश्वर समस्त देवताओं के स्वामी हैं, अत: सारे देवता उनके सेवक हुए। वैष्णव उन्हें परमेश्वर के दास मानता है और सीधे उन्हीं की उपासना करता है। *ब्रह्म-संहिता* में मुख्य देवताओं की उपासना *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि* शब्दों द्वारा की जाती है। मुख्य देवताओं में शिव, ब्रह्मा तथा भगवान् कृष्ण के अवतार तथा विस्तार जैसे गर्भोदकशायी विष्णु, महाविष्णु तथा अन्य समस्त विष्णुतत्त्व के साथ ही दुर्गादेवी जैसे शक्तितत्त्व उल्लेखनीय हैं। वैष्णव दैवताओं की उपासना गोविन्द के संदर्भ में करता है, स्वतंत्र रूप से नहीं। वैष्णव इतना मूर्ख नहीं होता कि वह देवताओं को भगवान् से स्वतंत्र माने। इसकी पुष्टि *चैतन्यचरितामृत* में—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—से हुई है, जिसका अर्थ है—श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और अन्य सभी उनके सेवक हैं।

भगवतर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन्वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्तर्यनुसवनं विजृम्भितस्नेहातिशयमन्तरेण. ॥ १८॥

शब्दार्थ

भगवता—भगवान्; ऋषभेण—ऋषभदेव द्वारा; परिरक्ष्यमाणे—परिरक्षित होकर; एतस्मिन्—इस; वर्षे—भूखण्ड (लोक) में; न—नहीं; कश्चन—कोई भी; पुरुषः—सामान्यजन; वाञ्छति—आकांक्षा करता है; अविद्यमानम्—उपस्थित न रहकर; इव—के समान; आत्मनः—अपने लिए; अन्यस्मात्—अन्य किसी से; कथञ्चन—किसी प्रकार से; किमपि—कुछ भी; कर्हिचित्—किसी समय; अवेक्षते—देखने का साहस करता है; भर्तरि—स्वामी के प्रति; अनुसवनम्—सदैव; विजृम्भित—बढ़ने वाले; स्नेह-अतिशयम्—अत्यन्त स्नेह; अन्तरेण—अपनी आत्मा में।

कोई भी व्यक्ति 'आकाश-कुसुम' जैसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता क्योंकि उसे पता रहता है कि ऐसी वस्तुएँ विद्यमान नहीं हैं। जब भगवान् ऋषभदेव इस भारतवर्ष-भूमि में राज्य कर रहे थे तो सामान्य जनता को भी किसी समय या किसी प्रकार से किसी वस्तु की इच्छा नहीं रह गई थी। कोई भी 'आकाश कुसुम' नहीं चाहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि

सभी लोग पूर्णतया सन्तुष्ट थे, अतः किसी को किसी भी प्रकार की वस्तु माँगने की आवश्यकता नहीं थी। सभी लोग राजा के अतीव स्नेह में मग्न थे। चूँकि यह स्नेह निरन्तर बढ़ता गया इसलिए वे किसी भी वस्तु की याचना करने के इच्छुक नहीं थे।

तात्पर्य : बंगाल में *घोड़ा-डिम्ब* शब्द प्रचलित है, जिसका अर्थ है "घोड़े का अंडा।" चूँकि घोड़ा कभी अंडे नहीं देता इसलिए इस शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। संस्कृत में एक शब्द है *ख-पुष्प*—जिसका अर्थ है "आकाश कुसुम।" आकाश में कोई पुष्प नहीं खिलता इसलिए *ख-पुष्प* या *घोड़ा-डिम्ब* जैसी वस्तुओं की कभी याचना नहीं की जाती। महाराज ऋषभदेव के राज्य में मनुष्य सभी प्रकार से सम्पन्न थे, अतः उन्हें किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं थी। राजा ऋषभदेव के सु-शासन में दैनिक जीवन की सभी वस्तुएँ प्रभूत मात्रा में उपलब्ध थीं। फलतः प्रत्येक व्यक्ति पूर्णतः संतुष्ट था और उसे किसी तरह की आवश्यकता नहीं थी। यह सरकार (शासन) की पूर्णता का परिचायक है। यदि कुशासन के कारण प्रजा दुखी रहती है, तो राज्य-अधिकारी निन्दा के पात्र बनते हैं। प्रजातंत्र के इस युग में लोगों को राजतंत्र पसन्द नहीं है, किन्तु यहाँ पर ऐसा उदाहरण प्राप्त होता है, जिसमें पूरे विश्व का सम्राट वैदिक नियमों का पालन करते हुए अपनी प्रजा की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव महाराज के राज्य में सभी लोग सुखी थे।

स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां
निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; कदाचित्—एक बार; अटमानः—घूमते-घूमते; भगवान्—भगवान्; ऋषभः—ऋषभदेव; ब्रह्मावर्त-गतः—जब वे ब्रह्मावर्त नामक देश में [जिसे कुछ लोग बर्मा (ब्रह्मा) देश और कुछ कानपुर के निकट (बिठूर) कहते हैं] पहुँचे; ब्रह्म-ऋषि-प्रवर-सभायाम्—उच्चकोटि के ब्राह्मणों की सभा में; प्रजानाम्—जबकि नागरिक; निशामयन्तीनाम्—सुन रहे थे; आत्मजान्—अपने पुत्रों; अवहित-आत्मनः—सावधान; प्रश्रय—अच्छे आचरण वाले; प्रणय—भक्ति वाले; भर—अधिकता से; सु-यन्त्रितान्—सुनियंत्रित; अपि—यद्यपि; उपशिक्षयन्—शिक्षा देकर; इति—इस प्रकार; ह—ही; उवाच—कहा।

एक बार भगवान् ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त नामक देश में पहुँचे। वहाँ पर विद्वान ब्राह्मणों की एक बड़ी सभा हो रही थी और राजा के सभी पुत्र बड़े ही मनोयोग से ब्राह्मणों का उपेदश सुन रहे थे। उस सभा में, समस्त नागरिकों के समक्ष ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को शिक्षा दी, यद्यपि वे पहले से ही अच्छे आचरण वाले, भक्त और योग्य थे। उन्होंने इसलिए शिक्षा दी,

जिससे वे भविष्य में अच्छी तरह संसार का शासन चला सकें। वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यदि कोई दुखों से पूर्ण इस संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहता है, तो उसके लिए भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को दी गई शिक्षाएँ अत्यन्त मूल्यवान हैं। अगले अध्याय में उनकी शिक्षाएँ दी गई हैं।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् ऋषभदेव के लक्षण'' नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश

इस अध्याय में *भागवत-धर्म* का वर्णन किया गया है, जो भौतिक संताप से मुक्ति दिलानेवाले धार्मिक आदेशों से भी परे हैं। इसमें यह बताया गया है कि मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के लिए कुकरों तथा शूकरों की तरह अत्यधिक श्रम नहीं करना चाहिए। यह मनुष्य-जीवन परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्धों को पुनर्जागरित करने के लिए मिला है, जिसके लिए सभी प्रकार की तपस्याएँ की जानी चाहिए। तापसिक कर्म द्वारा हृदय के भौतिक कल्मष को दूर किया जा सकता है और फिर आध्यात्मिक पद प्राप्त किया जा सकता है। इस सिद्धि को पाने के लिए भक्त की शरण लेकर उसकी सेवा करनी पड़ती है। तभी मुक्ति के द्वार खुलेंगे। जो कामिनी तथा इन्द्रियतृप्ति में आसक्त रहते हैं, वे धीरे-धीरे भौतिक चेतना में उलझ जाते हैं और जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों को भोगते हैं। जो सबों के कल्याण में लगे रहते हैं और सन्तान तथा परिवार में लिप्त नहीं रहते वे *महात्मा* कहलाते हैं। इन्द्रियतृप्ति में लगे हुए, पवित्र या अपवित्र कर्म करने वाले व्यक्ति आत्मा के प्रयोजन को नहीं समझ पाते। अत: उन्हें चाहिए कि वे किसी महान् भक्त के पास जाकर उसको गुरु के रूप में स्वीकार करें। उसकी संगति से जीवन का लक्ष्य समझ में आ जायेगा। ऐसे गुरु के उपदेश से ईश्वर की भक्ति, भौतिक वस्तुओं से विरक्ति तथा भौतिक दुख तथा शोक को सहने की क्षमता प्राप्त की जा सकती है। तब सभी जीवात्माएँ समान दिखेंगी और दिव्य विषयों को जानने के लिए उत्सुकता बढ़ेगी। श्रीकृष्ण को लगातार प्रसन्न

करने का प्रयास करते रहने पर पत्नी, संतान तथा घरबार से वैराग उत्पन्न हो जाता है। तब मनुष्य समय गँवाना नहीं चाहता। इस प्रकार वह स्वरूप-सिद्ध बन जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत ऐसा व्यक्ति किसी दूसरे को भौतिक कार्यों में नहीं लगाता। जो व्यक्ति अपने भक्ति-उपदेश के द्वारा दूसरे व्यक्ति का उद्धार नहीं कर सकता वह गुरु, पिता, माता, देवता या पति होने का भागी नहीं है। ऋषभदेव ने अपने एक सौ पुत्रों को उपदेश देते हुए उन्हें अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को अपना पथ-प्रदर्शक तथा स्वामी स्वीकार करने की सलाह दी। समस्त जीवात्माओं में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं और ब्राह्मणों से वैष्णव श्रेष्ठतर हैं। वैष्णव की सेवा का अर्थ है श्रीभगवान् की सेवा। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी भरत महाराज के चरित्र तथा भगवान् ऋषभदेव द्वारा किये गये याज्ञिक अनुष्ठानों का सामान्य जनता के हित के लिए वर्णन करते हैं।

ऋषभ उवाच

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान्कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुद्ध्येद्यस्माद्ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ऋषभः उवाच—भगवान् ऋषभ ने कहा; न—नहीं; अयम्—यह; देहः—शरीर; देह-भाजाम्—समस्त देहधारियों का; नृ-लोके—इस संसार में; कष्टान्—कष्टकारक; कामान्—इन्द्रियतृप्ति, विषय; अर्हते—चाहिए; विट्-भुजाम्—विष्ठा खाने वालों का; ये—जो; तपः—तपस्या; दिव्यम्—दिव्य; पुत्रकाः—हे पुत्रो; येन—जिसके द्वारा; सत्त्वम्—हृदय; शुद्ध्येत्—पवित्र होता है; यस्मात्—जिससे; ब्रह्म-सौख्यम्—आध्यात्मिक आनन्द; तु—निश्चय ही; अनन्तम्—अनन्त।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से कहा—हे पुत्रो, इस संसार के समस्त देहधारियों में जिसे मनुष्य देह प्राप्त हुई है उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए ही दिन-रात कठिन श्रम नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा तो मल खाने वाले कूकर-सूकर भी कर लेते हैं। मनुष्य को चाहिए कि भक्ति का दिव्य पद प्राप्त करने के लिए वह अपने को तपस्या में लगाये। ऐसा करने से उसका हृदय शुद्ध हो जाता है और जब वह इस पद को प्राप्त कर लेता है, तो उसे शाश्वत जीवन का आनन्द मिलता है, जो भौतिक आनंद से परे है और अनवरत चलने वाला है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रों को मनुष्य जीवन की महत्ता बताते हैं। *देह-भाक्* शब्द से "भौतिक देह धारण करने वाले" का बोध होता है, किन्तु जिस जीवात्मा को मनुष्य देह

प्राप्त होती है उसे पशुओं से भिन्न आचरण करना चाहिए। कूकर तथा शूकर मल खाकर इन्द्रियतृप्ति कर लेते हैं। दिन भर अथक परिश्रम करने के बाद मनुष्य रात्रि के समय खा–पीकर संभोग और शयन द्वारा आनंद उठाना चाहते हैं। किन्तु इसके साथ ही उन्हें अपनी रक्षा भी करनी होती है। किन्तु यह कोई मानव सभ्यता नहीं। मनुष्य जीवन का अर्थ है आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए स्वेच्छा से कष्ट सहना। निस्सन्देह, पशुओं तथा वृक्षों को भी अपने विगत दुष्कर्मों के कारण कष्ट भोगने पड़ते हैं। किन्तु मनुष्य को दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए तपस्या के रूप में कष्टों को स्वेच्छा से अंगीकार करना चाहिए। दिव्य जीवन प्राप्त करने के अनन्तर उसे शाश्वत आनन्द प्राप्त हो सकता है। मुख्य बात तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा सुखोपभोग चाहता है, किन्तु जब तक वह इस देह में बन्दी है उसे विभिन्न प्रकार के कष्ट झेलने होते हैं। मनुष्य में उच्चतर बुद्धि पायी जाती है। हमें चाहिए कि हम गुरुजनों के उपदेश के अनुसार कार्य करें जिसमें शाश्वत सुख प्राप्त हो और हम भगवान् के धाम लौट सकें।

इस श्लोक में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि सरकार तथा विधिक संरक्षक पिता को चाहिए कि अपने अधीनस्थों को शिक्षित करके कृष्णभावनामृत तक पहुँचाएँ। कृष्णभावनामृत के बिना प्रत्येक जीव जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में सदा के लिए फँसा रहता है। इस बन्धन से छुड़ाने के लिए तथा उन्हें प्रसन्न तथा आनन्दित बनाने के लिए भक्तियोग की शिक्षा दी जानी चाहिए। विमूढ सभ्यता ही अपने नागरिकों को भक्तियोग तक पहुँचाने वाली शिक्षा से वंचित रखती है। कृष्णभक्ति के बिना मनुष्य कूकर–सूकर तुल्य है। ऋषभदेव के उपदेश वर्तमान समय में अत्यन्त अनिवार्य हैं। मनुष्यों को इन्द्रियतृप्ति के लिए घोर श्रम करने की शिक्षा दी जाती है और जीवन में उनका कोई महदुद्देश्य नहीं रहता। मनुष्य जीविकोपार्जन के लिए भोर होते ही अपने घर से निकलता है और ठसाठस भरी हुई लोकल रेलगाड़ी पकड़ता है। उसे अपने कार्यालय तक पहुँचने में एक या दो घंटे तक खड़े रहना पड़ता है। फिर वह बस पकड़के अपने कार्यालय पहुँचता है, कार्यालय में नौ से पाँच बजे तक मेहनत से काम करता है और घर लौटने में उसे फिर से दो–तीन घंटे लग जाते हैं। भोजनोपरान्त संभोग करके निद्रा में लीन हो जाता है। इन समस्त कष्टों का एकमात्र लाभ थोड़ा सा मैथुन–सुख है। *यन् मैथुनादि–गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।* ऋषभदेव स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य जीवन इस प्रकार जीने के लिए नहीं मिला, क्योंकि ऐसा भोग तो कूकर–सूकर भी करते हैं। दरअसल, कूकर–सूकर को मैथुन के लिए इतना श्रम भी नहीं

करना पड़ता। मनुष्य को चाहिए कि वह कूकर-शूकर का अनुकरण न करके भिन्न प्रकार का जीवन जिए। अत: वहाँ इसके विकल्प का उल्लेख किया गया है। मनुष्य जीवन तपस्या के लिए है। तपस्या के द्वारा वह भव-बन्धन से छूट सकता है। कृष्णभावनामृत में रहकर मनुष्य को शाश्वत सुख की गारंटी मिल जाती है। भक्तियोग के द्वारा यह जीवन निर्मल हो जाता है। जन्म-जन्मांतर तक जीवात्मा सुख की खोज करता है, किन्तु इस अकेले भक्तियोग से वह अपनी सभी समस्याओं का हल पा सकता है। फिर वह अविलम्ब भगवद्धाम जाने का भागी हो जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में की गई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! मेरे जन्म तथा कर्म दिव्य हैं, जो मनुष्य यह जान लेता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ता: प्रशान्ता
विमन्यव: सुहृद: साधवो ये ॥ २॥

शब्दार्थ

महत्-सेवाम्—आध्यात्मिक रूप से उन्नत व्यक्ति जिन्हें महात्मा कहा जाता है, उन की सेवा; द्वारम्—मार्ग; आहु:—कहते हैं; विमुक्ते:—मुक्ति का; तम:-द्वारम्—नारकीय अंधकारमय जीवन का मार्ग; योषिताम्—स्त्रियों की; सङ्गि—साथियों की; सङ्गम्—संगति, साथ; महान्त:—महात्मा; ते—वे; सम-चित्ता:—सब प्राणियों को समभाव से देखने वाले; प्रशान्ता:—अत्यन्त शान्त, ब्रह्म या भगवान् में लीन; विमन्यव:—क्रोधहीन; सुहृद:—प्रत्येक प्राणी के शुभचिन्तक; साधव:—अनिंद्य आचरण वाले योग्य भक्त; ये—जो।

आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत महापुरुषों की सेवा करके ही मनुष्य भव-बन्धन से मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर सकता है। ये महापुरुष निर्विशेषवादी तथा भक्त होते हैं। ईश्वर से तदाकार होने अथवा भगवान् का संग प्राप्त करने के इच्छुक प्रत्येक मनुष्य को महात्माओं की सेवा करनी चाहिए। ऐसे कर्मों में रुचि न रखने वाले लोग, जो स्त्री तथा मैथुन प्रेमी व्यक्तियों की संगति करते हैं उनके लिए नरक का द्वार खुला रहता है। महात्मा समभाव वाले होते हैं। वे एक जीवात्मा तथा दूसरे में कोई अन्तर नहीं देखते। वे अत्यन्त शान्त होते हैं और भक्ति में पूर्णतया लीन रहते हैं। वे क्रोधरहित होते हैं और सभी के कल्याण के लिए कार्य करते हैं। वे कोई निंद्य आचरण नहीं

करते। ऐसे व्यक्ति महात्मा कहलाते हैं।

तात्पर्य : मानव शरीर चौराहे के समान है। चाहे तो कोई मुक्ति का मार्ग ग्रहण करे या नरक जाने वाले मार्ग का अनुसरण करे। यहाँ यह बताया गया है कि कोई किस प्रकार इस मार्गों को ग्रहण करे। मुक्तिमार्ग में *महात्माओं* की संगति मिलती है तथा बन्धनमार्ग में इन्द्रियतृप्ति तथा कामासक्त व्यक्तियों का संग प्राप्त होता है। *महात्मा* दो प्रकार के होते हैं—निर्विशेषवादी तथा भक्त। यद्यपि उनका परम लक्ष्य भिन्न-भिन्न रहता है, किन्तु उद्धार की विधि एक सी है। दोनों ही शाश्वत सुख ही कामना करते हैं। एक निराकार ब्रह्म में सुख खोजता है और दूसरा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की संगति में रहकर। प्रथम श्लोक में *ब्रह्म-सौख्यम्* शब्द आया है। ब्रह्म का अर्थ शाश्वत है। निर्विशेषवादी तथा भक्त दोनों ही जीवन के शाश्वत आनन्द की खोज करते हैं। प्रत्येक दशा में पूर्ण बनने का उपदेश है। *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.८७) के शब्दों में—

असत्-संग-त्याग,—एइ वैष्णव-आचार।

स्त्री-संगी'—एक असाधु, 'कृष्णाभक्त' आर।

प्रकृति के गुणों से विरक्त रहने के लिए असत् अर्थात् भौतिकतावादी लोगों की संगति से बचना चाहिए। दो प्रकार के भौतिकतावादी (असत्) हैं—एक तो स्त्री तथा इन्द्रियतृप्ति में आसक्त हैं, दूसरे मात्र अभक्त हैं। सही दिशा है महात्माओं की संगति और उल्टी दिशा है अभक्तों तथा कामियों (स्त्रीसंगियों) से दूर रहना।

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; वा—अथवा; मयि—मुझ; ईशे—भगवान् में; कृत-सौहृद-अर्थाः—प्रेम बढ़ाने के लिए उत्सुक (दास्य, सख्य, वात्सल्य या माधुर्य भाव में); जनेषु—व्यक्तियों में; देहम्भर-वार्तिकेषु—जो शरीर का केवल निर्वाह करना चाहते हैं, जिन्हें मोक्ष की कामना नहीं है; गृहेषु—घर में; जाया—पत्नी; आत्म-ज—बच्चे, सन्तान; राति—धन या मित्र; मत्सु—से युक्त; न—नहीं; प्रीति-युक्ताः—अत्यन्त आसक्त; यावत्-अर्थाः—जितना आवश्यक है उतना ही धन संग्रह करके रहने वाले; च—तथा; लोके—इस भौतिक जगत में।

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था

जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ये—; वा—; मयि—; ईशे—; कृत-सौहृद-अर्थाः—; जनेषु—; देहम्भर-वार्तिकेषु—; गृहेषु—; जाया—; आत्म-ज—; राति—; मत्सु—; न—; प्रीति-युक्ताः—; यावत्-अर्थाः—; च—; लोके—.

ये—जो; वा—अथवा; मयि—मुझ; ईशे—भगवान् में; कृत-सौहृद-अर्थाः—प्रेम बढ़ाने के लिए उत्सुक (दास्य, सख्य, वात्सल्य या माधुर्य भाव में); जनेषु—व्यक्तियों में; देहम्भर-वार्तिकेषु—जो शरीर का केवल निर्वाह करना चाहते हैं, जिन्हें मोक्ष की कामना नहीं है; गृहेषु—घर में; जाया—पत्नी; आत्म-ज—बच्चे, सन्तान; राति—धन या मित्र; मत्सु—से युक्त; न—नहीं; प्रीति-युक्ताः—अत्यन्त आसक्त; यावत्-अर्थाः—जितना आवश्यक है उतना ही धन संग्रह करके रहने वाले; च—तथा; लोके—इस भौतिक जगत में।

जो लोग कृष्णाचेतना को पुनरुज्जीवित करने तथा अपना ईश्वर-प्रेम बढ़ाने के इच्छुक हैं, वे ऐसा कुछ नहीं करना चाहते जो श्रीकृष्ण से सम्बन्धित न हो। वे उन लोगों से मेलजोल नहीं बढ़ाते जो अपने शरीर-पालन, भोजन, शयन, मैथुन तथा स्वरक्षा में व्यस्त रहते हैं। वे गृहस्थ होते हुए भी अपने घरबार के प्रति आसक्त नहीं होते। वे पत्नी, सन्तान, मित्र अथवा धन में भी आसक्त नहीं होते, किन्तु उसके साथ ही वे अपने कर्तव्यों के प्रति अन्यमनस्क नहीं रहते। ऐसे पुरुष अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितना धन चाहिए उतना ही संग्रह करते हैं।

तात्पर्य : चाहे निर्विशेषवादी हो या भक्त, यदि वह वास्तव में आत्मतत्त्व में उन्नति करने में रुचि रखता है, तो उसे चाहिए कि उन लोगों से मेल-जोल न रखे जो तथाकथित सभ्यता के विकास द्वारा अपने शरीर-पालन में ही रुचि दिखाते हैं। न ही उसे पत्नी, सन्तान, मित्र इत्यादि के संग गृहस्थ-सुख भोगने के लिए लालायित रहना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ हो और उसे जीविकोपार्जन करना हो, तो निर्वाह के लिए जितने धन की आवश्यकता हो उतना ही संग्रह करना चाहिए। न तो इससे अधिक और न इससे कम। जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है गृहस्थ को चाहिए कि भक्तियोग—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्*—पालन के लिए धन कमाने का यत्न करे। गृहस्थ को चाहिए वह ऐसा जीवन बिताए जिससे कि श्रवण तथा कीर्तन के लिए पूरा-पूरा अवसर मिल सके। उसे चाहिए कि घर पर अर्चाविग्रह की पूजा करे, त्यौहार मनाए, मित्रों को आमंत्रित करे और उन्हें प्रसाद दे। गृहस्थ को इन्हीं कार्यों के लिए धन अर्जित करना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं।

नूनं प्रमत्त: कुरुते विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥ ४॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्संदेह; प्रमत्तः—मदान्ध; कुरुते—करता है; विकर्म—शास्त्रों में वर्जित पापकर्म; यत्—जब; इन्द्रिय-प्रीतये—इन्द्रियतृप्ति के लिए; आपृणोति—प्रवृत्त होता है; न—नहीं; साधु—अच्छा, उपयुक्त; मन्ये—मानता हूँ; यतः—जिससे; आत्मनः—आत्मा का; अयम्—यह; असन्—क्षण-भंगुर; अपि—यद्यपि; क्लेश-दः—कष्टदायक; आस—सम्भव हो सका; देहः—शरीर।

जब मनुष्य इन्द्रियतृप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मान बैठता है, तो वह भौतिक रहन-सहन के पीछे प्रमत्त होकर सभी प्रकार के पापकर्मों में प्रवृत्त होता है। वह नहीं जानता कि अपने विगत पापकर्मों के ही कारण उसे यह क्षणभंगुर शरीर प्राप्त हुआ है, जो दुखों की खान है। वास्तव में जीवात्मा को भौतिक देह नहीं मिलनी चाहिए थी, किन्तु इन्द्रियतृप्ति के लिए ऐसा हुआ है। अतः मैं मानता हूँ कि बुद्धिमान प्राणी के लिए यह शोभा नहीं देता कि वह पुनः इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में प्रवृत्त हो, जिससे एक के बाद दूसरा शरीर उसे प्राप्त होता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में इन्द्रियतृप्ति के निमित्त माँगना, उधार लेना तथा चोरी करना निन्दनीय कहा गया है क्योंकि ऐसी भावना से घोर अंधकारमय नरक प्राप्त होता है। व्यभिचार, मांसाहार, मद्यपान तथा द्यूत क्रीड़ा—ये चार प्रकार के पाप-कर्म हैं। ये ऐसे साधन हैं जिनसे दूसरी भौतिक देह धारण करके घोर कष्ट उठाने पड़ते हैं। वेदों का कथन है—*असंगो ह्ययं पुरुषः।* जीवात्मा वास्तव में इस भौतिक संसार से किसी प्रकार जुड़ा हुआ नहीं है, किन्तु इन्द्रिय-सुख उठाने की प्रवृत्ति रखने के कारण उसे ऐसी भौतिक अवस्था में पड़ना होता है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति करके अपने जीवन को पूर्ण बनाये। उसे और आगे भौतिक देह के फेर में नहीं पड़ना चाहिए।

पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥ ॥

शब्दार्थ

पराभवः—हार, कष्ट; तावत्—तब तक; अबोध-जातः—अज्ञान से उत्पन्न; यावत्—जब तक; न—नहीं; जिज्ञासते—जिज्ञासा करता है; आत्म-तत्त्वम्—आत्मा विषयक सत्य; यावत्—जब तक; क्रियाः—कर्म; तावत्—तब तक; इदम्—यह; मनः—मन; वै—निस्सन्देह; कर्म-आत्मकम्—कर्मों में व्यस्त; येन—जिसके द्वारा; शरीर-बन्धः—भौतिक शरीर का बन्धन, देह बन्धन।

जब तक जीव को आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा नहीं होती तब तक उसे अज्ञानजन्य कष्ट भोगने पड़ते हैं और उसकी पराजय होती रहती है। कर्म का फल पाप अथवा पुण्य कुछ भी हो सकता है। यदि मनुष्य किसी कर्म में व्यस्त रहता है, तो उसका मन सकाम कर्म में रँगा हुआ कहा जाता है। जब तक मन अशुद्ध रहता है, चेतना अस्पष्ट रहती है और जब तक मनुष्य सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक उसे देह धारण करनी पड़ती है।

तात्पर्य : सामान्य रूप से लोग सोचते हैं कि कष्ट से छुटकारा पाने के लिए पुण्यकार्य करना चाहिए, किन्तु यह सत्य नहीं है। भले ही मनुष्य पवित्र कर्म करे और चिन्तन-मनन करे, तो भी उसकी पराजय होती है। उसका एकमात्र लक्ष्य माया तथा समस्त कर्मों के चंगुल से छुटकारा होना चाहिए। जीवन की समस्याएँ कोरे ज्ञान, चिन्तन तथा पुण्य-कर्म करने से नहीं सुलझतीं। मनुष्य को अपने आध्यात्मिक-पद को समझने के लिए जिज्ञासा होनी चाहिए। *भगवद्गीता* (४.३७) में कहा गया है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

''जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि प्राकृत क्रियाओं के सम्पूर्ण बन्धनों को जला डालती है।''

जब तक मनुष्य आत्मा को तथा इसके कार्यों को नहीं समझ लेता, तब तक वह भौतिक बन्धन में ही माना जायेगा। *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में भी कहा गया है—*येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।* जिस मनुष्य को भक्ति का ज्ञान नहीं होता वह अपने को मुक्त हुआ मान लेता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः*—ऐसे पुरुषों को भले ही निराकार ब्रह्मज्योति प्राप्त हो जाये, किन्तु भक्ति का ज्ञान न होने के कारण उन्हें पुनः भौतिक सुख भोगने के लिए नीचे आना पड़ता है। जब तक मनुष्य कर्म तथा ज्ञान में रुचि दिखाता है, तब तक वह भौतिक जीवन के कष्टों—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि—को सहता रहता है। कर्मियों को निश्चय ही एक के बाद एक देह धारण करनी पड़ती है। जहाँ तक ज्ञानियों का प्रश्न है, जब तक वे ज्ञान की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच जाते उन्हें इस संसार में पुनः पुनः

लौटना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में व्याख्या की गई है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।* मुख्य बात है श्रीकृष्ण वासुदेव को ही सर्वस्व मानना और उन्हीं के प्रति समर्पित होना। कर्मी इसे नहीं जानता, किन्तु ईश्वर की भक्ति में लगा हुआ भक्त सम्यक् रीति से कर्म तथा ज्ञान को जानता है, अत: शुद्ध भक्त कर्म या ज्ञान में तनिक भी रुचि नहीं रखता। *अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।* वास्तविक भक्त को कर्म तथा ज्ञान रंचमात्र भी छू नहीं पाते। उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य ईश्वर की सेवा करना है।

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययात्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मनः—मन; कर्म-वशम्—कर्म के वशीभूत; प्रयुङ्क्ते —कार्य करता है; अविद्यया—अविद्या अथवा अज्ञान से; आत्मनि—जब जीवात्मा; उपधीयमाने—ढका रहता है; प्रीतिः—प्रेम; न—नहीं; यावत्—जब तक; मयि—मुझ; वासुदेवे—वासुदेव अथवा कृष्ण में; न—नहीं; मुच्यते—छुटकारा पाता है; देह-योगेन—देह के सम्पर्क से; तावत्—तब तक।

जब जीवात्मा तमोगुण से आच्छादित रहता है, तो वह न तो आत्मा को और न परम-आत्मा को समझता है और उसका मन सकाम कर्म के वशीभूत रहता है। अत: जब तक उसकी मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती, तब तक उसे देह-बन्धन को स्वीकार करने से छुटकारा नहीं मिल पाता।

तात्पर्य : जब मन सकाम कर्म से दूषित हुआ रहता है, तो जीवात्मा एक स्थिति से दूसरी में उन्नति चाहता है। सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए दिन-रात कठोर कर्म में संलग्न रहता है। वैदिक अनुष्ठानों को जानते हुए भी मनुष्य स्वर्गलोक पहुँचने का इच्छुक रहता है। वह यह भूल जाता है कि उसका वास्तविक हित भगवद्धाम को लौटने में है। सकाम कर्म करता हुआ मनुष्य विभिन्न योनियों में ब्रह्माण्ड भर में घूमता रहता है। किन्तु जब तक वह गुरु के सम्पर्क में नहीं आता वह भगवान् वासुदेव की सेवा में प्रवृत्त नहीं होता। वासुदेव को समझने के लिए कई जन्म लेने पड़ते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में पुष्टि हुई है—*वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।* अनेक जन्मों तक कष्ट भोगकर वासुदेव के चरणकमल में शरण मिलती है। जब ऐसा हो जाता है, तो

मनुष्य वास्तव में बुद्धिमान बनकर ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है। जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति को रोकने का यही एकमात्र उपाय है। इसकी पुष्टि दशाश्वमेध घाट में श्रील रूप गोस्वामी को श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा दिए गए उपदेश से होती है (*चैतन्यचरितामृत,* मध्य १९.११)—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

जीवात्मा विभिन्न रूपों तथा देहों में अनेक लोकों में भ्रमण करता रहता है और यदि दैवयोग से वह प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आता है, तो गुरु के अनुग्रह से उसे श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त होती है और उसका भक्तिपूर्ण जीवन प्रारम्भ हो जाता है।

यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापान्
आसाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥ ७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; पश्यति—देखता है; अयथा—अनावश्यक; गुण-ईहाम्—इन्द्रियतुष्टि की चेष्टा; स्व-अर्थे—आत्म-हित में; प्रमत्तः—पागल; सहसा—शीघ्र ही; विपश्चित्—ज्ञानी भी; गत-स्मृतिः—स्मृति खोकर; विन्दति—पाता है; तत्र—वहाँ; तापान्—क्लेश; आसाद्य—पाकर; मैथुन्यम्—मैथुन आश्रित; अगारम्—घर; अज्ञः—अज्ञानवश।

भले कोई कितना ही विद्वान तथा चतुर क्यों न हो, यदि वह यह नहीं समझ पाता कि इन्द्रियतृप्ति के लिए की जाने वाली चेष्टाएँ व्यर्थ ही समय की बरबादी है, तो वह पागल है। वह आत्म-हित को भूलकर इस संसार में विषयवासना-प्रधान तथा समस्त भौतिक क्लेशों के आगार अपने घर में आसक्त रहकर प्रसन्न रहना चाहता है। इस प्रकार मनुष्य मूर्ख पशु के ही तुल्य होता है।

तात्पर्य : भक्ति की निम्नतम (अधम) अवस्था में मनुष्य शुद्ध भक्त नहीं होता। *अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्*—शुद्ध भक्त होने के लिए मनुष्य को समस्त भौतिक कामनाओं से मुक्त होना चाहिए तथा उसे कर्म एवं शुष्क ज्ञान छूना तक नहीं चाहिए। निम्न अवस्था में कभी-कभी दार्शनिक चिन्तन में रुचि हो सकती है, जिस पर भक्ति का रंग चढ़ा हो। किन्तु इस अवस्था में भी मनुष्य इन्द्रियतृप्ति चाहता है और प्रकृति के गुणों से दूषित रहता है। माया का इतना जबरदस्त प्रभाव रहता है

कि ज्ञानी पुरुष भी वास्तव में यह भूल जाता है कि वह श्रीकृष्ण का चिरन्तन दास है। इसलिए वह विषयभोग के चारों ओर केन्द्रित गृहस्थ जीवन में ही आसक्त सन्तुष्ट रहता है। वह विषयी जीवन के समक्ष नत होकर समस्त प्रकार के भौतिक क्लेशों को सहन करता है। अज्ञानवश वह इस प्रकार भौतिक नियमों की साँकल से बँध जाता है।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्
जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पुंसः—पुरुष (नर) का; स्त्रियाः—स्त्री का; मिथुनी-भावम्—कामभोग वासनापूर्ण-जीवन के लिए आकर्षण; एतम्—यह; तयोः—उन दोनों का; मिथः—परस्पर; हृदय-ग्रन्थिम्—हृदयों की गाँठ; आहुः—कहते हैं; अतः—तत्पश्चात्; गृह—घर; क्षेत्र—खेत; सुत—पुत्र; आप्त—सम्बन्धी, स्वजन; वित्तैः—(तथा) धन से; जनस्य—जीवात्मा का; मोहः—मोह; अयम्—यह; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार।

स्त्री तथा पुरुष के मध्य का आकर्षण भौतिक अस्तित्व का मूल नियम है। इस भ्रांत धारणा के कारण स्त्री तथा पुरुष के हृदय परस्पर जुड़े रहते हैं। इसी के फलस्वरूप मनुष्य अपने शरीर, घर, सन्तान, स्वजन तथा धन के प्रति आकृष्ट होता है। इस प्रकार वह जीवन के मोहों को बढ़ाता है और ''मैं तथा मेरा'' के रूप में सोचता है।

तात्पर्य : स्त्री तथा पुरुष के बीच सहज आकर्षण का प्रमुख कारण विषयभोग है और विवाहित होने पर यह आकर्षण और भी दृढ़ हो जाता है। स्त्री तथा पुरुष के इस ग्रंथिल सम्बन्ध के कारण मोह उत्पन्न होता है, जिससे यह सोचना पड़ता है कि, ''अमुक पुरुष मेरा पति है'' या ''अमुक स्त्री मेरी पत्नी है।'' यह *हृदय ग्रंथि* कहलाती है। इस ग्रंथि को खोल पाना कठिन है भले ही स्त्री तथा पुरुष वर्णाश्रम के नियमों के अनुसार या तलाक देने के कारण विलग क्यों न हो लें। प्रत्येक दशा में स्त्री पुरुष के बारे में और पुरुष स्त्री के बारे में सोचता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति परिवार, धन तथा सन्तान के प्रति भौतिक रूप से आसक्त हो जाता है, भले ही ये सब क्षणिक क्यों न हों। ऐसा व्यक्ति दुर्भाग्यवश अपने आपको अपनी सम्पत्ति और धन से जोड़ लेता और उसे अपनी पहचान बना होता है। कभी-कभी संन्यास लेने के बाद भी कोई-कोई किसी मन्दिर में या अपनी कतिपय वस्तुओं में आसक्त हो जाते हैं, जिन्हें वह अपनी सम्पत्ति समझाने लगता है किन्तु ऐसी आसक्ति गृहस्थी के प्रति आकर्षण के

समान बलवती नहीं होती। परिवार की आसक्ति सबसे प्रबल मोह है। *सत्य-संहिता* में कहा गया है—

ब्रह्माद्या याज्ञवल्काद्या मुच्यन्ते स्त्री-सहायिनः।

बोध्यन्ते केचनैतेषां विशेषं च विदो विदुः॥

कभी कभी यह देखा जाता है कि ब्रह्मा जैसे महापुरुषों के लिए स्त्री तथा पुत्र बन्धन के कारण नहीं बनते। उल्टे, पत्नी आध्यात्मिक जीवन तथा मुक्ति में सहायक बनती है। तो भी अधिकांश व्यक्ति दाम्पत्य भाव की ग्रन्थि से बँधे रहते हैं, फलतः वे कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाते हैं।

यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत ।
तदा जनः सम्परिवर्ततेऽस्माद्
मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मनः—मन; हृदय-ग्रन्थिः—हृदय की गाँठ; अस्य—इस व्यक्ति का; कर्म-अनुबद्धः—पूर्व कर्मों के फलों से आबद्ध; दृढः—अत्यन्त प्रबल; आश्लथेत—ढीली पड़ती है; तदा—उस समय; जनः—बद्धजीव; सम्परिवर्तते—विमुख हो जाता है; अस्मात्—विषयी जीवन के प्रति आसक्ति से; मुक्तः—मुक्त; परम्—दिव्य लोक को; याति—जाता है; अतिहाय—त्याग कर; हेतुम्—मूल कारण।.

जब पूर्व कर्म-फलों के कारण भौतिक जीवन में फँसे हुए व्यक्ति के हृदय की मजबूत गाँठ ढीली पड़ जाती है, तो वह घर, स्त्री तथा सन्तान के प्रति अपनी आसक्ति से विमुख होने लगता है। इस तरह उसका मोह (मैं तथा मेरा) टूट जाता है, वह मुक्त हो जाता है और उसे दिव्य लोक की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : साधुओं की संगति तथा भक्ति से जब मनुष्य धीरे धीरे ज्ञान, अभ्यास तथा अनासक्ति के फलस्वरुप सांसारिक बुद्धि से मुक्त हो जाता है, तो हृदय की आसक्ति-ग्रन्थि ढीली पड़ती है। इस प्रकार वह बद्ध जीवन से मुक्त होकर भगवान् के धाम वापस जाने के लिए पात्र बन जाता है।

हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥ १०॥
मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देवसङ्गाद्गुणकीर्तनान्मे ।

निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः ॥ ११ ॥
अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक् ।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वद्
असम्प्रमादेन यमेन वाचाम् ॥ १२ ॥
सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन ।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

हंसे—परमहंस अथवा अध्यात्म में उन्नत; गुरौ—गुरु में; मयि—मुझ भगवान् में; भक्त्या—भक्ति के द्वारा; अनुवृत्या—पालन करके; वितृष्णया—इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति द्वारा; द्वन्द्व—संसार की द्वैतता का; तितिक्षया—सहिष्णुता से; च—भी; सर्वत्र—सभी जगह; जन्तोः—जीवात्मा का; व्यसन—जीवन की क्लेशमय दशा; अवगत्या—समझ कर; जिज्ञासया—सत्य के सम्बन्ध में पूछताछ द्वारा; तपसा—तपस्या से; ईहा-निवृत्त्या—इन्द्रियतृप्ति के प्रयास को त्यागने से; मत्-कर्मभिः—मेरे लिए कार्य करने से; मत्-कथया—मेरी कथा सुनकर; च—भी; नित्यम्—सदैव; मत्-देव-सङ्गात्—मेरे भक्तों की संगति से; गुण-कीर्तनात् मे—मेरे दिव्य गुणों के कीर्तन तथा महिमागान से; निर्वैर—शत्रुतारहित; साम्य—आत्मज्ञान के कारण सबों को समान देखते हुए; उपशमेन—क्रोध, शोक इत्यादि को जीत कर; पुत्राः—हे पुत्रो; जिहासया—त्याग करने की इच्छा से; देह—देह से साथ; गेह—घर के साथ; आत्म-बुद्धेः—आत्मबोध; अध्यात्म-योगेन—शास्त्रों के अध्ययन से; विविक्त-सेवया—एकान्त वास द्वारा; प्राण—श्वास; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्म—मन; अभिजयेन—नियंत्रण द्वारा; सध्र्यक्—पूर्णतया; सत्-श्रद्धया—धार्मिक ग्रन्थों में श्रद्धा उत्पन्न करके; ब्रह्मचर्येण—ब्रह्मचर्य पालन द्वारा; शश्वत्—सदैव; असम्प्रमादेन—किंकर्तव्यमूढ़ न होकर; यमेन—संयम से; वाचाम्—शब्दों का; सर्वत्र—सभी जगह; मत्-भाव—मेरा है, यह भाव; विचक्षणेन—अवलोकन द्वारा; ज्ञानेन—ज्ञान बढ़ा कर; विज्ञान—ज्ञान के सम्प्रयोग द्वारा; विराजितेन—प्रकाशित; योगेन—भक्तियोग के अभ्यास से; धृति—धैर्य; उद्यम—उत्साह; सत्त्व—विवेक; युक्तः—युक्त; लिङ्गम्—भौतिक बन्धन का कारण; व्यपोहेत्—त्यागा जा सकता है; कुशलः—पूर्ण कुशलता में; अहम्-आख्यम्—झूठा अहंकार, भौतिक संसार के साथ झूठी पहचान।

हे पुत्रो, तुम्हें सिद्ध गुरु अर्थात् परमहंस को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार तुम मुझ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर अपनी श्रद्धा तथा प्रेम रखो। तुम्हें इन्द्रियतृप्ति से घृणा करनी चाहिए तथा ग्रीष्म एवं शीत ऋतु के समान आनन्द तथा पीड़ा की द्वैतता को सहना चाहिए। उन जीवात्माओं की कष्टमय दशा को समझने का प्रयास करो, जो स्वर्ग में भी दुखी रहती हैं। सत्य का दार्शनिक तौर पर अन्वेषण करो। फिर भक्ति के निमित्त समस्त प्रकार की तपस्या करो। इन्द्रिय-सुख के लिए प्रयत्नों का परित्याग करके ईश्वर की सेवा में लगो। भगवान् की कथा का श्रवण करो और सदैव भक्तों की संगति करो। ईश्वर का कीर्तन और गुणगान करो और सबों को आध्यात्मिक स्तर पर समभाव से देखो। शत्रुता त्याग कर क्रोध तथा शोक का दमन करो। स्वयं को देह तथा घर के साथ न जोड़ते हुए शास्त्रों का अध्ययन करो। एकान्त वास करो और प्राणवायु (श्वास), मन तथा इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करने का अभ्यास करो। वैदिक साहित्य अर्थात् शास्त्रों पर पूर्ण

श्रद्धा रखो और सदैव ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो। अपने कर्तव्यों को करते हुए व्यर्थ की बातें करने से बचो। सदैव भगवान् का चिन्तन करते हुए सही स्रोत से ज्ञान प्राप्त करो। इस प्रकार उत्साह एवं धैर्यपूर्वक भक्तियोग का अभ्यास करते रहने से तुम्हारा ज्ञान बढ़ेगा और अहंकार जाता रहेगा।

तात्पर्य : इन चार श्लोकों में ऋषभदेव अपने पुत्रों को बताते हैं कि वे किस प्रकार अहंकार तथा सांसारिक बद्ध जीवन से उत्पन्न झूठी पहचान से मुक्त हो सकते हैं। उपर्युक्त विधि से अभ्यास करने पर धीरे धीरे मुक्त हुआ जा सकता है। इन निर्दिष्ट विधियों से भौतिक शरीर (*लिङ्गं व्यपोहेत्*) का परित्याग करके अपने मूल आत्म-देह में स्थित हुआ जा सकता है। किन्तु सर्वप्रथम कोई प्रामाणिक गुरु बनाना पड़ता है। श्रील रूप गोस्वामी ने अपनी कृति *भक्तिरसामृतसिंधु* में इसकी सम्मति दी है—*श्री-गुरु पादाश्रय:।* भौतिक संसार के बंधनों से मुक्त होने के लिए गुरु के पास जाना होता है। *तद्-विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्।* गुरु से प्रश्न करके तथा सेवा करके आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर हुआ जा सकता है। जब कोई भक्ति में लग जाता है, तो व्यक्तिगत सुविधा—खाने, सोने तथा पहनने—का आकर्षण सहज ही कम होता जाता है। भक्त की संगति करने से आध्यात्मिक स्तर बना रहता है। *मद्-देव सङ्गात्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे अनेक तथाकथित धर्म हैं जिनमें विभिन्न देवताओं की पूजा की जाती है, किन्तु यहाँ *सङ्गात्* का अर्थ ऐसी संगति है, जो श्रीकृष्ण को ही उपास्य अर्चाविग्रह रूप में स्वीकारती है।

द्वंद्व-तितिक्षा शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक प्राणी इस संसार में रहता है, तब तक इस देह से आनन्द तथा कष्ट मिलता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं—*तांस्तितिक्षस्व भारत।* मनुष्य को इस संसार में सुख तथा दुख को सहना सीखना होता है। उसे चाहिए कि वह अपने परिवार से विरक्त होकर ब्रह्मचर्य पालन करे। शास्त्रों के अभिमत के अनुसार अपनी पत्नी के साथ संभोग करना भी ब्रह्मचर्य माना जाता है, किन्तु व्यभिचार वर्जित है, क्योंकि यह धार्मिक नियमों के विपरीत है और इससे आध्यात्मिक चेतना जाती रहती है। *विज्ञानविराजित* भी ऐसा ही महत्त्वपूर्ण शब्द है। प्रत्येक कार्य वैज्ञानिक विधि से तथा विवेकपूर्ण रीति से किया जाना चाहिए। मनुष्य को सिद्ध जीव होना चाहिए। इस प्रकार वह भौतिक बन्धन से छूट सकता है।

जैसाकि श्रीमध्वाचार्य इंगित करते हैं इन चारों श्लोकों का सार-समाहार यह है कि इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा न रखकर कार्य करते हुए ईश्वर की प्रेममय सेवा में सदैव संलग्न रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि मुक्ति का स्वीकृत मार्ग भक्तियोग है। श्रील मध्वाचार्य *अध्यात्म* से उद्धरण देते हैं—

आत्मनोऽविहितं कर्म वर्जयित्वान्यकर्मण: ।

कामस्य च परित्यागो निरीहेत्याहुरुत्तमा: ॥

मनुष्य को चाहिए कि आत्मा के लाभ हेतु ही सारे कार्य करे और अन्य कार्यों का परित्याग कर दे। जब मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त होता है, तो उसे निस्पृह कहते हैं। वास्तव में जीवात्मा कभी भी पूर्णतया निस्पृह नहीं हो सकता, किन्तु जब वह आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के हित का चिन्तन नहीं करता तो निस्पृह कहलाता है।

आध्यात्मिक ज्ञान *ज्ञान-विज्ञान-समन्वितम्* है। ज्ञान तथा विज्ञान से पूर्णतया सज्जित होने पर मनुष्य पूर्ण होता है। ज्ञान का अर्थ है भगवान् विष्णु को ही परम पुरुष समझना। विज्ञान का अर्थ है भौतिक जीवन की अविद्या से छुटकारा दिलाने वाले कार्य। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.९.३१) में कहा गया है—*ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।* भगवान् का ज्ञान परम गुह्य है और जिस परम ज्ञान से उस भगवान् को कोई समझता है उससे सभी जीवों की मुक्ति को बढ़ावा मिलता है। ऐसा ही ज्ञान विज्ञान है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि (४.९) इस प्रकार हुई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

''हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और मेरे कर्म दिव्य हैं, इस प्रकार जो मनुष्य जान लेता है, वह देह को त्याग कर फिर इस भौतिक जगत में जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।''

कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-
मविद्ययासादितमप्रमत्तः ।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात् ॥ १४॥

शब्दार्थ

कर्म-आशयम्—कर्म की आकांक्षा; हृदय-ग्रन्थि—हृदय में स्थित गाँठ; बन्धम्—बन्धन; अविद्यया—अविद्या के कारण; आसादितम्—लाई गई; अप्रमत्तः—अत्यन्त सावधान, जो मोहग्रस्त न हो; अनेन—इस; योगेन—योग-अभ्यास से; यथा-उपदेशम्—जैसा उपदेश दिया गया; सम्यक्—पूर्णतया; व्यपोह्य—मुक्त होकर; उपरमेत—विरत होना चाहिए; योगात्—मुक्ति के साधन योगाभ्यास से।

हे पुत्रो, तुम्हें मेरे उपदेश के अनुसार आचरण करना चाहिए। अत्यन्त सावधान रहना। इन विधियों से तुम लोग सकर्म-अभिलाषा की अविद्या से छूट सकोगे और तुम्हारे हृदय में स्थित बन्धनरूपी ग्रंथि पूर्णतया कट जाएगी। तदनन्तर और अधिक उन्नति के लिए तुम्हें साधनों का परित्याग कर देना चाहिए, अर्थात् तुम्हें मुक्ति-क्रिया में ही आसक्त नहीं हो जाना चाहिए।

तात्पर्य : मुक्ति की क्रिया *ब्रह्म-जिज्ञासा* है। सामान्यत: इसे *नेति नेति* कहते हैं जिसका अर्थ है, वह क्रिया जिससे परम सत्य की खोज करने के लिए अस्तित्व का विश्लेषण किया जाता है। यह विधि तब तक जारी रहती है जब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन को प्राप्त नहीं होता। यह आध्यात्मिक जीवन ब्रह्मभूत अर्थात् आत्म-अनुभूति की स्थिति है। *भगवद्गीता* (१८.४) के शब्दों में—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और वह पूर्णरुपेण प्रसन्न रहता है। वह न शोक करता है और न किसी वस्तु को पाने की इच्छा ही करता है, वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है।''

इसका उद्देश्य परा भक्ति अर्थात् परमेश्वर की दिव्य सेवा में प्रवेश करना है। इसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य अपने अस्तित्व का विश्लेषण करता है, किन्तु भक्ति में संलग्न रहने पर ज्ञान की खोज करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अविचलित भाव से मात्र भक्ति में संलग्न रहने से मनुष्य सदा मुक्त अवस्था में रहेगा (देखें *भगवद्गीता* १४.२६)—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अविचल भाव से भक्ति करना स्वयं ही *ब्रह्मभूत* है। इसकी दूसरी विशेषता है *अनेन योगेन यथोपदेशं*—गुरु से प्राप्त उपदेशों का तुरन्त पालन होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु के

उपदेशों से तनिक भी विपथ न हो, न ही उनका उल्लंघन करे। उसे चाहिए कि ग्रन्थों के अवलोकन में ही न लगा रहे वरन् साथ ही साथ गुरु की आज्ञा को कार्य रूप में परिणत करे (*यथोपदेशं*)। भौतिक अनुभूति का परित्याग हो सके इसके लिए योगाभ्यास करना चाहिए, किन्तु यदि मनुष्य भक्ति योग में सलग्न हो जाता है, तो इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। सच बात तो यह है कि योग्याभ्यास को छोड़ा जा सकता है किन्तु भक्ति को नहीं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.७.१०) में कहा गया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

जो *आत्माराम* (मुक्त) हैं उन्हें भी सदैव भक्ति में लगे रहना चाहिए। स्वरूप-सिद्ध होने पर योगाभ्यास छोड़ा जा सकता है, किन्तु भक्ति को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ा जा सकता। योग तथा दार्शनिक चिन्तन समेत आत्म-साक्षात्कार के अन्य कर्म त्यागे जा सकते हैं, किन्तु भक्ति को तो सदैव बनाये रखना चाहिए।

पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः ।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्
न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान् ।
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत
निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

पुत्रान्—पुत्रों को; च—तथा; शिष्यान्—शिष्यों को; च—तथा; नृपः—राजा; गुरुः—गुरु; वा—अथवा; मत्-लोक-कामः—मेरे धाम के इच्छुक; मत्-अनुग्रह-अर्थः—मेरे अनुग्रह को जीवन लक्ष्य मानने वाले; इत्थम्—इस प्रकार से; विमन्युः—क्रोधरहित; अनुशिष्यात्—शिक्षा देनी चाहिए; अ-तत्-ज्ञान्—आत्मज्ञान से विहीन; न—नहीं; योजयेत्—लगाना चाहिए; कर्मसु—कर्म में; कर्म-मूढान्—केवल पुण्य या पाप कर्म में रत रहने वालों को; कम्—क्या; योजयन्—प्रवृत्त करते हुए; मनु-जः—मनुष्य; अर्थम्—लाभ; लभेत—प्राप्त कर सकता है; निपातयन्—धकेल कर; नष्ट-दृशम्—दिव्य ज्योति से विहीन; हि—निस्संदेह; गर्ते—गड्ढे में।

यदि किसी मनुष्य को घर लौटने अर्थात् ईश्वर के धाम वापस जाने की अभिलाषा हो, तो उसे चाहिए कि वह भगवान् के अनुग्रह को जीवन का परम लक्ष्य माने। यदि वह पिता है, तो अपने पुत्रों को, यदि गुरु है, तो अपने शिष्यों को और यदि राजा है, तो अपनी प्रजा को, इसी प्रकार शिक्षा दे जैसा कि मैंने उपदेश दिया है। उसे चाहिए कि क्रोधरहित होकर इन्हें शिक्षा देते रहें, भले ही शिष्य, पुत्र अथवा प्रजा उनकी आज्ञा का पालन करने में कभी-कभी असमर्थ क्यों

न रहें। कर्म-मूढ़ों को जो पाप एवं पुण्य कर्मों में लगे रहते हैं, चाहिए कि वे सभी प्रकार से भक्ति में लगें। उन्हें सकाम कर्म से सदैव बचना चाहिए। यदि शिष्य, पुत्र या प्रजा, जो दिव्य दृष्टि से रहित हो, उसे कर्म के बन्धन में डाला जाये तो भला वह कैसे लाभान्वित होगा? यह अंधे मनुष्य को अंधेरे कुएं तक ले जाने और उसे गिरने देने जैसा है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.२६) में कहा गया है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

"ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि सकाम कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे अर्थात् उन्हें कर्म से विमुख न करे; वरन् अपने आचरण से उन्हें भक्तिभाव के साथ कर्म करने में ही लगाये।"

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान्समीहेत निकामकामः ।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

लोकः—लोग; स्वयम्—स्वयं; श्रेयसि—कल्याण-मार्ग का; नष्ट-दृष्टिः—जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी है; यः—जो; अर्थान्—विषय-भोग की वस्तुएँ; समीहेत—आकांक्षा करते हैं; निकाम-कामः—इन्द्रियसुख के लिए अनेक कामेच्छाओं वाला, कामी; अन्योन्य-वैरः—परस्पर ईर्ष्यालु होकर; सुख-लेश-हेतोः—केवल क्षणिक सुख के लिए; अनन्त-दुःखम्—अपार कष्ट; च—भी; न—नहीं; वेद—जानते हैं; मूढः—मूढ़ लोग, मूर्ख।

अज्ञानवश भौतिकतावादी व्यक्ति अपना सच्चा हित नहीं समझ पाता जो जीवन का कल्याणकारी मार्ग है। वह भौतिक सुख की कामेच्छाओं से बँधा रहता है और उसकी सारी योजनाएँ इसी एक कार्य के लिए तैयार की जाती हैं। ऐसा व्यक्ति क्षणिक सुख के लिए वैरपूर्ण समाज की सृष्टि करता है और अपनी मानसिकता के कारण वह दुख के सागर में कूद पड़ता है। ऐसे मूर्ख व्यक्ति को इसका ज्ञान भी नहीं होता।

तात्पर्य : *नष्टदृष्टिः* शब्द का अर्थ है, "जो भविष्य को नहीं देख पाता" और यह शब्द इस श्लोक में अत्यन्त सार्थक है। प्राण तो एक शरीर से दूसरे में चलते रहते हैं और इस जीवन में किये गये कर्मों का अच्छा या बुरा फल इसी जन्म में अन्यथा अगले जन्म में मिलता रहता है। जो अल्पज्ञ है और

भविष्य को नहीं देख सकता वह इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यों से दुश्मनी मोल लेता है और लड़ता-भिड़ता रहता है। इसके फलस्वरूप उसे अगले जीवन में कष्ट उठाना पड़ता है। किन्तु वह अन्धे व्यक्ति की भाँति कार्य करता है, जिससे उसे निरन्तर कष्ट झेलने पड़ते हैं। ऐसा व्यक्ति मूढ़ है, क्योंकि वह मात्र अपना समय गँवाता है और ईश्वर की भक्ति को नहीं समझ पाता। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२) में कहा गया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

"मैं मूढ़ तथा अल्पज्ञ मनुष्यों के समक्ष कभी प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी योगमाया में छिपा रहता हूँ। इस प्रकार मोहित हुआ संसार मुझ अजन्मे तथा अच्युत को नहीं जान पाता।"

कठोपनिषद् में भी कहा गया है—*अविद्यामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।* अब भी कुछ अज्ञानी लोग दूसरे अन्धे लोगों के पास नेतृत्व प्राप्त करने के लिए जाते हैं, फलस्वरूप इन दोनों को कष्ट उठाना पड़ता है। एक अन्धा दूसरे अन्धे को खड्डे में ले जाने वाला होता है।

कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चिद्
अविद्यायामन्तरे वर्तमानम् ।
दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं
प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

कः—ऐसा कौन व्यक्ति है; तम्—उसको; स्वयम्—स्वयं; तत्-अभिज्ञः—तत्त्व-ज्ञान जानते हुए; विपश्चित्—विद्वान; अविद्यायाम् अन्तरे—अज्ञानवश; वर्तमानम्—वर्तमान रहते हुए; दृष्ट्वा—देख कर; पुनः—फिर; तम्—उसको; स-घृणः—अत्यन्त दयालु; कु-बुद्धिम्—संसार मार्ग में लिप्त; प्रयोजयेत्—लगायेगा; उत्पथ-गम्—उल्टे मार्ग पर अग्रसर होने वाला; यथा—सदृश; अन्धम्—अंधा पुरुष।

यदि कोई अज्ञानी है और संसार-पथ में लिप्त है, तो भला उसे कोई विद्वान, दयालु तथा आत्मज्ञानी पुरुष सकाम कर्म करने तथा भौतिक संसार में और अधिक फँसने के लिए क्योंकर प्रवृत्त करेगा? यदि कोई अन्धा व्यक्ति उल्टी राह पर जा रहा हो, तो ऐसा कौन-सा सज्जन पुरुष होगा, जो उसे संकट के पथ पर और आगे जाने देगा? वह इस विधि को क्यों सही मानने लगा? कोई भी बुद्धिमान अथवा दयालु व्यक्ति ऐसा नहीं होने देगा।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

गुरुः—गुरु; न—नहीं; सः—वह; स्यात्—हो; स्व-जनः—कुटुम्बी; न—नहीं; सः—ऐसा व्यक्ति; स्यात्—हो; पिता—पिता; न—नहीं; सः—वह; स्यात्—हो; जननी—माता; न—नहीं; सा—वह; स्यात्—होवे; दैवम्—अर्चाविग्रह; न—नहीं; तत्—वह; स्यात्—हो; न—नहीं; पतिः—पति; च—भी; सः—वह; स्यात्—होय; न—नहीं; मोचयेत्—उबार सकता है; यः—जो; समुपेत-मृत्युम्—बारम्बार जन्म-मृत्यु के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले को।

''जो अपने आश्रित को बारम्बार के जन्म-मृत्यु के पथ से न उबार सके उसे कभी भी गुरु, पिता, पति, माँ या आराध्य देव नहीं बनना चाहिए।''

तात्पर्य : गुरु कई प्रकार के होते हैं किन्तु ऋषभदेव का उपदेश है कि जो गुरु अपने शिष्य को जन्म-मरण के पथ से उबार सकने में असमर्थ हो उसे गुरु नहीं बनना चाहिए। श्रीकृष्ण का शुद्ध भक्त हुए बिना कोई व्यक्ति बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के पथ से अपने को बचा नहीं पाता। *त्यक्तां देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।* केवल भगवान् के धाम वापस पहुँच कर ही मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट सकता है। लेकिन जब तक मनुष्य सचमुच ही परमेश्वर को नहीं समझता, तब तक वह परम धाम वापस कैसे जा सकता है? *जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।*

इतिहास में ऋषभदेव के उपदेशों का दृष्टान्त प्रस्तुत करने वाली कई घटनाएँ हैं। बलि महाराज ने शुक्राचार्य का इसलिए परित्याग किया, क्योंकि वे उन्हें जन्म-मरण के मार्ग से बचाने में असमर्थ रहे। शुक्राचार्य शुद्ध भक्त नहीं थे, वे न्यूनधिक सकाम कर्म में प्रवृत्त थे और जब बलि महाराज ने भगवान् विष्णु को अपना सर्वस्व देना चाहा तो शुक्राचार्य ने उन्हें रोका। वास्तव में, मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना सर्वस्व ईश्वर को अर्पित कर दे क्योंकि सब कुछ उन्हीं का है। फलस्वरूप परमेश्वर ने *भगवद्गीता* (९.२७) में उपदेश दिया है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

''हे कुन्तीपुत्र! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है या जो भी दान देता है और तपस्या करता है, वह सब मुझे अर्पित कर।'' यह भक्ति है। बिना भक्त बने कोई मनुष्य परमेश्वर को सर्वस्व अर्पित नहीं कर सकता और जब तक वह ऐसा नहीं करता, तब तक वह गुरु, पति,

पिता या माता नहीं बन सकता। इसी प्रकार यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों की पत्नियों ने अपने पतियों को त्याग दिया जिससे वे श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट कर सकें। यह ऐसा उदाहरण है, जिसमें एक पत्नी अपने पति का परित्याग इसलिए करती है, क्योंकि वह जन्म-मरण के आसन्न संकटों से उसे नहीं उबार सकता। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता तथा भरत महाराज ने अपनी माता का परित्याग किया (*जननी न सा स्यात्*)। *दैवम्* शब्द देवता या अपने अधीन की अर्चना स्वीकार करने वाले का द्योतक है। सामान्य रूप से गुरु, पति, पिता, माता या गुरु-परिजन अपने से कनिष्ठ परिजन की आराधना स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु यहाँ पर ऋषभदेव इसके लिए मना करते हैं। पहले तो पिता, गुरु वा पति को इतना सक्षम होना चाहिए कि अपने आश्रित को बारम्बार जन्म तथा मृत्यु से उबार सके। यदि वे ऐसा नहीं कर पाते तो वे अपने अवैधिक कर्मों के कारण भर्त्सना के सागर में डूबते हैं। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपने आश्रित का वैसा ही ध्यान रखे जैसे कि गुरु अपने शिष्य का या कि पिता अपने पुत्र का रखता है। ये सारे उत्तरदायित्व ठीक प्रकार से एकसाथ तब तक नहीं निभाये जा सकते जब तक अपने आश्रित को जन्म-मरण के चक्कर से उबारा न जा सके।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्
अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; शरीरम्—दिव्य देह अथवा सच्चिदानन्द विग्रह; मम—मेरा; दुर्विभाव्यम्—अकल्पनीय; सत्त्वम्—भौतिक गुणरहित; हि—निस्संदेह; मे—मेरा; हृदयम्—हृदय; यत्र—जहाँ पर; धर्मः—धर्म का वास्तविक पद अथवा भक्तियोग; पृष्ठे—पीठ पर; कृतः—बनाया हुआ; मे—मेरे द्वारा; यत्—क्योंकि; अधर्मः—अधर्म; आरात्—अत्यन्त दूर; अतः—इसलिए; हि—निस्संदेह; माम्—मुझको; ऋषभम्—जीवों में श्रेष्ठ; प्राहुः—पुकारते हैं; आर्याः—श्रेष्ठ जन, सत्पुरुष।

मेरा दिव्य शरीर (*सच्चिदाननन्द विग्रह*) मानव सदृश दिखता है, किन्तु यह भौतिक मनुष्य-शरीर नहीं है। यह अकल्पनीय है। मुझे प्रकृति द्वारा बाध्य होकर किसी विशेष प्रकार का शरीर नहीं धारण करना पड़ता, मैं अपनी इच्छानुकूल शरीर धारण करता हूँ। मेरा हृदय भी दिव्य है और मैं सदैव अपने भक्तों का कल्याण चाहता रहता हूँ। इसलिए मेरे हृदय में भक्ति पूरित है, जो भक्तों के लिए है। मैंने अधर्म को हृदय से बहुत दूर भगा दिया है। मुझे अभक्ति के कार्य बिल्कुल अच्छे नहीं लगते। इन दिव्य गुणों के कारण सामान्य रूप से लोग मेरी उपासना भगवान्

ऋषभदेव के रूप में करते हैं, जो भी जीवात्माओं में श्रेष्ठ है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्* शब्द उल्लेखनीय हैं। सामान्य रूप से हम दो प्रकार की शक्तियों का अनुभव करते हैं—भौतिक शक्ति (माया) तथा आध्यात्मिक शक्ति। हमें भौतिक शक्ति (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि, अहं) का कुछ-कुछ अनुभव है, क्योंकि भौतिक जगत में सबों का शरीर इन्हीं तत्त्वों से बना होता है। भौतिक शरीर के भीतर आत्मा होती है, किन्तु उसे हम भौतिक आँखों से नहीं देख सकते। जब हम आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण शरीर देखते हैं, तो हमारे लिए यह समझ पाना कठिन हो जाता है कि आध्यात्मिक शक्ति को शरीर कैसे प्राप्त हो सकता है। कहा जाता है कि ऋषभदेव का शरीर पूर्णतया दिव्य है, अत: संसारी पुरुष के लिए उसको समझ पाना कठिन है। उसके लिए पूर्णतया आध्यात्मिक शरीर अकल्पनीय है। जब हमें व्यावहारिक बुद्धि से कोई विषय समझ में नहीं आता तो हमें वेदों की दृष्टि ग्रहण करनी चाहिए। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।* परमेश्वर का शरीर स्वरूप युक्त होता है, किन्तु यह भौतिक तत्त्वों का बना हुआ नहीं रहता। यह आध्यात्मिक आनन्द, शाश्वतता तथा चेतना से बना होता है। भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से ईश्वर अपने आदि-दिव्य शरीर में प्रकट हो सकता है, किन्तु ऐसे शरीर का कोई अनुभव न होने से हम कभी कभी मोहग्रस्त हो जाते हैं और ईश्वर के रूप को भौतिक समझ बैठते हैं। मायावादी दार्शनिक ईश्वर की दिव्य देह की कल्पना करने में सर्वथा अक्षम हैं। उनका कथन है कि आत्मा सदैव निराकार है, अत: जब भी वे किसी साकार वस्तु को देखते हैं, तो उसे भौतिक मान बैठते हैं। *भगवद्गीता* (९.११) में कहा गया है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

''जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव तथा मेरे परम साम्राज्य को नहीं जानते।''

अज्ञानी लोग सोचते हैं कि परमेश्वर भौतिक शक्ति से बने शरीर को धारण करते हैं। भौतिक शरीर सरलता से हमारी समझ में आ जाता है, किन्तु आध्यात्मिक शरीर नहीं। अत: ऋषभदेव कहते हैं—*इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्*—वैकुण्ठ जगत में प्रत्येक का शरीर आध्यात्मिक होता है। यहाँ भौतिक अस्तित्व

की कोई संकल्पना नहीं है। वैकुण्ठ जगत में केवल सेवा है और सेवा की प्राप्ति। यहाँ सेव्य, सेवा तथा सेवक ये तीन ही हैं। ये तीनों पूर्णतया आध्यात्मिक हैं अत: वैकुण्ठ जगत परम है। इसमें भौतिक कलुष छू तक नहीं गया। भौतिक संकल्पना से नितान्त परे होने से भगवान् ऋषभदेव कहते हैं कि उनका हृदय धर्म से बना है। *भगवद्गीता* (१८.६६) में *धर्म* की व्याख्या इस प्रकार की गई है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* वैकुण्ठ जगत में प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर को समर्पित है और पूर्णतया आध्यात्मिक पद पर आसीन है। यद्यपि सेवक, सेव्य तथा सेवा सभी हैं, किन्तु सभी आध्यात्मिक हैं और चित्र-विचित्र। इस समय हमारी भौतिक कल्पना के कारण प्रत्येक वस्तु अकल्पनीय—*दुर्विभाव्य*—है। सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ईश्वर ऋषभदेव कहलाते हैं। वैदिक पदावली में कहना चाहें तो कहेंगे—*नित्यो नित्यानाम्।* हम भी आध्यात्मिक हैं, किन्तु आश्रित हैं। अत: श्रीकृष्ण, जो परमेश्वर हैं आदि व्यक्ति हैं। ऋषभ शब्द का अर्थ है प्रमुख अथवा सर्वश्रेष्ठ और यह परम पुरुष या साक्षात् ईश्वर का सूचक है।

तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाता:
सर्वे महीयांसममुं सनाभम् ।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत: (क्योंकि मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ); **भवन्त:**—तुम लोग; **हृदयेन**—मेरे हृदय से; **जाता:**—उत्पन्न; **सर्वे**—सभी; **महीयांसम्**—सर्वश्रेष्ठ; **अमुम्**—वह; **स-नाभम्**—भ्राता; **अक्लिष्ट-बुद्ध्या**—भौतिक कलुषहीन आपकी बुद्धि से; **भरतम्**—भरत की; **भजध्वम्**—सेवा करने का यत्न मात्र करो; **शुश्रूषणम्**—सेवा; **तत्**—वह; **भरणम् प्रजानाम्**—नागरिकों (प्रजा) पर शासन।

मेरे प्रिय पुत्रो, तुम सभी मेरे हृदय से उत्पन्न हो जो समस्त दिव्य गुणों का केन्द्र है। अत: तुम्हें संसारी तथा ईर्ष्यालु मनुष्यों के समान नहीं होना है। तुम अपने सबसे बड़े भाई भरत को मानो, क्योंकि वह भक्ति में श्रेष्ठ है। यदि तुम लोग भरत की सेवा करोगे तो उसकी सेवा में मेरी सेवा सम्मिलित होगी और तुम स्वयमेव प्रजा पर शासन करोगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *हृदय* शब्द हृदय के अतिरिक्त *उर:* अर्थात् वक्षस्थल का भी सूचक है। हृदय वक्ष:स्थल में स्थित है। यद्यपि पुत्र तांत्रिक रूप से जननांग से उत्पन्न होता है, किन्तु वास्तव में वह हृदय से ही उत्पन्न माना जाता है। हृदय की स्थिति के अनुसार ही वीर्य शरीर का रूप धारण करता है।

अत: जब किसी के पुत्र उत्पन्न होता है, तो वैदिक प्रथा के अनुसार उसके हृदय को गर्भाधान संस्कार द्वारा शुद्ध किया जाना चाहिए। ऋषभदेव का हृदय सदा निष्कलुष एवं आध्यात्मिक था, अत: उनके हृदय से उत्पन्न सभी पुत्र आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। फिर भी ऋषभदेव ने सुझाया कि उनका सबसे ज्येष्ठ पुत्र प्रवर है इसलिए अन्यों को उसकी सेवा करनी चाहिए। भरत महाराज के सभी भाइयों को ऋषभदेव द्वारा भरत की सेवा में संलग्न रहने की सलाह दी गई। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि मनुष्य को परिवार के सदस्यों में क्यों आसक्त होना चाहिए जबकि प्रारम्भ में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को घर तथा परिवार में लिप्त नहीं होना चाहिए? किन्तु साथ ही यह भी उपदेश है—*महीयसां पादरजोऽभिषेक*—मनुष्य को महीयान अर्थात् दिव्य दृष्टि से महान् की सेवा करनी चाहिए। *महत् सेवां द्वारम् आहुर्विमुक्ते:*—महत् अर्थात् महान् भक्त की सेवा करने से मुक्ति का द्वार खुल जाता है। ऋषभदेव का परिवार कोई सामान्य परिवार न था। ऋषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र भरत विशेष रूप से महान् था। इसीलिए अन्य पुत्रों को उनकी सेवा करने का उपदेश दिया गया। यही उनका कर्तव्य था।

परमेश्वर महाराज भरत को इस लोक का प्रमुख शासक बनाने का उपदेश दे रहे थे। यही परमेश्वर की असली योजना थी। कुरुक्षेत्र के युद्ध में श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर को इस लोक का चक्रवर्ती राजा बनाना चाहते थे। वे कभी नहीं चाहते थे कि यह पद दुर्योधन को मिले। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा जा चुका है कि भगवान् ऋषभदेव का हृदय *हृदयं यत्र धर्म:* था। *भगवद्गीता* में धर्म का लक्षण बताया गया है—भगवान् को समर्पण करो। धर्म की रक्षा हेतु (*परित्राणाय साधूनाम्*) ईश्वर सदा अपने भक्त को पृथ्वी का शासक बनाना चाहते हैं। तभी सबों का कल्याण सम्भव है। ज्योंही असुर पृथ्वी का शासन सँभालता है अव्यवस्था फैल जाती है। इस समय यह जगत प्रजातांत्रिक प्रणाली के प्रति उन्मुख है, किन्तु सामान्य लोग रजो तथा तमो गुणों से कलुषित हैं। फलत: वे शासन चलाने के लिए उचित व्यक्ति नहीं चुन सकते। राष्ट्रपति का चुनाव मूर्ख शूद्रों के मतदान से होता है, अत: एक और शूद्र चुन लिया जाता है और फिर सारी सरकार दूषित हो जाती है। यदि जनता *भगवद्गीता* के नियमों का कठोरता से पालन करे तो सदैव ईश्वर का भक्त ही चुना जाएगा। फिर तो स्वत: उत्तम शासन होगा। इसलिए ऋषभदेव ने महाराज भरत को इस लोक का सम्राट बनाए जाने को कहा। भक्त की सेवा का अर्थ है परमेश्वर की सेवा, क्योंकि भक्त सदा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। जब भक्त यह भार लेता है,

तो सरकार सदैव मैत्रीपूर्ण तथा सर्व कल्याणमय होती है।

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः ।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥ २१॥
देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम् ।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥ २२॥

शब्दार्थ

भूतेषु—समस्त उत्पन्न जीवों में (चाहे चर हों या अचर); वीरुद्भ्यः—पौधों से; उदुत्तमाः—कहीं अधिक श्रेष्ठ; ये—जो; सरीसृपाः—रेंगने वाले प्राणी, यथा सर्प; तेषु—उनमें से; स-बोध-निष्ठाः—वे, जिन्होंने बुद्धि विकसित कर ली है; ततः—उनमें से; मनुष्याः—मनुष्य; प्रमथाः—भूत; ततः अपि—उनसे भी श्रेष्ठ; गन्धर्व—गंधर्वलोक के वासी (देव लोक में गायक के रूप में नियुक्त); सिद्धाः—सिद्ध लोक के वासी, जिनमें योग शक्ति रहती है; विबुध-अनुगाः—किन्नरगण; ये—जो; देव—देवता; असुरेभ्यः—असुरों की अपेक्षा; मघवत्-प्रधानाः—इन्द्र आदि; दक्ष-आदयः—दक्ष आदि; ब्रह्म-सुताः—ब्रह्मा के पुत्र; तु—तब; तेषाम्—उनमें से; भवः—भगवान् शिव; परः—श्रेष्ठ; सः—वह (शिव); अथ—आगे, और; विरिञ्च-वीर्यः—भगवान् ब्रह्मा से उत्पन्न होने से; सः—वह (ब्रह्मा); मत्-परः—मेरा भक्त; अहम्—मैं; द्विज-देव-देवः—ब्राह्मणों का उपासक अथवा ब्राह्मणों का भगवान्।.

दो प्रकार की प्रकट शक्तियों (आत्मा तथा जड़ पदार्थ) में से जीव-शक्ति (वनस्पति, घास, वृक्ष तथा पौधे) जड़ पदार्थ (पत्थर, पृथ्वी इत्यादि) से श्रेष्ठ है। इन अचर पौधों तथा वनस्पतियों की तुलना में रेंगने वाले कीट तथा सरीसृप श्रेष्ठ हैं। कीटों तथा सरीसृपों से पशु श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनमें बुद्धि है। पशुओं से मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों से भूत-प्रेत क्योंकि उनके कोई भौतिक शरीर नहीं होता। भूत-प्रेतों से गंधर्व और गंधर्वों से सिद्ध श्रेष्ठ होते हैं। सिद्धों से किन्नर और किन्नरों से असुर श्रेष्ठ हैं। असुरों से देवता और देवताओं में स्वर्ग का राजा इन्द्र श्रेष्ठ है। इन्द्र से भी श्रेष्ठ ब्रह्मा के पुत्र, जैसे कि राजा दक्ष और ब्रह्मा के इन पुत्रों में भगवान् शिव सर्वश्रेष्ठ हैं। शिव ब्रह्मा के पुत्र हैं इसलिए ब्रह्मा श्रेष्ठ माने जाते हैं किन्तु वे मुझ भगवान् के अधीन हैं। चूँकि मैं ब्राह्मणों को पूज्य मानता हूँ इसलिए ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में ब्राह्मणों का पद ईश्वर से भी बढ़कर बताया गया है। भाव यह है कि शासन का संचालन ब्राह्मणों की देखरेख में होना चाहिए। यद्यपि ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठतम पुत्र भरत को पृथ्वी का राजा बनाने की संस्तुति की तो भी उसे संसार पर अच्छा शासन करने के लिए ब्राह्मणों

की राय लेनी पड़ती थी। ईश्वर की उपासना *'ब्रह्मण्यदेव'* के रूप में होती है। ईश्वर ब्राह्मणों अर्थात् भक्तों के अत्यन्त प्रेमी हैं। यहाँ ब्राह्मण, जाति का नहीं, वरन् यह योग्य ब्राह्मण का सूचक है। ब्राह्मण में आठ गुण होने चाहिए जिनका उल्लेख श्लोक २४ में हुआ है। ये हैं साम, दम, सत्य, तितिक्षा इत्यादि। ब्राह्मणों की सदैव पूजा की जानी चाहिए और उन्हीं के निर्देशन में राजा को शासन करना चाहिए। दुर्भाग्यवश इस कलियुग में प्रजातंत्र प्रणाली में न तो कार्यकारी अधिकारी का चुनाव बुद्धिमान लोगों के द्वारा होता है न वह योग्य ब्राह्मणों द्वारा निर्देशित होता है। फलस्वरूप अव्यवस्था उत्पन्न होती है। जन-समूह को कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे भरत महाराज जैसे सर्वोत्कृष्ट भक्त को राज्य का शासक चुन सकें। यदि राज्य का प्रमुख योग्य ब्राह्मण हो तो सब कुछ ठीक रहता है।

इस श्लोक में विकासवाद का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख है। पदार्थ से जीवन के विकास के आधुनिक सिद्धान्त का इससे कुछ हद तक समर्थन होता है, क्योंकि इसमें *भूतेषु वीरुद्भ्यः* का उल्लेख है अर्थात् जीवों का विकास वनस्पतियों, घास, पौधों तथा वृक्षों से हुआ जो जड़ पदार्थों से श्रेष्ठ हैं। दूसरे शब्दों में, पदार्थ में शक्ति होती है कि वह वनस्पतियों के जीव-रूप में प्रकट हो। इस तरह जीवन पदार्थ से प्रकट होता है और पदार्थ जीवन से। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—"मैं समस्त वैकुण्ठ तथा मर्त्यलोकों का कारण हूँ। मुझसे ही प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है।"

शक्तियाँ दो प्रकार की हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक—और ये दोनों मूलतः श्रीकृष्ण से उद्भूत हैं। श्रीकृष्ण परम आत्मा हैं यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भौतिक जगत में जीवित शक्ति (सजीव) पदार्थ से उत्पन्न है, किन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि पदार्थ मूलतः परम व्यक्ति (आत्मा) से उत्पन्न हुआ। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक वस्तु, चाहे लौकिक हो या अलौकिक, परमेश्वर से उत्पन्न है। विकासवादी दृष्टि से जीवात्मा पूर्णता को तब प्राप्त करता है जब वह ब्राह्मण पद तक पहुँच जाता है। ब्राह्मण परब्रह्म का उपासक है और परब्रह्म ब्राह्मण की उपासना करता है। दूसरे शब्दों में, भक्त परमेश्वर के अधीन है और ईश्वर अपने भक्त को संतुष्ट रखना चाहता है। ब्राह्मण को *द्विजदेव* कहा जाता है और ईश्वर *द्विज-देव-देव* अर्थात् ब्राह्मणों के देवता हैं।

चैतन्यचरितामृत (मध्य, अध्याय १९) में भी विकासवाद की व्याख्या है। उसमें कहा गया है कि

दो प्रकार के जीव हैं—जड़ तथा चेतन। चेतन जीवों में पक्षी, पशु, जलचर, मनुष्य इत्यादि परिगणित हैं। इनमें से मनुष्यों को सर्वोत्कृष्ट माना गया है किन्तु इनकी संख्या अल्प है। इन थोड़े से मनुष्यों में निम्न श्रेणी के मनुष्य कई हैं—यथा म्लेच्छ, पुलिंद, बौद्ध तथा शबर। मनुष्यों में वैदिक नियमों को मानने वाला श्रेष्ठ है। इनमें से वर्णाश्रम धर्म (वैदिक नियम) को मानने वाले कम ही हैं। इनमें से अधिकांश सकाम कर्म करते हैं या उच्च पद प्राप्त करने के लिए पवित्र कर्म करते हैं। *मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये*—अनेक सकाम कर्मियों में से कोई एक ज्ञानी होता है। *यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:*—अनेक ज्ञानियों में से कोई एक भौतिक बन्धन से मुक्त हो पाता है और ऐसे लाखों मुक्त ज्ञानियों में कोई एक कृष्णभक्त होता है।

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्रा: किमत: परं तु ।
यस्मिन्नृभि: प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ब्राह्मणै:—ब्राह्मणों के; तुलये—मैं समान मानता हूँ; भूतम्—जीव; अन्यत्—अन्य; पश्यामि—मैं देखता हूँ; विप्रा:—हे समागत ब्राह्मणो; किम्—कुछ भी; अत:—ब्राह्मणों से; परम्—श्रेष्ठ; तु—निश्चय ही; यस्मिन्—जिनमें से; नृभि:—मनुष्यों के द्वारा; प्रहुतम्—यज्ञों के विधिवत् सम्पन्न होने पर दान किया गया भोजन; श्रद्धया—श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक; अहम्—मैं; अश्नामि—खाता हूँ; कामम्—परम प्रसन्नतापूर्वक; न—नहीं; तथा—उस प्रकार; अग्नि-होत्रे—अग्नियज्ञ में।

हे पूज्य ब्राह्मणो, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, इस संसार में ब्राह्मणों के तुल्य या उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। मैं उनके तुलना योग्य किसी को नहीं पाता। वैदिक नियमों के अनुसार यज्ञ करने के पीछे जो मेरा उद्देश्य है, उसे जब लोग समझ लेते हैं, तो वे मेरे निमित्त अर्पित भोग अत्यन्त श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक ब्राह्मण-मुख के द्वारा मुझे प्रदान करते हैं। इस प्रकार प्रदत्त भोजन को मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर ग्रहण करता हूँ। निस्संदेह इस प्रकार से प्रदत्त भोजन को मैं अग्निहोत्र में होम किये भोजन की अपेक्षा अधिक प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार यज्ञ समाप्ति के पश्चात् ब्राह्मणों को आमंत्रित करके उच्छिष्ट भोजन खिलाया जाता है। जब ब्राह्मण इस भोजन को खाते हैं, तो यह माना जाता है कि परमेश्वर स्वयं इसे ग्रहण कर रहे हैं। अत: योग्य ब्राह्मणों की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। विकास की चरम सिद्धि ब्राह्मण पद पर है। ऐसी सभ्यता जो ब्राह्मण-संस्कृति पर आधारित नहीं है या जिसका मार्गदर्शन

ब्राह्मण नहीं करते वह निश्चय ही निन्दनीय है। आजकल मानवीय सभ्यता इन्द्रियतृप्ति पर आधारित है, अत: अधिक से अधिक लोग विभिन्न वस्तुओं के आदी हो रहे हैं। ब्राह्मण-संस्कृति का आदर कोई भी नहीं करता। दानवी सभ्यता उग्रकर्म के प्रति आसक्त है और अगाध काम-वासनाओं की तृप्ति के लिए बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की जाती है। फलस्वरूप जनता सरकारी करों के कारण पीड़ित रहती है, लोग अधार्मिक हैं और वे *भगवद्गीता* में बताये गये यज्ञों को सम्पन्न नहीं करते। *यज्ञाद् भवति पर्जन्य:*—यज्ञ करने से बादल बनते हैं और पानी बरसता है और प्रचुर वर्षा के कारण प्रभूत अन्न उत्पन्न होता है। यदि राज्य का संचालन ब्राह्मण करें तो समाज भी *भगवद्गीता* के नियमों का पालन करे। तभी लोग सुखी होंगे। *अन्नाद् भवन्ति भूतानि*—जब पशु तथा मनुष्य प्रचुर अन्न खाते हैं, तो वे बलिष्ठ होते हैं और उनके हृदय तथा मस्तिष्क शान्त रहते हैं। तब वे आध्यात्मिक जीवन बिता सकते हैं, जो जीवन का परम लक्ष्य है।

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम् ।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र ॥ २४॥

शब्दार्थ

धृता—दिव्य शिक्षा द्वारा धारण किया गया; तनू:—शरीर; उशती—भौतिक कलुष से मुक्त; मे—मेरा; पुराणी—शाश्वत; येन—जिससे; इह—इस संसार में; सत्त्वम्—सतोगुण; परमम्—परम, सर्वश्रेष्ठ; पवित्रम्—पवित्र; शम:—मन का नियंत्रण; दम:—इन्द्रियों का नियंत्रण; सत्यम्—सत्य; अनुग्रह:—अनुग्रह, कृपा; च—तथा; तप:—तपस्या; तितिक्षा—सहनशीलता; अनुभव:—ईश्वर तथा जीवात्मा का बोध; च—तथा; यत्र—जिसमें।

वेद मेरे शाश्वत दिव्य शब्दावतार हैं, इसलिए वे शब्द-ब्रह्म हैं। इस जगत में ब्राह्मण समस्त वेदों का सम्यक् अध्ययन करते हैं और उनको आत्मसात् कर लेते हैं, इसलिए उन्हें साक्षात् मूर्तरूप वेद माना जाता है। ब्राह्मण सतोगुणी होते हैं फलस्वरूप उनमें शम, दम एवं सत्य के गुण पाये जाते हैं। वे वेदों का मूल अर्थ वर्णन करते हैं और अनुग्रहवश समस्त बद्धजीवों को वेदों के उद्देश्य का उपदेश देते हैं। वे तपस्या तथा तितिक्षा का अभ्यास करते हैं और जीवात्मा तथा परम ईश्वर के पदों का अनुभव करते हैं। ये ही ब्राह्मणों के आठ गुण (सत्त्व, शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तपस्या, तितिक्षा यथा अनुभव) हैं। अत: समस्त जीवों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं।

तात्पर्य : यह ब्राह्मण का सही वर्णन है। ब्राह्मण वह है, जिसने मन तथा इन्द्रियों को वश में करके

वैदिक निष्कर्षों को आत्मसात् कर लिया हो। वह वेदों का सही-सही कथन करता है। इसी की पुष्टि *भगवद्गीता* (१.१) में हुई है— *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* वेदों के अध्ययन से श्रीकृष्ण की दिव्य स्थिति का पता चलेगा। जो वेदों के सार को आत्मसात् कर ले वही सत्य का उपदेश कर सकता है। भगवान् बद्धजीवों पर सदय हैं, क्योंकि वे कृष्णभक्ति से परिचित न होने के कारण संसार के तीन प्रकार के तापों को भोगते हैं। ब्राह्मण का परमधर्म है कि वह व्यक्तियों पर करुणा करे और उन्हें ऊपर उठाने के लिए कृष्णभक्ति का उपदेश दे। श्रीकृष्ण स्वयं बद्धजीवों को आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों का उपदेश देने के लिए वैकुण्ठ से इस ब्रह्माण्ड में आते हैं। वे उन्हें श्रीकृष्ण में समर्पण के लिए प्रेरित करते हैं। इसी प्रकार से ब्राह्मण भी यही कार्य करते हैं। वैदिक आदेशों को आत्मसात् करके बद्धजीवों को उबारने में वे परमेश्वर के सहायक बनते हैं। अपने उच्च सत्त्व-गुण के कारण ब्राह्मण परमेश्वर को परम प्रिय हैं। वे इस भौतिक जगत में जीव के परोपकार हेतु कार्य करते हैं।

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मत्तः—मुझसे; अपि—भी; अनन्तात्—बल तथा ऐश्वर्य में असीम; परतः परस्मात्—सर्वोच्च से ऊँचा; स्वर्ग-अपवर्ग-अधिपतेः—स्वर्ग में प्राप्य सुख को मुक्ति द्वारा अथवा भौतिक सुखोपभोग द्वारा और फिर मुक्ति द्वारा प्रदान करने में समर्थ; न—नहीं; किञ्चित्—कुछ भी; येषाम्—जिसका; किम्—क्या प्रयोजन; उ—ओह; स्यात्—क्या हो सकता है; इतरेण—जिन्हें किसी वस्तु की अन्य किसी से; तेषाम्—उनका; अकिञ्चनानाम्—आवश्यकता नहीं है अथवा जिन्हें सम्पत्ति की इच्छा नहीं; मयि—मुझमें; भक्ति-भाजाम्—भक्ति करने वाले।.

मैं ब्रह्मा तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र से भी अधिक ऐश्वर्यवान, सर्वशक्तिमान तथा श्रेष्ठ हूँ। मैं स्वर्गलोक में प्राप्त होने वाले समस्त सुखों को तथा मोक्ष को देने वाला हूँ। तो भी ब्राह्मण मुझसे भौतिक सुख की कामना नहीं करते। वे अत्यन्त पवित्र तथा निस्पृह हैं। वे एकमात्र मेरी भक्ति में लगे रहते हैं। भला उन्हें अन्य किसी से भौतिक लाभों के लिए याचना करने की क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य : यहाँ पर ब्राह्मण की सम्पूर्ण योग्यता का उल्लेख है—*अकिंचनानां मयि भक्तिभाजाम्।* ब्राह्मण सदैव ईश्वर की भक्ति में लगे रहते हैं, फलतः न उन्हें भौतिक वस्तुओं की चाह होती है, न ही

उनके पास सम्पत्ति होती है। *चैतन्यचरितामृत* (मध्य ११.८) में चैतन्य महाप्रभु ने उन शुद्ध वैष्णवों की स्थिति की व्याख्या की है, जो भगवान् के धाम वापस जाने के इच्छुक रहते हैं—*निष्किञ्चनस्य भगवद्-भजनोन्मुखस्य।* जो भगवान् के धाम वास्तव में वापस जाना चाहते हैं, वे निष्किंचन हैं—अर्थात् भौतिक सुख की उन्हें कामना नहीं रहती। श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है—*सन्दर्शनं विषयिणाम् अथ योषितां च हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु*—ऐश्वर्य तथा स्त्री-संसर्ग द्वारा इन्द्रियतृप्ति विष से भी अधिक घातक हैं। ब्राह्मण शुद्ध वैष्णव होने के कारण सदैव ईश्वर की सेवा में लगे रहते हैं और भौतिक लाभ की उनमें रंच भी इच्छा नहीं रहती। भौतिक सुख-प्राप्ति के लिए वे ब्रह्मा, इन्द्र या शिव जैसे देवताओं की पूजा नहीं करते। यहाँ तक कि परमेश्वर से भी वे भौतिक लाभ के लिए याचना नहीं करते, अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि इस संसार में ब्राह्मण श्रेष्ठ जीव हैं। *श्रीमद्भागवत* (३.२९.३३) में श्रीकपिलदेव भी इसकी पुष्टि करते हैं—

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तर:।

मय्यर्पितात्मन: पुंसो मयि संन्यस्तकर्मण:।

न पश्यामि परं भूतमकर्तु: समदर्शनात्॥

ब्राह्मण मनसा वाचा कर्मणा ईश्वर की सेवा में समर्पित रहने वाले हैं। ब्राह्मण से बढ़कर ऐसा अन्य कोई नहीं है, जो अपने आप को ईश्वर में लगाता है और समर्पित हो जाता है।

सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदु हार्हणं मे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सर्वाणि—समस्त; मत्-धिष्ण्यतया—मेरा आसन होने के कारण; भवद्भि:—तुम्हारे द्वारा; चराणि—चर; भूतानि—जीवात्माएँ; सुता:—हे पुत्रो; ध्रुवाणि—अचर; सम्भावितव्यानि—आदरणीय; पदे पदे—पग पग पर, प्रतिक्षण; व:—तुम लोगों के द्वारा; विविक्त-दृग्भि:—स्पष्ट दृष्टि तथा ज्ञान से युक्त (परमात्मा रूप में भगवान् सर्वव्यापी हैं); तत् उ—अप्रत्यक्षत: जो; ह—निश्चय ही; अर्हणम्—आदर देते हुए; मे—मुझे।

हे पुत्रो, तुम्हें चराचर किसी जीवात्मा से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। यह जानते हुए कि मैं उनमें स्थित हूँ, प्रत्येक क्षण उनका समादर करना चाहिए। इस प्रकार तुम मेरा आदर करो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विविक्त-दृग्भि:* अर्थात् ईर्ष्यारहित शब्द का प्रयोग हुआ है। सभी

जीवात्माओं में भगवान् का वास परमात्मा रूप में होता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*अण्डान्तरस्थं परमाणुचयान्तरस्थम्।* इस ब्रह्माण्ड में भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में स्थित हैं। वे प्रत्येक परमाणु में व्याप्त हैं। वेदों का कथन है—*ईशावास्यमिदं सर्वम्।* परमेश्वर सर्वत्र स्थित हैं और जहाँ कहीं भी वे स्थित हैं वह उनका मन्दिर है। हम दूर से भी मन्दिर को प्रणाम करते हैं। इसी प्रकार से समस्त जीवों को प्रणाम किया जाना चाहिए। यह उस विश्वदेवतावाद के सिद्धान्त से भिन्न है, जो प्रत्येक वस्तु को ईश्वर मानता है। ईश्वर से प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध है क्योंकि वे सर्वव्यापक हैं। हमें दरिद्र-नारायण के मूर्ख उपासकों की भाँति ऊँच-नीच में भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। नारायण तो धनी तथा निर्धन दोनों में विद्यमान हैं। किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि नारायण केवल दरिद्रों (निर्धनों) में वास करते हैं। वे सर्वत्र हैं। परम भक्त प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह कुत्ता या बिल्ली ही क्यों न हो, सम्मान प्रदान करता है। *भगवद्गीता* (.१८) में कथन है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥

''यथार्थ से विनीत साधु विद्या तथा विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल (कुत्ता-भक्षक) को समान दृष्टि से देखता है।'' इस *सम-दर्शिनः* शब्द से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जीव तथा ईश्वर एक समान हैं। वे सदैव पृथक्-पृथक् हैं। प्रत्येक मनुष्य परमेश्वर से भिन्न है। अतः *विविक्त दृक्, सम-दृक्* के आधार पर दोनों को एक समान समझना भूल होगी। भगवान् भले ही सर्वत्र रहना स्वीकार करें, किन्तु उनका पद बड़ा है। श्रील मध्वाचार्य *पद्म-पुराण* से उद्धरण देते हुए कहते हैं—*विविक्त-दृष्टि-जीवानां धिष्ण्यतया परमेश्वरस्य भेद-दृष्टिः*—''जिसकी दृष्टि विमल है और जो ईर्ष्यारहित है उसे ईश्वर प्रत्येक जीवात्मा में स्थित रह कर भी समस्त जीवात्माओं से पृथक् दिखता है।'' वे *पद्म पुराण* से और आगे भी से उद्धरण देते हैं—

उपपादयेत परात्मानं जीवेभ्यो यः पदे पदे।
भेदेनैव न चैतस्मात् प्रियो विष्णोस्तु कश्चन॥

''जो जीवात्मा तथा परमेश्वर को पृथक्-पृथक् देखता है, वह उसे परम प्रिय होता है।'' *पद्मपुराण* में ही कहा गया है—*यो हरेश्चैव जीवानां भेदवक्ता हरेः प्रियः*—''जो यह उपदेश देता है कि जीवात्मा

परमेश्वर से पृथक् है, वह भगवान् विष्णु को परम प्रिय होता है।''

मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि ।
विना पुमान्येन महाविमोहात्
कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥ २७॥

शब्दार्थ

मनः—मन; वचः—शब्द; दृक्—दृष्टि; करण—इन्द्रियों का; ईहितस्य—समस्त कर्मों (शरीर, समाज, मैत्री इत्यादि बनाये रखने के लिए) का; साक्षात्-कृतम्—प्रत्यक्षतः प्रदत्त; मे—मुझको; परिबर्हणम्—पूजा; हि—क्योंकि; विना—बिना; पुमान्—कोई व्यक्ति; येन—जो; महा-विमोहात्—परम मोह से; कृतान्त-पाशात्—यमराज के पाश से; न—नहीं; विमोक्तुम्—मुक्त होने के लिए; ईशेत्—समर्थ होता है।

मन, दृष्टि, वचन तथा समस्त ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय इन्द्रियों का वास्तविक कार्य मेरी सेवा में लगे रहना है। जब तक जीवात्मा की इन्द्रियाँ इस प्रकार सेवारत नहीं रहतीं, तब तक जीवात्मा को यमराज के पाश सदृश सांसारिक बन्धन से निकल पाना दुष्कर है।

तात्पर्य : *नारद-पंचरात्र* में कहा गया है—

सर्वोपाधिदविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

भक्ति का यही सार है। भगवान् ऋषभदेव लगातार भक्ति पर बल दे रहे थे और अब अन्त में यह कहते हैं कि इन्द्रियों को ईश्वर की सेवा में प्रवृत्त करना चाहिए। पाँच इन्द्रियों से हम ज्ञान अर्जित करते हैं और इतनी ही इन्द्रियों से कार्य करते हैं। ये दस इन्द्रियों तथा मन को पूर्णतया भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। ऐसा किये बिना माया के चंगुल से छुटकारा नहीं हो सकता।

श्रीशुक उवाच

एवमनुशास्यात्मजान्स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज. ॥ २८॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; अनुशास्य—उपदेश दे चुकने पर; आत्म-जान्—अपने पुत्रों को; स्वयम्—स्वयं; अनुशिष्टान्—सुशिक्षित; अपि—यद्यपि; लोक-अनुशासन-अर्थम्—लोगों को शिक्षा देने के लिए; महा-अनुभावः—महान् पुरुष; परम-सुहृत्—हर एक का शुभ चिन्तक; भगवान्—भगवान्; ऋषभ-अपदेशः—जो ऋषभदेव के

नाम से विख्यात हैं; उपशम-शीलानाम्—निस्पृह व्यक्तियों का; उपरत-कर्मणाम्—सकाम कर्मों से विरक्त; महा-मुनीनाम्—संन्यासी; भक्ति—भक्ति; ज्ञान—पूर्ण ज्ञान; वैराग्य—विरक्ति; लक्षणम्—लक्षण; पारमहंस्य—श्रेष्ठ मनुष्यों का; धर्मम्—कर्तव्य; उपशिक्षमाणः—उपदेश देते हुए; स्व-तनय—अपने पुत्रों का; शत—सौ; ज्येष्ठम्—जेष्ठ; परम-भागवतम्—ईश्वर का परम भक्त; भगवत्-जन-परायणम्—ईश्वर के भक्तों (ब्राह्मणों तथा वैष्णवों) का अनुगमन करने वाला; भरतम्—भरत महाराज को; धरणि-पालनाय—संसार पर राज्य करने की दृष्टि से; अभिषिच्य—अभिषेक करके, सिंहासन पर बैठाकर; स्वयम्—स्वयं; भवने—घर पर; एव—यद्यपि; उर्वरित—रहते हुए; शरीर-मात्र—केवल शरीर; परिग्रहः—स्वीकार करते हुए; उन्मत्तः—पागल; इव—सदृश; गगन-परिधानः—आकाश को अपना वस्त्र बनाते हुए, दिगम्बर; प्रकीर्ण-केशः—बिखरे वालों वाला; आत्मनि—अपने में; आरोपित—आरोप करके; आहवनीयः—वैदिक अग्नि, अग्निहोत्र; ब्रह्मावर्तात्—ब्रह्मावर्त देश से; प्रवव्राज—सम्पूर्ण संसार में घूमने लगे।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार सबके हितैषी परमेश्वर ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया। यह आदर्श प्रस्तुत करने के लिए कि गृहस्थ जीवन से विरक्त होने के पूर्व पिता अपने पुत्रों को किस प्रकार शिक्षा दे, उन्होंने उन्हें शिक्षा दी, यद्यपि वे सभी पूर्णतया शिक्षित तथा शिष्ट थे। इन उपदेशों से सकाम कर्मों से न बँधने वाले तथा अपनी भौतिक कामनाओं को नष्ट करने के बाद भक्ति में लीन रहने वाले संन्यासी भी लाभ उठाते हैं। ऋषभदेव ने अपने एक सौ पुत्रों को शिक्षा दी जिनमें से सबसे बड़ा भरत था, जो परम भक्त तथा वैष्णवों का अनुयायी था। भगवान् ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को सिंहासन पर इसलिए बिठाया कि वह सारे संसार पर शासन करे। इसके पश्चात् घर में रहते हुए भी भगवान् ऋषभदेव पागल के सदृश नंगे तथा बाल बिखेरे रहने लगे। तब यज्ञ-अग्नि को अपने में लीन करके विश्व का भ्रमण करने के लिए उन्होंने ब्रह्मावर्त को छोड़ दिया।

तात्पर्य : भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को जो उपदेश दिये वे वास्तव में उनके लिए न थे, क्योंकि वे पहले से ही शिक्षित तथा उच्चतम ज्ञानी थे। वास्तव में ये उपदेश उन संन्यासियों के लिए हैं, जो महान् भक्त बनना चाहते हैं। भक्ति पथ पर अग्रसर होने वाले संन्यासियों को चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करें। अपने परिवार में रहते हुए भी उन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दिया था और एक नग्न पागल की भाँति रहते थे।

जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव. ॥ २९॥

शब्दार्थ

जड—अचर, स्थिर; अन्ध—अंधा; मूक—गूँगा; बधिर—बहरा; पिशाच—भूत; उन्मादक—पागल; वत्—सदृश; अवधूत-वेषः—अवधूत के समान रहते हुए (संसार से विमुख); अभिभाष्यमाणः—इस प्रकार (बहरा, गूँगा तथा अंधा) संबोधित

होकर; अपि—यद्यपि; जनानाम्—लोगों द्वारा; गृहीत—ग्रहण कर लिया; मौन—न बोलने का; व्रतः—व्रत, संकल्प; तूष्णीम् बभूव—चुप रहने लगा।.

अवधूत रूप धारण करके भगवान् ऋषभदेव अंधे, बहरे तथा गूँगे, जड़, भूत अथवा पागल के समान मनुष्य-समाज में घूमने लगे। यद्यपि लोग उन्हें इन नामों से पुकारते, किन्तु वे मूक बने रहते और किसी से कुछ नहीं बोलते थे।

तात्पर्य : *अवधूत* से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जो सामाजिक नियमों, विशेष रूप से वर्णाश्रम धर्म की परवाह नहीं करता। किन्तु ऐसा व्यक्ति अपने आप में लीन रह कर भगवान् का चिन्तन करता हुआ भगवान् से परम प्रसन्न रहता है। दूसरे शब्दों में जिसने वर्णाश्रम धर्म के नियमों का अतिक्रमण कर दिया हो वह अवधूत कहलाता है। ऐसा व्यक्ति माया के बन्धन से पहले ही पार हो चुका होता है और नितान्त विलग तथा स्वतंत्र रहने वाला होता है।

तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनिचरापसदैः
परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव
वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान
एतस्मिन्देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण
स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; पुर—नगरों; ग्राम—गाँवों; आकर—खानों; खेट—खेतों; वाट—बगीचों; खर्वट—घाटी में स्थित गाँवों (पहाड़ी गाँवों); शिबिर—सेना की छावनियों; व्रज—गोशालाओं; घोष—अहीरों की बस्तियों; सार्थ—यात्रियों के विश्रामालयों; गिरि—पर्वतों; वन—जंगलों; आश्रम—मुनियों के वासस्थानों; आदिषु—इत्यादि में; अनुपथम्—मार्ग से जाते हुए; अवनिचर-अपसदैः—अवांछित तत्त्वों द्वारा, दुष्ट पुरुषों के द्वारा; परिभूयमानः—घिरकर; मक्षिकाभिः—मक्खियों से; इव—सदृश्य; वन-गजः—जंगली हाथी; तर्जन—चिंग्घाड़ से; ताडन—प्रताड़ित होकर; अवमेहन—शरीर पर पेशाब करते हुए; ष्ठीवन—शरीर पर थूकते हुए; ग्राव-शकृत्—पत्थर और मल; रजः—धूलि; प्रक्षेप—फेंकते हुए; पूति-वात—शरीर पर अधोवायु छोड़ते हुए; दुरुक्तैः—(तथा) गालियों से; तत्—वह; अविगणयन्—बिना परवाह किये; एव—इस प्रकार; असत्-संस्थाने—भद्र पुरुष के अयोग्य स्थान; एतस्मिन्—इसमें; देह-उपलक्षणे—देह के रूप में; सत्-अपदेशे—सत्य कहलाने वाला; उभय-अनुभव-स्वरूपेण—देह तथा आत्मा की वास्तविक स्थिति समझने से; स्व-महिम—अपनी महिमा में; अवस्थानेन—स्थिर हो करके; असमारोपित-अहम्-मम-अभिमानत्वात्—'मैं तथा मेरी' ममता को अस्वीकार करने से; अविखण्डित-मनाः—अविचलित मन से; पृथिवीम्—सारे संसार में; एक-चरः—अकेले; परिबभ्राम—घूमता था।.

ऋषभदेव नगरों, गाँवों, खानों, किसानों की बस्तियों, घाटियों, बागों, सैनिक छावनियों, गोशालाओं, अहीरों की बस्तियों, यात्रियों के विश्रामालयों, पर्वतों, जंगलों तथा आश्रमों के बीच घूमने लगे। जहाँ भी वे जाते, उन्हें दुष्ट जन उसी प्रकार घेर लेते जिस प्रकार जंगली हाथी को मक्खियाँ घेर लेती हैं। उन्हें डराया धमकाया और मारा जाता, उन पर पेशाब किया जाता और थूका जाता। यहाँ तक कि कभी-कभी उन पर पत्थर, विष्ठा और धूल फेंकी जाती और

कभी-कभी तो लोग उनके समक्ष अपानवायु निकालते। इस प्रकार लोग उन्हें भला-बुरा कहते और अत्यधिक यातना देते, किन्तु उन्होंने कभी भी इसकी परवाह नहीं की, क्योंकि वे यह समझते थे कि इस शरीर का यही अन्त है। वे आत्म-पद पर स्थित थे और सिद्ध होने से ऐसे भौतिक तिरस्कारों की तनिक भी परवाह नहीं करते थे। अर्थात् उन्हें इसका पूर्ण ज्ञान हो चुका था कि पदार्थ (देह) तथा आत्मा पृथक्-पृथक् हैं। उनमें देहात्म-बुद्धि न थी। अतः वे किसी पर क्रुद्ध हुए बिना सारे संसार में अकेले ही घूमने लगे।

तात्पर्य : नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं— *देह स्मृति नाहि यार, संसार-बन्धन काहाँ तार।* जब मनुष्य को यह पूरी तरह अनुभव होने लगता है कि यह देह तथा संसार क्षणिक हैं, तो उसे शारीरिक दुख तथा सुख की परवाह नहीं रहती। जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (२.१४) में में उपदेश देते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

''हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाले सुख-दुख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के मौसम के आने-जाने के समान ही अनित्य और क्षणभगुंर है। इसलिए हे भारत! बिना विचलित हुए उन्हें सहने का अभ्यास करो।''

जहाँ तक ऋषभदेव की बात है, यह पहले ही बताया जा चुका है कि *इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्।* उनका देह भूतमय नहीं था इसलिए समाज के दुश्चरित्रों ने उन्हें जो यातनाएँ दीं उन्हें उन्होंने सकृत किया। इसलिए अपने ऊपर मल फेंके जाने तथा प्रताड़ना को वे सह सके। उनका शरीर दिव्य था, अत: उन्हें पीड़ा नहीं होती थी। वे सदैव दिव्य आनन्द में मग्न रहते थे। *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

''हे अर्जुन! परमेश्वर प्राणीमात्र के हृदय में स्थित हैं। वही देहरूपी यंत्र में आरूढ़ रह कर सब जीवों को अपनी माया शक्ति से घुमाता रहता है।''

चूँकि ईश्वर सबके हृदय में स्थित है, अत: वह शूकर तथा कूकर के हृदय में भी स्थित है। यदि

शूकर तथा कूकर गन्दे स्थान में रहते हैं, तो यह नहीं समझना चाहिए कि ईश्वर भी अपने परमात्मा रूप में गन्दे स्थान में रहते हैं। यद्यपि संसार के दुर्जन ऋषभदेव को यातना दे रहे थे, किन्तु इनका उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। अत: यहाँ यह कहा गया है—*स्व महिमा-अवस्थानेन*—वे अपनी महिमा में स्थित थे। यहाँ जिस प्रकार उन्हें यातना दिये जाने का वर्णन है, उससे वे कभी दुखी नहीं हुए।

अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुलबाह्वंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायतनयनरुचिरः सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अति-सु-कुमार—अत्यन्त कोमल; कर—हाथ; चरण—पाँव; उरः-स्थल—वक्षस्थल, छाती; विपुल—दीर्घ, लम्बे; बाहु—भुजाएँ; अंस—कंधे; गल—गला; वदन—मुख; आदि—इत्यादि; अवयव—अंग; विन्यासः—सुगठित; प्रकृति—स्वभाव से; सुन्दर—आकर्षक; स्व-भाव—स्वाभाविक; हास—मन्द मुस्कान; सु-मुखः—सुन्दर मुख; नव-नलिन-दलायमान—नव विकसित कमल पुष्प की पंखड़ियों के समान दिखने वाला; शिशिर—सब दुखों को हरने वाले; तार—नेत्र गोलक; अरुण—लाली लिए हुए; आयत—फैले हुए, विशाल; नयन—नेत्रों से; रुचिरः—मोहक; सदृश—समान; सुभग—सुन्दर; कपोल—गाल; कर्ण—कान; कण्ठ—गर्दन; नासः—नासिका, नाक; विगूढ-स्मित—अस्फुट हास; वदन—मुख से; महा-उत्सवेन—उत्सव सदृश लगने वाला; पुर-वनितानाम्—पुर-नारियों के; मनसि—मन में; कुसुम-शरासनम्—कामदेव; उपदधानः—जागरित करते हुए; पराक्—चारों ओर; अवलम्बमान—खुली,फैली; कुटिल—घुँघराले; जटिल—जटायुक्त; कपिश—भूरे; केश—बालों की; भूरि-भारः—अधिकता; अवधूत—उपेक्षित; मलिन—गंदा, धूल-धूसरित; निज-शरीरेण—अपने शरीर से; ग्रह-गृहीतः—भूतग्रस्त; इव—मानो; अदृश्यत—दिखाई पड़ता था।

भगवान् ऋषभदेव के हाथ, पाँव तथा वक्षस्थल अत्यन्त दीर्घ थे। उनके कंधे, मुख तथा अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुगठित तथा सुकोमल थे। उनका मुख उनकी सहज मुस्कान से मंडित था और उनके खुले हुए लाल-लाल नेत्र ऐसे प्रतीत होते थे मानो प्रात:कालीन ओस कणों से युक्त नव विकसितकमल पुष्प की पंखड़ियाँ हों। इस कारण वे और भी अधिक सुन्दर दिखते थे उनकी पुतलियाँ इतनी मनोहर थीं कि देखने वालों का सारा सन्ताप हर लेती थीं। उनके कपोल, कान, गर्दन, नाक तथा अन्य अंग अतीव सुन्दर थे। उनके मन्द हास से उनका मुख इतना आकर्षक प्रतीत होता था कि विवाहित नारियों का भी मन खिंच जाता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो कामदेव ने अपने बाणों से उन्हें बींध दिया हो। उनके सिर के चारों ओर घुँघराली भूरी जटाएँ थीं। उनके सिर के बाल छितरे थे क्योंकि उनका शरीर गंदा और उपेक्षित था। ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्हें किसी भूत ने सता रखा हो।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् ऋषभदेव का शरीर उपेक्षित था, किन्तु उनके दिव्य अंग-प्रत्यंग इतने आकर्षक थे कि विवाहित स्त्रियाँ तक आकृष्ट हो जाती थीं। उनकी सुन्दरता तथा मलिनता के मिल जाने से उनका सुन्दर शरीर ऐसा लगता था मानो किसी भूत ने उनका पीछा कर रखा हो।

यर्हि वाव स भगवान्लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यर्हि वाव—जब; सः—उस; भगवान्—भगवान् ने; लोकम्—जनता को; इमम्—इस; योगस्य—योग का; अद्धा—प्रत्यक्ष; प्रतीपम्—विरुद्ध; इव—सदृश्य; आचक्षाणः—देखते हुए; तत्—उसकी; प्रतिक्रिया—विरोध में; कर्म—क्रिया; बीभत्सितम्—बीभत्स, घृणित; इति—इस प्रकार; व्रतम्—आचरण, वृत्ति; आजगरम्—अजगर का (एक स्थान पर पड़े रहने का); आस्थितः—स्वीकार करके; शयानः—लेटे रहना; एव—निस्सन्देह; अश्नाति—भोजन करता है; पिबति—पीता है; खादति—खाता (चबाता) है; अवमेहति—पेशाब करता है; हदति—मल-त्याग करता है; स्म—इस प्रकार; चेष्टमानः—लुढ़कते हुए; उच्चरिते—मल तथा मूत्र में; आदिग्ध-उद्देशः—इस प्रकार उसका शरीर लथपथ हो गया।.

जब भगवान् ऋषभदेव ने देखा कि जनता उनकी योग-साधना में विघ्न रूप है, तो उन्होंने इसकी प्रतिक्रिया में अजगर का सा आचरण (वृत्ति) ग्रहण कर लिया। वे एक ही स्थान पर लेटे रहने लगे। वे लेटे ही लेटे खाते, पीते, पेशाब तथा मल त्याग करते और उसी पर लोट-पोट करते। यहाँ तक कि वे अपने सारे शरीर को अपने ही मल-मूत्र से सान लेते जिससे उनके विरोधी उन्हें विचलित न करें।

तात्पर्य : अपने प्रारब्ध के अनुसार एक ही स्थान पर रहकर भी मनुष्य सुख तथा दुख उठाता है। यह शास्त्रों का आदेश है। जब वह सिद्ध हो जाता है, तो वह एक ही स्थान पर रह सकता है और परम नियन्ता उसकी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करता है। जब तक वह उपदेशक न हो, उसे संसार भर में घूमने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक स्थान पर रहते हुए मनुष्य काल तथा स्थिति के अनुसार भक्ति कर सकता है। जब ऋषभदेव ने देखा कि संसार भर में घूमते रहने से उनको बाधा पहुँचती है, तो उन्होंने अजगर तुल्य एक ही स्थान पर लेटे रहने का निश्चय किया। इस तरह वे लेटे-लेटे खाते-पीते, मल-मूत्र त्यागते और अपने शरीर को उसी में साने रहते जिससे लोग उन्हें सताएँ नहीं।

तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात्सुरभिं चकार. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी; ह—निस्संदेह; यः—जो; पुरीष—मल की; सुरभि—सुगन्धि से; सौगन्ध्य—सुरभित होकर; वायुः—वायु; तम्—उस; देशम्—देश को; दश योजनम्—दस योजन तक (एक योजन आठ मील के तुल्य); समन्तात्—चारों ओर; सुरभिम्—सुगन्धित; चकार—कर दिया।

इस अवस्था में रहने के कारण जनता ने ऋषभदेव को परेशान नहीं किया। परंतु उनके मल-मूत्र से दुर्गन्धि नहीं निकली। उल्टे, उनका मल-मूत्र इतना सुगन्धित था कि अस्सी मील तक का प्रदेश इसकी सुगन्ध से भर गया।

तात्पर्य : इस वर्णन से हम यह कल्पना कर सकते हैं कि ऋषभदेव को दिव्य आनन्द प्राप्त था। उनका मल-मूल सामान्य प्राणी के मलमूत्र से सर्वथा भिन्न था, वह सुगन्धित था। इस भौतिक लोक में भी गाय के गोबर को पवित्र और कृमिनाशक माना जाता है। एक स्थान पर गोबर का कितना बड़ा ढेर क्यों न लगा दिया जाये उससे दुर्गन्ध नहीं आएगी। हम इसे पक्का मान लें कि वैकुण्ठ-जगत में मल-मूत्र भी सुगन्धित होते हैं। वस्तुतः ऋषभदेव के मल-मूत्र से सारा वायुमण्डल अत्यन्त सुगन्धित हो गया था।

एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गो—गायों; मृग—हिरन; काक—कौवे की; चर्यया—चर्या (क्रिया) द्वारा; व्रजन्—घूमते हुए; तिष्ठन्—खड़े-खड़े; आसीनः—बैठे हुए; शयानः—लेटे हुए; काक-मृग-गो-चरितः—कौवों, हिरणों तथा गायों की भाँति आचरण करते हुए; पिबति—पीता है; खादति—खाता है; अवमेहति—पेशाब करता है; स्म—उसने ऐसा किया।

इस प्रकार ऋषभदेव ने गायों, हिरणों तथा कौवों की वृत्ति का अनुगमन किया। कभी वे इधर-इधर चलते तो कभी एक स्थान पर बैठे रहते। कभी वे लेट जाते। इस प्रकार वे गाय, हिरण तथा कौवे के समान ही आचरण करते। उन्हीं के समान वे खाते-पीते तथा मल-मूत्र का त्याग करते। इस प्रकार वे लोगों को धोखे में रखे रहे।

तात्पर्य : भगवान् होने के कारण ऋषभदेव को दिव्य देह प्राप्त थी। चूँकि सामान्य लोग उनकी वृत्ति तथा योगसाधना को नहीं समझ पाये इसलिए वे उनको तंग करने लगे। अत: उन्हें ही धोखा देने के लिए उन्होंने गाय, हरिण तथा कौवे का सा आचरण प्रारम्भ किया।

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान्कैवल्यपतिरृषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि

वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत्. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; नाना—अनेक; योग—योग की; चर्या—क्रियाएँ; आचरणः—अभ्यास करते हुए; भगवान्—भगवान्; कैवल्य-पतिः—कैवल्य के स्वामी अथवा सायुज्य मुक्ति के दाता; ऋषभः—ऋषभदेव; अविरत—निरन्तर; परम—परम; महा—अत्यधिक; आनन्द-अनुभवः—आनन्द के अनुभव द्वारा; आत्मनि—परम-आत्मा में; सर्वेषाम्—सब; भूतानाम्—जीवात्माओं के; आत्म-भूते—हृदय में स्थित होकर; भगवति—भगवान्; वासुदेवे—वसुदेव के पुत्र, श्रीकृष्ण में; आत्मनः—स्वयं का; अव्यवधान—विधान में अन्तर न आने से; अनन्त—असीम; रोदर—यथा रोदन, हास तथा सिहरन; भावेन—प्रेम के लक्षणों से; सिद्ध—सिद्ध, पूर्ण; समस्त—सब; अर्थ—वांछित धन; परिपूर्णः—पूरित; योग-ऐश्वर्याणि—योग-शक्तियाँ; वैहायस—आकाश में उड़ना; मनः-जव—मन की गति से दौड़ना; अन्तर्धान—अदृश्य होने की शक्ति; परकाय-प्रवेश—दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की क्षमता; दूर-ग्रहण—दूर की वस्तुओं को देखने की शक्ति, दूर-दृष्टि; आदीनि—इत्यादि; यदृच्छया—स्वतः, बिना किसी बाधा के; उपगतानि—प्राप्त किया; न—नहीं; अञ्जसा—प्रत्यक्षतः; नृप—हे राजा परीक्षित; हृदयेन—हृदय से; अभ्यनन्दत्—स्वीकार कर लिया।

हे राजा परीक्षित, श्रीकृष्ण के अंश भगवान् ऋषभदेव ने समस्त योगियों को योगसाधना प्रदर्शित करने के उद्देश्य से अनेक विचित्र कार्य किये। वे मुक्ति के स्वामी थे और दिव्य आनन्द में सतत लीन रहते थे। जो हजारों गुणा बढ़ गया था। वसुदेव के पुत्ररुप वासुदेव कृष्ण उनके आदि कारण हैं। उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं; फलतः भगवान् ऋषभदेव रोने, हँसने तथा थरथराने के प्रिय लक्षण प्रकट करने लगे। वे दिव्य प्रेम में सदैव निमग्न रहते। फलस्वरूप सभी योग शक्तियाँ अपने आप उनके पास पहुँचती—यथा मन की गति से आकाश-गमन, प्रकट और अदृश्य होना, अन्यों के शरीर में प्रवेश कर जाना तथा दूरस्थ वस्तुओं को देख पाना। यद्यपि वे इन सबको कर सकने में समर्थ थे, किन्तु उन्होंने इन शक्तियों का प्रयोग नहीं किया।

तात्पर्य : *चैतन्यचरितामृत* (मध्य १९.१४९) में कहा गया है—

कृष्ण भक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त'॥

शान्त शब्द का अर्थ है पूर्णतः शान्ति-युक्त। जब तक मनुष्य की समस्त कामनाएँ पूर्ण नहीं हो जातीं, वह शान्त नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य अपनी आकांक्षाओं तथा कामनाओं की पूर्ति चाहता है चाहे वे भौतिक हों या आध्यात्मिक। जगत में रहने वाले लोग अशान्त हैं क्योंकि उनकी आकाक्षाएँ अगणित है। किन्तु शुद्ध भक्त निष्काम होता है। *अन्याभिलाषिता-शून्य*—शुद्ध भक्त सभी प्रकार की भौतिक कामनाओं से मुक्त होता है। इसके विपरीत सारे कर्मी कामनाओं से युक्त होते हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति का सुख उठाना चाहते हैं। वे न तो इस जीवन में शान्त हैं, न ही अगले जीवन में होंगे। न

ही भूत काल में थे, न वर्तमान और भविष्य में। इसी प्रकार ज्ञानी लोग सदैव मुक्ति-कामी होते हैं और परमात्मा के साथ तादात्म्य चाहते हैं। योगीजन अनेक सिद्धियों के पीछे रहते हैं जैसे अनिमा, लगिमा प्राप्ति इत्यादि। किन्तु भक्त को इन वस्तुओं में कोई रुचि नहीं होती, क्योंकि वह श्रीकृष्ण के अनुग्रह पर पूरी तरह आश्रित रहता है। कृष्ण योगेश्वर हैं, समस्त योग (सिद्धियों) के स्वामी हैं। वे आत्माराम अर्थात् स्वयं-संतुष्ट हैं। इस श्लोक में योगसिद्धियों का वर्णन हुआ है। इनसे मनुष्य बिना किसी यंत्र के अन्तरिक्ष में उड़ सकता है और मन की गति से यात्रा कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब कभी योगी को इस ब्रह्माण्ड के अन्दर या बाहर कहीं जाने की इच्छा होती है, तो वह तुरन्त वहाँ पहुँच जाता है। मन की गति को निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि एक क्षण में मन लाखों मील चला जाता है। कभी-कभी सिद्ध योगी परकाय-प्रवेश करके अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं। वृद्ध होने पर कभी-कभी सिद्ध योगी तरुण तथा बलवान शरीर प्राप्त कर सकता है। अपने वृद्ध शरीर को त्याग कर वह तरुण शरीर में प्रवेश कर सकता है और इच्छानुसार कार्य कर सकता है। भगवान् वासुदेव के अंश होने के कारण ऋषभदेव में ये समस्त योगशक्तियाँ थीं, किन्तु वे श्रीकृष्ण की भक्ति से ही सन्तुष्ट थे जिसका प्रत्यक्षीकरण उनके हँसने, रोने या कंपन से होता था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छः

भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलाप

इस अध्याय में भगवान् ऋषभदेव के देह-त्याग का वर्णन है। जब उनका शरीर दावाग्नि में जल रहा था, तब भी वे अपने शरीर से आसक्त न थे। जब कर्म-बीज को ज्ञान की अग्नि से जलाया जाता है, तो दिव्यगुण तथा योगशक्तियाँ स्वतः प्रकट होती हैं, किन्तु तो भी इन योगशक्तियों का भक्तियोग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सामान्य योगी योगशक्तियों से मोहित हो जाता है और उसकी उन्नति रुक जाती है, अतः सिद्ध योगी इनको अच्छा नहीं समझता। मन अस्थिर (चंचल) तथा अविश्वसनीय है, अतः इसे सदैव नियंत्रण (वश) में रखना चाहिए। यहाँ तक कि सौभरि जैसे सिद्ध योगी का मन इतना चंचल

हो गया कि उसकी समस्त योगशक्तियाँ जाती रहीं। मन के चंचल होने से परम सिद्ध योगी भी च्युत हो सकता है। मन इतना चंचल है कि सिद्ध योगी को भी यह इन्द्रियों द्वारा वशीभूत होने पर विवश कर देता है। फलत: समस्त योगियों को उपदेश देने के लिए ही भगवान् ऋषभदेव ने देह-त्याग की क्रिया प्रदर्शित की। दक्षिण भारत में कर्नाट, कोंक, वेंक तथा कुटक प्रदेशों का भ्रमण करते हुए वे कुटकाचल के निकट पहुँचे। अचानक वहाँ जंगल में आग लग गई जिसमें वह जंगल और ऋषभदेव का शरीर जल कर राख बन गया। मुक्त जीव के रूप में ऋषभदेव की लीलाओं का पता कोंक, वेंक तथा कुटक के राजा को था। इस राजा का नाम अर्हत् था। बाद में वह माया के वशीभूत हो गया और इस स्थिति में जैनवाद का प्रवर्तक बना। ऋषभदेव ने ऐसे धर्म नियमों की स्थापना की जिनसे मनुष्य भौतिक बन्धन से मुक्त हो सके। उन्होंने सब प्रकार के नास्तिक कार्यों का अन्त कर दिया। इस धरा में भारतवर्ष नामक स्थान (देश) अत्यन्त पवित्र है, क्योंकि जब-जब परमेश्वर को अवतरित होने की इच्छा हुई, तब वे इसी भूमि में अवतरित हुए।

ऋषभदेव ने उन सभी योगशक्तियों की उपेक्षा की जिनके पीछे तथाकथित योगी फिरते रहते हैं। भक्ति की भव्यता के कारण भक्तगण तथाकथित योगशक्ति में बिल्कुल रुचि नहीं रखते। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त को ओर से सभी शक्तियों का प्रदर्शन करने वाले हैं। भक्ति योगशक्ति से कहीं अधिक मूल्यवान है। कभी कभी भक्त दिग्भ्रमित कर दिए जाते हैं और वे मुक्ति तथा योगशक्तियों की आकांक्षा करने लगते हैं। परमेश्वर इन भक्तों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। भक्ति तो उन्हीं को मिलती है, जो मुक्ति तथा योग की कामना नहीं करते हैं।

राजोवाच

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरितज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यद‍ृच्छयोपगतानि. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने पूछा; न—नहीं; नूनम्—निस्सन्देह; भगवः—हे सर्वशक्तिमान शुकदेव गोस्वामी; आत्मारामाणाम्—भक्ति में रत विशुद्ध भक्तों का; योग-समीरित—योग साधना से प्राप्त; ज्ञान—ज्ञान से; अवभर्जित—दग्ध; कर्म-बीजानाम्—कर्मरूपी बीजों का; ऐश्वर्याणि—योग शक्तियों से; पुनः—फिर; क्लेशदानि—क्लेश के कारण; भवितुम्—होने में; अर्हन्ति—समर्थ हैं; यद‍ृच्छया—स्वतः, स्वयं ही; उपगतानि—प्राप्त हो जाती हैं।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे भगवन्, जो पूर्णरूपेण विमल हृदय हैं उन्हें

भक्तियोग से ज्ञान प्राप्त होता है और सकाम कर्म के प्रति आसक्ति जलकर राख हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों में योग शक्तियाँ स्वतः उत्पन्न होती हैं। इनसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं पहुँचता, तो फिर ऋषभदेव ने उनकी उपेक्षा क्यों की?

तात्पर्य : शुद्ध भक्त भगवान् की निरन्तर सेवा करता है। भक्ति करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वे उसे स्वतः प्राप्त होती रहती हैं, यद्यपि इसे योगशक्ति के फलस्वरूप माना जा सकता है। कभी-कभी योगी सोना बना कर अपनी तुच्छ योगशक्ति का परिचय देते हैं। थोड़े से सोने से मूर्ख जनता मोहित हो जाती है और योगी के अनेक अनुयायी बन जाते हैं, जो जान-बूझ कर ऐसे तुच्छ मनुष्य को भगवान् मान बैठते हैं। ऐसा योगी अपने को भगवान् कह कर विज्ञापित करता है। किन्तु भक्त को ऐसी जादूगरी करने की आवश्यकता नहीं होती। बिना योग-साधना के ही उसे विश्व भर का इससे भी अधिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। ऐसी दशा में ऋषभदेव ने अपनी योग-सिद्धियों को प्रकट करने से इनकार किया। इसीलिए महाराज परीक्षित ने प्रश्न किया कि ऋषभदेव ने भक्त के लिए बाधक न होने वाली इन सिद्धियों को स्वीकार क्यों नहीं किया? भक्त ये ऐश्वर्य से न तो घबड़ाता है, न प्रसन्न होता है। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है कि भगवान् को किस प्रकार प्रसन्न रखा जाये। यदि भगवान् के अनुग्रह से भक्त को अभूतपूर्व ऐश्वर्य प्राप्त होता है, तो वह उसका उपयोग ईश्वर की सेवा में करता है। वह ऐश्वर्य से विचलित नहीं होता।

ऋषिरुवाच
सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एके न मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव सङ्गच्छन्ते. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; सत्यम्—सत्य वचन; उक्तम्—कहा गया; किन्तु—लेकिन; इह—इस संसार में; वा—अथवा; एके—कुछ; न—नहीं; मनसः—मन का; अद्धा—प्रत्यक्ष, साक्षात्; विश्रम्भम्—विश्वासपात्र; अनवस्थानस्य—अस्थिर होकर; शठ—अत्यन्त चालाक; किरातः—बहेलिया; इव—सदृश; सङ्गच्छन्ते—हो जाते हैं।.

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया—हे राजन्, तुमने बिल्कुल सत्य कहा है। किन्तु जिस प्रकार चालाक बहेलिया पशुओं को पकड़ने के बाद उन पर विश्वास नहीं करता, क्योंकि वे भाग सकते हैं। उसी प्रकार महापुरुष अपने मन पर भरोसा नहीं करते। दरअसल, वे सदा जागरूक रहते हुए मन की गति पर नजर रखे रहते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

''यज्ञ, तप और दान रूपी कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, इन्हें अवश्य करना चाहिए (ये कर्तव्य हैं)। वस्तुतः, यज्ञ, दान और तप इत्यादि महात्माओं को भी शुद्ध करने वाले हैं।''

जो संसार से विरक्त होकर संन्यासी हो गये हैं उन्हें ''हरे कृष्ण महामंत्र'' के कीर्तन का परित्याग नहीं करना चाहिए। संन्यास का अर्थ यह नहीं है कि संकीर्तन यज्ञ को भी त्यागा जाये। इसी प्रकार दान या तपस्या का भी परित्याग नहीं करना चाहिए। मन तथा इन्द्रियों के नियमन की योग-पद्धति का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। ऋषभदेव ने यह दिखला दिया है कि किस प्रकार से कठिन से कठिन तपस्या की जाती है। उन्होंने अन्य सभी के लिए आदर्श उपस्थित किया है।

तथा चोक्तम्—
न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते ।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; **च**—और; **उक्तम्**—कहा गया है; **न**—कदापि नहीं; **कुर्यात्**—करना चाहिए; **कर्हिचित्**—किसी समय या किसी से; **सख्यम्**—मित्रता; **मनसि**—मन से; **हि**—निश्चय ही; **अनवस्थिते**—चंचल; **यत्**—जिसमें; **विश्रम्भात्**—अत्यधिक विश्वास करने से; **चिरात्**—दीर्घ काल तक; **चीर्णम्**—अभ्यास की गई; **चस्कन्द**—विचलित हो गयी; **तपः**—तपस्या; **ऐश्वरम्**—शिव तथा सौभरि जैसे महापुरुषों की।

सभी विद्वानों ने अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। मन स्वभाव से अत्यन्त चंचल है। मनुष्य को चाहिए कि वे इससे मित्रता न करे। यदि हम मन पर पूर्ण विश्वास करते हैं, तो यह किसी क्षण धोखा दे सकता है। यहाँ तक कि शिवजी श्रीकृष्ण के मोहिनी रूप को देखकर उत्तेजित हो उठे और सौभरि मुनि भी योग की सिद्धावस्था से च्युत हो गये।

तात्पर्य : जो आत्म-जीवन में आगे बढ़ना चाहता है उसका पहला कार्य होगा कि अपने मन तथा इन्द्रियों पर संयम रखे। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.७) में श्रीकृष्ण । कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

यद्यपि जीवात्माएँ परमेश्वर के अंशरूप होने के कारण दिव्य स्थिति को प्राप्त हैं, किन्तु इस जगत में वे अपने मन तथा इन्द्रियों के कारण दुख उठा रही हैं। इन दुखों से उबरने के लिए आवश्यक है कि

मन तथा इन्द्रियों को वश में किया जाये और भौतिक स्थितियों से विरक्त हुआ जाये। मनुष्य को चाहिए कि तप करना न छोड़े। भगवान् ऋषभदेव ने साक्षात् प्रदर्शित किया कि किस प्रकार यह करना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* (९.१९.१७) में इसका विशेष रूप से उल्लेख हुआ है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा ब्रह्मचारी को स्त्री-संगति से सावधान रहना चाहिए। यहाँ तक कि अपनी माँ, बहन या लड़की के साथ एकान्त में बैठना वर्जित है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के समाज में, विशेष रूप से पश्चिमी देशों में, स्त्रियों से विलग रह पाना कठिन है। इसीलिए कभी-कभी हमारी आलोचना भी की जाती है, किन्तु हम प्रत्येक प्राणी को "हरे कृष्ण महामंत्र" जपने का समान अधिकार प्रदान कर रहे हैं और इस प्रकार उन्हें आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर बना रहे हैं। यदि हम निष्पाप भाव से हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करते रहें तो श्रील हरिदास ठाकुर के अनुग्रह से हम स्त्रियों के आकर्षण से बच सकते हैं। किन्तु यदि हम हरे कृष्ण महामंत्र के जाप में तनिक भी ढिलाई बरतेंगे तो हम किसी भी समय स्त्रियों के शिकंजे में आ सकते हैं।

नित्यं ददाति कामस्य च्छिद्रं तमनु येऽरयः ।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥४॥

शब्दार्थ

नित्यम्—सदा; ददाति—देता है; कामस्य—विषय की; छिद्रम्—सुविधा; तम्—वह (विषय); अनु—पीछा करता हुआ; ये—जो; अरयः—शत्रुजन; योगिनः—आध्यत्मिक जिवन में प्रगति की इच्छा करनेवाला अथवा योगियों का; कृत-मैत्रस्य—मन में विश्वास करके; पत्युः—पति का; जाया इव—पत्नी के समान; पुंश्चली—व्यभिचारिणी, जार पुरुषों के बहकावे में आने वाली स्त्री।

व्यभिचारिणी स्त्री जार पुरुषों के बहकावे में आसानी से आकर कभी कभी अपने पति का उनसे बध करवा देती है। यदि योगी अपने मन के ऊपर संयम नहीं रखता और उसे अवसर (छूट) प्रदान करता है, तो उसका मन एक प्रकार से काम, क्रोध तथा लोभ जैसे शत्रुओं को प्रश्रय देगा है, जो निश्चय ही योगी को मार डालेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुंश्चली* शब्द ऐसी स्त्री के लिए प्रयुक्त है जो पुरुषों के बहकावे में सुगमता से आ जाती है। ऐसी स्त्री का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। दुर्भाग्यवश, इस युग में स्त्रियों को

नियंत्रित नहीं किया जाता। शास्त्रों के निर्देशानुसार स्त्रियों को स्वतंत्र नहीं करना चाहिए। जब स्त्री कन्या रहती है, तो पिता को चाहिए कि उस पर नियंत्रण रखे। जब वह युवती हो जाये तो उसके पति को और वृद्ध होने पर उसके सयाने पुत्रों को उस पर नियंत्रण रखना चाहिए। यदि उसे स्वतंत्रता दी जाती है और पुरुषों के साथ बे रोक टोक उठने-बैठने दिया जाता है, तो वह बिगड़ (भ्रष्ट) जाएगी। ऐसी भ्रष्ट (व्यभिचारिणी) स्त्री, जार पुरुषों के बहकावे में आकर अपने पति का भी वध कर सकती है। यहाँ पर यह उद्धरण इसलिए प्रस्तुत किया गया है, जिससे सांसारिकता से मुक्त होने का इच्छुक योगी सदा ही अपने मन को संयमित रखे। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे कि प्रातः काल उठते ही मन को सौ-सौ जूते लगाना चाहिए और सोने के पूर्व मन को झाड़ू से सौ बार पीटना चाहिए। इस प्रकार से मनुष्य का मन संयमित रहता है। असंयमित मन तथा व्यभिचारिणी स्त्री की दशा एक समान है। जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री किसी भी समय अपने पति का वध कर सकती है उसी प्रकार असंयमित मन काम, क्रोध, लोभ, प्रमत्तता, ईर्ष्या तथा मोहवश योगी का वध कर देता है। जब योगी मन द्वारा संचालित होता है, तो वह संसारी स्थिति को प्राप्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह मन से उसी प्रकार सतर्क रहे जिस प्रकार व्यभिचारिणी पत्नी से पति को रहना चाहिए।

कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः ।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद्बुधः ॥ ॥

शब्दार्थ

कामः—विषय; **मन्युः**—क्रोध; **मदः**—घमंड; **लोभः**—लालच; **शोक**—पश्चात्ताप; **मोह**—मोह; **भय**—डर; **आदयः**—ये सभी; **कर्म-बन्धः**—सकाम कर्म के लिए बन्धन स्वरूप; **च**—तथा; **यत्-मूलः**—जिसका कारण; **स्वीकुर्यात्**—स्वीकार करेगा; **कः**—कौन; **नु**—निस्संदेह; **तत्**—वह मन; **बुधः**—यदि बुद्धिमान है।

काम, क्रोध, मद, लोभ, पश्चाताप, मोह तथा भय का मूल कारण तो मन ही है। ये सारे मिल कर कर्म-बन्धन की रचना करते हैं। भला कौन बुद्धिमान मन पर विश्वास कर सकेगा?

तात्पर्य : भौतिक बन्धन का मूल कारण मन है। इसका पीछा करने वाले अनेक शत्रु हैं यथा क्रोध, मद, लालच, शोक, मोह तथा भय। मन को वश में करने का सरल उपाय यह है कि उसे कृष्णभावनामृत में संलग्न रखा जाये (*स वै मनः कृष्ण-पदार-विन्दयोः*)। चूँकि मन का पीछा करने वाले तत्त्व भव-बन्धन लाने वाले हैं, अतः हमें मन पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन्स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरुपरराम. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; एवम्—इस प्रकार से; अखिल-लोक-पाल-ललामः—इस ब्रह्माण्ड के समस्त राजाओं के प्रमुख; अपि—यद्यपि; विलक्षणैः—विभिन्न; जड-वत्—जड़-सदृश (मूढ़ के समान); अवधूत-वेष-भाषा-चरितैः—अवधूत के वेष, उसकी भाषा तथा आचरण से; अविलक्षित-भगवत्-प्रभावः—भगवान् के ऐश्वर्य को छिपाते हुए (अपने को सामान्य पुरुष की तरह रखते हुए); योगिनाम्—योगियों का; साम्पराय-विधिम्—इस देह के त्याग की विधि; अनुशिक्षयन्—सिखाते हुए; स्व-कलेवरम्—अपने शरीर को जो किंचित्मात्र भौतिक नहीं था; जिहासुः—सामान्य मनुष्य की भाँति त्यागने की इच्छा से; आत्मनि—आदिपुरुष वासुदेव में; आत्मानम्—अपने आप, भगवान् विष्णु के ''आवेश-अवतार'' होने से ऋषभदेव स्वयं को; असंव्यवहितम्—माया के व्यवधान के बिना; अनर्थ-अन्तर-भावेन—विष्णुपद में स्वयं; अन्वीक्षमाणः—सदैव देखते हुए; उपरत-अनुवृत्तिः—ऐसा दिखा रहे थे मानो अपना भौतिक शरीर त्याग रहे हों; उपरराम—राजा के रूप में इस लोक की लीलाएँ छोड़ दीं।.

भगवान् ऋषभदेव इस ब्रह्माण्ड के समस्त राजाओं में प्रमुख थे, किन्तु अवधूत का भेष तथा उसकी भाषा स्वीकार करके वे इस प्रकार आचरण कर रहे थे मानो जड़ तथा बद्ध जीव हों। फलतः कोई उनके ईश्वरीय ऐश्वर्य को नहीं देख सका। उन्होंने योगियों को देह त्यागने की विधि सिखाने के लिए ही ऐसा आचरण किया; तो भी वे वासुदेव कृष्ण के अंश रूप बने रहे। इस दशा में रहते हुए उन्होंने इस संसार में भगवान् ऋषभदेव के रूप में की गई लीलाओं को त्याग दिया। यदि कोई ऋषभदेव के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए इस सूक्ष्म देह को त्याग सकता है, तो उसे पुनः भौतिक देह नहीं धारण करनी पड़ती।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

''हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य हैं—इस प्रकार जो मनुष्य जान लेता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।''

यह तभी सम्भव है जब कोई परमेश्वर का शाश्वत दास बन जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी तथा साथ ही साथ परमेश्वर दोनों की स्वाभाविक स्थिति को समझे। दोनों का एक ही आध्यात्मिक-रूप है। इस संसार में परमेश्वर का शाश्वत दास बन कर ही पुनर्जन्म से बचा सकता है। यदि मनुष्य अपने को आध्यात्मिक रूप से ठीक रखे और अपने को परमेश्वर का शाश्वत दास मानता रहे तो इस भौतिक शरीर का त्याग करते समय उसे सफलता मिलेगी।

तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन सङ्क्रममाणः कोङ्कवेङ्ककुटकान्दक्षिणकर्णाटकान्देशान्यदृच्छयोपगतः कुटकाचलोपवन आस्य कृताश्मकवल उन्माद इव मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार. ॥ ७॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (भगवान् ऋषभदेव) का; ह वा—मानो; एवम्—इस प्रकार; मुक्त-लिङ्गस्य—जिसका स्थूल व सूक्ष्म शरीरों के साथ तादात्म्य नहीं है; भगवतः—भगवान का; ऋषभस्य—ऋषभदेव का; योग-माया-वासनया—भगवान् की लीलाओं हेतु योगमाया की प्राप्ति से; देहः—देह; इमाम्—यह; जगतीम्—पृथ्वी; अभिमान-आभासेन—यह देह भौतिक तत्त्वों से निर्मित है, इस प्रकार के आभास से; सङ्क्रममाणः—भ्रमण करते हुए; कोङ्क-वेङ्क-कुटकान्—कोंक, वेंक तथा कुटक; दक्षिण—दक्षिण भारत में; कर्णाटकान्—कर्नाट राज्य में; देशान्—समस्त देशों; यदृच्छया—अपनी इच्छा से; उपगतः—पहुँचे; कुटकाचल-उपवने—कुटकाचल के निकटस्थ जंगल में; आस्य—मुँह के भीतर; कृत-अश्म-कवलः—मुँह में पत्थर भर कर; उन्मादः इव—पागल के समान; मुक्त-मूर्धजः—मुक्त (बिखरे) केशों से युक्त; असंवीतः—नग्न; एव—ही; विचचार—भ्रमण करने लगे।

वास्तव में भगवान् ऋषभदेव के कोई भौतिक शरीर न था, किन्तु योगमाया से वे अपने शरीर को भौतिक मान रहे थे। अतः सामान्य मनुष्य की भाँति आचरण करके उन्होंने वैसी मानसिकता का त्याग किया। वे संसार भर में घूमने लगे। घूमते-घूमते वे दक्षिण भारत के कर्णाट प्रदेश में पहुँचे जहाँ के रास्ते में कोंक, वेंक तथा कुटक पड़े। इस दिशा में घूमने की उनकी कोई योजना न थी, किन्तु कुटकाचल के निकट उन्होंने एक जंगल मे प्रवेश किया। उन्होंने अपने मुँह में पत्थर के टुकड़े भर लिए और जंगल में नग्न तथा बाल बिखेरे पागल की भाँति घूमने लगे।

अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह. ॥ ८॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; समीर-वेग—वायु के झोंके से; विधूत—झकझोरे हुए; वेणु—बाँसों की; विकर्षण—रगड़ से; जात—उत्पन्न हुई; उग्र—प्रबल; दाव-अनलः—दावाग्नि; तत्—उस; वनम्—कुटकाचल के निकट के जंगल को; आलेलिहानः—चारों ओर से भक्षण करती; सह—संग; तेन—वह शरीर; ददाह—जल कर राख हो गया।

जब वे भटक रहे थे तो प्रबल दावाग्नि लग गई। यह अग्नि वायु से झकझोरे गये बाँसों की रगड़ से उत्पन्न हुई थी। इस अग्नि में कुटकाचल का पूरा जंगल तथा ऋषभदेव का शरीर भस्मसात् हो गए।

तात्पर्य : ऐसी दावाग्नि पशुओं के शरीरों को जला सकती है, किन्तु भगवान् ऋषभदेव नहीं जले, यद्यपि बाह्य रूप से ऐसा लगा कि वे जल गये। भगवान् ऋषभदेव जगंल के समस्त जीवों की परम आत्मा हैं और उनकी आत्मा अग्नि में कदापि नहीं जल सकती। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया

है—*अदाह्योऽयं*—आत्मा अग्नि में नहीं जलती। भगवान् ऋषभदेव की उपस्थिति के कारण जंगल के सभी पशु इस भौतिक बन्धन से मुक्त हो गये।

यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिस (भगवान् ऋषभदेव) का; किल अनुचरितम्—परमहंस के रूप में लीलाएँ, वर्णाश्रम सिद्धान्त के नियमों से परे; उपाकर्ण्य—सुन कर; कोङ्क-वेङ्क-कुटकानाम्—कोंक, वेंक तथा कुटक का; राजा—राजा; अर्हत्-नाम—जिसका नाम अर्हत् (अब जैन कहलाता है) था; उपशिक्ष्य—परमहंस रूप में भगवान् ऋषभदेव के कार्यों का अनुकरण करके; कलौ—इस कलियुग में; अधर्मे उत्कृष्यमाणे—अधर्म की वृद्धि के कारण; भवितव्येन—भावी द्वारा; विमोहितः—मोहित; स्व-धर्म-पथम्—धर्म-पथ; अकुतः-भयम्—समस्त प्रकार के भयों से मुक्त; अपहाय—त्याग कर (यथा स्वच्छता, सत्यभाषण, इन्द्रियनिग्रह, सादगी, धर्माचरण, ज्ञान का सद्प्रयोग); कु-पथ-पाखण्डम्—नास्तिकता का बुरा (उल्टा) मार्ग; असमञ्जसम्—वेदविरुद्ध, अनुचित; निज-मनीषया—अपने मस्तिष्क से; मन्दः—मूढ़; सम्प्रवर्तयिष्यते—प्रचार करेगा, चलायेगा।

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को आगे बताया कि हे राजन्, कोंक, वेंक तथा कुटक के राजा ने, जिसका नाम अर्हत् था, ऋषभदेव के कार्य-कलापों के विषय में सुना और उसने ऋषभदेव के नियमों का अनुकरण करते हुए एक नवीन धर्म-पद्धति चला दी। पापमय कर्मों के इस युग, कलियुग, का लाभ उठाकर मोहवश राजा अर्हत ने बाधारहित वैदिक नियमों को छोड़ दिया और वेदविरुद्ध एक नवीन धर्म-पद्धति गढ़ ली। यही जैन धर्म का शुभारम्भ था। अन्य अनेक तथाकथित धर्मों ने इस नास्तिकवाद को ग्रहण किया।

तात्पर्य : जब इस लोक में श्रीकृष्ण विद्यमान थे तो पौण्ड्रक नामक एक व्यक्ति ने नारायण के चतुर्भुज रूप का अनुकरण करते हुए अपने आपको भगवान् घोषित कर दिया। वह श्रीकृष्ण की बराबरी करना चाहता था। इसी प्रकार ऋषभदेव के काल में कोंक तथा वेंक के राजा ने परमहंस का आचरण करते हुए भगवान् ऋषभदेव का अनुकरण किया। उसने एक धर्म चलाया और इस कलियुग में जनता की अधोगति का लाभ उठाया। वैदिक साहित्य में कथित है कि इस कलियुग में लोग किसी को भी परमेश्वर मान कर वेदविरुद्ध किसी भी धर्म-पद्धति को स्वीकार करेंगे। इस युग के व्यक्तियों को *मन्दाः सुमन्द-मतयः* कहा गया है। सामान्यतः उनकी कोई आध्यात्मिक संस्कृति नहीं होती और वे अत्यन्त अधम होते हैं। इसी कारण से वे कोई भी धर्म स्वीकार करेंगे। दुर्भाग्यवश वे वैदिक नियमों को विस्मृत करते हैं। इस युग में अवैदिक नियमों का पालन करते हुए वे अपने को परमेश्वर समझते हैं

और निरीश्वरवादी सम्प्रदाय को विश्व भर में फैलाते हैं।

येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्रविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

येन—जिस छद्म धार्मिक प्रकृति से; ह वाव—निश्चय ही; कलौ—इस कलियुग में; मनुज-अपसदाः—अत्यन्त नीच व्यक्ति; देव-माया-मोहिताः—भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त, शक्ति या माया से मोहित; स्व-विधि-नियोग-शौच-चारित्र-विहीनाः—अपने कर्तव्यों के अनुसार निर्मित विधानों, स्वच्छता तथा चरित्र से विहीन (शास्त्र विहित आचारों तथा शौच से रहित); देव-हेलनानि—भगवान् के प्रति तिरस्कार; अपव्रतानि—अपवित्र व्रत, पाखंड; निज-निज-इच्छया—अपनी अपनी रुचि के अनुसार; गृह्णानाः—स्वीकार करते हुए; अस्नान-अनाचमन-अशौच-केश-उल्लुञ्चन-आदीनि—गढ़े हुए धार्मिक नियम यथा अस्नान (न नहाना), मुख न धोना, अशुद्ध रहना तथा केश नुचवाना; कलिना—कलियुग के प्रभाव से; अधर्म-बहुलेन—अधर्म की बहुलता वाले; उपहत-धियः—जिसका अन्तःकरण विनष्ट हो गया है, बुद्धिहीन; ब्रह्म-ब्राह्मण-यज्ञ-पुरुष-लोक-विदूषकाः—वेद, ब्राह्मण, यज्ञ, भगवान् तथा भक्तों की निन्दा करने वाले; प्रायेण—प्रायः; भविष्यन्ति—होंगे।

अधम तथा परमेश्वर की माया से मोहित व्यक्ति मूल वर्णाश्रम धर्म तथा उसके नियमों का परित्याग कर देंगे। वे नित्य तीन बार स्नान करना और ईश्वर की आराधना करना छोड़ देंगे। वे शौच तथा परमेश्वर को त्याग कर अटपटे नियमों को ग्रहण करेंगे। नियमित स्नान न करने अथवा अपना मुख न धोने से वे सदा गंदे रहेंगे और अपने केश नुचवाएँगे। ढोंग धर्म का अनुसरण करते हुए वे फूलेंगे, फलेंगे। इस कलिकाल में लोग अधार्मिक पद्धतियों की ओर अधिक उन्मुख होंगे। फलस्वरूप वे वेद, वेदों के अनुयायी ब्राह्मणों, भगवान् तथा अनेक भक्तों का उपहास करेंगे।

तात्पर्य : आजकल पाश्चात्य देशों के हिप्पी इस वर्णन के अनुरूप हैं। वे गैर-जिम्मेदार तथा असंयमी होते हैं। वे स्नान नहीं करते और वैदिक ज्ञान का मजाक उड़ाते हैं। वे नवीन जीवन-शैलियों एवं धर्मों को गढ़ते रहते हैं। इस समय हिप्पियों के अनेक समूह हैं, किन्तु इनका मूल स्रोत राजा अर्हत् था जिसने परमहंस अवस्था को प्राप्त भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलापों का अनुकरण किया। अर्हत् को इस बात का ध्यान नहीं हुआ कि यद्यपि ऋषभदेव पागल जैसा आचरण कर रहे थे, किन्तु उनके मल तथा पुरीष सुगन्धित थे जिससे मीलों दूर के प्रान्त सुवासित रहते थे। राजा अर्हत् के अनुयायी जैन कहलाये और बाद में अनेक लोगों ने उनका अनुसरण किया विशेष रूप से हिप्पी उल्लेखनीय हैं, जो मायावाद दर्शन की शाखा से सम्बद्ध हैं, क्योंकि वे अपने को भगवान् मानते हैं। ऐसे लोग वैदिक

नियमों के असली अनुयायी आदर्श ब्राह्मणों का आदर नहीं करते और न उनमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् परब्रह्म के प्रति आदर-भाव रहता है। इस कलियुग के प्रभाव से वे तरह-तरह के झूठे धर्म गढ़ते रहते हैं।

ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाश्वस्तास्तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ते—वे लोग जो वेदों का अनुसरण नहीं करते; **च**—तथा; **हि**—निश्चय ही; **अर्वाक्तनया**—वैदिक धर्म के शाश्वत नियमों से विचलित होकर; **निज-लोक-यात्रया**—स्वेच्छाकृत प्रवृत्ति से; **अन्ध-परम्परया**—अन्धे अज्ञानी पुरुषों की परम्परा से; **आश्वस्ताः**—प्रोत्साहित होकर; **तमसि**—अज्ञान के अंधकार में; **अन्धे**—अंधापन; **स्वयम् एव**—अपने आप; **प्रपतिष्यन्ति**—गिरेंगे।.

अधम लोग अपने अज्ञानवश वैदिक नियमों से हटकर चलने वाली धार्मिक प्रणाली का सूत्रपात करते हैं। वे अपने मानसिक ढोंगों के कारण स्वयं ही घोर अंधकार में गिरते हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय को देखना चाहिए जहाँ असुरों के पतन का वर्णन है (१६.१६ तथा १६.२३)।

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अयम् अवतारः—यह अवतार (भगवान् ऋषभदेव); **रजसा**—रजोगुण से; **उपप्लुत**—भरा हुआ; **कैवल्य-उपशिक्षण-अर्थः**—लोगों को मुक्ति मार्ग की शिक्षा देने के उद्देश्य से।.

इस कलियुग में लोग रजो तथा तमो गुणों से भरे हुए हैं। भगवान् ऋषभदेव ने इन लोगों को माया के चंगुल से छुड़ाने के लिए ही अवतार लिया था।

तात्पर्य : कलियुग के लक्षणों की भविष्यवाणी *श्रीमद्भागवत* में बारहवें स्कंध में तृतीय अध्याय के अन्तर्गत की गई है। *लावण्यं केश-धारणम्।* यह भविष्यवाणी की गई है कि पतित जीव कैसा आचरण करेगा। वे लम्बे-लम्बे बाल रखकर अपने को अति सुन्दर मानेंगे या फिर जैनियों की भाँति केशों को नुँच वाएँगे। वे गंदे रहेंगे और अपना मुँह नहीं धोएंगे। जैनी भगवान् ऋषभदेव को अपना प्रवर्तक मानते हैं। यदि ऐसे लोग वास्तव में उनके अनुयायी हैं, तो उन्हें उनकी शिक्षाओं का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। इसी स्कंध के पाँचवें अध्याय में ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों को माया के चंगुल से बचने का उपदेश दिया है। यदि सचमुच कोई उनके उपदेशों का पालन करे तो वह माया के चंगुल

से छूटकर परम धाम पहुँच सकता है। यदि कोई पंचम अध्याय में दिये गये ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करे तो वह निश्चय ही मुक्त हो सकता है। ऋषभदेव ने विशेष रूप से इन पतित आत्माओं को मोक्ष दिलाने के लिए ही अवतार लिया था।

तस्यानुगुणाञ्श्लोकान्गायन्ति—
अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः
कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (ऋषभदेव के); अनुगुणान्—मुक्ति के उपदेशों के अनुसार; श्लोकान्—श्लोक; गायन्ति—गाते हैं, जप करते हैं; अहो—ओह; भुवः—इस पृथ्वी लोक का; सप्त-समुद्र-वत्याः—सात समुद्रों वाले; द्वीपेषु—द्वीपों में से; वर्षेषु—भूभागों में से; अधिपुण्यम्—अन्य किसी द्वीप से अधिक पवित्र; एतत्—यह (भारत-वर्ष); गायन्ति—गायन करते हैं; यत्रत्य-जनाः—इस भूभाग के लोग; मुरारेः—भगवान् मुरारी के; कर्माणि—कार्यों का; भद्राणि—शुभ; अवतारवन्ति—अनेक अवतारों में, यथा ऋषभदेव।.

विद्वानजन भगवान् ऋषभदेव के दिव्य गुणों का जाप इस प्रकार करते हैं—''ओह! इस पृथ्वीलोक में सात समुद्र तथा अनेक द्वीप और वर्ष हैं जिनमें से भारतवर्ष सबसे अधिक पवित्र है। भारतवर्ष के लोग भगवान् के कार्यकलापों का, ऋषभदेव तथा अन्य अनेक अवतारों के रूप में, गुणगान करने के अभ्यस्त हैं। ये सारे कार्य मानवता के कल्याण हेतु अत्यन्त शुभ हैं।''

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र भूमि है। वेदों के अनुयायी भगवान् के विभिन्न अवतारों द्वारा उनसे परिचित हैं और वे वैदिक साहित्य के आदेशों का पालन करते हुए ईश्वर की महिमा का गान करते रहते हैं। मानव-जीवन की कीर्ति (महिमा) का अनुभव हो जाने पर ऐसे पुरुषों को विश्व भर में मानव जीवन के महत्त्व का उपदेश देना चाहिए। यही चैतन्य महाप्रभु का सन्देश है। *अधिपुण्यम्* शब्द यह सूचित करता है कि संसार में और भी पवित्र प्राणी हैं, किन्तु भारतवर्ष के लोग अधिक पवित्र हैं। फलतः वे मानव जाति के हितार्थ कृष्णभावनामृत को सारे विश्व में फैलाने के लिए उपयुक्त हैं। श्रील मध्वाचार्य ने भी भारत भूमि को महत्ता प्रदान की है—*विशेषाद्भारते पुण्यम्।*

सारे विश्व में कहीं भी भगवद्भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु भारतवर्ष के लोग ईश्वर की भक्ति आसानी से समझ सकते हैं। अत: भारतवर्ष का प्रत्येक वासी भगवद्भक्ति द्वारा अपने जीवन को पूर्ण बना सकता है और विश्वभर के प्रत्येक प्राणी के लाभार्थ इस भक्ति (सम्प्रदाय) का प्रचार कर सकता है।

अहो नु वंशो यशसावदातः
प्रैयव्रतो यत्र पुमान्पुराणः ।
कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
श्चचार धर्मं यदकर्महेतुम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; नु—निस्संदेह; वंशः—वंश; यशसा—चतुर्दिक ख्याति से; अवदातः—अत्यन्त विमल; प्रैयव्रतः—राजा प्रियव्रत का; यत्र—जिसमें; पुमान्—परम पुरुष; पुराणः—आदि; कृत-अवतारः—अवतार लेकर; पुरुषः—भगवान्; सः—उसने; आद्यः—आदि-पुरुष; चचार—आचरण किया; धर्मम्—धार्मिक नियम; यत्—जिससे; अकर्म-हेतुम्—कर्मों के अन्त का कारण।

''ओह! भला मैं प्रियव्रत के वंश के सम्बन्ध में क्या कहूँ जो इतना विमल तथा अत्यन्त विख्यात है। इसी वंश में परम पुरुष भगवान् ने अवतार लिया और कर्मफलों से मुक्त करने वाले धार्मिक नियमों का आचरण किया।''

तात्पर्य : मानव समाज में ऐसे अनेक वंश हैं जिसमें परमेश्वर अवतरित होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने यदुवंश में तथा भगवान् रामचन्द्र ने इक्ष्वाकु अथवा रघुवंश में अवतार लिया। इसी प्रकार ऋषभदेव राजा प्रियव्रत के वंश में प्रकट हुए। ये सभी वंश अत्यन्त विख्यात हैं और इनमें प्रियव्रत का वंश अत्यन्त प्रसिद्ध है।

को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छे-
न्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी ।
यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्संदेह; अस्य—भगवान् ऋषभदेव का; काष्ठाम्—आदर्श; अपरः—अन्य; अनुगच्छेत्—अनुगमन कर सकता है; मनः-रथेन—मन से; अपि—भी; अभवस्य—अजन्मा का; योगी—योगी; यः—जो; योग-मायाः—योग सिद्धि; स्पृहयति—स्पृहा करता है, कामना करता है; उदस्ताः—ऋषभदेव द्वारा परित्यक्त; हि—ही; असत्तया—अपूर्ण होने से, असत् से; येन—जिसके द्वारा (ऋषभदेव द्वारा); कृत-प्रयत्नाः—यद्यपि सेवा करने के लिए इच्छुक।

''भला ऐसा कौन योगी है जो अपने मन से भी भगवान् ऋषभदेव के आदर्शों का पालन

कर सके? उन्होंने उन समस्त योग-सिद्धियों का तिरस्कार कर दिया था जिसके लिए अन्य योगी लालायित रहते हैं। भला ऐसा कौन योगी है जो भगवान् ऋषभदेव की समता कर सके?''

तात्पर्य : सामान्य रूप से योगी अष्ट सिद्धियों की कामना करते हैं। ये हैं—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायिता। किन्तु भगवान् ऋषभदेव ने इन भौतिक उपादानों की कभी कामना नहीं की। ऐसी सिद्धियाँ भगवान् की माया द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। योगसाधना का मुख्य उद्देश्य भगवान् का अनुग्रह और उनकी शरण प्राप्त करना है। किन्तु योगमाया के कारण यह उद्देश्य प्रच्छन्न हो जाता है। फलस्वरूप तथाकथित योगी ऊपरी सिद्धियों के प्रति आकृष्ट होते हैं, अत: वे भगवान् ऋषभदेव की समता नहीं कर सकते।

इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहामङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो भगवति तस्मिन्वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ह स्म—निस्संदेह; सकल—सम्पूर्ण; वेद—ज्ञान का; लोक—जनता का; देव—देवताओं का; ब्राह्मण—समस्त ब्राह्मणों का; गवाम्—गायों का; परम—परम; गुरोः—गुरु, स्वामी; भगवतः—भगवान् का; ऋषभ-आख्यस्य—जिसका नाम ऋषभ था; विशुद्ध—शुद्ध; आचरितम्—कार्यकलाप; ईरितम्—अब व्याख्या किया गया; पुंसाम्—प्रत्येक जीवात्मा का; समस्त—सम्पूर्ण; दुश्चरित—पाप कर्म; अभिहरणम्—विनाश करते हुए; परम—अग्रणी; महा—महान्; मङ्गल—कल्याण का; अयनम्—वास, शरण, घर; इदम्—यह; अनुश्रद्धया—श्रद्धा से; उपचितया—बढ़ती हुई; अनुशृणोति—अधिकारी से सुनता है; आश्रावयति—दूसरे से कहता है; वा—अथवा; अवहितः—सावधान होकर; भगवति—भगवान् में; तस्मिन्—उस; वासुदेवे—वासुदेव, श्रीकृष्ण में; एक-अन्ततः—एकान्त भाव से; भक्तिः—भक्ति; अनयोः—श्रोता तथा वक्ता दोनों समूहों का; अपि—निश्चय ही; समनुवर्तते—वास्तव में प्रारम्भ होती है।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, ''ऋषभदेव समस्त वैदिक ज्ञान, मनुष्यों, देवताओं, गायों तथा ब्राह्मणों के स्वामी हैं। मैं पहले ही उनके विशुद्ध, दिव्य कार्य-कलापों का विस्तार से वर्णन कर चुका हूँ जिनसे समस्त जीवात्माओं के पापकर्म मिट जाएँगे। भगवान् ऋषभदेव की लीलाओं का यह वर्णन समस्त मंगल वस्तुओं का आगार है। जो भी आचार्यों का अनुसरण करते हुए इन्हें ध्यान से सुनता या कहता है उसे निश्चय ही भगवान् वासुदेव के चरणकमलों की शुद्ध भक्ति प्राप्त होगी।''

तात्पर्य : भगवान् ऋषभदेव के उपदेश सभी युगों के मनुष्यों के लिए हैं—चाहे सत्ययुग हो अथवा त्रेता, द्वापर या विशेषतया कलियुग। ये उपदेश इतने प्रभावशाली हैं कि इस कलियुग में भी केवल

इनकी व्याख्या करने, आचार्यों का अनुगमन करने या ध्यानपूर्वक सुनने से सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जो ऐसा करता है उसे भगवान् वासुदेव की शुद्ध भक्ति का पद प्राप्त हो सकता है। भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाओं का संग्रह *श्रीमद्भागवत* में इस उद्देश्य से किया गया है कि इन्हें सुनने तथा सुनाने वाले शुद्ध हो सकें। *नित्यं भागवत-सेवया।* भक्तों को नियमानुसार, हो सके तो प्रतिदिन चौबीसों घंटे *श्रीमद्भागवत* का पठन, कथन तथा श्रवण करना चाहिए। यह श्री चैतन्य महाप्रभु की सलाह है— *कीर्तनीयः सदा हरिः।* मनुष्य को चाहिए कि या तो वह हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करे या *श्रीमद्भागवत* का पाठ करे और इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव, कपिल तथा कृष्ण रूप में प्रकट होने वाले भगवान् के चरित्र तथा उपदेशों को समझे। इस प्रकार भगवान् की दिव्य प्रकृति से परिचित हुआ जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो भगवान् के जन्म तथा कर्म के दिव्य स्वभाव को जान लेता है उसे भव-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है और वह परम धाम वापस जाता है।

यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः. ॥ १७॥

शब्दार्थ

यस्याम् एव—जिसमें (कृष्णभावनामृत अथवा भक्ति के अमृत में); **कवयः**—पण्डित जन, आध्यात्मिक जीवन का दार्शनिक; **आत्मानम्**—आत्म, स्वयं; **अविरतम्**—निरन्तर; **विविध**—अनेक; **वृजिन**—पापपूर्ण; **संसार**—भौतिक संसार में; **परिताप**—दुखों से; **उपतप्यमानम्**—तपे हुए, दुखी; **अनुसवनम्**—निरन्तर; **स्नापयन्तः**—स्नान करते हुए; **तया**—उससे; **एव**—निश्चय ही; **परया**—महान्; **निर्वृत्या**—प्रसन्नतापूर्वक; **हि**—ही; **अपवर्गम्**—मुक्ति; **आत्यन्तिकम्**—बिना अवरोध के, निरन्तर; **परम-पुरुष-अर्थम्**—मानवी सफलताओं में सर्वश्रेष्ठ; **अपि**—यद्यपि; **स्वयम्**—स्वयं; **आसादितम्**—प्राप्त; **नो**—नहीं; **एव**—निश्चय ही; **आद्रियन्ते**—प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं; **भगवदीयत्वेन एव**—भगवान् से सम्बन्ध होने के कारण; **परिसमाप्त-सर्व-अर्थाः**—जिनकी समस्त भौतिक कामनाओं का अन्त हो चुका है।

भक्त जन भौतिक संसार के विभिन्न संकटों से मुक्त होने के लिए निरन्तर भक्ति-सरिता में स्नान करते रहते हैं। इससे उन्हें परम आनन्द प्राप्त होता है और साक्षात् मुक्ति उनकी सेवा करने आती है। तो भी वे उस सेवा को स्वीकार नहीं करते, भले ही भगवान् स्वयं क्यों न सेवा के लिए तत्पर हों। भक्तों के लिए मुक्ति महत्त्वहीन है, क्योंकि ईश्वर की दिव्य प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाने पर उनकी प्रत्येक आकांक्षा पूरी हो गई होती है और वे समस्त भौतिक कामनाओं से ऊपर उठ चुके होते हैं।

तात्पर्य : इस संसार के संकटों से मुक्ति चाहने वाले के लिए ईश्वर की भक्ति प्राप्त होना सबसे

बड़ी उपलब्धि होती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.२२) में कहा गया है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः*—इसे प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य सोचता है कि इससे बड़ा कोई अन्य लाभ नहीं। ईश्वर की भक्ति प्राप्त होना ईश्वर से अभिन्न नहीं है, अतः उसके बाद और कोई कामना नहीं रह जाती। *मुक्ति* का अभिप्राय है संसार से छुटकारा। बिल्वमंगल ठाकुर कहते हैं—*मुक्तिः मुकुलितांजलिः सेवतेऽस्मान्।* भक्त के लिए मुक्ति बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं है। मुक्ति का अर्थ है अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना। प्रत्येक जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति ईश्वर के दास की है, अतः जब कोई जीव ईश्वर की प्रेमा-भक्ति में लगा रहता है, तो उसे पहले से मुक्ति प्राप्त हुई रहती है। फलतः भक्त कभी मुक्ति की स्पृहा नहीं करता, भले ही ईश्वर स्वयं क्यों न प्रदान करें।

राजन्पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान्भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; पतिः—पालक; गुरुः—गुरु; अलम्—निश्चय ही; भवताम्—आपका; यदूनाम्—यदुवंश का; दैवम्—आराध्य श्रीविग्रह; प्रियः—अत्यन्त प्रिय मित्र; कुल-पतिः—वंश का स्वामी; क्व च—यहाँ तक कि कभी-कभी; किङ्करः—सेवक; वः—तुम सबका (पांडवों का); अस्तु—हो; एवम्—इस प्रकार; अङ्ग—हे राजा; भगवान्—भगवान्; भजताम्—सेवा में रत भक्तों का; मुकुन्दः—भगवान्; मुक्तिम्—मुक्ति; ददाति—देता है; कर्हिचित्—किसी भी समय; स्म—निस्सन्देह; न—नहीं; भक्ति-योगम्—प्रेमाभक्ति।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्, परम पुरुष मुकुन्द सभी पांडवों तथा यदुवंशियों के वास्तविक पालक हैं। वे तुम्हारे गुरु, आराध्य अर्चाविग्रह, मित्र तथा तुम्हारे कर्मों के निदेशक हैं। यही नहीं, वे कभी-कभी दूत या सेवक के रूप में भी तुम्हारे परिवार की सेवा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सामान्य सेवकों की तरह कार्य करते हैं। जो ईश्वर की सेवा में लगे रहकर प्रिय पात्र बनना चाहते हैं उन्हें मुक्ति सरलता से मिल जाती है, किन्तु वे अपनी प्रत्यक्ष सेवा करने का अवसर बहुत उनसे कम ही प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित को उपदेश देते हुए शुकदेव गोस्वामी ने राजा को प्रोत्साहित करना उचित समझा, क्योंकि हो सकता है वे अपने मन में विविध राज-वंशों के यशस्वी *स्तर* के सम्बन्ध में सोच रहे हों। विशेष रूप से यशस्वी वंश प्रियव्रत का है, जिसमें भगवान् ऋषभदेव अवतरित हुए। इसी

प्रकार महाराज ध्रुव के पिता उत्तानपाद का वंश भी यशस्वी था, क्योंकि उसमें राजा पृथु ने जन्म लिया था। महाराज रघु का वंश भी स्तुत्य है, क्योंकि उसमें भगवान् रामचन्द्र प्रकट हुए। जहाँ तक कुरु तथा यदुवंशों का प्रश्न है ये एक ही समय में विद्यमान थे, किन्तु इन दोनों में यदुवंश अधिक यशस्वी था, क्योंकि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए। हो सकता है कि महाराज परीक्षित यह सोच रहे हों कि कुरु वंश अन्य वंशों के समान भाग्यशाली नहीं था, क्योंकि इसमें न तो कृष्ण, राम या ऋषभदेव उत्पन्न हुए, न ही महाराज पृथु। इसलिए इस श्लोक में महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी ने विशेष रूप से प्रोत्साहित किया।

कुरुवंश को अधिक यशस्वी माना जा सकता है क्योंकि इसमें पाँच पांडव हुए जिन्होंने शुद्ध भक्ति की। यद्यपि श्रीकृष्ण कुरुवंश में उत्पन्न नहीं हुए थे, किन्तु वे पांडवों की भक्ति से इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने पांडवों के परिवार के पालक तथा गुरु के समान आचरण किया। यदुवंश में जन्म लेकर भी श्रीकृष्ण पांडवों के प्रति अधिक स्नेहिल थे। अपने कार्यों से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वे यदुवंश की अपेक्षा कुरुवंश को अधिक चाहते थे। वे पांडवों की भक्ति के इतने ऋणी थे कि कभी वे उनके दूत बने तो कभी उन्हें भयानक परिस्थितियों से उबारा। इसलिए महाराज परीक्षित को तनिक भी दुखी नहीं होना चाहिए कि श्रीकृष्ण उनके वंश में नहीं उत्पन्न हुए। भगवान् का अपने शुद्ध भक्तों के प्रति सदैव अधिक झुकाव रहता है और इस क्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि भक्तों के लिए मुक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होती। श्रीकृष्ण किसी को मुक्ति भले ही दे दें, किन्तु सबको अपना भक्त बनने का अवसर आसानी से नहीं प्रदान करते। *मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्ति-योगम्।* प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से यह सिद्ध हो जाता है कि परमेश्वर से परम सम्बन्ध स्थापित करने का आधार भक्तियोग ही है। यह मुक्ति से कहीं श्रेयस्कर है। ईश्वर के शुद्ध भक्त को मुक्ति स्वत: मिल जाती है।

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्ण:
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोकम्
आख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नित्य-अनुभूत—अपने वास्तविक रूप के प्रति सदैव जागरूक होने के कारण; निज-लाभ-निवृत्त-तृष्णः—अपने में पूर्ण होने के कारण, कामनारहित; श्रेयसि—जीवन के वास्तविक कल्याण में; अ-तत्-रचनया—देह को आत्मा मानकर भौतिक क्षेत्र में

कर्मों का प्रसार करके; चिर—दीर्घकाल तक; सुप्त—सोया हुआ; बुद्धेः—जिसकी बुद्धि; लोकस्य—लोगों का; यः—जो (भगवान् ऋषभदेव); करुणया—अहैतुकी कृपा से; अभयम्—निर्भय; आत्म-लोकम्—आत्म-स्वरूप; आख्यात्—उपदेश दिया; नमः—नमस्कार है; भगवते—भगवान्; ऋषभाय—ऋषभदेव को; तस्मै—उस।

भगवान् ऋषभदेव को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध था, अतः वे आत्म-तुष्ट थे और उन्हें किसी बाह्य तुष्टि की आकांक्षा नहीं रह गई थी। अपने में पूर्ण होने के कारण उन्हें किसी सफलता की स्पृहा नहीं थी। जो वृथा ही देहात्मबुद्धि में लगे रहते हैं और भौतिकता का परिवेश तैयार करते हैं, वे अपने वास्तविक हित को नहीं पहचानते। भगवान् ऋषभदेव ने अहैतुकी कृपावश वास्तविक आत्मबुद्धि तथा जीवन लक्ष्य की शिक्षा दी। अतः हम उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : यह इस अध्याय का सारांश है, जिसमें ऋषभदेव के कार्यों का वर्णन है। भगवान् होने के कारण वे स्वयं में पूर्ण हैं। ईश्वर के अंश रूप हम सबों को भगवान् ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करना चाहिए और आत्मनिर्भर बनना चाहिए। देहात्मबुद्धि के कारण हमें वृथा की आवश्यकताएँ नहीं बढ़ानी चाहिए। आत्म-सिद्ध होने पर मनुष्य परम तुष्ट रहता है। क्योंकि वह अपने भौतिक दिव्य पद पर स्थित होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४) में पुष्टि की गई है— *ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।* समस्त जीवात्माओं का यही लक्ष्य है। इस संसार में स्थित रह कर भी मनुष्य परम सन्तुष्ट हो सकता है और लालसा तथा शोक से रहित हो सकता है यदि *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में दिये गये भगवान् के उपदेशों का वह पालन करे। आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त संतोष *स्वरूपानन्द* कहलाता है। बद्धजीव शाश्वत अंधकार में सुप्त रहकर कभी भी अपना हित नहीं समझ पाता। वह भौतिक जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनना चाहता है, किन्तु यह असम्भव है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—अज्ञान के कारण बद्धजीव यह नहीं जानता कि उसका वास्तविक हित भगवान् विष्णु के चरणकमलों में शरण प्राप्त करना है। भौतिक वातावरण के जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनने का प्रयास व्यर्थ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने आचरण तथा उपदेशों के द्वारा बद्धजीवों को प्रकाश दिखाया और यह भी बताया कि अपनी आध्यात्मिक पहचान से किस प्रकार आत्मनिर्भर बनना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलाप'' नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

राजा भरत कार्यकलाप

इस अध्याय में सम्पूर्ण संसार के सम्राट राजा भरत महाराज के कार्यों का वर्णन हुआ है। भरत महाराज ने अनेक वैदिक यज्ञ किये और अनेक प्रकार की पूजा द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न किया। कालान्तर में गृहत्याग करके वे हरद्वार में रहने लगे और भक्ति कार्यों में अपना समय बिताने लगे। अपने पिता ऋषभदेव की आज्ञा से भरत महाराज ने विश्वरूप की पुत्री पंचजनी से विवाह किया। तत्पश्चात् उन्होंने शान्तिपूर्वक सारे विश्व पर राज्य किया। पहले यह लोक अजनाभ कहलाता था, किन्तु भरत महाराज के शासन के बाद इसका नाम भारतवर्ष पड़ा। भरत महाराज को पंचजनी के गर्भ से पाँच पुत्ररत्नों की प्राप्ति हुई जिनके नाम सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण तथा धूम्रकेतु रखे गये। भरत महाराज धर्म के पालन तथा अपने पिता के पद–चिह्नों का अनुसरण करने में अत्यन्त कठोर थे, फलत: उन्होंने अपनी प्रजा पर सुचारु रूप से शासन किया। परमेश्वर को तुष्ट करने के लिए अनेक यज्ञ सम्पन्न करने के कारण वे स्वयं अति संतुष्ट थे। अविचलित मन से वे भगवान् वासुदेव की भक्ति बढ़ाते गये। वे नारद जैसे ऋषियों के सिद्धान्तों को समझने में दक्ष थे और उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते थे। वे भगवान् वासुदेव को निरन्तर हृदय में धारण करते थे। राजकार्य कर चुकने के बाद उन्होंने अपने साम्राज्य को पाँचों पुत्रों में बाँट दिया। फिर घर छोड़ कर पुलहाश्रम गये। वहाँ वे जंगली वनस्पतियाँ तथा फल खाकर भगवान् वासुदेव का पूजन प्रत्येक उपलब्ध वस्तु से करते रहे। वासुदेव के प्रति भक्ति बढ़ जाने से वे अपने दिव्य आनन्दमय जीवन का अनुभव स्वत: करने लगे। सिद्धावस्था के कारण कभी–कभी उन्हें अपने शरीर में अष्ट–सात्त्विक विकार यथा प्रेम–रुदन, वपु–कम्पन दृष्टिगोचर होते थे, जो भगवत्प्रेम के सूचक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋग्वेद में वर्णित मंत्रों से, जिन्हें गायत्री मंत्र कहते हैं और जिनका लक्ष्य सूर्य के भीतर स्थित परम नारायण है, परमेश्वर की आराधना करते थे।

श्रीशुक उवाच

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपर: पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; भरतः—महाराज भरत; तु—लेकिन; महा-भागवतः—ईश्वर का महान् भक्त; यदा—जब; भगवता—अपने पिता भगवान् ऋषभदेव की आज्ञा से; अवनि-तल—पृथ्वी पर; परिपालनाय—शासन करने के लिए; सञ्चिन्तितः—दृढ़-निश्चय; तत्-अनुशासन-परः—पृथ्वी पर शासन करने में रत; पञ्चजनीम्—पंचजनी; विश्वरूप-दुहितरम्—विश्वरूप की पुत्री को; उपयेमे—विवाह कर लिया।

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को और आगे बताया—हे राजन्, भरत महाराज सर्वोच्च भक्त थे। अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए जिन्होंने उन्हें सिंहासन पर बैठाने का निर्णय पहले ही ले रखा था। वे तदनुसार पृथ्वी पर राज्य करने लगे। समस्त संसार पर राज्य करते हुए वे अपने पिता के आदेशों का पालन करने लगे और उन्होंने विश्वरूप की कन्या पंचजनी से विवाह कर लिया।

तस्यामु ह वा आत्मजान्कार्त्स्न्येनानुरूपानात्मनः पञ्च जनयामास भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि सुमतिं राष्ट्रभृतं सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसके गर्भ में; उ ह वा—निस्संदेह; आत्म-जान्—पुत्रों को; कार्त्स्न्येन—पूर्णतः; अनुरूपान्—अनुरूप, समान; आत्मनः—अपने; पञ्च—पाँच; जनयाम् आस—उत्पन्न किया; भूत-आदिः इव—अहंकार के सदृश; भूत-सूक्ष्माणि—पाँच भूत, तन्मात्र; सु-मतिम्—सुमति; राष्ट्र-भृतम्—राष्ट्रभृत; सु-दर्शनम्—सुदर्शन; आवरणम्—आवरण; धूम्र-केतुम्—धूमकेतु; इति—इस प्रकार।

जिस प्रकार मिथ्या अहंकार से भूत-तन्मात्र (सूक्ष्म-इन्द्रिय विषय) उत्पन्न होते हैं वैसे ही महाराज भरत को अपनी पत्नी पंचजनी के गर्भ से पाँच पुत्र प्राप्त हुए। इन पुत्रों के नाम थे—सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण तथा धूम्रकेतु।

अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अजनाभम्—अजनाभ; नाम—नाम से; एतत्—यह; वर्षम्—द्वीप; भारतम्—भारत; इति—इस प्रकार; यतः—जिससे; आरभ्य—प्रारम्भ करके; व्यपदिशन्ति—कहते हैं, पुकारते हैं।

पहले इस देश का नाम अजनाभवर्ष था, किन्तु महाराज भरत के शासन काल से इसका नाम भारतवर्ष पड़ा।

तात्पर्य : यह देश पहले राजा नाभि के शासन के कारण अजनाभ कहलाता था। भरत महाराज के शासन काल के बाद यह भारतवर्ष कहलाया।

स बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवदुरुवत्सलतया स्वे स्वे कर्मणि वर्तमानाः प्रजाः स्वधर्ममनुवर्तमानः पर्यपालयत्. ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—वह राजा (महाराज भरत); बहु-वित्—महान् ज्ञानी; मही-पतिः—पृथ्वी का शासक, राजा; पितृ—पिता; पितामह—बाबा; वत्—सदृश; उरु-वत्सलतया—नागरिकों (प्रजा) पर अत्यधिक वत्सल (स्नेहिल) होने के कारण; स्वे स्वे—अपने अपने; कर्मणि—कर्तव्य में; वर्तमानाः—रहकर; प्रजाः—प्रजा; स्व-धर्मम् अनुवर्तमानः—अपने कर्तव्य में लगे रहकर; पर्यपालयत्—शासन किया।

भरत महाराज इस पृथ्वी पर अत्यन्त ज्ञानी तथा अनुभवी राजा थे। वे स्वयं अपने कार्यों में संलग्न रह कर प्रजा पर अच्छी प्रकार से राज्य करते थे। वे अपनी प्रजा के प्रति उतने ही वत्सल थे जितने उनके पिता तथा पितामह रह चुके थे। उन्होंने प्रजा को अपने अपने कर्तव्यों में व्यस्त रख कर इस पृथ्वी पर शासन किया।

तात्पर्य : यह अत्यन्त आवश्यक है कि मुख्य कार्यकारी प्रजा को अपने अपने कार्यों में निरत रख कर शासन करे। प्रजा में से कुछ ब्राह्मण थे, कुछ क्षत्रिय और कुछ वैश्य तथा शूद्र। यह देखना शासन का कर्तव्य है कि नागरिक इन विभागों के अनुसार अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए कार्य करें। किसी भी नागरिक को बिना काम के नहीं रहना चाहिए। उसे भौतिक पथ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र की तरह और आध्यात्मिक धरातल पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के रूप में आचरण करना चाहिए। यद्यपि पूर्वकाल में शासन प्रणाली राजकीय प्रणाली थी और निरंकुश शासन होता था, किन्तु सभी राजा प्रजा के प्रति अत्यधिक वत्सल होते थे और वे प्रजा को अपने अपने कर्तव्यों में व्यस्त रखते थे। इसलिए समाज का संचालन सहजता से होता था।

ईजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाहृताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं चातुर्होत्रविधिना. ॥ ॥

शब्दार्थ

ईजे—आराधना की; च—भी; भगवन्तम्—भगवान् की; यज्ञ-क्रतु-रूपम्—पशु सहित तथा पशु रहित यज्ञों वाले; क्रतुभिः—ऐसे यज्ञों से; उच्चावचैः—अत्यन्त बड़े तथा अत्यन्त छोटे; श्रद्धया—श्रद्धा समेत; आहृत—किया गया; अग्नि-होत्र—अग्नि होत्र यज्ञ का; दर्श—दर्श यज्ञ का; पूर्णमास—पूर्णमास यज्ञ का; चातुर्मास्य—चातुर्मास्य यज्ञ का; पशु-सोमानाम्—पशु तथा सोम रस से सम्पन्न यज्ञों का; प्रकृति—पूर्ण अनुष्ठानों द्वारा; विकृतिभिः—तथा आंशिक अनुष्ठानों द्वारा; अनुसवनम्—प्रायः; चातुः-होत्र-विधिना—चार प्रकार के पुरोहितों (ऋत्विजों) द्वारा निर्देशित यज्ञ विधि-विधानों के द्वारा।

राजा भरत ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अनेक प्रकार के यज्ञ किये। इनके नाम हैं अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु-यज्ञ (जिसमें अश्व की बलि दी जाती थी) तथा सोम-यज्ञ (जिसमें

सोमरस प्रयुक्त होता था) भेंट किया जाता था । कभी ये यज्ञ पूर्ण रूप से तो कभी आंशिक रूप में सम्पन्न किये जाते थे। प्रत्येक दशा में समस्त यज्ञों में चातुर्होत्र नियमों का दृढ़ता से पालन किया जाता था। इस प्रकार भरत महाराज भगवान् की उपासना करते थे।

तात्पर्य : यज्ञ की पूर्ण सम्पन्नता की परीक्षा के लिए ही *सूकरों* तथा गायों की बलि दी जाती थी; अन्यथा पशुओं की बलि चढ़ाने का कोई प्रयोजन न था। वास्तव में यज्ञ-अग्नि में पशु बलि पुन: तरुण-जीवन प्राप्त करने के लिए की जाती थी। सामान्यत: बूढ़े पशु की बलि दी जाती थी जो तरुण शरीर लेकर पुन: प्रकट हो जाता था। किन्तु कुछ अनुष्ठानों में पशु बलि की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वर्तमान युग में पशुओं की बलि पर प्रतिबन्ध है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है (*चैतन्य चरितामृत* आदि १७.१६४)—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पल-पैतृकम्।

देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत्॥

''इस कलियुग में पाँच प्रकार के कार्य वर्जित हैं—यज्ञ में अश्व की बलि, यज्ञ में गोबलि, संन्यास धारण करना, पितरों को मांस-अर्पण करना तथा भाई की पत्नी से सन्तानोत्पत्ति।''

कलियुग में ऐसे यज्ञ असम्भव हैं, क्योंकि ऐसे पटु ब्राह्मणों या ऋत्विजों का अभाव है जो इस उत्तरदायित्व को ग्रहण कर सकें। इन यज्ञों के अभाव में संकीर्तन यज्ञ की संस्तुति की जाती है। *यज्ञै: संकीर्तनप्रायै र्यजन्ति हि सुमेधस:* (*भागवत* ११..३२)। कुल मिलाकर यज्ञ ों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना है। *यज्ञार्थकर्म*—ऐसे कार्य भगवान् की प्रसन्नता के लिए किये जाने चाहिए। इस कलिकाल में भगवान् के अवतार श्री चैतन्य महाप्रभु की उनके पार्षदों सहित उपासना संकीर्तन यज्ञ द्वारा की जानी चाहिए जिसमें ''हरे कृष्ण मंत्र'' का सामूहिक जप किया जाता है। यह विधि बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा स्वीकार की जाती है। *यज्ञै: संकीर्तनप्रायै र्यजन्ति हि सुमेधस:। सुमेधस:* शब्द उन बुद्धिमान लोगों के लिए प्रयुक्त है जिनका मस्तिष्क उच्च कोटि का होता है।

सम्प्रचरत्सु नानायागेषु विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत्तत्क्रियाफलं धर्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थनियामकतया साक्षात्कर्तरि परदेवतायां भगवति वासुदेव एव भावयमान

आत्मनैपुण्यमृदितकषायो हवि:ष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो देवांस्तान्पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत्. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सम्प्रचरत्सु—अनुष्ठान प्रारम्भ करते समय; नाना-यागेषु—अनेक प्रकार के यज्ञ; विरचित-अङ्ग-क्रियेषु—जिसमें गौण कृत्य किये जाते थे; अपूर्वम्—सुदूर; यत्—जो भी; तत्—वह; क्रिया-फलम्—यज्ञ का फल; धर्म-आख्यम्—धर्म के नाम से; परे—दिव्य; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; यज्ञ-पुरुषे—समस्त यज्ञों का भोक्ता; सर्व-देवता-लिङ्गानाम्—देवताओं को प्रकट करने वाले; मन्त्राणाम्—मंत्रों का, वैदिक स्तुतियों का; अर्थ-नियाम-कतया—पदार्थों का नियन्ता होने से; साक्षात्-कर्तरि—साक्षात् करने वाला; पर-देवतायाम्—समस्त देवाताओं के कारण; भगवति—भगवान्; वासुदेवे—श्रीकृष्ण में; एव—निश्चय ही; भावयमान:—सदैव चिन्तन करते हुए; आत्म-नैपुण्य-मृदित-कषाय:—समस्त काम तथा क्रोध से रहित; हवि:षु—यज्ञ में डाली जाने वाली सामग्री, हवि; अध्वर्युभि:—जब अथर्ववेद में वर्णित यज्ञों में दक्ष पुरोहित; गृह्यमाणेषु—लेते हुए; स:—महाराज भरत ने; यजमान:—यज्ञ करने वाला; यज्ञ-भाज:—यज्ञ-फल को पाने वाले; देवान्—समस्त देवताओं को; तान्—उन; पुरुष-अवयवेषु—भगवान् गोविन्द के शरीर के अंग प्रत्यंगों में; अभ्यध्यायत्—सोचा।

विभिन्न यज्ञों के प्रारम्भिक कार्यों को कर लेने के बाद महाराज भरत यज्ञफलों को धर्म के नाम पर भगवान् वासुदेव को अर्पण कर देते थे। अर्थात्, वे भगवान् वासुदेव कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए समस्त यज्ञ करते थे। महाराज भरत सोचते थे कि सभी देवता भगवान् वासुदेव के शरीर के अंगस्वरूप हैं और वैदिक मंत्रों में जो भी वर्णित है वे उसके नियन्ता हैं। इस प्रकार से चिन्तन के फलस्वरूप महाराज भरत आसक्ति, काम तथा लोभ जैसे भौतिक कल्मष से मुक्त थे। जब पुरोहितगण अग्नि में हवि अर्पित करने वाले होते तो महाराज भरत को यह ज्ञात हो जाता था कि विभिन्न देवताओं को दी जाने वाली यह हवि ईश्वर के विभिन्न अवयवों (अंगों) के निमित्त है। उदाहरणार्थ, इन्द्र भगवान् के बाहु स्वरूप और सूर्य उनके नेत्र हैं। इस प्रकार महाराज भरत ने विचार किया कि विभिन्न देवताओं को दी जाने वाली आहुतियाँ वास्तव में भगवान् वासुदेव के अंग-प्रत्यंग के निमित्त हैं।

तात्पर्य : भगवान् का कथन है कि जब तक *श्रवणं कीर्तनं* वाली शुद्ध भक्ति का विकास न हो तब तक मनुष्य को अपने कर्तव्य करते रहना चाहिए। चूँकि भरत महाराज महान् भक्त थे, अत: कोई पूछ सकता है कि वे इतने सारे यज्ञ क्यों करते थे, जो वास्तव में कर्मियों के लिये हैं। तथ्य यह है कि वे वासुदेव के आदेशों का पालन मात्र कर रहे थे। *भगवद्गीता* (१८.६६) में श्रीकृष्ण ने कहा है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सभी धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आओ। चाहे हम जो भी करें हमें वासुदेव का स्मरण करते रहना चाहिए। लोग सामान्य रूप से विभिन्न देवताओं को नमस्कार करने के आदी हैं, किन्तु महाराज भरत तो केवल वासुदेव को प्रसन्न करना चाहते थे। जैसाकि

भगवद्गीता (.२९) में कहा गया है— *भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।* यज्ञ चाहे जिस विशेष देवता को प्रसन्न करने के लिए किया जाये, किन्तु जब कोई यज्ञ उस *यज्ञ-पुरुष* नारायण को समर्पित होता है, तो सभी देवता प्रसन्न होते हैं। विभिन्न यज्ञों का उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना है चाहे कोई विभिन्न देवताओं के नाम पर करे या सीधे नारायण के लिए। यदि हम सीधे भगवान् को आहुति देते हैं, तो सभी देवता स्वतः प्रसन्न हो जाते हैं। यदि हम पौधे की जड़ को सींचते हैं, तो उसकी शाखाएँ, फल, फूल स्वतः तुष्ट हो जाते हैं। जब कोई विभिन्न देवताओं के लिए यज्ञ करता है, तो उसे स्मरण रखना चाहिए कि ये देवता परमेश्वर के शरीर के विभिन्न अंग मात्र हैं। यदि हम किसी के हाथ की पूजा करते हैं, तो हमारा मन्तव्य उस व्यक्ति को प्रसन्न करने से होता है। यदि हम किसी व्यक्ति के पैर दबाते हैं, तो हम वास्तव में केवल पाँवों की नहीं वरन् पाँव वाले व्यक्ति की सेवा करते हैं। जितने भी देवता हैं, वे भगवान् के विभिन्न अंश हैं और जब हम उनकी सेवा करते हैं, तो वास्तव में हम स्वयं भगवान् की सेवा करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में देवताओं की पूजा का वर्णन है, किन्तु सभी श्लोक भगवान् गोविन्द की उपासना का समर्थन करते हैं। उदाहरणार्थ *ब्रह्म-संहिता* (.४४) में देवी दुर्गा की पूजा—ब्रह्म संहिता में इसप्रकार वर्णित है :

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका
छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपम् अपि यस्य च चेष्टते सा
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

श्रीकृष्ण के आदेश से ही देवी दुर्गा सृष्टि, पालन और संहार करती हैं। श्रीकृष्ण ने भी इस कथन की पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में इस प्रकार की है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—"हे कौन्तेय! यह प्रकृति मेरे आदेश के अनुसार कार्य करती है और समस्त चर तथा अचर प्राणियों का सृजन करती है।"

हमें इसी भावना से देवताओं की पूजा करनी चाहिए। चूँकि देवी दुर्गा श्रीकृष्ण को प्रसन्न रखती हैं, इसलिए हमें देवी दुर्गा का आदर करना चाहिए। भगवान् शिव भी श्रीकृष्ण के अंश रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, इसलिए हमें शिव का आदर करना चाहिए। इसी प्रकार हमें ब्रह्मा, अग्नि तथा सूर्य

का आदर करना चाहिए। विभिन्न देवताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार की भेंटें की जाती हैं, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे सब भगवान् को ही प्रसन्न करने के लिए हैं। भरत महाराज को देवताओं से किसी प्रकार का वर प्राप्त करने की इच्छा न थी। उनका उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना था। *महाभारत* में विष्णु के सहस्र नामों में *यज्ञ-भुग् यज्ञ-कृद् यज्ञः* भी आया है। परमेश्वर यज्ञों का भोक्ता, यज्ञों का कर्ता तथा साक्षात् यज्ञ है। परमेश्वर प्रत्येक वस्तु का कर्ता है, किन्तु अज्ञानवश जीवात्मा अपने को ही कर्ता मान बैठता है। जब तक हम अपने को कर्ता मानते हैं तब तक हम कर्म-बन्धन पैदा करते हैं। यदि हम यज्ञ अर्थात् श्रीकृष्ण के लिए कर्म करते हैं, तो कर्मबन्धन नहीं रह जाता। *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—" विष्णु के यज्ञ के रूप में कर्म करना है होता है; यदि विष्णु के लिए यज्ञ नहीं किया जाता तो कर्म इस भौतिक जगत से बाँध लेता है।"

भरत महाराज की शिक्षाओं का पालन करते हुए हमें चाहिए कि अपनी तुष्टि के लिए नहीं, अपितु भगवान् की तुष्टि के लिए कार्य करें। *भगवद्गीता* (१७.२८) में यह भी कहा गया है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

परब्रह्म में श्रद्धा के बिना जो कुछ यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्म किये जाते हैं, वे सब असत् हैं। अतः उनका न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म में कोई लाभ है।

महाराज अम्बरीष जैसे राजाओं तथा अन्य राजर्षियों ने अपना सारा समय भगवद्भक्ति में लगाया, क्योंकि वे शुद्ध भक्त थे। जब कोई शुद्ध भक्त किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से कोई सेवा कार्य करता है, तो उसकी आलोचना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसका यह कार्य ईश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त है। हो सकता है कि भक्त कर्मकाण्ड कराने के लिए किसी ऐसे पुरोहित को रखे जो वैष्णव न हो, किन्तु चूँकि भक्त भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है इसलिए उसकी आलोचना नहीं होनी चाहिए। यहाँ *अपूर्व* शब्द अत्यन्त सार्थक है। *अपूर्व* का अर्थ है *कर्म-फल*। जब हम कोई पाप या पुण्य करते हैं, तो उसका फल तुरन्त नहीं मिलता। अतः हम फल की प्रतीक्षा करते हैं जिसे *अपूर्व* कहते हैं। ये फल भविष्य में प्रकट होते हैं। यहाँ तक कि स्मार्त भी अपूर्व को मानते हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करते हैं, फलतः उनके कर्मफल दिव्य अथवा स्थायी होते हैं। वे कर्मियों के

फल के समान अस्थायी नहीं होते। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.२३) में की गई है—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस: ।

यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

''जो पुरुष प्रकृति के गुणों में आसक्त नहीं है और तत्त्वज्ञान में स्थित है, उसके सम्पूर्ण कर्म अध्यात्म में विलीन हो जाते हैं।''

भक्त भौतिक कलुष से मुक्त रहता है। वह सदैव ज्ञान में स्थित रहता है, अत: उसके सारे यज्ञ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होते हैं।

एवं कर्मविशुद्ध्या विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहृल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोचमान उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत. ॥ ७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कर्म-विशुद्ध्या—श्रीभगवान् को प्रत्येक वस्तु अर्पित करते हुए अपने पुण्यकर्मों के फल की अभिलाषा न करते हुए, कर्म शुद्धि से; विशुद्ध-सत्त्वस्य—भरत महाराज का, जिनका जीवन पूर्णत: शुद्ध था; अन्त:-हृदय-आकाश-शरीरे—योगियों द्वारा ध्यान किये जाने वाले अन्तर्यामी परमात्मा; ब्रह्मणि—निराकार ब्रह्म में, जिसकी आराधना निर्गुण ज्ञानी करते हैं; भगवति—श्रीभगवान् में; वासुदेवे—वासुदेव श्रीकृष्ण में; महा-पुरुष—परम पुरुष का; रूप—स्वरूप, आकार; उपलक्षणे—लक्षणों वाला; श्रीवत्स—भगवान् के वक्षस्थल का चिह्न, श्रीवत्स; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; वन-माला—पुष्पों का हार; अरि-दर—चक्र तथा शंख; गदा-आदिभि:—(तथा) गदा इत्यादि अन्य लक्षणों से; उपलक्षिते—पहचाना जाकर; निज-पुरुष-हृत्-लिखितेन—जो अपने भक्तों के हृदय में चित्र की भाँति स्थित हैं; आत्मनि—अपने मन में; पुरुष-रूपेण—अपने स्वरूप से; विरोचमाने—चमकता; उच्चैस्तराम्—अति उच्च स्तर पर; भक्ति:—भक्ति; अनुदिनम्—दिन प्रति दिन; एधमान—बढ़ता हुआ; रया—बलशाली; अजायत—प्रकट हुआ।

इस प्रकार यज्ञों से परिष्कृत महाराज भरत का हृदय सर्वथा कल्मषहीन हो गया। दिन प्रति दिन वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति उनकी भक्ति बढ़ती रही। वसुदेव पुत्र श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं, जो परमात्मा रूप में तथा निर्गुण ब्रह्म के रूप में प्रकट होते हैं। योगी लोग अपने हृदय में स्थित परमात्मा का ध्यान धरते हैं, ज्ञानी परम सत्य निर्गुण ब्रह्म के रूप में उपासना करते हैं और भक्त जन शास्त्रों में वर्णित दिव्य देहधारी भगवान् वासुदेव की आराधना करते हैं। उनका शरीर श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि तथा पुष्पहार से सुशोभित है और वे हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये हुए हैं। नारद जैसे भक्त अपने अन्त:करण में उनका सदा ध्यान धरते हैं।

तात्पर्य : भगवान् वासुदेव अर्थात् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। वे योगियों के हृदय में परमात्मा रूप में प्रकट होते हैं और ज्ञानी लोग निर्गुण ब्रह्म के रूप में उनकी उपासना करते हैं। शास्त्रों

में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिसमें वे चतुर्भुज रूप में शंख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये हुए रहते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (२.२.८) में भी हुई है—

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।

चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशंखगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

परमात्मा सभी जीवों के हृदयों में स्थित हैं। उनके चार हाथ होते हैं जिनमें वे आयुध धारण किये रहते हैं। ऐसे सभी भक्त जो परमात्मा का ध्यान धरते हैं मन्दिर के अर्चाविग्रह के रूप से श्रीभगवान् की पूजा करते हैं। वे ईश्वर के निर्गुण स्वरूप तथा उनके ब्रह्मतेज से भी परिचित होते हैं।

एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरोऽधिभुज्यमानं स्वतनयेभ्यो रिक्थं पितृपैतामहं यथादायं विभज्य स्वयं सकलसम्पन्निकेतात्स्वनिकेतात्पुलहाश्रमं प्रवव्राज. ॥ ८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार सदैव कार्यरत रहकर; वर्ष-अयुत-सहस्र—दस हजार वर्षों के एक हजार गुने वर्ष अर्थात् एक करोड़ वर्ष; पर्यन्त—बीतने तक; अवसित-कर्म-निर्वाण-अवसरः—राज्य-ऐश्वर्य का अन्त समझ कर महाराज भरत; अधिभुज्यमानम्—उस काल तक इस प्रकार भोगी जाकर; स्व-तनयेभ्यः—अपने पुत्रों को; रिक्थम्—सम्पत्ति; पितृ-पैतामहम्—अपने पिता तथा पूर्वजों से प्राप्त; यथा-दायम्—मनु के दाय-भाक् नियम के अनुसार (यथायोग्य); विभज्य—बाँट कर; स्वयम्—स्वयं, आप; सकल-सम्पत्—सभी प्रकार के ऐश्वर्यों का; निकेतात्—घर से; स्व-निकेतात्—अपने पैतृक घर से; पुलह-आश्रमम् प्रवव्राज—हरद्वार में पुलह आश्रम चला गया (जहाँ शालग्राम शिलाएँ प्राप्त होती हैं)।

प्रारब्ध ने महाराज भरत के लिए भौतिक ऐश्वर्य-भोग की अवधि एक करोड़ वर्ष नियत कर दी थी। जब यह अवधि समाप्त हुई तो उन्होंने गृहस्थ जीवन त्याग दिया और अपने पूर्वजों से प्राप्त सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँट दिया, उन्होंने समस्त ऐश्वर्य के आगार अपने पैतृकगृह को छोड़ दिया और वे पुलहाश्रम के लिए चल पड़े जो हरद्वार में स्थित है। वहाँ शालग्राम शिलाएँ प्राप्त होती हैं।

तात्पर्य : *दाय-भाक्* नियम के अनुसार जब किसी को कोई सम्पति मिल जाती है, तो उसे अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित करना होता है। महाराज भरत ने इसे सुचारु रूप से सम्पन्न किया। पहले तो पैतृक सम्पत्ति का उन्होंने स्वयं एक करोड़ वर्षों तक उपभोग किया और विरक्त होते समय इस सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँट दिया और वे स्वयं पुलह-आश्रम चले गये।

यत्र ह वाव भगवान्हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन सन्निधाप्यत इच्छारूपेण. ॥ ९॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ह वाव—निश्चय ही; भगवान्—श्रीभगवान; हरिः—ईश्वर; अद्य-अपि—आज भी; तत्रत्यानाम्—उस स्थान में रहते हुए; निज-जनानाम्—अपने भक्तों के; वात्सल्येन—अपने दिव्य स्नेह से; सन्निधाप्यते—दृश्य होता है; इच्छा-रूपेण—भक्त की इच्छानुसार।

पुलह आश्रम में भगवान् हरि अपने भक्तों के दिव्य वात्सल्य-वश होकर दृश्य होते रहते हैं और उन सबकी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं।

तात्पर्य : ईश्वर अनेक दिव्य रूपों में विद्यमान रहते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (.३९) में कहा गया है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्

नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।

कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ईश्वर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में स्थित रहते हैं और उनके साथ भगवान् राम, बलदेव, संकर्षण, नारायण, महा-विष्णु इत्यादि उनके अंश भी रहते हैं। भक्त अपनी रुचि के अनुसार इन रूपों की पूजा करते हैं और ईश्वर वात्सल्य-वश अर्चाविग्रह के रूप में उपस्थित होते हैं। कभी-कभी वे भक्त के समक्ष प्रेम के आदान-प्रदान के कारण साक्षात् उपस्थित होते हैं। भक्त ईश्वर की सेवा में पूर्णतया समर्पित रहता है और ईश्वर भक्त की इच्छानुसार दर्शन देते रहते हैं। वह भगवान् राम, कृष्ण, नृसिंहदेव इत्यादि के रूप में उपस्थित हो सकते हैं। भगवान् तथा भक्त के बीच ऐसा ही पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहता है।

यत्राश्रमपदान्युभयतो नाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा सर्वतः पवित्रीकरोति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; आश्रम-पदानि—सभी आश्रम; उभयतः—ऊपर तथा नीचे, दोनों ओर; नाभिभिः—नाभि चिह्न सदृश; दृषत्—दृश्य; चक्रैः—चक्रों से; चक्र-नदी—चक्र नदी (जिसे गंडकी कहते हैं); नाम—नामक; सरित्-प्रवरा—नदियों में श्रेष्ठ; सर्वतः—सर्वत्र; पवित्री-करोति—पवित्र करती है।

पुलह आश्रम में गण्डकी नदी है जो समस्त नदियों में श्रेष्ठ है। यहाँ इन समस्त स्थलों को पवित्र करने वाली शालग्राम शिलाएँ (संगमरमर की बटियाँ) हैं। इनमें ऊपर तथा नीचे दोनों ओर नाभि जैसे चक्र दृष्टिगोचर होते हैं।

तात्पर्य : *शालग्राम शिला* शब्द उन प्रस्तर बटियों (गोलियों) के लिए प्रयुक्त है जिनके ऊपर-नीचे वृत्त बने रहते हैं। ये गंडकी नदी में मिलते हैं। यह नदी जहाँ-जहाँ से होकर बहती है, वे स्थान तुरन्त पवित्र हो जाते हैं।

तस्मिन्वाव किल स एकलः पुलहाश्रमोपवने विविधकुसुमकिसलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो भगवत आराधनं विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपभृतोपशमः परां निर्वृतिमवाप. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस आश्रम में; वाव किल—निस्सन्देह; सः—भरत महाराज; एकलः—अकेले, एकान्त; पुलह-आश्रम-उपवने—पुलह आश्रम के उद्यानों में; विविध-कुसुम-किसलय-तुलसिका-अम्बुभिः—अनेक पुष्प, किसलय तथा तुलसीदल के साथ-साथ जल से; कन्द-मूल-फल-उपहारैः—मूल, कन्द तथा फलों की भेंट से; च—तथा; समीहमानः—करते हुए; भगवतः—भगवान् की; आराधनम्—आराधना, अर्चना; विविक्तः—विशुद्ध; उपरत—मुक्त होकर; विषय-अभिलाषः—भौतिक इन्द्रिय-सुख की कामना; उपभृत—बढ़ी हुई; उपशमः—शान्ति; पराम्—दिव्य; निर्वृतिम्—सन्तोष, प्रसन्नता; अवाप—प्राप्त किया।

पुलह आश्रम के उपवन में महाराज भरत अकेले रहकर अनेक प्रकार के फूल, किसलय तथा तुलसीदल एकत्र करने लगे। वे गंडकी नदी का जल तथा विभिन्न प्रकार के मूल, फल तथा कन्द भी एकत्र करते। वे इन सबसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव को भोजन अर्पित करते और उनकी आराधना करते हुए सन्तुष्ट रहने लगे। इस प्रकार उनका हृदय अत्यन्त निष्कलुष हो गया और उन्हें भौतिक सुख के लिए लेशमात्र भी इच्छा न रही। उनकी समस्त भौतिक कामनाएँ दूर हो गईं। इस स्थिर दशा में उन्हें परम सन्तोष हुआ और वे भक्ति में बने रहे।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी को मन:शान्ति चाहिए। यह तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा से पूर्णतया मुक्त रहे और ईश्वर की भक्तिमय सेवा में निरत रहे। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।* ईश्वर की आराधना तनिक भी खर्चीली नहीं है। मनुष्य चाहे तो उन्हें एक पत्री, पुष्प, फल तथा जल की भेंट चढ़ा सकता है। यदि श्रद्धा तथा प्रेम से ये वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं, तो परमेश्वर इन्हें स्वीकार कर लेता हैं। इस प्रकार मनुष्य भौतिक कामनाओं से मुक्त हो सकता है। जब तक भौतिक कामनाएँ बनी रहेंगी, तब तक वह सुखी नहीं रह सकता। ज्योंही मनुष्य ईश्वर की भक्ति में लग जाता है उसका मन समस्त भौतिक कामनाओं से विशुद्ध हो जाता है। तब वह पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.६-७) में कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

''समस्त मानवता का परम धर्म वह है, जिससे मनुष्य दिव्य ईश्वर की प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सकते हैं। आत्मतुष्टि के लिए आवश्यक है कि ऐसी भक्ति अहैतुकी और अविरत हो। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति द्वारा मनुष्य तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा संसार से विरक्ति को प्राप्त होता है।''

ये उपदेश सर्वोच्च वैदिक साहित्य *श्रीमद्भागवत* में दिये गये हैं। भले ही कोई पुलह-आश्रम न जा सके, किन्तु जो विधि बताई गई है उससे किसी भी स्थान में रहते हुए प्रसन्नतापूर्वक भक्ति की जा सकती है।

**तयेत्थमविरतपुरुषपरिचर्यया भगवति प्रवर्धमानानुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्य:
प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्पनिरुद्धावलोकनयन एवं
निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचितभक्तियोगेन
परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयहृदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां न सस्मार. ॥ १२॥**

शब्दार्थ

तया—उसके द्वारा; इत्थम्—इस प्रकार; अविरत—निरन्तर; पुरुष—परमेश्वर की; परिचर्यया—सेवा द्वारा; भगवति—श्रीभगवान् में; प्रवर्धमान—निरन्तर बढ़ती हुई; अनुराग—आसक्ति का; भर—भार से; द्रुत—द्रवित; हृदय—हृदय; शैथिल्य:—शिथिलता; प्रहर्ष-वेगेन—दिव्य हर्ष के वेग से; आत्मनि—अपने शरीर में; उद्भिद्यमान-रोम-पुलक-कुलक:—रोमांच, रोमों का खड़ा होना; औत्कण्ठ्य—उत्कंठा के कारण; प्रवृत्त—उत्पन्न; प्रणय-बाष्प-निरुद्ध-अवलोक-नयन:—प्रेमाश्रु प्रकट होने से दृष्टि में अवरोध; एवम्—इस प्रकार; निज-रमण-अरुण-चरण-अरविन्द—ईश्वर के लाल लाल चरणकमलों पर; अनुध्यान—ध्यान करने से; परिचित—बढ़ा हुआ; भक्ति-योगेन—भक्ति के कारण; परिप्लुत—सर्वत्र फैलकर; परम—सर्वोच्च; आह्लाद—आनन्द का; गम्भीर—अत्यन्त गहरा; हृदय-हृद—हृदय रूपी सरोवर; अवगाढ—डूबा हुआ; धिषण:—जिसकी बुद्धि; ताम्—वह; अपि—यद्यपि; क्रियमाणाम्—करते हुए; भगवत्—श्रीभगवान् का; सपर्याम्—आराधना; न—नहीं; सस्मार—स्मरण रहा।

इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ भक्त महाराज भरत ईश्वर की भक्ति में निरन्तर लगे रहे। स्वाभाविक रूप से वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति उनका प्रेम बढ़ता गया और अन्तत: उनका हृदय द्रवित हो उठा। फलत: धीरे-धीरे समस्त विधि-विधानों के प्रति उनकी आसक्ति जाती रही। उन्हें रोमांच होने लगा और आह्लाद के सभी शारीरिक लक्षण (भाव) प्रकट होने लगे। उनके नेत्रों से अश्रुओं की अविरल धारा बहने लगी जिससे वे कुछ भी देखने में असमर्थ हो गये। इस प्रकार वे निरन्तर ईश्वर के अरुण चरणारविन्द पर ध्यान लगाये रहते। उस समय उनका सरोवर के सदृश हृदय आनन्द-

जल से पूरित हो गया। जब उनका मन इस सरोवर में निमग्न हो गया तो वे नियमपूर्वक सम्पन्न की जाने वाली भगवद् पूजा भी भूल गये।

तात्पर्य : जब कोई श्रीकृष्ण के प्रेम में विभोर हो उठता है, तो शरीर में आठ दिव्य आनन्दमय लक्षण (भाव) प्रकट होते हैं। ये सिद्धि के लक्षण हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रेमाभक्ति से उठते हैं। चूँकि महाराज भरत निरन्तर भक्ति में लीन रहते थे इसलिए ये हर्षातिरेक के लक्षण उनमें प्रकट हुए।

इत्थं धृतभगवद्व्रत ऐणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; धृत-भगवत्-व्रतः—भगवान् की सेवा का व्रत स्वीकार करके; ऐणेय-अजिन-वासस—मृगचर्म वस्त्र धारण किये; अनुसवन—प्रति दिन तीन बार; अभिषेक—स्नान द्वारा; अर्द्र—गीला; कपिश—भूरा; कुटिल-जटा—घुँघराले केशों की जटा; कलापेन—समूह से; च—तथा; विरोचमानः—अत्यन्त सुन्दर ढंग से सजाई गई; सूर्यर्चा—सूर्य में स्थित भगवान् नारायण के अंश-विस्तार की वैदिक ऋचाओं द्वारा पूजा; भगवन्तम्—भगवान् को; हिरण्मयम्—स्वर्णकान्ति वाले भगवान्; पुरुषम्—भगवान्; उज्जिहाने—उदय होते हुए; सूर्य-मण्डले—सूर्यमंडल में; अभ्युपतिष्ठन्—पूजा करते हुए; एतत्—यह; उ ह—निश्चय ही; उवाच—कहा।.

महाराज भरत अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे। उनके शीश पर घुँघराले बालों की राशि थी जो दिन में तीन बार स्नान करने से गीली थी। वे मृगचर्म धारण करते और स्वर्णिम तेजोमय शरीर तथा सूर्य के भीतर वास करने वाले श्रीनारायण की पूजा करते। वे ऋग्वेद की ऋचाओं का जप करते हुए भगवान् नारायण की उपासना करते और सूर्योदय होते ही निम्नलिखित श्लोक का पाठ करते।

तात्पर्य : सूर्य में प्रमुख देवता हिरण्मय यानी भगवान् नारायण हैं। उनकी आराधना गायत्री मंत्र से की जाती है जो इस प्रकार है—*ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।* उनकी अर्चना ऋग्वेद में दी गई अन्य ऋचाओं से भी की जाती है, यथा—*ध्येयः सदा सवितृ-मंडल-मध्य-वर्ती।* सूर्य के भीतर भगवान् नारायण का वास है और उनका रंग सुनहरा है।

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

परः-रजः—रजोगुण से परे (सतोगुण में स्थित); सवितुः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोकित करने वाले का; जात-वेदः—जिससे भक्तों की कामनाएँ पूरी होती है; देवस्य—भगवान् का; भर्गः—आत्म-तेज; मनसा—मात्र चिन्तन से; इदम्—यह; जजान—उत्पन्न किया; सु-रेतसा—दिव्य-शक्ति से; अदः—यह सृष्टि; पुनः—फिर; आविश्य—प्रवेश करके; चष्टे—देखता या पालन करता है; हंसम्—जीव को; गृध्राणम्—भौतिक सुख की कामना करते हुए; नृषत्—बुद्धि के लिए; रिङ्गिराम्—गति प्रदान करने वाले; इमः—नमस्कार है।

''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् शुद्ध सत्त्व में स्थित हैं। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोकित करते हैं और अपने भक्तों को सभी वर देते हैं। ईश्वर ने अपने दिव्य तेज से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है। वे अपनी ही इच्छा से इस ब्रह्माण्ड में परमात्मा के रूप में प्रविष्ट हुए और अपनी विभिन्न शक्तियों से भौतिक सुख की इच्छा रखने वाले समस्त जीवों का पालन करते हैं। ऐसे बुद्धिदायक भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।''

तात्पर्य : सूर्य का प्रधान अधिष्ठातृ देवता नारायण का ही अन्य अंश है, जो समस्त ब्रह्माण्ड को अलोकित करता है। ईश्वर समस्त जीवात्माओं के हृदय में परमात्मा के रूप में प्रवेश करता है और उन्हें बुद्धि प्रदान करते हैं तथा उनकी कामनाओं को पूरा करते हैं। *भगवद्गीता* से (१.१) भी इसकी पुष्टि होती है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—मैं सबके हृदय में आसीन रहता हूँ।

ईश्वर परमात्मा के रूप में सब प्राणियों के हृदय में प्रवेश करते हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (.३) में कथित है—*अण्डान्तर-स्थ-परमाणु-चयान्तर-स्थम्*—''वह ब्रह्माण्ड तथा अणु में समान भाव से प्रवेश करता है।'' ऋग्वेद में सूर्य के प्रमुख अधिष्ठातृ देवता की अर्चना इस मंत्र से की गई है—*ध्येयः सदा सवितृ-मंडल-मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्टः।* सूर्य के भीतर नारायण अपने कमल पुष्प पर आसीन हैं। इस मंत्र का उच्चारण करते हुए सूर्योदय के समय प्रत्येक जीव को नारायण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार यह संसार सूर्य के तेज पर निर्भर है। सूर्य प्रकाश से ही सभी ग्रह घूमते हैं और वनस्पतियाँ उगती हैं। हमें यह भी ज्ञात है कि चन्द्रमा की चाँदनी वनस्पतियों तथा जड़ी-बूटियों के उगने में सहायता करती है। वास्तव में नारायण सूर्य के भीतर स्थित होकर सारे ब्रह्माण्ड का पालन करते हैं अतः नारायण की उपासना गायत्री मंत्र ऋग् मंत्र से करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा भरत के कार्यकलाप'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

भरत महाराज के चरित्र का वर्णन

यद्यपि भरत महाराज परम सिद्ध थे, किन्तु एक नन्हे मृगशावक के प्रति आसक्त होने से उनका पतन हुआ। एक दिन सदा की भाँति गण्डकी नदी में स्नान करके भरत महाराज मंत्र का जाप कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक गर्भिणी मृगी नदी में पानी पीने आई। सहसा किसी सिंह की दहाड़ सुनाई पड़ी और मृगी इतनी भयभीत हो गई कि उसने तुरन्त अपने शिशु को जन्म दे दिया। मृगी ने किसी तरह नदी पार तो कर ली, किन्तु तत्पश्चात् उसकी तुरन्त मृत्यु हो गई। महाराज भरत को माताविहीन मृगशावक पर तरस आया, उन्होंने उसे जल से निकाला और अपने आश्रम में लाकर अत्यन्त लाड से उसे पाला। धीरे-धीरे वे इस नन्हे मृग पर इतने आसक्त हो गये कि सदैव उसी के सम्बन्ध में स्नेहवत् सोचते रहते। जैसे-जैसे वह बढ़ता गया वह महाराज का स्थायी संगी बनता गया और वे सदैव उसी का ध्यान करते। अन्ततः वे इसके ध्यान में इतने खो गये कि उनका मन विह्वल हो उठता। ज्यों-ज्यों मृग के प्रति उनकी आसक्ति बढ़ती गई उनकी भक्ति शिथिल पड़ती गई। यद्यपि उन्होंने अपने ऐश्वर्यमय साम्राज्य का परित्याग कर दिया था, किन्तु वे इस मृग से बँध गये। इस प्रकार योगाभ्यास से उनका पतन हो गया। एक बार मृग वहाँ से गायब था तो वे इतने विचलित हुए कि वे उसकी खोज में चल पड़े। खोजते समय विलाप करते रहने से वे गिर पड़े और मर गये। चूँकि उनका मन मृग की सोच-विचार में पूर्णतः मग्न रहता था; इसलिए अगले जन्म में वे मृगी की कोख से उत्पन्न हुए। लेकिन सिद्ध होने के कारण मृग का शरीर प्राप्त होने पर भी वे अपने पूर्वकर्मों को विस्मृत नहीं कर पाये; उन्हें ज्ञान था कि वे उच्च पद से किस प्रकार नीचे गिरे थे, अतः अपनी मृगी-माँ को छोड़कर वे पुनः पुलह-आश्रम चले आये। उन्होंने अपने सकाम कर्मों का अन्त मृग रूप में किया और जब उनकी मृत्यु हुई वे मृग-शरीर से मुक्त हो गये।

श्रीशुक उवाच

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्तत्रयमुदकान्त उपविवेश. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एकदा—एक बार; तु—लेकिन; महा-नद्याम्—गण्डकी नामक महानदी में; कृत-अभिषेक-नैयमिक-अवश्यकः—नित्य नैमित्तिक तथा शौचादि कार्यों से निवृत्त होकर, स्नान करके; ब्रह्म-अक्षरम्—प्रणव मंत्र (ॐ) का; अभिगृणानः—जप करते हुए; मुहूर्त-त्रयम्—तीन मुहूर्त तक; उदक-अन्ते—नदी के तट पर; उपविवेश—बैठ गये।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्! एक दिन प्रातःकालीन नित्य-नैमित्तिक शौचादि कृत्यों से निवृत्त होकर महाराज भरत कुछ क्षणों के लिए गण्डकी नदी के तट पर बैठ कर ओंकार से प्रारम्भ होनेवाले अपने मंत्र का जप करने लगे।

तत्र तदा राजन्हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याशमेकैवोपजगाम. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्र—नदी के तट पर; तदा—उस समय; राजन्—हे राजा; हरिणी—मृगी; पिपासया—प्यास के कारण; जलाशय-अभ्याशम्—नदी के निकट; एक—एक; एव—निश्चय ही; उपजगाम—आई।

हे राजन्, जब महाराज भरत उस नदी के तट पर बैठे हुए थे उसी समय एक प्यासी हिरनी पानी पीने आई।

तया पेपीयमान उदके तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो लोकभयङ्कर उदपतत्. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तया—उस मृगी द्वारा; पेपीयमाने—अत्यन्त तृप्ति के साथ पिया गया; उदके—जल; तावत् एव—ठीक उसी समय; अविदूरेण—अत्यन्त निकट; नदतः—गरजता हुआ; मृग-पतेः—सिंह की; उन्नादः—दहाड़; लोक-भयम्-कर—समस्त जीवों के लिए अत्यन्त डरावनी; उदपतत्—उठी।

जब वह हिरनी अगाध तृप्ति के साथ जल पी रही थी तो पास ही एक सिंह ने घोर गर्जना की। यह समस्त जीवों के लिए डरावनी थी और इसे उस मृगी ने भी सुना।

तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृतिविक्लवा चकितनिरीक्षणा सुतरामपि हरिभयाभिनिवेशव्यग्रहृदया
पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात्सहसैवोच्चक्राम. ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तम् उपश्रुत्य—उस दहाड़ को सुनकर; सा—वह; मृग-वधूः—मृगी; प्रकृति-विक्लवा—स्वभाव से अन्यों द्वारा मारे जाने से भयभीत; चकित-निरीक्षणा—चकित नेत्रों वाली; सुतराम् अपि—तुरन्त ही; हरि—सिंह के; भय—डर; अभिनिवेश—आने से; व्यग्र-हृदया—व्यग्र-चित्त वाली; पारिप्लव-दृष्टिः—चौकन्ने नेत्रों वाली; अगत-तृषा—अपनी प्यास बुझाये बिना; भयात्—डर से; सहसा—अचानक; एव—ही; उच्चक्राम—नदी पार करने लगी।

मृगी स्वभाव से अन्यों द्वारा वध किये जाने से डर रही थी और लगातार शंकित दृष्टि से देख रही थी। जब उसने सिंह की दहाड़ सुनी तो वह अत्यन्त उद्विग्न हो उठी। चौकन्नी दृष्टि से इधर-

उधर देख कर वह मृगी अभी जल पीकर पूर्णतया तृप्त भी नहीं हुई थी कि सहसा उसने नदी पार करने के लिए छलाँग लगा दी।

तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयावगलितो योनिनिर्गतो गर्भः स्रोतसि निपपात. ॥ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—उसके; उत्पतन्त्याः—बलपूर्वक कूदने से; अन्तर्वत्न्याः—गर्भ होने से; उरु-भय—अत्यन्त डर के कारण; अवगलितः—छिटक कर; योनि-निर्गतः—गर्भ से बाहर आकर; गर्भः—गर्भस्थ शिशु; स्रोतसि—बहते जल में; निपपात—गिर गया।

मृगी गर्भिणी थी, अतः जब डर के मारे वह कूद पड़ी तो शिशु मृग उसके गर्भ से निकल कर नदी के बहते जल में गिर गया।

तात्पर्य : यदि स्त्री डर जाती है या अत्यन्त भावुक हो जाती है, तो गर्भपात की आशंका रहती है। अतः गर्भिणी स्त्रियों को ऐसे बाह्य प्रभावों से दूर रखना चाहिए।

तत्प्रसवोत्सर्पणभयखेदातुरा स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याञ्चिद्दर्यां कृष्णसारसती निपपाताथ च ममार. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तत्-प्रसव—उसके (मृग शावक) असामयिक गिर जाने से; उत्सर्पण—नदी में छलांग लगाने से; भय—(तथा) भय से; खेद—निर्बलता से; आतुरा—पीड़ित; स्व-गणेन—मृग-झुंड से; वियुज्यमाना—विलग हुई; कस्याञ्चित्—किसी; दर्याम्—पर्वत की गुफा में; कृष्ण-सारसती—कृष्ण मृग की पत्नी (मृगी); निपपात—गिर गई; अथ—अतः; च—तथा; ममार—मर गई।

अपने झुंड से विलग होने तथा गर्भपात से त्रस्त्र हो जाने से वह कृष्णा-मृगी नदी को पार करके अत्यन्त भयभीत हुई। अतः एक गुफा में गिर कर वह तुरन्त मर गई।

तं त्वेणकुणकं कृपणं स्रोतसानूह्यमानमभिवीक्ष्यापविद्धं बन्धुरिवानुकम्पया राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत्. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; तु—लेकिन; एण-कुणकम्—मृग शावक (हरिणी का बच्चा) को; कृपणम्—बेचारे; स्रोतसा—लहरों के द्वारा; अनूह्यमानम्—तैरता हुआ; अभिवीक्ष्य—देख कर; अपविद्धम्—आत्म-जन से विलग (वियुक्त); बन्धुः इव—मित्र की भाँति; अनुकम्पया—दयावश; राज-ऋषिः भरतः—परम सन्त तुल्य राजा भरत; आदाय—लाकर; मृत-मातरम्—मातृविहीन; इति—ऐसा सोचते हुए; आश्रम-पदम्—आश्रम में; अनयत्—ले गया।

नदी के तीर पर बैठे हुए महान् राजा भरत ने अपनी माँ से बिछुड़े बच्चे को नदी में उतराते देखा। यह देख कर उन्हें बड़ी दया आई। उन्होंने विश्वासपात्र मित्र की भाँति उस नन्हेशावक को लहरों से निकाल लिया और मातृहीन जान कर वे उसे अपने आश्रम में ले आये।

तात्पर्य : प्रकृति के नियम जिस सूक्ष्मता से लागू होते हैं उसका हमें ज्ञान नहीं होता है। महाराज भरत उन्नत भक्त और महान् राजा थे। वे परमेश्वर की प्रेमाभक्ति को प्राप्त करने ही वाले थे, किन्तु उस पद से भी भौतिक स्तर पर वे नीचे गिर गये। इसलिए *भगवद्गीता* (२.१) में यह चेतावनी दी गई है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

''हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! जो सुख-दुख को समान समझ कर इन दोनों से व्याकुल नहीं होता, वह धीर पुरुष निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।''

भौतिक बन्धन से मोक्ष तथा मुक्ति के प्रति अग्रसर होने में अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि थोड़ी सी त्रुटि रह जाने से पुन: संसार में गिरना पड़ता है। महाराज भरत के चरित्र का अध्ययन करके हम सभी प्रकार की भौतिक आसक्ति से मुक्त होने की कला सीख सकते हैं। जैसाकि आगे के श्लोकों से पता चलेगा, भरत महाराज को मृग शरीर धारण करना पड़ा, क्योंकि मृगशावक पर उनका अत्यन्त ममत्व हो गया था। हमें चाहिए कि हम मनुष्य को भौतिक स्थिति से दिव्य स्थिति तक उठाने में दयालु बनें, क्योंकि पता नहीं कब हमारी यह सिद्धि नष्ट हो जाये और हमें नीचे गिरना पड़े। महाराज भरत का मृग के प्रति दया भौतिक जगत् में उनके पतन की शुरुआत थी।

तस्य ह वा एणकुणक
उच्चैरेतस्मिन्कृतनिजाभिमानस्याहरहस्तत्पोषणपालनलालनप्रीणनानुध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः
पुरुषपरिचर्यादय एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन्. ॥८॥

शब्दार्थ

तस्य—राजा का; ह वा—निसन्देह; एण-कुणके—मृग शावक में; उच्चै:—अत्यधिक; एतस्मिन्—इसमें; कृत-निज-अभिमानस्य—जिसने मृगशावक को पुत्रवत् स्वीकार किया; अह:-अह:—प्रतिदिन; तत्-पोषण—उस छौने को पाल कर बड़ा करना; पालन—संकटों से रक्षा; लालन—लाड़-प्यार; प्रीणन—पुचकारना; अनुध्यानेन—ऐसी आसक्ति से; आत्म-नियमा:—अपने शरीर की रक्षा हेतु किये गये कृत्य; सह-यमा:—यम अर्थात् अहिंसा, सहनशीलता तथा सरलता से युक्त; पुरुष-परिचर्या-आदय:—भगवान् की आराधना तथा अन्य कृत्य; एक-एकश:—एक-एक करके; कतिपयेन—कुछ ही; अह:-गणेन—दिनों में; वियुज्यमाना:—त्यागे जाकर; किल—निस्सन्देह; सर्वे—समस्त; एव—ही; उदवसन्—नष्ट हो गये।

धीरे-धीरे महाराज भरत उस मृग के प्रति अत्यन्त वत्सल होते गये। वे घास खिला-खिलाकर उसका पालन करने लगे। वे बाघ तथा अन्य हिंस्र पशुओं के आक्रमण से उसकी सुरक्षा के प्रति

सदैव सतर्क रहते थे। जब उसे खुजली होती तो वे सहलाते और उसे आरामदेह स्थिति में रखने का प्रयत्न करते। कभी-कभी प्रेमवश उसे चूमते भी थे। इस प्रकार मृग के पालन पोषण में आसक्त हो जाने से महाराज भरत आध्यात्मिक जीवन के यम-नियम भूलते गये, यहाँ तक कि धीरे-धीरे भगवान् की आराधना भी भूल गये। कुछ दिनों के बाद वे अपनी आध्यात्मिक उन्नति के विषय में सब कुछ भूल गये।

तात्पर्य : इससे हम यह समझ सकते हैं कि हमें अपने कर्तव्यों के प्रति कितना सतर्क रहना चाहिए और यम-नियमों का पालन करते हुए नियमित रूप से हरे कृष्ण महामंत्र का जप करते रहना चाहिए। यदि हम इसे करने में लापरवाही बरतते हैं, तो अन्त में हमें नीचे गिरना पड़ेगा। हमें चाहिए कि प्रातः उठ कर स्नान करें और मंगल आरती में सम्मिलित हों, अर्चा-विग्रहों की आराधना करें, ''हरे कृष्ण मंत्र'' का जप करें, वैदिक साहित्य का अध्ययन करें और आचार्यों तथा गुरुओं के द्वारा बताये गये यम-नियमों का पालन करें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो चाहे हम जितने उच्च पद पर क्यों न आसीन हों नीचे आ गिरेंगे। *भगवद्गीता* (१८.) में कहा गया है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

''यज्ञ, तप और दान रूप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए वरन् इन्हें अवश्य करते रहना चाहिए। वस्तुतः यज्ञ, दान और तप महात्माओं को भी शुद्ध करने वाले हैं।'' यहाँ तक कि संन्यासी को भी इन विधि-विधानों का परित्याग नहीं करना चाहिए। उसे अर्चाविग्रह की आराधना करनी चाहिए और समय तथा जीवन को श्रीकृष्ण की सेवा में लगाना चाहिए। उसे तप भी करते रहना चाहिए। इन सबका त्याग नहीं हो सकता। मनुष्य को यह समझकर कि उसने संन्यास धारण कर लिया है अपने को सिद्ध नहीं मान लेना चाहिए। अपनी आध्यात्मिक-उन्नति के लिए भरत महाराज के कार्य-कलापों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

अहो बतायं हरिणकुणकः कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्वगणसुहृद्बन्धुभ्यः परिवर्जितः शरणं च मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातीन्यौथिकांश्चैवोपेयाय नान्यं कञ्चन वेद मय्यतिविस्रब्धश्चात एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरण्योपेक्षादोषविदुषा. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अहो बत—ओह; अयम्—यह; हरिण-कुणकः—मृग शावक; कृपणः—असहाय; ईश्वर-रथ-चरण-परिभ्रमण-रयेण—भगवान् के काल-चक्र के वेग से; स्व-गण—अपने झुंड; सुहृत्—तथा मित्रों; बन्धुभ्यः—स्वजनों से; परिवर्जितः—वियुक्त; शरणम्—शरण; च—तथा; मा—मेरी; उपसादितः—प्राप्त करके; माम्—मुझको; एव—ही; माता-पितरौ—माता-पिता; भ्रातृ-ज्ञातीन्—बन्धुओं तथा सम्बंधियों; यौथिकान्—झुंड से सम्बद्ध; च—भी; एव—निश्चय ही; उपेयाय—भूलकर, बिछुड़ कर; न—नहीं; अन्यम्—अन्य कोई; कञ्चन—कोई व्यक्ति; वेद—यह जानता है; मयि—मुझमें; अति—अत्यधिक; विस्रब्धः—श्रद्धा रखने वाला; च—तथा; अतः एव—इसलिए; मया—मेरे द्वारा; मत्-परायणस्य—इस प्रकार मेरे आश्रित का; पोषण-पालन-प्रीणन-लालनम्—पोषण, पालन, संतुष्ट करना तथा दुलारना; अनसूयुना—अनसूया (द्वेष) रहित मैं; अनुष्ठेयम्—किया जाने वाला; शरण्य—शरणागत; उपेक्षा—उपेक्षा; दोष-विदुषा—जो दोष जानता है।

महान् राजा भरत सोचने लगे—अहो! बेचारा यह मृगशावक भगवान् के प्रतिनिधि काल-चक्र के वेग से अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से विलग हो गया है और मेरी शरण में आया है। यह अन्य किसी को न जानकर केवल मुझे अपना पिता, माता, भाई तथा स्वजन मानने लगा है। मेरे ही ऊपर इसकी निष्ठा है। यह मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता, अतः मुझे ईर्ष्यावश यह नहीं सोचना चाहिए कि इस मृग के कारण मेरा अकल्याण होगा। मेरा कर्तव्य है कि मैं इसका लालन, पालन, रक्षण करूँ तथा इसे दुलारूँ-पुचकारूँ। जब इसने मेरी शरण ग्रहण कर ली है, तो भला इसे मैं कैसे दुत्कारूँ? यद्यपि इस मृग से मेरे आध्यात्मिक जीवन में व्यतिक्रम हो रहा है, किन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि इस प्रकार से कोई असहाय व्यक्ति यदि शरणागत हो तो उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तब तो यह बड़ा भारी दोष होगा।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति कृष्णभावानामृत में अत्यधिक उठ जाता है, तो संसार के समस्त दुखी प्राणियों के प्रति वह सहज ही दयालु हो उठता है। वह सामान्य मनुष्यों के कष्टों को ही ध्यान में रखता है, किन्तु यदि कोई पतित जीवों के कष्टों को नहीं जानता और शारीरिक सुख देने के उद्देश्य से दयालु हो उठता है जैसाकि भरत महाराज ने किया, तो ऐसी दया या ममता उसके स्वयं के पतन का कारण बनती है। यदि वास्तव में पतित तथा दुखी मानवता के प्रति दयाभाव है, तो मनुष्य को चाहिए कि उन्हें आध्यात्मिक चेतना (भावना) तक ऊपर उठाये। जहाँ तक मृग की बात है भरत महाराज अत्यन्त दयालु हो गये, किन्तु वे यह भूल गये कि इस मृग को आध्यात्मिक भावना तक ऊपर उठा पाना दुष्कर है क्योंकि आखिर मृग पशु ही ठहरा। मात्र पशु की रखवाली के लिए अपने विधि-विधानों का परित्याग महाराज भरत के लिए घातक सिद्ध हुआ। *भगवद्गीता* में प्रतिपाद्य नियमों का पालन होना चाहिए। *यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।* जहाँ तक इस भौतिक देह का प्रश्न है कोई किसी के

लिए कुछ नहीं कर सकता। किन्तु श्रीकृष्ण के अनुग्रह से हम स्वयं विधि-विधानों का पालन करते रहें तो किसी भी व्यक्ति को आध्यात्मिक भावना प्रदान कर सकते हैं। किन्तु यदि हम अपनी आध्यात्मिक वृत्तियों को त्याग कर दूसरे के शारीरिक सुखों के प्रति चिन्तित रहें तो हम स्वयं संकटपूर्ण स्थिति को प्राप्त होंगे।

नूनं ह्यार्याः साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्संदेह; हि—निश्चय ही; आर्याः—परम सभ्य; साधवः—साधुजन; उपशम-शीलाः—संन्यास लेने पर भी; कृपण-सुहृदः—असहायों के मित्र; एवं-विध-अर्थे—ऐसे नियमों का पालन करने के लिए; स्व-अर्थान् अपि—अपने स्वार्थों तक का; गुरु-तरान्—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; उपेक्षन्ते—उपेक्षा करते हैं।.

भले ही कोई संन्यास ले चुका हो, किन्तु जो महान् है, वह निश्चित रूप से दुखी जीवात्मा के प्रति दया का अनुभव करता है। मनुष्य को चाहिए कि शरणागत की रक्षा के हेतु अपने बड़े से बड़े स्वार्थ की परवाह न करे।

तात्पर्य : माया अत्यन्त प्रबल है। परोपकार, साम्यवाद तथा परमार्थ के वशीभूत होकर विश्व में दुखी मानवता के प्रति लोग दया का अनुभव करते हैं। परोपकारी यह नहीं सोच पाते कि मनुष्यों की भौतिक स्थितियों को सुधार पाना असम्भव है। भौतिक स्थितियाँ तो अपने कर्म के अनुसार उच्च शासन (दैव) द्वारा पहले से नियत हैं, उन्हें बदला नहीं जा सकता। दुखी प्राणियों को हम इतना ही लाभ पहुँचा सकते हैं कि उनमें आध्यात्मिक चेतना जगा दें। भौतिक सुपास बढ़ाये घटाये नहीं जा सकते। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (१..१८) में कहा गया है— *तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखम्*—"जहाँ तक भौतिक सुख का प्रश्न है, वह बिना प्रयास प्राप्त होता है, जिस प्रकार कि दुख बिना प्रयास के आते हैं।" भौतिक सुख तथा कष्ट बिना प्रयास के ही प्राप्त होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कर्म की परवाह न करे। यदि कोई किसी के प्रति दयालु है या किसी की भलाई कर सकता है, तो उसे चाहिए कि उस व्यक्ति को कृष्णभावनामृत तक ऊपर उठाए। इस प्रकार भगवत् कृपा से प्रत्येक प्राणी ऊपर उठेगा। भरत महाराज ने हमें उपदेश देने के लिए ऐसा ही किया। किन्तु हमें कभी भी तथाकथित शारीरिक कल्याणकारी कार्यकलापों में बहना नहीं चाहिए। हमें किसी भी मूल्य पर भगवान् विष्णु का अनुग्रह प्राप्त करने में अरुचि नहीं दिखानी चाहिए। सामान्य रूप से लोग या तो इसे जानते नहीं या

फिर वे भूल जाते हैं। फलस्वरूप वे अपने मूल उद्देश्य विष्णु के अनुग्रह की प्राप्ति को भूल कर शारीरिक सुविधा दिलाने के लिए परोपकारी कार्यों में लग जाते हैं।

इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्नानाशनादिषु सह मृगजहुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत्. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; कृत-अनुषङ्गः—आसक्ति बढ़ने से; आसन—बैठना; शयन—सोना (नींद); अटन—टहलना; स्नान—नहाना; आशन-आदिषु—खाने आदि में; सह मृग-जहुना—मृगछौने के साथ-साथ; स्नेह-अनुबद्ध—स्नेह से बँधा हुआ; हृदयः—हृदय वाला; आसीत्—हो गया।

मृग के प्रति आसक्ति बढ़ जाने से महाराज भरत उसी मृग के साथ लेटते, टहलते, स्नान करते, यहाँ तक कि उसी के साथ खाना भी खाते। इस प्रकार उनका हृदय मृग के स्नेह में बँध गया।

कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलोदकान्याहरिष्यमाणो वृकसालावृकादिभ्यो भयमाशंसमानो यदा सह हरिणकुणकेन वनं समाविशति. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कुश—अनुष्ठानों में प्रयुक्त एक प्रकार की घास, कुश; कुसुम—फूल; समित्—समिधा, जलाने की लकड़ी; पलाश—पत्ते; फल-मूल—फल तथा कन्द; उदकानि—(तथा) जल; आहरिष्यमाणः—एकत्र करने की इच्छा होने पर; वृकसाला-वृक—भेड़ियों तथा कुत्तों से; आदिभ्यः—तथा अन्य पशु यथा बाघ आदि से; भयम्—भय, डर; आशंसमानः—आशंकित; यदा—जब; सह—साथ; हरिण-कुणकेन—मृग-छौना के; वनम्—जंगल में; समाविशति—प्रवेश करता है।

जब महाराज भरत को कुश, फूल, लकड़ी, पत्ते, फल, कन्द तथा जल लाने के लिए जंगल में जाना होता तो उन्हें भय बना रहता कि कुत्ते, सियार, बाघ तथा अन्य हिंस्र पशु आकर मृग को मार न डालें। अत: वे जंगल में जाते समय उसे अपने साथ-ले जाते।

तात्पर्य : यहाँ पर यह बताया गया है कि महाराज भरत ने मृग के प्रति अपने स्नेह को किस प्रकार बढ़ा लिया था। भरत महाराज जैसे महान् पुरुष को, जिन्हें भगवान् का स्नेह प्राप्त था, एक पशु से स्नेह के कारण अपने पद से नीचे आना पड़ा। फलत: जैसाकि हम आगे देखेंगे, उन्हें अगले जन्म में मृग का शरीर अपनाना पड़ा। जब महाराज भरत का यह हाल हुआ तो भला जो आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़े हुए नहीं हैं, किन्तु बिल्लियों तथा कुत्तों में आसक्त हैं उनका क्या होगा? जब ऐसे लोग भगवान् के प्रति अपने स्नेह तथा प्यार को बढ़ाते नहीं, तब तक कुत्तों तथा बिल्लियों के प्रति स्नेह के कारण उन्हें अगले जन्म में वैसे ही शरीर धारण करने पड़ेंगे। जब तक हम परमेश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा नहीं

बढ़ाते, तब तक हम अनेक वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते रहेंगे भौतिक बन्धन का यही कारण है।

पथिषु च मुग्धभावेन तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात्स्कन्धेनोद्वहति एवमुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन्मुदं परमामवाप. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पथिषु—वन मार्ग में; च—भी; मुग्ध-भावेन—मृग के बचकाने आचरण से; तत्र तत्र—वहाँ वहाँ; विषक्त-मति—अत्यधिक आकृष्ट मन वाला; प्रणय—प्रेम से; भर—पूरित; हृदयः—जिसका हृदय; कार्पण्यात्—स्नेह तथा प्रेम के कारण; स्कन्धेन—कंधे से; उद्वहति—ले जाता है; एवम्—इस प्रकार; उत्सङ्गे—कभी-कभी गोद में; उरसि—सोते समय वक्षस्थल के ऊपर; च—भी; आधाय—ले कर; उपलालयन्—दुलारते हुए; मुदम्—सुख; परमाम्—अत्यधिक; अवाप—अनुभव किया।

जंगल के मार्ग में वह मृग अपने चपल स्वभाव के कारण महाराज भरत को अत्यन्त आकर्षक लगता। महाराज भरत उसे अपने कंधों में भी चढ़ा कर स्नेहवश दूर तक ले जाते। उनका हृदय मृग-प्रेम से इतना पूरित था कि वे कभी उसे अपनी गोद में ले लेते, तो कभी सोते समय उसे अपनी छाती पर चढ़ाए रखते। इस प्रकार उस पशु को दुलारते हुए उन्हें अत्यधिक सुख का अनुभव होता था।

तात्पर्य : वन में जाकर आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने के उद्देश्य से महाराज भरत ने अपना घर, पत्नी, सन्तान, राज्य तथा अन्य सभी कुछ छोड़ दिया था, किन्तु एक तुच्छ पालतू मृग के स्नेह-पाश में बँध कर वे पुन: भौतिक आसक्ति के शिकार बन गये। तो भला उन्हें परिवार-त्याग से क्या लाभ हुआ? जो व्यक्ति अपने आध्यात्मिक जीवन को उन्नत करना चाहता है उसे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्यत्र आसक्त होने से सावधान रहना चाहिए। कभी-कभी मात्र उपदेश देने के लिए हमें अनेक भौतिक कार्य करने पड़ते हैं, किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि ये सब कार्य श्रीकृष्ण के निमित्त हैं। यदि हम इसे स्मरण रखेंगे तो फिर हम भौतिक कर्मों के शिकार नहीं बनेंगे।

क्रियायां निर्वर्त्यमानायामन्तरालेऽप्युत्थायोत्थाय यदैनमभिचक्षीत तर्हि वाव स वर्षपतिः प्रकृतिस्थेन मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति. ॥ १४॥

शब्दार्थ

क्रियायाम्—ईश्वर की पूजा करने या नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ करने में; निर्वर्त्यमानायाम्—बिना समाप्त किये ही; अन्तराले—बीच-बीच में; अपि—यद्यपि; उत्थाय उत्थाय—उठ उठ कर; यदा—जब; एनम्—मृगछौना को; अभिचक्षीत—देख लिया करते; तर्हि वाव—उस समय; सः—वह; वर्ष-पतिः—महाराज भरत; प्रकृति-स्थेन—प्रसन्न; मनसा—अपने मन में; तस्मै—उसको; आशिषः आशास्ते—आशीर्वाद देते; स्वस्ति—कल्याण; स्तात्—हो; वत्स—हे मेरे मृग-शावक; ते—तुम्हारा; सर्वतः—सभी प्रकार से; इति—इस प्रकार।

जब महाराज भरत ईश्वर की आराधना में या अन्य अनुष्ठान में व्यस्त रहते तो अनुष्ठानों को समाप्त किए बिना बीच-बीच में ही वे उठ उठ जाते और देखने लगते कि मृग कहाँ है। इस प्रकार जब वे यह देख लेते कि वह मृग सुखपूर्वक है, तब कहीं उनके मन तथा हृदय को सन्तोष होता और तब वे उस मृग को यह कह कर आशीष देते, ''हे वत्स, तुम सभी प्रकार से सुखी रहो।''

तात्पर्य : मृग के लिए अत्यधिक आकर्षण होने के कारण महाराज भरत न तो ईश्वर में ठीक से ध्यान लगा पाते, न अपने नैत्यिक अनुष्ठान ही पूरा कर पाते थे। यद्यपि वे अर्चाविग्रह की पूजा करते होते थे, किन्तु अत्यधिक स्नेह के कारण उनका चित्त अशान्त रहता। जब वे ध्यान के लिए बैठते तो केवल मृग ही उन्हें सूझता और उनको यह भय लगा रहता कि वह कहाँ चला गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी का मन पूजा में नहीं लगता तो पूजा का दिखावा करने से कोई लाभ नहीं होता। मृग को देखने के लिए भरत महाराज को बीच-बीच में उठना पड़ता था, जो इस तथ्य का सूचक है कि वे आध्यात्मिक पद से नीचे आ चुके थे।

अन्यदा भृशमुद्विग्नमना नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण
हरिणकुणकविरहविह्वलहृदयसन्तापस्तमेवानुशोचन्किल कश्मलं महदभिरम्भित इति होवाच. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अन्यदा—कभी कभी (मृग छौने को न देखकर); भृशम्—अत्यधिक; उद्विग्न-मनाः—चिन्ताओं से युक्त मन; नष्ट-द्रविणः—जिसका धन लुट गया हो; इव—सदृश; कृपणः—कंजूस व्यक्ति; स-करुणम्—करुणापूर्वक; अति-तर्षेण—अत्यन्त चिन्ता से; हरिण-कुणक—मृग छौने के; विरह—वियोग से; विह्वल—व्याकुल; हृदय—मन या हृदय में; सन्तापः—शोक; तम्—उन छौने को; एव—केवल; अनुशोचन्—निरन्तर ध्यान करते; किल—निश्चय ही; कश्मलम्—मोह; महत्—अत्यधिक; अभिरम्भितः—प्राप्त किया; इति—इस प्रकार; ह—निश्चय ही; उवाच—कहा।.

कभी कभी भरत महाराज यदि उस मृग को न देखते तो उनका मन अत्यन्त व्याकुल हो उठता। उनकी स्थिति उस कंजूस व्यक्ति के समान हो जाती जिसे कुछ धन प्राप्त हुआ हो, किन्तु उसके खो जाने से वह अत्यन्त दुखी हो गया हो। जब मृग चला जाता, तो उन्हें चिन्ता हो जाती और वियोग के कारण वे विलाप करने लगते। इस प्रकार मोहग्रस्त होने पर वे निम्नलिखित प्रकार से कहते।

तात्पर्य : यदि किसी निर्धन व्यक्ति का कुछ धन या सोना खो जाता है, तो वह अत्यन्त उद्विग्न हो

जाता है। इसी प्रकार महाराज भरत का मन मृग को न देखने पर उद्विग्न हो उठता। यह उदाहरण बताता है कि किस प्रकार हमारी आसक्ति बदल सकती है। यदि हमारी आसक्ति ईश्वर की सेवा में लग जाये तो हम प्रगति करते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने ईश्वर से प्रार्थना की कि मैं भगवान् की सेवा के प्रति उसी प्रकार आकृष्ट होऊँ जिस प्रकार तरुण तथा तरुणियाँ परस्पर आकृष्ट होते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने समुद्र में कूदकर या रात्रि भर वियोगवश रो-रो कर ईश्वर के प्रति ऐसी आसक्ति प्रदर्शित की। किन्तु यदि हमारी आसक्ति ईश्वर से मुड़कर भौतिक पदार्थों के प्रति हो जाये तो हम आध्यात्मिक पद से नीचे गिर जाएँगे।

अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य कृतविस्त्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन्सुजन इवागमिष्यति. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अपि—निस्सन्देह; बत—अहो; सः—वह छौना; वै—निश्चय ही; कृपणः—दीन; एण-बालकः—मृगशावक; मृत-हरिणी-सुतः—मृत हरिणी का बच्चा; अहो—ओह; मम—मेरा; अनार्यस्य—अनार्य का, असभ्य आदिवासी; शठ—धोखेबाज का; किरात—अथवा असभ्य आदिवासी का; मतेः—मन वाले; अकृत-सुकृतस्य—पुण्यहीन; कृत-विस्त्रम्भः—विश्वास करते हुए; आत्म-प्रत्ययेन—मुझे अपने ही समान समझते हुए; तत् अविगणयन्—इन सब बातों को सोचे बिना; सु-जनः इव—भद्र पुरुष की भाँति; अगमिष्यति—क्या वह फिर से लौटेगा ?.

भरत महाराज सोचते—ओह! यह मृग अब असहाय है। मैं अत्यन्त अभागा हूँ और मेरा मन चतुर शिकारी की भाँति है क्योंकि यह सदैव छल तथा निष्ठुरता से पूर्ण रहता है। इस मृग ने मुझ पर उसी प्रकार विश्वास किया है, जिस प्रकार एक भद्र पुरुष धूर्त मित्र के दुराचार को भूलकर उस पर विश्वास प्रकट करता है। यद्यपि मैं अविश्वासी सिद्ध हो चुका हूँ, किन्तु क्या यह मृग मुझ पर विश्वास करके पुनः लौट आएगा ?

तात्पर्य : भरत महाराज अत्यन्त नेक और महान् थे, अतः जब मृग उनसे दूर रहता तो वे शरणागत की रक्षा करने में स्वयं को अयोग्य समझने लगते। पशु के प्रति आसक्ति के कारण वे सोचते कि यह पशु भी उन्हीं के समान नेक तथा महान् है। *आत्मवत् मन्यते जगत्*—इस तर्क के अनुसार प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि अन्य प्राणियों को अपने समान समझे। अतः महाराज भरत को ऐसा लगा कि उस मृग ने उनकी उपेक्षा के कारण उनका साथ छोड़ा है और अपने नेक हृदय के कारण वह पुनः लौट आएगा।

अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अपि—हो सकता है कि; क्षेमेण—हिंस्र पशुओं के अभाव के कारण निर्भय होने से; अस्मिन्—इस; आश्रम-उपवने—आश्रम के उद्यान में; शष्पाणि चरन्तम्—मुलायम घास चरते हुए; देव-गुप्तम्—देवताओं द्वारा रक्षित; द्रक्ष्यामि—क्या मैं देखूँगा ?.

ओह! क्या ऐसा हो सकता है कि मैं इस पशु को देवताओं से रक्षित तथा हिंस्र पशुओं से निर्भय रूप में फिर देखूँ? क्या मैं उसे पुनः उद्यान में मुलायम घास चरते हुए देख सकूँगा?

तात्पर्य : महाराज भरत ने सोचा कि मृग उनके संरक्षण से निराश होकर उन्हें छोड़कर किसी देवता की शरण में चला गया है। फिर भी वे उस पशु को मुलायम घास चरते हुए तथा हिंस्र पशुओं से निर्भय होकर अपने आश्रम में देखने के अत्यधिक इच्छुक थे। उन्हें केवल मृग का ध्यान रहता था तथा सभी प्रकार के पशुओं से उसकी रक्षा करने की चिन्ता रहती थी। भौतिक दृष्टि से ऐसे विचार अत्यन्त प्रशंसनीय कहे जायँगे, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से राजा अपने आध्यात्मिक पद से नीचे गिर रहे थे और वृथा ही एक पशु पर इतने आसक्त होते जा रहे थे। अपने को इस प्रकार पतित बना देने पर उन्हें पशु-शरीर ग्रहण करना पड़ा।

अपि च न वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर एकचरो वा भक्षयति. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अपि च—अथवा; न—नहीं; वृकः—भेड़िया; साला-वृकः—कुत्ता; अन्यतमः—अनेक में से कोई एक; वा—अथवा; न-एक-चरः—झुंड के झुंड विचरने वाले शूकर; एक-चरः—अकेला घूमने वाला व्याघ्र; वा—अथवा; भक्षयति—(बेचारे पशु को) खा रहा है।.

मुझे पता नहीं, किन्तु हो सकता है कि भेड़िये या कुत्ते अथवा झुंडों में रहने वाले सुअर या फिर अकेले घूमने वाले बाघ ने उस मृग को खा लिया हो।

तात्पर्य : बाघ कभी भी जंगल में झुंड में नहीं घूमते। प्रत्येक बाघ अकेला घूमता है, किन्तु जंगली सुअर एकसाथ रहते हैं। इसी प्रकार भेड़िये, कुत्ते आदि भी एकसाथ रहते हैं। इस प्रकार महाराज भरत ने सोचा कि हो न हो बेचारा हिरन इनमें से किसी हिंस्र पशु द्वारा मार डाला गया होगा।

निम्लोचति ह भगवान्सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रय्यात्माद्यापि मम न मृगवधून्यास आगच्छति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

निम्लोचति—डूब रहा है; ह—ओह; भगवान्—सूर्य के रूप में भगवान्; सकल-जगत्—समस्त ब्रह्माण्ड का; क्षेम-उदयः—कल्याण करने वाला; त्रयी-आत्मा—तीन वेदों से युक्त; अद्य अपि—अब भी; मम—मेरा; न—नहीं; मृग-वधू-न्यासः—मृगी की धरोहर; आगच्छति—वापस आया है।.

ओह! सूर्य के उदय होते ही सभी शुभ कार्य होने लगते हैं। दुर्भाग्यवश, मेरे लिए ऐसा नहीं

हो रहा है। सूर्यदेव साक्षात् वेद हैं, किन्तु मैं समस्त वैदिक नियमों से शून्य हूँ। वे सूर्यदेव अब अस्त हो रहे हैं, तो भी वह बेचारा पशु, जिसने अपनी माता की मृत्यु होने पर मुझपर विश्वास किया था, अभी तक नहीं लौटा है।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (.२) में सूर्य को भगवान्   का नेत्र कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणाम्

राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजा: ।

यस्याज्ञया भ्रमति संभृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

सूर्योदय होते ही मनुष्य को गायत्री मंत्र से आरम्भ करके वैदिक मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। सूर्य परमेश्वर के नेत्रों का प्रतीक है। महाराज भरत को पश्चात्ताप हो रहा था कि यद्यपि सूर्य अस्त होने को है, किन्तु बेचारे मृग की अनुपस्थिति के कारण उन्हें कुछ भी शुभ नहीं लग रहा था। इसलिए भरत महाराज ने अपने को सर्वाधिक अभागा माना, क्योंकि सूर्य की उपस्थिति में उनके लिए कुछ भी शुभ नहीं लग रहा था।

अपि स्विदकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिणराजकुमारो
विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसन्तोषं स्वानामपनुदन्. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—क्या वह करेगा; अकृत-सुकृतम्—जिसने कभी कोई पुण्य कार्य नहीं किया; आगत्य—वापस आकर; माम्—मुझको; सुखयिष्यति—आनन्दित करेगा; हरिण-राज-कुमार:—हिरण, जिसका पालन राजकुमार के समान हुआ; विविध—अनेक; रुचिर—मनोहर; दर्शनीय—देखने योग्य; निज—अपना; मृग-दारक—मृगशावक के उपयुक्त; विनोदै:—क्रीड़ाओं से; असन्तोषम्—असन्तोष; स्वानाम्—स्वजनों का; अपनुदन्—दूर करते हुए।

वह मृग राजकुमार के तुल्य है। वह कब लौटेगा? वह कब फिर अपनी मनोहर क्रीड़ाएँ दिखायेगा? वह कब मेरे आहत-हृदय को पुन: शान्त करेगा? अवश्य ही मेरे पुण्य शेष नहीं हैं, अन्यथा अब तक वह मृग अवश्य लौट आया होता।

तात्पर्य : अपने प्रबल स्नेह के कारण राजा छोटे से हिरण को राजकुमार मान बैठा। यह मोह कहलाता है। मृग की अनुपस्थिति के कारण चिन्तावश राजा ने पशु को इस प्रकार सम्बोधित किया मानो वह उसका पुत्र हो। स्नेह के वशीभूत होने पर किसी को कुछ भी कह कर पुकारा जा सकता है।

क्ष्वेलिकायां मां मृषासमाधिनामीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित आगत्य पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

क्ष्वेलिकायाम्—खेल में; माम्—मुझको; मृषा—झूठ मूठ; समाधिना—समाधि से; आमीलित-दृशम्—बन्द आँखों से; प्रेम-संरम्भेण—प्रेम के कारण उत्पन्न क्रोध से; चकित-चकितः—डर से; आगत्य—आकर; पृषत्—जल बिन्दुओं के समान; अपरुष—अत्यन्त नम्र; विषाण—सींगों के; अग्रेण—अग्रभाग से, नोक से; लुठति—मेरा शरीर छूता है।

ओह! जब यह छोटा-सा हिरण, मेरे साथ खेलते हुए और मुझे आँखें बन्द करके झूठ-मूठ ध्यान करते देख कर, प्रेम से उत्पन्न क्रोध के कारण मेरे चारों ओर चक्कर लगाता और डरते हुए अपने मुलायम सींगों की नोकों से मुझे छूता, जो मुझे जल बिन्दुओं के समान प्रतीत होते।

तात्पर्य : अब महाराज भरत को अपना ध्यान झूठा लगा। ध्यान करते समय वे वास्तव में मृग के विषय में सोचते रहते और जब वह आकर अपने पैने सींगों से कुरेदता तो उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता होती। ध्यान का बहाना करते हुए राजा वास्तव में इसी मृग के विषय में सोचते रहते और यही उनके पतन का संकेत था।

आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास ऋषिकुमारवदवहितकरणकलाप आस्ते. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आसादित—रख देता; हविषि—यज्ञ की सामग्री, हवि; बर्हिषि—कुश के ऊपर; दूषिते—अपवित्र होने पर; मया उपालब्धः—मेरे द्वारा डाँटे जाने पर; भीत-भीतः—अत्यन्त डर से; सपदि—शीघ्र, तुरन्त; उपरत-रासः—अपना खेल बन्द करता हुआ; ऋषि-कुमारवत्—ऋषि के पुत्र या शिष्य के समान; अवहित—पूर्णतया रोका जाकर; करण-कलापः—समस्त इन्द्रियाँ; आस्ते—बैठ जाता।

जब मैं यज्ञ की समस्त सामग्री को कुश पर रखता तो यह मृग खेल-खेल में कुश को अपने दाँतों से छूकर अपवित्र कर देता। जब मैं मृग को दूर हटा कर डाँटता-डपटता तो वह तुरन्त डर जाता और बिना हिले डुले बैठ जाता मानो ऋषि का पुत्र हो। तब वह अपना खेल (क्रीड़ा) बन्द कर देता।

तात्पर्य : महाराज भरत मृग के क्रिया-कलापों का निरन्तर चिन्तन करते रहे और यह भूल गये कि ऐसे ध्यान से तथा चित्त के हटने से उनकी आध्यात्मिक उन्नति नष्ट हो रही है।

किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः सविनयकृष्णसारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविणविधुरातुरस्य कृपणस्य मम द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानं च सर्वतः कृतकौतुकं द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां देवयजनं करोति. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—क्या; अरे—ओह; आचरितम्—साधते हुए; तपः—तपस्या; तपस्विन्या—अत्यन्त भाग्यशाली के द्वारा; अनया—इस भूलोक पर; यत्—चूँकि; इयम्—यह; अवनिः—पृथ्वी; स-विनय—विनयपूर्वक; कृष्ण-सार-तनय—कृष्ण-मृग के शावक का; तनुतर—छोटे-छोटे; सुभग—सुन्दर; शिव-तम—अन्यन्त मंगलकारी; अखर—मुलायम; खुर—खुरों के; पद-पङ्क्तिभिः—पदचिह्नों की पंक्तियों से; द्रविण-विधुर-आतुरस्य—धन की हानि से अत्यन्त दुखी व्यक्ति का; कृपणस्य—अत्यन्त दुखी प्राणी का; मम—मेरे लिए; द्रविण-पदवीम्—उस धन को प्राप्त करने का मार्ग; सूचयन्ति—सूचित करते हुए; आत्मानम्—अपना शरीर; च—तथा; सर्वतः—चारों दिशाओं में; कृत-कौतुकम्—अलंकृत; द्विजानाम्—ब्राह्मणों का; स्वर्ग-अपवर्ग-कामानाम्—स्वर्ग या मुक्ति की आकांक्षा करने वाले; देव-यजनम्—देवताओं के लिए किया जाने वाला यज्ञ-स्थल; करोति—करता है।

इस प्रकार एक पागल की भाँति बोलते हुए महाराज भरत उठे और बाहर निकल गए। धरती पर मृग के पदचिह्नों को देखकर उनकी प्रशंसा में अत्यन्त प्रेम से कहा, ''अरे अभागे भरत! इस पृथ्वी के तप की तुलना में तुम्हारे तप तुच्छ हैं, क्योंकि पृथ्वी की कठोर तपस्या से ही उस पर इस मृग के छोटे-छोटे, सुन्दर अत्यन्त कल्याणकारी तथा मुलायम पदचिह्न बने हुए हैं। पदचिह्नों की यह श्रेणी मृग-विछोह से दुखी मुझ जैसे व्यक्ति को दिखा रही है कि वह पशु इस जंगल से होकर किस प्रकार आगे गया है और मैं उस खोई हुई सम्पत्ति को किस तरह पुनः प्राप्त कर सकता हूँ। इन पदचिह्नों के कारण यह भूमि स्वर्ग या मुक्ति की इच्छा से देवताओं के हेतु यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के लिए उत्तम स्थान बन गई है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब कोई पुरुष प्रेम-व्यापार में अत्यधिक फँस जाता है, तो वह स्वयं को तथा दूसरों को तो भूलता है ही, वह कर्म करना और बात करना तक भूलने लगता है। ऐसी किम्वदन्ती है कि एक मनुष्य के जन्मान्ध पुत्र हुआ, किन्तु पिता ने पुत्र के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण उसका नाम पद्मलोचन रख दिया। अन्ध-प्रेम की ऐसी की दशा है। भरत महाराज मृग के भौतिक प्रेम में फँस कर धीरे-धीरे ऐसी ही दशा को प्राप्त हुए। *स्मृति-शास्त्र* का वचन है—*यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्मान्निवोधत*—''जिस भूभाग में श्याम मृग के पदचिह्न दिखें उसे धार्मिक कृत्यों के लिए उपयुक्त स्थान समझना चाहिए।''

अपि स्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया कृपणजनवत्सलः परिपाति. ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—कहीं ऐसा तो नहीं है; असौ—वह; भगवान्—सर्वशक्तिमान; उडु-पतिः—चन्द्रमा; एनम्—इस; मृग-पति-भयात्—सिंह के भय से; मृत-मातरम्—मातृविहीन; मृग-बालकम्—मृग शावक की; स्व-आश्रम-परिभ्रष्टम्—अपने आश्रम से बिछुड़ कर; अनुकम्पया—दयावश; कृपण-जन-वत्सलः—(चन्द्रमा) जो दुखी प्राणियों पर अत्यन्त सदय है; परिपाति—सुरक्षा कर रहा है।

भरत महाराज उन्मत्त पुरुष की भाँति बोलते रहे। अपने सिर के ऊपर उदित चन्द्रमा में मृग के सदृश काले धब्बों को देखकर उन्होंने कहा—कहीं दुखी मनुष्य पर दया करने वाले इस चन्द्रमा ने यह जानते हुए कि मेरा मृग अपने घर से बिछुड़ गया है और मातृविहीन हो गया है, उस पर भी दया की हो? इस चन्द्रमा ने सिंह के अचानक आक्रमण से बचाने के लिए ही मृग को अपने निकट शरण दे दी हो।

किं वात्मजविश्लेषज्वरदवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं मामुपसृतमृगीतनयं
शिशिरशान्तानुरागगुणितनिजवदनसलिलामृतमयगभस्तिभिः स्वधयतीति च. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—अथवा ऐसा हो कि; आत्म-ज—पुत्र से; विश्लेष—वियोग के कारण; ज्वर—ताप; दव-दहन—दावाग्नि की; शिखाभिः—लपटों से; उपतप्यमान—ज्वलित; हृदय—हृदय; स्थल-नलिनीकम्—लाल कमल पुष्प के सदृश; माम्—मुझको; उपसृत-मृगी-तनयम्—जिससे मृगछौना अत्यन्त हिला-मिला हुआ था; शिशिर-शान्त—अत्यन्त शीतल एवं शान्त; अनुराग—प्रेमवश; गुणित—प्रवहमान; निज-वदन-सलिल—अपने मुख का जल; अमृत-मय—अमृत के सदृश उत्तम; गभस्तिभिः—चन्द्रमा की किरणों से; स्वधयति—मुझे आनन्द दे रहा है; इति—इस प्रकार; च—तथा।

चाँदनी को देखकर महाराज भरत उन्मत्त पुरुष की भाँति बोलते रहे। उन्होंने कहा—यह मृगछौना इतना विनम्र घुलमिल गया था और मुझे इतना प्रिय था कि इसके वियोग से मुझे अपने पुत्र जैसा वियोग हो रहा है। इसके वियोग-ताप से मुझे दावाग्नि से जल जाने जैसा कष्ट हो रहा है। मेरा हृदय-स्थल कुमुदिनी जैसा जल रहा है। मुझे इतना दुखी देखकर चन्द्रमा मेरे ऊपर चमकते हुए अमृत जैसी वर्षा कर रहा है मानो प्रखर ज्वर से पीड़ित व्यक्ति पर उसका मित्र जल छिड़क रहा हो। इस प्रकार यह चन्द्रमा मुझे सुख देने वाला है।

तात्पर्य : आयुर्वेदिक चिकित्सा के अनुसार जिस व्यक्ति को तेज ज्वर हो उस पर मुख के कुल्ले से जल का छिड़काव करना चाहिए। इससे ज्वर घट जाता है। भरत महाराज अपने पुत्रवत् मृग के वियोग से अत्यन्त दुखी थे, अतः वे सोच रहे थे कि यह चन्द्रमा अपने मुख में जल भर कर उन पर कुल्ले से छिड़क रहा है, जिससे उनका तेज ज्वर शमित हो जाये जो उस मृगछौने के विरह के कारण था।

एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधनलक्षणाच्च कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक्परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहतयोगारम्भणस्य राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्भकपोषणपालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत आत्मानमहिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; अघटमान—दुर्लभ; मनः-रथ—इच्छाओं से जो मन के रथ के तुल्य हैं; आकुल—दुखी; हृदयः—जिसका हृदय; मृग-दारक-आभासेन—मृग छौने के समान; स्व-आरब्ध-कर्मणा—अपने प्रारब्ध के बुरे कर्म-फलों से; योग-आरम्भणतः—योगानुष्ठान से; विभ्रंशितः—च्युत; सः—वह (महाराज भरत); योग-तापसः—योग तथा तपस्या करता हुआ; भगवत्-आराधन-लक्षणात्—श्रीभगवान् की भक्ति सम्बन्धी क्रियाओं से; च—तथा; कथम्—किस प्रकार; इतरथा—अन्य; जाति-अन्तरे—अन्य जातियोनि वाले; एण-कुणके—मृग छौने के शरीर के प्रति; आसङ्गः—अत्यधिक आसक्ति; साक्षात्—प्रत्यक्ष; निःश्रेयस—चरम जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए; प्रतिपक्षतया—प्रतिरोध; प्राक्—पहले; परित्यक्त—छोड़ा हुआ; दुस्त्यज—यद्यपि त्याग करने में अत्यन्त कठिन; हृदय-अभिजातस्य—अपने हृदय से उत्पन्न अपने पुत्रों; तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; अन्तराय—उस प्रतिरोध (विघ्न) से; विहत—रोका जाकर; योग-आरम्भणस्य—जिसकी योग-साधना का पथ; राज-ऋषेः—राजर्षि; भरतस्य—महाराज भरत का; तावत्—तब तक; मृग-अर्भक—मृगछौना; पोषण—भरण में (दूध पिलाने में); पालन—सुरक्षा में; प्रीणन—प्रसन्न रखने में; लालन—दुलारने में; अनुषङ्गेण—निरन्तर ध्यान करते रहने से; अविगणयतः—उपेक्षा करते हुए; आत्मानम्—अपनी आत्मा की; अहिः इव—सर्प के तुल्य; आखु-बिलम्—चूहे का बिल; दुरतिक्रमः—दुर्लंघ्य; कालः—मृत्यु; कराल—भयानक; रभसः—गतिमान; आपद्यत—आ गया।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्, इस प्रकार महाराज भरत दुर्दमनीय आकांक्षा से अभिभूत हो गये जो मृग के रूप में प्रकट हुई। अपने पूर्वकर्मों के फल के कारण वे योग, तप तथा भगवान् की आराधना से च्युत हो गये। यदि यह पूर्वकर्मों के कारण नहीं हुआ तो वे क्योंकर अपने पुत्र तथा परिवार को अपने आध्यात्मिक जीवन के पथ पर अवरोध समझ कर त्याग देने के बाद भी मृग से इतना आकृष्ट होते? वे मृग के लिए इतना दुर्दम्य स्नेह क्यों प्रकट करते? यह निश्चय ही उनके पूर्वकर्म का फल था। राजा मृग को सहलाने तथा उसके लालन-पालन में इतने व्यस्त रहते कि वे अपने आध्यात्मिक वृत्तियों से नीचे गिर गये। कालान्तर में, दुर्लंघ्य मृत्यु उनके समक्ष उपस्थित हो गई जिस प्रकार कोई विषधर सर्प चूहे के द्वारा निर्मित छिद्र में चुपके से घुस जाता है।

तात्पर्य : अगले श्लोकों में देखने में आएगा कि मृत्यु के समय महाराज भरत को मृग से आकर्षण के कारण बाध्य होकर मृग का शरीर धारण करना पड़ा। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि भक्त के पूर्व-दुष्कर्मों तथा पापों का उस पर किस प्रकार प्रभाव पड़ सकता है? *ब्रह्म-संहिता* (.४) में कहा गया है— *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्*—"जो भक्ति-भजन में लगे रहते हैं उनके पूर्वकर्मों के फल की क्षतिपूर्ति हो जाती है।" इसके अनुसार भरत महाराज को उनके पूर्वकर्मों के

लिए दण्डित नहीं किया जा सकता था। इसका निष्कर्ष यह होगा कि वे जानबूझ कर मृग के प्रति अत्यधिक लिप्त हो गये और उन्होंने अपनी उन्नति की उपेक्षा की। उनकी इस त्रुटि को तुरन्त सुधारने के लिए उन्हें अल्प काल के लिए मृग का शरीर प्रदान किया गया। यह उनकी भक्ति को सुदृढ़ करने के लिए किया गया था। यद्यपि उन्हें पशु शरीर दिया गया, किन्तु वे यह नहीं भूल पाये कि जानबूझ कर की गई उनकी त्रुटि के कारण ही ऐसा हुआ। वे इस मृग शरीर से उद्धार पाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे जिससे सूचित होता है वे भक्ति के प्रति अधिकाधिक स्नेहिल हो उठे थे जिससे अगले जन्म में उन्हें ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हो सका जिससे वे अपने लक्ष्य में सिद्धि पा सके। इसी दृढ़ विश्वास के साथ ही हम अपनी पत्रिका *बैक टु गाडहेड* में यह घोषित करते हैं कि वृन्दावन में रहने वाले कुछ गोस्वामी भक्त, जो जानबूझ कर पाप करते हैं, वे उस पवित्र भूमि में कुत्ते, बन्दर तथा कछुवे का शरीर धारण करते हैं। इस प्रकार वे कुछ काल तक निम्न योनि में रहते हैं और अपना ऐसा पशु-शरीर त्यागने के बाद वे पुन: वैकुंठलोक जाते हैं। ऐसा अल्पकालिक दंड विगत कर्मों का फल नहीं होता। भले ही यह विगत कर्म के कारण प्रतीत हो, किन्तु यह दण्ड भक्त को अपनी भूल सुधारने और भक्ति में अग्रसर होने के लिए दिया जाता है।

तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तमभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनु न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप. ॥ २७॥

शब्दार्थ

तदानीम्—उस समय; **अपि**—निस्संदेह; **पार्श्व-वर्तिनम्**—अपनी मृत्युशय्या के निकट; **आत्म-जम्**—अपने पुत्र; **इव**—सदृश; **अनुशोचन्तम्**—शोकातुर; **अभिवीक्षमाण:**—देखते हुए; **मृगे**—मृग में; **एव**—निश्चय ही; **अभिनिवेशित-मना:**—उसका मन उसी में लगा हुआ; **विसृज्य**—त्याग कर; **लोकम्**—संसार को; **इमम्**—इस; **सह**—साथ; **मृगेण**—मृग के; **कलेवरम्**—उसका शरीर; **मृतम्**—मरा हुआ; **अनु**—तत्पश्चात्; **न**—नहीं; **मृत**—विनष्ट; **जन्म-अनुस्मृति:**—मृत्यु के पूर्व की घटना की याद; **इतर-वत्**—अन्यों की तरह; **मृग-शरीरम्**—मृग का शरीर; **अवाप**—प्राप्त किया।

राजा ने देखा कि उनकी मृत्यु के समय वह मृग उनके पास बैठा था मानो उनका पुत्र हो और वह उनकी मृत्यु से शोकातुर था। वास्तव में राजा का चित्त मृग के शरीर में रमा हुआ था, फलत: कृष्णभावनामृत से रहित मनुष्यों की भाँति उन्होंने यह संसार, मृग तथा अपना भौतिक शरीर त्याग दिया और मृग का शरीर प्राप्त किया। किन्तु इससे एक लाभ हुआ। यद्यपि उन्होंने मानव शरीर त्याग कर मृग का शरीर प्राप्त किया था, किन्तु उन्हें अपने पूर्व जीवन की घटनाएँ भूल

नहीं पाईं थीं।

तात्पर्य : महाराज भरत द्वारा मृग शरीर ग्रहण करने तथा मृत्यु के समय अन्य व्यक्तियों की मानसिक दशा के अनुसार जो विभिन्न शरीर प्राप्त होते हैं उन्हें ग्रहण करने में अन्तर है। अन्य लोग मृत्यु के बाद भूल जाते हैं कि उनके पूर्व जीवनों में क्या-क्या घटनाएँ हुई थीं, किन्तु महाराज भरत कुछ भी नहीं भूले थे। *भगवद्गीता* के अनुसार (८.६)—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

''जिस जिस भाव का स्मरण करते हुए जीव देह त्यागता है, वह निस्सन्देह उसको ही प्राप्त होता है।''

शरीर त्यागने के बाद मनुष्य की मृत्यु के समय जैसी मानसिक स्थिति होती है, वह उसी के अनुसार अन्य शरीर प्राप्त करता है। मृत्यु के समय कोई भी मनुष्य सदैव उसी विषय को सोचता रहता है, जिसमें वह आजीवन उलझा रहता है। इस नियम के अनुसार चूँकि भरत महाराज भगवद्भक्ति भूलकर निरन्तर मृग के चिन्तन में डूबे रहते थे, इसलिए उन्हें मृग का शरीर प्राप्त हुआ। किन्तु भक्ति का चरम स्तर प्राप्त होने के कारण उन्हें पूर्व जीवन की घटनाएँ विस्मृत नहीं हुई थीं। इस विशेष वरदान ने उन्हें आगे की अधोगति से बचा लिया। भक्ति सम्बन्धी पूर्वकर्मों के कारण वे मृग शरीर धारण करके भी अपनी भक्ति को पूरा करने में दृढ़संकल्प रहे। इसलिए इस श्लोक में कहा गया है, यद्यपि वे *मृतम्* अर्थात् मर चुके थे, किन्तु *अनु,* तत्पश्चात्, *न मृत-जन्मानुस्मृतिर् इतरवत्*—वह अन्यों की तरह पूर्वजन्म की घटनाओं को भूले नहीं। जैसाकि *ब्रह्मसंहिता* (.४) में कहा गया है— *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति-भाजाम्।* इससे यहाँ यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीभगवान् के अनुग्रह से भक्त कभी विनष्ट नहीं होता। जानबूझ कर भक्ति की उपेक्षा के लिए भक्त को कुछ काल के लिए दण्डित किया जा सकता है, किन्तु उसे पुन: भक्ति प्राप्त होती है और वह भगवद्धाम को वापस चला जाता है।

तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनुतप्यमान आह. ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस जन्म में; ह वा—निस्संदेह; आत्मनः—स्वयं का; मृगत्व-कारणम्—मृग शरीर स्वीकार करने का कारण; भगवत्-आराधन-समीहा—भक्ति में पूर्व कर्मों के; अनुभावेन—परिणामस्वरूप; अनुस्मृत्य—स्मरण करके; भृशम्—सर्वदा; अनुतप्य-मानः—पश्चात्ताप करते हुए; आह—कहा।.

मृग शरीर प्राप्त करने पर भी भरत महाराज अपने पूर्वजन्म की दृढ़ भक्ति के कारण उस शरीर को धारण करने का कारण जान गये थे। अपने विगत तथा वर्तमान शरीर पर विचार करते हुए वे अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करते हुए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भक्त के लिए यह विशेष छूट है। यदि उसे अ-मानव शरीर प्राप्त होता भी है, तो भी श्रीभगवान् के अनुग्रह से उसे अपनी भक्ति को आगे बढ़ाने का अवसर अपने गत जीवन का स्मरण करके या अन्य प्राकृतिक कारणों से प्राप्त होता है। जनसामान्य के लिए गत जीवन के कार्यों को स्मरण रखना कोई सरल काम नहीं, किन्तु भरत महाराज को अपने यज्ञों तथा भक्ति के कारण अपने पूर्वकर्मों की स्मृति बनी रही।

अहो कष्टं भ्रष्टोऽहमात्मवतामनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य विविक्तपुण्यारण्यशरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति वासुदेवे तदनुश्रवणमननसङ्कीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन समावेशितं समाहितं कार्त्स्न्येन मनस्तत्तु पुनर्ममाबुधस्यारान्मृगसुतमनु परिसुस्राव. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहो कष्टम्—ओह, कितना कष्टमय जीवन है; भ्रष्टः—पतित; अहम्—मैं (हूँ); आत्म-वताम्—सिद्धिप्राप्त महान् भक्तों की; अनुपथात्—जीवन शैली से; यत्—जिससे; विमुक्त-समस्त-सङ्गस्य—यद्यपि अपने सगे पुत्रों तथा घर का साथ त्यागे हुए; विविक्त—एकान्त; पुण्य-अरण्य—पवित्र वन की; शरणस्य—शरण लिए हुए के; आत्म-वतः—दिव्य पद को प्राप्त; आत्मनि—परमात्मा में; सर्वेषाम्—समस्त; आत्मनाम्—जीवात्माओं के; भगवति—श्रीभगवान् में; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव में; तत्—उसका; अनुश्रवण—निरन्तर सुनना; मनन—चिन्तन; सङ्कीर्तन—जप; आराधन—पूजा, उपासना; अनुस्मरण—निरन्तर स्मरण करना; अभियोगेन—लीन रह कर; अशून्य—पूरित; सकल-यामेन—जिसमें सारे समय; कालेन—काल से; समावेशितम्—पूर्णतया प्रतिष्ठित; समाहितम्—स्थिर; कार्त्स्न्येन—पूर्णतया; मनः—चित्त; तत्—वह मन; तु—लेकिन; पुनः—फिर; मम—मुझ; अबुधस्य—अज्ञानी का; आरात्—दूरी से; मृग-सुतम्—मृगछौना; अनु—के पीछे, के वश में; परिसुस्राव—च्युत हो गया।.

मृग के शरीर में भरत महाराज पश्चात्ताप करने लगे—कैसा दुर्भाग्य है कि मैं स्वरूपसिद्धों के पथ से गिर गया हूँ! आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए मैंने अपने पुत्रों, पत्नी तथा घर का परित्याग किया और वन के एकान्त पवित्र स्थान में आश्रय लिया। मैं आत्मसंयमी तथा स्वरूप-सिद्ध बना और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव की भक्ति, श्रवण, चिन्तन, कीर्तन, पूजन तथा स्मरण में निरन्तर लगा रहा। मैं अपने प्रयत्न में सफल रहा, यहां तक कि मेरा मन सर्वदा भक्ति में डूबा रहता था। किन्तु, अपनी मूर्खता के कारण मेरा मन पुनः आसक्त हो गया—इस बार मृग

में। अब मुझे मृग शरीर प्राप्त हुआ है और मैं अपनी भक्ति-साधना से बहुत नीचे गिर चुका हूँ।

तात्पर्य : अपनी कठोर भक्ति-साधना के कारण महाराज भरत को अपने विगत जन्म के कर्मों का और इसका कि वे किस प्रकार आध्यात्मिक स्तर पर पहुंचे थे, स्मरण था। अपनी ही मूर्खता से वे एक साधारण से मृग पर आसक्त होकर च्युत हुए जिससे उन्हें मृग का शरीर धारण करना पड़ा। यह प्रत्येक भक्त के लिए अत्यन्त महत्त्व की बात है। यदि हम अपने पद का दुरुपयोग करते हैं और सोचते हैं कि हम तो भक्ति में पूर्णतया समर्पित हैं, अत: चाहे जैसा भी आचरण करें, तो हमें भरत महाराज की भाँति दुख भोगना पड़ेगा और जिस प्रकार के शरीर से भक्ति को बाधा पहुँचती है, वही शरीर धारण करना पड़ेगा। केवल मनुष्य रूप में भक्ति की जा सकती है, किन्तु यदि हम जानबूझ कर इन्द्रियतृप्ति के कारण भक्ति का परित्याग करते हैं, तो हमें निश्चय ही दण्ड मिलेगा। यह दण्ड सामान्य भौतिकतावादी पुरुष का सा नहीं होता। परमेश्वर भक्त को इस प्रकार दण्डित करते हैं कि श्रीवासुदेव के चरणकमलों के प्रति उसकी उत्सुकता बढ़ती है और इस उत्कट इच्छा के कारण वह अगले जन्म में अपने घर वापस चला जाता है। यहाँ भक्ति का सम्यक वर्णन इस प्रकार किया गया है—*तद्-अनुश्रवण-मनन-संकीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेन। भगवद्गीता* में ईश्वर के यश का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन करने की संस्तुति की गई है—*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता:।* जिन्होंने कृष्णभावनामृत अंगीकार किया है उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि एक भी क्षण वृथा न जाने दें और कोई भी क्षण श्रीभगवान् के संकीर्तन- तथा उनके कार्यकलापों के स्मरण के बिना न बीतने पाए। श्रीकृष्ण अपने स्वयं के कार्यों से तथा अपने भक्तों के कार्यों से हमें शिक्षा देते हैं कि भक्ति में किस प्रकार सतर्क रहा जाये। भरत महाराज के माध्यम से श्रीकृष्ण हमें शिक्षा देते हैं कि हम भक्ति करने में सावधान रहें। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मन तनिक भी विचलित न हों तो हमें चाहिए कि हम उन्हें पूरे समय भक्ति में लगाये रखें। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के सदस्यों का प्रश्न है उन्होंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिये सब कुछ त्याग दिया है। तो भी उन्हें भरत महाराज के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए कि उन्हें एक भी क्षण अनर्गल बात, निद्रा या अधिक खाने में नहीं गँवाना है। भोजन करना मना नहीं है, किन्तु अधिक खाने से अधिक नींद आयेगी। इससे इन्द्रियतृप्ति की अभिलाषा होगी और हमें निम्न योनि में जाना पड़ेगा। इस प्रकार हमारी प्रगति रुक जाएगी, भले ही कुछ काल के लिए क्यों न

हो। अत: सबसे उत्तम मार्ग है कि हम श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश ग्रहण करें—*अव्यर्थ-कालत्वम्।* हमें ध्यान रहे कि हमारा प्रत्येक क्षण भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में न लगे। भगवद्धाम वापस जाने के इच्छुक भक्तों के लिए यह सर्वश्रेष्ठ साधन है।

इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशीलमुनिगणदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्प्रत्याजगाम. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एवम्—इस विधि से; निगूढ—छिपी; निर्वेद:—वैराग्य भावना; विसृज्य—त्याग कर; मृगीम्—मृगी को; मातरम्—अपनी माता; पुन:—फिर; भगवत्-क्षेत्रम्—वह क्षेत्र जहाँ परमेश्वर पूजित हैं; उपशम-शील—सांसारिक आसक्तियों से सर्वथा विरक्त; मुनि-गण-दयितम्—जो मुनियों को अत्यधिक प्रिय है; शालग्रामम्—शालग्राम नामक ग्राम; पुलस्त्य-पुलह-आश्रमम्—पुलस्त्य तथा पुलह जैसे ऋषियों के आश्रम को; कालञ्जरात्—कालंजर पर्वत से, जहाँ उसने मृगी के गर्भ से जन्म लिया था; प्रत्याजगाम—चला आया।.

यद्यपि भरत महाराज को मृग शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु निरन्तर पश्चात्ताप करते रहने से वे सांसारिक वस्तुओं से पूर्णत: विरक्त हो गये थे। उन्होंने ये बातें किसी को प्रकट नहीं होने दीं। उन्होंने अपनी मृगी माता को अपने जन्मस्थान कालंजर पर्वत पर ही छोड़ दिया और स्वयं शालग्राम के बन में पुलस्त्य तथा पुलह के आश्रम में पुन: चले आये।

तात्पर्य : महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वासुदेव के अनुग्रह से महाराज भरत को अपना पूर्व जीवन स्मरण रहा। उन्होंने एक क्षण भी नष्ट नहीं किया। वे पुलह-आश्रम में, उस गांव में, जिसे शालग्राम कहते हैं, लौट आये। संगति अत्यन्त सार्थक होती है, इसीलिए इस संघ में प्रविष्ट करने वाले प्रत्येक सदस्य को *इस्कान* पूर्ण बनाना चाहता है। इस संघ के सदस्यों को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि संघ एक मुफ्त का भोजनालय नहीं है। इस संघ के सभी सदस्यों को अपने आध्यात्मिक कर्तव्यों का सावधानी के साथ पालन करना चाहिए जिससे नवागत सदस्य स्वत: भक्त बनकर इसी जीवन में ही परम धाम को प्राप्त हो। यद्यपि भरत महाराज को मृग का शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु उन्होंने अपने घर, कालंजर पर्वत का फिर परित्याग कर दिया। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी जन्मस्थान तथा परिवार से बँधा न रहे; उसे चाहिए कि भक्तों की संगति प्राप्त कर कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करे।

तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाण: सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचर: शुष्कपर्णतृणवीरुधा वर्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन् अपि—उस आश्रम (पुलह आश्रम) में; कालम्—मृग शरीर में जीवन का अन्त; प्रतीक्षमाणः—सदैव प्रतीक्षा में रत; सङ्गात्—संगति से; च—तथा; भृशम्—लगातार; उद्विग्नः—चिन्तापूर्ण; आत्म-सहचरः—परमात्मा को ही एकमात्र संगी मानकर (किसी को अकेले नहीं समझना चाहिए); शुष्क-पर्ण-तृण-वीरुधा—केवल सूखी पत्तियाँ तथा बूटियाँ खाकर; वर्तमानः—(जीवित) रहते हुए; मृगत्व-निमित्त—मृग शरीर धारण करने के कारण; अवसानम्—अन्त; एव—केवल; गणयन्—विचार करते हुए; मृग-शरीरम्—मृग के शरीर को; तीर्थ-उदक-क्लिन्नम्—उस तीर्थ स्थान के जल में स्नान करते हुए; उत्ससर्ज—त्याग दिया।.

उस आश्रम में रहते हुए महाराज भरत अब कुसंगति का शिकार न होने के प्रति सतर्क रहने लगे। किसी को भी अपना विगत जीवन बताये बिना वे उस आश्रम में मात्र सूखी पत्तियाँ खाकर रहते थे। वास्तव में वे अकेले न थे क्योंकि उनके साथ परमात्मा जो थे। इस प्रकार वे इस मृग शरीर के अन्त की प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में उस तीर्थस्थल में स्नान करते हुए उन्होंने वह शरीर छोड़ दिया।

तात्पर्य : वृन्दावन, हरद्वार, प्रयाग तथा जगन्नाथ पुरी जैसे तीर्थस्थान विशेष रूप से भक्ति-साधना के निमित्त हैं, विशेषत: वृन्दावन श्रीकृष्ण के उन वैष्णव भक्तों के लिए जो वैकुंठ लोक को वापस प्राप्त करना चाहते हैं अत्युत्तम तीर्थस्थान है। वृन्दावन में ऐसे अनेक भक्त हैं, जो नित्य यमुना में स्नान करते हैं जिससे उनके सारे भौतिक कल्मष धुल जाते हैं। परमेश्वर के पवित्र नामों तथा लीलाओं का निरन्तर संकीर्तन तथा श्रवण करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है और मुक्ति का पात्र बन जाता है। किन्तु यदि कोई जानबूझ कर इन्द्रियतृप्ति का शिकार होता है, तो उसे कम से कम एक बार महाराज भरत की भाँति दण्ड भोगना ही पड़ता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भरत महाराज के चरित्र का वर्णन'' नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

जड़ भरत का सर्वोत्कृष्ट चरित्र

इस अध्याय में भरत महाराज द्वारा ब्राह्मण शरीर धारण करने का वर्णन किया गया है। वे इस शरीर में जड़, मूक तथा बधिर की भाँति बने रहे, यहाँ तक कि जब उन्हें देवी काली के समक्ष बलि चढ़ाने के लिए प्रस्तुत किया गया तो उन्होंने कोई विरोध नहीं किया और शान्त बने रहे। मृग शरीर त्यागने के बाद उन्होंने एक ब्राह्मण की सबसे छोटी पत्नी के गर्भ से जन्म लिया। इस जन्म में भी उन्हें अपने

पूर्वजन्म की गतिविधियों का स्मरण बना रहा और समाज के प्रभाव से बचने के उद्देश्य से वे गूँगे तथा बहरे बन गये। इस बार वे पथच्युत होने से सतर्क रहे। उन्होंने किसी अभक्त के साथ मेल-जोल नहीं रखा। प्रत्येक भक्त को इस विधि का पालन करना चाहिए। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश किया है—*असत्संग-त्याग—एइ वैष्णव-आचार।* मनुष्य को चाहिए कि अभक्तों के संग से बिल्कुल दूर रहे, चाहे वे अपने स्वजन ही क्यों न हों। जब भरत महाराज ब्राह्मण शरीर में थे तो उनके पड़ोस के लोग उन्हें विक्षिप्त, जड़ व्यक्ति समझते थे, किन्तु वे अपने अन्तःकरण में भगवान् वासुदेव का निरन्तर जप तथा स्मरण करते रहते थे। यद्यपि उनके पिता उन्हें शिक्षा देकर तथा उनका उपनयन संस्कार करके पवित्र बनाना चाहते थे, किन्तु वे इस प्रकार बने रहे कि उनके माता-पिता उन्हें विक्षिप्त समझें और सुधारने के किसी कार्य में रुचि न लें। इतने पर भी वे किसी प्रकार का अनुष्ठान किये बिना कृष्ण के भक्त बने रहे। उनके मूक रहने से कुछ पशुतुल्य मनुष्यों ने उन्हें अनेक प्रकार से तंग करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु वे सब कुछ सहते रहे। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् उनकी विमाता तथा सौतेले भाई उनके साथ दुर्व्यवहार करने लगे। वे उन्हें सबसे निकृष्ट भोजन देते, किन्तु वे इसकी तनिक भी परवाह न करते। वे कृष्णभावनामृत में डूबे रहते। एक रात को उनके सौतले भाइयों और माता ने उन्हें धान के खेत की रखवाली करने का कार्य सौंपा। उस समय डाकुओं के एक दल ने उनका अपहरण कर लिया और भद्रकाली पर उनकी बलि देनी चाही। किन्तु जब डाकुओं ने देवी काली के समक्ष भरत महाराज को मारने के लिए कटार उठाई तो देवी काली अपने भक्त के प्रति इस दुर्व्यवहार से चौंक उठीं। वे मूर्ति में से प्रकट हुईं और अपने हाथों में कटार लेकर उन सभी डाकुओं का वध कर दिया। इस प्रकार भगवान् का शुद्ध भक्त अभक्तों के दुर्व्यवहार के प्रति मूक बना रह सकता है। जो चोर तथा उचक्के भक्तों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं उन्हें अन्ततः भगवान् दण्ड देते हैं।

श्रीशुक उवाच

अथ कस्यचिद्द्विजवरस्याङ्गिरःप्रवरस्य
शमदमतपःस्वाध्यायाध्ययनत्यागसन्तोषतितिक्षाप्रश्रयविद्यानसूयात्मज्ञानानन्दयुक्तस्यात्मसदृशश्रुतशीलाचाररूपौदार्यगुणा नव सोदर्या अङ्गजा बभूवुर्मिथुनं च यवीयस्यां भार्यायाम्यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा; अथ—तत्पश्चात्; कस्यचित्—किसी; द्विज-वरस्य—ब्राह्मण के; अङ्गिरः-प्रवरस्य—आंगिरा गोत्र के; शम—मन का नियंत्रण; दम—इन्द्रियों का नियंत्रण (दमन); तपः—तपस्या; स्वाध्याय—वैदिक साहित्य का पठन; अध्ययन—अध्ययन; त्याग—त्याग; सन्तोष—सन्तोष; तितिक्षा—सहिष्णुता; प्रश्रय—विनय; विद्या—ज्ञान; अनसूय—ईर्ष्यारहित; आत्म-ज्ञान-आनन्द—आत्म-साक्षात्कार में प्रसन्न; युक्तस्य—गुणसम्पन्न; आत्म-सदृश—तथा अपने ही समान; श्रुत—विद्या में; शील—चरित्र में; आचार—आचरण में; रूप—सुन्दरता में; औदार्य—उदारता में; गुणाः—समस्त गुणोंवाला; नव स-उदर्याः—एकही गर्भ से उत्पन्न नौ भ्राता, नौ सहोदर; अङ्ग-जाः—पुत्र; बभूवुः—उत्पन्न हुए; मिथुनम्—जुड़वाँ भाई तथा बहन; च—तथा; यवीयस्याम्—सबसे छोटी; भार्यायाम्—स्त्री से; यः—जो; तु—लेकिन; तत्र—वहाँ; पुमान्—पुरुष (लड़का); तम्—उसको; परम-भागवतम्—परम भक्त; राज-ऋषि—राजर्षि; प्रवरम्—अत्यन्त सम्मानित; भरतम्—महाराज भरत को; उत्सृष्ट—त्याग कर; मृग-शरीरम्—मृग का शरीर; चरम-शरीरेण—अन्तिम शरीर से; विप्रत्वम्—ब्राह्मणत्व; गतम्—प्राप्त किया; आहुः—उनका कथन है।

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्, मृग शरीर त्याग कर भरत महाराज ने एक विशुद्ध ब्राह्मण के कुल में जन्म लिया। वह ब्राह्मण अंगिरा गोत्र से सम्बन्धित था और ब्राह्मण के समस्त गुणों से सम्पन्न था। वह अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला तथा वैदिक एवं अन्य पूरक साहित्यों का ज्ञाता था। वह दानी, संतुष्ट, सहनशील, विनम्र, पंडित तथा किसी से न ईर्ष्या करने वाला था। वह स्वरूपसिद्ध एवं ईश्वर की सेवा में तत्पर रहने वाला था। वह सदैव समाधि में रहता था। उसकी पहली पत्नी से उसी के समान योग्य नौ पुत्र हुए और दूसरी पत्नी से जुड़वाँ भाई-बहन पैदा हुए जिनमें से लड़का सर्वोच्च भक्त तथा राजर्षियों में अग्रणी भरत महाराज के नाम से विख्यात हुआ। तो यह कथा है उसके मृग शरीर को त्याग कर पुनः जन्म लेने की।

तात्पर्य : भरत महाराज महान् भक्त थे, किन्तु उन्हें एक जन्म में सफलता नहीं प्राप्त हुई। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो भक्त एक जन्म में भक्ति-कार्य पूरे नहीं कर पाता उसे किसी योग्य ब्राह्मण कुल में या सम्पन्न क्षत्रिय अथवा वैश्य कुल में जन्म लेने का सुअवसर प्रदान किया जाता है—*शुचीनां श्रीमतां गेहे*—(भगवद्गीता ६.४१)। भरत महाराज अपने प्रथम जन्म में क्षत्रिय कुल में महाराज ऋषभ के जेष्ठ पुत्र थे, किन्तु अपने आध्यात्मिक कार्यों की उपेक्षा करने तथा तुच्छ हिरण में अत्यधिक आसक्ति के कारण उन्हें मृग के पुत्र-रूप में जन्म लेना पड़ा। किन्तु भक्त होने की प्रबल स्थिति के कारण उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही। पश्चात्ताप के कारण वे एकान्त जंगल में रह कर सदैव श्रीकृष्ण का ध्यान धरते रहे। तब उन्हें एक उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म धारण करने का अवसर मिला।

तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृशमुद्विजमानो भगवतः कर्मबन्धविध्वंसनश्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस ब्राह्मण जन्म में भी; स्व-जन-सङ्गात्—अपने मित्रों तथा परिजनों की संगति से; च—तथा; भृशम्—अत्यधिक; उद्विजमानः—सदैव भयभीत रहते हुए कि कहीं पुनः भ्रष्ट न हो जाये; भगवतः—श्रीभगवान् का; कर्म-बन्ध—कर्म-फलों का बन्धन; विध्वंसन—विनष्ट करने वाले; श्रवण—सुनना; स्मरण—याद करना; गुण-विवरण—भगवान् के गुणों का वर्णन सुनना; चरण-अरविन्द—चरणकमल; युगलम्—दोनों; मनसा—मन से; विदधत्—सदैव ध्यान धरते हुए; आत्मनः—अपनी आत्मा का; प्रतिघातम्—भक्ति मार्ग में बाधा; आशङ्कमानः—सदैव सशंकित; भगवत्-अनुग्रहेण—श्रीभगवान् के अनुग्रह से; अनुस्मृत—स्मरण करते हुए; स्व-पूर्व—अपने पहिले; जन्म-आवलिः—जन्मों की श्रृंखला; आत्मानम्—स्वयं; उन्मत्त—पागल; जड—कुन्द, पत्थर तुल्य; अन्ध—अंधा; बधिर—बहरा; स्वरूपेण—स्वरूप के कारण; दर्शयाम् आस—प्रदर्शित किया, प्रकट किया; लोकस्य—सामान्य जनता को।

भगवत्कृपा से भरत महाराज को अपने पूर्वजन्म की घटनाएँ स्मरण थीं। यद्यपि उन्हें ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु वे अपने स्वजनों तथा मित्रों से, जो भक्त नहीं थे, अत्यन्त भयभीत थे। वे ऐसी संगति से सदैव सतर्क रहते, क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं पुनः पथच्युत न हो जाँय। फलतः वे जनता के समक्ष उन्मत्त (पागल), जड़, अंधे तथा बहरे के रूप में प्रकट होते रहे जिससे दूसरे लोग उनसे बात करने की चेष्टा न करें। इस प्रकार उन्होंने कुसंगति से अपने को बचाए रखा। वे अपने अन्तःकरण में सदा भगवान् के चरणकमल का ध्यान धरते और उनके गुणों का जप करते रहते जो मनुष्य को कर्म-बन्धन से बचाने वाला है। इस प्रकार उन्होंने अपने को अभक्त संगियों के आक्रमण से बचाए रखा।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों के संसर्ग से प्रत्येक जीव विभिन्न कर्मों से बँधा हुआ है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.२२) में कथन है—*कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु*—"यह प्रकृति के संग के कारण है। इस तरह वह विभिन्न योनियों में उत्तम-अधम योनियाँ प्राप्त करता है।"

हम अपने कर्मों के अनुसार चौरासी लाख योनियों में से विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करते हैं। *कर्मणा-दैव-नेत्रेण*—हम तीन गुणों से दूषित प्रकृति के वश में रह कर कार्य करते हैं और इस प्रकार से हमें ईश्वर की आज्ञा से एक विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। यही *कर्म-बन्ध* कहलाता है। इस कर्म-बन्ध से बाहर निकलने के लिए भक्ति में संलग्न होने की आवश्यकता होती है। तब मनुष्य पर प्रकृति के गुणों का प्रभाव नहीं पड़ता। *भगवद्गीता* के अनुसार (१४.२६)—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्णरूप से भक्तियोग के परायण है, जो किसी भी स्थिति में उससे डिगता नहीं वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का लंघन करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।'' भौतिक गुणों के प्रति निश्चेष्ट बनने का उपाय है अपने को भक्ति में लगाना—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* यही जीवन की सिद्धि है। महाराज भरत ब्राह्मण रूप में जन्म लेकर ब्राह्मण कर्तव्यों में रुचि नहीं दिखाते थे, परन्तु वे भीतर ही भीतर शुद्ध वैष्णव रहकर ईश्वर के चरणकमल का निरन्तर चिन्तन करते रहे। *भगवद्गीता* का उपदेश है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* यही एकमात्र विधि है, जिसके द्वारा बारम्बार जन्म-मरण के भय से बचा जा सकता है।

तस्यापि ह वा आत्मजस्य विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आसमावर्तनात्संस्कारान्यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन्कर्मनियमाननभिप्रेतानपि समशिक्षयदनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्य—उस; अपि ह वा—निश्चय ही; आत्म-जस्य—अपने पुत्र का; विप्रः—जड़ भरत के ब्राह्मण पिता (विक्षिप्त भरत); पुत्र-स्नेह-अनुबद्ध-मनाः—पुत्र प्रेम के कारण मन बँध जाने से; आ-सम-आवर्तनात्—ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्त होने तक; संस्कारान्—संस्कारों को; यथा-उपदेशम्—शास्त्रों में वर्णित विधि के अनुसार; विदधानः—करते हुए; उपनीतस्य—जिसका उपनयन संस्कार हो, उसका; च—तथा; पुनः—फिर; शौच-आचमन-आदीन्—स्वच्छता-मुख, हाथ, पाँव धोने इत्यादि का अभ्यास.; कर्म-नियमान्—कर्म के विधि-विधान; अनभिप्रेतान् अपि—जड़ भरत के न चाहने पर भी; समशिक्षयत्—शिक्षा दी; अनुशिष्टेन—विधि-विधानों का पालन करना सिखाया; हि—निश्चय ही; भाव्यम्—हो; पितुः—पिता से; पुत्रेण—पुत्र; इति—इस प्रकार।

ब्राह्मण पिता का मन अपने पुत्र जड़ भरत (भरत महाराज) के प्रति सदैव स्नेह से पूरित रहता था। उससे सदा अनुरक्त रहते थे। क्योंकि जड़ भरत गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए अयोग्य थे, अतः ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति तक ही उनके संस्कार पूरे हुए। यद्यपि जड़ भरत अपने पिता की शिक्षाओं को मानने में आनाकानी करते तो भी उस ब्राह्मण ने यह सोचकर कि पिता का कर्तव्य है कि अपने पुत्र को शिक्षा दे, जड़ भरत को स्वच्छ रहने तथा प्रक्षालन करने की शिक्षा दी।

तात्पर्य : जड़ भरत ब्राह्मण शरीर में महाराज भरत थे। वे ऊपर ऊपर ऐसा आचरण कर रहे थे मानो जड़, बहरे, गूँगे तथा अन्धे हों। किन्तु वास्तव में भीतर से वे अत्यन्त जागरूक थे। उन्हें कर्मफल तथा भक्तिफल का पूर्ण ज्ञान था। ब्राह्मण शरीर में महाराज भरत अन्त:करण से भक्ति में पूरी तरह डूबे

रहते, फलतः उन्हें सकामकर्म के विधि-विधानों के करने की कोई आवश्यकता नहीं थी जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में पुष्टि की गई है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्।* मनुष्य को भगवान् हरि को प्रसन्न करना चाहिए। सकाम कर्म की यही सिद्धि है। इसके अतिरिक्त *श्रीमद्भागवत* (१.२.८) में यह भी कहा गया है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

"वृत्ति का विचार किये बिना मनुष्यों द्वारा किया धर्म वृथा श्रम ही है यदि उससे परमेश्वर के संदेश के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता।" इन कर्मकाण्डों की तभी तक आवश्यकता पड़ती है जब तक कृष्णभक्ति जागृत नहीं होती। यदि कृष्णभक्ति विकसित हो जाये तो फिर इन कर्मकाण्डों को पहले करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। श्रील माधवेन्द्र पुरी ने कहा है, "हे कर्मकाण्ड के विधि-विधान! मुझे क्षमा करो। मैं इनका पालन नहीं कर सकता, क्योंकि मैं भक्ति में पूर्णतः संलग्न हूँ।" वे चाहते थे कि किसी वृक्ष के नीचे बैठकर "हरे कृष्ण महामंत्र" का जप करते रहें। फलतः वे कोई विधि-विधान नहीं करते थे। इसी प्रकार हरिदास ठाकुर एक मुसलमान परिवार में उत्पन्न होने के कारण कर्म-काण्ड पद्धति की शिक्षा शुरू से ही प्राप्त नहीं कर पाये थे, किन्तु वे ईश्वर के पवित्र नाम का निरन्तर जप करते थे। इसलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने उन्हें *नामाचार्य* अर्थात् पवित्र नाम के कीर्तन में निपुण आचार्य के नाम से स्वीकार किया। जड़ भरत के रूप में महाराज भरत अपने मन में निरन्तर भक्ति में तल्लीन रहते थे। चूँकि पूर्व के तीन जन्मों में उन्होंने विधि-विधानों का पालन किया था, अतः अब वे उन्हें करने में कोई रुचि नहीं दिखाते थे, यद्यपि उनके ब्राह्मण पिता उनसे ऐसा किये जाने की आशा करते थे।

स चापि तदु ह पितृसन्निधावेवासध्रीचीनमिव स्म करोति छन्दांस्यध्यापयिष्यन्सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान्मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास. ॥ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (जड़ भरत); **च**—भी; **अपि**—निस्संदेह; **तत् उ ह**—जो कुछ उसका पिता शिक्षा देता; **पितृ-सन्निधौ**—अपने पिता की उपस्थिति में, पिता के सामने; **एव**—ही; **असध्रीचीनम् इव**—मानो उसने कुछ नहीं समझा, असत्य; **स्म करोति**—करता था; **छन्दांसि अध्यापयिष्यन्**—चातुर्मास में अथवा श्रावण मास से शुरू करके वेद मंत्रों की शिक्षा देने का इच्छुक; **सह**—साथ-साथ; **व्याहृतिभिः**—स्वर्गलोक (भूः भुवः स्वः) के नामों का उच्चारण; **स-प्रणव-शिरः**—ओंकार से प्रारम्भ करके; **त्रि-पदीम्**—तीन

पदों वाले; सावित्रीम्—गायत्री मंत्र; ग्रैष्म-वासन्तिकान् मासान्—चैत्र से (१ मई से) प्रार म्भ होने वाले चार मास; अधीयानम् अपि—अध्ययन करते रहने पर भी; असमवेत-रूपम्—अपूर्ण रूप में; ग्राहयाम् आस—जो सिखला दिया, अभ्यास करा दिया।.

अपने पिता द्वारा वैदिक ज्ञान की समुचित शिक्षा दिये जाने पर भी जड़ भरत उनके समक्ष मूर्ख (जड़) की भाँति आचरण करते। वे ऐसा आचरण इसलिए करते जिससे उनके पिता यह समझें कि वे शिक्षा के अयोग्य हैं और इस प्रकार उसे आगे शिक्षा देना बन्द कर दें। वे सर्वथा विपरीत आचरण करते। यद्यपि शौच के बाद हाथ धोने को कहा जाता, किन्तु वे उन्हें उसके पहले ही धो लेते। तो भी उनके पिता उन्हें बसन्त तथा ग्रीष्म काल में वैदिक शिक्षा देना चाहते थे। उन्होंने उसे ओंकार तथा व्याहृति के साथ-साथ गायत्री मंत्र सिखाने का यत्न किया, किन्तु चार मास बीत जाने पर भी वे उसे सिखाने में सफल न हो सके।

एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः
शौचाध्ययनव्रतनियमगुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन
भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन स्वयं गृह एव प्रमत्त
उपसंहृतः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व—निज; तनु-जे—पुत्र जड़ भरत में; आत्मनि—जिसे वे आत्मवत् मानते थे; अनुराग-आवेशित-चित्तः—अपने पुत्र के प्रेम में अनुरक्त ब्राह्मण; शौच—पवित्रता, स्वच्छता; अध्ययन—वैदिक साहित्य का अध्ययन; व्रत—समस्त व्रतों का पालन; नियम—विधि-विधान; गुरु—गुरु का; अनल—अग्नि का; शुश्रूषण-आदि—सेवा इत्यादि.; औपकुर्वाणक—ब्रह्मचर्य आश्रम के; कर्माणि—समस्त कर्म; अनभियुक्तानि अपि—पुत्र के न चाहने पर भी; समनुशिष्टेन—पूर्णतया शिक्षित होकर; भाव्यम्—हो; इति—इस प्रकार; असत्-आग्रहः—अग्राह्य मूर्खता वाले; पुत्रम्—पुत्र को; अनुशास्य—शिक्षा देकर; स्वयम्—स्वयं; तावत्—उस तरह; अनधिगत-मनोरथः—अपनी आकांक्षाएँ पूरी न होने से; कालेन—काल के प्रभाव से; अप्रमत्तेन—जो भुलक्कड़ नहीं है; स्वयम्—साक्षात्; गृहे—अपने घर में; एव—निश्चय ही; प्रमत्तः—बुरी तरह से आसक्त; उपसंहृतः—मृत्यु हो गई, मर गया।.

जड़ भरत का ब्राह्मण पिता अपने पुत्र को अपनी आत्मा तथा हृदय के समान मानता, अतः वह उससे अत्यधिक अनुरक्त था। उसने अपने पुत्र को सुशिक्षित बनाना चाहा और अपने इस असफल प्रयास में उसने अपने पुत्र को ब्रह्मचर्य के विधि-विधान सिखाने प्रारम्भ किये, जिनमें वैदिक अनुष्ठान, शौच, वेदाध्ययन, कर्मकाण्ड, गुरु की सेवा, अग्नि यज्ञ करने की विधि सम्मिलित थे। उसने इस प्रकार से अपने पुत्र को शिक्षा देने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। उसने अपने अन्तःकरण में यह आशा बाँध रखी थी कि उसका पुत्र विद्वान होगा, किन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल रहे। प्रत्येक प्राणी की भाँति यह ब्राह्मण भी अपने घर के प्रति आसक्त था और वह यह भूल ही गया था कि एक दिन उसे मरना है। किन्तु मृत्यु कभी भूलती

नहीं। वह उचित समय पर प्रकट हुई और उसे उठा ले गई।

तात्पर्य : जो लोग गृहस्थ जीवन में अत्यधिक आसक्त होते हैं और यह भूल जाते हैं कि भविष्य में मृत्यु आकर उन्हें उठा ले जाएगी वे मानव जीवन का कर्तव्य पूरा नहीं कर पाते। मनुष्य का कर्तव्य है कि जीवन की समस्त समस्याओं को सुलझाए, किन्तु मनुष्य पारिवारिक झमेलों तथा कार्यों में अत्यधिक व्यस्त हुए रहते हैं। वे भले ही मृत्यु को भूले रहें, किन्तु मृत्यु उन्हें नहीं भूलती। वह एकाएक उन्हें शान्त पारिवारिक जीवन से बाहर कर देती है। कोई यह भले भूल जाये कि उसे मरना है, किन्तु मृत्यु को तो यह स्मरण रहता है। मृत्यु अपने समय पर उपस्थित होती है। जड़ भरत का ब्राह्मण पिता पुत्र को ब्रह्मचर्य की विधि बताना चाहता था, किन्तु उसका पुत्र वैदिक प्रगति की प्रक्रिया के लिए तैयार न होने के कारण, पिता सफल न हो सका। जड़ भरत तो *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* के द्वारा भक्ति करते हुए परम धाम लौटने के लिए ही आकुल रहते। उसे अपने पिता के वैदिक उपदेशों की कोई परवाह न थी। जब कोई व्यक्ति ईश्वर की सेवा में पूर्णतया अनुरक्त रहना चाहता है, तो वेदवर्णित सभी विधि-विधानों के पालन में उसकी अभिरुचि नहीं रह जाती। निस्सन्देह, सामान्य व्यक्ति के लिए वैदिक नियम अनिवार्य हैं। कोई उनकी उपेक्षा नहीं कर पाता। किन्तु जिसे भक्ति में सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तो उसके लिए वैदिक-नियमों का अनुपालन अनिवार्य नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश दिया कि वह वैदिक नियमों से ऊपर दिव्य स्थिति अर्थात् *निस्त्रैगुण्य* पद तक उठे। *भगवद्गीता* (२.४) में यह प्रसंग इस प्रकार है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेद मुख्यतः प्रकृति के तीन गुणों की व्याख्या करते हैं। हे अर्जुन! तू इन गुणों का उल्लंघन करके इनसे ऊपर उठ। सम्पूर्ण द्वन्द्वों तथा योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर स्वरूपनिष्ठ बन।"

अथ यवीयसी द्विजसती स्वगर्भजातं मिथुनं सपत्न्या उपन्यस्य स्वयमनुसंस्थया पतिलोकमगात्. ॥७॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; यवीयसी—सबसे छोटी; द्विज-सती—ब्राह्मण की पत्नी; स्व-गर्भ-जातम्—अपने गर्भ से उत्पन्न; मिथुनम्—जुड़वाँ बच्चे; सपत्न्यै—अपनी सौत को; उपन्यस्य—सौंप कर; स्वयम्—स्वयं; अनुसंस्थया—अपने पति का अनुगमन करती हुई; पति-लोकम्—पतिलोक को; अगात्—चली गई।

तत्पश्चात् ब्राह्मण की छोटी पत्नी अपने जुड़वाँ बच्चों—एक लड़का तथा एक लड़की—को अपनी बड़ी सौत को सौंप कर अपनी इच्छा से अपने पति के साथ मर कर पतिलोक चली गई।

पितर्युपरते भ्रातर एनमतत्प्रभावविदस्त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो न परविद्यायां जडमतिरिति भ्रातुरनुशासननिर्बन्धान्न्यवृत्सन्त. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पितरि उपरते—पिता की मृत्यु के पश्चात्; भ्रातरः—सौतेले भाइयों ने; एनम्—इस जड़ भरत को; अ-तत्-प्रभाव-विदः—उसकी महानता को समझे बिना; त्रय्याम्—तीनों वेदों के; विद्यायाम्—कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान में; एव—निस्सन्देह; पर्यवसित—स्थिर; मतयः—जिनके मन; न—नहीं; पर-विद्यायाम्—भक्ति के दिव्य ज्ञान में; जड-मतिः—अत्यन्त मन्द बुद्धि; इति—इस प्रकार; भ्रातुः—अपने भाई (जड़ भरत) को; अनुशासन-निर्बन्धात्—पढ़ाने का प्रयत्न; न्यवृत्सन्त—छोड़ दिया।

पिता की मृत्यु के बाद जड़ भरत के नौ सौतेले भाइयों ने उसे जड़ तथा बुद्धि-हीन समझकर उसको पूर्ण शिक्षा प्रदान करने के उनके पिता का प्रयत्न छोड़ दिया। जड़ भरत के ये भाई तीनों वेदों—ऋग्, साम यथा यजुर्वेद में पारंगत थे, जो सकाम कर्म को अत्यधिक प्रोत्साहन देते हैं। किन्तु वे नवों भाई ईश्वर की भक्तिमयसेवा से तनिक भी परिचित न थे। फलस्वरूप वे जड़ भरत की सिद्ध अवस्था को नहीं समझ सके।

स च प्राकृतैर्द्विपदपशुभिरुन्मत्तजडबधिरमूकेत्यभिभाष्यमाणो यदा तदनुरूपाणि प्रभाषते कर्माणि च कार्यमाणः परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा याच्ञया यदृच्छया वोपसादितमल्पं बहु मृष्टं कदन्नं वाभ्यवहरति परं नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तम्. नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः. शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमषिणा द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार. ॥ ९१० ॥

शब्दार्थ

सः च—वह भी; प्राकृतैः—सामान्य जनों द्वारा जिनकी पहुँच आत्मतत्त्व तक नहीं है; द्वि-पद-पशुभिः—जो दो पैरों वाले पशुओं से कम नहीं है; उन्मत्त—पागल; जड—मन्द; बधिर—बहरा; मूक—गूँगा; इति—इस प्रकार; अभिभाष्यमाणः—सम्बोधित किये जाने पर; यदा—जब; तत्-अनुरूपाणि—उनका उत्तर देने के लिए उपयुक्त शब्द; प्रभाषते—बोलता था; कर्माणि—कर्म; च—भी; कार्यमाणः—कराते हुए; पर-इच्छया—अन्यों की आज्ञा से; करोति—किया करता था; विष्टितः—बल प्रयोग से, बेगार; वेतनतः—अथवा मजदूरी से; वा—अथवा; याच्ञया—भीख माँगने से; यदृच्छया—अपनी इच्छानुसार; वा—अथवा; उपसादितम्—प्राप्त; अल्पम्—अत्यल्प मात्रा; बहु—बहुत सा; मृष्टम्—सुस्वादु; कत्-अन्नम्—बासी, स्वादहीन भोजन; वा—अथवा; अभ्यवहरति—खा लेता था; परम्—केवल; न—नहीं; इन्द्रिय-प्रीति-निमित्तम्—इन्द्रियों की तृप्ति हेतु; नित्य—शाश्वत; निवृत्त—त्याग दिया; निमित्त—सकाम कर्म; स्व-सिद्ध—स्वतः सिद्ध; विशुद्ध—दिव्य; अनुभव-आनन्द—आनन्दपूर्ण अनुभव; स्व-आत्म-लाभ-अधिगमः—जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया हो; सुख-दुःखयोः—सुख तथा दुख दोनों में; द्वन्द्व-निमित्तयोः—द्वैत के कारणों में; असम्भावित-देह-अभिमानः—देह से भिन्न; शीत—जाड़े में; उष्ण—ग्रीष्म में; वात—हवा में; वर्षेषु—वर्षा में; वृषः—साँड़; इव—सदृश; अनावृत-अङ्गः—नंगी देह; पीनः—हृष्ट-पुष्ट; संहनन-अङ्गः—गठित अंग; स्थण्डिल-संवेशन—पृथ्वी पर पड़े रहने से; अनुन्मर्दन—बिना मालिश के; अमज्जन—बिना नहाये; रजसा—धूलि से; महा-मणिः—बहुमूल्य मणि; इव—सदृश; अनभिव्यक्त—अप्रकट; ब्रह्म-वर्चसः—ब्रह्म-तेज; कु-पट-आवृत—गन्दे वस्त्र से ढका; कटिः—जिसकी कमर;

उपवीतेन—यज्ञोपवीत से; उरु-मषिणा—धूल के कारण अत्यन्त मलिन (काला); द्वि-जातिः—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न; इति—इस प्रकार, (घृणा के कारण कहते हुए); ब्रह्म-बन्धुः—ब्रह्म बन्धु; इति—इस प्रकार; संज्ञया—ऐसे नामों से; अ-तत्-ज्ञ-जन—उन व्यक्तियों द्वारा जो उसकी स्थिति से अपरिचित थे; अवमतः—अनादृत होकर; विचचार—विचरण करता था।

नीच पुरुष पशुओं के तुल्य होते हैं। अन्तर इतना ही है कि पशुओं के चार पैर होते हैं और ऐसे मनुष्यों के केवल दो। ऐसे दो पैर वाले पाशविक पुरुष जड़ भरत को पागल, मन्द बुद्धि, बहरा तथा गूँगा कहते थे। वे उसके साथ दुर्व्यवहार करते और जड़ भरत बहरे, अंधे या जड़ पागल की भाँति आचरण करता। न तो वह कभी प्रतिवाद करता, न ही उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न करता कि वह ऐसा नहीं है। यदि कोई उससे कुछ कराना चाहता तो वह उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करता। उसे भिक्षा या मजदूरी से अथवा अपने आप जो भी भोजन मिलता—चाहे वह थोड़ा हो, स्वादु, बासी या अस्वादु—उसे ग्रहण करता और खाता। वह इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कभी कुछ नहीं खाता था, क्योंकि वह पहले से उस देहात्म-बुद्धि से मुक्त हो गया था, जिसके वशीभूत होकर स्वादिष्ट या बेस्वाद भोजन किया जाता है। वह भक्ति की दिव्य भावना से पूर्ण था, फलतः देहात्म-बुद्धि से उठने वाले द्वन्द्वों से सर्वथा अप्रभावित रहता था। वास्तव में उसका शरीर साँड़ के समान बलिष्ठ था और उसके अंग-प्रत्यंग हृष्ट-पुष्ट थे। उसे न तो सर्दी-गर्मी या बयार-वर्षा की परवाह थी और न ही कभी वह अपने शरीर को ढकता था। वह जमीन पर लेटा रहता। वह अपने शरीर में न तो कभी तेल लगाता, न ही कभी स्नान करता था। शरीर मलिन होने के कारण उसका ब्रह्मतेज तथा ज्ञान उसी प्रकार ढके हुए थे जिस प्रकार धूल जमने से किसी मूल्यवान मणि का तेज छिप जाता है। उसने केवल एक गन्दा कौपीन और एक यज्ञोपवीत पहन रखा था जो काला पड़ गया था। यह जानते हुए भी कि वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न है, लोग उसे ब्रह्मबन्धु तथा अन्य नामों से पुकारते थे। इस प्रकार भौतिकतावादी लोगों द्वारा अपमानित एवं उपेक्षित होकर वह इधर-उधर घूमता रहता था।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—*देह-स्मृति नाहि यार, संसारबंधन काहाँ तार।* जिसे अपने शरीर-पालन की इच्छा न रहे, अथवा जो अपने शरीर को ढंग से रखने का इच्छुक न हो और जो किसी भी परिस्थिति में संतुष्ट रहे वह या तो पागल होगा या फिर मुक्त। वास्तव में जड़भरत के रूप में जन्म लेकर भरत महाराज भौतिक द्वंद्वों से सर्वथा मुक्त थे। वे परमहंस थे, अतः उन्हें शारीरिक सुख की

चिन्ता न थी।

यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत ईहमानः स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपितस्तदपि करोति किन्तु न समं विषमं न्यूनमधिकमिति वेद कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—लेकिन; परतः—अन्यों से; आहारम्—भोजन; कर्म-वेतनतः—काम करने के बदले मजदूरी; ईहमानः—पालते देखकर; स्व-भ्रातृभिः अपि—अपने सौतेले भाइयों तक से; केदार-कर्मणि—खेत में काम करने तथा कृषिकार्य देखने में; निरूपितः—लगा हुआ; तत् अपि—उस समय भी; करोति—वह करता था; किन्तु—लेकिन; न—नहीं; समम्—समतल; विषमम्—विषम, ऊबड़-खाबड़; न्यूनम्—कम; अधिकम्—अधिक उठी हुई; इति—इस प्रकार; वेद—जानता था; कण—धान के टूटे दाने, कना; पिण्याक—खली; फली-करण—धान की भूसी; कुल्माष—घुन-लगा अन्न; स्थाली-पुरीष-आदीनि—बर्तन में लगा जला चावल आदि; अपि—भी; अमृत-वत्—अमृत के समान; अभ्यवहरति—खा लेता था।

जड़ भरत केवल भोजन के लिए काम करता था। उसके सौतेले भाइयों ने इसका लाभ उठाकर उसे कुछ भोजन के बदले खेत में काम करने में लगा दिया, किन्तु उसे खेत में ठीक से काम करने की विधि ज्ञात न थी। उसे यह ज्ञात न था कि कहाँ मिट्टी डाली जाये अथवा कहाँ भूमि को समतल या ऊँचा-नीचा रखा जाये। उसके भाई उसे टूटे चावल (कना), खली, धान की भूसी, घुना अनाज तथा रसोई के बर्तनों की जली हुई खुरचन दिया करते थे, किन्तु वह इन सबको प्रसन्नतापूर्वक अमृत के समान स्वीकार कर लेता था। उसे किसी प्रकार की शिकायत न रहती और वह इन सब चीजों को प्रसन्नतापूर्वक खा लेता था।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.१) में *परमहंस* पद का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्त्वाय कल्पते।* जब किसी मनुष्य को इस संसार के सुख-दुख नहीं व्यापते तो वह *अमृतत्त्व* अर्थात् शाश्वत जीवन के योग्य होता है। भरत महाराज इस संसार में अपने कार्य को समाप्त करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ थे, अतः उन्होंने संसार के द्वैत की तनिक भी परवाह नहीं की। वे कृष्णभावनामृत में पूर्ण थे और अच्छे-बुरे तथा सुख-दुख के प्रति विरक्त थे। जैसाकि *चैतन्यचरितामृत* (अन्त्य ४.१७६) में कहा गया है—

'द्वैते' भद्राभद्र-ज्ञान सब-'मनोधर्म'।

एइ भाल, एइ मन्द, '—सब 'भ्रम'।

''इस संसार में अच्छे तथा बुरे का विचार मानसिक कल्पना है। अतः यह कहना कि 'यह अच्छा

है और यह बुरा है', सारी की सारी एक भूल है।'' मनुष्य को यह समझना चाहिए कि इस द्वैत-भाव के संसार में यह सोचना कि यह अच्छा है, अथवा यह बुरा है मात्र मनगढ़ंत कल्पना है। फिर भी किसी को इस भावना का अनुकरण न करके समभाव की स्थिति प्राप्त करनी चाहिए।

अथ कदाचित्कश्चिद्वृषलपतिर्भद्रकाल्यै पुरुषपशुमालभतापत्यकामः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; कदाचित्—किसी समय; कश्चित्—कोई; वृषल-पतिः—अन्यों की सम्पत्ति लूटने वाले शूद्रों का सरदार; भद्र-काल्यै—भद्रकाली नामक देवी को; पुरुष-पशुम्—मनुष्य के रूप में पशु की; आलभत—बलि देने लगा; अपत्य-कामः—पुत्र का इच्छुक।

इसी समय, पुत्र की कामना से, डाकुओं का एक सरदार जो शूद्र कुल का था, किसी पशु-तुल्य जड़ मनुष्य की भद्रकाली पर बलि चढ़ाकर उपासना करना चाहता था।

तात्पर्य : निम्न श्रेणी के लोग, यथा शूद्र, अपनी भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए देवी काली या भद्रकाली जैसी देवियों की उपासना करते हैं। इस उद्देश्य से वे कभी-कभी मूर्ति (अर्चाविग्रह) के समक्ष मनुष्य का वध करते हैं। वे सामान्य रूप से ऐसा व्यक्ति चुनते हैं, जो मन्द बुद्धि हो अर्थात् मनुष्य के रूप में पशु हो।

तस्य ह दैवमुक्तस्य पशोः पदवीं तदनुचराः परिधावन्तो निशि निशीथसमये तमसावृतायामनधिगतपशव आकस्मिकेन विधिना केदारान्वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः संरक्षमाणमङ्गिरःप्रवरसुतमपश्यन्. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस सरदार का; ह—निश्चय ही; दैव-मुक्तस्य—संयोग्यवश बच जाने से; पशोः—नर-पशु का; पदवीम्—मार्ग; तत्-अनुचराः—उसके अनुयायी; परिधावन्तः—इधर-उधर ढूँढने के लिए दौड़ते हुए; निशि—रात्रि में; निशीथ-समये—अर्द्धरात्रि में; तमसा आवृतायाम्—अंधेरे से ढका हुआ; अनधिगत-पशवः—नर-पशु न पकड़ सकने से; आकस्मिकेन विधिना—दैवयोग से अकस्मात्; केदारान्—खेतों में; वीर-आसनेन—ऊँचे स्थान पर बने आसन से; मृग-वराह-आदिभ्यः—मृग, जंगली सुअर आदि से; संरक्षमाणम्—रक्षा करता हुआ; अङ्गिरः-प्रवर-सुतम्—अंगिरा गोत्र वाले ब्राह्मण पुत्र को; अपश्यन्—देखा।

डाकुओं के सरदार ने बलि के लिए एक नर-पशु पकड़ा, किन्तु वह बचकर निकल भागा और सरदार ने अपने सेवकों को उसे ढूँढने के लिए आज्ञा दी। वे विभिन्न दिशाओं में दोड़ै किन्तु उसे ढूंढ न सके। अर्द्धरात्रि के गहन अंधकार में इधर-उधर घूमते हुए, वे एक धान के खेत में पहुँचे जहाँ उन्होंने अंगिरा वंश के एक ब्राह्मणकुमार (जड़भरत) को देखा जो एक ऊँचे स्थान पर बैठ कर मृग तथा जंगली सुअरों से खेत की रखवाली कर रहा था।

अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्तृकर्मनिष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वा रशनया चण्डिकागृहमुपनिन्युर्मुदा विकसितवदनाः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; ते—वे (सरदार के सेवक); एनम्—इस (जड़ भरत); अनवद्य-लक्षणम्—मन्द पशु के से लक्षणों वाला क्योंकि उसका शरीर साँड़ जैसा मोटा था और वह बहरा तथा गूँगा था; अवमृश्य—पहचान कर; भर्तृ-कर्म-निष्पत्तिम्—अपने स्वामी के कार्य की सिद्धि; मन्यमानाः—मानते हुए, समझकर; बद्ध्वा—बाँधकर; रशनया—रस्सियों से; चण्डिका-गृहम्—देवी काली के मन्दिर में; उपनिन्युः—ले आये; मुदा—परम प्रसन्नतापूर्वक; विकसित-वदनाः—प्रसन्नमुख।

डाकू सरदार के सेवकों तथा अनुचरों ने नर-पशु के लक्षणों सें युक्त जड़ भरत को अत्यन्त उपयुक्त समझ कर उसे बलि के लिए अत्युत्तम पाया। अतः प्रसन्नता के मारे उनके मुख चमकने लगे, उन्होंने उसे रस्सियों से बाँध लिया और देवी काली के मन्दिर में ले आये।

तात्पर्य : भारत के कुछ भागों में आज भी देवी काली के समक्ष पशु-तुल्य मनुष्यों की बलि चढ़ाई जाती है। तो भी ऐसी बलि केवल शूद्रों तथा डाकुओं द्वारा चढ़ाई जाती है। उनका कार्य धनी व्यक्ति को लूटना है और इसमें सफल होने के लिए वे देवी काली के समक्ष नर-पशु की बलि देते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि वे देवी पर कभी भी किसी बुद्धिमान मनुष्य की बलि नहीं देते। ब्राह्मण शरीर में भरत महाराज गूँगे तथा बहरे प्रतीत होते थे, किन्तु तो भी वे संसार के सर्वाधिक बुद्धिमान पुरुष थे। इतने पर भी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति सर्वथा समर्पित होने के कारण वे उसी स्थिति में बने रहे और वध के लिए लाये जाने पर उन्होंने किसी प्रकार का विरोध नहीं किया। जैसाकि पिछले श्लोकों से हमें ज्ञात है, वे इतने बली थे कि चाहते तो रस्सियों से बाँधे जाने से अपने को आसानी से बचा लेते, किन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं किया। वे अपनी रक्षा के लिए भगवान् पर पूरी तरह आश्रित थे। श्रील भक्ति विनोद ठाकुर परमेश्वर के प्रति समर्पण का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

मारबि राखबि—यो इच्छा तोहारा

नित्य-दास-प्रति तुया अधिकारा

"हे ईश्वर! मैंने आपको आत्मसमर्पण कर दिया है। मैं आपका शाश्वत सेवक हूँ और यदि आप चाहें तो मुझे मारें या मेरी रक्षा करें। प्रत्येक दशा में मुझ पर आपका अधिकार है।"

अथ पणयस्तं स्वविधिनाभिषिच्याहतेन वाससाच्छाद्य भूषणालेपस्त्रक्तिलकादिभिरुपस्कृतं भुक्तवन्तं धूपदीपमाल्यलाजकिसलयाङ्कुरफलोपहारोपेतया वैशससंस्थया महता गीतस्तुतिमृदङ्गपणवघोषेण च पुरुषपशुं भद्रकाल्याः पुरत उपवेशयामासुः. ॥ १॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; पणयः—डाकू के समस्त अनुचरों ने; तम्—उसको (जड़ भरत को); स्व-विधिना—अपने विधि-विधानों के अनुसार; अभिषिच्य—नहलाकर; अहतेन—नये; वाससा—वस्त्र से; आच्छाद्य—ढक कर; भूषण—गहने; आलेप—चन्दन से लेपकर; स्रक्—पुष्प माला; तिलक-आदिभिः—तिलक आदि से; उपस्कृतम्—पूर्णतया सजाकर; भुक्तवन्तम्—भोजन करा कर; धूप—सुंगधित द्रव्य; दीप—दीपक; माल्य—माला; लाज—लावा; किसलय-अङ्कुर—नये पत्ते तथा अंकुर; फल—फल; उपहार—अन्य सामग्री; उपेतया—पूर्णतया सज्जित; वैशस-संस्थया—बलि के लिए पूरी तैयारी; महता—अत्यधिक; गीत-स्तुति—गाना तथा प्रार्थना का; मृदङ्ग—मृदंग; पणव—तुरही की; घोषेण—ध्वनि से; च—भी; पुरुष-पशुम्—नर-पशु को; भद्र-काल्याः—देवी काली के; पुरतः—ठीक सामने; उपवेशयाम् आसुः—बैठा दिया।

इसके पश्चात् चोरों ने नर-पशु बलि की काल्पनिक पद्धति के अनुसार जड़ भरत को नहलाया, नये वस्त्र पहनाए, पशु के अनुकूल आभूषणों से अलंकृत किया, उसके शरीर पर सुगन्धित लेप किया तथा तिलक, चन्दन एवं हार से सुसज्जित किया। उसे अच्छी तरह भोजन कराने के बाद वे उसे देवी काली के समक्ष ले आये और देवी को धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर, फल तथा फूल की भेंट चढ़ाई। इस प्रकार उन्होंने नर-पशु का वध करने के पूर्व गीत, स्तुति द्वारा एवं मृदंग तथा तुरही आदि बजाकर देवी की पूजा की। इसके पश्चात् जड़ भरत को मूर्ति के समक्ष बैठा दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *स्वविधिना* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार कोई भी कृत्य विधि-विधानों के अनुसार किया जाता है, किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि चोरों तथा उचक्कों ने नर-पशु को मारने की अपनी विधि निकाली थी। तामसी शास्त्रों में देवी काली के समक्ष बकरे या भैंसे की बलि देने का विधान है, किन्तु उसमें मनुष्य की बलि का, चाहे वह कितना ही मूर्ख क्यों न हो, कोई उल्लेख नहीं है। यह विधान डाकुओं द्वारा स्वयं कल्पित किया गया था, इसलिए *स्व-विधिना* शब्द प्रयुक्त हुआ है। आज भी अनेक यज्ञ वैदिक शास्त्रों का उल्लेख किये बिना किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, हाल ही में कलकत्ता में एक बूचड़खाने का विज्ञापन देवी काली के मन्दिर के रूप में किया गया। मांस खाने वाले लोग मूर्खता से ऐसी दूकानों से यह सोच कर माँस खरीदते हैं कि यह सामान्य मांस से भिन्न है और देवी काली का प्रसाद है। देवी काली के समक्ष बकरे या इसी प्रकार के पशु की बलि का उल्लेख शास्त्रों में इस दृष्टि से हुआ है कि लोग बूचड़खानों से मांस न खरीदें और इस प्रकार पशुओं के वध के लिए उत्तरदायी न हों। बद्धजीवों में मांस खाने तथा संभोग करने की सहज प्रवृत्ति होती है, फलतः शास्त्र उन्हें कुछ छूट देते हैं। वास्तव में शास्त्रों का उद्देश्य ऐसी जघन्य प्रवृत्तियों को रोकना है, किन्तु साथ ही वे उनके लिए कुछ विधि-विधान भी प्रदान करते हैं। जिससे

मांसाहारी तथा यौनाचारी क्रमश: सुधर जायें।

अथ वृषलराजपणि: पुरुषपशोरसृगासवेन देवीं भद्रकालीं यक्ष्यमाणस्तदभिमन्त्रितमसिमतिकरालनिशितमुपाददे. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; वृषल-राज-पणिः—डाकुओं के सरदार का पुरोहित; पुरुष-पशोः—बलि के लिए लाये गये पशु तुल्य नर (जड़ भरत) का; असृक्-आसवेन—रक्त के आसव से; देवीम्—अर्चाविग्रह को; भद्र-कालीम्—देवी काली; यक्ष्यमाणः—बलि देने का इच्छुक; तत्-अभिमन्त्रितम्—भद्रकाली के मंत्र से पवित्र की गयी; असिम्—तलवार, खड्ग; अति-कराल—अत्यन्त भयानक; निशितम्—अत्यन्त पैनी; उपाददे—हाथ में ली।

उस समय, पुरोहित के रूप में कार्य कर रहा एक चोर भद्रकाली को पीने के लिए नर-पशु जड़-भरत का रक्त-आसव चढ़ाने के लिए तत्पर था। अत: उसने अत्यन्त भयावनी तथा पैनी तलवार निकाली और भद्रकाली के मंत्र से अभि मंत्रित करके जड़ भरत को मारने के लिए उसे उठाया।

इति तेषां वृषलानां रजस्तम:प्रकृतीनां धनमदरजउत्सिक्तमनसां भगवत्कलावीरकुलं कदर्थीकृत्योत्पथेन स्वैरं विहरतां हिंसाविहाराणां कर्मातिदारुणं यद्ब्रह्मभूतस्य साक्षाद्ब्रह्मर्षिसुतस्य निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृदः सूनायामप्यननुमतमालम्भनं तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तेषाम्—उन; वृषलानाम्—शूद्रों का जिनसे समस्त धार्मिक नियम नष्ट होते हैं; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; प्रकृतीनाम्—गुणों वाले; धन-मद—सम्पत्ति के कारण उत्पन्न गर्व; रजः—काम द्वारा; उत्सिक्त—फूला हुआ, उन्मत्त; मनसाम्—जिनके मन; भगवत्-कला—श्रीभगवान् के अंश का विस्तार, अंशस्वरूप; वीर-कुलम्—महान् पुरुषों (ब्राह्मणों) का कुल (समूह); कत्-अर्थी-कृत्य—अनादर करके; उत्पथेन—कुमार्ग से; स्वैरम्—स्वेच्छा से; विहरताम्—आगे बढ़ रहे; हिंसा-विहाराणाम्—जिनका कार्य अन्यों पर हिंसा करना है; कर्म—कर्म, कार्य; अति-दारुणम्—अत्यन्त भयावह; यत्—जो; ब्रह्म-भूतस्य—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न स्वरूपसिद्ध व्यक्ति; साक्षात्—प्रत्यक्ष; ब्रह्म-ऋषि-सुतस्य—ब्रह्म-ऋषि के पुत्र का; निर्वैरस्य—वैरविहीन का; सर्व-भूत-सुहृदः—सबों का शुभचिन्तक; सूनायाम्—अन्तिम क्षण में; अपि—यद्यपि; अननुमतम्—अविहित; आलम्भनम्—ईश्वर की इच्छा के विपरीत; तत्—वह; उपलभ्य—देखकर; ब्रह्म-तेजसा—दिव्य आनन्द के तेज से; अति-दुर्विषहेण—अत्यन्त प्रखर अत: असह्य; दन्दह्यमानेन—ज्वलित; वपुषा—शरीर से; सहसा—एकाएक; उच्चचाट—मूर्ति को विदीर्ण करके; सा—वह (देवी); एव—निस्संदेह; देवी—देवी; भद्र-काली—भद्रकाली।

जिन चोर-उचक्कों ने देवी काली के पूजन का प्रबन्ध कर रखा था वे अत्यन्त नीच थे और रजो तथा तमो गुणों से आबद्ध थे। वे धनवान बनने की कामना से ओतप्रोत थे, अत: उन्होंने वेदों के आदेशों का तिरस्कार किया। यहाँ तक कि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न स्वरूपसिद्ध जीवात्मा जड़ भरत का वध करने के लिए उद्यत थे। द्वेषवश वे उन्हें देवी काली के समक्ष बलि चढ़ाने के लिए लाये थे। ऐसे व्यक्ति सदैव ईर्ष्यालु कार्यों में रत रहते हैं, इसीलिए वे जड़ भरत

को मारने का दुस्साहस कर सके। जड़ भरत समस्त जीवों के परम मित्र थे। वे किसी के भी शत्रु न थे और सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ध्यान में मग्न रहते थे। उनका जन्म उत्तम ब्राह्मण कुल में हुआ था, अतः यदि वे किसी के शत्रु होते अथवा आक्रामक होते तो भी उनका वध वर्जित था। किसी भी दशा में जड़ भरत को वध किये जाने का कोई औचित्य न था, अतः यह भद्रकाली से सहन नहीं हो सका। वे तुरन्त समझ गईं कि ये पापी डाकू ईश्वर के एक परम भक्त का वध करने वाले हैं। अतः सहसा मूर्ति का शरीर विदीर्ण हो गया और साक्षात् देवी काली प्रकट हुईं। उनका शरीर प्रखर एवं असह्य तेज से जल रहा था।

तात्पर्य : वैदिक आदेशानुसार केवल आक्रामक का वध किया जा सकता है। यदि कोई मारने के उद्देश्य से आए तो आत्मरक्षा हेतु उसका तुरन्त वध किया जा सकता है। यह भी कहा गया है कि यदि कोई घर में आग लगाने या किसी की स्त्री को अपवित्र करने या हरने के उद्देश्य से आए तो उसका वध किया जा सकता है। भगवान् रामचन्द्र ने रावण के समस्त परिवार का वध कर दिया, क्योंकि रावण ने उनकी पत्नी सीता देवी का अपहरण किया था। किन्तु शास्त्रों में अन्य किसी कार्य के लिए वध की आज्ञा नहीं है। देवताओं पर जो भगवान् के विस्तार हैं, पशुओं की बलि की अनुमति उन लोगों को है जो मांस खाते हैं। मांसाहार पर यह एक प्रकार का प्रतिबन्ध है। दूसरे शब्दों में, वेदों में कुछ नियमों के द्वारा पशुओं के वध पर भी प्रतिबन्ध है। इन बातों पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि उच्च ब्राह्मण कुल में उत्पन्न जड़ भरत को मारने का कोई औचित्य नहीं था। वे स्वरूपसिद्ध थे और सभी जीवों के शुभचिन्तक थे। वेदों के अनुसार चोर-उचक्कों द्वारा जड़ भरत के वध किये जाने की स्वीकृति नहीं प्राप्त होती। फलतः देवी भद्रकाली ईश्वर के भक्त की रक्षा हेतु मूर्ति में से प्रकट हुईं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि जड़ भरत का ब्रह्म तेज ऐसा था कि मूर्ति विदीर्ण हो गई। रजो तथा तमोगुणी चोर-उचक्के तथा ऐश्वर्य से प्रमत्त व्यक्ति ही देवी काली के समक्ष मनुष्य की बलि करते हैं। वेदों द्वारा इसकी अनुमति नहीं है। इस समय पूरे विश्व में हजारों कसाईघर हैं, जो ऐश्वर्य के पीछे दीवाने लोगों द्वारा संचालित किये जाते हैं। भागवत सम्प्रदाय द्वारा ऐसे कृत्यों का कभी भी अनुमोदन नहीं होता।

भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटोपातिभयानकवदना हन्तुकामेवेदं महाट्टहासमतिसंरम्भेण विमुञ्चन्ती तत उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां तेनैवासिना विवृक्णशीर्ष्णां गलात्स्रवन्तमसृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयातिपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च विजहार च शिरःकन्दुकलीलया. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भृशम्—अत्यधिक; अमर्ष—पापों के कारण अत्यन्त असहनशीलता; रोष—क्रोध; आवेश—डूबे रहने से; रभस-विलसित—चढ़ी हुई; भ्रु-कुटि—भौंहें; विटप—शाखाएँ; कुटिल—टेढ़ी; दंष्ट्र—बड़े दाँत (दाढ़ें); अरुण-ईक्षण—लाल लाल नेत्र; आटोप—विक्षोभ से; अति—अत्यधिक; भयानक—डरावना; वदना—मुख वाली; हन्तु-कामा—संहार करने की इच्छुक; इव—मानो; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; महा-अट्ट-हासम्—अत्यन्त डरावनी हँसी; अति—अत्यधिक; संरम्भेण—क्रोध के कारण; विमुञ्चन्ती—छोड़ती हुई; ततः—उस बलि वेदी से; उत्पत्य—उछल कर; पापीयसाम्—समस्त पापी; दुष्टानाम्—दुष्टों का; तेन एव असिना—उसी तलवार से; विवृक्ण—छिन्न; शीर्ष्णाम्—सिर; गलात्—गर्दन से; स्रवन्तम्—बहते हुए; असृक्-आसवम्—रक्त रूपी मादक द्रव (आसव); अति-उष्णम्—अत्यन्त गरम; सह—समेत; गणेन—अपने गणों के; निपीय—पीते हुए; अति-पान—अत्यधिक पीने से; मद—नशे के; विह्वला—वश में आये हुए; उच्चैः-तराम्—अत्यन्त उच्च स्वर से; स्व-पार्षदैः—अपने गणों के; सह—साथ; जगौ—गाया; ननर्त—नाचा; च—भी; विजहार—खेल किया; च—भी; शिरः-कन्दुक—सिरों को गेंद के समान प्रयुक्त करते हुए; लीलया—खेल में।

किए गये अत्याचारों को न सहन कर सकने के कारण क्रुद्ध देवी काली ने अपनी आँखें चमकायी और उनके कराल वक्र दाँत (दाढ़ें) दिखाए। उनकी लाल-लाल आँखें दहकने लगीं और उनकी आकृति डरावनी हो गई। उन्होंने अत्यन्त भयावना रूप धारण कर लिया मानो समस्त सृष्टि का संहार करने को उद्यत हों। वे बलिवेदी से तेजी से कूदीं और तुरन्त ही उन चोर-उचक्कों के सिर उसी तलवार से काट लिये जिससे वे जड़ भरत का वध करने जा रहे थे। फिर छिन्न सिरों वाले उन उच्चकों-चोरों के गले से निकलने वाले तप्त रक्त को पीने लगीं मानो मदिरा (आसव) पान कर रही हों। दरअसल उन्होंने अपने गणों के सहित, जिनमें डाइनें तथा चुड़ैलें थीं, उस आसव का पान किया और फिर प्रमत्त होकर वे सब उच्च स्वर से गाने तथा नाचने लगीं मानो समस्त ब्रह्माण्ड का संहार कर डालेंगी। उसी समय वे उनके सिरों को गेंद के समान उछाल-उछाल कर खेलने लगीं।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि देवी काली अपने सभी भक्तों का पक्ष नहीं लेतीं। देवी काली का कार्य ही असुरों को दण्ड देना और उनका वध करना है। देवी काली (दुर्गा) अनेक असुरों, डाकुओं तथा समाज के बुरे तत्त्वों का शिरोच्छेद करने में लगी रहती हैं। मूर्ख लोग कृष्णभावनामृत की उपेक्षा करके देवी को प्रसन्न करने के लिए निकृष्ट वस्तुएँ भेंट चढ़ाते हैं, किन्तु अन्त में पूजा में थोड़ी सी भी त्रुटि रह जाने पर वे इन उपासकों के प्राण लेकर उन्हें दण्डित करती हैं। आसुरी लोग भौतिक लाभ के लिए देवी काली की उपासना करते तो हैं, किन्तु पूजा के नाम पर किये गये पापों के लिए

उन्हें क्षमा नहीं किया जाता। मूर्ति पर मनुष्य या पशु की बलि विशेष रूप से वर्जित है।

एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कार्त्स्न्येनात्मने फलति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एवम् एव—इस प्रकार; खलु—निस्संदेह; महत्—महापुरुषों के साथ; अभिचार—ईर्ष्या के रूप में; अति-क्रमः—अपराध की सीमा; कार्त्स्न्येन—सदैव; आत्मने—अपने ही ऊपर; फलति—प्रतिफलित होता है, पड़ता है।.

जब कोई ईर्ष्यालु व्यक्ति किसी महापुरुष के समक्ष कोई अपराध करता है, तो उसे सदैव उपर्युक्त विधि से दंडित होना पड़ता है।

न वा एतद्विष्णुदत्त महदद्भुतं यदसम्भ्रमः स्वशिरश्छेदन आपतितेऽपि विमुक्तदेहाद्यात्मभावसुदृढहृदयग्रन्थीनां सर्वसत्त्वसुहृदात्मनां निर्वैराणां साक्षाद्भगवतानिमिषारिवरायुधेनाप्रमत्तेन तैस्तैर्भावैः परिरक्ष्यमाणानां तत्पादमूलमकुतश्चिद्भयमुपसृतानां भागवतपरमहंसानाम्. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वा—अथवा; एतत्—यह; विष्णु-दत्त—हे भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित, महाराज परीक्षित; महत्—महान; अद्भुतम्—आश्चर्य; यत्—जो; असम्भ्रमः—व्याकुलता का अभाव; स्व-शिरः-छेदने—अपना सिर काटे जाते समय; आपतिते—आ पड़ने पर; अपि—यद्यपि; विमुक्त—पूर्णतया मुक्त; देह-आदि-आत्म-भाव—जीवन का मिथ्या देहात्म भाव; सु-दृढ—सुदृढ़; हृदय-ग्रन्थीनाम्—हृदय-ग्रन्थि वालों का; सर्व-सत्त्व-सुहृत्-आत्मनाम्—अपने मन में सबों का कल्याण चाहने वाले व्यक्तियों का; निर्वैराणाम्—जिनके एक भी शत्रु नहीं हैं, उनका; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता—श्रीभगवान् द्वारा; अनिमिष—तत्काल; अरि-वर—शस्त्रों में श्रेष्ठ सुदर्शन चक्र; आयुधेन—आयुधधारी द्वारा; अप्रमत्तेन—कभी क्षुब्ध न होने वाला; तैः तैः—उन उन; भावैः—श्रीभगवान् के रूपों से; परिरक्ष्यमाणानाम्—रक्षित पुरुषों का; तत्-पाद-मूलम्—श्रीभगवान् के चरणकमल में; अकुतश्चित्—कहीं से भी नहीं; भयम्—डर, भय; उपसृतानाम्—शरणागतों का; भागवत—ईश्वर के भक्तों का; परम-हंसानाम्—परमहंसों का, मुक्त पुरुषों का।.

तब शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से कहा—हे विष्णुदत्त, आत्मा को शरीर से पृथक् मानने वाले, अजेय हृदय-ग्रंथि से मुक्त, समस्त जीवों के कल्याण कार्य में निरन्तर अनुरक्त तथा दूसरों का अहित न सोचने वाले व्यक्ति चक्रधारी तथा असुरों के लिए परम काल एवं भक्तों के रक्षक श्रीभगवान् द्वारा सदैव संरक्षित होते हैं। भक्त सदैव भगवान् के चरणकमल की शरण ग्रहण करते हैं। फलतः सिर कटने का अवसर आने पर भी वे सदैव अक्षुब्ध रहते हैं। यह उनके लिए तनिक भी विस्मयकारी नहीं होता है।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त के ये कुछ महान् गुण हैं। पहले तो भक्त अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रति आश्वस्त होता है। वह अपने को शरीर नहीं मानता, उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि उसकी आत्मा देह से भिन्न है। फलतः उसे किसी का भय नहीं रह जाता। यहाँ तक कि जीवन का

संकट उत्पन्न होने पर भी वह भयभीत नहीं होता। वह शत्रु को भी शत्रु नहीं मानता। भक्तों के ऐसे-ऐसे गुण हैं। वे श्रीभगवान् पर सभी प्रकार से आश्रित रहते हैं और भगवान् भी समस्त परिस्थितियों में उनकी रक्षा करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''जड़ भरत का सर्वोत्कृष्ट चरित्र'' नामक नौवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

जड़ भरत तथा महाराज रहूगण की वार्ता

इस अध्याय में भरत महाराज अर्थात् जड़ भरत को सिंधु तथा सौवीर राज्यों के शासक राजा रहूगण ने अंगीकार कर लिया। उस राजा ने जड़ भरत को अपनी पालकी ढोने के लिए विवश किया और पालकी को ठीक से न उठाने के कारण उसको फटकार लगायी। राजा रहूगण को पालकी ढोने वाले (कहार) की आवश्यकता थी जिसके लिए पालकी ढोनेवालों के मुखिया ने जड़ भरत को अत्यन्त उपयुक्त पाया। अत: उसे पालकी ढोने के लिए बाध्य किया गया। जड़ भरत ने इस आज्ञा का प्रतिवाद नहीं किया, उल्टे वे इसे विनम्रता पूर्वक स्वीकार करके पालकी ढोने लगे। जब वे पालकी उठाये रहते तो वे सतर्क होकर देखते चलते कि उनके पाँव के नीचे एक चींटी तक न आये और जब कोई चींटी दिखती तो वे उसके निकल जाने तक रुके रहते। फलत: वे अन्य कहारों के साथ कदम मिलाकर नहीं चल पाये। इससे पालकी में बैठा राजा अत्यन्त विचलित हुआ और उसने जड़ भरत को भद्दी गाली दी, किन्तु जड़ भरत ने कोई प्रतिवाद नहीं किया, क्योंकि वे देहात्म-बुद्धि से सर्वथा मुक्त थे। वे पालकी उठाये चलते रहे। जब उन्होंने फिर वैसा ही किया, तो राजा ने उसे दण्डित करने की धमकी दी। प्रतिक्रियास्वरूप जड़ भरत बोलने लगे। उन्होंने राजा द्वारा प्रयुक्त गन्दी भाषा का प्रतिवाद किया। जड़ भरत के उपदेश सुनकर राजा को आत्मज्ञान हुआ। ज्ञान आने पर उसने समझा कि उसने एक महान् तथा साधु पुरुष का अपमान किया है। उस समय उसने विनीत भाव से आदरपूर्वक जड़ भरत की प्रार्थना की। तब उसे जड़ भरत द्वारा प्रयुक्त गूढ़ शब्दों के अर्थ जानने की इच्छा हुई और उसने सच्चे दिल से क्षमा-याचना की। उसने स्वीकार किया कि यदि कोई शुद्ध भक्त के चरणकमल की

उपेक्षा करता है, तो वह भगवान् शिव के त्रिशूल द्वारा दण्डित होता है।

श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबिकावाहपुरुषान्वेषणसमये दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा युवा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह शिबिकां स महानुभावः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी बोले; अथ—इस प्रकार; सिन्धु-सौवीर-पतेः—सिंधु तथा सौवीर राज्यों के शासक के; रहू-गणस्य—रहूगण नामक राजा के; व्रजतः—(कपिल के आश्रम) जाते हुए; इक्षु-मत्याः तटे—इक्षुमती के तट पर; तत्-कुल-पतिना—पालकी ढोने वालों के सरदार द्वारा; शिबिका-वाह—पालकीवाहक बनने के लिए; पुरुष-अन्वेषण-समये—आदमी की खोज करते हुए; दैवेन—भाग्य से; उपसादितः—पास गये हुए; सः—वह; द्विज-वरः—ब्राह्मण पुत्र, जड़ भरत; उपलब्धः—प्राप्त; एषः—यह पुरुष; पीवा—अत्यधिक बलिष्ठ; युवा—तरुण; संहनन-अङ्गः—सुगठित अंगों वाला; गो-खर-वत्—बैल या गधे के समान; धुरम्—भार, बोझा; वोढुम्—ले जाने के लिए; अलम्—समर्थ; इति—इस प्रकार सोचते हुए; पूर्व-विष्टि-गृहीतैः—बलपूर्वक काम कराये जाने वाले, बेगारी में पकड़े गये; सह—साथ; गृहीतः—पकड़ा जाकर; प्रसभम्—बलपूर्वक; अ-तत्-अर्हः—पालकी ढोने के अयोग्य होते हुए भी; उवाह—ढोता था; शिबिकाम्—पालकी; सः—वह; महा-अनुभावः—महापुरुष।

शुकदेव गोस्वामी आगे बोले, हे राजन्, इसके बाद सिंधु तथा सौवीर प्रदेशों का शासक रहूगण कपिलाश्रम जा रहा था। जब राजा के मुख्य कहार (पालकीवाहक) इक्षुमती के तट पर पहुँचे तो उन्हें एक और कहार की आवश्यकता हुई। अतः वे किसी ऐसे व्यक्ति की खोज करने लगे और दैववश उन्हें जड़ भरत मिल गया। उन्होंने सोचा कि यह तरुण और बलिष्ठ है और इसके अंग-प्रत्यंग सुदृढ़ हैं। यह बैलों तथा गधों के तुल्य बोझा ढोने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। ऐसा सोचते हुए यद्यपि महात्मा जड़ भरत ऐसे कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे तो भी कहारों ने बिना झिझक के पालकी ढोने के लिए उन्हें बाध्य कर दिया।

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत किमिति विषममुह्यते यानमिति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; हि—निश्चय ही; द्विज-वरस्य—जड़ भरत का; इषु-मात्र—एक बाण आगे तक (३ फुट); अवलोक-अनुगतेः—देखकर ही चलने से; न समाहिता—मेल न खाता हुआ; पुरुष-गतिः—कहारों की चाल; तदा—उस समय; विषम-गताम्—असन्तुलित होने पर; स्व-शिबिकाम्—अपनी पालकी को; रहूगणः—राजा रहूगण ने; उपधार्य—समझ कर; पुरुषान्—पुरुषों से; अधिवहतः—पालकी ले जाने वाले; आह—कहा; हे—अरे; वोढारः—कहारो; साधु अतिक्रमत—एक बराबर चलो जिससे उछाल न हो; किम् इति—किस कारण; विषमम्—असंतुलित, ऊँची-नीची; उह्यते—ले जाई जा रही है; यानम्—पालकी; इति—इस प्रकार।

किन्तु अपने अहिंसक भाव के कारण जड़ भरत पालकी को ठीक से नहीं ले जा रहे थे।

जैसे ही वे आगे बढ़ते, हर तीन फुट पहले वे यह देखने के लिए रुक जाते कि कहीं कोई चींटी पर पांव तो नहीं पड़ रहा है। फलत: वे अन्य कहारों से ताल-मेल नहीं बैठा पा रहे थे। इसके कारण पालकी हिल रही थी। अत: राजा रहूगण ने तुरन्त कहारों से पूछा, ''तुम लोग इस पालकी को ऊँची-नीची करके क्यों लिए जा रहे हो? अच्छा हो, यदि उसे ठीक से ले चलो।''

तात्पर्य : यद्यपि जड़ भरत को पालकी ढोने के लिए बाध्य किया गया था, किन्तु उनके मन में मार्ग पर चलने वाली चींटियों के प्रति दयाभाव बना हुआ था। ईश्वर का भक्त अत्यन्त कष्टदायक परिस्थितियों में रहने पर भी भक्ति तथा अन्य उपयुक्त कार्यों को नहीं भूलता। यद्यपि जड़ भरत आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े चढ़े योग्य ब्राह्मण थे, किन्तु उनसे पालकी ढोने का कार्य लिया जा रहा था। उन्हें इसकी परवाह नहीं थी। फिर भी मार्ग पर चलते हुए उन्हें अपना यह कर्तव्य नहीं भूला था कि एक भी चींटी नहीं मरनी चाहिए। वैष्णव न तो ईर्ष्या करता है, न ही वृथा उग्र बनता है। मार्ग में अनेक चींटियाँ थीं, किन्तु जड़ भरत तीन फुट पहले ही इनके प्रति सचेत हो जाते। जब चींटियाँ निकल जातीं तभी वे आगे कदम रखते। वैष्णव समस्त जीवों के प्रति अत्यन्त दयालु होता है। भगवान् कपिलदेव *सांख्य योग* में बताते हैं—*सुहृद: सर्वदेहिनाम्।* जीव विभिन्न रूप धारण करते हैं। जो अ-वैष्णव हैं, वे मात्र मनुष्य समाज को अपनी दया के योग्य समझते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण अपने को समस्त प्राणियों का पिता कहते हैं। फलत: वैष्णव किसी भी प्राणी को असमय या वृथा ही विनष्ट नहीं होने देता। समस्त जीवों को विशेष भौतिक देह रूप में बँधकर कुछ अवधि पूरी करनी होती है। उन्हें स्वयं ही अन्य देह धारण करने के पूर्व इस शरीर के लिए निर्दिष्ट अवधि को पूरा करना होता है। इस प्रकार किसी पशु या अन्य जीव का वध उसे उस देह-अवधि को पूरा करने में बाधक बनता है। अत: किसी को भी अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के हेतु प्राणियों का वध नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे वह पापकर्म में फँस जाएगा।

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायतुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयां बभूवुः. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; ते—वे (कहार); ईश्वर-वचः—अपने स्वामी राजा रहूगण के शब्द; स-उपालम्भम्—उलाहनापूर्वक; उपाकर्ण्य—सुनकर; उपाय—साधन; तुरीयात्—चौथे से; शङ्कित-मनसः—सशंकित मन वाले; तम्—उसको (राजा को); विज्ञापयाम् बभूवुः—सूचित किया।

जब कहारों ने महाराजा रहूगण की धमकी सुनी तो वे उसके दण्ड से अत्यन्त भयभीत हो

गये और उनसे इस प्रकार कहने लगे।

तात्पर्य : राजनीति शास्त्र के अनुसार राजा अपने अधीनस्थ लोगों को कभी समझाता है, कभी डराता है, कभी फटकारता है और कभी पुरस्कृत करता है। इस प्रकार वह उन पर शासन करता है। कहार समझ गये कि राजा क्रुद्ध है, अत: वह उन्हें दण्डित करेगा।

न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः. अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमु ह वयं पारयाम इति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम सब; नर-देव—हे मनुष्यों में ईश्वर तुल्य (राजा को देव अर्थात् श्रीभगवान् का प्रतिनिधि माना जाता है); प्रमत्ताः—कार्य के प्रति असावधान; भवत्-नियम-अनुपथाः—सदैव आपके आज्ञाकारी हैं; साधु—ठीक से; एव—निश्चय ही; वहामः—ले जा रहे हैं; अयम्—यह मनुष्य; अधुना—नया; एव—निस्संदेह; नियुक्तः—लगाया गया; अपि—यद्यपि; न—नहीं; द्रुतम्—शीघ्रता से; व्रजति—चलता है, काम करता है; न—नहीं; अनेन—इसके; सह—साथ; वोढुम्—ढोने में; उ ह—ओह; वयम्—हम सभी; पारयामः—समर्थ हैं; इति—इस प्रकार।

हे स्वामी, कृपया ध्यान दें कि हम अपना कार्य करने में तनिक भी असावधान नहीं हैं। हम इस पालकी को आपकी इच्छानुसार निष्ठा से ले जा रहे हैं, किन्तु यह व्यक्ति, जिसे हाल ही में काम में लगाया गया है, तेजी से नहीं चल पा रहा। अत: हम उसके साथ पालकी ले जाने में असमर्थ हैं।

तात्पर्य : पालकी के अन्य वाहक शूद्र थे, जबकि जड़ भरत न केवल उच्चकुलीन ब्राह्मण थे, वरन् परम भक्त भी थे। शूद्रों को किसी अन्य जीव पर दया नहीं आती, किन्तु वैष्णव कभी शूद्र के समान आचरण नहीं करता। अत: जब भी शूद्रों एवं ब्राह्मण वैष्णवों को एकसाथ मिलाया जाता है, तो कर्तव्यपालन में असंतुलन अवश्य आता है। शूद्र धरती पर चल रही चींटियों की परवाह किये बिना पालकी ले जा रहे थे, जब कि जड़ भरत शूद्रों के समान व्यवहार नहीं कर सकते थे; इसीलिए यह कठिनाई उत्पन्न हुई।

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसावृतमतिराह. ॥ ॥

शब्दार्थ

सांसर्गिकः—संसर्ग से उत्पन्न; दोषः—अवगुण, त्रुटि; एव—निस्संदेह; नूनम्—निश्चय ही; एकस्य—एक व्यक्ति का; अपि—यद्यपि; सर्वेषाम्—अन्य सभी; सांसर्गिकाणाम्—उसके संसर्ग में आने वाले व्यक्तियों का; भवितुम्—होना; अर्हति—सम्भव है; इति—इस प्रकार; निश्चित्य—निश्चय करके; निशम्य—सुनकर; कृपण-वचः—दण्ड-भय से भयभीत दीन सेवकों के वचन; राजा—राजा; रहूगणः—रहूगण ने; उपासित-वृद्धः—अनेक महापुरुषों का उपेदश सुना तथा उनकी सेवा किया हुआ; अपि—तो भी; निसर्गेण—अपने स्वभाव से, जो क्षत्रिय का था; बलात्—बलपूर्वक; कृतः—किया हुआ; ईषत्—कुछ-कुछ; उत्थित—जागृत; मन्युः—क्रोध; अविस्पष्ट—ठीक से दृष्टिगोचर न होने वाला, अस्पष्ट; ब्रह्म-तेजसम्—उस (जड़ भरत) का ब्रह्म तेज; जात-वेदसम्—वैदिक अनुष्ठानों में भस्म से ढकी हुई अग्नि; इव—के समान; रजसा आवृत—रजोगुण से ढकी हुई; मतिः—जिसकी बुद्धि; आह—कहा।.

राजा रहूगण दण्ड से भयभीत कहारों के वचन का अभिप्राय समझ रहा था। उसकी समझ में यह भी आ गया कि मात्र एक व्यक्ति के दोष के कारण पालकी ठीक से नहीं चल रही। यह सब अच्छी प्रकार जानते हुए तथा उनकी विनती सुनकर वह कुछ-कुछ क्रुद्ध हुआ, यद्यपि वह राजनीति में निपुण एवं अत्यन्त अनुभवी था। उसका यह क्रोध राजा के जन्मजात स्वभाव से उत्पन्न हुआ था। वस्तुतः राजा रहूगण का मन रजोगुण से आवृत था, अतः वह जड़ भरत से, जिनका ब्रह्मतेज राख से ढकी अग्नि के समान सुस्पष्ट नहीं था, इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : इस श्लोक में रजोगुण तथा सत्त्वगुण का अन्तर बताया गया है। यद्यपि राजा राजनीति और राज्य संचालन में निपुण था, तो भी रजोगुणी होने के कारण थोड़ा विचलित होने पर क्रुद्ध हो गया। अपने गूँगे तथा बहरे बनावे के कारण हो रहा अन्याय जड़ भरत को सहना पड़ा था, तो भी वे अपने आत्मज्ञान के कारण शान्त बने रहे। इतने पर भी उनका ब्रह्मतेज उनके शरीर से अस्पष्ट रूप से झलक रहा था।

अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरुपरिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान्सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान्सखे नो एवापर एते सङ्घट्टिन इति बहुविप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहं ममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; कष्टम्—कितना कष्टप्रद है यह; भ्रातः—मेरे भाई; व्यक्तम्—स्पष्ट; उरु—अत्यन्त; परिश्रान्तः—थके हुए; दीर्घम्—लम्बा; अध्वानम्—मार्ग; एकः—अकेले; एव—ही; ऊहिवान्—ढोते हुए; सु-चिरम्—दीर्घ काल तक; न—नहीं; अति-पीवा—अत्यन्त हट्टा कट्टा; न—नहीं; संहनन-अङ्गः—सुगठित शरीर; जरसा—बुढ़ापे से; च—भी; उपद्रुतः—विचलित, दबाया हुया; भवान्—आप; सखे—मेरे मित्र; नो एव—निश्चय ही नहीं; अपरे—दूसरे; एते—ये सब; सङ्घट्टिनः—सह-कर्मी; इति—इस प्रकार; बहु—अत्यधिक; विप्रलब्धः—ताना मारे जाने पर; अपि—यद्यपि; अविद्यया—अज्ञान से; रचित—रचा हुआ; द्रव्य-गुण-कर्म-आशय—भौतिक तत्त्वों, गुणों तथा कर्मफल एवं आकांक्षाओं के मिश्रण में; स्व-चरम-कलेवरे—शरीर में, जो सूक्ष्म तत्त्वों (मन, बुद्धि तथा अहं) से चालित है; अवस्तुनि—ऐसी भौतिक वस्तुओं में; संस्थान-विशेषे—विशेष मनोवृत्ति वाला; अहम् मम—मैं तथा मेरा; इति—इस प्रकार; अनध्यारोपित—ऊपर से थोपा नहीं; मिथ्या—झूठा; प्रत्ययः—विश्वास;

ब्रह्म-भूतः—स्वरूप-सिद्ध, ब्रह्म पद को प्राप्त; तूष्णीम्—चुप रहकर; शिबिकाम्—पालकी; पूर्व-वत्—पहले की तरह; उवाह—ले गया।

राजा रहूगण ने जड़ भरत से कहा : मेरे भाई, यह कितना कष्टप्रद है! तुम निश्चित ही अत्यन्त थके लग रहे हो, क्योंकि तुम बहुत समय से और लम्बी दूरी से किसी की सहायता के बिना अकेले ही पालकी ला रहे हो। इसके अतिरिक्त, बुढ़ापे के कारण तुम अत्यधिक परेशान हो। हे मित्र, मैं देख रहा हूँ कि तुम न तो मोटे-ताजे हो, न ही हट्टे-कट्टे हो। क्या तुम्हारे साथ के कहार तुम्हें सहयोग नहीं दे रहे?

इस प्रकार राजा ने जड़ भरत को ताना मारा, किन्तु इतने पर भी जड़ भरत को शरीर की सुधि नहीं थी। उसे ज्ञान था कि वह शरीर नहीं है, क्योंकि वह स्वरूपसिद्ध हो चुका था। वह न तो मोटा था, न पतला, न ही उसे पंच स्थूल भूतों तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों के इस स्थूल पदार्थ से कुछ लेना-देना था। उसे भौतिक शरीर तथा इसके दो हाथों तथा दो पैरों से कोई सरोकार न था। दूसरे शब्दों में, कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वह 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् ब्रह्म रूप को प्राप्त हो चुका था। अतः राजा की व्यंग्य पूर्ण आलोचना का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह बिना कुछ कहे पूर्ववत् पालकी को उठाये चलता रहा।

तात्पर्य : जड़ भरत पूर्णतया मुक्त थे। जब डाकुओं ने उनके शरीर की बलि देनी चाही थी तब भी उन्हें कोई परवाह नहीं थी, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि वे शरीर नहीं हैं। यदि उनका शरीर नष्ट भी कर दिया जाता तो भी वे परवाह नहीं करते, क्योंकि उन्हें *भगवद्गीता* की इस उक्ति (२.२०)—*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—पर पूर्ण विश्वास था। उन्हें पता था कि शरीर के मारे जाने पर भी उन्हें नहीं मारा जा सकता। यद्यपि उन्होंने कोई प्रतिवाद नहीं किया, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने भक्त के प्रति डाकुओं के इस अन्याय को नहीं सहन कर सके, अतः डाकू मारे गये और श्रीकृष्ण के अनुग्रह से वे बच गये। इस घटना में पालकी ढोते समय भी उन्हें पता था कि वे शरीर नहीं हैं। उनका शरीर पालकी ले जाने में पूर्ण सक्षम था, क्योंकि वह हृष्ट-पुष्ट तथा सुगठित था। देहात्म-बोध से मुक्त होने के कारण राजा के व्यंग्य एक विशेष प्रकार के वचनों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। शरीर की उत्पत्ति कर्म के अनुसार होती है और प्रकृति एक विशेष प्रकार के शरीर के विकास के लिए सारी सामग्री जुटाती है। शरीर के भीतर का आत्मा शरीर की रचना से पृथक् है, अतः शरीर के प्रति किया गया कोई

उपकार या अपकार आत्मा को प्रभावित नहीं करता। वैदिक आदेश है—*असंगो ह्ययं पुरुष:*—आत्मा कभी भी भौतिक विधानों से प्रभावित नहीं होता।

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; पुनः—फिर से; स्व-शिबिकायाम्—अपनी पालकी में; विषम-गतायाम्—जड़ भरत के ठीक से न चलने के कारण ऊँची-नीची होने से; प्रकुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; उवाच—कहा; रहूगणः—राजा रहूगण ने; किम् इदम्—यह क्या हो रहा है; अरे—हे मूर्ख; त्वम्—तुम (तू); जीवत्—जिन्दा; मृतः—मरा हुआ; माम्—मुझको; कत्-अर्थी-कृत्य—उपेक्षा करके; भर्तृ-शासनम्—स्वामी का निरादर; अतिचरसि—उल्लंघन कर रहे हो; प्रमत्तस्य—पागल का; च—भी; ते—तुम; करोमि—करूँगा; चिकित्साम्—समुचित उपचार; दण्ड-पाणिः इव—यमराज के समान; जनतायाः—सामान्य लोगों की; यथा—जिससे; प्रकृतिम्—स्वाभाविक स्थिति; स्वाम्—स्वतः; भजिष्यसे—ग्रहण करोगे; इति—इस प्रकार।

तत्पश्चात्, जब राजा ने देखा कि उसकी पालकी अब भी पूर्ववत् हिल रही थी, तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और कहने लगा—अरे दुष्ट ! तू क्या कर रहा है? क्या तू जीवित ही मर गया है? क्या तू नहीं जानता कि मैं तेरा स्वामी हूँ? तू मेरा अनादर कर रहा है और मेरी आज्ञा का उल्लंघन भी। इस अवज्ञा के लिए मैं अब तुझे मृत्यु के अधीक्षक यमराज के ही समान दण्ड दूँगा। मैं तेरा सही उपचार किये देता हूँ, जिससे तू होश में आ जाएगा और ठीक से काम करेगा।

एवं बह्वबद्धमपि भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान्ब्राह्मणो ब्रह्मभूतसर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बहु—अधिक; अबद्धम्—अनाप-शनाप; अपि—यद्यपि; भाषमाणम्—बोलता हुआ; नर-देव-अभिमानम्—राजा रहूगण, जो अपने को शासक मानता था; रजसा—रजोगुण से; तमसा—तथा तमोगुण से; अनुविद्धेन—बढ़ते हुए; मदेन—दम्भ (पागलपन) से; तिरस्कृत—डाँटा जाकर; अशेष—असंख्य; भगवत्-प्रिय-निकेतम्—ईश्वर के भक्त; पण्डित-मानिनम्—अपने को अत्यन्त पंडित मानते हुए; सः—वह; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान (जड़ भरत); ब्राह्मणः—परम योग्य ब्राह्मण; ब्रह्म-भूत—स्वरूपसिद्ध; सर्व-भूत-सुहृत्-आत्मा—जो समस्त प्राणियों का मित्र है; योग-ईश्वर—सिद्ध योगियों के; चर्यायाम्—आचरण में; न अति-व्युत्पन्न-मतिम्—राजा रहूगण को, जो वस्तुतः अनुभवी न था; स्मयमानः—कुछ-कुछ मुस्काते हुए; इव—सदृश; विगत-स्मयः—समस्त मिथ्या अभिमान से रहित; इदम्—यह; आह—कहा।

राजा रहूगण अपने को राजा समझने के कारण देहात्मबुद्धि से ग्रस्त था और भौतिक प्रकृति के रजो तथा तमो गुणों से प्रभावित था। दम्भ के कारण उसने जड़ भरत को अशोभनीय वचनों से दुत्कारा। जड़ भरत महान् भक्त और श्रीभगवान् के प्रिय धाम थे। यद्यपि राजा अपने आपको

बड़ा विद्वान मानता था, किन्तु वह न तो महान् भक्त की स्थिति से और न उसके गुणों से परिचित था। जड़ भरत तो साक्षात् भगवान् के परम धाम थे और अपने हृदय में ईश्वर के स्वरूप को धारण करते थे। वे समस्त प्राणियों के प्रिय मित्र थे और किसी प्रकार की देहात्म-बुद्धि को नहीं मानते थे। अतः वे मुस्काये और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : इस श्लोक में देहात्मबुद्धिमय तथा देहात्मबुद्धि से परे (दिव्य) व्यक्ति का अन्तर बताया गया है। देहात्मबुद्धि के कारण राजा रहूगण अपने को राजा मानता था और अनेक अवांछनीय शब्दों में जड़ भरत को फटकार रहा था। किन्तु जड़ भरत दिव्य पद प्राप्त होने के कारण तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए, बल्कि वे मुस्कराये और राजा रहूगण को उपदेश देने लगे। परम वैष्णव सभी प्राणियों का सखा होता है, अतः वह अपने शत्रुओं का भी मित्र रहता है। वास्तव में वह किसी को शत्रु नहीं समझता—*सुहृदः सर्वदेहिनाम्।* कभी-कभी वैष्णव ऊपर से अभक्त पर रोष प्रकट करता है, किन्तु यह अभक्त के लिए लाभप्रद होता है। वैदिक साहित्य ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। एक बार नारद कुबेर के दो पुत्रों नलकूवर तथा मणिग्रीव पर क्रुद्ध हो गये तो उन्हें वृक्ष बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद में श्रीकृष्ण ने उनका उद्धार किया। भक्त तो परम पद पर आसीन रहता है, अतः चाहे वह प्रसन्न हो या क्रुद्ध इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि प्रत्येक दशा में वह अपना आशीर्वाद देता है।

ब्राह्मण उवाच
त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—योग्य ब्राह्मण (जड़ भरत) बोला; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितम्—कहा गया; व्यक्तम्—अत्यन्त स्पष्ट; अविप्रलब्धम्—विरोधाभास रहित; भर्तुः—ढोने वाले का, शरीर; सः—वह; मे—मेरा; स्यात्—ऐसा होता; यदि—यदि; वीर—हे वीर पुरुष (महाराज रहूगण); भारः—भार, बोझा; गन्तुः—चलने वाले का, अथवा शरीर; यदि—अगर; स्यात्—होना था; अधिगम्यम्—लक्ष्य; अध्वा—पथ; पीवा—अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट; इति—इस प्रकार; राशौ—शरीर में; न—नहीं; विदाम्—स्वरूपसिद्ध पुरुषों का; प्रवादः—वाद-विवाद का विषय।

महान् ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा—हे राजन् तथा वीर, आपने जो कुछ व्यंग्य में कहा है, वह सचमुच ठीक है। ये मात्र उलाहनापूर्ण शब्द नहीं हैं, क्योंकि शरीर तो वाहक (ढोने वाला) है। शरीर द्वारा ढोया जाने वाला भार मेरा नहीं है, क्योंकि मैं तो आत्मा हूँ। आपके कथनों में तनिक

भी विरोधाभास नहीं है, क्योंकि मैं शरीर से भिन्न हूँ। मैं पालकी का ढोने वाला नहीं हूँ, वह तो शरीर है। निस्सन्देह, जैसा आपने संकेत किया है, पालकी ढोने में मैंने कोई श्रम नहीं किया है, क्योंकि मैं तो शरीर से पृथक् हूँ। आपने कहा कि मैं हृष्ट-पुष्ट नहीं हूँ। ये शब्द उस व्यक्ति के सर्वथा अनुरूप हैं, जो शरीर तथा आत्मा का अन्तर नहीं जानता। शरीर मोटा या दुबला हो सकता है, किन्तु कोई भी बुद्धिमान यह बात आत्मा के लिए नहीं कहेगा। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है मैं न तो मोटा हूँ न दुबला। अतः जब आप कहते हैं कि मैं हृष्ट-पुष्ट नहीं हूँ तो आप सही हैं और यदि इस यात्रा का बोझ तथा वहाँ तक जाने का मार्ग मेरे अपने होते तो मेरे लिए अनेक कठिनाइयाँ होतीं, किन्तु इनका सम्बन्ध मुझसे नहीं मेरे शरीर से है, अतः मुझे कोई कष्ट नहीं है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि आत्मज्ञानी कभी शरीर के सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता। यह भौतिक शरीर आत्मा से सर्वथा पृथक् है और शरीर के सुख तथा दुख व्यर्थ हैं। तप-साधना का उद्देश्य शरीर तथा आत्मा के अन्तर एवं शरीर के सुख-दुख से आत्मा जिस तरह अप्रभावित रहता है, उसे पहचानना तथा समझना है। जड़ भरत वास्तव में आत्म-साक्षात्कार के धरातल पर स्थित थे। वे देहात्मबुद्धि से सर्वथा परे थे, अत: उन्होंने राजा को विश्वास दिलाया कि उनके शरीर के सम्बन्ध में कही गईं उसकी विरोधी बातें आत्मस्वरूप उन पर लागू नहीं होती हैं।

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च
क्षुत्तृड्भयं कलिरिच्छा जरा च ।
निद्रा रतिर्मन्युरहं मदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स्थौल्यम्—स्थूलता, मोटापा; कार्श्यम्—कृशता, दुबलापन; व्याधयः—शरीर के कष्ट यथा रोग; आधयः—मानसिक कष्ट; च—तथा; क्षुत् तृट् भयम्—भूख, प्यास तथा भय; कलिः—कलह, दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा; इच्छा—कामनाएँ; जरा—वृद्धावस्था; च—तथा; निद्रा—नींद; रतिः—इन्द्रियतृप्ति के लिए आसक्ति; मन्युः—क्रोध; अहम्—झूठी पहचान (देहात्म बोध); मदः—मोह; शुचः—शोक; देहेन—इस शरीर से; जातस्य—उत्पन्न हुए का; हि—निश्चय ही; मे—मुझमें; न—नहीं; सन्ति—हैं।

मोटापा, दुबलापन शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, भूख, प्यास, भय, कलह, भौतिक सुख की कामना, बुढ़ापा, निद्रा, भौतिक पदार्थों में आसक्ति, क्रोध, शोक, मोह तथा देहाभिमान—ये सभी आत्मा के भौतिक आवरण के रूपान्तर हैं। जो व्यक्ति देहात्मबुद्धि में लीन रहता है, वही

इनसे प्रभावित होता है, किन्तु मैं तो समस्त प्रकार की देहात्मबुद्धि से मुक्त हूँ। फलतः मैं न तो मोटा हूँ, न पतला, न ही वह सब जो आपने मेरे सम्बन्ध में कहा है।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है—*देह-स्मृति नाहि यार, संसार-बन्धन काहाँ तार।* जो आध्यात्मिक रूप से उन्नत है उसका इस शरीर से या शरीर के कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जब मनुष्य यह समझ जाता है कि वह शरीर नहीं है, अतः वह न तो मोटा है, न पतला तो उसे उच्च स्तर का आत्म-साक्षात्कार होता है। किन्तु जब वह स्वरूपसिद्ध नहीं होता तो देहात्मबुद्धि उसे संसार में उलझा देती है। इस समय समूचा मानव समाज देहात्मबुद्धि के अधीन कार्यशील है, अतः शास्त्रों में इस युग के व्यक्तियों को *द्विपद पशु* कहा गया है। जो सभ्यता ऐसे पशुओं द्वारा संचालित हो उसमें भला कोई कैसे सुखी रह सकता है? हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन पतित समाज को आत्मज्ञान के धरातल तक उठाने के लिए प्रयत्नशील है। प्रत्येक प्राणी के लिए जड़ भरत की ही तरह तुरन्त स्वरूपसिद्ध हो सकना सम्भव नहीं है। फिर भी *श्रीमद्भागवत* (१.२.१८) में :

नष्टप्रायेष्वऽभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥

जितना ही हम देहात्मबुद्धि से दूर रहेंगे उतना ही हम भक्ति में स्थिर होंगे और उतना ही अधिक शान्त एवं सुखी हो सकेंगे। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है कि जो भौतिकता से जितना अधिक प्रभावित होते हैं उनमें उतनी ही अधिक देहात्मबुद्धि होती है। ऐसे व्यक्ति विभिन्न शारीरिक लक्षणों के प्रति चिन्तित रहते हैं, किन्तु जो इनसे मुक्त होता है, वह भौतिकता में भी शरीर के बिना जीवित रहता है।

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्
आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम् ।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

जीवत्-मृतत्वम्—जीवित रहकर भी मृत होने का गुण; नियमेन—प्रकृति के नियमों द्वारा; राजन्—हे राजा; आदि-अन्त-वत्—प्रत्येक पदार्थ का आदि और अन्त होता है; यत्—क्योंकि; विकृतस्य—विकारी वस्तु का, यथा शरीर का; दृष्टम्—देखी जाती है; स्व-स्वाम्य-भावः—सेवक तथा स्वामी का भाव; ध्रुवः—अपरिवर्तनीय, स्थिर; ईड्य—हे पूज्य; यत्र—जहाँ; तर्हि—तभी; उच्यते—यह कहा जाता है; असौ—वह; विधि-कृत्य-योगः—आज्ञा तथा कर्तव्य का संयोग।

हे राजन्, आपने वृथा ही मुझ पर जीवित होने पर भी मृततुल्य होने का आरोप लगाया है। इस भौतिक सम्बन्ध में मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि ऐसा सर्वत्र है, क्योंकि प्रत्येक भौतिक वस्तु का अपना आदि तथा अन्त होता है। आपका यह सोचना कि, ''मैं राजा तथा स्वामी हूँ'' और इस प्रकार आप द्वारा मुझे आज्ञा दिया जाना भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि ये पद अस्थायी हैं। आज आप राजा हैं और मैं आपका दास हूँ, किन्तु कल स्थिति बदल सकती है और आप मेरे दास हो सकते हैं, मैं आपका स्वामी। ये नियति द्वारा उत्पन्न अस्थायी परिस्थितियाँ हैं।

तात्पर्य : इस संसार में देहात्मबुद्धि ही सारे कष्टों का मूल कारण है। विशेष रूप से कलियुग में लोग इतने अशिक्षित हैं कि उनकी समझ में यह भी नहीं आता कि यह शरीर प्रत्येक क्षण बदल रहा है और अनन्तिम परिवर्तन ही मृत्यु कहलाता है। जो इस जन्म में राजा है, वही कर्मवश अगले जीवन में कुत्ता बन सकता है। आत्मा तो प्रकृति की शक्ति से उत्पन्न गहरी निद्रा में मग्न रहता है। वह एक प्रकार की अवस्था से दूसरे प्रकार की अवस्था में रख दिया जाता है। बिना आत्म-साक्षात्कार तथा ज्ञान के, बद्ध जीवन चलता रहता है और मनुष्य अपने को झूठे ही राजा, दास, कुत्ता या बिल्ली कहलाने का दावा करता है। ये परम व्यवस्था द्वारा लाये जाने वाले विभिन्न रूपान्तर हैं। मनुष्य को इन अस्थायी देहात्मबुद्धि की कल्पनाओं से भ्रमित नहीं होना चाहिए। वस्तुत: इस संसार में कोई भी स्वामी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी प्रकृति के नियंत्रण में है और स्वयं प्रकृति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अधीन हैं। अत: भगवान् श्रीकृष्ण ही परम स्वामी हैं। जैसाकि *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—एकमात्र स्वामी तो श्रीकृष्ण हैं तथा अन्य सब उनके दास हैं। परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूलने के कारण ही संसार के सारे कष्ट उत्पन्न होते हैं।

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक्च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत् ।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं
तथापि राजन्करवाम किं ते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

विशेष-बुद्धेः—स्वामी तथा सेवक के भेद की बुद्धि का; **विवरम्**—क्षेत्र, प्रसार; **मनाक्**—किंचित; **च**—भी; **पश्यामः**—मैं देखता हूँ; **यत्**—जो; **न**—नहीं; **व्यवहारतः**—व्यवहार के सिवा; **अन्यत्**—अन्य; **कः**—कौन; **ईश्वरः**—स्वामी; **तत्र**—इसमें;

किम्—कौन; ईशितव्यम्—वश में किया जाये; तथापि—तो भी; राजन्—हे राजा; करवाम—मैं करूँ; किम्—क्या; ते—तुम्हारे लिए।

हे राजन्, यदि आप अब भी यह सोचते हैं कि आप राजा हैं और मैं आपका दास, तो आप आज्ञा दें और मुझे आपकी आज्ञा का पालन करना होगा। तो मैं यह कह सकता हूँ कि यह अन्तर क्षणिक है और व्यवहार या परम्परावश प्राप्त होता है। मुझे इसका अन्य कारण नहीं दिखाई पड़ता। उस दशा में कौन स्वामी है और कौन दास? प्रत्येक प्राणी प्रकृति के नियमों द्वारा प्रेरित होता है। अतः न तो कोई स्वामी है, न कोई दास। इतने पर भी यदि आप सोचते हैं कि मैं आपका दास हूँ और आप मेरे स्वामी हैं, तो मैं इसे स्वीकार कर लूँगा। कृपया आज्ञा दें। मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*अहं मामेति*—"मैं यह शरीर हूँ और इस शारीरिक सम्बन्ध से ही वह मेरा स्वामी है, मेरा दास है, मेरी पत्नी है या मेरा पुत्र है।" ये सारे भाव शरीर के अनिवार्य परिवर्तन तथा प्रकृति की व्यवस्था के कारण अस्थिर हैं। हम समुद्र की तरंगों में तिरने वाले तिनकों के समान एकत्र हुए हैं, किन्तु सारे तिनके लहरों के नियमों के द्वारा अवश्य एक दूसरे से पृथक् होंगे। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति संसार-सागर की लहरों में उतरा रहा है। भक्ति विनोद ठाकुर ने ठीक ही कहा है—

(मिछे) मायार वशे, याच्छ भेसे'।

खाच्छा हाबुडुबु, भाइ॥

(जीव) कृष्ण-दास, ए विश्वास, ।

कर्ले त'आर दुःख नाइ॥

"सभी स्त्री तथा पुरुष प्रकृति की तरंगों में तिनकों के समान तैर रहे हैं। यदि वे समझ लें कि वे श्रीकृष्ण के शाश्वत सेवक हैं, तो उनका तैरना बन्द हो जाये।" जैसाकि *भगवद्गीता* (३.३७) में कहा गया है—*काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।* रजोगुण के कारण हमें अनेक वस्तुओं की इच्छा होती है और हमारी इच्छा या चिन्ता तथा परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार प्रकृति कोई एक शरीर प्रदान करती है। कुछ काल तक हम पात्रों की भाँति रंगमंच में किसी अन्य के नियंत्रण में स्वामी या सेवक की तरह कार्य (अभिनय) करते हैं। हमें चाहिए कि मनुष्य के रूप में इस प्रकार का अभिनय करना बन्द कर

दें। हमें चाहिए कि हम अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति, कृष्णभावनामृत को प्राप्त करें। इस समय हमारा वास्तविक स्वामी तो प्रकृति है। *दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया* (*भगवद्गीता* ७.१४)। प्रकृति के सम्मोहन से हम सेवक तथा स्वामी बन रहे हैं, किन्तु यदि हम श्रीभगवान् तथा उनके शाश्वत सेवकों द्वारा अनुशासित होना स्वीकार कर लें तो यह क्षणिक अवस्था समाप्त हो जाये।

उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन ।
अर्थः कियान्भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

उन्मत्त—पागलपन; मत्त—शराबी; जड-वत्—जड़ की भाँति; स्व-संस्थाम्—मेरी मूल स्वाभाविक स्थिति; गतस्य—प्राप्त किया हुआ; मे—मुझको; वीर—हे राजा; चिकित्सितेन—अपनी भर्त्सना से; अर्थः—प्रयोजन; कियान्—कौन सा; भवता—आपके द्वारा; शिक्षितेन—शिक्षा दिये गए; स्तब्ध—जड़; प्रमत्तस्य—पागल मनुष्य का; च—भी; पिष्ट-पेषः—आटा पीसने जैसा।

हे राजन्, आपने कहा "रे दुष्ट, जड़ तथा पागल! मैं तुम्हारी चिकित्सा करने जा रहा हूँ और तब तुम होश में आ जाओगे।" इस सम्बन्ध में मुझे कहना है कि यद्यपि मैं जड़, गूँगे तथा बहरे मनुष्य की भाँति रहता हूँ, किन्तु मैं सचमुच एक स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति हूँ। आप मुझे दण्डित करके क्या पाएँगे? यदि आपका अनुमान ठीक है और मैं पागल हूँ तो आपका यह दंड एक मरे हुए घोड़े को पीटने जैसा होगा। उससे कोई लाभ नहीं होगा। जब पागल को दंडित किया जाता है, तो उसका पागलपन ठीक नहीं होता है।

तात्पर्य : इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति भौतिक अवस्था में अर्जित झूठे विशेष प्रभावों के अन्तर्गत पागल के समान आचरण करता है। उदाहरणार्थ, चोर यह जानता है कि चोरी अच्छा काम नहीं है और यह कि इसके बाद राजा या ईश्वर से दण्ड मिलता है तथा चोर पकड़े जाते हैं और पुलिस उन्हें दण्ड देती है, तो भी वह बारम्बार चोरी करता है। उसके मन में यह विचार घर किये रहता है कि चोरी करने से वह सुखी हो जाएगा। यह तो पागलपन का लक्षण है। बारम्बार दण्डित होकर भी चोर अपनी चोरी करने की आदत नहीं छोड़ पाता, अतः दण्ड वृथा है।

श्रीशुक उवाच

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर उपशमशील उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन कर्मारब्धं व्यपनयन्राजयानमपि तथोवाह. ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी आगे बोले; एतावत्—इतना; अनुवाद-परिभाषया—राजा द्वारा कहे गये शब्दों के दोहराने से; प्रत्युदीर्य—एक के बाद एक उत्तर देते हुए; मुनि-वरः—मुनिश्रेष्ठ जड़ भरत; उपशम-शीलः—परम शान्त; उपरत—चुप हो गये; अनात्म्य—आत्मा से सम्बन्ध न रखने वाली वस्तुएँ; निमित्तः—जिसका कारण (अज्ञान) जो आत्मा से सम्बन्धित नहीं है उससे अपनी पहचान स्थापित करना; उपभोगेन—कर्मफल को अंगीकार करने से; कर्म-आरब्धम्—इस समय मिलने वाला कर्मफल; व्यपनयन्—पूरा करते हुए; राज-यानम्—राजा की पालकी; अपि—पुनः; तथा—पूर्ववत्; उवाह—लेकर चलने लगे।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे महाराज परीक्षित, जब राजा रहूगण ने परम भक्त जड़ भरत को अपने कटु वचनों से मर्माहत किया, तो उस शान्त मुनिवर ने सब कुछ सहन कर लिया और समुचित उत्तर दिया। अज्ञानता का कारण देहात्मबुद्धि है, किन्तु जड़ भरत उससे प्रभावित नहीं थे। अपनी स्वाभाविक विनम्रता के कारण उन्होंने अपने को कभी भी महान् भक्त नहीं माना और अपने पूर्व कर्मफल को भोगना स्वीकार किया। सामान्य मनुष्य की भाँति उन्होंने सोचा कि वे पालकी ढोकर अपने पूर्व अपकृत्यों के फल को विनष्ट कर रहे हैं। ऐसा सोचकर वे पूर्ववत् पालकी लेकर चलने लगे।

तात्पर्य : ईश्वर का उच्च भक्त कभी यह नहीं सोचता कि वह परमहंस अथवा मुक्त पुरुष है। वह तो सदैव ईश्वर का विनीत दास बना रहता है। विपरीत परिस्थितियों में भी वह अपने पूर्वजन्म के कर्म-फलों को भोगना स्वीकार करता है। वह ईश्वर पर कभी दोषारोपण नहीं करता है कि उनके कारण उसे कष्ट उठाने पड़ रहे हैं। ये परम भक्त के लक्षण हैं—*तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणः।* जब परिस्थितियाँ पलट जाती हैं, तो भक्त यही सोचता है कि पलटी हुई ये परिस्थितियां तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त रियायतें हैं। वह कभी अपने स्वामी पर क्रुद्ध नहीं होता और उसका स्वामी उसे जो भी स्थिति प्रदान करता है उससे वह सदैव सन्तुष्ट रहता है। प्रत्येक दशा में वह अपनी भक्ति चालू रखता है। ऐसे पुरुष को निश्चित रूप से परम धाम लौटने की स्थिति प्राप्त होती है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते

जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

“हे ईश्वर! जो आपकी अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रतीक्षा करता है और आपको हृदय से सादर नमस्कार करता हुआ पूर्व-दुष्कर्मों के फलों को भोगता रहता है, वह अवश्य ही मुक्ति का भागी है क्योंकि यह उसका अधिकार बन जाता है।”

स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्श्रद्धयाधिकृताधिकारस्तद्धृदयग्रन्थिमोचनं द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः क्षमापयन्विगतनृपदेवस्मय उवाच. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (महाराज रहूगण); च—भी; अपि—निस्संदेह; पाण्डवेय—हे पांडुवंश के श्रेष्ठ (महाराज परीक्षित); सिन्धु-सौवीर-पतिः—सिंधु तथा सौवीर नामक राज्यों का राजा; तत्त्व-जिज्ञासायाम्—परम सत्य के सम्बन्ध में जानने की इच्छा के बारे में; सम्यक्-श्रद्धया—इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण नियंत्रण रखने वाली श्रद्धा से; अधिकृत-अधिकारः—समुचित योग्यताप्राप्त; तत्—उस; हृदय-ग्रन्थि—हृदय के भीतर झूठे विचारों की गाँठ; मोचनम्—खोलने वाले; द्विज-वचः—ब्राह्मण (जड़ भरत) के शब्द; आश्रुत्य—सुनकर; बहु-योग-ग्रन्थ-सम्मतम्—समस्त योग तथा उनके ग्रन्थों द्वारा सम्मत (समर्थित); त्वरया—शीघ्रतापूर्वक; अवरुह्य—उतर कर (पालकी से); शिरसा—अपने सिर से; पाद-मूलम्—चरणकमल पर; उपसृतः—दण्डप्रणाम करके; क्षमापयन्—अपने अपराध के लिए क्षमा प्राप्त करके; विगत-नृप-देव-स्मयः—राजा होने का झूठा अभिमान तथा पूज्यभाव त्याग कर; उवाच—कहा।.

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे श्रेष्ठ पाण्डुवंशी (महाराज परीक्षित), सिंधु तथा सौवीर के राजा (रहूगण) की परम सत्य की चर्चाओं में श्रद्धा थी। इस प्रकार सुयोग्य होने के कारण, उसने जड़ भरत से वह दार्शनिक उपदेश सुना जिसकी संस्तुति सभी योग साधना के ग्रन्थ करते हैं और जिससे हृदय में पड़ी गाँठ ढीली पड़ती है। इस प्रकार उसका राज-मद नष्ट हो गया। वह तुरन्त पालकी से नीचे उतर आया और जड़ भरत के चरण-कमलों में अपना सिर रखकर पृथ्वी पर दण्डवत् गिर गया जिससे वह इस ब्राह्मण-श्रेष्ठ को कहे गये अपमानपूर्ण शब्दों के लिए क्षमा प्राप्त कर सके। तब उसने इस प्रकार प्रार्थना की।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.२) में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

“इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसे इसी विधि से जाना। किन्तु कालक्रम से वह परम्परा टूट गई जिससे यह विज्ञान लुप्तप्राय हो गया प्रतीत होता है।”

गुरु-परम्परा से राजा भी ऋषियों के तुल्य थे। पूर्वकाल में राजर्षि जीवन-दर्शन समझते थे और नागरिकों को उसी स्तर तक ऊपर उठने की शिक्षा प्रदान करना जानते थे। अर्थात् वे नागरिकों को जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से छुटकारा दिलाना जानते थे। जब महाराज दशरथ अयोध्या में राज कर रहे थे तो एक बार महर्षि विश्वामित्र असुरों के वध के लिए उनसे रामचन्द्र तथा लक्ष्मण को जंगल ले जाने के लिए माँगने आये। जब विश्वामित्र मुनि महाराज दशरथ के दरबार में आये तो उनका स्वागत करने के लिए उन्होंने उनसे पूछा—*ऐहिष्टं यत् तत् पुनर्जन्मजयाय*—अर्थात् जन्म तथा मृत्यु के चक्र को जीतने के उनके प्रयत्न ठीक से चल रहे हैं न? वैदिक सभ्यता की सम्पूर्ण प्रक्रिया इसी तथ्य पर आधारित है। हमें ज्ञात होना चाहिए कि जन्म-मृत्यु के चक्र को किस प्रकार जीता जा सकता है। महाराज रहूगण को भी जीवन का लक्ष्य ज्ञात था, अत: जब जड़ भरत ने उनके समक्ष जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया, तो उन्होंने इसकी तत्काल प्रशंसा की। वैदिक समाज की यही आधार-शिला है। विद्वान, ब्राह्मण, सन्त तथा ऋषि वैदिक प्रयोजन से परिचित थे, अत: वे राजाओं को आम जनसमूह के कल्याण के लिए उपदेश देते थे। इस प्रकार उनके सहयोग से जनसमूह को लाभ पहुँचता था। इसलिए प्रत्येक वस्तु में सफलता प्राप्त होती थी। महाराज रहूगण को मनुष्य जीवन की महत्ता पूर्णरूपेण ज्ञात थी, अत: उन्हें अपने द्वारा जड़ भरत को कहे गये अपशब्दों का खेद था। वे तुरन्त पालकी से उतर कर जड़ भरत के पाँवों पर गिर पड़े, क्षमा माँगी और जीवन के महत्त्व के विषय में, जिसे ब्रह्म-जिज्ञासा कहते हैं, अधिक जानने की प्रार्थना की। इस समय के उच्च राज्याधिकारी जीवन-मूल्यों के विषय में सर्वथा अनजान हैं, अत: जब साधु-सन्त लोग वैदिक ज्ञान का प्रसार करना चाहते हैं, तो वे उनको नमस्कार तक नहीं करते हैं और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार में अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन राज-शासन स्वर्ग तुल्य था और वर्तमान शासन नरक तुल्य है।

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कः त्वम्—आप कौन हैं; **निगूढः**—प्रच्छन्न; **चरसि**—इस संसार में विचरण कर रहे हैं; **द्विजानाम्**—ब्राह्मणों अथवा साधु पुरुषों में; **बिभर्षि**—आपने धारण कर रखा है; **सूत्रम्**—उपवीत, ब्राह्मणों द्वारा धारण किया जाने वाला जनेऊ; **कतमः**—कौन से;

अवधूतः—अत्यन्त महान् पुरुष; कस्य असि—आप किसके हैं (किसके पुत्र या शिष्य हैं); कुत्रत्यः—कहाँ से; इह अपि—यहाँ इस स्थान पर; कस्मात्—किस लिए; क्षेमाय—लाभार्थ; नः—हम सबों के; चेत्—यदि; असि—आप हैं; न उत—अथवा नहीं; शुक्लः—विशुद्ध-सत्त्व-स्वरूप (कपिल देव)।

राजा रहूगण बोले, हे ब्राह्मण, आप इस जगत में अत्यन्त प्रच्छन्न भाव से तथा अज्ञात रूप से विचरण करते प्रतीत हो रहे हैं। आप कौन हैं? क्या आप विद्वान ब्राह्मण तथा साधु पुरुष हैं? आपने जनेउ धारण कर रखा है। कहीं आप दत्तात्रेय आदि अवधूतों में से कोई विद्वान तो नहीं हैं? क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप किसके शिष्य हैं? आप कहाँ रहते हैं? आप इस स्थान पर क्यों आये हैं? कहीं आप हमारे कल्याण के लिए तो यहां नहीं आये? कृपया बतायें कि आप कौन हैं?

तात्पर्य : राजा रहूगण को जब पता चल गया कि जड़ भरत गुरु-परम्परा से अथवा जन्म से ब्राह्मण कुल के हैं, तो वह अधिक वैदिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठा। जैसाकि वेदों में उद्धृत है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्।* रहूगण जड़ भरत को अपना गुरु स्वीकार कर रहा था, किन्तु गुरु को चाहिए कि वह अपने पद को यज्ञोपवीत धारण करने से नहीं, वरन् अपने ब्रह्मज्ञान से सिद्ध करे। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि रहूगण ने जड़ भरत से उनके कुल के सम्बन्ध में पूछा। कुल भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो वंश परम्परा से प्राप्त तथा दूसरा गुरु-परम्परा से प्राप्त। इन दोनों ही प्रकारों से ज्ञान की प्राप्ति होती है। *शुक्लः* शब्द सात्विक गुण का सूचक है। किसी को आत्मज्ञान प्राप्त करना है, तो उसे प्रामाणिक ब्राह्मण-गुरु के पास जाना चाहिए, चाहे वह गुरु-परम्परा से हो अथवा विद्वान ब्राह्मणों के कुल से सम्बद्ध हो।

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा-
न्न त्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात् ।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्राच्
छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥ १७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; विशङ्के—भयभीत हूँ; सुर-राज-वज्रात्—स्वर्ग के राजा इन्द्र के वज्र से; न—न तो; त्र्यक्ष-शूलात्—भगवान् शिव के त्रिशूल से; न—न तो; यमस्य—मृत्यु के अधीक्षक यमराज के; दण्डात्—दण्ड से; न—न तो; अग्नि—अग्नि के; अर्क—सूर्य के असह्य ताप के; सोम—चन्द्रमा के; अनिल—वायु के; वित्त-प—धन के स्वामी कुबेर के; अस्त्रात्—अस्त्रों से; शङ्के—भयभीत हूँ; भृशम्—अत्यधिक; ब्रह्म-कुल—ब्राह्मण-वृन्द के; अवमानात्—अपमान से।

महानुभाव, न तो मुझे इन्द्र के वज्र का भय है, न नागदंश का, न भगवान् शिव के त्रिशूल

का। मुझे न तो मृत्यु के अधीक्षक यमराज के दण्ड की परवाह है, न ही मैं अग्नि, तप्त सूर्य, चन्द्रमा, वायु अथवा कुबेर के अस्त्रों से भयभीत हूँ। परन्तु मैं ब्राह्मण के अपमान से डरता हूँ। मुझे इससे बहुत भय लगता है।

तात्पर्य : जब श्री चैतन्य महाप्रभु प्रयाग में दशाश्वमेध घाट पर रूप गोस्वामी को शिक्षा दे रहे थे तो उन्होंने वैष्णव-अपराध की गम्भीरता का स्पष्ट संकेत किया था। उन्होंने वैष्णव-अपराध की तुलना *हाती माता*—मत्त हाथी—से की थी। जब मत्त हाथी उद्यान में घुसता है, तो वह सारे फल-फूल उजाड़ देता है। इसी प्रकार से यदि कोई वैष्णव का अपमान करता है, तो वह अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को नष्ट करता है। ब्राह्मण का अपमान अत्यन्त घातक होता है और यह महाराज रहूगण जानते थे। अत: उन्होंने अपने अपराध को स्पष्ट रूप से स्वीकार लिया। यद्यपि अनेक दारुण वस्तुएँ हैं—यथा वज्र, अग्नि, यमराज का दण्ड, भगवान् शिव का त्रिशूल आदि—किन्तु इनमें से एक भी जड़ भरत जैसे ब्राह्मण के प्रति अपराध के तुल्य दारुण नहीं है। अत: महाराज रहूगण तुरन्त ही पालकी से नीचे उतरे और ब्राह्मण जड़ भरत से क्षमा-याचना के लिए उनके चरणकमलों पर गिर गये।

तद्ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-
विज्ञानवीर्यो विचरस्यपार: ।
वचांसि योगग्रथितानि साधो
न न: क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; ब्रूहि—कृपया बतलाइये; असङ्ग:—संसार के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न रखने वाला; जड-वत्—मूक तथा गूँगे मनुष्य की तरह लगने वाला; निगूढ—पूर्णतया प्रच्छन्न; विज्ञान-वीर्य:—आत्मतत्त्व के ज्ञान से पूर्ण तथा शक्तिशाली; विचरसि—घूम रहे हो; अपार:—अनन्त दिव्य महिमा वाला; वचांसि—उच्चरित शब्द; योग-ग्रथितानि—योग का समग्र अर्थ वहन करने वाला; साधो—हे साधु; न—नहीं; न:—हम सब; क्षमन्ते—समर्थ हैं; मनसा अपि—यहाँ तक कि मन से भी; भेत्तुम्—विश्लेषणात्मक विधि से समझना।

महाशय, ऐसा प्रतीत होता है कि आपका महत् आध्यात्मिक ज्ञान प्रच्छन्न है। आप समस्त भौतिक संसर्ग से रहित हैं और परमात्मा के विचार में पूर्णतया तल्लीन हैं। इसलिए आपका आध्यात्मिक ज्ञान अनन्त है। कृपया बलताने का कष्ट करें कि आप जड़वत् सर्वत्र क्यों घूम रहे हैं? हे साधु, आपने योगसम्मत शब्द कहे हैं, किन्तु हमारे लिए उनको समझ पाना सम्भव नहीं है। अत: कृपा करके विस्तार से कहें।

तात्पर्य : जड़ भरत जैसे साधु पुरुष सामान्य शब्द नहीं बोलते। वे जो कुछ भी कहते हैं वह योगियों तथा सिद्धों द्वारा स्वीकृत हुआ होता है। सामान्य व्यक्ति तथा साधु पुरुष के बीच यही अन्तर होता है। श्रोता को भी जड़ भरत जैसे सिद्ध पुरुष के वचन समझने के लिए प्रबुद्ध होना चाहिए। *भगवद्गीता* अर्जुन को ही सुनाई गई, अन्यों को नहीं। श्रीकृष्ण ने जान-बूझ कर आत्म-ज्ञान की शिक्षा के लिए अर्जुन को चुना, क्योंकि अर्जुन परम भक्त और विश्वासपात्र मित्र था। इसी प्रकार महापुरुष शूद्रों, वैश्यों, स्त्रियों या अज्ञानियों को उपेदश न देकर ज्ञानियों को ही देते हैं। कभी-कभी सामान्य व्यक्तियों को दर्शन का उपदेश देना घातक भी होता है, किन्तु श्री चैतन्य महाप्रभु ने कलियुग के पतित जीवों के लाभ हेतु हमें अमोघ साधन—हरे कृष्ण मंत्र का जप—प्रदान किया है। सामान्य जनसमूह यद्यपि शूद्र तथा इससे भी निम्न क्यों न ही, किन्तु हरे कृष्ण मंत्र के जप से वह शुद्ध हो सकता है। तब सभी व्यक्ति *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के दार्शनिक वचनों को समझ सकते हैं। इसीलिए हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने सामान्य जनसमूह के लिए हरे कृष्ण महामंत्र जप स्वीकार किया है। जब क्रमशः लोग शुद्ध हो जाते हैं, तो उन्हें *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के उपदेश की शिक्षा दी जाती है। स्त्री, शूद्र तथा द्विज-बन्धु जैसे भौतिकतावादी प्राणी आत्मोन्नति को नहीं समझ पाते तो भी उन्हें वैष्णव की शरण में जाना चाहिए, क्योंकि वह शूद्रों को भी भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवतम् का उच्च ज्ञान प्रदान करने की कला जानता है।

अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्व-
विदां मुनीनां परमं गुरुं वै ।
प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत्
साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—तथा; योग-ईश्वरम्—योग के स्वामी; आत्म-तत्त्व-विदाम्—आत्मतत्त्वं के विज्ञान् से परिचित विद्वान; मुनीनाम्—मुनियों का; परमम्—श्रेष्ठ; गुरुम्—गुरु, उपदेशक; वै—निस्संदेह; प्रष्टुम्—पूछने हेतु; प्रवृत्तः—कार्यलग्न; किम्—क्या; इह—इस संसार में; अरणम्—सुरक्षित शरण; तत्—वह जो; साक्षात् हरिम्—प्रत्यक्ष श्रीभगवान्; ज्ञान-कला-अवतीर्णम्—जो सम्पूर्ण ज्ञान के अवतार के रूप में अंशधारी कपिल के रूप में अवतरित हुए हैं।.

मैं आपको योग शक्ति का प्रतिष्ठित स्वामी मानता हूँ। आप आत्मज्ञान से भली भाँति परिचित हैं। आप साधुओं में परम पूज्य हैं और आप समस्त मानव समाज के कल्याण के लिए अवतरित हुए हैं। आप आत्मज्ञान प्रदान करने आये हैं और ईश्वर के अवतार तथा ज्ञान के अंश कपिलदेव

के साक्षात् प्रतिनिधि हैं। अतः मैं आपसे पूछ रहा हूँ,''हे गुरु, इस संसार में सर्वाधिक सुरक्षित आश्रय कौन सा है?''

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.४७) में श्रीकृष्ण ने पुष्टि की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

''सब योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर दिव्य प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अंतरंग रूप में युक्त हैं और परम श्रेष्ठ है।''

जड़ भरत पूर्ण योगी थे। पूर्वजन्म में वे सम्राट भरत महाराज थे और अब वही साधुओं में महापुरुष और समस्त योग शक्तियों के स्वामी थे। यद्यपि जड़ भरत सामान्य जीव थे, किन्तु श्रीभगवान् कपिल देव से समस्त ज्ञान उन्हें विरासत में मिला था। अतः उन्हें साक्षात् श्रीभगवान् माना जा सकता था। इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवती ठाकुर ने गुरु की प्रार्थना में लिखे इस पद्य में की है—*साक्षाद्-धरित्वेन समस्त-शास्त्रैः।* जड़ भरत जैसा महापुरुष भगवान् के ही तुल्य है, क्योंकि अन्यों को ज्ञान प्रदान करने के कारण वह ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ पर जड़ भरत को भगवान् का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि माना गया है, क्योंकि वे परमेश्वर की ओर से ज्ञान प्रदान कर रहे थे। इसलिए महाराज रहूगण ने यह निश्चित किया कि उन्हीं से आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में क्यों न पूछा जाये—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—यहाँ इस वैदिक आज्ञा की भी पुष्टि हो जाती है। यदि कोई ब्रह्म-जिज्ञासा (आत्मतत्त्व) जानने का इच्छुक है, तो उसे जड़ भरत जैसे गुरु के पास जाना चाहिए।

स वै भवाँल्लोकनिरीक्षणार्थ-
मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपि स्वित् ।
योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः ॥ २०॥

शब्दार्थ

सः—वह भगवान् या उनका अवतार श्रीकपिल देव; **वै**—निस्संदेह; **भवान्**—आप; **लोक-निरीक्षण-अर्थम्**—इस संसार के लोगों के चरित्रों का अध्ययन करने के लिए ही; **अव्यक्त-लिङ्गः**—अपनी वास्तविक पहचान प्रकट किए बिना; **विचरति**—इस संसार में भ्रमण कर रहे हैं; **अपि स्वित्**—क्या; **योग-ईश्वराणाम्**—समस्त योगियों का; **गतिम्**—वास्तविक आचरण, चरित्र; **अन्ध-बुद्धिः**—मोहग्रस्त होने से आत्मज्ञान के प्रति अन्धे; **कथम्**—किस प्रकार; **विचक्षीत**—जान सकता है; **गृह-अनुबन्धः**—गृहस्थ जीवन या सांसारिकता में आसक्त रहने वाला, मैं।

क्या यह सच नहीं कि आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार कपिल देव के साक्षात् प्रतिनिधि हैं? मनुष्यों की परीक्षा लेने और यह देखने के लिए कि वास्तव में कौन मनुष्य है और कौन नहीं, आपने अपने आपको गूँगे तथा बहरे मनुष्य की भाँति प्रस्तुत किया है। क्या आप संसार भर में इसलिए नहीं इस रूप में घूम रहे? मैं तो गृहस्थ जीवन तथा सांसारिक कार्यों में अत्यधिक आसक्त हूँ और आत्मज्ञान से रहित हूँ। इतने पर भी अब मैं आपसे प्रकाश पाने के लिए आपके समक्ष उपस्थित हूँ। आप बताएँ कि मैं किस प्रकार आत्मजीवन में प्रगति कर सकता हूँ?

तात्पर्य : यद्यपि महाराज रहूगण राजा की भूमिका निभा रहे थे, किन्तु जड़ भरत ने उन्हें बता दिया था कि वे न तो राजा थे, न ही जड़ भरत कोई गूँगा–बहरा पुरुष था। ऐसी उपाधियां आत्मा के आवरण मात्र हैं। सबको इस ज्ञान तक पहुँचना है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१३) में पुष्टि की गई है—*देहिनोऽस्मिन् यथा देहे,* प्रत्येक प्राणी शरीर के भीतर बन्द है। चूँकि शरीर कभी आत्मा के समरूप नहीं हो सकता, अत: शारीरिक कार्य मात्र मोहजनित हैं। जड़ भरत जैसे साधु की संगति से महाराज रहूगण को यह बोध हो सका कि राजा के रूप में उनके सारे कार्य मोहजनित हैं। इसलिए उसने जड़ भरत से ज्ञान प्राप्त करना स्वीकार किया और यही उसकी सिद्धि का शुभारम्भ था। *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।* पुरुष को महाराज रहूगण की ही भाँति जड़ भरत के समान महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करके आत्मतत्त्व जानना चाहिए। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु: श्रेय उत्तमम्* (*भागवत* ११.३.२१)। मनुष्य को चाहिए कि वह जड़ भरत जैसे गुरु के पास पहुँच कर मानव जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा करे।

दृष्ट: श्रम: कर्मत आत्मनो वै
भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये ।
यथासतोदानयनाद्यभावात्
समूल इष्टो व्यवहारमार्ग: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट:—प्रत्येक प्राणी का अनुभव है; श्रम:—श्रम, थकान; कर्मत:—कोई भी काम करने से; आत्मन:—आत्मा का; वै—निस्संदेह; भर्तु:—पालकी वाहक या कहार का; गन्तु:—चलने वाले का; भवत:—आपका; च—तथा; अनुमन्ये—मेरा अनुमान

है; यथा—जितना; असता—असत से, जो तथ्य नहीं हैं, उससे; उद—जल का; आनयन-आदि—लाने इत्यादि का कार्य; अभावात्—अभाव से; स-मूलः—साध्य पर आधारित; इष्टः—पूज्य; व्यवहार-मार्गः—प्रत्यक्ष ज्ञान-विषयक।

आपने कहा कि, ''मैं श्रम करने में थकता नहीं हूँ'' यद्यपि आत्मा देह से पृथक् है, किन्तु शारीरिक श्रम करने से थकान लगती है और ऐसा लगता है कि यह आत्मा की थकान है। जब आप पालकी ले जा रहे होते हैं, तो निश्चय ही आत्मा को भी कुछ श्रम करना पड़ता होगा। ऐसा मेरा अनुमान है। आपने यह भी कहा है कि स्वामी तथा सेवक का बाह्य आचरण वास्तविक नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष जगत में यह वास्तविकता भले न हो तो भी प्रत्यक्ष जगत पदार्थों से वस्तुएँ प्रभावित तो हो ही सकती हैं। ऐसा दृश्य तथा अनुभवगम्य है। अतः भले ही भौतिक कार्यकलाप अस्थायी हों, किन्तु उन्हें असत्य नहीं कहा जा सकता।

तात्पर्य : यह निर्विशेष मायावाद दर्शन तथा व्यावहारिक वैष्णव दर्शन की विवेचना है। मायावाद दर्शन इस प्रत्यक्ष जगत को असत्य मानता है, किन्तु वैष्णव दर्शनशास्त्री इसे स्वीकार नहीं करते। वे यह जानते हैं कि प्रत्यक्ष जगत क्षणिक है, किन्तु असत्य नहीं। रात्रि में दिखाई पड़ने वाला स्वप्न निश्चय ही असत्य होता है, किन्तु कभी-कभी स्वप्नद्रष्टा भयानक स्वप्न से अत्यधिक प्रभावित होता है। आत्मा की थकान सत्य नहीं, किन्तु जब तक मनुष्य मोहग्रस्त बना रहता है, तब तक वह ऐसे झूठे स्वप्नों से प्रभावित होता है। स्वप्न देखते समय वास्तविक तथ्यों से बचा नहीं जा सकता और बद्धजीव को अपने स्वप्न के कारण कष्ट भोगना पड़ता है। जल का घड़ा मिट्टी का बना होने से क्षणिक (नाशवान) है। वास्तव में जल का घड़ा (जल पात्र) नहीं होता, वह तो मात्र मिट्टी रहता है। किन्तु जब तक उसमें जल भरा जा सकता है, तब तक उसका सदुपयोग उस काम के लिए किया जा सकता है। इसे सरासर झूठ नहीं कह सकते।

स्थाल्यग्नितापात्पयसोऽभितापस्
स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः ।
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्
तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

स्थालि—पकाने का पात्र; अग्नि-तापात्—अग्नि के ताप से; पयसः—पात्र में भरा दूध; अभितापः—तप्त हो जाता है; तत्-तापतः—उसके ताप से, दूध के गर्म होने से; तण्डुल-गर्भ-रन्धिः—दूध में रहने से चावल का भीतरी भाग पक जाता है; देह-

इन्द्रिय-अस्वाशय—इन्द्रियाँ; सन्निकर्षात्—से सम्बन्ध होने से; तत्-संसृतिः—श्रम तथा अन्य कष्टों का अनुभव; पुरुषस्य—आत्मा का; अनुरोधात्—शरीर, इन्द्रियाँ और मन से अत्यधिक आसक्ति के कारण अनुरोध से।.

राजा रहूगण आगे बोला—महाशय, आपने बताया कि शारीरिक स्थूलता तथा कृशता जैसी उपाधियाँ आत्मा के लक्षण नहीं हैं। यह सही नहीं है, क्योंकि सुख तथा दुख जैसी उपाधियों का अनुभव आत्मा को अवश्य होता है। आप दूध तथा चावल को एक पात्र में भर कर अग्नि के ऊपर रखें तो दूध तथा चावल क्रम से स्वतः तप्त होते हैं। इसी प्रकार शारीरिक सुखों तथा दुखों से हमारी इन्द्रियाँ, मन तथा आत्मा प्रभावित होते हैं। आत्मा को इस परिवेश से सर्वथा बाहर नहीं रखा जा सकता।

तात्पर्य : महाराज रहूगण ने जो तर्क प्रस्तुत किया वह व्यावहारिक दृष्टि से ठीक है, किन्तु यह देहात्मबुद्धि के प्रति आसक्ति से उत्पन्न होता है। यह कहा जा सकता है कि मोटरकार में बैठा व्यक्ति मोटरकार से सर्वथा पृथक् है, किन्तु यदि मोटरकार को कोई क्षति पहुँचती है, तो उसके स्वामी को अत्यधिक अपनेपन के कारण कष्ट पहुँचता है। वस्तुत: मोटरकार की क्षति का उसके स्वामी से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु चूँकि इस स्वामी ने मोटरकार के साथ तादात्म्य बनाकर रखा है, अत: उसे सुख-दुख होता है। इस बद्धावस्था से बचने का उपाय है मोटरकार के प्रति अपनी आसक्ति को हटा लेना। तब उसके स्वामी को कार के क्षतिग्रस्त होने अथवा न होने से किसी प्रकार के शोक या हर्ष का अनुभव नहीं होगा। इसी प्रकार आत्मा का शरीर तथा इन्द्रियों से कोई प्रयोजन नहीं रहता, किन्तु अविद्या के कारण वह अपने को देह से अभिन्न मानकर शरीर के हर्ष-शोक से वैसा ही अनुभव करने लगता है।

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां
यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम् ।
स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य
यदीहमानो विजहात्यघौघम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शास्ता—शासक; अभिगोप्ता—नागरिकों का शुभचिन्तक; नृ-पतिः—राजा; प्रजानाम्—नागरिकों का; यः—जो; किङ्करः—आज्ञा पालने वाला; वै—निस्सन्देह; न—नहीं; पिनष्टि पिष्टम्—पहले से पिसे हुए को पीसता है; स्व-धर्मम्—अपना कर्तव्य; आराधनम्—उपासना; अच्युतस्य—श्रीभगवान् की; यत्—जो; ईहमानः—करते हुए; विजहाति—मुक्त कर दिये जाते हैं; अघ-ओघम्—सभी प्रकार के पाप तथा दोषपूर्ण कर्म से।.

महाशय, आपने बताया कि राजा तथा प्रजा अथवा स्वामी और सेवक के सम्बन्ध शाश्वत

नहीं होते। यद्यपि ऐसे सम्बन्ध अस्थायी हैं, तो भी जब कोई व्यक्ति राजा बनता है, तो उसका कर्तव्य नागरिकों पर शासन करना और नियमों की अवज्ञा करने वालों को दण्डित करना है। उनको दण्डित करके वह नागरिकों को राज्य के नियमों का पालन करने की शिक्षा देता है। पुनः आपने कहा है कि मूक तथा बधिर को दण्ड देना चर्वित को चर्वण करना या पिसी लुगदी को फिर से पीसना है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि इससे कोई लाभ नहीं होता। किन्तु यदि कोई परमेश्वर द्वारा आदिष्ट अपने कर्तव्यों के पालन में लगा रहता है, तो उसके पापकर्म निश्चय ही घट जाते हैं। अतः यदि किसी को बलपूर्वक उसके कर्तव्यों में लगा दिया जाये तो उसे लाभ पहुँचता है, क्योंकि इस प्रकार उसके समस्त पाप दूर हो सकते हैं।

तात्पर्य : महाराज रहूगण द्वारा प्रस्तुत किया गया यह तर्क अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। श्रील रूप गोस्वामी अपने ग्रन्थ *भक्तिरसामृतसिंधु* (१.२.४) में कहते हैं कि—*तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्*—जैसे भी हो सके, मनुष्य को कृष्णभावनामृत में लगना चाहिए। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी श्रीकृष्ण का शाश्वत सेवक है, किन्तु विस्मृति के कारण वह माया का शाश्वत दास बन जाता है। जब तक वह माया की सेवा में लगा रहता है, उसे सुख नहीं मिल सकता। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य लोगों को कृष्णभक्ति में लगातार रखना है। इससे वे समस्त प्रकार के भौतिक कल्मषों एवं पापकर्मों से मुक्त हो सकेंगे। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१०) में इस प्रकार की गई है—*वीत-राग-भय-क्रोधाः।* भौतिक कार्यों से विरक्त होने पर हमें भय तथा क्रोध से छुटकारा मिलेगा। तपस्या से मनुष्य शुद्ध होकर परम धाम वापस जाने का अधिकारी बन जाता है। राजा का कर्तव्य है कि अपनी प्रजा पर इस प्रकार शासन करे कि वह कृष्णचेतनायुक्त हो सके। यह सबों के लिए लाभप्रद होगा। दुर्भाग्यवश राजा या राष्ट्रपति जनता को ईश्वर की सेवा के बजाय इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रेरित करते हैं। किन्तु यह किसी के लिए भी लाभप्रद नहीं। महाराज रहूगण ने अपनी पालकी ढोने के लिए जड़ भरत को लगाया था, जो राजा के लिए एक प्रकार की इन्द्रियतृप्ति ही था। किन्तु यदि कोई भगवान् की सेवा में पालकी उठाने वाला कहार बनता है, तो वह निश्चित रूप से लाभप्रद है। यदि नास्तिक सभ्यता में कोई राष्ट्रपति अपनी जनता को किसी प्रकार से भक्ति या कृष्णभावनामृत जगाने के प्रति उन्मुख कर सके तो वह नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ सेवा करता है।

तन्मे भवान्नरदेवाभिमान-
मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य ।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो
यथा तरे सदवध्यानमंहः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मुझ पर; भवान्—आप; नर-देव-अभिमान-मदेन—राजा की देह पाने के अभिमान से उन्मत्त; तुच्छीकृत—अवज्ञा करने वाले; सत्-तमस्य—मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ आपका; कृषीष्ट—कृपया प्रदर्शित करें; मैत्री-दृशम्—मित्र के समान मुझ पर अपनी अहैतुकी कृपा; आर्त-बन्धो—दीनों का साथी; यथा—जिस प्रकार; तरे—मुक्त हो सकूँ; सत्-अवध्यानम्—आप जैसे महापुरुष की उपेक्षा करने के; अंहः—पाप से।

आपने जो भी कहा है उसमें मुझे विरोधाभास लगता है। हे दीनबन्धु, मैंने आपको अपमानित करके बहुत बड़ा अपराध किया है। राजा का शरीर धारण करने के कारण मैं झूठी प्रतिष्ठा से फूला हुआ था, अतः इसके लिए मैं अवश्य ही अपराधी हूँ। अब मेरी प्रार्थना है कि मुझ पर अहैतुक अनुग्रह की दृष्टि डालें। यदि आप ऐसा करें तो आपका अपमान करके मैंने जो पापकर्म किया है उससे मुक्त हो सकूँगा।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि वैष्णव के प्रति अपराध करने वाले के समस्त परमार्थिक कार्य नष्ट हो जाते हैं। वैष्णव-अपराध प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध के तुल्य है। प्रमत्त हाथी अत्यन्त श्रम से तैयार किये गये सारे उद्यान को विनष्ट कर सकता है। मनुष्य को भक्ति का कितना ही उच्च पद क्यों न प्राप्त हो, किन्तु यदि वह किसी प्रकार वैष्णव की अवमानना करता है, तो सारी व्यवस्था बिखर जाती है। राजा रहूगण ने अनजाने जड़ भरत की अवमानना की, किन्तु जब उसे ज्ञान हुआ तो उसने क्षमा-याचना कर ली। यही वह विधि है, जिसके द्वारा वैष्णव-अपराध से छूटा जा सकता है। कृष्ण अत्यन्त सरल एवं स्वभाव से कृपालु हैं। यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है, तो मनुष्य को तुरन्त उससे क्षमा माँग लेनी चाहिए जिससे आत्म-प्रगति न रुके।

न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।
महद्विमानात्स्वकृताद्धि मादृङ्
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; विक्रिया—भौतिक परिवर्तन; विश्व-सुहृत्—प्रत्येक प्राणी के मित्र, श्रीभगवान् का; सखस्य—मित्र (आप) का; साम्येन—आपके मानसिक सन्तुलन के कारण; वीत-अभिमतेः—जिसने जीवन के देहात्मबोध को सर्वथा त्याग दिया है; तव—तुम्हारा; अपि—निस्सन्देह; महत्-विमानात्—महान् भक्त का अपराध करने से; स्व-कृतात्—मेरे अपने कार्य से; हि—निश्चित रूप से; मादृक्—मुझ जैसा व्यक्ति; नङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जाएगा; अदूरात्—शीघ्र ही; अपि—निश्चय ही; शूल-पाणिः—भगवान् शिव (शूलपाणि) के समान शक्तिशाली होकर भी।.

हे स्वामी, आप समस्त जीवात्माओं के मित्र पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के सखा हैं। अतः आप सबों के लिए समान हैं और देहात्म-बुद्धि से सर्वथा मुक्त हैं। यद्यपि मैंने आपकी अवमानना करके अपराध किया है, किन्तु मैं जानता हूँ कि मेरे इस तिरस्कार से आपको कोई हानि या लाभ नहीं होने वाला है। आप दृढ़संकल्प हैं जबकि मैं अपराधी हूँ। इसलिए भले ही मैं भगवान् शिव के समान बलवान् क्यों न होऊँ, किन्तु एक वैष्णव के चरणकमल पर अपराध करने के कारण मैं तुरन्त ही नष्ट हो जाऊँगा।

तात्पर्य : महाराज रहूगण अत्यन्त बुद्धिमान थे और वैष्णव के प्रति किये गये अपराध के अशुभ फलों से भली-भाँति परिचित थे। अतः वे जड़ भरत द्वारा क्षमा किये जाने के लिए अत्यन्त व्यग्र थे। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए महाराज रहूगण के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वैष्णव के चरणकमल पर अपराध न करे। श्रील वृन्दावन दास ठाकुर *चैतन्यभागवत* (मध्य १३) में कहते हैं—

शूलपाणि-सम यदि भक्त-निन्दा करे।

भागवत प्रमाण—तथापि शीघ्र मरे॥

हेन वैष्णवेरे निन्दे सर्वज्ञ हइ।

से जनेर अधः-पात सर्व-शास्त्रे कइ॥

''यदि कोई वैष्णव की निन्दा करता है, तो वह त्रिशूलधारी भगवान् शिव के समान शक्तिशाली होने पर भी अपने आत्म-पद से गिर जायेगा। यह समस्त वैदिक शास्त्रों का निर्णय है।'' उन्होंने *चैतन्यभागवत* (मध्य २२) में यह भी कहा है—

वैष्णवेर निन्दा करिबेक यार गण।

तार रक्षा सामर्थ्य नाहिक कोन जन॥

शूलपाणि-सम यदि वैष्णवेरे निन्दे।

तथापिह नाश याय—कहे शास्त्र-वृन्दे॥

इहा ना मानिया ये सुजन निन्दा करे।

जन्मे जन्मे से पापिष्ठ दैव–दोषे मरे॥

''जो वैष्णव की निन्दा करता है उसे कोई नहीं बचा सकता। चाहे वह भगवान् शिव के समान बलशाली क्यों न हो, यदि वह वैष्णव की निन्दा करता है, तो उसका विनाश होना ही है। यही समस्त शास्त्रों का निर्णय है। यदि कोई शास्त्रों के निर्णय की अवहेलना करके वैष्णव की निन्दा करता है, तो उसका विनाश निश्चित है। यही समस्त शास्त्रों का निर्णय है। यदि कोई शास्त्रों के निर्णय की अवहेलना करके वैष्णव की निन्दा करता है, तो इसके कारण वह जन्म–जन्मांतर तक कष्ट भोगता है।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के अन्तर्गत ''जड़ भरत तथा महाराज रहूगण की वार्ता'' नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

जड़ भरत द्वारा राजा रहूगण को शिक्षा

इस अध्याय में ब्राह्मण जड़ भरत द्वारा रहूगण को दी गई शिक्षाएँ विस्तार से दी गई हैं। वे राजा से कहते हैं, ''आप अधिक अनुभवी नहीं हैं, तो भी आप विद्वान होने का दिखावा कर रहे हैं क्योंकि आप अपने ज्ञान से अतिगर्वित हैं। वास्तव में जो व्यक्ति दिव्य पद पर स्थित होता है, वह उस सामाजिक व्यवहार की परवाह नहीं करता जिससे आध्यात्मिक प्रगति में बाधा पहुँचती है। सामाजिक व्यवहार का क्षेत्र कर्मकाण्ड अर्थात् भौतिक लाभ है। ऐसे कार्यों से कोई आत्म–उन्नति नहीं कर सकता। बद्धजीव सदैव ही प्रकृति के गुणों से पराजित होता रहता है, जिसके फलस्वरूप से उसका सरोकार भौतिक लाभों, शुभ तथा अशुभ वस्तुओं से ही रहता है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि इन्द्रियों का राजा मन जन्म–जन्मांतर भौतिक कार्यों में ही व्यस्त रहता है। अत: वह लगातार विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करता है और दुखदायक भौतिक स्थितियों से कष्ट उठाता है। इसी मानसिक कूट–रचना के आधार पर सामाजिक व्यवहार को सूत्रबद्ध किया गया है। यदि मनुष्य का मन इन कार्यों में लिप्त रहता है, तो वह निश्चित रूप में इसी संसार में बँधा रहता है। विभिन्न मतों के अनुसार ग्यारह या बारह प्रकार की मानसिक गति–विधियाँ होती हैं, जो सैकड़ों हजारों रूपों में रूपान्तरित की जा सकती हैं। जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह इन मानसिक कूट रचनाओं के वशीभूत होता है और अन्त में

माया द्वारा नियंत्रित होने लगता है। जो जीव मानसिक कूट-रचनाओं से मुक्त है, वह भौतिक कल्मष से रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। जीव दो प्रकार के होते हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा। जो परम-आत्मा है, वही भगवान् वासुदेव कृष्ण हैं। वही सबों के हृदयों में प्रविष्ट होकर उनके विभिन्न कार्यों को नियंत्रित करता है। इसीलिए वह समस्त जीवात्माओं का परम आश्रय है। मनुष्य को परम आत्मा तथा उसके साथ अपने पारस्परिक सम्बन्ध का तभी बोध होता है जब वह सामान्य व्यक्तियों की अवांछित संगति से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार से वह अविद्या के सागर को पार करने के लिए पात्र बन सकता है। बहिरंगा शक्ति के प्रति आसक्ति ही बन्धन का मूल कारण है। मनुष्य को चाहिए कि मानसिक कूट-रचनाओं पर विजय प्राप्त करे, क्योंकि जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक वह भौतिक चिन्ताओं से मुक्त नहीं हो सकता। यद्यपि मानसिक कूट-रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं है, तो भी उनका प्रभाव विलक्षण होता है। मन पर नियंत्रण रखने में ढील नहीं बरतनी चाहिए। यदि ढील बरती जाती है, तो मन इतना प्रबल हो जाता है कि मनुष्य अपनी सही स्थिति तुरन्त भूल जाता है। वह यह भूल जाता है कि वह कृष्ण का शाश्वत दास है और उसका एकमात्र कर्तव्य कृष्ण-भक्ति (कृष्णभावनामृत) है। माया के वश में होकर वह इन्द्रिय-सुखों का ही सेवन करने लगता है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् तथा उसके भक्त की सेवा रूपी खड्ग से मानसिक कूट-रचनाओं का अन्त कर दे (*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*)।

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादान्
वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः ।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; अकोविदः—अनुभवहीन; कोविद-वाद-वादान्—अनुभवी व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त शब्द; वदसि—तुम बोल रहे हो; अथो—अतः; न—नहीं; अति-विदाम्—अत्यन्त अनुभवी व्यक्तियों का; वरिष्ठः—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; न—नहीं; सूरयः—ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति; हि—निस्सन्देह; व्यवहारम्—सांसारिक तथा सामाजिक आचरण (कर्म); एनम्—यह; तत्त्व—सत्य का; अवमर्शेन—बुद्धि द्वारा उत्तम न्याय के; सह—साथ; आमनन्ति—विवेचना करते हैं।

ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा—''हे राजन्, यद्यपि तुम थोड़ा भी अनुभवी नहीं हो तो भी तुम अत्यन्त अनुभवी व्यक्ति के समान बोलने का प्रयत्न कर रहे हो। अतः तुम्हें अनुभवी व्यक्ति नहीं

माना जा सकता। अनुभवी व्यक्ति कभी भी तुम्हारे समान स्वामी तथा सेवक अथवा भौतिक सुखों और दुखों के सम्बन्ध में इस प्रकार से नहीं बोलता। ये तो मात्र बाह्य कार्य हैं। कोई भी महान् अनुभवी व्यक्ति परम सत्य को जानते हुए इस प्रकार बातें नहीं करता।''

तात्पर्य : कृष्ण ने भी अर्जुन को इसी प्रकार प्रताड़ित किया था। *अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे*—''पांडित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिए शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नहीं हैं'' (*भगवद्गीता* २.११)। इसी प्रकार सामान्य रूप से ९९.९ प्रतिशत लोग अत्यन्त अनुभवी परामर्शदाताओं की भाँति बातें करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे वास्तव में आत्मज्ञान में शून्य होते हैं, अत: बच्चों के समान उट-पटाँग बोलते हैं। फलत: उनके वचनों को महत्ता नहीं प्रदान की जा सकती। मनुष्य को श्रीकृष्ण या उसके भक्त से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि कोई इस अनुभव अर्थात् आत्मज्ञान के आधार पर बोलता है, तो उसके शब्द मूल्यवान होते हैं। इस समय सम्पूर्ण जगत मूर्खों से भरा पड़ा है। *भगवद्गीता* में ऐसे व्यक्तियों को *मूढ* कहा गया है। वे मानव समाज पर आधिपत्य जमाये रहने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे आत्मज्ञान से रहित हैं, अत: समूचा संसार अस्त-व्यस्त दशा में है। इन दयनीय परिस्थितियों से उबरने के लिए उन्हें कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और जड़ भरत, भगवान् कृष्ण तथा कपिल देव जैसे महापुरुषों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। भौतिक जीवन की समस्याओं को हल करने का यही एकमात्र उपाय है।

तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववाद:
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधु: ॥ २॥

शब्दार्थ

तथा—अत:; एव—निस्संदेह; राजन्—हे राजन्; उरु-गार्ह-मेध—गृहस्थ जीवन से संबद्ध अनुष्ठान; वितान-विद्या—विस्तारशील ज्ञान; उरु—अत्यधिक; विजृम्भितेषु—रुचि रखने वालों में; न—नहीं; वेद-वादेषु—वेद वाक्य बोलने वाले; हि—निस्सन्देह; तत्त्व-वाद:—आत्म-तत्त्व; प्रायेण—प्राय:; शुद्ध:—समस्त कल्मषों से रहित, विशुद्ध; नु—निस्संदेह; चकास्ति—प्रतीत होते हैं; साधु:—भक्ति को प्राप्त पुरुष।

हे राजन्, स्वामी तथा सेवक, राजा तथा प्रजा इत्यादि के प्रसंग तो भौतिक विषय हैं। वेदों में प्रतिपादित भौतिक विषयों में रुचि रखने वाले व्यक्ति यज्ञों को करके तथा भौतिक विषयों के प्रति श्रद्धालु बने रहने पर तुले रहते हैं। ऐसे लोगों को कभी आत्म-तत्त्व प्रकट नहीं हो पाता।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—*वेद-वाद* तथा *तत्त्व-वाद*। *भगवद्गीता* अनुसार (२.४२-४३), जो लोग वेदों में ही आसक्त हैं और वेदों या वेदान्तसूत्र का उद्देश्य नहीं समझते वे *वेदवादरता:* हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित:।

वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन:॥

कामात्मान: स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

''अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन अलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, सत्ता और भोगों को देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मों की संस्तुति है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण ही वे ऐसा कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।''

वेदवाद अनुयायी सामान्य रूप से कर्मकाण्ड के प्रति रुचि रखते हैं। इससे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वे प्राय: चातुर्मास्य पद्धति का अभ्यास करते हैं। *अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-याजिन: सुकृतं भवति*—जो चातुर्मास्य-यज्ञ करता है, वह पवित्र हो जाता है और पवित्र होने पर वह स्वर्ग को जा सकता है (*ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्व-स्था:।* वेदों के कुछ अनुयायी कर्मकाण्ड का पालन करते हैं जिससे वे जीवन के उच्चतर स्तर को प्राप्त हों। किन्तु अन्यों का तर्क है कि वेदों का उद्देश्य यह नहीं है। *तद् यथैवेह कर्म-जित: लोक: क्षीयते एवम् एवम् उत्र पुण्य-जित: लोक: क्षीयते।* इस संसार में उच्च कुल, उच्च शिक्षा, रूप अथवा धन के कारण कोई भी पुरुष उच्च बन सकता है। ये पूर्वजन्म में किये गये पुण्यों के उपहार हैं; किन्तु जब पुण्यकर्मों का भण्डार समाप्त हो जाता है, तब ये भी समाप्त हो जाते हैं। यदि हम पुण्यकर्मों में आसक्त रहें तो अगले जीवन में हमें ये सारी सुविधाएँ मिल सकती हैं और हम स्वर्ग लोक में जन्म ले सकते हैं। किन्तु इन सबका अन्त होना है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकं विशन्ति* (*भगवद्गीता* ९.२१)—पुण्यकर्मों के क्षीण होने पर पुन: मर्त्यलोक में प्रवेश करना पड़ता है। वैदिक आदेशों के अनुसार वेदों का मुख्य उद्देश्य पुण्यकर्म करना नहीं है। वेदों का मुख्य उद्देश्य तो *भगवद्गीता* में विवेचित है। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य::*—वेदों का मुख्य उद्देश्य तो भगवान् श्रीकृष्ण को जानना है। जो वेदवादी हैं, वे वस्तुत: परम ज्ञानी नहीं हैं और ज्ञान-काण्ड (ब्रह्मवादी) के अनुयायी भी पूर्ण नहीं हैं।

किन्तु जब कोई उपासना के धरातल पर पहुँचकर भगवान् की उपासना अंगीकार कर लेता है, तो वह पूर्ण हो जाता है (*आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्*)। वेदों में विभिन्न देवताओं की उपासना तथा यज्ञों के अनुष्ठान का उल्लेख तो है, किन्तु ऐसी उपासना निम्नकोटि की है क्योंकि उपासकों को ज्ञात नहीं है कि परम लक्ष्य तो विष्णु हैं (*न ते विदुः स्वार्थ-गतिं हि विष्णुम्*)। जब कोई विष्णु-आराधना अथवा भक्तियोग के धरातल पर आता है, तो उसे सिद्धि प्राप्त होती है। अन्यथा, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, वह तत्त्ववादी न होकर वेदवादी (वेदों का अन्धा अनुयायी) होता है। वेदवादी तब तक भौतिक कल्मष से शुद्ध नहीं हो पाता जब तक वह तत्त्ववादी नहीं बन जाता, अर्थात् तत्त्व यानी परम सत्य को नहीं जान लेता। तत्त्व भी तीन प्रकार से अनुभव किया जाता है—*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते।* तत्त्व का ज्ञान होने पर भी भगवान्, विष्णु और उनके अंशों की उपासना करते रहना चाहिए अन्यथा मनुष्य इतने पर भी अपूर्ण रहेगा। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*—अनेक जन्मों के पश्चात् वास्तविक ज्ञानी कृष्ण की शरण में जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि अल्पज्ञानी मनुष्य भगवान्, ब्रह्म या परमात्मा को नहीं समझ सकता, किन्तु वेदों का अध्ययन कर लेने के बाद तथा परम सत्य श्रीभगवान् का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य पूर्णज्ञान के पद पर माना जाता है।

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्
वरीयसीरपि वाचः समासन् ।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्य—उसका (वेदपाठी का); तत्त्व-ग्रहणाय—वैदिक ज्ञान के वास्तविक प्रयोजन को स्वीकारने के लिए; साक्षात्—प्रत्यक्ष; वरीयसीः—परम आदरणीय; अपि—यद्यपि; वाचः—वेद वाक्य; समासन्—अत्यधिक हो गया; स्वप्ने—स्वप्न में; निरुक्त्या—उदाहरण से; गृह-मेधि-सौख्यम्—इस जगत के भीतर सुख; न—नहीं; यस्य—जिसका; हेय-अनुमितम्—तुच्छ जान पड़ने से; स्वयम्—स्वतः; स्यात्—होवे।

स्वप्न मनुष्य को स्वतः झूठा और व्यर्थ लगने लगता है। इसी प्रकार उसे इस लोक में अथवा स्वर्ग में, इसी जीवन में अथवा अगले जन्म में, भौतिक सुख की कामना तुच्छ प्रतीत होने लगती है। जब उसे इसका बोध हो जाता है, तो श्रेष्ठ साधन होने पर भी वेद सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में अपर्याप्त लगने लगते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.४) में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया कि वह प्रकृति के तीन गुणों

से प्रेरित भौतिक कार्यकलापों के प्रति अतीत (दिव्य) बने (*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*)। वैदिक अध्ययन का उद्देश्य प्रकृति के तीन गुणों के विषयों (कार्यों) का लंघन कर जाना है। निस्संदेह, इस संसार में सात्त्विक गुण को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और सत्त्व गुण पद प्राप्त होने पर मनुष्य स्वर्ग को जा सकता है। किन्तु यह कोई सिद्धि नहीं है। मनुष्य को तो यह निष्कर्ष तक पहुँच जाना चाहिए कि सत्त्वगुण पद भी उत्तम नहीं है। स्वप्न में भले ही कोई यह देखे कि वह राजा बन गया है, उसके स्त्री, संतान इत्यादि हैं, किन्तु स्वप्न के अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यह सब मिथ्या है। इसी प्रकार आत्ममोक्ष चाहने वाले पुरुष के लिए समस्त भौतिक सुख अवांछनीय हैं। जब तक मनुष्य इस निष्कर्ष तक नहीं पहुँच जाता कि किसी भी भौतिक सुख से उसे कुछ सरोकार नहीं, तब तक उसे तत्त्व-ज्ञान नहीं हो सकता। सभी कर्मी, ज्ञानी तथा योगी एक न एक भौतिक उन्नति चाहते हैं। कर्मी शारीरिक सुविधा के लिए अहर्निश कार्य करते हैं, जबकि ज्ञानी लोग यही चिन्तन करते रहते हैं कि कर्म के बन्धन से वे किस प्रकार छूटकर ब्रह्मतेज में मिल जाएं। योगीजन भौतिक सिद्धि और जादुई शक्ति प्राप्त करने के पीछे पड़े रहते हैं। ये सभी लोग भौतिक दृष्टि से पूर्ण बनने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भक्त अत्यन्त सरलतापूर्वक भक्ति के निर्गुण पद को प्राप्त होता है; फलतः भक्त के लिए कर्म, ज्ञान तथा योग के फल तुच्छ हैं। इसलिए केवल भक्त ही तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त होता है, अन्य कोई नहीं। निस्संदेह, ज्ञानी का पद कर्मी से श्रेष्ठ है, किन्तु यह पद भी अपर्याप्त है। ज्ञानी को वास्तव में मुक्त होना चाहिए और मुक्ति के बाद ही वह भक्ति कर सकता है (*मद्भक्तिं लभते पराम्*)।

यावन्मनो रजसा पूरुषस्य
सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम् ।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरङ्कुशं कुशलं चेतरं वा ॥ ४॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; मनः—मन; रजसा—रजोगुण से; पूरुषस्य—जीवात्मा का; सत्त्वेन—सतोगुण से; वा—अथवा; तमसा—तमोगुण से; वा—अथवा; अनुरुद्धम्—नियंत्रित; चेतोभिः—ज्ञानेन्द्रियों से; आकूतिभिः—कर्मेन्द्रियों से; आतनोति—फैलाता है; निरङ्कुशम्—हाथी के समान स्वच्छन्द (जिसको अंकुश से वश में लिया जाता है); कुशलम्—कुशलता, कल्याण; च—भी; इतरम्—कुशलता के अतिरिक्त अर्थात् पापकर्म; वा—अथवा।

जब तक जीवात्मा का मन तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमोगुणों) से दूषित रहता है, तब तक वह स्वच्छन्द, अनियंत्रित हाथी के समान रहता है। वह इन्द्रियों का उपयोग करके शुभ तथा

अशुभ कर्मों के क्षेत्र को केवल बृहत्तर बनाता है। परिणाम यह निकलता है कि जीवात्मा इस संसार में भौतिक कर्मों के कारण मात्र सुख तथा दुख का अनुभव करता है।

तात्पर्य : *चैतन्यचरितामृत* में बतलाया गया है कि शुभ तथा अशुभ कर्म दोनों ही भक्ति के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। भक्ति का अर्थ है मुक्ति—भौतिक बन्धन से छुटकारा, किन्तु शुभ तथा अशुभ कर्मों से इस भौतिक संसार में उलझे रहना पड़ता है। यदि वेदों में वर्णित शुभाशुभ कर्मों के प्रति मन आकृष्ट हो जाता है, तो मनुष्य सदैव अंधकार में रहता है; उसे परम पद कभी नहीं प्राप्त हो पाता। चेतना को तमो से रजो अथवा रजो को सतो में बदलते रहने से समस्या का समाधान नहीं होता। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।* मनुष्य को दिव्य पद पर पहुँचना है अन्यथा जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।

स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा ।
बिभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेद-
मन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति ॥ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वासना—अनेक कामनाओं से युक्त; आत्मा—मन; विषय-उपरक्तः—भौतिक सुख में आसक्त इन्द्रियतृप्ति; गुण-प्रवाहः—सत्व, रजो अथवा तमोगुण की शक्ति से प्रेरित; विकृतः—काम आदि से विरूपित; षोडश-आत्मा—प्रमुख सोलह तत्त्वों (पाँच स्थूल तत्त्व तथा दस ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन) का प्रधान तत्त्व; बिभ्रत्—घूमते हुए; पृथक्-नामभिः—विभिन्न नामों से; रूप-भेदम्—विभिन्न रूप धारण करते हुए; अन्तः-बहिष्ट्वम्—प्रथम कोटि या निम्न कोटि का गुण, उत्तमता या अधमता; च—तथा; पुरैः—विभिन्न शारीरिक रूपों से; तनोति—प्रकट करता है।.

शुभ तथा अशुभ कर्मों की आकांक्षाओं में लीन रहने के कारण मन स्वभावतः काम तथा क्रोध के विकारों से ग्रस्त होता रहता है। इस प्रकार वह भौतिक इन्द्रिय-सुख के प्रति आकृष्ट होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से संचालित होता है। ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच तत्त्वों—इन सब सोलह कलाओं में से मन प्रधान है। अतः मन के ही कारण विभिन्न देवताओं, मनुष्यों, पशुओं तथा पक्षियों के शरीरों में जन्म लेना पड़ता है। उच्च या निम्न पद पर स्थित होने के अनुसार ही मन उच्च या निम्न भौतिक देह अंगीकार करता है।

तात्पर्य : चौरासी लाख योनियों में देहान्तरण का कारण विशेष भौतिक गुणों से मन का दूषित होना है। मन के ही कारण आत्मा को शुभ तथा अशुभ कर्म करने पड़ते हैं। इस संसार में बने रहना

भौतिक प्रकृति की तरंगों के समान है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का कहना है—*मायार वशे याच्छ भेसे', खाच्छ हाबुडुबु भाइ*—''मेरे भाई, आत्मा माया के अधीन है और तुम उसकी तरंगों में बह रहे हो।'' *भगवद्गीता* (३.२७) में भी इस की पुष्टि हुई है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''सम्पूर्ण कर्म वास्तव में प्रकृति के गुणों से सम्पन्न होते हैं परन्तु गुणों से उत्पन्न अहंकार द्वारा मोहित जीवात्मा अपने को कर्ता मान बैठता है।''

भौतिक अस्तित्व (संसार) का अर्थ है भौतिक प्रकृति द्वारा पूर्ण नियंत्रण। प्रकृति के आदेशों को अंगीकार करने वाला केन्द्र मन ही है। इस प्रकार जीवात्मा कल्प-कल्पान्तर तक विभिन्न देह धारण करता रहता है।

कृष्ण भुलि' सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख।

अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

(*चैतन्य चरितामृत मध्य* २०.११७)

जीवात्मा द्वारा श्रीकृष्ण के विस्मरण से ही वह प्रकृति के नियमों से बँध जाता है।

दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति ।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दुःखम्—अशुभ कर्मों के कारण दुख; सुखम्—शुभ कर्म से उत्पन्न सुख; व्यतिरिक्तम्—मोह; च—तथा; तीव्रम्—अत्यन्त कठिन; काल-उपपन्नम्—काल-क्रम में प्राप्त; फलम्—फल; आव्यनक्ति—उत्पन्न करता है; आलिङ्ग्य—आलिंगन करते हुए; माया-रचित—प्रकृति द्वारा उत्पन्न; अन्तः-आत्मा—मन; स्व-देहिनम्—स्वयं जीव; संसृति—संसार की प्रतिक्रियाओं का; चक्र-कूटः—जो जीव को चक्कर में डाल देता है।

सांसारिक मन जीव की आत्मा को आच्छादित करके उसे विभिन्न योनियों में ले जाता है। इसे संसृति कहते हैं। मन के ही कारण जीवात्मा को भौतिक दुख तथा सुख का बोध होता है। इस प्रकार से मोहग्रस्त यह शुभ तथा अशुभ विषयों तथा उनके कर्म को उत्पन्न करता है। इस प्रकार आत्मा बद्ध हो जाता है।

तात्पर्य : इस संसार में प्रकृति के वशीभूत होकर मानसिक विषयों से सुख तथा दुख उत्पन्न होते हैं। जीवात्मा मोहग्रस्त होकर विभिन्न उपाधियों के अन्तर्गत अनवरत बद्ध जीवन बिताता रहता है। ऐसी जीवात्माएँ *नित्य बद्ध* कही जाती हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मन ही बद्ध जीवन के लिए उत्तरदायी होता है, इसीलिए समस्त योगक्रियाएँ मन तथा इन्द्रियों को नियंत्रित करने के लिए होती हैं। यदि मन वश में हो जाता है, तो इन्द्रियाँ स्वयमेव नियंत्रित रहती हैं और इस तरह आत्मा शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल से बच जाता है। यदि मन श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अनुरक्त रहे (*स वै मन: कृष्ण–पदारविन्दयो:*) तो इन्द्रियाँ स्वत: ईश्वर की सेवा में लग जाती हैं। जब मन तथा इन्द्रियाँ भक्ति में लग जाती हैं, तो जीवात्मा सहज ही कृष्ण–भक्त बन जाता है। जब कोई मनुष्य निरन्तर कृष्ण का ध्यान धरता है, तो वह परम योगी बन जाता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है (*योगिनाम् अपि सर्वेषां मदगतेनान्तरात्मना*)। यह *अन्तरात्मा* ही मन है जो प्रकृति के द्वारा बँधा हुआ है। जैसाकि यहाँ कहा गया है—*मायारचितान्तरात्मा स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूट:*—मन परम शक्तिमान होने के कारण जीवात्मा को ढका–ओढ़ा करके उसे भवसागर की तरंगों में ला पटकता है।

तावानयं व्यवहार: सदावि:
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्म: ।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
गुणागुणत्वस्य परावरस्य ॥ ७॥

शब्दार्थ

तावान्—उस समय तक; अयम्—यह; व्यवहार:—कृत्रिम उपाधियाँ (मोटा, दुबला दैव या मानवीय); सदा—सदैव; आवि:—प्रकट करते हुए; क्षेत्र-ज्ञ—जीवात्मा का; साक्ष्य:—प्रमाण; भवति—है; स्थूल-सूक्ष्म:—मोटा तथा दुबला; तस्मात्—अत:; मन:—मन; लिङ्गम्—कारण; अद:—यह; वदन्ति—कहते हैं; गुण-अगुणत्वस्य—गुणों अथवा अगुणों का; पर-अवरस्य—तथा जीवन की उच्च और निम्न दशाएँ।

मन जीवात्मा को इस संसार में विभिन्न योनियों में फिरता रहता है, जिससे जीवात्मा को मनुष्यों, देवताओं, स्थूल-कृश मनुष्यों इत्यादि विविध रूपों का लौकिक अनुभव होता है। विद्वानों का कथन है कि देह का रूपायन बन्धन तथा मुक्ति का कारण मन ही है।

तात्पर्य : जिस प्रकार मन बन्धन का कारणस्वरूप बनता है उसी प्रकार मुक्ति का भी कारणस्वरूप यही बन सकता है। मन को यहाँ *पर–अवर* कहा गया है। *पर* का अर्थ ''दिव्य'' तथा *अवर* का अर्थ ''भौतिक'' है। जब मन ईश्वर की सेवा में अनुरक्त रहता है (*स वै मन: कृष्ण–पदारविन्दयो:*) तो इसे

पर अर्थात् दिव्य कहते हैं। किन्तु जब यह इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त रहता है, तो इसे *अवर* या भौतिक कहते हैं। इस समय बद्ध अवस्था में हमारा मन पूर्णतया इन्द्रियतृप्ति में लगा हुआ है, किन्तु भक्ति के द्वारा उसे शुद्ध करके आदि कृष्णभावनामृत में लाया जा सकता है। हमने प्रायः अम्बरीष महाराज का दृष्टान्त दिया है। *स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोः वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने।* कृष्णभावनामृत में मन पर नियंत्रण आवश्यक है। जीभ का उपयोग कृष्ण के संदेश को प्रसारित करने और ईश्वर का गुणगान करने अथवा कृष्ण का "प्रसाद" प्राप्त करने में किया जा सकता है। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ*—जब मनुष्य जीभ का उपयोग ईश्वर की सेवा में करता है, तो अन्य इन्द्रियाँ शुद्ध हो सकती हैं। जैसाकि *नारदपंचरात्र* में कहा गया है—*सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तं तत्-परत्वेन निर्मलम्*—मन तथा इन्द्रियों के शुद्ध हो जाने पर मनुष्य का सम्पूर्ण अस्तित्व शुद्ध हो जाता है तथा उसकी सारी उपाधियाँ शुद्ध हो जाती हैं। तब मनुष्य अपने को मनुष्य, देवता, कुत्ता, बिल्ली, हिन्दू, मुसलमान इत्यादि कुछ भी नहीं मानता। मन तथा इन्द्रियों के शुद्ध होने और कृष्ण की सेवा में पूर्णतया अर्पित होने पर मुक्ति मिल सकती है और मनुष्य भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

गुण-अनुरक्तम्—गुणों के प्रति आसक्त होकर; व्यसनाय—संसार में बद्ध होने के लिए; जन्तोः—जीवात्मा के; क्षेमाय—परम कल्याण के लिए; नैर्गुण्यम्—गुणों से अप्रभावित रहकर; अथो—इस प्रकार; मनः—मन; स्यात्—हो जाता है; यथा—जिस प्रकार (जितना कि); प्रदीपः—दीपक; घृत-वर्तिम्—घी के भीतर रखी बत्ती; अश्नन्—जलकर; शिखाः—ज्वाला, लौ; सधूमाः—धुँआ से युक्त; भजति—भोगती है; हि—निश्चय ही; अन्यदा—अन्यथा; स्वम्—अपने आप; पदम्—पद; तथा—उसी तरह; गुण-कर्म-अनुबद्धम्—गुणों तथा कर्मों से बद्ध; वृत्तीः—नाना प्रकार के कार्य; मनः—मन; श्रयते—शरण लेता है; अन्यत्र—अन्यथा; तत्त्वम्—अपनी मूल स्थिति की।

जब जीवात्मा का मन सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति में लीन हो जाता है, तो जीवन-बंधन तथा सांसारिक कष्ट प्राप्त होते हैं। किन्तु जब वह उनसे अनासक्त हो जाता है, तो वही मुक्ति का कारण बनता है। जब दीपक की बत्ती से ठीक-ठीक लौ नहीं उठती तो दीपक पर कालिख लग जाती है। किन्तु घी से भरा होने पर यह ठीक से जलता है और तीव्र प्रकाश निकलता है। इसी

प्रकार जब मन इन्द्रिय-तृप्ति में संलग्न रहता है, तो इससे कष्ट प्राप्त होते हैं और जब यह उनसे विरक्त हो जाता है, तो कृष्णभावनामृत का आदि प्रकाश निकलने लगता है।

तात्पर्य : अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि मन ही इस जीवन तथा मुक्ति का कारण-स्वरूप है। मन के ही कारण प्रत्येक प्राणी कष्ट उठा रहा है, अत: यह आवश्यक है कि मन को ठीक से प्रशिक्षित किया जाय या भौतिक आसक्ति से इसे विमल करके ईश्वर की सेवा में लगाया जाये। इसे ही आत्म-वृत्ति कहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में इस प्रकार हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण रूप से मेरी भक्ति करता है और किसी भी स्थिति में उससे गिरता नहीं वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का लंघन करके ब्रह्म-स्तर पर पहुँच जाता है।"

हमें अपने मन को पूर्णतया कृष्णभावनाभावित कार्यों में लगाना चाहिए। तब यह हमारी अपने घर लौटने के लिए मुक्ति और परम धाम वापस जाने का कारण बन जायेगा। किन्तु यदि हम सांसारिक विषयों में इसे इन्द्रियतृप्ति के लिए लगाये रखेंगे तो यह अविरत बन्धन का कारण बनेगा और हम इसी संसार में विविध देह धारण करते रहेंगे और अपने विभिन्न कार्यों के फल भोगते रहेंगे।

एकादशासन्मनसो हि वृत्तय
आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः ।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां
वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥ ९॥

शब्दार्थ

एकादश—ग्यारह; आसन्—हैं; मनसः—मन की; हि—निश्चय ही; वृत्तयः—वृत्तियाँ; आकूतयः—कर्मेन्द्रियाँ; पञ्च—पाँच; धियः—ज्ञानेन्द्रियाँ; अभिमानः—अहंकार; मात्राणि—विभिन्न विषय; कर्माणि—विभिन्न कर्म; पुरम् च—तथा शरीर, समाज, राष्ट्र, परिवार या जन्मभूमि; तासाम्—इन कार्यों का; वदन्ति—कहते हैं; ह—ओह; एकादश—ग्यारह; वीर—हे वीर पुरुष; भूमीः—कार्य-क्षेत्र, कर्मक्षेत्र।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। इनके साथ ही अहंकार भी है। इस प्रकार मन की ग्यारह प्रकार की वृत्तियाँ हैं। हे वीर, इन्द्रियों के विषय (यथा शब्द और स्पर्श), कायिक कर्म (यथा मलत्याग) तथा विभिन्न प्रकार के देह, समाज, मैत्री तथा व्यक्तित्व—इन सबको पण्डित लोग मन के कार्य के अन्तर्गत मानते हैं।

तात्पर्य : मन पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों का नियामक है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना कार्यक्षेत्र (विषय) होता है। प्रत्येक दशा में मन ही स्वामी या नियामक है। अहंकारवश मनुष्य अपने को शरीर मानने लगता है और "यह मेरा शरीर, मेरा घर, मेरा परिवार, मेरा समाज, मेरा राष्ट्र इत्यादि" के रूप में सोचता रहता है। ये झूठी उपाधियाँ अहंकार के विस्तार के कारण हैं। इस तरह मनुष्य अपने को यह या वह सोचता है और यह जीवात्मा संसार में उलझ जाता है।

गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

गन्ध—गन्ध, महक; आकृति—रूप; स्पर्श—छूने का बोध; रस—स्वाद; श्रवांसि—तथा शब्द; विसर्ग—मलत्याग; रति—संभोग; अर्ति—गति, संचलन; अभिजल्प—भाषण; शिल्पाः—पकड़ना या छोड़ना, लेना-देना; एकादशम्—ग्यारह; स्वीकरणम्—स्वीकार करते हुए; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; शय्याम्—यह शरीर; अहम्—मैं; द्वादशम्—बारहवाँ; एके—कुछ लोगों ने; आहुः—कहा है।

शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद (रस) तथा गन्ध—ये पांच ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार हैं। भाषण, स्पर्श, संचलन, मलत्याग तथा संभोग—ये कर्मेन्द्रियों के कार्य हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य धारणा है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य सोचता है कि, "यह मेरा शरीर है, यह मेरा समाज है, यह मेरा परिवार हैं, यह मेरा राष्ट्र है।" यह ग्यारहवाँ व्यापार मन का है और मिथ्या अहंकार कहलाता है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार यह बारहवाँ व्यापार है और इसका कार्यक्षेत्र शरीर है।

तात्पर्य : ग्यारह विषयों के लिए (व्यापार) भिन्न-भिन्न उत्पादन हैं। नाक से हम सूँघते हैं, आखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं और इस प्रकार हम ज्ञान संचित करते हैं। इसी तरह हाथ, पाँव, लिंग, गुदा, मुख आदि कर्मेन्द्रियाँ हैं। जब मिथ्या अहंकार का विस्तार होता है, तो मनुष्य सोचता है, "यह मेरा शरीर, परिवार, समाज, देश है।"

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशामी मनसो विकाराः ।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च
क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—भौतिक पदार्थों (विषयों) से; स्व-भाव—स्वभाव से; आशय—संस्कृति (संस्कार) से; कर्म—पूर्व निर्धारित कर्मफल से; कालैः—समय से; एकादश—ग्यारह; अमी—ये सब; मनसः—मन के; विकाराः—रूपान्तर (भेद); सहस्रशः—हजारों में; शतशः—सैकड़ों में; कोटिशः च—तथा करोड़ों में; क्षेत्र-ज्ञतः—आदि भगवान् से; न—नहीं; मिथः—परस्पर; न—न तो; स्वतः—अपने आप से; स्युः—हैं।

भौतिक तत्त्व (द्रव्य या विषय), प्रकृति (स्वभाव), मूल कारण, संस्कार, भाग्य तथा समय (काल)—ये सब भौतिक कारण हैं। इन भौतिक कारणों से विक्षुब्ध होकर ग्यारह वृत्तियाँ पहले सैकड़ों, फिर हजारों और तब करोड़ों भेदों में रूपान्तरित हो जाती हैं। किन्तु ये सभी भेद स्वतः परस्पर मिश्रण के द्वारा घटित नहीं होते वरन् वे श्रीभगवान् के आदेशानुसार होते हैं।

तात्पर्य : किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि भौतिक तत्वों की समस्त अन्तःक्रियाएँ, चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, जिनसे मन तथा चेतना में परिवर्तन होता है स्वतंत्र रूप से कार्य कर रही हैं। वे सब श्रीभगवान् के निर्देशन में घटित होती हैं। *भगवद्गीता* (१.१) में श्रीकृष्ण कह ते हैं कि ईश्वर सबों के हृदय में स्थित हैं (*सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। जैसाकि यहाँ पर उद्धृत है परमात्मा (क्षेत्रज्ञ) सबको आदेशित कर रहा है। जीवात्मा भी क्षेत्रज्ञ है, किन्तु परम क्षेत्रज्ञ तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही है। वह साक्षी और आज्ञा देने वाला है। उसी के निर्देशन में सब कुछ घटित होता है। जीवात्मा की विभिन्न वृत्तियाँ उसके अपने स्वभाव से अथवा आशाओं से उत्पन्न होती हैं और वह प्रकृति या माया के माध्यम से भगवान् द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है। शरीर, प्रकृति तथा तत्त्व भगवान् के आदेशाधीन हैं। स्वतः कार्य नहीं करते। प्रकृति (माया) न तो स्वतंत्र है न स्वतः क्रियाशील। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि हुई है, प्रकृति के पीछे श्रीभगवान् हैं—

मयाध्यक्षेन प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

“हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इस कारण इस जगत का बारम्बार सृजन और संहार होता है।”

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-
जींवस्य मायारचितस्य नित्याः ।

आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः ॥ १२॥

शब्दार्थ

क्षेत्र-ज्ञः—जीव; एताः—ये सब; मनसः—मन के; विभूतीः—विभिन्न वृत्तियाँ; जीवस्य—जीवात्मा की; माया-रचितस्य—माया द्वारा उत्पन्न; नित्याः—अनादि-काल से; आविर्हिताः—कभी-कभी प्रकट; क्वापि—कहीं; तिरोहिताः च—तथा अप्रकट; शुद्धः—शुद्ध; विचष्टे—इसे देखता है; हि—निश्चय ही; अविशुद्ध—अशुद्ध; कर्तुः—कर्ता का।

कृष्णचेतना से रहित जीव के मन में माया द्वारा उत्पन्न अनेक विचार तथा वृत्तियाँ होती हैं। वे अनन्त काल से विद्यमान रही हैं। कभी-कभी वे जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में प्रकट होती हैं, किन्तु सुषुप्तावस्था या समाधि में वे लुप्त हो जाती हैं। जो व्यक्ति इस जन्म में ही मुक्त हो चुका है, (जीवन्मुक्त) इन सब व्यापारों को स्पष्ट देख सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.३) में कहा गया है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।* क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवों के दो भेद हैं—एक तो सामान्य जीव और दूसरे परम पुरुष (परमात्मा)। सामान्य जीव अपने शरीर के विषय में कुछ हद तक ही जानता है, किन्तु परमात्मा समस्त देहियों के विषय में जानता है। सामान्य जीव स्थान-सापेक्ष हैं, किन्तु परमात्मा सर्वव्यापी हैं। इस श्लोक में *क्षेत्रज्ञ* सामान्य जीव के लिए प्रयुक्त है परम पुरुष के लिए नहीं। यह सामान्य जीव दो प्रकार का होता है—नित्य-बद्ध तथा नित्य-मुक्त। इनमें से पहला शाश्वत बद्ध रहने वाला है और दूसरा शाश्वत मुक्त रहता है। शाश्वत मुक्त जीव वैकुण्ठ जगत में रहता है और वह इस भौतिक जगत में कभी नहीं आता। जो भौतिक जगत में रहते हैं, वे नित्य बद्ध हैं। ये जीव मन को नियंत्रित करके मुक्त हो सकते हैं, क्योंकि बद्ध जीवन का कारण मन है। जब मन को प्रशिक्षित कर लिया जाता है और आत्मा उसके वश में नहीं रहता तो इसी भौतिक जगत में आत्मा मुक्त हो सकता है। मुक्त होने पर वह *जीवन्मुक्त* कहा जाता है। जीवन्मुक्त को पता होता है कि वह किस प्रकार बद्ध हुआ, अतः वह अपने को शुद्ध करने और भगवान् के धाम को वापस जाने का प्रयत्न करता है। नित्य बद्ध जीवात्मा नित्य बद्ध होता है क्योंकि वह मन से नियंत्रित होता है। बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओं की तुलना सुप्त तथा जाग्रत अवस्थाओं से की जाती है। जो बेखबर होकर सोते हैं, वे नित्य-बद्ध हैं और जो जाग्रत हैं, वे अपने को भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य अंश मानते हैं। अतः वे इस भौतिक जगत में भी श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर रहते हैं। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने पुष्टि की है—*ईहा यस्य हरेर्दास्ये।* श्रीकृष्ण की सेवा करने वाला मुक्त हो जाता है, भले

ही वह इस संसार में बद्ध जीवात्मा प्रतीत हो। *जीवन्मुक्तः स उच्यते*—प्रत्येक दशा में कोई तभी मुक्त माना जा सकता है जब उसका एकमात्र कार्य श्रीकृष्ण की सेवा करना हो।

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात्स्वयं ज्योतिरजः परेशः ।
नारायणो भगवान्वासुदेवः
स्वमाययात्मन्यवधीयमानः ॥ १३ ॥
यथानिलः स्थावरजङ्गमानाम्
आत्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत् ।
एवं परो भगवान्वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

क्षेत्र-ज्ञः—श्रीभगवान् (श्लोक १२ में सामान्य जीव); आत्मा—सर्वव्यापी; पुरुषः—असीम शक्ति वाला नियन्ता; पुराणः—आदि; साक्षात्—प्रत्यक्ष अनुभव तथा अधिकारियों से श्रवण करके; स्वयम्—व्यक्तिगत; ज्योतिः—ब्रह्मतेज प्रकट करने वाला; अजः—अजन्मा; परेशः—श्रीभगवान्; नारायणः—समस्त जीवों का आश्रय; भगवान्—छः पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त श्रीभगवान्; वासुदेवः—प्रकट तथा अप्रकट, सबों का आश्रय; स्व-मायया—अपनी शक्ति से; आत्मनि—अपने आप में अथवा सामान्य जीवों में; अवधीयमानः—नियन्ता के रूप में रह कर; यथा—जिस प्रकार; अनिलः—वायु; स्थावर—जड़, न चलने वाले जीव; जङ्गमानाम्—तथा जंगमों (सचल) का; आत्म-स्वरूपेण—परमात्मा रूप के द्वारा; निविष्टः—निहित; ईशेत्—नियंत्रण करता है; एवम्—इस प्रकार; परः—दिव्य; भगवान्—श्रीभगवान्; वासुदेवः—प्रत्येक पदार्थ के आश्रय; क्षेत्र-ज्ञः—क्षेत्रज्ञ नाम से अभिहित; आत्मा—प्राण शक्ति; इदम्—यह जगत के; अनुप्रविष्टः—भीतर प्रविष्ट।

क्षेत्रज्ञ दो प्रकार के हैं—जीवात्मा तथा श्रीभगवान्। (जीवात्मा का वर्णन पीछे किया जा चुका है, यहाँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की विवेचना की जा रही है) श्रीभगवान् सृष्टि का सर्वव्यापक कारण है। वह अपने में पूर्ण है और अन्यों पर आश्रित नहीं है। वह सुनकर तथा प्रत्यक्ष अनुभव (दर्शन) से देखा जाता है। वह आत्मतेजस्वी है और उसे जन्म, मृत्यु, जरा अथवा व्याधि कुछ भी नहीं सताते। वह ब्रह्मादि समस्त देवताओं का नियन्ता है। उसका नाम नारायण है और वह संसार के प्रलय के पश्चात् समस्त जीवात्माओं का आश्रय है। वह परम ऐश्वर्यवान है और समस्त भौतिक वस्तुओं का आश्रय है। अतः वह वासुदेव अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम से जाना जाता है। अपनी शक्ति से ही वह समस्त जीवात्माओं के हृदयों में स्थित है, जिस प्रकार समस्त चराचर प्राणियों में वायु या जीवनीशक्ति (प्राण) रहती है। इस प्रकार वह शरीर को वश में रखता है। अपने अंश रूप में श्रीभगवान् समस्त देहों में प्रवेश करके उनको नियंत्रित करता रहता है।

तात्पर्य : इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१.१) में की गई है— *सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित परमात्मा के द्वारा प्रत्येक जीव शासित होता है। वह इस संसार को उत्पन्न करने वाला पुरुष—पुरुष-अवतार—है। प्रथम पुरुष-अवतार महाविष्णु हैं और वह महाविष्णु भगवान् श्रीकृष्ण के अंश के अंश मात्र हैं। श्रीकृष्ण के प्रथम विस्तार (प्रकाश) बलदेव हैं और वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न अन्य विस्तार हैं। वासुदेव ही *ब्रह्मज्योति* के मूल कारण हैं और यह ब्रह्मज्योति वासुदेव के शरीर की किरणों का विस्तार (प्रकाश) है।

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं आदि ईश्वर गोविन्द की पूजा करता हूँ जो परम शक्ति से समन्वित हैं। उनके दिव्य रूप का तेज निर्गुण ब्रह्म है जो परम, पूर्ण तथा अनन्त हैं और जो करोड़ों ब्रह्माण्डों में असंख्य लोकों को उनके ऐश्वर्यों सहित प्रदर्शित करता है।" (*ब्रह्म-संहिता* .४०)। *भगवद्गीता* (९.४) में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"मेरे अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। सम्पूर्ण चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।"

श्रीकृष्ण के अंश रूप सर्वव्यापी वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की यह स्थिति है।

न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन ।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यावत्—जब तक; एताम्—यह; तनु-भृत्—जिसने शरीर अंगीकार किया है, मनुष्य; नरेन्द्र—हे राजन्; विधूय मायाम्—संसार से उत्पन्न कल्मष को धोते हुए; वयुना उदयेन—वैदिक साहित्य तथा सत्संगति से दिव्य ज्ञान जगने के कारण;

विमुक्त-सङ्गः—समस्त संगति से मुक्त; जित-षट्-सपत्नः—छः शत्रुओं (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन) को जीत कर; वेद—जानता है; आत्म-तत्त्वम्—आत्मतत्त्व को; भ्रमति—घूमता है; इह—इस संसार में; तावत्—तब तक।

हे राजा रहूगण, जब तक बद्ध-आत्मा भौतिक देह को स्वीकार करता है और भौतिक सुख के कल्मष से मुक्त नहीं हो जाता तथा जब तक अपने छः शत्रुओं को जीत कर आत्मज्ञान को जागृत करके आत्म-साक्षात्कार के पद को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसे इस जगत में विभिन्न स्थानों तथा नाना योनियों में घूमना पड़ता है।

तात्पर्य : जब किसी मनुष्य का मन देहात्मबुद्धि में लिप्त रहता है, तो वह अपने को किसी एक राष्ट्र, परिवार, देश या जाति से सम्बद्ध मानता है। इन्हें उपाधियाँ कहते हैं। मनुष्य को इनसे मुक्त होना होता है (*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तम्*)। जब तक मनुष्य इनसे मुक्त नहीं होता उसे इस संसार में बद्ध जीवन बिताते रहना पड़ता है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य इन भ्रान्तियों को दूर करना है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है और सभी भौतिक स्थितियों को भोगना पड़ता है।

न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य ।
यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यावत्—जब तक; एतत्—यह; मनः—मन; आत्म-लिङ्गम्—आत्मा की झूठी उपाधि के रूप में; संसार-ताप—इस जगत के कष्टों का; आवपनम्—खेत; जनस्य—जीव का; यत्—जो; शोक—शोक का; मोह—मोह का; आमय—रोग का; राग—आसक्ति का; लोभ—लालच का; वैर—शत्रुता का; अनुबन्धम्—परिणाम; ममताम्—ममता; विधत्ते—देता है।

इस संसार में आत्मा की उपाधि, यह मन, समस्त दुखों का मूल है। जब तक बद्ध जीवात्मा इस तथ्य को नहीं जानता, तब तक उसे देह की दयनीय दशा को स्वीकार करके इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न योनियों में घूमना पड़ता है। चूँकि यह मन रोग, शोक, मोह, राग, लोभ तथा वैर से ग्रस्त रहता है इस कारण से इस भौतिक संसार में बन्धन तथा झूठी ममता उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : मन भौतिक बन्धन तथा मुक्ति दोनों का कारण है। अशुद्ध मन सोचता है कि मैं ही देह हूँ, किन्तु शुद्ध मन जानता है कि वह भौतिक देह नहीं हैं अतः मन को समस्त भौतिक उपाधियों का मूल माना जाता है। जब तक जीवात्मा संसार के सम्पर्क तथा उसके कल्मषों से दूर नहीं रहता, तब तक यह जन्म, मृत्यु, रोग, मोह, लोभ तथा वैर में तल्लीन रहता है। इस प्रकार जीवात्मा बँध जाता है

और भौतिक कष्टों को भोगता रहता है।

भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्य-
मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

भ्रातृव्यम्—बलवान शत्रु को; एनम्—इस मन; तत्—वह; अदभ्र-वीर्यम्—अत्यधिक शक्तिमान; उपेक्षया—उपेक्षा से; अध्येधितम्—वृथा ही शक्ति में बढ़ा हुआ; अप्रमत्तः—मोहरहित; गुरोः—गुरु के; हरेः—श्रीभगवान् के; चरण—चरण कमलों का; उपासना-अस्त्रः—उपासना रूपी अस्त्र; जहि—जीत लो; व्यलीकम्—झूठा, मिथ्या; स्वयम्—अपने आप; आत्म-मोषम्—जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति को प्रच्छन्न करने वाला।.

यह अनियंत्रित मन जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। यदि इसकी उपेक्षा की जाती है या इसे अवसर प्रदान किया जाता हैं, तो यह प्रबल से प्रबलतर होकर विजयी बन सकता है। यद्यपि यह यथार्थ नहीं है, किन्तु यह अत्यधिक प्रबल होता है। यह आत्मा की स्वाभाविक स्थिति को आच्छादित कर देता है। हे राजन्, इस मन को गुरु के चरणारविन्द तथा भगवान् की सेवा रूपी अस्त्र से जीतने का प्रयत्न कीजिये। इसे अत्यन्त सतर्कता से करें।

तात्पर्य : जिस एक अस्त्र से मन को जीता जा सकता है, वह है उपेक्षा। मन सदैव हमें इसे अथवा उसे कर लेने के लिए कहता रहता है; अत: हमें मन के आदेशों की उपेक्षा करने में पटु बनना चाहिए। मन को क्रमशः आत्मा के आदेश मानने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। मनुष्य को मन के आदेशों का पालन नहीं करना है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे कि जगने के बाद तथा सोने के पूर्व नित्य ही मन को कई बार जूतों से पीटना चाहिए। इस प्रकार से मन को वश में किया जा सकता है। समस्त शास्त्रों का भी यही आदेश है। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करता तो वह मन के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है। दूसरी प्रामाणिक विधि है गुरु की आज्ञाओं का कठोरता से पालन करना और ईश्वर की सेवा में लगे रहना। इससे मन स्वतः वश में आ जाएगा। श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रील रूप गोस्वामी को उपदेश दिया है कि—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

जब गुरु तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के अनुग्रह से भक्ति-बीज प्राप्त होता है, तो मनुष्य का

असली जीवन प्रारम्भ होता है। यदि वह गुरु की आज्ञा का पालन करता है, तो कृष्ण के अनुग्रह से वह मन की दासता (सेवा भाव) से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''जड़ भरत द्वारा राजा रहूगण को शिक्षा'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

महाराज रहूगण तथा जड़ भरत की वार्ता

महाराज रहूगण इतने पर भी अपने प्रकाश–प्राप्त होने के सम्बन्ध में सन्देहशील थे, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण जड़ भरत से अपने उपदेशों को तथा उसकी समझ में न आने वाले विचारों को दोहराने के लिए कहा। इस अध्याय में महाराज रहूगण उन जड़ भरत को नमस्कार करता है जिन्होंने अपने वास्तविक रूप को छिपा रखा था। राजा उनके उपदेश से समझ गया कि वे आत्मज्ञान में कितने श्रेष्ठ तथा उन्नत हैं। उसने उनका जिस प्रकार अनादर किया था उसके लिए क्षमा माँगी। अविद्या के सर्प से डसे गये महाराज रहूगण को मानो जड़ भरत के अमृत रूपी शब्दों ने जिला लिया। जिन विषयों पर वार्ता हो चुकी थी उनके सम्बन्ध में शंका रह जाने के कारण उसने बाद में एक–एक करके अनेक प्रश्न पूछे। सर्वप्रथम जड़ भरत के चरणकमलों के प्रति किये गये पूर्व अपराध से वे मुक्त हो लेना चाहते थे।

महाराज रहूगण जड़ भरत के सारगर्भित उपदेशों को, जिन्हें एक भौतिक जीव नहीं समझ सकता, ठीक से न समझ पाने के कारण कुछ–कुछ असन्तुष्ट थे, अतः जड़ भरत ने अपने उपदेशों को और अधिक स्पष्ट करते हुए दुहराया। उन्होंने कहा कि संसार की सभी जीवात्माएँ, चाहे चर हों या अचर, विभिन्न प्रकारों से पृथ्वी के ही रूपान्तर (विकार) हैं। राजा को अपने राज–देह का अत्यन्त गर्व था, किन्तु वह पृथ्वी का ही एक रूपान्तर था। झूठी प्रतिष्ठा के कारण राजा पालकी के कहार के प्रति स्वामी–सेवक जैसा व्यवहार कर रहा था और अन्य जीवात्माओं के प्रति भी निष्ठुर था। फलतः वह जनता को सुरक्षा प्रदान करने में अक्षम था और अज्ञानी होने के कारण उसकी गणना साधु पुरुषों में नहीं की जा सकती थी। यद्यपि विभिन्न वस्तुएँ अपने–अपने रूपान्तरों के कारण विभिन्न नाम (उपाधियाँ) धारण करती हैं, किन्तु इस जगत की प्रत्येक वस्तु पृथ्वी का रूपान्तर है। वस्तुतः ये सभी

किस्में एक ही हैं और अन्त में परमाणुओं में विलीन हो जाती हैं। इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। अनेक किस्म की वस्तुएँ तथा उनकी उपाधियाँ हमारी मानसिक कूट रचनाएँ हैं। परम सत्य तो मोह से परे है और तीन रूपों—निर्गुणब्रह्म, अर्न्तयामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्—में प्रकट होता है। अनन्तिम सत्य के परम साक्षात्कार तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही हैं, जो भक्तों द्वारा वासुदेव कहे जाते हैं। जब तक भक्तों के चरण की धूलि को मस्तक पर धारण नहीं किया जाता, तब तक कोई भगवान् का भक्त नहीं बन सकता।

जड़ भरत ने राजा को अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध में भी बताया और कहा कि ईश्वर की कृपा से उन्हें विगत जन्म की सारी घटनाएँ स्मरण हैं। अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण जड़ भरत अत्यन्त सतर्क थे। संसारी पुरुषों से मिलने-जुलने से बचने के लिए उन्होंने गूँगे तथा बहरे जैसे व्यक्ति के आचरण अपना रखे थे। त्रिगुणों की संगति बड़ी प्रबल होती है। भौतिकतावादी पुरुषों की कुसंगति से बचने का एकमात्र उपाय है भक्तों की संगति। उनकी संगति से नौ प्रकार की भक्तियाँ की जा सकती हैं—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम् अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्म-निवेदनम्।* इस प्रकार भक्तों की संगति से भौतिक संगति से छुटकारा पाया जा सकता है मूढ़ता के पारावार को पार करते हुए श्रीभगवान् के धाम को प्राप्त हुआ जा सकता है।

रहूगण उवाच
नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्ग-
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

रहूगणः उवाच—राजा रहूगण ने कहा; नमः—मेरा नमस्कार है; नमः—नमस्कार; कारण-विग्रहाय—समस्त कारणों के कारण, परमात्मा से प्रकट होने वाले को; स्वरूप-तुच्छीकृत-विग्रहाय—अपने सत्य रूप को प्रकट करके शास्त्रों के विरोधों को दूर करनेवाले; नमः—नमस्कार; अवधूत—हे योगेश्वर; द्विज-बन्धु-लिङ्ग—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न पुरुष के लक्षणों के द्वारा (भले ही ब्राह्मण का कर्म न करता हो); निगूढ—प्रच्छन्न; नित्य-अनुभवाय—उसे जिसका शाश्वत आत्म-साक्षात्कार होता हो; तुभ्यम्—तुम्हें।.

राजा रहूगण ने कहा—हे महात्मन्, आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न हैं। आपके प्रभाव से शास्त्रों के समस्त विरोधभास दूर हो गये हैं। आप *ब्रह्म-बन्धु* के वेश में अपने दिव्य आनन्दमय स्वरूप को छिपाए हुए हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* से ज्ञात होता है कि श्रीभगवान् समस्त कारणों के कारण (*सर्व- कारण-कारणम्*) हैं। ऋषभदेव सर्व-कारण स्वरूप श्रीभगवान् के साक्षात् अवतार थे। उनके पुत्र भरत महाराज को, जो अब ब्राह्मण जड़ भरत की भूमिका निभा रहे थे, उनका शरीर उन्हीं सर्वकारणों के कारण से प्राप्त हुआ था; इसलिए उन्हें *कारण-विग्रहाय* कहा गया है।

ज्वरामयार्तस्य यथागदं सत्
निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः ।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टेः
ब्रह्मन्वचस्तेऽमृतमौषधं मे ॥ २॥

शब्दार्थ

ज्वर—ज्वर, या ताप के; आमय—रोग से; आर्तस्य—पीड़ित पुरुष की; यथा—जिस प्रकार; अगदम्—औषधि दवा; सत्—सही; निदाघ-दग्धस्य—लू लगने पर; यथा—जैसे; हिम-अम्भः—अति शीतल जल; कु-देह—इस शरीर में, जो मल-मूत्र जैसा गंदी वस्तुओं से पूरित है; मान—गर्व रूपी; अहि—सर्प से; विदष्ट—दंशित, काटा गया; दृष्टेः—दृष्टि वाले का; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; वचः—शब्द, वाणी; ते—तुम्हारी; अमृतम्—अमृत; औषधम्—दवा; मे—मेरे लिए।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मेरा शरीर मल से पूर्ण और मेरी दृष्टि गर्व रूपी सर्प द्वारा दंशित है। अपनी भौतिक बुद्धि के कारण मैं रुग्ण हूँ। इस प्रकार के ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के लिए आपके अमृतमय उपदेश वैसे ही हैं जैसे कि धूप (लू) से झुलसे हुए व्यक्ति के लिए शीतल जल होता है।

तात्पर्य : बद्धजीव का शरीर गन्दी वस्तुओं—अस्थि, रक्त, मूत्र, मल इत्यादि—से भरा रहता है। तो भी इस संसार के बुद्धिमान मनुष्य सोचते हैं कि वे रक्त, अस्थि, रक्त, मूत्र तथा मल के योग से बने हैं। यदि ऐसा है, तो फिर इन सर्वसुलभ पदार्थों से अन्य बुद्धिमान व्यक्ति क्यों नहीं बनाये जा सकते? सम्पूर्ण संसार देहात्मबुद्धि से अभिभूत है और भले मनुष्य के रहने के लिए नारकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं। जड़ भरत ने राजा रहूगण को जो उपदेश दिये हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वे सर्पदंश की औषधि तुल्य हैं। वैदिक उपदेश झुलसती गर्मी से पीड़ित व्यक्ति के लिए अमृत एवं शीतल जल के समान हैं।

तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम् ।
अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-

माख्याहि कौतूहलचेतसो मे ॥ ३॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत:; भवन्तम्—आपको; मम—मुझको; संशय-अर्थम्—वे विषय जिसका अर्थ मुझे ज्ञात नहीं; प्रक्ष्यामि—कहूँगा; पश्चात्—बाद में; अधुना—इस समय; सु-बोधम्—सरलता से समझ में आ जाने वाला, बोधगम्य; अध्यात्म-योग—आत्म-साक्षात्कार हेतु योग शिक्षा का; ग्रथितम्—रचित; तव—तुम्हारी; उक्तम्—वाणी, वचन; आख्याहि—पुनः विस्तार से समझाइये; कौतूहल-चेतसः—ऐसे उत्कण्ठा से पूर्ण कथनों के मर्म को समझने के लिए जिसका मन अत्यन्त उत्सुक है; मे—मुझको।

यदि किसी विशेष विषय पर मेरी शंकाएँ रह गई हैं, तो मैं उनके सम्बन्ध में आपसे बाद में पूछूँगा। किन्तु इस समय आपने आत्म-साक्षात्कार के लिए जो गूढ़ योग के उपदेश दिये हैं उनको समझ पाना कठिन है। कृपया उन्हें सरल रीति से पुनः कहें जिससे मैं उन्हे समझ सकूँ। मेरा मन अत्यन्त उत्सुक है और मैं इसे भलीभाँति समझ लेना चाहता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य का उपेदश है—*तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।* बुद्धिमान व्यक्ति को दिव्य विज्ञान (तत्त्व) अच्छी प्रकार जानने के लिए परम उत्सुक (जिज्ञासु) होना चाहिए। इसके लिए उसे गुरु के निकट जाना चाहिए। यद्यपि जड़ भरत ने महाराज रहूगण को प्रत्येक वस्तु विस्तार से समझा दी थी, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी बुद्धि उसे समझने में पूर्ण समर्थ न थी। अत: उसने आगे विवेचना के लिए प्रार्थना की। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.३४) में कहा गया है—*तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।* विद्यार्थी को चाहिए कि गुरु के निकट पहुँच कर पूर्ण समर्पण कर दे (*प्रणिपातेन*)। उसे चाहिए कि उसके उपदेश समझने के लिए वह प्रश्न भी पूछे (*परिप्रश्नेन*)। उसे चाहिए कि गुरु को न केवल समर्पण करे, वरन् उनकी प्रेमपूर्ण सेवा करे (*सेवया*) जिससे गुरु प्रसन्न होकर उसे दिव्य विषय को ठीक से समझा दे। यदि कोई वैदिक उपदेशों को गम्भीरता से सीखना चाहता है, तो गुरु से स्पर्द्धा नहीं रखनी चाहिए।

यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम् ।
न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन्भ्रमते मनो मे ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्—जो; आह—आपने कहा है; योग-ईश्वर—हे योग शक्ति के स्वामी; दृश्यमानम्—भली-भाँति दिखते हुए; क्रिया-फलम्—शरीर को इधर-उधर हिलाने डुलाने का फल यथा थकान; सत्—विद्यमान; व्यवहार-मूलम्—जिसका आधार केवल शिष्टता है; न—नहीं; हि—निश्चय ही; अञ्जसा—वस्तुतः-वास्तव में; तत्त्व-विमर्शनाय—विमर्श द्वारा सत्य को समझने के लिए; भवान्—आप; अमुष्मिन्—उस कथन में; भ्रमते—चक्कर काट रहा है; मनः—मन; मे—मेरा।

हे योगेश्वर, आपने कहा है कि शरीर को इधर-उधर हिलाने-डुलाने से उत्पन्न थकान प्रत्यक्ष

अनुभवगम्य है, किन्तु वास्तव में कोई थकान नहीं रहती। वह तो कहने के लिए होती है। ऐसे प्रश्नोत्तरों से परम सत्य के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। आपके इस कथन से मेरा मन कुछ-कुछ विचलित है।

तात्पर्य : देहात्म-बुद्धि के सम्बन्ध में औपचारिक प्रश्नोत्तर से परम सत्य का ज्ञान नहीं होता। शारीरिक सुखों तथा दुखों की औपचारिक समझ परम सत्य के ज्ञान से भिन्न है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि शरीर द्वारा सुख-दुख का अनुभव क्षणिक है; वे तो आत-जाते रहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इनसे विचलित न हो, वरन् इन्हें सहन करके आत्मतत्त्व प्राप्त करने में लगा रहे।

ब्राह्मण उवाच

अयं जनो नाम चलन्पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः ।
तस्यापि चाङ्घ्र्योरधि गुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥ ॥
अंसेऽधि दार्वी शिबिका च यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते ।
यस्मिन्भवान्रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; अयम्—यह; जनः—पुरुष; नाम—पदवी; चलन्—चलते हुए; पृथिव्याम्—पृथ्वी पर; यः—जो; पार्थिवः—पृथ्वी का रूप; पार्थिव—हे राजा, जिसका शरीर पार्थिव है; कस्य—किस; हेतोः—कारण; तस्य अपि—उसका भी; च—तथा; अङ्घ्र्योः—पाँव; अधि—ऊपर; गुल्फ—टखने; जङ्घा—पिंडली; जानु—घुटने; उरु—जघन, जाँघ; मध्योर—कटि, कमर; शिरः-धर—गर्दन; अंसाः—कंधे; अंसे—कंधा; अधि—ऊपर; दार्वी—लकड़ी की बनी हुई; शिबिका—पालकी; च—तथा; यस्याम्—जिस पर; सौवीर-राजा—सौवीर का राजा; इति—इस प्रकार; अपदेशः—विख्यात; आस्ते—है; यस्मिन्—जिसमें; भवान्—आप; रूढ—आसीन; निज-अभिमानः—मिथ्या प्रतिष्ठा का भाव; राजा अस्मि—राजा हूँ; सिन्धुषु—सिन्धु राज्य में; इति—इस प्रकार; दुर्मद-अन्धः—अहंकार के वशीभूत, मद से अंधे।

स्वरूपसिद्ध ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा—अनेक भौतिक संयोगों में विविध रूप तथा पार्थिव रूपान्तर विद्यमान हैं। कुछ कारणवश ये पृथ्वी पर हिलते-डुलते हैं और पालकीवाहक (कहार) कहलाते हैं। इनमें से वे रूपान्तर जो गति नहीं करते वे पत्थर जैसे स्थूल पदार्थ हैं। प्रत्येक दशा में यह भौतिक देह पाँव, टखना, पिंडली, घुटना, जाँघ, कमर, गर्दन तथा सिर के रूप में मिट्टी तथा पत्थर से बनी हैं। इसके कंधों के ऊपर काठ की पालकी रखी है और उसके भीतर सौवीर का

राजा बैठा है। राजा का शरीर मिट्टी का अन्य रूपान्तर मात्र है, किन्तु उस शरीर के भीतर आप स्थिर हैं और अहंकारवश अपने को सौवीर राज्य का राजा मान रहे हैं।

तात्पर्य : पालकीवाहक तथा पालकी के यात्री के शरीरों का विश्लेषण करते हुए जड़ भरत इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तविक प्राणशक्ति तो जीवात्मा है। जीवात्मा भगवान् विष्णु का ही अंश रूप है, अत: इस संसार में समस्त चर तथा अचर वस्तुओं में मुख्य तत्त्व तो भगवान् विष्णु हैं। उनकी उपस्थिति के कारण ही प्रत्येक वस्तु कार्यशील है और कर्म तथा फल होते हैं। जो यह जानता है कि प्रत्येक वस्तु का मूल कारण भगवान् विष्णु हैं उसे तत्त्वज्ञानी समझना चाहिए। यद्यपि राजा रहूगण को राजा होने का अहंकार था, किन्तु वह तत्त्वज्ञानी नहीं था। इसीलिए वह कहारों को, जिनमें स्वरूपसिद्ध ब्राह्मण जड़ भरत भी थे, डाँट रहा था। जड़ भरत द्वारा राजा पर यह पहला आरोप था, जो प्रत्येक वस्तु को पदार्थ मान कर अविद्या के कारण आत्मसिद्ध ब्राह्मण से बोलने का दुस्साहस कर रहा था। राजा रहूगण का तर्क था कि जीवात्मा तो शरीर के भीतर है; अत: जब शरीर थकता है, तो उसके भीतर का जीवात्मा अवश्य कष्ट भोगता होगा। लेकिन अगले श्लोकों में यह भली-भाँति समझाया गया है कि शरीर की थकान से जीवात्मा को कष्ट नहीं होता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती आभूषणों से लदे एक बच्चे का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि बच्चे का शरीर अत्यन्त सुकुमार होता है, किन्तु न तो उसे थकान का अनुभव होता है और न उसके अभिभावक ही आभूषणों को उतारने के लिए व्यग्र होते हैं। जीवात्मा को शारीरिक सुख-दुख से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। ये तो मानसिक कूट रचनाएँ हैं। जो बुद्धिमान व्यक्ति होगा वह हर चीज का कारण ढूँढ निकालेगा। लौकिक व्यवहार में भौतिक संयोगों तथा परिवर्तन क्रम को तथ्य कहा जा सकता है, किन्तु जीवन-शक्ति, आत्मा, को इनसे कोई सरोकार नहीं रहता। जो भौतिक दृष्टि से असंतुलित हैं, वे शरीर की परवाह करते हैं और ''दरिद्र नारायण'' की सृष्टि करते हैं। किन्तु यह सच नहीं है कि शरीर के दरिद्र (निर्धन) होने से आत्मा या परमात्मा भी दरिद्र हो जाता है। ऐसा तो अज्ञानी ही कहता है। आत्मा तथा परमात्मा शारीरिक सुख-दुख से सर्वथा पृथक् हैं।

शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीनान्

विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि ।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः ॥ ७॥

शब्दार्थ

शोच्यान्—शोचनीय है; इमान्—ये सब; त्वम्—तुम; अधि-कष्ट-दीनान्—अपनी दरिद्रता के कारण बेचारे लोग और अधिक कष्ट उठा रहे हैं; विष्ट्या—बलपूर्वक; निगृह्णन्—पकड़े हुए; निरनुग्रहः असि—तुम अत्यन्त दया से हीन हो; जनस्य—सामान्य लोगों का; गोप्ता अस्मि—मैं रक्षक (राजा) हूँ; विकत्थमानः—डींग मारते हुए; न शोभसे—तुम्हें शोभा नहीं देता; वृद्ध-सभासु—विद्वानों की सभा में; धृष्टः—बढ़-चढ़कर बातें करने वाला, उद्धत।

किन्तु यह सच है कि बेगारी में तुम्हारी पालकी ले जाने वाले ये निर्दोष व्यक्ति इस अन्याय के कारण कष्ट उठा रहे हैं। उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय है, क्योंकि तुमने अपनी पालकी ले जाने के लिए जबरन उन्हें लगा रखा है। इससे सिद्ध होता है कि तुम क्रूर तथा निर्दय हो। तो भी अहंकारवश तुम यह सोच रहे थे कि तुम प्रजा के रक्षक हो। यह हास्यास्पद है। तुम जैसे मूर्ख को ज्ञानी पुरुषों की सभा में भला कौन महान् पुरुष मान सकता है?

तात्पर्य : राजा रहूगण को अपने राजा होने का अभिमान था और वह सोचता था कि उसे अपनी प्रजा पर अपनी इच्छानुसार नियंत्रण रखने का उसे अधिकार था जबकि वह बेगारी में लोगों से पालकी ढुलवा कर अकारण ही उन्हें पीड़ित कर रहा था। इतने पर भी वह अपने को प्रजा का रक्षक मानता था। वस्तुत: राजा को श्रीभगवान् का प्रतिनिधि होना चाहिए। इसीलिए वह नरदेवता—अर्थात् मनुष्यों में राजा—कहलाता है किन्तु यदि राजा अपने को राज्य का प्रमुख समझकर प्रजा का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है, तो वह गलती करता है। विद्वान ऐसी प्रवृत्ति की प्रशंसा नहीं करते। वैदिक नियमों के अनुसार राजा को विद्वान साधुओं, ब्राह्मणों तथा विद्वानों से सलाह लेनी चाहिए जो कि धर्मशास्त्र में दिये गये आदेशों के अनुसार सलाह देते हैं। राजा का धर्म है कि वह इन आदेशों को माने। विद्वानजन राजा द्वारा प्रजा का उपयोग कभी पसन्द नहीं करते। उसे चाहिए कि वह प्रजा को संरक्षण प्रदान करे। राजा को ऐसा दुष्ट नहीं सिद्ध होना चाहिए कि वह अपने स्वार्थ हेतु प्रजा का शोषण करे।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि कलियुग में राज्य के शासक डाकू तथा चोर होंगे। ये डाकू तथा चोर जनता के धन तथा उनकी सम्पत्ति को छल से या बलपूर्वक ले लेते हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्यु-धर्मभिः ।* ज्यों-ज्यों कलियुग पास आ रहा है, ये लक्षण पहले से ही

दृष्टिगोचर होने लगे हैं। हम सोच सकते हैं कि कलियुग के अन्त तक मानवीय सभ्यता किस अधोगति को प्राप्त होगी। निस्संदेह, कोई ऐसा ज्ञानी पुरुष नहीं बचेगा जो ईश्वर को तथा उसके साथ हमारे सम्बन्धों को समझ सके। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सभी मनुष्य पशु तुल्य हो जाएँगे। उस समय समाज को सुधारने के लिए श्रीकृष्ण कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होंगे। उनका कार्य होगा अन्ततः नास्तिकों का वध, क्योंकि अन्ततः विष्णु या कृष्ण ही वास्तविक त्राता हैं।

जब तथाकथित राजा तथा राज्य के आमात्य कुव्यवस्था फैलाते हैं, तो ईश्वर अवतार लेते हैं और व्यवस्था लाते हैं। श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं—*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।* निस्संदेह, इसमें अनेक वर्ष लगते हैं, किन्तु नियम यही है कि जब राजा या आमात्य उचित नियमों का पालन नहीं करते तो प्रकृति युद्ध, अकाल इत्यादि के रूप में दण्ड देती है। अतः यदि वे जीवन के परम उद्देश्य से परिचित नहीं हैं, तो उन्हें प्रजा पर शासन करने का भार नहीं लेना चाहिए। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु के परम स्वामी तो भगवान् विष्णु हैं। वह सबों का पालक हैं। राजा, पिता तथा अभिभावक ये तो भगवान् विष्णु के प्रतिनिधिमात्र होते हैं जिनके ऊपर व्यवस्था की रखवाली तथा व्यवस्था को बनाये रखने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। अतः राजा का यह कर्तव्य है कि प्रजा को इस प्रकार रखे कि उसे अन्ततः जीवन-उद्देश्य का ज्ञान हो सके। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्।* दुर्भाग्यवश न तो राजा, न ही जनता यह जानती है कि जीवन का परम उद्देश्य भगवान् विष्णु को जानना और उन तक पहुँचना है। इस ज्ञान के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति अज्ञान में रहता है और सारे समाज में वंचकों और वंचितों की भरमार हो जाती है।

यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम् ।
तन्नामतोऽन्यद्व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत्क्रिययानुमेयम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यदा—अतः; क्षितौ—पृथ्वी पर; एव—निश्चय ही; चर-अचरस्य—चर तथा अचर का; विदाम—हम जानते हैं; निष्ठाम्—प्रलय, संहार; प्रभवम्—सृष्टि; च—तथा; नित्यम्—प्रकृति के नियमों से नियमित रूप से; तत्—वह; नामतः—केवल नाम से; अन्यत्—अन्य; व्यवहार-मूलम्—भौतिक कार्यों का कारण; निरूप्यताम्—निश्चित किया गया; सत्-क्रियया—वास्तविक कार्य से; अनुमेयम्—निष्कर्ष निकालना चाहिए।

हम इस पृथ्वी के ऊपर विभिन्न रूपों में जीवात्माएँ हैं। हममें से कुछ गतिशील हैं, तो कुछ

गति नहीं करते। हम सभी उत्पन्न होते हैं, कुछ समय तक रहते हैं और नष्ट हो जाने पर पृथ्वी में पुन: मिल जाते हैं। हम सभी पृथ्वी के विभिन्न रूपान्तर (पार्थिव) हैं; विभिन्न शरीर तथा उपाधियाँ पृथ्वी के रूपान्तर मात्र हैं और नाम के लिए ही विद्यमान रहती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु पृथ्वी से निकलती है और जब सब कुछ विनष्ट हो जाता है, तो वह फिर पृथ्वी में मिल जाती है। दूसरे शब्दों में, हम केवल धूल हैं और धूल ही रहेंगे। सबों को इस पर विचार करना चाहिए।

तात्पर्य : *ब्रह्मसूत्र* (२.१.१४) में कहा गया है कि— *तद्-अनन्यत्वम् आरभम्भण-शब्दादिभ्य:।* यह विराट जगत पदार्थ तथा आत्मा का मिश्रण है किन्तु इसका कारण तो परब्रह्म श्रीभगवान् हैं। अत: *श्रीमद्भागवत* (१..२०) में कहा गया है कि— *इदं हि विश्वं भगवानिवेतर:।* यह सम्पूर्ण विराट् जगत श्रीभगवान् की शक्ति का रूपान्तर मात्र है, किन्तु मोहवश किसी की समझ में यह नहीं आता कि ईश्वर इस भौतिक जगत से अभिन्न है। वस्तुत: वह भिन्न नहीं है। यह भौतिक जगत उसकी विभिन्न शक्तियों का केवल रूपान्तर है— *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।* वेदों में इसके अन्य रूप भी हैं— *सर्वं खल्विदं ब्रह्म।* द्रव्य तथा आत्मा भगवान् से अभिन्न हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.४) में इसकी पुष्टि की है— *मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।* माया श्रीकृष्ण की शक्ति है, किन्तु वह उनसे पृथक् है। आत्म-शक्ति भी उन्हीं की शक्ति है, किन्तु यह उनसे अभिन्न है। जब यह माया परमात्मा की सेवा में तत्पर होती है, तो वह तथाकथित भौतिक शक्ति भी आत्मशक्ति में बदल जाती है, जिस प्रकार आग में रखने पर लोहा भी आग हो जाता है। जब हम विश्लेषण द्वारा यह समझ सकेंगे कि श्रीभगवान् कारणस्वरूप हैं, तो हमारा ज्ञान पूर्ण होगा। विभिन्न शक्तियों के रूपान्तर मात्र को समझ लेना अर्धज्ञान है। हमें परम कारण तक पहुँचना है। *न ते विदु: स्वार्थ गतिं हि विष्णुम्।* जो लोग समस्त स्रोतों के मूल कारण को जानने में रुचि नहीं रखते उनका ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता। इस प्रत्यक्ष संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो श्रीभगवान् की परम शक्ति से उत्पन्न न हो सके। पृथ्वी से प्राप्त सुगन्धियाँ पृथ्वी से ही उद्भूत हैं, भले ही हम उन्हें नाना प्रकार से व्यवहार में लाएं किन्तु इनका मूल कारण पृथ्वी ही है और कुछ नहीं। मिट्टी के बने जलपात्र का उपयोग भले ही हम कुछ काल तक जल भरने के लिए करें, किन्तु वह पात्र मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अत: पात्र में और उसके मूल अवयव के अर्थात् मिट्टी में कोई अन्तर नहीं है। यह मात्रशक्ति का विभिन्न परिवर्तन है। मूल कारण या मूल अवयव तो श्रीभगवान् हैं और

उसकी विभिन्न किस्में आनुषंगिक फल हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है—*यथा सौम्यकेन मृतपिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भनां विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।* पृथ्वी का अध्ययन करने वाले को स्वभावत: पृथ्वी के आनुषंगिक फलों का भी ज्ञान हो जाता है। इसीलिए वेद कहते हैं—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वम् एवं विज्ञातं भवति*—यदि कोई आदि कारण कृष्ण को, जो समस्त कारणों के भी कारण हैं, जान लेता है, तो उसे प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है, भले ही वह विभिन्न किस्मों (प्रकारों) में प्रस्तुत क्यों न हो। इन विभिन्न किस्मों (प्रकारों) के मूल कारण को समझने पर प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है। यदि हम प्रत्येक वस्तु के मूल कारण श्रीकृष्ण को समझ सकें तो हमें उसकी गौण किस्मों (प्रकारों) को पृथक् से जानने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। अत: प्रारम्भ से ही कहा गया है—*सत्यं परं धीमहि।* मनुष्य को परम सत्य श्रीकृष्ण या वासुदेव पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। वासुदेव शब्द पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का सूचक है, जो समस्त कारणों के कारण हैं। *मत्-स्थानि सर्व-भूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:।* यह प्रत्यक्ष तथा सात्विक दर्शन का सार है। व्यवहार-संसार तात्विक संसार पर आश्रित है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ परमेश्वर की शक्ति के कारण विद्यमान है यद्यपि हमारी अविद्या के कारण परमेश्वर प्रत्येक पदार्थ में दिखाई नहीं पड़ता।

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात्परमाणवो ये ।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निरुक्तम्—मिथ्या वर्णन किया गया; क्षिति-शब्द—क्षिति अर्थात् "पृथ्वी" शब्द; वृत्तम्—उपस्थिति; असत्—असत्य; निधानात्—विलीन होने से; परम-अणवः—अत्यन्त सूक्ष्म कण; ये—जो सब; अविद्यया—अविद्या अर्थात् अज्ञान से; मनसा—मन से; कल्पिताः—कल्पना किये हुए; ते—वे; येषाम्—जिनका; समूहेन—समूह के द्वारा; कृतः—बनाया हुआ; विशेषः—विशेष।

कोई यह कह सकता है कि विविधता तो स्वयं पृथ्वी से उत्पन्न होती है। तथापि यह ब्रह्माण्ड भले ही थोड़े समय तक सत्य प्रतीत हो पर वास्तव में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह पृथ्वी मूलतः सूक्ष्म कणों के संयोग से उत्पन्न हुई थी, किन्तु ये कण अस्थायी हैं। वास्तव में परमाणु ब्रह्माण्ड का कारण नहीं, यद्यपि कुछ दार्शनिक ऐसा सोचते हैं। यह सत्य नहीं है कि इस संसार में पाई जाने वाली विविधता (किस्में) परमाणुओं के उलट-पुलट या विविध संयोगों का

प्रतिफल है।

तात्पर्य : जो परमाणुवाद के समर्थक हैं उनका विचार है कि परमाणुओं के प्रोटान तथा इलेक्ट्रान मिलकर विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति करते हैं। किन्तु वैज्ञानिकगण परमाणु के ही अस्तित्व का कारण खोजने में असमर्थ हैं। ऐसी दशा में हम यह नहीं कह सकते कि परमाणु ही ब्रह्माण्ड का कारणस्वरूप है। ऐसे सिद्धान्त अज्ञानी लोग प्रस्तुत करते हैं। वास्तविक बुद्धि के अनुसार इस विराट् जगत का असली कारण परमेश्वर है। *जन्माद्यस्य यतः*—वह समस्त सृष्टि का मूल कारण है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा गया है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—कृष्ण ही मूल कारण हैं। *सर्व कारण-कारणं*—वह समस्त कारणों के कारण हैं। कृष्ण ही परमाणु अथवा भौतिक ऊर्जा (शक्ति) के कारण हैं (*भगवद्गीता* ७.४)—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

परम कारण भगवान् हैं और केवल अज्ञानी व्यक्ति ही विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा अन्य कारणों की खोज का प्रयत्न करते हैं।

एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यद्
असच्च सज्जीवमजीवमन्यत् ।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कृशम्—दुर्बल या छोटा; स्थूलम्—मोटा; अणुः—लघु; बृहत्—बड़ा; यत्—जो; असत्—अस्थायी; च—तथा; सत्—अस्तित्वमान्; जीवम्—जीवात्मा; अजीवम्—जड़, जीवरहित पदार्थ; अन्यत्—अन्य कारण; द्रव्य—घटना; स्व-भाव—प्रकृति, आचरण; आशय—मन्तव्य; काल—समय; कर्म—कार्य, वृत्ति; नाम्ना—नामों से; अजया—प्रकृति द्वारा; अवेहि—तुम्हें समझना चाहिए; कृतम्—किया गया; द्वितीयम्—द्वैत।

चूँकि इस ब्रह्माण्ड का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, अतः इसके भीतर की वस्तुएँ—यथा लघुता, अन्तर, स्थूलता, कृशता, सूक्ष्मता, विशालता, परिणाम, कारण, कार्य, चेतना तथा द्रव्य—ये सब काल्पनिक हैं। ये एक ही वस्तु-मिट्टी के बने पात्र हैं, किन्तु इनके नाम भिन्न-भिन्न हैं। ये अन्तर पदार्थ, प्रकृति, आशय, काल तथा क्रिया (कर्म) द्वारा जाने जाते हैं। तुम्हें जानना चाहिए कि ये प्रकृति द्वारा उत्पन्न यांत्रिक अभिव्यक्तियाँ हैं।

तात्पर्य : इस जगत में क्षणिक अभिव्यक्तियाँ तथा विविधताएँ विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत भौतिक प्रकृति की सृष्टियाँ हैं—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।* कभी-कभी प्रकृति द्वारा सम्पन्न कर्म तथा फल को हम वैज्ञानिक आविष्कार मान बैठते हैं और इस प्रकार ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करके वाहवाही लूटते हैं। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* (३.२७) में हुआ है—*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते*—बहिरंगा शक्ति के द्वारा प्रच्छन्न होने से जीवात्मा इस जगत की विभिन्न सृष्टियों का यश लूटना चाहता है। वस्तुतः ये सभी भगवान् की शक्ति से गतिमान होकर स्वतः उत्पन्न होती हैं। अतः चरम कारण तो परम पुरुष है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

वह समस्त कारणों का कारण—परम कारण है। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य का कहना है—*एवं सर्वं तथा प्रकृत्वयै कल्पितं विष्णोरन्यत्। एवं प्रकृत्याधारः स्वयं अनन्याधारो विष्णुरेव। अतः सर्व-शब्दाश्च तस्मिन्नेव।* वस्तुतः विष्णु ही मूल कारण हैं, किन्तु अज्ञानवश मनुष्य सोचता है कि पदार्थ ही प्रत्येक वस्तु का कारण है।

राजा गोप्ताश्रयो भूमिः शरणं चेति लौकिकः।

व्यवहारो न तत् सत्यं तयोर्ब्रह्माश्रयो विभुः॥

ये बातें ऊपर-ऊपर सोची जाती हैं, किन्तु सत्य यह नहीं है। प्रत्येक प्राणी का वास्तविक रक्षक तथा आश्रय परब्रह्म होता है, राजा नहीं।

गोप्त्री च तस्य प्रकृस्तिस्या विष्णुः स्वयं प्रभुः।

तव गोप्त्री तु पृथ्वी न त्वं गोप्ता क्षितेः स्मृतः॥

अतः सर्वाश्रयैश्चैव गोप्ता च हरिरीश्वरः।

सर्वशब्दाभिधेयश्च शब्दवृत्तेहि कारणम्॥

सर्वान्तरः सर्वबहिरेक एव जनार्दनः॥

वास्तविक रक्षक तो प्रकृति है, किन्तु विष्णु उसका भी स्वामी है। वह प्रत्येक वस्तु का स्वामी है। भगवान् जनार्दन अन्तः तथा बाह्य दोनों रूप में अधीक्षक हैं। वे वाणी तथा शब्दों से जो भी व्यक्त होता

है उसके कारण हैं।

शिरसोधारता यद्वद् ग्रीवायास्तद्वदेव तु।

आश्रयत्वं च गोप्तृत्वम् अन्येषाम् उपचारतः॥

भगवान् विष्णु सम्पूर्ण सृष्टि के विश्राम-स्थल–हैं *ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्* (*भगवद्गीता* १४.२७)। ब्रह्म पर ही सब कुछ टिका है। सभी ब्रह्माण्ड *ब्रह्मज्योति* पर टिके हैं और सभी लोक (ग्रह) वायुमण्डल में टिके हैं। प्रत्येक लोक में समुद्र, पर्वत, राज्य, साम्राज्य हैं और प्रत्येक लोक में न जाने कितनी जीवात्माएँ आश्रय पाती हैं। ये जीवात्माएँ पैरों, जाँघों, कटि, कंधों की पृथ्वी पर खड़ी हैं, किन्तु वस्तुतः प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् की शक्तियों पर टिकी है। इसलिए अन्ततोगत्वा वह *सर्व-कारण-कारणम्* कहे जाते हैं।

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक्प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—परम ज्ञान; विशुद्धम्—कल्मषहीन, शुद्ध; परम-अर्थम्—जीवन का परम उद्देश्य प्रदान करने वाला; एकम्—एक; अनन्तरम्—अन्तरविहीन; तु—भी; अबहिः—बाह्यरहित; ब्रह्म—ब्रह्म, परम; सत्यम्—परम सत्य; प्रत्यक्—आन्तरिक, आभ्यन्तर; प्रशान्तम्—शान्त परमेश्वर, जिसकी उपासना योगी करते हैं; भगवत्-शब्द-संज्ञम्—भगवान् शब्द से ज्ञात अथवा सम्पूर्ण ऐश्वर्य से पूर्ण; यत्—उस; वासुदेवम्—श्रीकृष्ण, वसुदेव के पुत्र को; कवयः—बुद्धिमान अथवा विद्वान; वदन्ति—कहते हैं।.

तो फिर परम सत्य क्या है? उत्तर है अद्वैत ज्ञान जो भौतिक गुणों के कल्मष से रहित है। वह मुक्तिप्रदायक है। वह अद्वितीय, सर्वव्यापी तथा कल्पनातीत है। उस ज्ञान की प्रथम प्रतीति ब्रह्म है। फिर योगियों द्वारा अनुभव किया जाने वाला परमात्मा है। जो बिना किसी कष्ट के उसे देखने का प्रयास करते है यह प्रतीति की दूसरी अवस्था है। अन्त में परम पुरुष में ही उसी परम ज्ञान की पूर्ण प्रतीति की जाती है। सभी विद्वान परम पुरुष को वासुदेव के रूप में वर्णन करते हैं, जो ब्रह्म, परमात्मा आदि का कारण है।

तात्पर्य : *चैतन्य चरितामृत* में कहा गया है— *यद् अद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा।* परम सत्य का निर्गुण-ब्रह्मतेज पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दैहिक किरणों का बना होता है। *य आत्मान्तरयामी पुरुष*

इति सोऽस्यांश-विभवः। आत्मा तथा अन्तर्यामी अथवा परमात्मा श्रीभगवान् का ही विस्तार है। *षड्-ऐश्वर्यैः पूर्णो य इह भगवान् स स्वयं अयम्।* जिसे श्रीभगवान् कहा गया है और जो छः ऐश्वर्यों से ओतप्रोत है वह वासुदेव है और श्री चैतन्य महाप्रभु उससे अभिन्न हैं। बड़े-बड़े विद्वान तथा दार्शनिक अनेक जन्मों के बाद इसे स्वीकार करते हैं। *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः* (*भगवद्गीता* ७.१९)। बुद्धिमान मनुष्य जान सकते हैं कि अन्ततः वासुदेव कृष्ण ही ब्रह्म तथा परमात्मा के कारण हैं। इस प्रकार वासुदेव *सर्वकारण-कारणम्* है। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१.२.११) में की गई है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

वास्तविक तत्त्व अर्थात् परम सत्य तो भगवान् हैं, किन्तु परम सत्य की अपूर्ण प्रतीति से कभी कभी लोग उसी विष्णु को निर्गुण ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा कहते हैं।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही कहा गया है—*सत्यं परं धीमहि* —हम परम सत्य का ध्यान करते हैं। यहाँ पर परम सत्य को *ज्ञानं विशुद्धं सत्यम्* के रूप में बताया गया है। परम सत्य कल्मषरहित एवं दिव्य होता है। इससे सभी आत्म-सिद्धियाँ एवं भौतिक जगत से मुक्ति प्राप्त होती है। परम सत्य तो वासुदेव कृष्ण हैं। कृष्ण के बाह्य तथा अन्तः में कोई अन्तर नहीं है। वे पूर्ण हैं। उनके शरीर तथा आत्मा में हमारे-जैसा अन्तर नहीं है। कभी-कभी तथाकथित विद्वान कृष्ण की वास्तविक स्थिति से परिचित न होने के कारण लोगों को यह कह कर गुमराह करते रहते हैं कि अन्तःकरण में स्थित कृष्ण बाह्य रूप में स्थित कृष्ण से भिन्न हैं। *मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—कृष्ण के इस कथन के अनुसार कुछ तथाकथित विद्वान पाठकों (श्रोताओं) को यह उपदेश देते हैं कि हमें व्यक्ति-कृष्ण को समर्पण न करके आन्तरिक कृष्ण को करना चाहिए। ये तथाकथित मायावादी विद्वान अपने अल्पज्ञान से कृष्ण को कभी नहीं समझ पाएँगे। अतः मनुष्य को किसी प्रामाणिक व्यक्ति के पास जाना चाहिए जिससे वे कृष्ण को समझ सकेंगे। सद्गुरु कृष्ण को वास्तव में सदा देखे रहता है, अतः वही उसका सही-सही वर्णन कर सकता है। तभी तो *भगवद्गीता* (४.३४) में कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

बिना अधिकारी विद्वान के पास गये कृष्ण को नहीं समझा जा सकता।

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

रहूगण—हे राजा रहूगण; एतत्—यह ज्ञान; तपसा—कठिन तपस्या द्वारा; न याति—नहीं आता; न—नहीं; च—भी; इज्यया—श्रीविग्रह की पूजा के लिए महत् आयोजन से; निर्वपणात्—अथवा समस्त सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करने और संन्यास ग्रहण करने से; गृहात्—आदर्श गृहस्थ जीवन से; वा—अथवा; न—न तो; छन्दसा—ब्रह्मचर्य धारण करने या वेदों के अध्ययन से; न एव—न तो; जल-अग्नि-सूर्यैः—जल, तपती धूप या जलती अग्नि में रह कर कठिन तपस्या करने से; विना—रहित; महत्—परम भक्तों की; पाद-रजः—चरण धूलि में; अभिषेकम्—शरीर मार्जन, स्नान।

हे राजा रहूगण, महापुरुषों के चरणकमलों की धूलि से सम्पूर्ण शरीर को मलने के लिए बिना परम सत्य की प्रतीति नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य धारण करने, गृहस्थ जीवन के विधि-विधानों के अनुपालन, वानप्रस्थ के रूप में गृहत्याग अथवा संन्यास ग्रहण करने या शीत ऋतु में जल में घुस कर घोर तपस्या करने, या ग्रीष्म में अग्नि से घिर रहने झुलसती धूप में पड़े रहने जैसी कठिन तपस्याओं से परम सत्य की प्रतीति नहीं हो सकती। परम सत्य को जानने के और भी अनेक साधन हैं, किन्तु परम सत्य उसे ही प्राप्त होता है, जिसे किसी महान् भक्त का अनुग्रह प्राप्त हो।

तात्पर्य : केवल विशुद्ध भक्त ही किसी को दिव्य आनन्द का वास्तविक ज्ञान प्रदान कर सकता है। *वेदेषु दुर्लभम् अदुर्लभम् आत्म-भक्तौ।* केवल वेदों के आदेशों के पालन से आत्मसिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। मनुष्य को विशुद्ध भक्त के पास पहुँचना होता है—*अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृत्तम्।* ऐसे भक्त के अनुग्रह से परम सत्य कृष्ण और उनसे अपने सम्बन्ध को समझा जा सकता है। भौतिकवादी व्यक्ति कभी-कभी सोच बैठता है कि पुण्यकर्म करके तथा घर पर ही रह करके ही परम सत्य को समझा जा सकता है। इस श्लोक में इसको अस्वीकार किया गया है। न ही कोई ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करके परम सत्य को जान सकता है। मनुष्य को केवल शुद्ध भक्त की सेवा करनी होती है। इससे परम सत्य समझ में आ जाएगा।

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिस स्थान में (भक्तों के समक्ष); उत्तम-श्लोक-गुण-अनुवादः—श्रीभगवान् की लीलाओं तथा गुणों की चर्चा; प्रस्तूयते—प्रस्तुत की जाती है; ग्राम्य-कथा-विघातः—जिसके कारण लौकिक विषयों की चर्चा के लिए अवसर नहीं मिलता; निषेव्यमाणः—अत्यन्त मनोयोग से सुनी जाकर; अनुदिनम्—नित्यप्रति; मुमुक्षोः—भौतिक बंधन से निकलने के लिए इच्छुक व्यक्ति का; मतिम्—ध्यान; सतीम्—शुद्ध तथा सरल; यच्छति—लगा देती है; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव के चरमकमलों में।.

यहां वर्णित वे शुद्ध भक्त कौन हैं? शुद्ध भक्तों की सभा में राजनीति या समाजशास्त्र जैसे सांसारिक विषयों पर चर्चा चलाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं, स्वरूप एवं गुणों की ही चर्चा होती है। उनकी प्रशंसा तथा उपासना पूर्ण मनोयोग से की जाती है। यहाँ तक कि विशुद्ध भक्तों की संगति से, ऐसे विषयों को लगातार आदर पूर्वक सुनने से ऐसा पुरुष जो परम सत्य में तदाकार होना चाहता है, वह भी अपने इस विचार को त्याग कर क्रमशः वासुदेव की सेवा में आसक्त हो जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुद्ध भक्तों के लक्षण बताये गये हैं। शुद्ध भक्त कभी भी सांसारिक विषयों में रुचि नहीं रखता। श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्तों को सांसारिक विषयों के सम्बन्ध में चर्चा करने के लिए वर्जित किया है। *ग्राम्य-वार्ता ना कहिबे*—मनुष्य को चाहिए कि भौतिक जगत के समाचारों के विषय में वृथा चर्चा करने में संलग्न न हो। मनुष्य को इस प्रकार से समय नहीं गँवाना चाहिए। भक्त के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण लक्षण है। भक्त के समक्ष श्रीकृष्ण की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य ध्येय नहीं होता। कृष्णभावनामृत आन्दोलन को इसलिए चलाया गया था जिससे लोगों को भगवान् की सेवा में निरन्तर व्यस्त रखा जा सके। इस संस्था के विद्यार्थी प्रातः पाँच बजे से लेकर रात्रि के दस बजे तक कृष्णभक्ति का अनुशीलन करते हैं। उन्हें राजनीति, समाजशास्त्र तथा सामयिक विषयों की वृथा चर्चा में समय गँवाने का अवसर ही नहीं मिल पाता। यह सब तो चलता ही रहेगा। भक्त को सकारात्मक और गम्भीर रूप से कृष्ण की भक्ति से सरोकार होता है।

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो

मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥ १४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; पुरा—पहले (पूर्व जन्म में); भरतः नाम राजा—भरत नाम का राजा; विमुक्त—मुक्त; दृष्ट-श्रुत—प्रत्यक्ष अनुभव से अथवा वेदों से ज्ञान प्राप्त करके; सङ्ग-बन्धः—संगति का बन्धन; आराधनम्—पूजा; भगवतः—भगवान् की; ईहमानः—सदैव करते हुए; मृगः अभवम्—मैं मृग बन गया; मृग-सङ्गात्—मृग के साथ घनिष्ठ मैत्री से; हत-अर्थः—भक्ति के विधि-विधानों की उपेक्षा करके।

मैं पूर्वजन्म में महाराज भरत के नाम से विख्यात था। मैंने प्रत्यक्ष अनुभव तथा वेद-ज्ञान से प्राप्त अप्रत्यक्ष अनुभव द्वारा सांसारिक कार्यों से पूर्णतया विरक्त होकर सिद्धि प्राप्त की। मैं पूर्णतया भगवान् की सेवा में तत्पर रहता था, किन्तु दुर्भाग्यवश मैं एक छोटे से मृग के प्रति इतना आसक्त हो उठा कि मैंने सारे आध्यात्मिक कर्तव्यों की उपेक्षा कर दी। मृग के प्रति प्रगाढ़ स्नेह के कारण अगले जन्म में मुझे मृग का शरीर अंगीकार करना पड़ा।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है—*विना महत्-पाद-रजोऽभिषेकम्*—महापुरुष के चरणकमल की धूलि को सिर पर धारण किये बिना सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। यदि सद्गुरु के आदेशों का निरन्तर पालन किया जाये तो गिरने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु ज्योंही अज्ञानी शिष्य महत्त्वाकांक्षा के कारण अपने गुरु का स्थान बलात् लेने का प्रयास करता है त्योंही उसका पतन हो जाता है। *यस्य प्रसादाद् भगवत्-प्रसादो यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।* यदि शिष्य गुरु को सामान्य व्यक्ति मानता है, तो उसकी प्रगति रुक जाती है। भक्ति करते हुए भी भरत महाराज ने मृग के प्रति अत्यधिक आसक्त होने पर किसी गुरु से सलाह नहीं ली। फलतः वे मृग से अत्यधिक आसक्त हो गये और अपने नैतिक कर्म भूल जाने से नीचे गिर गये।

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति ।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; माम्—मुझको; स्मृतिः—पूर्वजन्म के कर्मों की याद; मृग-देहे—मृग के शरीर में; अपि—यद्यपि; वीर—हे वीर; कृष्ण-अर्चन-प्रभवा—श्रीकृष्ण की एकनिष्ठ सेवा के प्रभाव से प्रकट; नो जहाति—नहीं छोड़ पाई; अथो—अतः; अहम्—मैं; जन-सङ्गात्—सामान्य पुरुषों के संसर्ग से; असङ्गः—पूर्णतया विरक्त; विशङ्कमानः—भयभीत होकर; अविवृतः—दूसरों से अलक्षित, गुप्त; चरामि—इधर-उधर घूमता हूँ।

हे वीर राजा, अपनी पूर्व अनन्य भगवत्-भक्ति के फलस्वरूप मृग शरीर में रहकर भी मुझे

पूर्वजन्म की प्रत्येक वस्तु स्मरण रही। चूँकि मैं अपने पूर्वजन्म के पतन से परिचित हूँ, अतः मैं सामान्य व्यक्तियों के संसर्ग से अपने को दूर रखता हूँ। उनकी कुसंगति से डरकर मैं अलक्षित (गुप्त) होकर अकेला घूमता फिरता हूँ।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.४०) में कहा गया है—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य।* सचमुच ही मनुष्य जीवन से पशु जीवन में पहुँचना महान् पतन है किन्तु भगवद्भक्ति कभी वृथा नहीं जाती जैसाकि जड़ भरत या अन्य भक्तों के प्रसंग में देखा जाता है। *भगवद्गीता* का (८.६) कथन है—*यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।* प्राकृतिक नियम के अनुसार मृत्यु के समय मन विशेष प्रकार के ध्यान में तल्लीन रहता है। इससे पशु जीवन मिल सकता है, किन्तु भक्त के लिए इससे कोई हानि नहीं पहुँचती। भरत महाराज को मृग शरीर प्राप्त होने पर भी अपनी पूर्वस्थिति स्मरण रही, फलतः मृग शरीर में भी उन्हें अपने पतन का कारण भली-भाँति स्मरण रहा। इसके कारण ही उनका जन्म अत्यन्त पवित्र ब्राह्मणकुल में हुआ। इस तरह उनकी भगवत्-सेवा वृथा नहीं गई।

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः ।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इस कारण से; नरः—प्रत्येक व्यक्ति; असङ्ग—सांसारिक पुरुषों के संसर्ग से विरक्त होकर; सु-सङ्ग—भक्तों की संगति से; जात—उत्पन्न; ज्ञान-असिना—ज्ञान रूपी तलवार से; इह—इस भौतिक जगत में; एव—यहाँ तक कि; विवृक्ण-मोहः—मोह छिन्न-छिन्न हो जाता है; हरिम्—श्रीभगवान्; तद्-ईहा—उनके कार्यों का; कथन-श्रुताभ्याम्—श्रवण तथा कीर्तन इन दो विधियों से; लब्ध-स्मृतिः—खोई चेतना प्राप्त हो जाती है; याति—प्राप्त करता है; अतिपारम्—परम अन्त; अध्वनः—परम धाम का।.

उन्नत भक्तों की संगति मात्र से पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और फिर ज्ञान की तलवार से सांसारिक मोहों को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। भक्तों की संगति से ही श्रवण तथा कीर्तन (श्रवणं कीर्तनम्) द्वारा भगवान् की सेवा में अनुरक्त हुआ जा सकता है। इस प्रकार से अपने सुप्त कृष्णभावनामृत को जागृत किया जा सकता है और कृष्णभावनामृत के अनुशीलन द्वारा इसी जीवन में परमधाम को वापस जाया जा सकता है।

तात्पर्य : भव-बंधन से मुक्त होने के लिए सांसारिक व्यक्तियों की संगति त्याग करके भक्तों की

संगति करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में सकारात्मक तथा नकारात्मक विधियाँ बताई गई हैं। भक्तों की संगति से सुप्त कृष्णभावनामृत जागृत होती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन सबों के लिए यह अवसर प्रदान कर रहा है। जो भी कृष्णभक्ति में आगे बढ़ना चाहता है उसे हम आश्रय देते हैं। हम उनके रहने तथा भोजन की व्यवस्था करते हैं जिससे वे शान्तिपूर्वक कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करके इसी जीवन में परम धाम को प्राप्त हो सकें।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज रहूगण तथा जड़ भरत की वार्ता'' नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

राजा रहूगण तथा जड़ भरत के बीच और आगे वार्ता

ब्राह्मण जड़ भरत राजा रहूगण पर अत्यन्त दयालु हो उठे और उसे इस जगत से छुड़ाने के लिए उन्होंने संसार रूपी जंगल (भवाटवी) का अलंकारिक वर्णन किया। उन्होंने बताया कि यह संसार एक विशाल जंगल के समान है, जिसमें भौतिक जीवन के संसर्ग के कारण मनुष्य उलझ जाता है। इस जंगल में लुटेरे (छः इन्द्रियाँ) तथा सियार, भेड़िये तथा सिंह जैसे हिंस्र पशु (पत्नी, संतान तथा परिजन) रहते हैं, जो परिवार के मुखिया का रक्तपान करने को सदैव आतुर रहते हैं। ये सब मिलकर इस भौतिक जगत में मनुष्य की शक्ति का शोषण करना चाहते हैं। इसी जंगल में घास से ढका हुआ एक काला छेद (श्याम विवर) भी है, जिसमें कोई भी गिर सकता है। जंगल में आकर और अनेक भौतिक आकर्षणों से आसक्त होकर मनुष्य अपने को इस संसार, समाज, मित्रता, प्रेम तथा परिवार से पहचानने लगता है। रास्ता भूल जाने पर और यह न जानते हुए कि किधर जाना है, पशु-पक्षियों द्वारा सताये जाने के साथ ही वह अनेक कामनाओं का शिकार हो जाता है। इस प्रकार इस जंगल में वह परिश्रम करता हुआ इधर-उधर भटकता रहता है। वह क्षणिक सुख से प्रसन्न होता है और तथाकथित दुख से दुखी होता है। वस्तुतः इस जंगल में तथाकथित सुख-दुख के कारण वह कष्ट उठाता रहता है। कभी उस पर साँप (निद्रा) प्रहार करता है और वह सर्पदंश से हतचेतन हो जाता है। किंकर्तव्यविमूढ़ होने से वह यह नहीं समझ पाता कि क्या करे। कभी-कभी वह अपनी पत्नी को छोड़कर दूसरी स्त्री के

प्रति आकृष्ट होकर उसके साथ प्रेम का आनन्द ले कर अपने आप को सुखी समझता है। उसे अनेक रोग, शोक तथा ग्रीष्म एवं शीत प्रताड़ित करते रहते हैं। इस प्रकार इस संसार रूपी जगत में भौतिक कष्ट उठाता है। सुखी बनने के उद्देश्य से जीवात्मा एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान को जाता है, किन्तु भौतिकतावादी (विषयी) पुरुष इस संसार में कभी सुखी नहीं रहता। भौतिक कार्यकलापों में लिप्त रहने के कारण वह सदैव विक्षुब्ध रहता है। वह भूल जाता है कि एक दिन उसे मरना भी है। घोर कष्ट उठाने पर भी वह माया से मोहग्रस्त होकर भौतिक सुख के पीछे दीवाना रहता है। इस प्रकार वह भगवान् से अपने सम्बन्ध को पूर्णत: भूल जाता है।

जड़ भरत से यह सुनकर महाराज रहूगण की कृष्णभावना जागृत हो उठी और जड भरत की संगति से उसे लाभ पहुँचा। उसे ज्ञात हो सका कि उसका मोह भंग हो चुका है, अत: उसने अपने दुर्व्यवहार के लिए जड़ भरत से क्षमा माँगी। यह सब शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित को कह सुनाया।

ब्राह्मण उवाच
दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तम:सत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपर: परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मण: उवाच—ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा; दुरत्यये—जिसको पार करना कठिन है, दुर्गम; अध्वनि—सकाम कर्मों के पथ पर (इस जन्म में कर्म करना, इन कर्मों के आधार पर अगले जन्म में शरीर ग्रहण करना और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र को स्वीकार करना); अजया—माया के द्वारा, श्रीभगवान् की बहिरंगा शक्ति; निवेशित:—सन्निविष्ट; रज:-तम:-सत्त्व-विभक्त-कर्म-दृक्—बद्ध आत्मा जो लाभप्रद कर्मों तथा उनके फलों को तुरन्त देख लेता है जो सतो, रजो तथा तमो गुणों द्वारा तीन समूहों में विभक्त है; स:—वह; एष:—यह; स-अर्थ:—सकाम; अर्थ-पर:—धन प्राप्ति में तुला हुआ; परिभ्रमन्—सर्वत्र घूमते हुए; भव-अटवीम्—भव नामक जंगल अर्थात् जन्म-मरण का चक्र; याति—प्रवेश करता है; न—नहीं; शर्म—सुख; विन्दति—प्राप्त करता है।

ब्रह्म-साक्षात्कार-प्राप्त जड़ भरत ने आगे कहा—हे राजा रहूगण, जीवात्मा इस संसार के दुर्लंघ्य पथ पर घूमता रहता है और बारम्बार जन्म तथा मृत्यु स्वीकार करता है। प्रकृति के तीन गुणों (सत्त्व, रज तथा तम) के प्रभाव से इस संसार के प्रति आकृष्ट होकर जीवात्मा प्रकृति के जादू से केवल तीन प्रकार के फल जो शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ होते हैं देख पाता है। इस प्रकार वह धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति तथा मुक्ति की अद्वैत भावना (परमात्मा में

तादात्म्य) के प्रति आसक्त हो जाता है। वह उस वणिक के समान अहर्निश कठोर श्रम करता है जो कुछ सामग्री प्राप्त करने और उससे लाभ उठाने के उद्देश्य से जंगल में प्रवेश करता है। किन्तु उसे इस संसार में वास्तविक सुख उपलब्ध नहीं हो पाता।

तात्पर्य : यह सरलता से समझ में आता है कि इन्द्रियतृप्ति का मार्ग कितना कठिन तथा दुर्लंघ्य है। इस मार्ग को न जानने के कारण मनुष्य विभिन्न देहों में पुन: पुन: जन्म धारण करता है। इससे उसे इस संसार में कष्ट उठाना पड़ता है। इस जीवन में कोई यह सोचकर भले प्रसन्न होले कि वह अमरीकी, भारतीय, अंग्रेज या जर्मन है, किन्तु अगले जन्म में उसे चौरासी लाख योनियों में कोई दूसरा शरीर धारण करना होगा। अगला शरीर कर्म के अनुसार तुरन्त प्राप्त होगा। तब उसे वही शरीर स्वीकार करना होगा—किसी प्रकार के प्रतिकार से लाभ नहीं होगा। प्रकृति का यह कठोर नियम है। अविद्यावश जीवात्मा को अपना परम आनन्दमय जीवन ज्ञात नहीं रहता जिससे वह माया के प्रभाव से भौतिक विषयों के प्रति आकृष्ट होता है। इस संसार में उसे कभी भी सुख नहीं मिल पाता, किन्तु वह उसी के लिए अत्यधिक श्रम करता है। यही माया है।

यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यव:
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात् ।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृका: ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—जिसमें (भवाटवी में); इमे—ये; षट्—छ:; नर-देव—हे राजा; दस्यव:—लुटेरे; स-अर्थम्—मिथ्या विचारों में ग्रस्त बद्धजीव; विलुम्पन्ति—लूटते हैं सर्वस्व हर लेते हैं; कु-नायकम्—जो नामधारी गुरुओं द्वारा सदैव ही कुमार्ग में ले जाये जाते हैं; बलात्—बलपूर्वक; गोमायव:—लोमड़ियों की तरह; यत्र—जिस जंगल में; हरन्ति—लूट लेते हैं; स-अर्थिकम्—जीव जो अपने शरीर और आत्मा के पोषण के लिए धन की खोज करता रहता है; प्रमत्तम्—आत्महित न समझने वाला पागल व्यक्ति; आविश्य—भीतर प्रवेश करके; यथा—जिस प्रकार; उरणम्—सुरक्षित मेमने को; वृका:—भेड़िये।

हे राजा रहूगण, इस संसार रूपी जंगल (भवाटवी) में छह अत्यन्त प्रबल लुटेरे हैं। जब बद्धजीव कुछ भौतिक लाभ के हेतु इस जंगल में प्रवेश करता है, तो ये छहों लुटेरे उसे गुमराह कर देते हैं। इस प्रकार से बद्ध वणिक (व्यापारी) यह नहीं समझ पाता कि वह अपने धन को किस प्रकार खर्चे और यह धन इन लुटेरों द्वारा छीन लिया जाता है। जिस प्रकार चौकसी में पले मेमने को उठा ले जाने के लिए जंगल में भेड़िए, सियार तथा अन्य हिंस्त्र पशु रहते हैं उसी प्रकार

पत्नी तथा सन्तान उस वणिक के हृदय में प्रवेश करके अनेक प्रकार से लूटते रहते हैं।

तात्पर्य : जंगल में अनेक लुटेरे, डाकू, सियार तथा भेड़िये होते हैं। सियारों की तुलना मनुष्य की पत्नी तथा बच्चों से की गई है। जिस प्रकार से सियार *अर्धरात्रि में* किलकारी मारते हैं, उसी प्रकार इस संसार में पत्नी तथा बच्चे भी चिल्लाते हैं। बच्चे कहते हैं, ''पिता जी, हमें यह चाहिए, लाकर दो, हम आपके प्रिय बच्चे हैं,'' अथवा पत्नी कहती, ''मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, मुझे इस चीज की आवश्यकता है; मुझे यह दो।'' इस प्रकार से मनुष्य जंगल में चोरों द्वारा लूट लिया जाता है। जीवन का उद्देश्य न जानने से मनुष्य गुमराह होता रहता है। जीवन का उद्देश्य तो विष्णु हैं (*न ते विदुः स्वार्थगतिम् हि विष्णुम्*)। प्रत्येक व्यक्ति धनार्जन के लिए अथक श्रम करता है, किन्तु उसे वह पता नहीं रहता कि उसके स्वार्थ की पूर्ति तो श्रीभगवान् की सेवा करने में है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति में अपना धन न लगाकर वह अपनी गाढ़ी कमाई क्लबों, वेश्यालयों, मद्यपान, बधिकगृहों आदि में खर्च कर देता है। पापकर्म के कारण वह देहान्तर क्रिया (आवागमन) में फँस जाता है और उसे एक के बाद एक शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार लगातार कष्ट भोगने से उसे सुख नहीं मिल पाता।

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रभूत—प्रचुर; वीरुत्—लताओं; तृण—घास के तिनकों; गुल्म—घने जंगलों के; गह्वरे—कुंजों में; कठोर—क्रूर; दंशैः—काटने से; मशकैः—मच्छरों के द्वारा; उपद्रुतः—विक्षुब्ध; क्वचित्—कभी-कभी; तु—लेकिन; गन्धर्व-पुरम्—गन्धर्वों द्वारा बनाया गया मिथ्या स्थान, कल्पित गन्धर्वपुरी; प्रपश्यति—देखता है; क्वचित्—(तथा) कभी-कभी; क्वचित्—कभी-कभी; च—तथा; आशु-रय—अत्यन्त तेजी से; उल्मुक—उल्का के तुल्य; ग्रहम्—भूतप्रेत, पिशाच।

इस जंगल में झाड़ियों, घास तथा लताओं के झाड़-झंखाड़ से बने सघन कुंजों में बुरी तरह से काटने वाले मच्छरों (ईर्ष्यालु पुरुषों) के होने से बद्धजीव निरन्तर परेशान रहता है। कभी कभी उसे जंगल में काल्पनिक महल (गन्धर्वपुर) दिखता है, तो कभी कभी वह आसमान से टूटते उल्का के समान प्रेत को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

तात्पर्य : भौतिक घर वस्तुतः सकाम कर्म का छिद्र है। जीविकोपार्जन के लिए मनुष्य नाना प्रकार के उद्योगों एवं व्यापारों में अपने को लगाता है और स्वर्गलोक जाने के लिए कभी-कभी बड़े-बड़े यज्ञ

करता है। इस के साथ ही साथ प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी धंधे में लग कर अपनी जीविका कमाने में लगा रहता है। इन कार्यों में अनेक अवांछित लोगों से पाला पड़ता है जिनका आचरण मच्छरों के दंश के समान कहा जा सकता है। इससे विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मनुष्य विशाल आवास बनाने और स्थायी रूप से जीवन बिताने की कल्पना करता रहता है, किन्तु यह सम्भव नहीं हो पाता। स्वर्ण की उपमा उस प्रेत से दी गई है जो आकाश में टूटे हुए उल्का की तरह दिखाई देता है। वह एक क्षण के लिए दृष्टिगोचर होकर छिप जाता है। सामान्यतः कर्मी स्वर्ण या सम्पत्ति से आकर्षित होते हैं यहाँ उनकी उपमा भूतप्रेत तथा पिशाचिनियों से दी गई है।

निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् ।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥ ४॥

शब्दार्थ

निवास—आवास; तोय—जल; द्रविण—सम्पत्ति; आत्म-बुद्धिः—जो भौतिक वस्तुओं को आत्मा या स्वयं मानता है; ततः ततः—इधर-उधर; धावति—दौड़ता है; भोः—हे राजा; अटव्याम्—इस संसार रूपी जंगल-मार्ग पर; क्वचित् च—तथा कभी-कभी; वात्या—बवंडर से; उत्थित—ऊपर उठ कर; पांसु—धूलि से; धूम्राः—धुंएँ के रंग का प्रतीत होता है; दिशः—दिशाएँ; न—नहीं; जानाति—जानता है; रजः-वल-अक्षः—हवा की धूल से ढकी हुई आँखों वाला अथवा जो रजस्वला पत्नी के प्रति आकृष्ट है।

हे राजन्, इस संसार रूपी जंगल के मार्ग में घर, सम्पत्ति, कुटुम्बी इत्यादि से भ्रमित बुद्धि वाला वणिक सफलता की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को दौड़ता रहता है। कभी-कभी उसकी आँखें बवंडर की धूल से ढक जाती हैं, अर्थात् कामवश वह अपनी स्त्री की सुन्दरता के प्रति, उसे विशेष रूप से रजोकाल में, मुग्ध हो जाता है। इस प्रकार अन्धा होने से उसे यह नहीं दिखाई पड़ता कि उसे कहाँ जाना है, अथवा वह क्या कर रहा है।

तात्पर्य : कहा गया है कि गृहस्थ जीवन का सारा आकर्षण पत्नी में केन्द्रित होता है, क्योंकि संभोग ही गृहस्थ जीवन का केन्द्र-बिन्दु है—*यन्मैथुनादि-गृहमेधि-सुखं हि तुच्छम्।* भौतिकतावादी पुरुष स्त्री को केन्द्र बनाकर अहर्निश श्रम करता है। संभोग उसका एक-मात्र सुख है। इसीलिये कर्मी सदैव मित्र रूप में स्त्रियों के प्रति अथवा पत्नियों के प्रति आकृष्ट होते हैं। निस्सन्देह बिना संभोग के उनका काम नहीं चल पाता। ऐसी दशा में पत्नी की तुलना, विशेष रूप से जब वह रजस्वला होती है,

बवंडर से की जाती है। जो गृहस्थाश्रम का नियमानुसार पालन करते हैं, वे माह में एक बार, रजोकाल के बाद, संभोग करते हैं। मनुष्य जैसे-जैसे इस अवसर की ताक में रहता है, उसकी आँखें अपनी पत्नी की सुन्दरता से सम्मोहित होती रहती हैं। अत: यह कहा गया है कि बवंडर आँखों को धूल से ढक देता है। ऐसा कामी पुरुष यह नहीं जानता कि उसके सारे व्यापार विभिन्न देवताओं द्वारा, विशेष रूप से सूर्यदेव द्वारा, देखे जा रहे हैं और अगले जन्म के कर्मों के लिए उनका अंकन हो रहा है। ज्योतिष सम्बन्धी गणनाएँ ज्योतिशास्त्र कहलाती हैं। चूँकि इस जगत में ज्योति अथवा तेज विभिन्न नक्षत्रों तथा ग्रहों से प्राप्त होता है, इसलिए यह विज्ञान ज्योतिशास्त्र कहलाता है। ज्योति की गणनाओं से हमारे भविष्य का पता चल जाता है। दूसरे शब्दों में, समस्त ज्योतिपिंड—नक्षत्र, सूर्य तथा चन्द्रमा—हर एक बद्धजीव के व्यापारों को देखते रहते हैं। इसी के अनुसार उसे विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। किन्तु कामी पुरुष की जिसकी आँखें भौतिक जगत के बवंडर की धूल से ढकी रहती हैं, यह कभी नहीं सोच पाता कि उसके समस्त व्यापारों का अवलोकन विभिन्न नक्षत्रों तथा ग्रहों द्वारा किया जा रहा है और उनका अंकन भी हो रहा है। यह न जानते हुए बद्धजीव अपनी कामेच्छाओं की तुष्टि के लिए सभी प्रकार के पापकर्म करता रहता है।

अद्दश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।
अपुण्यवृक्षान्श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ॥

शब्दार्थ

अद्दश्य—न दिखने वाले; झिल्ली—झींगुरों अथवा मधुमक्खियों के प्रकार का एक कीट; स्वन—शब्द से; कर्ण-शूल—कानों के लिए दुखदायी, कर्णकटु; उलूक—उल्लू की; वाग्भि:—बोली से; व्यथित—अत्यन्त विचलित; अन्त:-आत्मा—मन तथा हृदय; अपुण्य-वृक्षान्—अपवित्र वृक्ष, जिनमें फल-फूल नहीं लगते; श्रयते—शरण लेता है; क्षुध—भूख से; अर्दित:—सताया हुआ; मरीचि-तोयानि—मृगतृष्णा के लिए; अभिधावति—पीछे दौड़ता है; क्वचित्—कभी-कभी।

संसार रूपी जंगल में घूमते हुए बद्धजीव को कभी-कभी अद्दश्य झींगुरों की तीक्ष्ण ध्वनि सुनाई पड़ती है जो उसके कानों को अत्यन्त दुखदायी लगती है। कभी-कभी उसका हृदय अपने शत्रुओं के कटु वचनों जैसी प्रतीत होने वाली उल्लुओं की ध्वनि से व्यथित (विचलित) हो उठता है। कभी वह बिना फल फूल वाले वृक्षों का आश्रय ग्रहण करता है क्योंकि वह भूखा होता है, किन्तु उसे कुछ न मिलने से कष्ट भोगना पड़ता है। उसे जल की इच्छा होती है किन्तु वह

केवल मृगतृष्णा से मोहित हो जाने के कारण उसके पीछे दौड़ता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में यह कहा गया है कि भागवत दर्शन उन लोगों के लिए है जो ईर्ष्या से पूर्णरूपेण रहित हैं (*परमो निर्मत्सराणाम्*)। यह संसार ईर्ष्यालु व्यक्तियों से परिपूर्ण है। यहाँ तक कि अन्तरंगी भी पीछे से छुरा भोंकने वाले होते हैं। इसीलिए इनकी तुलना जंगल में झींगुरों की झनकार से की गई है। मनुष्य को झींगुर नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु उसकी ध्वनि उसको व्यथित करती रहती है। जब कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत स्वीकार करता है, तो उसे सदैव अपने सम्बन्धियों के कटु वचन सुनने पड़ते हैं। यह संसार का स्वभाव है। पीठ पीछे निन्दा करने वालों से जो मानसिक कष्ट होता है उससे बचा नहीं जा सकता। अत्यन्त व्यथित हो उठने पर कभी कभी वह किसी पापी व्यक्ति के पास सहायता के लिए जाता है, किन्तु बुद्धि न होने से वह उसकी सहायता नहीं कर पाता। इस प्रकार जीव निराश हो जाता है। यह मरुस्थल में जल की खोज के लिए मृगमरीचिका के पीछे दौड़ लगाने के समान है। ऐसे कर्मों से कोई ठोस लाभ नहीं होता। मायाशक्ति द्वारा निर्देशित होने से बद्धजीव को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं।

क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालषते निरन्धः ।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; वितोयाः—जलहीन; सरितः—नदियाँ; अभियाति—नहाने जाता है अथवा भीतर कूदता है; परस्परम्—एक दूसरे से; च—तथा; आलषते—कामना करता है; निरन्धः—अन्नहीन होने पर; आसाद्य—अनुभव करके; दावम्—पारिवारिक जीवन में जंगल की आग, दावाग्नि; क्वचित्—कभी; अग्नि-तप्तः—आग से जलने के कारण; निर्विद्यते—निराश होता है; क्व—कहीं; च—तथा; यक्षैः—डाकुओं तथा उचक्कों जैसे राजाओं द्वारा; हृत—ले लिया जाने पर, छीने जाने पर; असुः—सम्पत्ति, जो प्राणों के समान प्रिय है।

कभी-कभी बद्धजीव उथली नदी में कूद पड़ता है अथवा खाद्यान्न न होने पर ऐसे लोगों से अन्न माँगता है जो दानी नहीं हैं ही नहीं। कभी कभी वह गृहस्थ जीवन की अग्नि से जलने लगता है जो दावाग्नि जैसी होती है और कभी कभी वह उस सम्पत्ति के लिए दुखी हो उठता है जो उसे प्राणों से भी प्रिय है और जिसका अपहरण राजा लोग भारी आयकर के नाम पर करते हैं।

तात्पर्य : सूर्य की झुलसती धूप में रहने से गर्मी अनुभव करने के कारण मनुष्य कभी-कभी नदी

में कूद कर विश्रान्ति प्राप्त करना चाहता है। किन्तु यदि नदी शुष्कप्राय हो और पानी उथला हो तो कूदने वाला अपनी हड्डियाँ ही तुड़वाता है। इसी प्रकार से बद्धजीव निरन्तर कष्टों का अनुभव करता रहता है। कभी अपने मित्रों से सहायता प्राप्त करने के उसके प्रयास सूखी नदी में कूदने के समान ही सामने आते हैं। ऐसे प्रयासों से उसे कोई लाभ नहीं होता। केवल उसकी हड्डियाँ टूटती हैं। कभी-कभी अन्नाभाव के कारण मनुष्य को ऐसे व्यक्ति के पास जाना पड़ सकता है जो दान देने में असमर्थ है या फिर जान-बूझ कर देना नहीं चाहता। कभी-कभी मनुष्य गृहस्थ जीवन में ही बना रहता है, जिसकी उपमा दावाग्नि से दी गई है (*संसार-दावानल-लीढ -लोक*)। जब सरकार किसी पर भारी कर लगा देती है, तो मनुष्य दुखी हो जाता है। भारी कर के कारण उसे अपनी आय छिपानी पड़ती है, किन्तु सारे यत्नों के बावजूद भी कभी-कभी सरकारी एजेंट इतने सतर्क रहते हैं और इतने बलशाली होते हैं कि वे सारा धन छीन लेते हैं जिससे बद्धजीव अत्यधिक व्यथित हो जाता है।

इस प्रकार भौतिक संसार में रहकर लोग सुखी रहने का प्रयास करते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास दावाग्नि से पीड़ित जंगल में सुखी रहने के प्रयास के तुल्य है। जंगल में जाकर कोई आग लगाता नहीं, वह स्वत: प्रकट होती है। इसी प्रकार गृहस्थ जीवन या सांसारिक जीवन में कोई दुखी नहीं रहना चाहता, किन्तु प्रकृति के सुख-दुख के नियम प्रत्येक व्यक्ति पर बरबस लादे जाते हैं। अपने भरण-पोषण के लिए किसी पर आश्रित होना कितना लज्जास्पद होता है, इसीलिए वैदिक पद्धति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निराश्रित रहना चाहिए। केवल शूद्र ही स्वतंत्र रूप से रहने में असमर्थ हैं। उन्हें अपने भरण के लिए किसी-न किसी की सेवा करनी होती है। शास्त्रों में कहा गया है— *कलौ शूद्र-सम्भवा: ।* इस कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति अपने देह-भरण के लिए अन्य की कृपा पर आश्रित रहता है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को शूद्र कहा गया है। *श्रीमद्‌भागवत* के बारहवें स्कंध में कहा गया है कि कलियुग में सरकार कर तो लेगी, किन्तु उसके बदले में जनता का कल्याण नहीं देखेगी। *अनावृष्ट्या विनंक्ष्यन्ति दुर्भिक्ष:-कर-पीडिता: ।* इस युग में वर्षा की न्यूनता भी होगी जिससे अन्नाभाव होगा और सरकार द्वारा लगाये गये करों से जनता अत्यधिक पीड़ित होगी। इस प्रकार जनता शान्तिपूर्ण जीवन नहीं बिता सकेगी अत: वह अपना घर-बार छोड़कर घोर निराशावश जंगलों में चली जाएगी।

शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
शोचन्विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम् ।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

शूरैः—प्रबल शत्रुओं द्वारा; हृत-स्वः—जिसका समस्त धन चुराया जा चुका है; क्व च—कभी-कभी; निर्विण्ण-चेताः—हृदय में अन्यन्त खिन्न एवं व्यथित; शोचन्—अत्यधिक पश्चात्ताप करते हुए; विमुह्यन्—किंकर्तव्यविमूढ़ होकर; उपयाति—हो जाता है; कश्मलम्—संज्ञाशून्य, अचेत; क्वचित्—कभी-कभी; च—भी; गन्धर्व-पुरम्—जंगल में स्थित कपोलकल्पित नगर में; प्रविष्टः—प्रवेश हुआ; प्रमोदते—आनन्द भोगता है; निर्वृत-वत्—सिद्ध पुरुष के समान; मुहूर्तम्—केवल क्षण भर के लिए।

कभी-कभी अपने से बड़े तथा बलवान व्यक्ति द्वारा पराजित होने अथवा लूटे जाने पर जीवात्मा की सारी सम्पत्ति चली जाती है। इससे वह दुखी हो जाता है, क्षति पर पश्चात्ताप करता है यहाँ तक कि कभी-कभी अचेत भी हो जाता है। कभी-कभी वह ऐसे विशाल प्रासाद की कल्पना करने लगता है, जिसमें वह अपने परिवार तथा अपने धन समेत सुखपूर्वक रह सके। यदि ऐसा हो सके तो वह अपने को अत्यन्त सन्तुष्ट समझता है, किन्तु ऐसा तथाकथित सुख क्षणिक होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गन्धर्व-पुरम्* अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। कभी-कभी जंगल के बीच बहुत एक बड़ा किला दृष्टिगोचर होने लगता है, इसे ही ''हवाई किला'' कहा जाता है। वास्तव में इस किले का अस्तित्व मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं होता। इसे *गंधर्वपुर* कहा जाता है। इस संसार रूपी जंगल में बद्धजीव कभी-कभी बड़े-बड़े किले तथा गगनचुम्बी प्रासादों की कल्पना करने में अपनी शक्ति नष्ट करता है और इनमें अपने परिवार सहित सदा के लिए सुखपूर्वक रहने की आशा बाँधता है। किन्तु प्राकृतिक नियम ऐसा होने नहीं देते। जब वह ऐसे किलों में प्रवेश करता है, तो क्षण भर के लिए अपने को सुखी समझता है, किन्तु उसका यह सुख स्थायी नहीं होता। यह सुख कुछ ही वर्ष चल पाता है, क्योंकि मृत्यु के समय उसे यह किला छोड़ना पड़ता है। सांसारिक विनिमय का यही विधान है। विद्यापति ने ऐसे सुख को उस सुख के समान बताया है जो मरुस्थल में पानी की एक बूँद देखकर उत्पन्न होता है। मरुस्थल सूर्य के प्रखर ताप से गर्म हो जाता है, अतः यदि हम मरुस्थल के ताप को घटाना चाहें तो करोड़ों गैलन पानी की आवश्यकता पड़ेगी। भला ऐसे में पानी की एक बूँद का क्या प्रभाव हो सकता है? पानी का महत्त्व तो निश्चय ही है, किन्तु एक बूँद जल से मरुस्थल की तपन कम नहीं हो सकती। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी है, किन्तु तपन अत्यन्त झुलसाने

वाली है। ऐसे में काल्पनिक दवाई किले से क्या काम चलेगा? इसलिए श्रील विद्यापति ने गाया है—*तातल सैकते, वारि-बिन्दु-सम, सुत-मित-रमणि-समाजे।* गृहस्थ जीवन, मित्रों तथा समाज के सुख की तुलना जलते हुए रेगिस्तान में पानी की बूँद से की गई है। यह समूचा संसार सुख प्राप्त करने के प्रयास में लगा है, क्योंकि सुख जीव का जन्मसिद्ध अधिकार है। दुर्भाग्यवश इस संसार के संपर्क में आकर जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए केवल संघर्ष करता है। यदि कुछ काल के लिए वह सुखी हो भी जाता है, तो उसका कोई प्रबल शत्रु उसका सर्वस्व लूट लेता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें बड़े-बड़े व्यापारी सहसा दीवालिये बन जाते हैं। तो भी इस संसार की प्रकृति ऐसी है कि मूढ़ लोग इसके प्रति आकृष्ट होकर आत्म-साक्षात्कार के वास्तविक लक्ष्य को भूल जाते हैं।

चलन्क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
र्नगारुरुक्षुर्विमना इवास्ते ।
पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः
कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

चलन्—चलते हुए; क्वचित्—कभी कभी; कण्टक-शर्कर—काँटे तथा कंकड़ों से छिद कर; अङ्घ्रिः—जिनके पाँव; नग—पर्वत; आरुरुक्षुः—चढ़ने का इच्छुक; विमनाः—उदास; इव—सदृश; आस्ते—हो जाता है; पदे पदे—प्रत्येक पग पर; अभ्यन्तर—भीतरी, पेट के भीतर; वह्निना—क्षुधा की प्रबल अग्नि से; अर्दितः—थक कर तथा दुखी होकर; कौटुम्बिकः—कुटुम्बियों के साथ रहने वाला व्यक्ति; क्रुध्यति—क्रोध करता है; वै—निश्चय ही; जनाय—अपने परिवार के सदस्यों पर।

कभी-कभी जंगल का व्यापारी पर्वतों तथा पहाड़ियों के ऊपर चढ़ना चाहता है, किन्तु अपर्याप्त पदत्राण के कारण उसके पैरों में कंकड़ तथा काँटे गड़ जाते हैं जिससे वह अत्यन्त उदास हो जाता है। कोई व्यक्ति जो अपने परिवार के प्रति आसक्त होता है, वह कभी कभी जब अत्यधिक भूख के मारे त्रस्त हो जाता है, तो वह अपनी दयनीय स्थिति के कारण अपने कुटुम्बियों पर विफर उठता है।

तात्पर्य : महत्त्वाकांक्षी बद्धजीव अपने परिवार सहित इस संसार में सुखी रहना चाहता है। उसकी तुलना जंगल के उस यात्री से की गई हो जो काँटों तथा कंकड़ों से भरी पहाड़ी पर चढ़ना चाहता है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, समाज, मैत्री तथा प्रेम से प्राप्त सुख मरुस्थल की झुलसती गर्मी में जल की बूँद के समान है। मनुष्य अपने समाज में महान् तथा शक्तिशाली बनने की सोच सकता है, किन्तु यह काँटों से भरीहुई पहाड़ी पर चढ़ने के समान है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने

परिवार की तुलना ऊँचे पर्वत से दी है। कुटुम्बियों के साथ सुख की कामना मानो भूखे पेट काँटों से भरे पर्वत पर चढ़ने का प्रयास हो। कुटुम्बियों को सन्तुष्ट रखने के लिए प्रयत्न करने के बावजूद लगभग ९९.९ प्रतिशत जनसंख्या का पारिवारिक जीवन दुखी है। पाश्चात्य देशों में तो पारिवारिक सदस्यों के असन्तोष के कारण पारिवारिक जीवन रहा ही नहीं। तलाक की अनेक घटनाएँ होती रहती हैं और बच्चे असन्तोष के कारण माता-पिता का संरक्षण छोड़ देते हैं। विशेष रूप से इस कलिकाल में पारिवारिक जीवन सिमटता जा रहा है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति आत्म-केन्द्रित होता जा रहा है। यदि किसी के पास परिवार चलाने के लिए पर्याप्त धन रहता भी है, तो भी परिवार में उससे कोई प्रसन्न नहीं रहता। फलस्वरूप वर्णाश्रम धर्म के अनुसार पारिवारिक जीवन बीच में ही त्यागना पड़ता है—*पंचाशोर्ध्वं वनं व्रजेत्*—मनुष्य को चाहिए पचास वर्ष की आयु में गृह त्याग कर वृन्दावन या जंगल में चला जाये। यह श्रील प्रह्लाद महाराज के द्वारा किया गया विधान है (भागवत ७..)—

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।

हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत॥

''जंगल-जंगल घूमने में कोई हित नहीं। मनुष्य को चाहिए कि वह वृन्दावन जाकर गोविन्द की शरण ले। इससे वह सुखी बनेगा।'' अत: कृष्णभावनामृत संघ एक कृष्णबलराम का मन्दिर बनवा रहा है, जिसमें अपने सदस्यों तथा बाहरी लोगों को बुलाकर आध्यात्मिक वातावरण में शान्तिपूर्वक रहकर जीवन बिताने के लिए व्यवस्था होगी। इससे दिव्यलोक तक उठने और श्रीभगवान् के धाम को वापस जाने में सहायता मिलेगी। इस श्लोक में एक अन्य वाक्य भी महत्त्वपूर्ण है—*कौटुम्बिक: क्रुध्यति वै जनाय।* जब मनुष्य का मन अनेक प्रकार से विचलित रहता है, तो वह अपनी बेचारी पत्नी तथा बच्चों पर क्रोध जताकर अपने आपको तुष्ट करता है। पत्नी तथा बच्चे स्वभावत: पिता पर आश्रित रहते हैं, किन्तु पिता परिवार का ठीक से पालन न कर सकने के कारण मानसिक रूप से दुखी रहता है, अत: वह वृथा ही स्वजनों को डाँटता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१२.२.९) में कहा गया है—*आछिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्।* पारिवारिक जीवन से त्रस्त होकर मनुष्य विवाह-विच्छेद द्वारा या अन्य साधनों से परिवार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। यदि विच्छेद करना है, तो हँसी-

खुशी से क्यों नहीं करते? नियमपूर्वक विच्छेद बलात् विच्छेद से अच्छा होता है। बलात् विच्छेद से कोई सुखी नहीं रह सकता, किन्तु पारस्परिक विचार-विमर्श या वैदिक व्यवस्था के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि एक निश्चित आयु में वह पारिवारिक प्रपंचों से विलग हो ले और श्रीकृष्ण पर पूर्णत: आश्रित हो ले। इससे जीवन सार्थक बनता है।

क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः ।
दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकैर्
अन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; निगीर्णः—निगले जाने पर; अजगर-अहिना—अजगर नामक बड़े सर्प द्वारा; जनः—बद्धजीव; न—नहीं; अवैति—समझता है; किञ्चित्—कुछ भी; विपिने—जंगल में; अपविद्धः—कष्ट के तीरों से बेधा हुआ; दष्टः—दंश किया गया, काटे जाने पर; स्म—निस्संदेह; शेते—लेट जाता है; क्व च—कभी-कभी; दन्द-शूकैः—अन्य सर्पों द्वारा; अन्धः—अन्धा; अन्ध-कूपे—अंधे कुएँ में; पतितः—गिरा हुआ; तमिस्रे—नारकीय जीवन में।

कभी-कभी इस भौतिक जंगल में बद्धजीव को अजगर निगल लेते हैं या मरोड़ डालते हैं। ऐसी अवस्था में वह चेतना तथा ज्ञान शून्य होकर मृत व्यक्ति तुल्य जंगल में पड़ा रहता है। कभी-कभी अन्य विषैले सर्प भी आकर काट लेते हैं। अचेतन होने के कारण वह नारकीय जीवन के अन्धे कूप में गिर जाता है जहाँ से बचकर निकल पाने की कोई आशा नहीं रहती।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति साँप के काटे जाने से बेहोश हो जाता है, तो उसे यह नहीं पता चलता कि बाहर क्या हो रहा है। यह बेहोशी की अवस्था गाढ़ निद्रा की अवस्था है। इसी प्रकार बद्धजीव वस्तुत: माया की गोद में सो रहा है। भक्तिविनोद ठाकुर का गीत—*कत निद्रा याओ माया-पिशाचीर कोले*—"हे जीवात्मा, तुम इस तरह माया की गोद में कब तक सोते रहोगे?" मनुष्यों को यह पता नहीं चल पाता कि वे इस संसार में वास्तव में सो रहे हैं और उन्हें आध्यात्मिक-जीवन का कोई ज्ञान नहीं रहता। अत: चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

एनेछि औषधि माया नाशिबार लागि'।

हरि-नाम-महा-मंत्र लओ तुमि मागि'॥

"मैं प्रत्येक जीव को चिर निद्रा से जगाने की औषधि लाया हूँ। आप ईश्वर का पवित्र नाम, हरे *कृष्ण महामंत्र,* को अंगीकार करें और जगें।" *कठोपनिषद्* (१.३.१४) का भी कथन है—*उत्तिष्ठ जाग्रत*

प्राप्य वरान्निबोधत—"हे जीवात्मा, तुम इस संसार में सो रहे हो। उठो और मनुष्य जीवन का लाभ उठाओ।" सुप्त दशा का अर्थ है ज्ञान की हानि। *भगवद्गीता* (२.६९) में भी कहा गया है—*या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी*—"जो सब जीवों के लिए रात्रि है, वही संयमी पुरुषों के जगने का समय है।" यहाँ तक कि स्वर्गलोक में भी प्रत्येक प्राणी माया के वश में है। कोई भी जीवन के वास्तविक मूल्यों में रुचि नहीं रखता। सुप्त अवस्था, जिसे *काल-सर्प* कहा गया है, बद्धजीव को अविद्या में रखती है, जिससे शुद्ध चेतना जाती रहती है। जंगल में अनेक अंधे (भूपट्ट) कुएँ होते हैं और यदि कोई इनमें से किसी एक में गिर जाये तो फिर उससे उबरने की कोई आशा नहीं रहती। सुप्तावस्था में कुछ पशु, विशेष रूप से सर्प, मनुष्य को निरन्तर काटते रहते हैं।

कर्हि स्म चित्क्षुद्ररसान्विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः ।
तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो
बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कर्हि स्म चित्—कभी-कभी; क्षुद्र—अत्यन्त लघु; रसान्—रति सुख; विचिन्वन्—ढूँढने के लिए; तत्—उन स्त्रियों का; मक्षिकाभिः—मधुमक्खियों से अथवा पतियों या कुटुम्बियों से; व्यथितः—अत्यन्त दुखी; विमानः—अपमानित; तत्र—वहाँ पर; अति—अत्यन्त; कृच्छ्रात्—धन के व्यय के कारण कठिनाई से; प्रतिलब्धमानः—रति सुख प्राप्त करके; बलात्—बलपूर्वक; विलुम्पन्ति—अपहरण की गई; अथ—तत्पश्चात्; तम्—इन्द्रिय सुख की वस्तु (स्त्री); ततः—उससे; अन्ये—अन्य व्यभिचारी (कामी)।

कभी-कभी थोड़े से रति-सुख के लिए मनुष्य चरित्रहीन स्त्री की खोज करता रहता है। इस प्रयास में उस स्त्री के सम्बन्धियों द्वारा उसका अपमान एवं प्रताड़न होता है। यह वैसा ही है जैसा कि मधुमक्खी के छत्ते से शहद (मधु) निकालते समय मक्खियाँ आक्रमण कर दें। कभी-कभी प्रचुर धन व्यय करने पर उसे कुछ अतिरिक्त इन्द्रिय भोग के लिए दूसरी स्त्री प्राप्त हो सकती है। किन्तु दुर्भाग्यवश इन्द्रिय सुख की सामग्री रूप वह स्त्री चली जाती है, अथवा किसी अन्य कामी द्वारा अपहरण कर ली जाती है।

तात्पर्य : बड़े-बड़े जंगलों में मधुमक्खी के छत्ते बड़े महत्व के होते हैं। प्रायः लोग वहाँ जाकर छत्तों से मधु एकत्र करते हैं, कभी-कभी मक्खियाँ आक्रमण करके उन्हें दण्डित भी करती हैं। मनुष्य-समाज में जो लोग कृष्णभावनाभावित नहीं हैं, वे भौतिक जीवन के जंगल में विषयी जीवन के मधु के

लोभ के कारण रहते हैं। ऐसे कामी पुरुष कभी भी एक पत्नी से सन्तुष्ट नहीं होते। उन्हें अनेक स्त्रियाँ चाहिए। प्रतिदिन वे अत्यन्त कठिनाई से ऐसी स्त्रियाँ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार का मधु चखने के प्रयास में उन पर कभी-कभी उस स्त्री के परिजनों का प्रहार भी हो जाता है और बड़ी ताड़ना पड़ती है। भले ही घूस देकर संभोग के लिए कोई अन्य स्त्री पा ले, किन्तु दूसरा कामी उसका अपहरण कर सकता है अथवा कुछ अधिक मूल्यवान और अच्छी वस्तु का प्रलोभन दे सकता है। भौतिक संसार रूपी जंगल में इस प्रकार का स्त्री-मृगया चलता रहता है, जो कभी वैध होता है, तो कभी अवैध। फलतः इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भक्तों के लिए अवैध स्त्री-पुरुष संग वर्जित है। इससे वे अनेक विपत्तियों से बचे रहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी विवाहिता पत्नी से ही तुष्ट रहे। वह अपने विषयों की तृप्ति अपनी पत्नी से कर सकता है। इससे समाज में कुव्यवस्था भी नहीं उत्पन्न होगी और ऐसा करने के कारण उसे दण्डित भी नहीं होना पड़ेगा।

क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते ।
क्वचिन्मिथो विपणन्यच्च किञ्चिद्
विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; च—भी; शीत-आतप-वात-वर्ष—ठंड, कड़ी गर्मी, तेज हवा तथा अधिक वर्षा की; प्रतिक्रियाम्—प्रतिक्रिया, जवाबी क्रिया; कर्तुम्—करना; अनीशः—असमर्थ; आस्ते—कष्ट में रहता है; क्वचित्—कभी-कभी; मिथः—परस्पर; विपणन्—बेच कर; यत् च—जो कुछ; किञ्चित्—थोड़ा भी; विद्वेषम्—पारस्परिक द्वेष (शत्रुता); ऋच्छति—प्राप्त करता है; उत—ऐसा कहते हैं; वित्त-शाठ्यात्—केवल धन के लिए एक दूसरे को ठगने के कारण।

कभी-कभी जीवात्मा बर्फीली ठंड, कड़ी गर्मी, तेज हवा, अति-वृष्टि इत्यादि प्राकृतिक उत्पातों का सामना करने में लगा रहता है। किन्तु जब वह ऐसा नहीं कर पाता तो अत्यन्त दुखी हो जाता है। कभी-कभी वह एक के बाद एक व्यावसायिक लेन-देन में ठगा जाता है। इस प्रकार ठगे जाने पर जीवात्माएँ एक दूसरे से शत्रुता ठान लेती हैं।

तात्पर्य : यह जीवन-संघर्ष का उदाहरण है, जिसमें भौतिक प्रकृति के घातों का सामना किया जाता है। इससे समाज में शत्रुता उत्पन्न होती है, फलस्वरूप समाज ईर्ष्यालु मनुष्यों से भर जाता है। एक व्यक्ति दूसरे से ईर्ष्या करता है। यही संसार की रीति है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन ईर्ष्यारहित वातावरण उत्पन्न करना चाहता है। निस्सन्देह, यह सबके लिए सम्भव नहीं कि वे कृष्णभावनाभावित

हो सकें, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन ऐसे आदर्श समाज की सृष्टि कर सकता है जो द्वेषरहित हो।

क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन्परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

क्वचित् क्वचित्—कभी-कभी; क्षीण-धनः—धनहीन होने पर; तु—लेकिन; तस्मिन्—उस जंगल में; शय्या—लेटने का बिस्तर; आसन—बैठने का स्थान; स्थान—आवास; विहार—परिवार सहित सुखोपभोग; हीनः—विहीन होकर; याचन्—भीख माँग कर; परात्—अन्यों (मित्रों तथा सम्बधियों) से; अप्रतिलब्ध-कामः—कामना की पूर्ति न होने से; पारक्य-दृष्टिः—अन्यों की सम्पत्ति का लालची; लभते—प्राप्त करता है; अवमानम्—अनादर।

संसार के जंगली मार्ग में कभी-कभी व्यक्ति धनहीन हो जाता है, जिसके कारण उसके पास न समुचित घर न बिस्तर या बैठने का स्थान होता है, न ही समुचित पारिवारिक सुख ही उपलब्ध हो पाता है। अतः वह अन्यों से धन माँगता है, किन्तु जब माँगने पर भी उसकी इच्छाएँ अपूर्ण रहती हैं, तो वह या तो उधार लेना चाहता है या फिर अन्यों की सम्पत्ति चुराना चाहता है। इस तरह वह समाज में अपमानित होता है।

तात्पर्य : इस संसार में भीख माँगने, उधार लेने या चुराने के सिद्धान्त अत्यन्त उपयुक्त हैं। जब किसी को आवश्यकता पड़ती है, तो वह माँगता, उधार लेता या फिर चोरी करता है। यदि माँगने से काम नहीं चलता तो वह उधार लेता है। यदि उधार अदा नहीं कर पाता तो वह चोरी करता है और जब पकड़ा जाता है, तो अपमानित होता है। यह इस संसार का नियम है। कोई भी मनुष्य ईमानदारी से जीवित नहीं रह सकता, अतः मनुष्य छल करके, माँग करके, उधार ले करके या चोरी करके अपनी तृप्ति करना चाहता है। इस तरह इस संसार में कोई भी शान्तिपूर्वक नहीं रह रहा है।

अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धो विवहन्मिथश्च ।
अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन्विपन्नः ॥ १३॥

शब्दार्थ

अन्योन्य—एक दूसरे से; वित्त-व्यतिषङ्ग—धन के लेन-देन द्वारा; वृद्ध—बढ़ा हुआ; वैर-अनुबन्धः—वैर भाव; विवहन्—कभी-कभी ब्याह द्वारा; मिथः—परस्पर; च—तथा; अध्वनि—संसार-पथ पर; अमुष्मिन्—वह; उरु-कृच्छ्र—कठिनाइयों से; वित्त-बाध—धन की कमी से; उपसर्गैः—रोगों से; विहरन्—घूमते हुए; विपन्नः—अत्यन्त चिन्तित हो जाता है।

आर्थिक लेने-देन के कारण सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न होती है, जिसका अन्त शत्रुता में होता है। कभी पति-पत्नी भौतिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं और अपने सम्बन्ध बनाये रखने के लिए वे कठोर श्रम करते हैं, तो कभी धनाभाव अथवा रुग्ण दशा के कारण वे अत्यधिक चिन्तित रहकर मरणासन्न हो जाते हैं।

तात्पर्य : इस संसार में मनुष्यों तथा समाजों, यहाँ तक कि राष्ट्रों के बीच अनेक प्रकार के पारस्परिक लेन-देन चलते हैं। किन्तु इनका अन्त दोनों पक्षों की शत्रुता में होता है। इसी प्रकार विवाह-सम्बन्ध में आर्थिक लेन-देन के कारण घातक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इससे मनुष्य या तो बीमार पड़ जाता है या आर्थिक रूप से चिन्तित रहने लगता है। आधुनिक युग में अधिकांश देशों का आर्थिक विकास हुआ है, किन्तु व्यापारिक लेन-देन के कारण सम्बन्धों में तनाव आया है। अन्त में राष्ट्रों के बीच युद्ध छिड़ जाता है। इस उथल-पुथल से समूचे विश्व का विनाश होता है और लोगों को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है।

तांस्तान्विपन्नान्स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः ।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तान् तान्—उन सबों को; विपन्नान्—विभिन्न प्रकार से व्यथित; सः—जीव; हि—निश्चय ही; तत्र तत्र—यहाँ-वहाँ; विहाय—छोड़कर; जातम्—नवजातों को, नये पैदा हुओं को; परिगृह्य—लेकर; स-अर्थः—अपने हित की खोज में जीव; आवर्तते—जंगल में घूमता रहता है; अद्य अपि—आज तक; न—नहीं; कश्चित्—कोई भी; अत्र—यहाँ इस जंगल में; वीर—हे वीर; अध्वनः—भौतिक जीवन का मार्ग; पारम्—अन्त; उपैति—पाता है; योगम्—श्रीभगवान् की भक्ति-साधना।

हे राजन्, भौतिक जीवन रूपी जंगल के मार्ग में मनुष्य पहले अपने पिता तथा माता को खोता है और उनकी मृत्यु के बाद वह नवजात बच्चों से आसक्त हो जाता है। इस तरह वह भौतिक प्रगति के मार्ग में घूमता रहता है और अन्त में अत्यन्त व्यथित हो जाता है। किसी को मृत्यु के क्षण तक यह पता नहीं चल पाता कि वह उससे किस प्रकार निकले।

तात्पर्य : इस संसार में गृहस्थ जीवन संभोग-संस्थान है। *यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखम्* (भागवत ७.९.४)। माता-पिता के संभोग से संतान उत्पन्न होती है , सन्तानों का ब्याह होता है और वे भी उसी विषयी-जीवन का पालन करते हैं, उनके भी संतानें होती हैं। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी भौतिक जीवन

के कष्टों से मुक्ति के लिए यही क्रम चलता रहता है। इनमें से कोई भी उस ज्ञान तथा वैराग्य के मार्ग को अंगीकार नहीं करता जिसका अन्त भक्तियोग में होता है। वास्तव में मनुष्य जीवन तो ज्ञान और वैराग्य के लिए ही होता है। इन्हीं के माध्यम से भक्ति प्राप्त हो सकती है। दुर्भाग्यवश इस युग के लोग साधु-संग से कतराते हैं और पिटा-पिटाया गृहस्थ जीवन बिताते हैं। इस तरह वे धन तथा विषय-कर्मों के आदान-प्रदान से पीड़ित रहते हैं।

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः ।
मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मनस्विनः—बड़े-बड़े वीर पुरुष (विचारक); निर्जित-दिक्-गजेन्द्राः—जिन्होंने हाथियों के समान बलशाली वीरों को जीत लिया है; मम—मेरा (मेरा देश, मेरी भूमि, मेरा परिवार, मेरा धर्म); इति—इस प्रकार; सर्वे—समस्त (महान् राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक नेता); भुवि—इस संसार में; बद्ध-वैराः—परम्परा से वैरभाव उत्पन्न कर रखा है; मृधे—युद्ध में; शयीरन्—भूमि में मृत होकर गिरे हुए; न—नहीं; तु—लेकिन; तत्—श्रीभगवान् का धाम; व्रजन्ति—पहुँचते हैं; यत्—जो; न्यस्त-दण्डः—संन्यासी; गत-वैरः—जिसका विश्व भर में किसी से वैर-भाव नहीं है; अभियाति—उस सिद्धि को प्राप्त करता है।

ऐसे अनेक राजनैतिक तथा सामाजिक वीर पुरुष हैं और थे जिन्होंने सम-शक्ति वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है, तो भी वे अज्ञानवश यह विश्वास करके कि यह भूमि उनकी है परस्पर लड़ते हैं और युद्धभूमि में अपने प्राण गँवाते हैं। वे सन्यासियों के द्वारा स्वीकृत आध्यात्मिक पथ को ग्रहण कर सकने में अक्षम रहते हैं। वीर पुरुष तथा राजनैतिक नेता होते हुए भी वे आत्म-साक्षात्कार का पथ नहीं अपना सकते हैं।

तात्पर्य : बड़े-बड़े राजनीतिक नेता भले ही अपने समान शक्तिशाली राजनीतिक शत्रुओं को परास्त कर दें, किन्तु वे अहर्निश साथ रहने वाले प्रबल इन्द्रिय-रूपी शत्रुओं का दमन नहीं कर पाते। इन निकटस्थ शत्रुओं को न जीत सकने के कारण ही वे अन्य शत्रुओं को जीतने का प्रयास करते रहते हैं और अन्ततः जीवन-संघर्ष में मर जाते हैं। वे न तो आत्म-साक्षात्कार का पथ ग्रहण करते हैं और न संन्यासी ही बनते हैं। कभी-कभी ये महान् नेता संन्यासी का वेश धारण करके अपने आपको महात्मा कहलवाने लगते हैं, किन्तु उनका एकमात्र प्रयोजन अपने राजनीतिक शत्रुओं को परास्त करना रहता है। चूँकि वे अपने जीवन को ''यह मेरा है'' के मोह से भ्रष्ट कर चुके होते हैं, अतः न उनकी आत्म-

उन्नति हो पाती है और न वे माया के चंगुल से मुक्त हो पाते हैं।

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्
सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रसज्जति—अधिकाधिक आसक्त होता है; **क्वापि**—कभी-कभी; **लता-भुज-आश्रयः**—जो पत्नी की लताओं जैसी कोमल बाहों में आश्रय लेते हैं; **तत्-आश्रय**—जो ऐसी लताओं द्वारा आश्रय प्रदान किये जाते हैं; **अव्यक्त-पद**—जो अस्पष्ट पद (गीत) गाते हैं; **द्विज-स्पृहः**—पक्षियों का गाना सुनने का इच्छुक; **क्वचित्**—कभी-कभी; **कदाचित्**—कहीं; **हरि-चक्रतः त्रसन्**—सिंह की दहाड़ से भयभीत; **सख्यम्**—मित्रता; **विधत्ते**—करता है; **बक-कङ्क-गृध्रैः**—बगुलों, सारसों तथा गीधों के साथ।

कभी-कभी जीवात्मा संसार रूपी जंगल में लताओं का आश्रय लेता है और उन लताओं में बैठें पक्षियों की चहचहाहट सुनना चाहता है। जंगल के सिंहों की दहाड़ से भयभीत होकर वह बगुलों, सारसों तथा गृद्धों से मैत्री स्थापित करता है।

तात्पर्य : इस संसार रूपी जंगल में अनेक प्रकार के पशु, पक्षी, वृक्ष तथा लताएँ होती हैं। कभी-कभी जीवात्मा लताओं का आश्रय लेना चाहता है, अर्थात् वह लताओं के समान भुजाओं वाली अपनी स्त्री का आलिंगन करके सुखी रहना चाहता है। इन लताओं में चहकने वाले अनेक पक्षी रहते हैं—इससे यह सूचित होता है कि वह अपनी पत्नी की मधुरवाणी सुनकर सन्तुष्ट होना चाहता है। किन्तु वृद्धावस्था में वह कभी कभी सन्निकट-मृत्यु से भयभीत हो उठता है, जिसकी तुलना दहाड़ते सिंह से की गई है। सिंह के आक्रमण से बचने के लिए वह किन्हीं धूर्त स्वामियों, योगियों, अवतारों, वंचकों की शरण में जाता है। इस प्रकार माया के द्वारा पथभ्रष्ट होकर वह अपना जीवन विनष्ट कर लेता है। कहा गया है—*हरिं विना मृतिं न तरन्ति*—श्रीभगवान् की शरण लिए बिना कोई भी मृत्यु के आसन्न भय से बच नहीं सकता। यहाँ *हरि* शब्द से सिंह तथा श्रीभगवान् दोनों का बोध होता है। हरि अर्थात् मृत्यु रूपी सिंह से बचने के लिए हरि (ईश्वर) की शरण लेनी होती है। किन्तु अल्पज्ञानी लोग मृत्यु के चंगुल से बचने के लिए अभक्त वंचकों की शरण में जाते हैं। इस संसार रूपी जंगल में जीवात्मा सबसे पहले अपनी पत्नी की भुजवल्लरियों की शरण में जाकर उसकी मधुरवाणी सुनना चाहता है। बाद में वह कभी कभी तथाकथित गुरुओं तथा साधुओं की शरण ग्रहण करता है जो बगुलों, सारसों तथा गीधों के समान हैं। इस प्रकार परमेश्वर की शरण में न जाने से वह दोनों ओर ठगा जाता है।

तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-
न्नरोचयन्शीलमुपैति वानरान् ।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः
परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा (वंचकों, तथाकथित योगियों, स्वामियों, अवतारों तथा गुरुओं द्वारा); वञ्चितः—ठगा जाकर; हंस-कुलम्—परमहंसों या भक्तों की संगति; समाविशन्—सम्पर्क करके; अरोचयन्—संतुष्ट न रहकर; शीलम्—शील, आचार; उपैति—पास जाता है; वानरान्—बंदरों को, जो दुश्चरित्र कामी पुरुष तुल्य हैं; तत्-जाति-रासेन—ऐसे कामी पुरुषों के संग में विषय-तृप्ति द्वारा; सुनिर्वृत-इन्द्रियः—इन्द्रिय-सुख प्राप्त होने से अत्यधिक संतुष्ट; परस्पर उद्वीक्षण—एक दूसरे का मुख देख-देख कर; विस्मृत—भूला हुआ; अवधिः—जीवन का अन्त।

संसार रूपी जंगल में तथाकथित योगियों, स्वामियों तथा अवतारों से ठगा जाकर जीवात्मा उनकी संगति छोड़कर असली भक्तों की संगति में आने का प्रयत्न करता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वह सद्गुरु या परम भक्त के उपदेशों का पालन नहीं कर पाता, अतः वह उनकी संगति छोड़कर पुनः बन्दरों की संगति में वापस आ जाता है जो मात्र इन्द्रिय-तृप्ति तथा स्त्रियों में रुचि रखते हैं। वह इन विषयीजनों की संगति में रहकर तथा काम और मद्यपान में लगा रहकर तुष्ट हो लेता है। इस तरह वह काम और मद्यसेवन से अपना जीवन नष्ट कर देता है। वह अन्य विषयीजनों के मुखों को देख-देख कर भूला रहता है और मृत्यु निकट आ जाती है।

तात्पर्य : कभी-कभी मूढ़ व्यक्ति कुसंगति से ऊब कर भक्तों तथा ब्राह्मणों की संगति में आता है और गुरु से दीक्षा लेता है। वह गुरु के बताये विधि-विधानों का पालन करने का यत्न करता है, किन्तु दुर्भाग्यवश उनका पालन नहीं कर पाता। फलतः वह भक्तों का संग छोड़कर उन दुमकटे लोगों (बन्दरों) का साथ करता है जो संभोग तथा मद्यपान में ही रुचि रखते हैं। जो तथाकथित आत्मवादी हैं, उनकी तुलना बंदरों से की गई है। बाहर से बन्दर साधुओं से मिलते-जुलते हैं, क्योंकि वे जंगलों में नंगे रहते और फल खाते हैं, किन्तु उनकी एकमात्र आकांक्षा होती है अनेक पत्नियाँ बनाकर विषयी जीवन बिताना। कभी-कभी तथाकथित अध्यात्मवादी आध्यात्मिक जीवन की खोज के बहाने कृष्णभावनाभावित भक्तों का साथ करना चाहते हैं, किन्तु वे न तो विधि-विधानों का पालन कर पाते हैं, न आध्यात्मिक जीवन के पथ का ही अनुसरण करते हैं। फलतः वे भक्तों का साथ छोड़कर विषयी पुरुषों का साथ करते हैं, जिनकी तुलना बन्दरों से की गई है। वे पुनः विषय-भोग तथा मद्यपान चालू

कर देते हैं और एक दूसरे के मुख को देखते हुए सन्तुष्ट (प्रसन्न) रहते हैं। इस प्रकार से वे मृत्यु आने तक अपना जीवन यों ही बिताते रहते हैं।

द्रुमेषु रंस्यन्सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने ।
क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

द्रुमेषु—वृक्षों में (अथवा वृक्षवत् घरों में जिनमें बन्दर एक डाली से दूसरी डाली पर कूदते रहते हैं); रंस्यन्—भोगता हुआ; सुत-दार-वत्सलः—बच्चों तथा पत्नी के प्रति अनुरक्त; व्यवाय-दीनः—विषय भोग के कारण दुर्बल हृदय वाला; विवशः—त्यागने में अक्षम; स्व-बन्धने—कर्मफल के बन्धन में; क्वचित्—कभी-कभी; प्रमादात्—आसन्न मृत्यु के भय से; गिरि-कन्दरे—पर्वत की गुफा में; पतन्—गिरकर; वल्लीम्—लताओं की शाखाएँ; गृहीत्वा—पकड़कर; गज-भीतः—मृत्यु रूपी हाथी से भयभीत; आस्थितः—उस स्थिति में रहा जाता है।

जब जीवात्मा एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने वाले बन्दर के सदृश बन जाता है, तो गृहस्थ जीवन के वृक्ष में मात्र विषय सुख (संभोग) के लिए रहता है। इस प्रकार वह अपनी पत्नी से वैसे ही पाद-प्रहार पाता है जैसे कि गधा गधी से। मुक्ति का साधन न पाने के कारण वह असहाय बनकर उसी अवस्था में रहता है। कभी-कभी उसे असाध्य रोग हो जाता है जो पर्वत की गुफा में गिरने जैसा है। वह इस गुफा के पीछे रहने वाले मृत्यु रूपी हाथी से भयभीत हो उठता है और लताओं की टहनियाँ पकड़े रहकर लटका रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर गृहस्थ के जीवन की भयावह स्थिति का वर्णन है। गृहस्थ का जीवन कष्टों से परिपूर्ण है और उसका एकमात्र आकर्षण अपनी पत्नी से संभोग रहता है जो उस रति-क्रीड़ा के समय गधी के समान पाद-प्रहार करती है। निरन्तर विषयी जीवन बिताने से उसे अनेक असाध्य रोग हो जाते हैं। उस समय, हाथी रूपी मृत्यु से भयभीत होकर वह वृक्षों की शाखाएँ पकड़ कर बन्दर के समान लटका रहता है।

अतः कथञ्चित्स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम ।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो
भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अतः—इससे; कथञ्चित्—कुछ भी; सः—वह; विमुक्तः—मुक्त; आपदः—विपत्ति से; पुनः च—फिर से; स-अर्थम्—जीवन में रुचि लेता हुआ; प्रविशति—प्रवेश करता है, प्रारम्भ करता है; अरिम्-दम—शत्रुओं के हंता, हे राजन्; अध्वनि—भोग-पथ पर; अमुष्मिन्—उस; अजया—माया के प्रभाव से; निवेशितः—डूबा हुआ; भ्रमन्—घूमते हुए; जनः—बद्धजीव; अद्य अपि—मृत्यु तक; न वेद—नहीं जानता; कश्चन—कुछ भी।.

हे शत्रुओं के संहारक, महाराज रहूगण, यदि बद्धजीव किसी प्रकार से इस भयानक स्थिति से उबर आता है, तो वह पुनः विषयी जीवन बिताने के लिए अपने घर को लौट जाता है, क्योंकि वही आसक्ति का मार्ग है। इस प्रकार ईश्वर की माया से वशीभूत वह संसार रूपी जंगल में घूमता रहता है। मृत्यु के निकट पहुँच कर भी उसे अपने वास्तविक हित का पता नहीं चल पाता।

तात्पर्य : यही सांसारिक जीवन की रीति है। जब कोई विषयों के प्रति आकृष्ट होता है, तो वह अनेक प्रकार से बँध जाता है और अपने जीवन का सही लक्ष्य नहीं समझ पाता। अत: *श्रीमद्भागवत* का (७..३१) कथन है— *न ते विदु: स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—सामान्यत: लोग जीवन के चरम उद्देश्य को नहीं समझ पाते। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*ॐ तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:*—जो आत्मज्ञानी हैं, वे केवल विष्णु के चरणकमलों को देखते हैं। किन्तु बद्धजीव विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध को पुन:स्थापित करने में कोई रुचि न रखकर भौतिक विषयों में फँस जाता है और तथाकथित नेताओं द्वारा पथभ्रष्ट होकर अखण्ड बन्धन में रहता है।

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
सन्न्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

रहूगण—हे राजा रहूगण; त्वम्—तुम; अपि—भी; हि—निश्चय ही; अध्वनः—संसार पथ का; अस्य—इस; सन्न्यस्त-दण्डः—अपराधियों को दण्ड देने वाले राज-दण्ड को त्याग कर; कृत-भूत-मैत्रः—प्रत्येक प्राणी के मित्र बन कर; असत्-जित-आत्मा—जिसका मन जीवन के भौतिक सुख के प्रति आकृष्ट नहीं होता; हरि-सेवया—परमेश्वर की प्रेममय सेवा के द्वारा; शितम्—पैनी; ज्ञान-असिम्—ज्ञान की तलवार; आदाय—हाथ में लेकर; तर—पार करो; अति-पारम्—उस अन्तिम छोर को (दूसरे पार)।.

हे राजा रहूगण, तुम भी भौतिक सुख के प्रति आकर्षण-मार्ग में स्थित होकर माया के शिकार हो। मैं तुम्हें राज पद तथा उस दण्ड का जिससे अपराधियों को दण्डित करते हो परित्याग करने की सलाह देता हूँ जिससे तुम समस्त जीवात्माओं के सुहृद (मित्र) बन सको। विषयभोगों को त्याग कर अपने हाथ में भक्ति के द्वारा धार लगायी गयी ज्ञान की तलवार को धारण करो।

तब तुम माया की कठिन ग्रंथि को काट सकोगे और अज्ञानता के सागर को पार करके दूसरे छोर पर जा सकोगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१.३-४) में भगवान् कृष्ण ने इस संसा र की तुलना मोह के वृक्ष से की है, जिससे प्रत्येक प्राणी को छूटना है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

''इस वृक्ष का असली रूप इस संसार में नहीं देखा जा सकता। इसके आदि, अन्त अथवा मूलाधार को कोई नहीं जान सकता। किन्तु इस संसार-वृक्ष को दृढ़ निश्चय के साथ वैराग्य रूपी शस्त्र से काट कर फिर उस परमपद को खोजना चाहिए जिसे प्राप्त करके इस संसार में फिर वापस नहीं आना पड़ता। इसके लिए उन्हीं आदि पुरुष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शरणागत हुआ जाये जिनसे अनादिकाल से प्रत्येक वस्तु का सूत्रपात तथा विस्तार होता आया है।''

राजोवाच
अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् ।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां
महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राज रहूगण ने कहा; अहो—ओह; नृ-जन्म—मनुष्य का जन्म लेने वाले तुम; अखिल-जन्म-शोभनम्—सर्व योनियों में श्रेष्ठ; किम्—क्या आवश्यकता; जन्मभिः—स्वर्ग लोकों के देवता जैसी उच्चयोनि में जन्म लेने से; तु—लेकिन; अपरैः—अन्यान्य, निकृष्ट; अपि—निस्संदेह; अमुष्मिन्—अगले जन्म में; न—नहीं; यत्—जो; हृषीकेश-यशः—समस्त इन्द्रियों के स्वामी श्रीभगवान् हृषीकेश के पवित्र यश से; कृत-आत्मनाम्—जिनके हृदय विमल हैं, शुद्ध अन्तःकरण वाले; महा-आत्मनाम्—महात्माओं की; वः—हम सबकी; प्रचुरः—अत्यधिक; समागमः—संगति।

राज रहूगण ने कहा—यह मनुष्य जन्म समस्त योनियों में श्रेष्ठ है। यहाँ तक कि स्वर्ग में देवताओं के बीच जन्म लेना उतना यशपूर्ण नहीं जितना कि इस पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में जन्म लेना। तो फिर देवता जैसे उच्च पद का क्या लाभ? स्वर्गलोक में अथाह भोग-सामग्री के कारण देवताओं को भक्तों की संगति का अवसर ही नहीं मिलता।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य जन्म एक महान् सुअवसर होता है। चाहे कोई स्वर्गलोक में देवताओं के बीच जन्म क्यों न ले, किन्तु भौतिक सुविधाओं की प्रचुरता के कारण उसे भव-बन्धन से छुटकारा नहीं मिल पाता। इस पृथ्वी पर भी जो ऐश्वर्यवान हैं, वे कृष्ण-भक्ति की कोई परवाह नहीं करते। जो बुद्धिमान पुरुष वास्तव में भौतिकता के चंगुल से छूटना चाहता है उसे चाहिए कि वह शुद्ध भक्तों की संगति करे। इस संगति से वह क्रमश: धन तथा स्त्री के आकर्षण से विरक्त होता जाएगा। भौतिकता के मूलभूत तत्त्व धन तथा स्त्रियाँ हैं। अत: श्री चैतन्य महाप्रभु ने यह उपदेश दिया है कि जो श्रीभगवान् के धाम को वापस जाना चाहते हैं उन्हें धन तथा स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए जिससे वे ईश्वर के साम्राज्य में प्रवेश करने के योग्य बन सकें। धन तथा स्त्रियों का पूर्ण उपभोग ईश्वर की सेवा में किया जा सकता है और जो ऐसा कर सकता है, वह भव-बन्धन से मुक्त हो सकता है। *सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायना: कथा:* (भागवत ३.२.२)। भक्तों की संगति में रह कर ही श्रीभगवान् के यश का आस्वादन सम्भव है। विशुद्ध भक्त की किंचित संगति से मनुष्य श्रीभगवान् के धाम जाने में सफल हो सकता है।

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; अद्भुतम्—अद्भुत; त्वत्-चरण-अब्ज-रेणुभि:—आपके चरणकमलों की धूलि से; हत-अंहस:—पाप के फल से मुक्त मैं; भक्ति:—प्रेम तथा भक्ति; अधोक्षजे—श्रीभगवान् में, जो व्यवहार-ज्ञान की पकड़ से परे है; अमला—सांसारिक कल्मषों से रहित, विमल; मौहूर्तिकात्—क्षणिक; यस्य—जिसके; समागमात्—आगमन तथा संगति से; च—भी; मे—मेरा; दुस्तर्क—झूठ तर्कों का, कुतर्कों का; मूल:—मूल, मूलकारण; अपहत:—पूर्णतया विनष्ट हो गया; अविवेक:—अज्ञान।

यह कोई विचित्र बात नहीं है कि केवल आपके चरण-कमलों की धूलि से धूसरित होने से मनुष्य तुरन्त विशुद्ध भक्ति के अधोक्षज पद को प्राप्त होता है जो ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। आपके क्षणमात्र के समागम से अब मैं समस्त तर्कों, अहंकार तथा अविवेक से मुक्त हो गया हूँ जो इस भौतिक जगत में बंधन के मूल कारण हैं। मैं अब इन समस्त झंझटों से मुक्त हूँ।

तात्पर्य : शुद्ध भक्तों के समागम से भौतिक बंधनों से मुक्ति निश्चित है। यह जड़ भरत की संगति से राजा रहूगण के प्रसंग में पूर्णत: सत्य है। राजा रहूगण तुरन्त ही भौतिक संगति के दुष्परिणामों से मुक्त हो गये। शुद्ध भक्तों द्वारा अपने शिष्यों को दिये तर्क इतने विश्वसनीय होते हैं कि मूढ़ से मूढ़ शिष्य भी तुरन्त आध्यात्मिक ज्ञान का आलोक प्राप्त कर सकता है।

नमो महद्भ्योऽस्तु नम: शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आवटुभ्य: ।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-
श्चरन्ति तेभ्य: शिवमस्तु राज्ञाम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

नम:—नमस्कार है; महद्भ्य:—महापुरुषों को; अस्तु—हो; नम:—मेरा नमस्कार; शिशुभ्य:—जो महापुरुष शिशु रूप में हो, उनको; नम:—सादर नमस्कार; युवभ्य:—जो युवा (तरुण) हों, उन्हें; नम:—सादर नमस्कार; आ-वटुभ्य:—जो बालक के रूप में हों उन्हें; ये—जो सब; ब्राह्मणा:—दिव्य ज्ञान में सिद्ध; गाम्—पृथ्वी; अवधूत-लिङ्गा:—विभिन्न शारीरिक वेषों में छिपे रहने वाले; चरन्ति—घूमते रहते हैं; तेभ्य:—उनसे; शिवम् अस्तु—कल्याण हो; राज्ञाम्—राजाओं को (जो सदैव गर्वित रहते हैं)।

मैं उन महापुरुषों को नमस्कार करता हूँ जो इस धरातल पर शिशु, तरुण बालक, अवधूत या महान् ब्राह्मण के रूप में विचरण करते हैं। यदि वे विभिन्न वेशों में छिपे हुए हैं, तो भी मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ। उनके अनुग्रह से उनका अपमान करने वाले राजवंशों का कल्याण हो।

तात्पर्य : राजा रहूगण को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि उसने जड़ भरत को अपनी पालकी ढोने के लिए बाध्य किया था। अत: उसने समस्त प्रकार के ब्राह्मणों तथा स्वरूपसिद्ध पुरुषों की वन्दना करनी प्रारम्भ की, चाहे वे शिशु रूप में खेल रहे हों या किसी भी वेश में छिपे हुए हों। चारों कुमार पाँचवर्षीय बालकों के रूप में सर्वत्र घूमते थे। इसी प्रकार अनेक ब्राह्मण बच्चे, तरुण या अवधूत रूप में विश्व का परिभ्रण करते रहते हैं। सामान्यत: राजा लोग अहंकारवश इन महापुरुषों को अपमानित करते रहते हैं, अत: राजा रहूगण ने उनको ही सादर नमस्कार किया है, जिससे अहंकारी राजवंश नरक को न प्राप्त हो। यदि कोई महापुरुष का अपमान करता है, तो श्रीभगवान् उसे क्षमा नहीं करते, भले ही उन महापुरुषों को यह अपमान जैसा न लगता हो। दुर्वासा ने महाराज अम्बरीष का अपमान किया था, अत: जब वे भगवान् विष्णु के पास क्षमा के लिए पहुँचे तो उन्होंने क्षमा प्रदान नहीं की—उन्हें महाराज

अम्बरीष के चरणों पर गिरना पड़ा, यद्यपि वे क्षत्रिय गृहस्थ थे। मनुष्य को चाहिए कि वह वैष्णव तथा ब्राह्मण के चरणकमलों का अपमान न करे।

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार. ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति एवम्—इस प्रकार; उत्तरा-मातः—हे माता उत्तरा के पुत्र, महाराज परीक्षित; सः—वह ब्राह्मण; वै—निस्संदेह; ब्रह्म-ऋषि-सुतः—अत्यन्त शिक्षित ब्राह्मण का पुत्र, जड़ भरत; सिन्धु-पतये—सिंधु राज्य के राजा को; आत्म-स-तत्त्वम्—आत्मा की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति; विगणयतः—जड़ भरत का अपमान करने पर भी; पर-अनुभावः—परम आत्मज्ञानी; परम-कारुणिकतया—पतित-आत्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण; उपदिश्य—उपदेश देकर; रहूगणेन—राजा रहूगण के द्वारा; स-करुणम्—दीनभाव से; अभिवन्दित-चरणः—जिसके चरणकमलों की वन्दना की गई; आपूर्ण-अर्णवः इव—परिपूर्ण सागर के समान; निभृत—पूर्णतया शान्त; करण—इन्द्रियों की; ऊर्मि—लहरें; आशयः—अन्तःकरण में; धरणिम्—पृथ्वी पर; इमाम्—इस; विचचार—घूमने लगे।.

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, हे राजन्, हे उत्तरा-पुत्र, राजा रहूगण द्वारा अपनी पालकी ढोये जाने के लिए बाध्य किये जाने से अपमानित होकर जड़ भरत के मन में असंतोष की कुछकुछ लहरें थीं, किन्तु उन्होंने इनकी उपेक्षा की और उनका हृदय पुनः सागर के समान शान्त हो गया। यद्यपि राजा रहूगण ने उनका अपमान किया, किन्तु वे महान् परमहंस थे। वैष्णव होने के नाते वे परम दयालु थे, अतः उन्होंने राजा को आत्मा की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति बतलाई। तब उन्हें अपमान भूल गया, क्योंकि राजा रहूगण ने विनीत भाव से उनके चरणकमलों पर क्षमा माँग ली थी। इसके बाद वे पुनः पूर्ववत् सारे विश्व का भ्रमण करने लगे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (३.२.२१) में कपिलदेव ने महापु रुषों के लक्षण बतलाये हैं—*तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।* साधु भक्त अन्यन्त सहिष्णु होता है। वह सभी जीवों का मित्र होता है और संसार में वैर नहीं पालता। शुद्ध भक्त में साधु के समस्त गुण पाये जाते हैं। जड़ भरत इसके उदाहरण हैं। भौतिक शरीर होने से जब राजा रहूगण द्वारा उनका अपमान हुआ तो वे विक्षुब्ध अवश्य हुए थे, किन्तु बाद में राजा के अनुनय-विनय से जड़ भरत ने उसे क्षमा कर दिया। जो कोई भी श्रीभगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है उसका परम कर्तव्य है कि वह राजा रहूगण के समान विनीत हो और जिस वैष्णव का अपमान किया हो उससे क्षमा माँगे। वैष्णव सामान्य रूप से परम

दयालु होते हैं, अत: जब कोई उनके चरणों में तुरन्त समर्पण कर देता है, तो वे उनके पापकर्म के फल को क्षमा कर देते हैं। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो पापकर्म के फल बने रहते हैं और फल अच्छा नहीं निकलता।

सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज; एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभाव:. ॥ २॥

शब्दार्थ

सौवीर-पति:—सौवीर राज्य का राजा; अपि—निश्चय ही; सु-जन—महापुरुष से; समवगत—भली-भाँति अवगत होकर, जानकर; परमात्म-स-तत्त्व:—आत्मा तथा परमात्मा की स्वाभाविक स्थिति की सत्यता; आत्मनि—अपने आप में; अविद्या—अज्ञान से; अध्यारोपिताम्—भूल से आरोपित; च—तथा; देह—शरीर में; आत्म-मतिम्—स्व-बोध; विससर्ज—पूर्णतया त्याग दिया; एवम्—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; नृप—हे राजन्; भगवत्-आश्रित-आश्रित-अनुभाव:—परम्परानुसार सद्गुरु की शरण में आये हुए भक्त की शरण में (जो निश्चित रूप से अविद्या रूपी देहात्म-बुद्धि को निकाल पाने में समर्थ है)।

परम भक्त जड़ भरत से उपदेश ग्रहण करने के पश्चात् सौवीर का राजा रहूगण आत्मा की स्वाभाविक स्थिति से पूर्णतया परिचित हो गया। उसने देहात्मबुद्धि का सर्वश: परित्याग कर दिया। हे राजन्, जो भी ईश्वर के भक्त के दास की शरण ग्रहण करता है, वह धन्य है, क्योंकि वह बिना कठिनाई के देहात्मबुद्धि त्याग सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *चैतन्य चरितामृत* (मध्य २२.४) में कहा गया है—

''साधु संग,'' ''साधु संग''—सर्वशास्त्रे कय।

लवमात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

यह सच है कि चाहे क्षण भर की ही संगति क्यों न हो, यदि कोई शुद्ध भक्त की शरण में जाता है, तो उसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है। साधु भगवान् का शुद्ध भक्त होता है। यह हमारा स्वयं का अनुभव है कि हम गुरु के प्रथम उपदेश से ही कृष्णभावनामृत से अभिभूत हो उठे जिससे आज हम कृष्णभावनामृत के पथ पर हैं और कृष्ण-दर्शन को समझ सकते हैं। परिणाम यह हुआ कि आज अनेक भक्त कृष्णभावनामृत आन्दोलन में संलग्न हैं। यह समूचा संसार देहात्मबुद्धि के वशीभूत होकर चक्कर लगा रहा है। इसलिए संसार भर में लोगों को ज्ञान प्रदान करने और कृष्णभक्ति में लगाने के लिए भक्तों पूरी तरह से जुट जाना चाहिए।

राजोवाच

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः; अथ तदेवैतद्दुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा परीक्षित ने कहा; यः—जो; ह—निश्चय ही; वा—अथवा; इह—इस वर्णन में; बहु-विदा—दिव्य ज्ञान की अनेक घटनाओं को जानने वाले; महा-भागवत—हे परम भक्त साधु; त्वया—आपके द्वारा; अभिहितः—वर्णित; परोक्षेण—अलंकारिक रीति से; वचसा—शब्दों से; जीव-लोक-भव-अध्वा—बद्धजीव का संसार रूप मार्ग; सः—वह; हि—निस्संदेह; आर्य-मनीषया—सिद्ध भक्तों की बुद्धि से; कल्पित-विषयः—कल्पना किया गया विषय; न—नहीं; अञ्जसा—प्रत्यक्ष; अव्युत्पन्न-लोक—अल्प बुद्धि वाले पुरुष; समधिगमः—पूर्ण ज्ञान; अथ—अतः; तत् एव—उसके कारण; एतत्—यह विषय; दुरवगमम्—दुर्बोध, समझने में कठिन; समवेत-अनुकल्पेन—ऐसी घटनाओं (रूपक) का स्पष्टीकरण करने वाले; निर्दिश्यताम्—वर्णन करें; इति—इस प्रकार।

तब राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से कहा—हे स्वामी, हे परम भक्त साधु, आप सर्वज्ञाता हैं। आपने जंगल के वणिक के रूप में बद्धजीव की स्थिति का अत्यन्त मनोहर वर्णन किया है। इन उपदेशों से कोई भी बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है कि देहात्मबुद्धि वाले पुरुष की इन्द्रियाँ उस जंगल में चोर-उचक्कों सी हैं और उसकी पत्नी तथा बच्चे सियार तथा अन्य हिंस्त्र पशुओं के तुल्य हैं। किन्तु अल्पज्ञानियों के लिए इस आख्यान को समझ पाना सरल नहीं है क्योंकि इस रूपक का सही-सही अर्थ निकाल पाना कठिन है। अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि इसका अर्थ स्पष्ट करके बताएँ।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में ऐसे अनेक आख्यान तथा घटनाएँ हैं, जिनका वर्णन रूपक के माध्यम से किया गया है। ऐसे रूपकों का अर्थ अल्पज्ञों की समझ में नहीं आता, अतः ज्ञान-पिपासु छात्र का यह परम कर्तव्य है कि वह स्पष्ट व्याख्या के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के अन्तर्गत ''राजा रहूगण तथा जड़ भरत के बीच और आगे वार्ता'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

भौतिक संसार भोग का एक विकट वन

इस अध्याय में भवाटवी (भौतिक जगत रूपी वन) का अर्थ स्पष्ट किया गया है। कभी-कभी वणिकजन अनेक दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह करने और उन्हें लाभ सहित नगर में बेचने के लिए वन (अटवी) में प्रवेश करते हैं, किन्तु वन मार्ग सदैव ही संकटों से घिरे रहते है। जब शुद्ध जीव प्रभु की

सेवा त्याग कर भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, तो श्रीकृष्ण उसे उस भौतिक जगत में प्रवेश करने का अवसर अवश्य प्रदान करते हैं। *प्रेम विवर्त* में कहा गया है— *कृष्ण बहिर्मुख हञा भोग वांछा करे।* इसी कारण शुद्ध जीवात्मा भौतिक जगत में गिर जाता है। प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव में आकर जीवात्मा विभिन्न योनियों में देह धारण करता है। कभी वह स्वर्गलोक में देवता बनता है, तो कभी मर्त्यलोकों में नगण्य प्राणी का रूप धारण करता है। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं— *नाना योनि सदा फिरे*—जीवात्मा अनेक योनियों में भ्रमण करता है। *कदर्य भक्षण करे*—उसे घृणित वस्तुएँ खानी और भोगनी पड़ती हैं। तारे जन्म अध: पाते याय इस प्रकार उसका सारा जीवन नष्ट हो जाता हैं। सर्व-दयामय वैष्णव की शरण के बिना बद्धजीव माया के चंगुल से नहीं छूट पाता। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*मन:षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*) जीवात्मा अपने मन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भौतिक जीवन प्रारम्भ करता है और इन्हीं के बल पर वह अपने अस्तित्व के लिए इस भौतिक जगत में संघर्ष करता है। इन इन्द्रियों की तुलना वन में रहने वाले धूर्तों तथा ठगों से की गई है। वे मनुष्य का आत्म-ज्ञान हर कर उसे अज्ञानता के जाल में डाल देती हैं। इस तरह इन्द्रियाँ धूर्तों तथा ठगों के तुल्य हैं, जो उसके आत्म ज्ञान को लूट लेती हैं और इन के अतिरिक्त सारे कुटुम्बी, पत्नी तथा सन्तानें वन के खूँखार पशुओं के तुल्य हैं। इन भयानक पशुओं का काम है मनुष्यों का मांस भक्षण करना। जीवात्मा इन शृगालों तथा लोमड़ियों (पत्नी तथा सन्तान स्वरूप) को अपने ऊपर आक्रमण करने देता है और इस प्रकार उसका वास्तविक आध्यात्मिक जीवन समाप्त हो जाता है। भौतिक जीवन रूपी वन में प्रत्येक प्राणी मच्छरों की भाँति विद्वेषी है और मूषक तो निरन्तर उत्पात ही मचाते रहते हैं। इस भौतिक जगत में प्रत्येक प्राणी अनेक अप्रिय परिस्थितियों में जा पहुँचता है और ईर्ष्यालु व्यक्तियों तथा उत्पाती पशुओं से घिरा रहता है। फलस्वरूप जीवात्मा इनसे सतत लूटा जाता है और अन्य जीवात्माओं द्वारा दंशित होता रहता है। इतने व्यवधानों के बाद भी वह गृहस्थाश्रम को नहीं छोड़ना चाहता और भविष्य में सुखी रहने के प्रयास में सकाम कर्म करता रहता है। इस प्रकार वह कर्मफलों में अधिकाधिक फँसता जाता है और कुकृत्य करने के लिए बाध्य हो जाता है। उसके प्रत्यक्ष साक्षी होते हैं—दिन में सूर्य तथा रात्रि में चन्द्रमा। देवतागण भी देखते रहते हैं, किन्तु बद्धजीव सोचता है कि इन्द्रियतृप्ति के उसके सारे प्रयासों को कोई नहीं देख रहा है। अत: जब भी वह पकड़ा जाता है,

तो कुछ काल के लिए वह सब कुछ परित्याग कर देता है, किन्तु देह से अत्यधिक आसक्ति रहने के कारण सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व ही उसका यह त्याग समाप्त हो जाता है।

इस भौतिक जगत में अनेक ईर्ष्यालु व्यक्ति हैं। कर लगाने वाले शासन की तुलना उलूक से की जा सकती है। अप्रिय झंकार करते अदृश्य झींगुर भी विद्यमान हैं। ये तब प्रकृति के दूत बनकर बद्धजीव को सताते हैं, किन्तु उसकी बुद्धि कुसंग के कारण भ्रष्ट हो जाती है। भौतिक अस्तित्व की बाधाओं से मुक्ति पाने के प्रयास में बद्धजीव नामधारी योगियों, साधुओं तथा अवतारियों के चंगुल में पड़ जाता है। जो जादू तो दिखा सकते हैं, किन्तु भक्ति को नहीं समझा पाते। कभी-कभी बद्धजीव अपना सारा धन खो देने के कारण अपने कुटुम्बीजनों से रुष्ट हो जाता है। इस भौतिक जगत में बद्धजीव को रंचमात्र भी सुख नहीं है, किन्तु वह जन्म-जन्मातर इसी की कामना करता है। राज्य-कर्मचारी नरभक्षी असुरों की तरह हैं, जो राज्य के संरक्षण के लिए प्रचुर कर लगाते हैं। कठोर श्रम करने वाला बद्धजीव इन भारी करों से अत्यन्त दुखी रहता है।

सकाम कर्मों का मार्ग दुर्लंघ्य पर्वतों की ओर ले जाता है। बद्धजीव कभी-कभी इन पर्वतों को लाँघना तो चाहता है, किन्तु वह कभी सफल नहीं हो पाता। फलत: वह अधिक संतप्त एवं निराश हो उठता है। भौतिक रूप से तथा आर्थिक रूप से संत्रस्त होकर बद्धजीव वृथा ही अपने परिवार को प्रताड़ित करता रहता है। भौतिक दृष्टि से चार प्रमुख आवश्यकताएँ होती हैं, जिनमें से नींद की तुलना अजगर से की गई है। नींद आने पर बद्धजीव अपने मूल अस्तित्व को पूरी तरह भूल जाता है और भौतिक जीवन की यातनाओं का अनुभव नहीं कर पाता। कभी-कभी धन की आवश्यकता होने पर बद्धजीव चोरी और ठगी करता है, भले ही वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए ऊपर-ऊपर भक्तों की संगति क्यों न करे। उसका एकमात्र व्यापार माया के चंगुल से छूटना होना चाहिए। किन्तु सही निर्देश के अभाव में वह भौतिक कार्यों में अधिकाधिक उलझता जाता है। यह भौतिक जगत मात्र उलझन है और सुख, दुख, राग, द्वेष तथा शत्रुता जैसी यातनाओं से बना हुआ है। तात्पर्य है कि यह जगत यातना एवं दुख से परिपूर्ण है। जब व्यक्ति पत्नी में आसक्ति और कामाचार में लिप्त रहने के कारण ज्ञान खो देता है, तो उसकी समग्र चेतना दूषित हो जाती है। वह केवल स्त्री-संग की बातें सोचता रहता है। काल तो सर्प के समान प्रत्येक प्राणी का प्राण लेता है चाहे वह ब्रह्मा हों या एक नन्हीं चींटी। कभी-

कभी बद्धजीव काल से बचना चाहता है, तो वह किसी नकली मुक्तिदाता की शरण लेता है जो दुर्दैववश स्वयं की रक्षा नहीं कर सकता। तो फिर वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकता है? ऐसे नकली मुक्तिदाता योग्य ब्राह्मणों तथा वैदिक साधनों से प्राप्त प्रामाणिक ज्ञान की परवाह नहीं करते। वे व्यभिचार में लिप्त रहते हैं और विधवाओं तक को संभोग करने की छूट देने की संस्तुति करते हैं। इस प्रकार वे वन के वानरों के तुल्य हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित को विस्तारपूर्वक भौतिक वन (भवाटवी) तथा इसके दुर्गम पथ के विषय में समझाते हैं।

स होवाच

स एष देहात्ममानिनां
सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन्दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णोर्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सार्थोऽर्थपर: स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभव: श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं हरिगुरुचरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

स:—स्वरूपसिद्ध भक्त (श्रीशुकदेव गोस्वामी) ने; ह—निस्संदेह; उवाच—कहा; स:—वह (बद्ध-आत्मा); एष:—यह; देह-आत्म-मानिनाम्—अज्ञानवश देह को अपना मानने वाले व्यक्तियों का; सत्त्व-आदि—सत्त्व, रज तथा तम के; गुण—गुणों के द्वारा; विशेष—विशेष; विकल्पित—अज्ञानवश कल्पित; कुशल—कभी-कभी अनुकूल कर्मों द्वारा; अकुशल—कभी-कभी प्रतिकूल कर्मों के द्वारा; समवहार—दोनों के मिश्रण द्वारा, समवहार से; विनिर्मित—प्राप्त; विविध—नाना प्रकार के; देह-आवलिभि:—देहों की शृंखला के द्वारा; वियोग-संयोग-आदि—एक प्रकार के देह का त्याग (वियोग) तथा अन्य की स्वीकृति (संयोग) द्वारा; अनादि-संसार-अनुभवस्य—देहान्तर की अनादि प्रक्रिया की प्रतीति का; द्वार-भूतेन—द्वारों के रूप में विद्यमान होकर; षट्-इन्द्रिय-वर्गेण—इन छः इन्द्रियों (मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों आँख, कान, जीभ, नाक तथा त्वचा) द्वारा; तस्मिन्—उस पर; दुर्ग-अध्व-वत्—दुर्लंघ्य पथ की भाँति; असुगमे—पार करने में सुगम न होने से; अध्वनि—वन के पथ पर; आपतित:—पड़ कर; ईश्वरस्य—नियन्ता का; भगवत:—श्रीभगवान्; विष्णो:—भगवान् विष्णु के; वश-वर्तिन्या—वश में रहकर कर्म करते हुए; मायया—माया द्वारा; जीव-लोक:—बद्ध जीवात्मा; अयम्—यह; यथा—जैसे; वणिक्—व्यापारी, बनिया; स-अर्थ:—उद्देश्य सहित, सोद्देश्य; अर्थ-पर:—धन में आसक्त; स्व-देह-निष्पादित—अपने देह से किया गया; कर्म—कार्यों का फल; अनुभव:—जो अनुभव करता है; श्मशान-वत् अशिवतमायाम्—अशुभ श्मशान भूमि के सदृश; संसार-अटव्याम्—भौतिक जीवन के वन में; गत:—प्रवेश करने पर; न—नहीं; अद्य अपि—अब तक; विफल—असफल; बहु-प्रतियोग—अनेक विघ्नों तथा दुखों से पूर्ण; ईह:—इस भौतिक जगत में जिनके कार्य; तत्-ताप-उपश-मनीम्—भौतिक जीवन रूपी वन के दुखों को शान्त करने वाला; हरि-गुरु-चरण-अरविन्द—प्रभु तथा भक्तों के चरणारविन्द में; मधुकर-अनुपदवीम्—भ्रमर सदृश अनुरक्त भक्तों के अनुगमन का पथ; अवरुन्धे—प्राप्त।

राजा परीक्षित् ने जब श्रीशुकदेव गोस्वामी से भौतिक वन का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कहा तो उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया—हे राजन्, वणिक की रुचि सदैव धन उपार्जन के प्रति रहती है। कभी-कभी वह लकड़ी तथा मिट्टी जैसी कुछ अल्पमूल्य की वस्तुएँ प्राप्त करने और उन्हें ले जाकर नगर में अच्छे मूल्य में विक्रय करने की आकांक्षा से वन में प्रवेश करता है। इसी प्रकार

बद्धजीव लोभवश कुछ भौतिक सुख-लाभ करने की इच्छा से इस भौतिक जगत में प्रवेश करता है। धीरे-धीरे वह वन के सघन भाग में प्रवेश करता है तथा वह यह नहीं जानता कि बाहर कैसे निकले। इस भौतिक जगत में प्रवेश करके शुद्ध जीव सांसारिकता में बँध जाता है, जो भगवान् विष्णु के नियंत्रण में उनकी बहिरंगा शक्ति (माया) उत्पन्न करती है। इस प्रकार जीवात्मा बहिरंगा शक्ति दैवी माया के वशीभूत हो जाता है। स्वतंत्र होने तथा वन में भटकने के कारण वह भगवान् की सेवा में सदैव तत्पर रहने वाले भक्तों का संग प्राप्त नहीं कर पाता। एक बार देहात्मबुद्धि के कारण वह माया के वशीभूत होकर और भौतिक गुणों (सत्त्व, रज् तथा तम्) के द्वारा प्रेरित होकर एक के पश्चात् एक अनेक प्रकार के शरीर धारण करता है। इस प्रकार बद्धजीव कभी स्वर्गलोक तो कभी भूलोक और कभी पाताललोक तथा निम्न योनियों में प्रवेश करता है। इस प्रकार अनेक देहों के कारण वह निरन्तर कष्ट सहन करता है। ये कष्ट तथा पीड़ाएँ कभी-कभी मिश्रित रहती हैं। कभी तो ये असह्य होती हैं, तो कभी नहीं। ये शारीरिक दशाएँ बद्धजीव को मनोकल्पना के कारण प्राप्त होती हैं। वह अपने मन तथा पंचेन्द्रियों का उपयोग ज्ञान-प्राप्ति के लिए करता है और इन्हीं से विभिन्न देहें तथा विभिन्न दशाएँ प्राप्त होती हैं। बहिरंगा शक्ति माया के नियंत्रण में इन इन्द्रियों का उपभोग करके जीव को दुख उठाना पड़ता है। वह वास्तव में छुटकारा पाने की खोज में रहता है, किन्तु सामान्य रूप से वह भटकता है, यद्यपि कभी-कभी अत्यन्त कठिनाई के पश्चात् उसे छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार अस्तित्त्व के लिए संघर्षशील रहने के कारण उसे भगवान् विष्णु के चरणारविन्दों में भ्रमरों के समान अनुरक्त भक्तों की शरण नहीं मिल पाती है।

तात्पर्य : इस श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना है, *हरि-गुरु-चरण-अरविन्द-मधुकर-अनुपदवीम्*—इस भौतिक जगत में बद्धजीव स्व-कर्मवश भटकता रहता है और कभी-कभी अत्यन्त कठिनाई के पश्चात् इससे छूट पाता है। तात्पर्य यह है कि जीव कभी सुखी नहीं रहता। वह अपने अस्तित्व के लिए मात्र संघर्ष करता है। वास्तव में उसका एकमात्र प्रयोजन गुरु को स्वीकार करना और उनकी शरण में जाकर उन्हीं के माध्यम से श्रीभगवान् के चरणारविन्द को स्वीकार करना है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज।* इस भौतिक

जगत रूपी वन या नगर में अस्तित्त्व के लिए संघर्ष करने वाले प्राणी वास्तव में सुखी नहीं हैं। वे मात्र विविध पीड़ाओं एवं इच्छाओं का भोग कर रहे हैं—सामान्यत: ऐसी पीड़ाएँ जो अशुभ हैं। वे इन दुखों से मुक्ति पाना चाहते हैं, किन्तु अज्ञानवश वे ऐसा नहीं कर पाते। उनके लिए तो वेदों में कहा गया है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्।* जब अस्तित्त्व के लिए संघर्ष में इस भौतिक जगत रूपी वन में जीव भटक जाता है, तो उसका प्रथम कार्य होता है ऐसा प्रामाणिक गुरु खोज निकालना जो भगवान् विष्णु के चरणकमलों में निरन्तर अनुरक्त रहता हो। तात्पर्य यह कि यदि वह अस्तित्व के लिए संघर्ष से छुटकारे का इच्छुक होता है, तो उसे चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु खोजे और उसके चरणकमल में रहकर शिक्षा प्राप्त करे। इस प्रकार वह उस संघर्ष से बाहर निकल सकता है।

चूँकि भौतिक जगत की तुलना वन से की गयी है। अत: यह तर्क किया जा सकता है कि कलियुग में आधुनिक सभ्यता मुख्यत: नगरों में ही स्थित है। किन्तु एक बड़ा नगर विशाल वन के तुल्य है। सच तो यह है कि नगर का जीवन वन में रहने की अपेक्षा अधिक घातक है। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी मित्र और आश्रय के किसी नगर में प्रवेश करता है, तो उसके लिए उस नगर में निवास करना वन में रहने से भी अधिक कठिन है। इस पृथ्वी पर अनेक बड़े-बड़े नगर हैं और जहाँ भी दृष्टि जाती है अहर्निश जीवन-संघर्ष छिड़ा दिखता है। लोग ७०-८० मील की गति से मोटरकारों में इधर-उधर दौड़ते रहते हैं, जो जीवन-संघर्ष का दृश्य उपस्थित करता है। उन्हें भोर में शीघ्र उठकर मोटर में द्रुतगति से यात्रा करनी होती है। इससे सतत दुर्घटना का भय बना रहता है और काफी सावधानी बरतनी पड़ती है। अपने वाहन में भी मनुष्य अनेकानेक दुश्चिन्ताओं से घिरा रहता है तथा उसका संघर्ष कदापि मंगलकारी नहीं होता। मनुष्य के अतिरिक्त बिल्लियों तथा कुत्तों जैसी योनियाँ भी अपने अस्तित्त्व के लिए अहर्निश कठिन संघर्ष करती हैं; इस प्रकार जीवन-संघर्ष चलता रहता है और यह बद्धजीव एक स्थिति से दूसरी स्थिति को प्राप्त होता है। अल्पकाल के लिए वह शिशु रहता है, तत्पश्चात् वह बालक में बदल जाता है; बालक से युवा और युवा से पुरुष और फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। अन्त में जब यह शरीर कार्य करने में अक्षम हो जाता है, तो इसे अन्य योनियों में स्वीकार करना पड़ता हैं। एक शरीर का त्याग करना मृत्यु कहलाती है और दूसरे शरीर को ग्रहण करना जन्म है। मानव शरीर धारण करने का यही लाभ है कि वह प्रामाणिक गुरु की शरण ले करके उनके

माध्यम से श्रीभगवान् को प्राप्त करे। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के सदस्यों को, जो मूर्ख प्रचारकों द्वारा मार्ग से भ्रमित किये जाते हैं, उनको अवसर प्रदान करने के लिए चलाया गया है। कोई भी प्राणी अस्तित्त्व के इस जीवन-संघर्ष से, जो कष्टों से परिपूर्ण है, तब तक छुटकारा नहीं पा सकता जब तक कि वह श्रीभगवान् के शुद्ध भक्त की शरण न ले। भौतिक प्रयास तो एक स्थिति से दूसरी में बदलते हैं, किन्तु वास्तव में किसी को इस जीवन-संघर्ष से छुटकारा नहीं मिल पाता। इसका एकमात्र उपाय प्रामाणिक गुरु के चरणकमल और उनके द्वारा श्रीभगवान् के चरणकमलों की शरण है।

यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते; तद्यथा पुरुषस्य धनं यत्किञ्चिद्धर्मौपयिकं बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात्परमपुरुषाराधनलक्षणो योऽसौ धर्मस्तं तु साम्पराय उदाहरन्ति; तद्धर्म्यं धनं दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादनावघ्राणसङ्कल्पव्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य विलुम्पन्ति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—जिसमें; उ ह—निश्चय ही; वा—अथवा; एते—ये सब; षट्-इन्द्रिय-नामानः—जो छः इन्द्रियाँ (मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) कहलाती हैं; कर्मणा—अपने कर्म के द्वारा; दस्यवः—दस्यु (लुटेरे); एव—निश्चय ही; ते—वे; तत्—वह; यथा—जिस प्रकार; पुरुषस्य—व्यक्ति का; धनम्—धन; यत्—जो भी; किञ्चित्—थोड़ा; धर्म-औपयिकम्—धार्मिक सिद्धान्तों का साधन; बहु-कृच्छ्र-अधिगतम्—अतीव श्रम से उपार्जित; साक्षात्—प्रत्यक्ष; परम-पुरुष-आराधन-लक्षणः—यज्ञ इत्यादि के द्वारा भगवान् की पूजा करना जिनके लक्षण हैं; यः—जो; असौ—वह; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त (मर्यादा); तम्—उसको; तु—किन्तु; साम्पराये—मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा के लाभार्थ; उदाहरन्ति—बुद्धिमान घोषित करते हैं; तत्-धर्म्यम्—धार्मिक (वर्णाश्रम धर्म के पालन से सम्बधित); धनम्—धन; दर्शन—दर्शन द्वारा; स्पर्शन—स्पर्श द्वारा; श्रवण—श्रवण द्वारा; आस्वादन—स्वाद के द्वारा; अवघ्राण—सूँघकर; सङ्कल्प—निश्चय द्वारा; व्यवसाय—निष्कर्ष रूप में; गृह—घर में; ग्राम्य-उपभोगेन—भौतिक उपभोग द्वारा; कुनाथस्य—भ्रमित बद्ध जीवात्मा का; अजित-आत्मनः—जिसने अपने पर विजय प्राप्त नहीं की; यथा—जैसे; सार्थस्य—इन्द्रियों की तृप्ति में रुचि रखने वाले जीवात्मा का; विलुम्पन्ति—लूट लेते हैं।.

संसार रूपी वन में अनियंत्रित इन्द्रियाँ दस्युओं के समान हैं। बद्धजीव श्रीकृष्णभावनामृत के विकास के लिए कुछ धन अर्जित कर सकता है, किन्तु दुर्भाग्यवश अनियंत्रित इन्द्रियाँ अपनी तुष्टि द्वारा इस धन को लूट लेती हैं; इन्द्रियाँ दस्यु हैं, क्योंकि वे जीव को दर्शन, घ्राण, आस्वाद, स्पर्श, श्रवण, संकल्प-विकल्प तथा कामना में अपना धन व्यर्थ व्यय करने के लिए बाध्य करती हैं। इस प्रकार बद्धजीव अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए बाध्य हो जाता है, जिससे उसका सारा धन व्यय हो जाता है। यद्यपि यह धन यथार्थतः धार्मिक कृत्यों के सम्पादन हेतु अर्जित हुआ होता है, किन्तु दस्यु-इन्द्रियाँ इसका हरण कर लेती हैं।

तात्पर्य : *पूर्वजन्मार्जिता विद्या पूर्वजन्मार्जितं धनं अग्रे धावति धावति।* वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करने पर मनुष्य को भौतिक जगत में उच्चतर पद प्राप्त होता है। वह धनी, विद्वान, सुन्दर या

उच्चकुलीन हो सकता है। जिस किसी व्यक्ति के पास ये सभी सम्पत्तियाँ होती हैं उसे यह समझना चाहिए कि ये कृष्णभावनामृत के विकास के निमित्त हैं। दुर्भाग्यवश मार्ग से भ्रमित व्यक्ति अपने उच्च पद का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है। फलत: अनियंत्रित इन्द्रियों को लुटेरों की संज्ञा दी जाती है। धार्मिक कृत्यों को करने से मनुष्य को जो उच्च स्थान प्राप्त होता है, वह लुटेरी इन्द्रियों द्वारा विनष्ट कर दिया जाता है। वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करते हुए मनुष्य को सुविधाजनक पद प्राप्त होता है। वह अपनी सम्पत्ति का उपयोग सरलतापूर्वक कृष्णभावनामृत के विकास में कर सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस भौतिक जगत में जो धन तथा अवसर प्राप्त होता है उसे इन्द्रियतृप्ति में नष्ट न किया जाये। वे कृष्णभावनामृत की उन्नति के लिए हैं। यह कृष्णभावनामृत अभियान एक सुनिश्चित विधि के द्वारा व्यक्तियों को मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों पर संयम करना सिखाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह थोड़ी तत्पस्या करे और भक्ति के नियमित जीवन के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर धन को व्यय न करे। इन्द्रियाँ चाहती हैं कि सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ देखी जाँए, फलत: मन्दिर में श्री-विग्रह की सज्जा पर धन व्यय किया जाये। इसी प्रकार जिह्वा (जीभ) केवल अच्छे भोजन का आस्वादन करना चाहता है जो खरीद कर जिसे श्रीमूर्ति को समर्पित किया गया हो। नाक का उपयोग श्री-विग्रह को समर्पित पुष्पों को सूँघने में तथा कानों का उपयोग हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन सुनने में किया जा सकता है। इस विधि से इन्द्रियों का नियमन एवं सदुपयोग कृष्णभावनामृत के विकास में किया जा सकता है। इस प्रकार अपने उत्तम पद को सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति—यथा अवैध यौन सम्बन्ध, मांस भक्षण, मादक द्रव्यों के सेवन तथा जुआ—के लिए विनष्ट नहीं होने दिया जाएगा। इस भौतिक जगत में मोटरकार चलाकर, रात्रि-क्लबों में समय नष्ट कर या जलपान गृहों में घृणित भोजन का स्वाद लेकर मनुष्य अपने वैभवशाली पद को खो देता है। इस प्रकार लुटेरी इन्द्रियाँ बद्धजीव द्वारा अत्यन्त श्रम से संचित सम्पत्ति को लूट लेती हैं।

अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकसृगाला एवानिच्छतोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि हरन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; **च**—भी; **यत्र**—जिसमें; **कौटुम्बिकाः**—कुटुम्बी जन; **दार-अपत्य-आदयः**—स्त्री तथा सन्तान इत्यादि; **नाम्ना**—केवल नाम के द्वारा; **कर्मणा**—अपने आचरण के द्वारा; **वृक-सृगालाः**—भेड़िया तथा शृगाल; **एव**—निश्चित रूप से;

अनिच्छतः—ऐसा मनुष्य जो अपने धन को व्यय करने का अनिच्छुक है; अपि—निश्चय ही; कदर्यस्य—अत्यन्त कृपण प्राणी, कंजूस का; कुटुम्बिनः—परिवार के प्राणियों से घिरा हुआ; उरणक-वत्—मेमने की भाँति; संरक्ष्यमाणम्—यद्यपि सुरक्षित है; मिषतः—जो देख रहा है; अपि—भी, ही; हरन्ति—बलपूर्वक छीन लेते हैं।

हे राजन्, इस भौतिक जगत में स्त्री-पुत्रादि नाम से पुकारे जाने वाले कुटुम्बीजन वास्तव में भेड़ियों तथा शृगालों की भाँति व्यवहार करते हैं। चरवाहा अपनी भेड़ों की रक्षा यथाशक्ति करना चाहता है, किन्तु भेड़िये तथा लोमड़ियाँ उन्हें बलपूर्वक उठा ले जाते हैं। इसी प्रकार यद्यपि कंजूस पुरुष सतर्कतापूर्वक अपने धन की चौकसी रखना चाहता है, किन्तु उसके पारिवारिक प्राणी उसकी समस्त सम्पत्तियों को उसके जागरूक रहते हुए भी बलपूर्वक छीन लेते हैं।

तात्पर्य : हिन्दी के किसी कवि ने कहा है—*दिन को डाकिनी रात को बाघिनी पलक पलक लहु चूसे।* पत्नी दिन में जादूगरिनी के तुल्य और रात्रि में बाघिनी की तरह होती है। उसका एकमात्र कार्य होता है दिन-रात अपने पति के खून को चूसना। दिन भर पति द्वारा खून-पसीना एक करके अर्जित धन गृहस्थी के खर्चों में चला जाता है। रात्रि में यौन सुख के कारण, पति वीर्य रूप में अपना रक्तपात करता है। इस प्रकार उसका रक्त अपनी पत्नी द्वारा अहर्निश चूसा जाता है, किन्तु वह इतना पगलाया रहता है कि वह उसका बहुत अच्छी तरह भरण-भोषण करता है। इसी प्रकार बच्चे भी भेड़िये, शृगाल तथा लोमड़ियों के तुल्य हैं। जिस प्रकार भेड़िये, शृगाल व लोमड़ियाँ चरवाहे के सतर्क रहने पर भी मेमनों को उठा ले जाती हैं, उसी प्रकार बच्चे भी पिता का धन ले लेते हैं, यद्यपि इस धन की देख-रेख पिता स्वयं करता है। इस प्रकार कुटुम्बीजन भले ही पत्नी तथा सन्तान कहलाते हों, किन्तु वास्तव में वे हैं लुटेरे ही।

यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्भिर्गह्वरमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन्न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः. ॥ ४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निश्चय ही; अनुवत्सरम्—प्रत्येक वर्ष; कृष्यमाणम्—जोती जाने पर; अपि—यद्यपि; अदग्ध-बीजम्—बिना जले हुए बीज; क्षेत्रम्—खेत; पुनः—फिर; एव—निश्चय ही; आवपन-काले—बीजों को बोते समय; गुल्म—झाड़ियों से; तृण—घास-फूस से; वीरुद्भिः—लताओं से; गह्वरम् इव—कुंज तुल्य; भवति—हो जाता है; एवम्—इस प्रकार; एव—निश्चय ही; गृह-आश्रमः—पारिवारिक जीवन, गृहस्थाश्रम; कर्म-क्षेत्रम्—कार्य रूप खेत, कर्मभूमि; यस्मिन्—जिसमें; न—नहीं; हि—निश्चय ही; कर्माणि उत्सीदन्ति—सकाम कर्म विलुप्त हो जाते हैं; यत्—अतः; अयम्—यह; काम-करण्डः—फलवती इच्छाएँ; एषः—यह; आवसथः—आवास, निकेतन।

कृषक प्रतिवर्ष अपने अनाज के खेत को जोतकर सारा घास-फूस निकालता रहता है, तो

भी उनके बीज उसमें पड़े रहते हैं और पूरी तरह न जल पाने के कारण खेत में बोये गये पौधों के साथ पुनः उग आते हैं। घास-फूस को जोतकर पलट देने पर भी वे सघन रूप से उगकर निकल आते हैं। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम एक कर्मक्षेत्र है। जब तक गृहस्थाश्रम भोगने की कामना पूरी तरह भस्म नहीं कर दी जाती, तब तक वह पुनः पुनः उदय होती रहती है। पात्र में बन्द कपूर को हटा लेने पर भी पात्र से सुगन्ध नहीं जाती। उसी तरह जब तक कामनाओं के बीज विनष्ट नहीं कर दिये जाते, तब तक सकाम कर्म का नाश नहीं होता।

तात्पर्य : जब तक प्राणीमात्र की कामनाएँ श्रीभगवान् की सेवा में पूर्णतः समर्पित नहीं कर दी जातीं, तब तक संन्यास लेने के बाद भी गृहस्थाश्रम की इच्छा बनी रहती है। कभी-कभी कोई- व्यक्ति हमारे समाज *इस्कान* में भावावेश में आकर संन्यास ग्रहण करता है, किन्तु उसकी कामना पूर्णतया विनष्ट नहीं हुई रहती है, अतः अपनी प्रतिष्ठा तथा अपने नाम को लज्जित करके भी वह पुनः गृहस्थाश्रम में चला आता है। ये उत्कट कामनाएँ तभी पूर्णतया जलकर राख हो सकती हैं जब कोई प्रभु की सेवाभक्ति में पूर्णतः संलग्न हो जाता है।

तत्र गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्करमूषकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः क्वचित्परिवर्तमानोऽस्मिन्नध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति. ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस गृहस्थ जीवन तक; गतः—जाकर; दंश—डाँस; मशक—मच्छर; सम—तुल्य; अपसदैः—निम्न वर्ग के; मनु-जैः—मनुष्यों द्वारा; शलभ—पतंगा, टिड्डी; शकुन्त—एक बड़ा शिकारी पक्षी; तस्कर—चोर; मूषक-आदिभिः—चूहों इत्यादि के द्वारा; उपरुध्यमान—सताया जाकर; बहिः-प्राणः—बाह्य प्राणवायु, जो धन आदि के रूप में होती है; क्वचित्—कभी; परिवर्तमानः—भ्रमण करते हुए; अस्मिन्—इसमें; अध्वनि—भौतिक जगत का मार्ग; अविद्या-काम—अज्ञान तथा लोभ से; कर्मभिः—एवं सकाम कर्मों के द्वारा; उपरक्त-मनसा—मन के प्रभावित हो जाने के कारण; अनुपपन्न-अर्थम्—जिसमें वांछित फल कभी प्राप्त नहीं हो पाते; नर-लोकम्—यह भौतिक जगत; गन्धर्व-नगरम्—गंधर्वों की पुरी, हवाई महल; उपपन्नम्—विद्यमान; इति—ऐसा मानते हुए; मिथ्या-दृष्टिः—जिसको दृष्टि दोष हो; अनुपश्यति—देखता है।.

सांसारिक सम्पत्ति एवं वैभव में आसक्त गृहस्थाश्रम में बद्धजीव को कभी डाँस तथा मच्छर, तो कभी टिड्डी, शिकारी पक्षी व चूहे सताते हैं। फिर भी वह भौतिक जगत के पथ पर चलता रहता है। अविद्या के कारण वह लोभी बन जाता है और सकाम कर्म में लग जाता है। चूँकि उसका मन इन कार्यकलापों में रमा रहता है इसलिए उसे यह भौतिक जगत नित्य लगता है, यद्यपि यह गंधर्वनगर (हवाई महल) की भाँति अनित्य है।

तात्पर्य : नरोत्तम दास ठाकुर का गीत है—

अहंकारे मत्त हञा, निताइ-पद पासरिया

असत्येरे सत्य करि मानि

नित्यानन्द प्रभु के चरणारविन्दों को विस्मरण करने और सांसारिक धन-वैभव के कारण फूले रहने से मनुष्य इस झूठे क्षणिक भौतिक जगत को वास्तविक मान बैठता है। यही भव रोग है। यह जीवात्मा चिरन्तन और आनन्दपूर्ण है, किन्तु दुखी भौतिक अवस्थाओं के बावजूद वह अज्ञानवश इस भौतिक जगत को ही वास्तविक मान बैठता है।

तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान्विषयानुपधावति पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (इस गंधर्व नगर में); च—भी; क्वचित्—कभी-कभी; आतप-उदक-निभान्—मरुस्थल में मृगतृष्णा-जल के समान; विषयान्—इन्द्रिय सुख की वस्तुओं के; उपधावति—पीछे दौड़ता है; पान—पीने के लिए; भोजन—खाने के लिए; व्यवाय—विषयी जीवन के लिए; आदि—इत्यादि; व्यसन—लत से; लोलुपः—विषयी।.

बद्धजीव कभी-कभी इस गंधर्वपुरी में खाता, पीता और स्त्री-प्रसंग करता है। अत्यधिक लगाव के कारण इन्द्रियसुखों के पीछे वह उसी प्रकार दौड़ता है जैसे मरुस्थल में मृगमरीचिका के पीछे हिरण।

तात्पर्य : जगत दो प्रकार के हैं—वैकुंठ जगत और भौतिक जगत। भौतिक जगत मृग-मरीचिका के तुल्य असत्य है। मरुस्थल में पशु यह सोचते हैं कि उन्हें जल दिखाई पड़ रहा है, किन्तु वह वास्तव में जल नहीं होता। इसी प्रकार जो पशुवृत्ति वाले हैं, वे भौतिक जीवन के मरुस्थल के भीतर ही शान्ति ढूँढने का प्रयास करते हैं। विभिन्न शास्त्रों में यह बारम्बार कहा गया है कि इस भौतिक संसार में कोई इन्द्रियसुख नहीं है। और यदि हम सुख के बिना रहना स्वीकार कर लें तो भी हमें ऐसा नहीं करने दिया जाता। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है कि यह भौतिक संसार न केवल दुखों से पूर्ण (*दुःखालयम्*) है, वरन् क्षणिक (*अशाश्वतम्*) भी है। यदि हम दुखों के बीच रहना भी चाहें तो प्रकृति हमें ऐसा नहीं करने देगी। यह हमें अपने शरीर को बदलकर अन्य दुखमय स्थिति में प्रविष्ट करने के लिए बाध्य कर देगी।

क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुकपिशाचम्. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; च—भी; अशेष—अनन्त, सीमाहीन; दोष—दुर्गुणों का; निषदनम्—स्रोत; पुरीष—मल का; विशेषम्—विशिष्ट प्रकार के; तत्-वर्ण-गुण—रजोगुण के से रंगवाला (अरुण); निर्मित-मतिः—जिसका मन उसी में रमा रहता है; सुवर्णम्—स्वर्ण; उपादित्सति—पाने की इच्छा करते हुए; अग्नि-काम—अग्नि की इच्छा से; कातरः—दुखी; इव—सदृश; उल्मुक-पिशाचम्—स्फुरदीप्ति (कच्छ प्रकाश) जिसे कभी भूत (अगिया बेताल) मान लिया जाता है।

कभी-कभी जीवात्मा स्वर्ण के नाम से पहचाने जाने वाले पीले मल की वांछा करके उसको पाने के लिए दौड़ता है। यह स्वर्ण भौतिक वैभव एवं ईर्ष्या का साधन है और इसके कारण जीवात्मा अवैध यौन-सम्बन्ध, द्यूत, मांसाहार तथा मादक द्रव्यों के सेवन में तत्पर होने में समर्थ होता है। रजोगुणी व्यक्ति स्वर्ण के रंग से उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार वन में जाड़े से ठिठुरता मनुष्य दलदल में दिखने वाले प्रकाश को अग्नि समझ बैठता है।

तात्पर्य : परीक्षित् महाराज ने कलि से उनका राज्य छोड़कर तुरन्त चले जाने तथा चार स्थानों—वेश्यालय, मदिरालय, वधशाला तथा द्यूतगृह—में जाकर रहने के लिए कहा। किन्तु कलियुग ने किसी एक ऐसे स्थान दिए जाने के लिए प्रार्थना की जिसमें ये चारों सम्मिलित हों। तब महाराज परीक्षित् ने ऐसा स्थान दिया जहाँ स्वर्ण संचित होता है। स्वर्ण में पाप के चारों तत्त्व पाये जाते हैं, फलतः परमार्थ जीवन में जहाँ तक सम्भव हो स्वर्ण से बचना चाहिए। जहाँ स्वर्ण रहेगा वहाँ अवैध यौनाचार, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा मादक द्रव्य सेवन—ये चारों रहेंगे। चूँकि पश्चिमी जगत के लोगों के पास प्रचुर स्वर्ण है, अतः वे इन चारों पापों के शिकार होते हैं। स्वर्ण का रंग अत्यन्त चमकीला होने से सांसारिक प्राणी इसके पीले रंग से अत्यधिक आकर्षित होते हैं। किन्तु यह स्वर्ण वास्तव में एक प्रकार का मल ही है। जिस व्यक्ति का यकृत खराब हो जाता है उसका मल प्रायः पीला होता है। इस मल का रंग सांसारिक प्राणी को वैसा ही आकर्षक लगता है जैसे गर्मी चाहने वाले व्यक्ति को मायावी प्रकाश।

अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः परिधावति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; कदाचित्—कभी-कभी; निवास—वासस्थान; पानीय—जल; द्रविण—धन; आदि—इत्यादि; अनेक—विविध प्रकार के; आत्म-उपजीवन—जो देह तथा आत्मा को एकसाथ रखने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं; अभिनिवेशः—पूर्णतया लीन; एतस्याम्—इस; संसार-अटव्याम्—विशाल वन के सदृश इस भौतिक जगत में; इतः ततः—इधर-उधर; परिधावति—चारों ओर दौड़ धूप करता है।

कभी-कभी यह बद्धजीव रहने के लिए वासस्थान खोजने एवं अपने शरीर की रक्षा के लिए जल तथा धन प्राप्त करने में लगा रहता है। इन नाना प्रकार की आवश्यकताओं को जुटाने में संलग्न रहने के कारण वह सब कुछ भूल जाता है और भौतिक अस्तित्त्व के जंगल में निरन्तर इधर-उधर दौड़-धूप करता रहता है।

तात्पर्य : जैसाकि इसके पूर्व कहा जा चुका है निर्धन वणिक जंगल में इसलिए जाता है कि वहाँ उसे सस्ती वस्तुएँ मिल सकेंगी जिन्हें लाकर वह नगर में लाभ सहित बेचेगा। किन्तु वह अपनी देह तथा आत्मा को तुष्ट रखने में इतना लीन हो जाता है कि उसे कृष्ण से अपने पूर्व सम्बन्ध का स्मरण ही नहीं रह जाता और वह मात्र शारीरिक सुख-सुविधाओं की खोज करता है। इस प्रकार जीवात्मा की एकमात्र व्यस्तता भौतिक क्रियाकलापों में रहती है। जीवन के उद्देश्य को न जानते हुए भौतिकवादी निरन्तर भौतिकता के पीछे दौड़ता है। प्रचुर आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर लेने पर भी जीवन के उद्देश्य को न समझने के कारण उसकी कृत्रिम आवश्यकताओं में वृद्धि होती जाती है और वह अधिकाधिक उलझता जाता है। वह ऐसी मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देता है, जिसमें उसे अधिकाधिक सुविधाओं की जरूरत रहती है। भौतिकतावादी को प्रकृति के विधि-विधानों का मर्म ज्ञात नहीं होता। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२७) में पुष्टि की गई है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"सम्पूर्ण कर्म वास्तव में प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पादित होते हैं, परन्तु गुणों से मोहित जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।" कामेच्छा के कारण जीवात्मा अपने मन में यह धारणा बना लेता है कि इसका भोग करना चाहिए। इस प्रकार वह फँस कर विभिन्न देहों में प्रवेश करता है और कष्ट पाता है।

क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयारोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; **च**—भी; **वात्या औपम्यया**—बवण्डर के सदृश; **प्रमदया**—सुन्दर स्त्री, रमणी; **आरोहम् आरोपितः**—यौन सुख के लिए अंक में बिठाई गई; **तत्-काल-रजसा**—तत्क्षण भोगेच्छा से; **रजनी-भूतः**—रात्रि का अंधकार; **इव**—सदृश; **असाधु-**

मर्यादः—सत्पुरुषों के समुचित आदर से रहित; रजः-वल-अक्षः—आँखों में रजोगुण की धूल पड़ने से अंधी; अपि—भी; दिक्-देवताः—दिशाओं के देवता, यथा सूर्य तथा चन्द्र; अतिरजः-वल-मतिः—आसक्ति से पराजित बुद्धि; न विजानाति—नहीं जान पाता (कि चारों दिशाओं के देवता उसके अविवेकी यौनाचार को देखते हैं)।

कभी-कभी यह बद्ध आत्मा धूल के बवण्डर से अन्धे के समान स्त्री की सुन्दरता को देखता है जिसे प्रमाद कहा जाता है। इस प्रकार से अन्धा होकर वह सुन्दर स्त्री की गोद में जा बैठता है। उस समय उसके विवेक पर भोगेच्छा विजय पाती है। इस प्रकार वह वासना से प्रायः अन्धा हो जाता है और काम-जीवन के समस्त नियमों का उल्लघंन करने लगता है। उसे यह ज्ञान ही नहीं रह जाता कि उसके इस उल्लंघन को अनेक देवता देख रहे हैं। इस प्रकार वह भवितव्य दण्ड को देखे बिना अर्धरात्रि में अवैध यौन सुख का आनन्द लेता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.११) में कहा गया है—*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।* यौनाचार की अनुमति केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिए दी जाती है, विषय-सुख के लिए नहीं। वंश, समाज तथा विश्व के कल्याण हेतु उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही स्त्री-प्रसंग किया जा सकता है, अन्यथा यह धार्मिक जीवन के विधि-विधानों के विपरीत है। भौतिकतावादी मनुष्य को विश्वास नहीं होता है कि प्रकृति में प्रत्येक वस्तु नियमित है और वह यह नहीं समझ पाता कि यदि वह कोई त्रुटि करता है, तो विविध देवता उसके साक्षीस्वरूप रहते हैं। प्राणी अवैध यौनाचार का आनन्द लेता है और कामान्ध होने के कारण यह सोचता है कि उसे कोई देख नहीं रहा, किन्तु श्रीभगवान् के दूत इसे अच्छी तरह देखते रहते हैं। फलस्वरूप वह प्राणी अनेक प्रकार से दण्डित होता है। आजकल इस कलियुग में अवैध यौन-सम्पर्क के कारण अनेक गर्भ रह जाते हैं और कभी-कभी तो गर्भपात भी कराये जाते हैं। इन पापमय कर्मों के साक्षी हैं श्रीभगवान् के दूत। जो पुरुष तथा स्त्री ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं, उन्हें भविष्य में प्रकृति के कठोर से कठोर नियमों के अनुसार दण्डित किया जाता है (*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*)। अवैध कामाचार कभी भी क्षमा नहीं किया जा सकता और वे जो इस कुकृत्य में लिप्त रहते हैं, उन्हें जन्म-जन्मांतर दण्डित किया जाता है। *भगवद्गीता* (१६.२०) में इसकी पुष्टि हुई है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

''हे अर्जुन! जन्म-जन्म आसुरी योनि को प्राप्त होकर वे मूढ़ मुझको कभी प्राप्त नहीं होते और

फिर सर्वाधिक अधम गति में जा गिरते हैं।''

श्रीभगवान् किसी को भी सांसारिक नियमों के विरुद्ध कर्म करने की अनुमति नहीं देते; फलत: अवैध कामाचार जन्म-जन्मांतर दण्डित है। अवैध यौनाचार से गर्भाधान होता है और इन अवांछित गर्भाधानों के फलस्वरूप गर्भपात कराया जाता है। जो इन पापों में लिप्त होता है, वह अगले जन्म में भी इसी प्रकार दण्डित होता है। इस तरह वे मनुष्य भी अगले जन्म में अपनी माता के गर्भ में प्रविष्ट होते हैं और उसी प्रकार से वध कर दिये जाते हैं। कृष्णभावनामृत के दिव्य पद पर रहकर इनसे बचा जा सकता है। इस तरह मनुष्य पापपूर्ण कर्म नहीं करता। कामुक इच्छाओं के कारण अवैध कामाचार सबसे बड़ा पाप है। जब कोई रजोगुण से युक्त होता है, तो उसे जन्म-जन्मांतर दुख भोगना पड़ता है।

क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तयैव
मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; **सकृत्**—एक बार; **अवगत-विषय-वैतथ्यः**—इन्द्रियतृप्ति पाने की निरर्थकता से सचेष्ट रहकर; **स्वयम्**—स्वतः; **पर-अभिध्यानेन**—स्वयं की देहात्म बुद्धि से; **विभ्रंशित**—विनष्ट; **स्मृतिः**—जिसकी स्मृति; **तया**—उसके द्वारा; **एव**—निश्चय ही; **मरीचि-तोय**—मृगतृष्णा का जल; **प्रायान्**—के सदृश; **तान्**—उन इन्द्रियों को; **एव**—निश्चय ही; **अभिधावति**—के पीछे दौड़ता है।.

बद्धजीव कभी स्वत: सांसारिक विषयों का निरर्थकता स्वीकार कर लेता है, तो कभी वह भौतिक सुखों को दुखपूर्ण मानता है। फिर भी अपनी उत्कट देहात्म-बुद्धि के कारण उसकी स्मृति विनष्ट हो जाती है और वह पुन: पुन: भौतिक सुखों के पीछे वैसे ही दौड़ता फिरता है जैसे मरुस्थल में मृगमरीत्विका के पीछे मृग।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का मुख्य रोग है देहात्म-बुद्धि। भौतिक कर्म में बारम्बार भ्रमित होकर बद्धजीव अल्प काल के लिए भौतिक सुखों को नश्वर मान लेता है, किन्तु पुन: वह वैसा ही करने लगता है। भक्तों की संगति से मनुष्य भौतिक नश्वरता के प्रति आश्वस्त हो जाता है, किन्तु वह अपने कार्यकलापों को त्यागता नहीं, यद्यपि वह भगवान् के धाम लौट जाने के लिए अत्यन्त इच्छुक रहता है। ऐसी परिस्थितियों में घट-घट वासी श्रीभगवान् ऐसे भक्त की समस्त भौतिक सम्पत्ति को दयापूर्वक ले लेते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.८८.८) में। कहा गया है—*यस्याहम् अनुग्रह्णामि हरिष्ये तद् धनं शनै*। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस भक्त पर उनकी विशेष कृपा होती है और वे देखते हैं कि वह

सांसारिक विषयों में अत्यधिक लिप्त है, तो वे उसका सर्वस्व ले लेते हैं। सब कुछ ले लिए जाने पर भक्त अपने को पराश्रित और समाज में मित्रता एवं प्यार से वंचित अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि उससे परिवार के सदस्य अब उसकी तनिक भी परवाह नहीं करते। अतः वह श्रीभगवान् के चरणकमलों में पूर्णरूपेण अर्पित हो जाता है। भगवान् द्वारा ऐसे भक्त पर जो उत्कट देहात्मबुद्धि के कारण अपने को पूरी तरह समर्पित नहीं कर पाता यह विशेष कृपा है । *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.३९) में कहा गया है—*आमि—विज्ञ एइ मूर्खे 'विषय' केने दिब।* भगवान् अपने ऐसे भक्त को जान लेते हैं, जो श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर होने में संकोच करता है और जिसे इसका ज्ञान नहीं रह पाता कि वह अपना सांसारिक जीवन फिर से प्रारम्भ करे या नहीं। बारम्बार प्रयास करने और विफल होने पर अन्त में वह भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है। तब भगवान् उसका मार्गदर्शन करते हैं और वह सुख प्राप्त करते हुए अपनी समस्त भौतिक व्यस्तताओं को भूल जाता है।

क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं प्रत्यक्षं परोक्षं वा
रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; **उलूक**—उल्लू का; **झिल्ली**—झींगुर; **स्वन-वत्**—अप्रिय ध्वनियों की तरह; **अति-परुष**—अत्यन्त कर्णपटु; **रभस**—धैर्य से; **आटोपम्**—घर्षण; **प्रत्यक्षम्**—प्रत्यक्ष, प्रकटतः; **परोक्षम्**—अप्रत्यक्ष; **वा**—या; **रिपु**—शत्रुओं का; **राज-कुल**—शासक समुदाय का; **निर्भर्त्सितेन**—ताड़ना या दण्डदान से; **अति-व्यथित**—अत्यन्त दुखी; **कर्ण-मूल-हृदयः**—जिसके कान तथा हृदय।

कभी-कभी बद्धजीव अपने शत्रुओं तथा शासन-कर्मियों की प्रताड़ना से अत्यन्त व्यथित रहता है, जो प्रत्यक्ष रूप से कटु वचन कहते रहते हैं। उस समय उसके हृदय (मन) तथा कान अतीव व्यथित एवं विषादपूर्ण हो जाते हैं। ऐसी प्रताड़ना की तुलना उलूकों तथा झींगुरों की अप्रिय झंकार से की जा सकती है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में कई प्रकार के शत्रु हैं। शासन ऐसे व्यक्तियों को, जो आयकर नहीं देते, प्रताड़ित करता है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आलोचना उसे दुखी बना देती है और कभी-कभी बद्धजीव ऐसी प्रताड़ना पर प्रतिक्रिया व्यक्त करना चाहता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वह कुछ भी कर पाने की स्थिति में नहीं होता।

स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्करकाकतुण्डाद्यपुण्यद्रुमलताविषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणान्जीवन्मृतान्स्वयं जीवन्म्रियमाण उपधावति. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह बद्ध आत्मा; यदा—जब; दुग्ध—थकित, रिक्त; पूर्व—पहले का; सुकृतः—अच्छे कर्म; तदा—उस समय; कारस्कर-काकतुण्ड-आदि—कारस्कर, काकतुण्ड आदि नामधारी.; अपुण्य-द्रुम-लता—अपवित्र वृक्ष तथा लताएँ; विष-उद-पान-वत्—विषैले जल से युक्त कुँए के समान; उभय-अर्थ-शून्य—जो न तो इस जन्म में न अगले जन्म में सुख दे सकता है; द्रविणान्—सम्पत्तिवान्; जीवत्-मृतान्—जीवित होकर भी जो मृतक तुल्य है; स्वयम्—वह स्वतः; जीवत्—सजीव; म्रियमाणः—मरा हुआ, मृत; उपधावति—सांसारिक लाभ के लिए निकट आता है।.

पूर्वजन्मों में पवित्र कर्मों के कारण बद्ध-आत्मा को इस जीवन में भौतिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु इनके समाप्त हो जाने पर वह ऐसी सम्पदा तथा धन का सहारा लेता है, जो न तो इस जीवन में न ही अगले जीवन में उसके सहायक होते हैं। इसलिए वह जीवित मृत-तुल्य मनुष्यों का जिन के पास ये वस्तुएं होती है, सहारा लेना चाहता है। ऐसे लोग अपवित्र वृक्षों, लताओं और विषैले कुओं के सदृश हैं।

तात्पर्य : पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के द्वारा अर्जित धन तथा वैभव का दुरुपयोग इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नहीं करना चाहिए। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए उनका उपभोग विष-वृक्ष के फलों का आस्वाद जैसा होता है। ऐसे कर्मों से बद्धजीव न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म में किसी प्रकार लाभान्वित होता है। किन्तु, यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में प्रभु के चरणों में अर्पित कर देता है, तो उसे इस जन्म में तथा अगले जन्म में सुख-लाभ होगा। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो वह ''वर्जित सेब'' का आस्वादन करता है, जिससे वह स्वर्ग से वंचित रह जाता है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सम्पत्ति उन्हें समर्पित कर दे—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

''हे कुन्तीपुत्र! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ भी स्वाहा करता है, जो कुछ हवन या दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर'' (*भगवद्गीता* ९.२७)। यदि व्यक्ति कृष्ण-भक्त है, तो पूर्व पुण्यकर्मों के द्वारा प्राप्त भौतिक सम्पत्ति तथा वैभव का सदुपयोग अपने इस जन्म तथा अगले जन्म को लाभ पहुँचाने के लिए कर सकता है। उसे अपनी न्यूनतम आवश्यकता से अधिक धन नहीं रखना चाहिए और यदि उसके पास आवश्यकता से अधिक धन हो तो उसे चाहिए

कि वह इस अतिरिक्त धन को भगवान् की सेवा में अर्पित कर दे। इससे बद्ध–जीवात्मा, यह संसार तथा श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे और यही इस जीवन का उद्देश्य है।

एकदासत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्त्रोतःस्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाखण्डमभियाति. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एकदा—कभी-कभी; असत्-प्रसङ्गात्—अभक्तों के संसर्ग से जो वैदिक नियमों के विरुद्ध हैं और अनेक धार्मिक सम्प्रदायों को जन्म देते हैं; निकृत-मतिः—जिनकी बुद्धि इस निम्न स्तर तक पहुँच चुकी होती है कि भगवान् के अस्तित्त्व को नकारते हैं; व्युदक-स्त्रोतः—प्रचुर जल से रहित नदियों में; स्खलन-वत्—कूदने के समान; उभयतः—दोनों ओर से; अपि—यद्यपि; दुःख-दम्—दुखदायी; पाखण्डम्—निरीश्वरवादी मार्ग, पाखण्ड; अभियाति—अनुसरण करता है।

कभी-कभी इस संसार अटवी में अपने कष्टों से मुक्ति पाने के लिए बद्धजीव पाखण्डियों के सस्ते आशीर्वाद प्राप्त करता है। तब उनके सम्पर्क से उसकी मति भ्रष्ट हो जाती है। यह उथली नदी में कूदने के समान ही है। इसका परिणाम यही होता है कि उसका सिर फूटता है। इस प्रकार वह गर्मी से प्राप्त दुःखों को शान्त करने में समर्थ नहीं होता तथा दोनों ओर से उस की हानि होती है। यह दिग्भ्रमित बद्धजीव तथाकथित साधुओं एवं स्वामियों की भी शरण में जाता है जो वेदविरुद्ध उपदेश देते हैं। किन्तु इनसे उसे न तो वर्तमान में और न भविष्य में ही लाभ प्राप्त होता है।

तात्पर्य : आत्म–साक्षात्कार के लिए धोखेबाज अपने मार्ग बनाते रहते हैं। कुछ भौतिक लाभ के लिए इन कपटी संन्यासियों और योगियों से सस्ते आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए बद्धजीव उनकी शरण में जाता है, किन्तु उसे न तो आध्यात्मिक न ही भौतिक लाभ प्राप्त होता है। इस युग में ऐसे अनेक धूर्त हैं, जो जादू–तिलिस्म दिखा कर ठगते हैं। वे अपने अनुयायियों को चमत्कृत करने के लिए सोना तक बनाते हैं और उनके अनुयायी उन्हें देवता मान बैठते हैं। कलियुग में इस प्रकार की ठगी का बोलबाला है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने सच्चे गुरु का वर्णन इस प्रकार किया है—

संसार–दावानल–लीढ –लोक–

त्राणाय कारुण्य–घनाघनत्वम्।

प्राप्तस्य कल्याण–गुणार्णवस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे गुरु की शरण में जाये जो इस भौतिक जगत की जलती अग्नि को

शमित कर सके। किन्तु मनुष्य चाहते हैं कि वे ठगे जायें, अत: वे जादू दिखाने वाले योगियों और स्वामियों के पास जाते हैं, किन्तु इससे भौतिक जीवन के कष्टों में कमी नहीं आती। यदि सोना बना सकना ही ईश्वर बनने का मानक हो, तो वे इस सम्पूर्ण विश्व के स्वामी श्रीकृष्ण की शरण में क्यों नहीं जाते जहाँ अनन्त स्वर्णराशि है? जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सोने का रंग स्फुर-दीप्ति या पीत मल के तुल्य है, अत: सोना बनाने वाले गुरुओं के चंगुल में न आकर जड़ भरत जैसे भक्त की शरण में जाना चाहिए। जड़ भरत ने रहूगण महाराज को ऐसी शिक्षा दी कि वे देहात्मबुद्धि से मुक्त हो गये। झूठे गुरु की शरण में जाकर कोई कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। *श्रीमद्भागवत* (११.३.२१) में जिस प्रकार के गुरु का वर्णन है, उसे ही स्वीकारना चाहिए। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासु: श्रेय उत्तमम्*—जीवन में सर्वोच्च लाभ की जिज्ञासा के लिए प्रामाणिक गुरु की शरण में जाना चाहिए। ऐसे गुरु का वर्णन इस प्रकार है—*शाब्दे परे च निष्णातम्।* ऐसा गुरु न तो सोना बनाता है, न ही बातें बनाता है। वह वैदिक ज्ञान से ओतप्रोत होता है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। वह सांसारिक दोषों से सर्वथा मुक्त होता है और श्रीकृष्ण की सेवा में पूर्णत: समर्पित होता है। यदि ऐसे गुरु के चरणकमल की धूलि प्राप्त हो सके तो उसका जीवन सफल हो जाता है। अन्यथा वह इस जीवन में और अगले जीवन में भी भ्रमित होता रहता है।

यदा तु परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान्वा स खलु भक्षयति. ॥ १४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—किन्तु (दुर्भाग्यवश); पर-बाधया—अन्य सबों का शोषण करते हुए भी; अन्धः—अन्धा; आत्मने—अपने स्वयं के लिए; न उपनमति—हिस्से में नहीं आता; तदा—तब; हि—निश्चय रूप से; पितृ-पुत्र—पिता या पुत्रों का; बर्हिष्मतः—तृणवत् तुच्छ; पितृ-पुत्रान्—पिता अथवा पुत्रों को; वा—अथवा; सः—वह (बद्धजीव); खलु—निस्सन्देह; भक्षयति—कष्ट पहुँचाता है।.

बद्धजीव जब अन्यों का शोषण करते रहने पर भी इस भौतिक संसार में अपना निर्वाह नहीं कर पाता, तो वह अपने पिता या पुत्र का शोषण करने का प्रयास करता है और उसकी सम्पत्ति हर लेता है भले ही वे अति महत्वहीन ही क्यों न हों। यदि वह पिता, पुत्र या किसी अन्य सम्बन्धी की सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर पाता तो यह उन्हें सभी प्रकार के कष्ट देने के लिए उद्यत हो उठता है।

तात्पर्य : एक बार हमने सचमुच एक दुखी मनुष्य को अपने निर्वाह हेतु अपनी पुत्री के आभूषण चुराते हुए देखा है। एक अँग्रेजी कहावत है, ''स्वार्थ अन्धा होता है।'' जब बद्धजीव को किसी वस्तु

की आवश्यकता होती है, तो वह अपने सम्बन्धियों के साथ अपने रिश्ते को भी भूल जाता है और अपने पिता अथवा पुत्र तक का शोषण करता है। *श्रीमद्भागवत* से हमें यह भी जानकारी प्राप्त होती है कि इस कलियुग में एक सम्बन्धी अपने दूसरे सम्बन्धी को एक कौड़ी के लिए मार डालेगा। बिना भक्ति के समस्त प्राणी नरक के गर्त की ओर बढ़ते जाएँगे और एक से एक घृणित कर्म करेंगे।

क्वचिदासाद्य गृहं दाववत्प्रियार्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; आसाद्य—अनुभव करके; गृहम्—गृहस्थाश्रम को; दाव-वत्—दावाग्नि तुल्य; प्रिय-अर्थ-विधुरम्—किसी लाभप्रद प्रयोजन के बिना; असुख-उदर्कम्—अधिकाधिक दुख ही प्रतिफलित होता है; शोक-अग्निना—शोक की अग्नि से; दह्यमानः—सन्तप्त होकर; भृशम्—अत्यधिक; निर्वेदम्—निराशा; उपगच्छति—प्राप्त करता है।

इस संसार में गृहस्थाश्रम दावाग्नि के तुल्य है। इसमें तनिक भी सुख नहीं है और मनुष्य क्रमशः अधिकाधिक दुख में उलझता जाता है। पारिवारिक जीवन में चिरन्तन सुख के लिए कुछ भी अनुकूल नहीं होता। गृहस्थाश्रम में रहने के कारण बद्धजीव पश्चात्ताप की अग्नि से संतप्त रहता है। कभी वह अपने को अभागा मानते हुए कोसता है, तो कभी वह कहता है कि पूर्व जीवन में शुभ कर्म न करने के कारण ही वह कष्ट का भागी बन रहा है।

तात्पर्य : *गुर्वष्टक* में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का गान है—

संसार-दावानल-लीढ-लोक-

त्राणाय कारुण्य-घनाघनत्वम्।

यह सांसारिक जीवन सही अर्थों में दावानल के सदृश है। जंगल की यह अग्नि किसी के लगाये बिना ही लगती है। इसी प्रकार इस संसार में सभी सुखी रहना चाहते हैं, किन्तु इससे भौतिक जीवन के कष्टों की वृद्धि ही होती है। जब कभी कोई मनुष्य इस भौतिक जगत की अग्नि में फँस जाता है, तो वह अपने को धिक्कारता है, किन्तु देहात्म-बुद्धि के कारण वह चंगुल से निकल नहीं पाता और इसप्रकार अधिकाधिक कष्ट भोगता है।

क्वचित्कालविषमितराजकुलरक्षसापहृतप्रियतमधनासुः प्रमृतक इव विगतजीवलक्षण आस्ते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; काल-विष-मित—काल के द्वारा कुटिल बनाया गया; राज-कुल—शासक वर्ग; रक्षसा—राक्षसों द्वारा; अपहृत—हर लिये जाने पर; प्रिय-तम—सर्वाधिक प्रिय; धन—सम्पत्ति के रूप में; असुः—जिसकी प्राणवायु; प्रमृतकः—मृत; इव—सदृश, तुल्य; विगत-जीव-लक्षणः—जीवन के समस्त लक्षणों से शून्य; आस्ते—रह जाता है।

शासन-कर्मी सदैव नरभक्षी राक्षसों के सदृश होते हैं। ये शासन-कर्मी कभी-कभी बद्धजीव से रुष्ट हो जाते हैं और उसकी सारी संचित सम्पत्ति उठा ले जाते हैं। इस प्रकार अपने जीवन भर की संचित पूँजी को खोकर बद्धजीव हतोत्साहित हो जाता है। दरअसल, यह उसके लिए प्राणान्त के समान है।

तात्पर्य : *राज-कुल-रक्षसा* शब्द अत्यन्त सटीक है। *श्रीमद्भागवत* की रचना पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई थी। फिर भी शासन-कर्मियों को नरभक्षक अथवा राक्षस की संज्ञा प्रदान की गई है। यदि शासन-कर्मी किसी व्यक्ति के विरुद्ध हो जाते हैं, तो जीवन भर की सपरिश्रम संचित पूँजी से उसे हाथ धोना पड़ता है। वास्तविकता तो यह है कि कोई भी व्यक्ति आय-कर नहीं देना चाहता—यहाँ तक कि शासन-कर्मी भी इसे देने से कतराते हैं—किन्तु प्रतिकूल समय उपस्थित होने पर आय-कर बलपूर्वक वसूल कर लिया जाता है और करदाता हाथ मलता रह जाता है।

कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिलक्षणमनुभवति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी-कभी; मनोरथ-उपगत—मन में कल्पना द्वारा प्राप्त; पितृ—पिता; पिता-मह-आदि—अथवा बाबा तथा अन्य; असत्—बहुत पूर्व मृत होने पर भी (और यह न जानते हुए कि जीव चला गया है); सत्—पिता या पितामह पुनः पधारते हैं; इति—ऐसा सोचकर; स्वप्न-निर्वृति-लक्षणम्—स्वप्न-सुख के समान; अनुभवति—(जीव) अनुभव करता है।

कभी-कभी बद्धजीव यह कल्पना करने लगता है कि उसके पिता या बाबा अपने पुत्र या पौत्र के रूप में इस संसार में पुनः आ गए। इस प्रकार उन्हें स्वप्न का सा सुख अनुभव होता है और कभी-कभी बद्धजीव को ऐसी मानसिक कल्पनाओं में सुख मिलता है।

तात्पर्य : परमेश्वर श्रीभगवान् के वास्तविक अस्तित्व से अनजान रहने के कारण बद्धजीव नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता रहता है। सकाम कर्म के वशीभूत होकर वह अपने सम्बधियों, पिता, पुत्र तथा पितामह जनों की संगति में उसी प्रकार अनुभव करने लगता है, जिस प्रकार बहते भँवर में तिनके एकत्र हो जाते हैं। ये तिनके क्षण भर में बिखर जाते हैं और उनका पारस्परिक सम्पर्क टूट जाता है। जीवात्मा क्षणिक रूप से अनेक बद्धजीवों के साथ रहता है। ये जीव कुटुम्बियों के रूप में एकत्र होते हैं और इनमें इतनी उत्कट वत्सलता होती है कि पिता या पितामह के दिवगंत हो जाने पर भी उन्हें यह

सोचकर सुखानुभूति होती है कि वे रूप बदल कर परिवार में लौट आते हैं। कभी-कभी ऐसा हो भी सकता है, किन्तु बद्धजीव ऐसी कपोल-कल्पनाओं में सदैव सुख अनुभव करना चाहता है।

क्वचिद्गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो लोकव्यसनकर्षितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं प्रविशन्निव सीदति. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; गृह-आश्रम—गृहस्थ जीवन; कर्म-चोदन—सकाम कर्म का पालन; अति-भर-गिरिम्—ऊँची पहाड़ी; आरुरुक्षमाणः—चढ़ने की इच्छा लेकर; लोक—भौतिक (संसार); व्यसन—लत; कर्षित-मनाः—आकर्षित मन वाले; कण्टक-शर्करा-क्षेत्रम्—काँटे तथा कंकड़ों से आच्छादित खेत में; प्रविशन्—घुसते हुए; इव—सदृश; सीदति—पश्चात्ताप करता है।.

गृहस्थाश्रम में नाना प्रकार के यज्ञ तथा कर्मकाण्ड (विशेष रूप से पुत्र-पुत्रियों के लिए विवाह यज्ञ और यज्ञोपवीत संस्कार) करने होते हैं। ये सभी गृहस्थ के कर्तव्य हैं। ये अत्यन्त व्यापक होते हैं और इनको सम्पन्न करना कष्टदायक होता है। इनकी उपमा एक बड़ी पहाड़ी से दी जाती है, जिसे सांसारिक कर्मों में संलग्न होने पर लाँघना ही पड़ता है। जो व्यक्ति इन अनुष्ठानों पर विजय प्राप्त करना चाहता है उसे पहाड़ी में चढ़ते समय काँटों तथा कंकड़ों के चुभने से होने वाली पीड़ा का-सा अनुभव करना होता है। इस प्रकार बद्धजीव को अनन्त यातनाएँ सहनी पड़ती हैं।

तात्पर्य : समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अनेक सामाजिक कृत्य करने पड़ते हैं। विभिन्न देशों तथा समाजों में नाना प्रकार के उत्सव तथा अनुष्ठान होते हैं। भारत देश में यह मान्यता है कि पिता अपनी संतानों का विवाह करे। ऐसा कर लेने पर परिवार के प्रति उसका उत्तरदायित्व पूरा हो जाता है। आजकल विवाह तय करना अत्यन्त कष्टसाध्य हो गया है। इस समय न तो कोई ठीक से यज्ञ अनुष्ठान कर सकता है, न ही कोई अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाहोत्सवों का व्यय वहन कर सकता है। फलतः जब गृहस्थों को ये सामाजिक कृत्य करने होते हैं, तो वे अत्यन्त संतप्त होते हैं। ऐसा लगता है मानो उनके पांव में कांटे चुभ रहे हों, अथवा पत्थर कष्ट दे रहे हों किन्तु भौतिक लगाव इतना प्रगाढ़ होता है कि इतने कष्टों के बावजूद भी वह उन्हें छोड़ नहीं पाता। अतः प्रह्लाद महाराज का उपदेश है (*भागवत* ७..)—

हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं

वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।

तथाकथित सुखमय पारिवारिक स्थिति की तुलना खेत के अन्धे कुँए से की गई है। यदि तृणाच्छादित अंधकूप में कोई गिर पड़े तो रक्षा के लिए चीत्कार करने पर भी उसे जीवन से हाथ धोना पड़ता है। इसीलिए पहुँचे हुए आत्मज्ञानी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की संस्तुति नहीं करते। अच्छा यही है कि ब्रह्मचर्य-आश्रम में संयम पालन करने का दृढ़ निश्चय करके आजीवन ब्रह्मचारी रह जाए जिससे गृहस्थाश्रम के भौतिक जीवन के कंटकों का अनुभव न हो सके। गृहस्थाश्रम में रहकर इष्ट मित्रों के निमंत्रण स्वीकार करने पड़ते हैं और अनुष्ठानों का पालन करना होता है। ऐसा करने से प्राणी इनका दास बन जाता है भले ही इन्हें करते रहने के लिए उसके पास पर्याप्त साधनों का अभाव ही क्यों न हो। गृहस्थाश्रम में जीवन शैली बनाये रखने के लिए धनार्जन हेतु अत्यधिक श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार वह सांसारिक जीवन में फँस कर काँटों की चुभन जैसा अनुभव करता रहता है।

क्वचिच्च दुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः स्वकुटुम्बाय क्रुध्यति. ॥ १९॥

शब्दार्थ

क्वचित् च—और कभी-कभी; दुःसहेन—असह्य; काय-अभ्यन्तर-वह्निना—शरीर के अन्तर्गत क्षुधा तथा पिपासा की अग्नि के कारण; गृहीत-सारः—धैर्य चुकने पर; स्व-कुटुम्बाय—अपने ही कुटुम्बी जनों पर; क्रुध्यति—क्रुद्ध होता है, नाराज होता है।

कभी-कभी शारीरिक भूख और प्यास से त्रस्त बद्धजीव इतना विचलित हो जाता है कि उसका धैर्य टूट जाता है और वह अपने ही प्रिय पुत्रों, पुत्रियों तथा पत्नी पर रुष्ट हो जाता है। इस प्रकार निष्ठुर होने पर उसकी यातना और भी बढ़ जाती है।

तात्पर्य : श्रील विद्यापति ठाकुर का गीत है—

तातल सैकते, वारि-बिन्दु-सम

सुत-मित-रमणी-समाजे।

कुटुम्ब-जीवन के सुख की तुलना मरुस्थल में जल बिन्दु से की गई है। कोई भी प्राणी कुटुम्ब-जीवन में सुखी नहीं रह सकता। वैदिक सभ्यता के अनुसार कोई चाह कर भी कुटुम्ब-जीवन के उत्तरदायित्वों से छोड़ नहीं सकता, किन्तु आजकल प्रत्येक व्यक्ति तलाक के द्वारा पारिवारिक जीवन का परित्याग कर रहा है। इसका कारण परिवार की दयनीय व्यवस्था है। कभी-कभी कष्टमय स्थिति के कारण मनुष्य अपने प्यारे पुत्रों, पुत्रियों तथा पत्नी के प्रति अत्यन्त निष्ठुर बन जाता है। यह सांसारिक

जीवन की दावाग्नि का अंगस्वरूप है।

स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शेते नान्यत्किञ्चन वेद शव इवापविद्धः. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह बद्धजीव; एव—निश्चय ही; पुनः—फिर से; निद्रा-अजगर—गहरी नींद रूपी अजगर द्वारा; गृहीतः—भक्षण किये जाने पर; अन्धे—घनान्धकार में; तमसि—अज्ञान में; मग्नः—लिप्त; शून्य-अरण्ये—वीरान वन में; इव—के समान; शेते—लेट जाता है; न—नहीं; अन्यत्—अन्य; किञ्चन—कुछ भी; वेद—जानता है; शवः—मृत शरीर; इव—सदृश; अपविद्धः—फेंका हुआ।

शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित् से आगे कहते हैं—प्रिय राजन्, निद्रा अजगर के समान है। जो मनुष्य भौतिक जीवनरूप वन में विचरण करते रहते हैं उन्हें निद्रा-अजगर अवश्य ही निगल जाता है। इस अजगर द्वारा डसे जाने के कारण वे अज्ञान-अंधकार में खोये रहते हैं। वे सुदूर वन में मृत शरीर की भाँति फेंक दिये जाते हैं। इस प्रकार बद्धजीव समझ नहीं पाता कि जीवन में क्या हो रहा है।

तात्पर्य : सांसारिक जीवन का अर्थ है आहार, निद्रा, मैथुन तथा आत्मरक्षा (भय) में सतत तल्लीन रहना। इनमें से निद्रा सबसे भयानक है। सो जाने पर मनुष्य पूर्णतया भूल जाता है कि जीवन का लक्ष्य क्या है और उसे क्या करना है। आत्म-साक्षात्कार के लिए यह आवश्यक है कि यथासम्भव निद्रा से बचा जाये। वृन्दावन के गोस्वामी तनिक भी नहीं सोते थे। निस्सन्देह, वे थोड़ा सोते थे क्योंकि शरीर के लिए निद्रा आवश्यक है, किन्तु दो घंटे से अधिक नहीं सोते थे और कभी-कभी इतना भी नहीं सोते थे। वे सदैव आध्यात्मिक अनुशीलन में तत्पर रहते थे। *निद्राहार-विहारकादि-विजितौ।* गोस्वामियों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए हमें भी निद्रा, आहार, मैथुन तथा आत्मरक्षा में कमी लानी चाहिए।

कदाचिद्भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत्पतति. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी-कभी; भग्न-मान-दंष्ट्रः—गर्व रूपी दाँत टूटे हैं जिसके; दुर्जन-दन्द-शूकैः—सर्प तुल्य दुष्ट पुरुषों की ईर्ष्या के कारण; अलब्ध-निद्रा-क्षणः—जिसे सोने का सुअवसर प्राप्त नहीं हो पाता; व्यथित-हृदयेन—विक्षुब्ध मन से; अनुक्षीयमाण—क्रमशः ह्रास होते हुए; विज्ञानः—जिसका अन्तर्बोध; अन्ध-कूपे—अंध कुएँ में; अन्ध-वत्—छलावे की तरह; पतति—गिर पड़ता है।

कभी-कभी भौतिक जगत रूपी वन में बद्धजीव सर्पों तथा अन्य जन्तुओं जैसे ईर्ष्यालु शत्रुओं के द्वारा दंशित होता रहता है। शत्रु के छलावे से बद्धजीव अपने प्रतिष्ठित पद से च्युत हो जाता है। चिन्ताकुल होने से उसे ठीक से नींद तक नहीं आती। इस प्रकार वह अधिकाधिक दुखी होता जाता है और क्रमशः अपना ज्ञान तथा चेतना खो बैठता है। उसकी दशा उस स्थायी अन्ध पुरुष के समान हो जाती है जो अज्ञान के अन्धकूप में गिर गया हो।

कर्हि स्म चित्काममधुलवान्विचिन्वन्यदा परदारपरद्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कर्हि स्म चित्—कभी-कभी; काम-मधु-लवान्—इन्द्रियसुख (विषय) के लघु मधुकणों के सदृश; विचिन्वन्—ढूँढते हुए; यदा—जब; पर-दार—परायी स्त्री; पर-द्रव्याणि—परायी सम्पत्ति; अवरुन्धानः—अपनी सम्पत्ति मानकर; राज्ञा—राजा के द्वारा; स्वामिभिः वा—अथवा स्त्री के पति वा सम्बन्धियों द्वारा; निहतः—बुरी तरह पिट कर; पतति—गिर पड़ता है; अपारे—अपार, अछोर; निरये—नारकीय जीवन (बलात्कार, अपहरण अथवा पराया धन चुराने जैसे कार्यों के लिए राजा द्वारा प्रदत्त कैद)।

कभी-कभी बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख की ओर आकर्षित होता है। फलस्वरूप वह अवैध यौन-सम्पर्क में रत होता है अथवा पराये धन को चुराता है। ऐसी अवस्था में वह राजा द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। या फिर उस स्त्री का पति या उसका संरक्षक उसे दण्डित करता है। इस प्रकार किंचित् सांसारिक तुष्टि हेतु वह नारकीय स्थिति में जा पड़ता है और बलात्कार, अपहरण, चोरी तथा इसी प्रकार के कृत्यों के लिए कारागार में डाल दिया जाता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जीवन में अवैध यौन-सम्पर्क, द्यूत, क्रीड़ा, मादकद्रव्य सेवन तथा मांसाहार में लिप्त होने पर बद्धजीव अत्यन्त विषम परिस्थितियों में फँस जाता है। मांसाहार तथा मादकद्रव्य सेवन से इन्द्रियाँ अधिकाधिक उत्तेजित होती रहती हैं और बद्धजीव कामिनी के चंगुल में पड़ जाता है। कामिनी को धन चाहिए और धन प्राप्त करने के लिए दूसरों से माँगता है, उधार लेता है या फिर उसे चोरी करनी पड़ती है। सचमुच ही उसे जघन्य कृत्य करने पड़ते हैं, जिससे उसे इस जन्म में तथा अगले जन्म में कष्ट भोगना पड़ता है। फलतः जो आत्म-साक्षात्कार के इच्छुक हैं, या उस पथ पर अग्रसर हैं उन्हें चाहिए कि वे अवैध यौन-सम्पर्क का परित्याग कर दें। अनेक भक्तजन अवैध यौन सम्पर्क से पतित हो जाते हैं। सम्भव है कि वे चोरी भी करने लगें और अत्यन्त सम्मानित संन्यास आश्रम से

विपथ हो जाँय। फिर जीविकोपार्जन के लिए उन्हें तुच्छ सेवाएँ करनी पड़ती हैं और वे भिक्षुक बन जाते हैं। इसलिए शास्त्रों का कथन है—*यन् मैथुनादि-गृहमेधि-सुखं हि तुच्छम्*—कि सांसारिकता यौनाचार पर आश्रित है चाहे वह वैध हो या अवैध। यौनाचार गृहस्थों के लिए भी संकटों से पूर्ण है। चाहे किसी के पास यौनाचार की वैधता हो अथवा नहीं, इसमें भारी कष्ट होते हैं। *बहु-दु:ख-भाक्*—यौनाचार में लिप्त होने पर न जाने कितनी विपदाएँ उत्पन्न होती हैं। भौतिक जीवन में उसे दुख ही दुख मिलता है। जिस प्रकार कृपण पुरुष अपनी सम्पत्ति का समुचित उपभोग नहीं कर पाता उसी प्रकार भौतिकतावादी पुरुष मनुष्यरूप का दुरुपयोग करता है। उसे आत्मोन्नति के लिए उपयोग न करके वह इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर का उपयोग करता है। इसीलिए वह कृपण कहलाता है।

अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; च—और; तस्मात्—इस कारण; उभयथा अपि—इस जन्म में तथा अगले जन्म में; हि—निस्सन्देह; कर्म—सकाम कर्म; अस्मिन्—इन्द्रिय सुख के इस मार्ग पर; आत्मनः—जीवात्मा का; संसार—भौतिक जीवन का; आवपनम्—खेत अथवा स्रोत; उदाहरन्ति—वेदों का वचन है।.

इसीलिए विद्वत्जन तथा अध्यात्मवादीगण कर्म के भौतिक मार्ग (प्रवृत्ति) की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि इस जन्म में तथा अगले जन्म में सांसारिक दुखों का आदि स्रोत तथा उसको पल्लवित करने की आधार भूमि वही है।

तात्पर्य : जीवन का मूल्य न समझने के कारण कर्मीजन ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेते हैं, जिनके कारण उन्हें इस जन्म में तथा अगले जन्म में दुख भोगना पड़ता है। दुर्भाग्यवश कर्मीजन विषय-वासनाओं में अत्यधिक लिप्त रहते हैं और वे इस जन्म में या अगले जन्म में भौतिक जीवन की दीन दशा का अनुमान नहीं लगा सकते। इसीलिए वेदों का आदेश है कि मनुष्य को चाहिए कि आत्म-चेतना को जाग्रत करे और अपने सम्पूर्ण कर्मों को श्रीभगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने में लगाए। *भगवद्गीता* (९.२७) में श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"इसलिए हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है या हवन करता है, जो कुछ

दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।''

अपने कर्मों के फलों का सदुपयोग विषयभोग के लिए न करके श्रीभगवान् के मिशन के लिए होना चाहिए। श्रीभगवान् ने जीवनोद्देश्य के सम्बन्ध की सारी बातें *भगवद्गीता* में कही हैं और उसके अन्त में अपनी शरण में आने को कहते हैं। लोग सामान्य रूप से इसे पसन्द नहीं करते, किन्तु जो अनेक जन्मों तक आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करता है, वह अन्ततः श्रीभगवान् के चरणारविन्द में समर्पित हो जाता है— *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।*

मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः. ॥ २४॥

शब्दार्थ

मुक्तः—मुक्तिप्राप्त; ततः—उससे; यदि—यदि; बन्धात्—राज्य कारावास से या स्त्री-रक्षक द्वारा प्रताड़ित होने पर; देव-दत्तः—देवदत्त नामक व्यक्ति; उपाच्छिनत्ति—उसका धन छीन लेता है; तस्मात्—देवदत्त से; अपि—पुनः; विष्णु-मित्रः—विष्णुमित्र नामक व्यक्ति; इति—इस प्रकार; अनवस्थितिः—धन एक स्थान पर न रहकर एक हाथ से दूसरे हाथ में चला जाता है।.

यह बद्धजीव पराये धन को चुराकर या ठगकर किसी तरह से उसे अपने पास रखता है और दण्ड से बच जाता है। तब देवदत्त नामक एक अन्य व्यक्ति इस धन को उससे ठग लेता है। इसी प्रकार विष्णुमित्र नामक एक तीसरा व्यक्ति यह धन देवदत्त से छीन लेता है। यह धन किसी भी दशा में एक स्थान पर टिकता नहीं है। यह एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहता है। अन्त में इसका कोई उपभोग नहीं कर पाता और यह श्रीभगवान् की सम्पत्ति बन जाता है।

तात्पर्य : धन तो सौभाग्य की देवी लक्ष्मी से आता है और लक्ष्मीजी स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीनारायण की सम्पत्ति हैं। नारायण को छोड़कर लक्ष्मी कहीं भी स्थिर नहीं रहतीं। इसीलिए उनका एक नाम चंचला भी है। जब तक वे अपने पति नारायण के संग नहीं होतीं, वे शान्तिपूर्वक नहीं रह पातीं। उदाहरणार्थ, भौतिकतावादी रावण लक्ष्मी को हर ले गया। रावण ने भगवान् राम की पत्नी का अपहरण किया। परिणाम यह हुआ कि रावण का समस्त परिवार, वैभव तथा साम्राज्य विनष्ट हो गया और सौभाग्य की देवी सीताजी उसके चंगुल से मुक्त होकर भगवान् श्रीराम से पुनः मिल गईं। इस प्रकार समस्त धन, वैभव तथा ऐश्वर्य श्रीकृष्ण का है। *भगवद्गीता* (.२९) में कहा भी गया है— *भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त यज्ञों तथा तपों के भोक्ता हैं और सभी लोकों के सर्वोच्च स्वामी हैं।''

मूर्ख भौतिकतावादी मनुष्य धन संग्रह करते हैं और अन्य चोरों से चुराते हैं, किन्तु उसे अपने पास रख नहीं पाते। प्रत्येक दशा में उसको व्यय होना है। एक व्यक्ति दूसरे को ठगता है और दूसरा किसी अन्य को। अत: लक्ष्मी को वश में रखने की श्रेष्ठ विधि है कि उसे नारायण के निकट रहने दिया जाये। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। हम नारायण (श्रीकृष्ण) सहित लक्ष्मी (राधारानी) की पूजा करते हैं। हम विभिन्न साधनों से धन संग्रह करते हैं, किन्तु वह धन किसी व्यक्ति का न होकर राधाजी तथा श्रीकृष्ण (लक्ष्मी-नारायण) का होता है। यदि यह धन लक्ष्मी-नारायण की सेवा में लगाया जाता है, तो भक्त स्वत: ही वैभवपूर्ण जीवन बिताता है। किन्तु यदि कोई लक्ष्मी का उपभोग रावण की तरह करना चाहता है, तो प्रकृति के नियमों के द्वारा वह पराजित होगा और जो कुछ उसके अधिकार में है, वह छीन लिया जायगा। अन्त में मृत्यु सब कुछ अपने साथ ले जायेगी और मृत्यु ही श्रीकृष्ण की प्रतिनिधिस्वरूपा है।

क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकभौतिकात्मीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण आस्ते. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; **च**—भी; **शीत-वात-आदि**—ठंड तथा झंझा इत्यादि; **अनेक**—कई; **अधिदैविक**—देवों द्वारा उत्पन्न, दैविक; **भौतिक**—अधिभौतिक, अन्य जीवों द्वारा उत्पन्न; **आत्मीयानाम्**—अध्यात्मिक, देह तथा मन द्वारा उत्पन्न; **दशानाम्**—कष्टपूर्ण दशाओं के; **प्रतिनिवारणे**—निवारण करने में; **अकल्प:**—अशक्य; **दुरन्त**—अत्यन्त कठोर; **चिन्तया**—चिन्ता के कारण; **विषण्ण:**—दुखी; **आस्ते**—रहता है।.

भौतिक जगत के तापत्रय से अपनी रक्षा न कर सकने के कारण बद्धजीव अत्यन्त दुखी रहता है और शोकपूर्ण जीवन बिताता है। ये तीन प्रकार के संताप हैं—देवताओं द्वारा दिये जानेवाला मानसिक ताप, (यथा हिमानी हवा तथा चिलचिलाती धूप), अन्य जीवात्माओं द्वारा प्रदत्त ताप तथा मन एवं देह से उत्पन्न होने वाले ताप।

तात्पर्य : तथाकथित सुखी भौतिकतावादी व्यक्ति को निरन्तर तीन प्रकार के ताप सहने पड़ते हैं, जिन्हें अधिदैविक, आध्यात्मिक तथा अधिभौतिक कहते हैं। वास्तव में इन तीनों तापों का निवारण किसी के वश का नहीं है। ये तीनों एकसाथ किसी एक समय आक्रमण कर सकते हैं, अथवा यह भी हो सकता है कि इनमें से कोई एक ताप न सताये और अन्य उपस्थित रहें। इस प्रकार जीवात्मा निरन्तर चिन्ता से पूर्ण रहता है और उसे भय बना रहता है कि किसी न किसी ओर से ताप आ सकते हैं।

बद्धजीव इन तापों में से कम से कम एक से अवश्य विचलित होता रहता है। इनसे छुटकारा नहीं मिल पाता।

क्वचिन्मिथो व्यवहरन्यत्किञ्चिद्धनमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्रमप्यपहरन्यत्किञ्चिद्वा विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात्. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; मिथः—परस्पर; व्यवहरन्—व्यवहार करते हुए; यत् किञ्चित्—जो कुछ भी थोड़ा सा; धनम्—धन; अन्येभ्यः—अन्यों से; वा—या; काकिणिका-मात्रम्—अत्यल्प धन (बीस कौड़ी); अपि—निश्चय ही; अपहरन्—ठग कर ले लेने पर; यत् किञ्चित्—जो कुछ भी अल्प मात्रा; वा—या; विद्वेषम् एति—वैर उत्पन्न करता है; वित्त-शाठ्यात्—ठगने के फलस्वरूप।

जहाँ तक धन के लेन-देन का सम्बन्ध है, यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे की एक कौड़ी या इससे भी कम धन ठग लेता है, तो वे परस्पर शत्रु बन जाते हैं।

तात्पर्य : इसे *संसार-दावानल* कहते हैं। दो व्यक्तियों के बीच सामान्य लेन-देन में भी सदैव ठगी होती है, क्योंकि बद्धजीव में चार प्रकार के दोष रहते हैं—वह भ्रम में होता है, वह त्रुटियाँ करता है, उसका ज्ञान अपूर्ण है और उसमें ठगने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जब तक सांसारिक बन्धनों से छुटकारा नहीं होता, ये चारों दोष बने रहते हैं। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति में ठगने की प्रवृत्ति होती है, जिसे वह व्यापार या रुपयों के लेन-देन में प्रयुक्त करता है। भले ही दो मित्र शान्तिपूर्वक एकसाथ रह रहे हों, किन्तु जब उनमें लेन-देन होता है, तो ठगी-प्रवृत्ति के कारण वे एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। एक दार्शनिक किसी अर्थशास्त्री को और एक अर्थशास्त्री किसी दार्शनिक को, जब वह धन के सम्पर्क में आता है, वंचक (धोखेबाज, ठग) कह सकता है। कुछ भी हो, भौतिक जीवन की यही स्थिति है। कोई कितना भी दर्शन बघारे, किन्तु जब उसे धन की आवश्यकता होती है, तो वह ठग बन जाता है। इस भौतिक संसार में तथाकथित वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा अर्थशास्त्री किसी न किसी रूप में ठग हैं। वैज्ञानिक इसलिए ठग कहे जा सकते हैं, क्योंकि विज्ञान के नाम पर वे अनेक मिथ्या बातें कहते रहते हैं। वे चन्द्रमा पर जाने की योजना बनाकर जनता से अपने प्रयोगों के लिए विशाल धनराशि ठग लेते हैं। वे कोई लाभप्रद कार्य नहीं कर सकते हैं। जब तक उपर्युक्त चार मूलभूत दोषों से मुक्त कोई दिव्य व्यक्ति न मिल जाये, तब तक किसी के परामर्श को नहीं मानना चाहिए। और भौतिक स्थिति का शिकार नहीं बनना चाहिए। सर्वोत्तम विधि तो यह है कि श्रीकृष्ण या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि से ही

उपदेश ग्रहण किया जाये। इस तरह इस जीवन में तथा आगे भी सुखी हुआ जा सकता है।

अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा सुखदु:खरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणादय:. ॥ २७॥

शब्दार्थ

अध्वनि—**भौतिक जीवन के पथ पर**; अमुष्मिन्—**उस**; इमे—**ये सब**; उपसर्गा:—**शाश्वत कठिनाइयाँ**; तथा—**और**; सुख—**तथाकथित सुख**; दु:ख—**कष्ट**; राग—**आसक्ति**; द्वेष—**घृणा**; भय—**डर**; अभिमान—**झूठा गर्व**; प्रमाद—**भ्रम**; उन्माद—**पागलपन**; शोक—**शोक**; मोह—**मोह**; लोभ—**लालच**; मात्सर्य—**विद्वेष**; ईर्ष्य—**दुश्मनी, वैर**; अवमान—**अनादर**; क्षुत्—**क्षुधा**; पिपासा—**प्यास**; आधि—**आपदाएँ**; व्याधि—**रोग**; जन्म—**जीव धारण करना**; जरा—**बुढ़ापा**; मरण—**मृत्यु**; आदय:—**इत्यादि।**.

इस भौतिक जगत में अनेकानेक कठिनाइयाँ आती हैं और ये सभी दुर्लंघ्य हैं। इनके अतिरिक्त तथाकथित सुख, दुख, राग, द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मत्सर, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा, पिपासा, आधि, व्याधि तथा जन्म, जरा, मरण से उत्पन्न होने वाली बाधाएँ आती हैं। ये सभी मिलकर संसारी बद्धजीव को दुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे पातीं।

तात्पर्य : इस संसार में बद्धजीव इन सभी परिस्थितियों को मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए स्वीकार करता है। यद्यपि व्यक्ति अपने को महान् वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा समाजशास्त्री घोषित करते रहते हैं, किन्तु वास्तव में हैं, वे शठ। इसीलिए *भगवद्गीता* (७.१) में उन्हें मूढ़ और नराधम वर्णित किया गया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता:॥

''माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए, मनुष्यों में अधम और पाप को करने वाले मूढ़ मेरी शरण नहीं लेते।''

भगवद्गीता में इन सभी सांसारिक प्राणियों को उनकी मूर्खता के कारण नराधम कहा गया है। उनको मनुष्य जीवन इसलिए प्राप्त हुआ है कि वे सांसारिक बन्धन से मुक्त हों, किन्तु वे ऐसा न करके दुखद परिस्थितियों में फँसे रहते हैं, इसीलिए वे मनुष्यों में नराधम हैं। प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या वैज्ञानिक, दार्शनिक, अर्थशास्त्री तथा गणितज्ञ भी नराधम हैं? भगवान् का उत्तर है कि वे नराधम हैं,

क्योंकि उन्हें वास्तविक ज्ञान नहीं है। वे मात्र अपनी झूठी प्रतिष्ठा और पद पर गर्व करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे इस भौतिक अवस्था से उद्धार पाने, जीवन को उदात्त तथा ज्ञानमय बनाने की कोई विधि नहीं जानते। फलस्वरूप वे तथाकथित सुख की खोज में शक्ति तथा समय का अपव्यय करते हैं। ये असुरों के लक्षण हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब किसी में ये आसुरी गुण रहते हैं, तो वह मूढ़ बन जाता है। इसके कारण वह भगवान् से द्वेष करने लगता है, फलत: वह असुरों के वंश में बारम्बार जन्म धारण करता है और एक आसुरी देह से दूसरी में देहान्तर करता है। इस प्रकार वह श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूल कर जन्म-जन्मांतर नराधम बना रहता है।

क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानो
यद्विहारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषितावलोकविचेष्टितापहृतहृदय
आत्मानमजितात्मापारेऽन्धे तमसि प्रहिणोति. ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

क्वापि—कहीं भी; देव-मायया—देवमाया के वश में होकर; स्त्रिया—सखी या पत्नी के रूप में; भुज-लता—वन की कोमल लताओं के सदृश सुन्दर बाहुओं के द्वारा; उपगूढः—अत्यधिक व्याकुल होकर; प्रस्कन्न—खोया हुआ; विवेक—सत् असत् का ज्ञान; विज्ञानः—विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान; यत्-विहार—पत्नी सुख के लिए; गृह-आरम्भ—घर की तलाश करने में; आकुल-हृदयः—व्याकुल चित्त होकर; तत्—उस घर की; आश्रय-अवसक्त—जो शरण में आये हुए हैं; सुत—पुत्रों का; दुहितृ—पुत्रियों का; कलत्र—पत्नी का; भाषित-अवलोक—उनके सम्भाषणों तथा बाँकी चितवनों से; विचेष्टित—कार्यों से, चेष्टाओं से; अपहृत-हृदयः—जिसका हृदय हर लिया गया है, संज्ञाशून्य; आत्मानम्—स्वयं; अजित—अवश; आत्मा—जिसका आत्मा; अपारे—अनन्त; अन्धे—घनान्धकार में; तमसि—नारकीय जीवन में; प्रहिणोति—गिरा देता है।

कभी-कभी बद्धजीव प्रमादवश मूर्तिमान माया (अपनी पत्नी या प्रेयसी) से आकर्षित होकर स्त्री द्वारा आलिंगन किये जाने के लिए व्याकुल हो उठता है। इस प्रकार वह अपनी बुद्धि तथा जीवन-उद्देश्य के ज्ञान को खो देता है। उस समय वह आध्यात्मिक अनुशीलन का प्रयास न करके अपनी पत्नी या प्रेयसी में अत्यधिक अनुरक्त हो जाता है और उसके लिए उपयुक्त गृह आदि उपलब्ध कराने का प्रयत्न करता है, फिर वह इस घरबार में अत्यधिक व्यस्त हो जाता है और अपनी पत्नी तथा बच्चों की बातों, चितवनों तथा कार्यकलापों में फँस जाता है। इस प्रकार वह कृष्णभावनामृत से वंचित होकर लौकिक अस्तित्व के गहन अंधकार में गिर जाता है।

तात्पर्य : जब बद्धजीव को अपनी प्राणोपम पत्नी का आलिंगन प्राप्त होता है, तो वह कृष्णभावनामृत के विषय में सब कुछ भूल जाता है। वह अपनी पत्नी से जितना ही अनुरक्त होता है, पारिवारिक जीवन में उतना ही उलझता जाता है। एक बंगाली कवि, श्रीबंकिम चन्द्र का कथन है कि

प्रेमी की दृष्टि में उसकी प्रेमिका अत्यन्त सुन्दर होती है, भले ही वह कुरूप क्यों न हो। यह आकर्षण ''देवमाया'' कहलाता है। पुरुष और स्त्री का यह आकर्षण दोनों के लिए बन्धन का कारण है। वास्तव में ये दोनों ''परा प्रकृति'' से सम्बन्धित हैं, परन्तु दोनों ही ''प्रकृति'' (स्त्री) हैं। किन्तु दोनों ही परस्पर आनन्द लेना चाहते हैं, इसलिए कभी-कभी वे पुरुष (नर) कहलाते हैं। सत्य तो यह है कि उनमें से कोई भी पुरुष नहीं है, किन्तु ऊपर-ऊपर से इन्हें पुरुष कहा जाता है। ज्योंही स्त्री तथा पुरुष का संयोग हो जाता है उनका लगाव घर-बार, खेत, मित्रता तथा धन से हो जाता है। इस तरह वे दोनों भौतिक जगत के जाल में पड़ जाते हैं। *भुजलता उपगूढ* शब्द का अर्थ है, ''लताओं के सदृश सुन्दर भुजाओं द्वारा आलिंगित होकर'' और यह बताता है कि किस प्रकार बद्धजीव इस भौतिक जगत द्वारा बँध जाता है। विवाहित जीवन के फलस्वरूप पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न होते हैं—ये ही परिणाम हैं। भौतिक जगत की यही रीति है।

कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात्परमाण्वादिद्विपरार्धापवर्गकालोपलक्षणात्परिवर्तितेन वयसा रंहसा हरत आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाखण्डदेवताः कङ्कगृध्रबकवटप्राया आर्यसमयपरिहृताः साङ्केत्येनाभिधत्ते. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी-कभी; ईश्वरस्य—ईश्वर का; भगवतः—श्रीभगवान् के; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; चक्रात्—चक्र से; परमाणु-आदि—सूक्ष्म परमाणुओं के काल से प्रारम्भ करके; द्वि-परार्ध—ब्रह्मा के जीवन की अवधि; अपवर्ग—अन्त; काल—समय का; उपलक्षणात्—लक्षणों से; परिवर्तितेन—चक्कर लगाता हुआ; वयसा—आयुओं के क्रमानुसार; रंहसा—तेजी से; हरतः—हरण करके; आ-ब्रह्म—ब्रह्माजी से लेकर; तृण-स्तम्ब-आदीनाम्—क्षुद्रातिक्षुद्र तृण पर्यन्त; भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; अनिमिषतः—अपलक, निरन्तर; मिषताम्—जीवात्माओं की आँखों के सामने (फिर भी वे रोक नहीं सकते); वित्रस्त-हृदयः—मन में डर कर; तम्—उस (ईश्वर); एव—निश्चय ही; ईश्वरम्—श्रीभगवान् को; काल-चक्र-निज-आयुधम्—काल चक्र ही जिसका साक्षात् आयुध है; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; यज्ञ-पुरुषम्—जो सभी प्रकार के यज्ञों को स्वीकार करता है, यज्ञ पुरुष को; अनादृत्य—अनादर करके, परवाहकिये बिना; पाखण्ड-देवताः—ईश्वर के पाखण्डी अवतार (मानवकल्पित भगवान् या देवता); कङ्क—बाज; गृध्र—गीध; बक—बगुला; वट-प्रायाः—कौंवों के सदृश; आर्य-समय-परिहृताः—आर्यों के द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों से तिरस्कृत होकर; साङ्केत्येन—कपोलकल्पित अप्रामाणिक शास्त्रों द्वारा; अभिधत्ते—पूजा योग्य स्वीकार कर लेता है।

श्रीकृष्ण द्वारा प्रयुक्त निजी आयुध हरिचक्र कहलाता है। यह चक्र कालचक्र है। यह परमाणुओं से लेकर ब्रह्मा की मृत्युपर्यन्त फैला हुआ है और यह समस्त कर्मों को नियंत्रित करने वाला है। यह निरन्तर घूमता रहता है और ब्रह्माजी से लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र तृण तक सभी जीवात्माओं का संहार करता है। इस प्रकार प्राणी बाल्यपन से यौवन तथा प्रौढ़ अवस्था को

प्राप्त करते हुए जीवन के अन्त तक पहुँच जाता है। काल के इस चक्र को रोक पाना असम्भव है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का निजी आयुध होने के कारण यह अत्यन्त कठोर है। कभी-कभी बद्धजीव मृत्यु को निकट आया जानकर ऐसे व्यक्ति की पूजा करने लगता है जो उसे आसन्न संकट से उबार सके। वह ऐसे श्रीभगवान् की परवाह नहीं करता जिनका आयुध अथक काल है। उल्टे वह अप्रामाणिक शास्त्रों में वर्णित मानवनिर्मित देवताओं की शरण में जाता है। ऐसे देवता बाज, गीध, बगुले तथा कौवे के तुल्य हैं। वैदिक शास्त्रों में इनका वर्णन नहीं मिलता। पास खड़ी मृत्यु शेर के आक्रमण की तरह है, जिससे न तो गीध, बाज, कौवे और न ही बगुले बच सकते हैं। जो पुरुष ऐसे अप्रामाणिक मानवनिर्मित देवताओं की शरण में जाता है उसे मृत्यु के चंगुल से नहीं छुड़ाया जा सकता।

तात्पर्य : कहा गया है—*हरिं बिना मृतिं न तरन्ति।* पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि की कृपा के बिना कोई भी मृत्यु के क्रूर हाथों से बच नहीं सकता। *भगवद्गीता* का कथन है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—जो भी अपने को पूर्णतया श्रीकृष्ण को समर्पित कर देता है उसे वे भौतिक प्रकृति (दैवी शक्ति) के क्रूर चंगुल से बचा लेते हैं। किन्तु कभी-कभी बद्धजीव मानवकृत देवों, देवताओं, अवतारियों या कपटी स्वामियों अथवा योगियों की शरण में जाना चाहता है। ये सभी ठग अपने आपको धर्मों के नियमों का पालक बताते हैं और इस कलियुग में यह अत्यन्त प्रचलित है। ऐसे अनेक पाखण्डी होते हैं, जो शास्त्रों का आश्रय लिए बिना अपने को अवतार बताते हैं और मूर्ख लोग उनके अनुयायी बन जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने पीछे *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* नामक दो ग्रन्थ सुलभ कर गये हैं। धूर्त लोग इन प्रामाणिक ग्रन्थों का उल्लेख न करके मानवकृत ग्रन्थों की शरण लेते हैं और श्रीकृष्ण से स्पर्धा करते हैं। मानव समाज में आध्यात्मिक भावना को आगे बढ़ाते समय यही सबसे बड़ी कठिनाई सामने आती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्यों को शुद्ध कृष्णभावनामृत के पथ में लाने का भरसक प्रयत्न कर रहा है, किन्तु धोखेबाज़ पाखण्डियों तथा नास्तिकों की संख्या इतनी अधिक है कि कभी-कभी हमारी समझ में नहीं आता कि इस आन्दोलन को किस प्रकार आगे बढ़ाया जाये। हम किसी भी दशा में तथाकथित अवतारों, देवताओं, ठगों तथा वंचकों की अप्रामाणिक विधियों को स्वीकार नहीं कर सकते, जिन्हें यहाँ पर कौवों, गृद्धों, बाजों तथा बगुलों के रूप में बताया गया है।

यदा पाखण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरु वञ्चितो ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां
शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव तदरोचयन्शूद्रकुलं भजते
निगमाचारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; पाखण्डिभिः—पाखण्डियों (नास्तिकों) द्वारा; आत्म-वञ्चितैः—स्वयं को ठगने वाले; तैः—उनके द्वारा; उरु—अधिकाधिक; वञ्चितः—ठगे जाकर; ब्रह्म-कुलम्—वैदिक संस्कृति के पालक एकमात्र ब्राह्मणजन; समावसन्—आत्मिक उन्नति के लिए उनके बीच निवास करते हुए; तेषाम्—उनके (ब्राह्मणों के); शीलम्—शील, अच्छा आचरण; उपनयन-आदि—उपनयन संस्कार इत्यादि, अर्थात् बद्धजीव को ब्राह्मण बनने की शिक्षा देते हुए; श्रौत—वैदिक नियमों के अनुसार, वेद विधि से; स्मार्त—वेदों से प्राप्त प्रामाणिक उपदेशों के अनुसार; कर्म-अनुष्ठानेन—कर्मों के पालन द्वारा; भगवतः—श्रीभगवान् की; यज्ञ-पुरुषस्य—जो वैदिक यज्ञों द्वारा पूजित है; आराधनम्—उस ईश्वर की पूजा; एव—निश्चयपूर्वक; तत् अरोचयन्—चरित्रहीन व्यक्तियों द्वारा कठिनाई से सम्पन्न होने के कारण उसमें आनन्द प्राप्त न कर सकने से, अरुचिकर लगने के कारण; शूद्र-कुलम्—शूद्रों के कुल (समाज) की ओर; भजते—उन्मुख होता है; निगम-आचारे—वैदिक रीतियों के अनुसार आचरण करने में; अशुद्धितः—अशुद्ध; यस्य—जिसका; मिथुनी-भावः—मैथुन सुख अथवा सांसारिक जीवन; कुटुम्ब-भरणम्—परिवार का पालन-पोषण; यथा—सदृश; वानर-जातेः—वानर कुल के, वानर की सन्तानों के।

ऐसे छद्म-स्वामी, योगी तथा अवतारी जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में विश्वास नहीं करते, पाषण्डी कहलाते हैं। वे स्वयं पतित होते हैं और ठगे जाते हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक उन्नति का वास्तविक मार्ग नहीं जानते, अतः उनके पास जो भी जाता है, वही ठगा जाता है। इस प्रकार से ठगे जाने पर वह कभी-कभी वैदिक नियमों के असली उपासकों (ब्राह्मणों अथवा कृष्णभावनामृत वालों) की शरण में जाता है, जो सबों को वेदोक्त आचार से श्रीभगवान् की उपासना करना सिखाते हैं। किन्तु इन रीतियों का पालन न कर सकने के कारण ये धूर्त पुनः पतित होते हैं और शूद्रों की शरण लेते हैं, जो विषयभोग में मग्न रहने में पटु हैं। वानर जैसे पशुओं में मैथुन अत्यन्त प्रकट रहता है और ऐसे मैथुन-प्रेमी व्यक्तियों को वानर की सन्तान कहा जा सकता है।

तात्पर्य : जलचर से पशु स्तर तक विकास की प्रक्रिया पूरी करके जीवात्मा अन्त में मनुष्य रूप को प्राप्त होता है। विकास प्रक्रिया में भौतिक प्रकृति के तीनों गुण कार्यशील रहते हैं। जो प्राणी सत्त्व-गुण के द्वारा मनुष्य रूप प्राप्त करते हैं, वे अपने पशुयोनि के पिछले पूर्वजन्म में गाय थे। जो रजोगुण के द्वारा मनुष्य रूप प्राप्त करते हैं, वे अन्तिम पूर्वजन्म में सिंह और जो तमोगुण के कारण मनुष्य रूप धारण करते हैं, वे पिछले पूर्वजन्म में बन्दर थे। इस युग में जो लोग बन्दर योनि से आते हैं, उन्हें डार्विन जैसे आधुनिक नृतत्वशास्त्री बन्दरों के वंशज मानते हैं। यहाँ हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि

जो केवल विषयभोग में रुचि रखते हैं, वे वास्तव में वानरों से अच्छे नहीं हैं। वानर इन्द्रियसुख भोगने में पटु होते हैं। कभी-कभी उनकी यौन-ग्रन्थियाँ निकालकर मनुष्यों में लगा दी जाती हैं जिससे वे बुढ़ापे में भी यौन-सुख प्राप्त कर सकें। इस प्रकार आधुनिक सभ्यता ने प्रगति की है। भारत से अनेक बन्दरों को पकड़ कर यूरोप भेजा गया ताकी उनकी यौन-ग्रंथियाँ निकालकर बूढ़े मनुष्यों में लगा दी जा सकें । वास्तविक रूप में जो वानर की सन्तान हैं, वे यौन-व्यापार द्वारा अपने विलासी परिवारों का विस्तार करते हैं। वेदों में भी कुछ ऐसे संस्कार हैं जिनके द्वारा यौन-उन्नति करके उच्च लोकों में पहुँचा जा सकता है जहाँ देवता इन्द्रियसुख में प्रवृत्त रहते हैं। देवताओं की भी मैथुन के प्रति अति प्रवृत्ति रहती है, क्योंकि सांसारिक सुख का मूल सिद्धान्त यही है।

सर्वप्रथम जब बद्धजीव सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाने के उद्देश्य से नामधारी स्वामियों, योगियों तथा अवतारियों की शरण में जाता है, तो वह उनके द्वारा ठगा जाता है। किन्तु जब उनसे उसकी तुष्टि नहीं होती तो वह भक्तों तथा विशुद्ध ब्राह्मणों के पास जाता है जो सांसारिक बन्धनों से मुक्ति के लिए उसे ऊपर उठाने का प्रयास करते हैं। किन्तु अविवेकी बद्धजीव मैथुन, मादकद्रव्य-सेवन, द्यूत-क्रीड़ा तथा मांसाहार वर्जित करने वाले नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं कर पाता। इस प्रकार वह पतित हो जाता है और ऐसे मनुष्यों की शरण में जाता है जो वानरतुल्य हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ऐसे वानर-शिष्य विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन न कर सकने के कारण कभी कभी पतित हो जाते हैं और मैथुन-आश्रित समाज बनाने का प्रयास करते हैं। यह इसका प्रमाण है कि मनुष्य वानरों की सन्तान हैं जैसाकि डार्विन ने पुष्टि की है। इस श्लोक में इसीलिए स्पष्ट कथन है— *यथा वानरजातेः ।*

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपणबुद्धिरन्योन्यमुखनिरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृतकालावधिः. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस अवस्था में (वानरों की संतति मनुष्यों के समाज में); **निरवरोधः**—बिना रोकटोक के; **स्वैरेण**—स्वच्छन्दतापूर्वक, जीवन के लक्ष्य को ध्यान में न रखकर; **विहरन्**—वानरों की भाँति भोग करते हुए; **अति-कृपण-बुद्धिः**—ठीक से प्रयोग न करने के कारण मन्द-बुद्धि; **अन्योन्य**—परस्पर, एक दूसरे का; **मुख-निरीक्षण-आदिना**—मुखों को देखकर (जब पुरुष किसी स्त्री के सुन्दर मुख को देखता है अथवा कोई स्त्री किसी पुरुष के सुगढ़ शरीर को देखती है, तो वे एक दूसरे की लालसा करते हैं); **ग्राम्य-कर्मणा**—इन्द्रियतृष्टि के लिए कर्म करके; **एव**—एकमात्र; **विस्मृत**—भूला हुआ; **काल-अवधिः**—सीमित जीवन-काल (जिसके बाद उसका आवागमन, पतन या उत्कर्ष हो सकता है।).

इस प्रकार वानरों की सन्तानें एक दूसरे से घुलती-मिलती हैं और सामान्य रूप से शूद्र

कहलाती हैं। मुक्त भाव से वे जीवन का उद्देश्य समझे बिना स्वच्छन्द विहार करती हैं। वे एक दूसरे के मुख को देखकर ही मुग्ध होती रहती हैं, क्योंकि इससे इन्द्रिय-तुष्टि की स्मृति बनी रहती है। वे निरन्तर सांसारिक कर्म में लगी रहती हैं, जिसे ''ग्राम्य-कर्म'' कहते हैं और भौतिक लाभ के लिए कठिन श्रम करती हैं। इस प्रकार वे भूल जाती हैं कि एक दिन उनकी लघु जीवन-अवधि समाप्त हो जाएगी और वे आवागमन के चक्र में नीचे गिर जाएँगी।

तात्पर्य : भौतिकतावादी मनुष्यों को यदाकदा ''शूद्र'' या उनकी वानर जैसी बुद्धि के कारण वानरों की सन्तान कहा जाता है। उन्हें इसको जानने की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती कि आवागमन चक्र किस प्रकार घटित होता है, न ही उन्हें यह जानने की कोई उत्सुकता रहती है कि उनके मनुष्य योनि के इस लघुजीवन के बाद क्या होगा। यह शूद्रों की प्रवृत्ति है। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन, जो श्री चैतन्य महाप्रभु का ध्येय है, शूद्रों को ब्राह्मणों के पद तक ऊपर उठाने के लिए प्रयत्नशील है, जिससे वे जीवन के वास्तविक उद्देश्य को जान सकें। दुर्भाग्यवश इन्द्रियसुख में अत्यन्त लिप्त रहने के कारण भौतिकतावादी इस आन्दोलन की गम्भीरतापूर्वक सहायता नहीं कर रहे हैं। उलटे, उनमें से कुछ इसे कुचलने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों के कर्मों में विघ्न पहुँचाना वानरों का ही कार्य है। ये वानरों की सन्तानें यह पूर्णरूपेण भूल जाती हैं कि उन्हें मरना है। उन्हें अपने वैज्ञानिक ज्ञान एवं भौतिक संस्कृति की प्रगति का अत्यधिक गर्व रहता है। *ग्राम्य-कर्मणा* शब्द केवल दैहिक सुखों की उन्नति के निमित्त सम्पन्न कार्यों के द्योतक हैं। इस समय समस्त मानव समाज आर्थिक दशाओं एवं दैहिक सुखों को बढ़ाने में संलग्न हैं। लोग यह जानने के तनिक भी इच्छुक नहीं हैं कि मृत्यु के पश्चात् क्या होगा और न ही वे आत्मा के देहान्तरण में ही विश्वास करते हैं। विकासवाद का विधिवत् अध्ययन करके ही यह जाना जा सकता है कि मानव जीवन ऐसा संधिस्थल है जहाँ उन्नति या अवनति का पथ ग्रहण किया जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२) में कहा गया है—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

''देवताओं को पूजने वाले देवताओं के बीच जन्म लेते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।''

हमें इसी जीवन में अगले जन्म के लिए तैयारी करनी होती है। जो रजोगुणी हैं, वे प्राय: स्वर्गलोक जानने में रूचि रखते हैं। कुछ अनजाने ही निम्न पशु योनियों में गिरा दिये जाते हैं। जो सत्त्व-गुणी हैं, वे भक्ति में लग सकते हैं और इसके बाद में भगवद्धाम को वापस जा सकते हैं (*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*)। मनुष्य-जीवन का यह वास्तविक प्रयोजन है। कृष्णभावानामृत आन्दोलन बुद्धिमान पुरुषों को भक्ति के मंच पर लाने का प्रयास कर रहा है। सांसारिक जीवन में श्रेष्ठतर स्थान प्राप्त करने के प्रयास में समय न गँवाकर मनुष्य को चाहिए कि वह केवल भगवान् के धाम में वापस पहुँचने के लिए प्रयास करे। इससे सभी समस्याएँ हल हो जाएँगी। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में कहा गया है—

शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन: ।

हृद्यन्त:स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥

''भगवान् श्रीकृष्ण, जो प्रत्येक के हृदय में विद्यमान परमात्मा हैं तथा अपने अनन्य-भक्तों के सुहृद हैं, वे उन भक्तों के हृदय से प्राकृत-सुख भोगों की वासनाओं को समाप्त कर देते हैं, जो उनके कथामृत का आस्वादन करते हैं। जब वे उनके नामों एवं कथाओं का उचित रीति से श्रवण एवं उच्चारण करते हैं, तो उनका जीवन पुण्यमय एवं पावन हो उठता है।''

इसके लिए मनुष्य को विधि-विधान का पालन करना, ब्राह्मण की तरह कर्म करना, हरे कृष्ण मंत्र का संकीर्तन करना और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* का पाठ करना होता है। इस प्रकार वह तमो तथा रजो गुणों से अपने को शुद्ध कर लेता है और इन गुणों के मोह से छूटकर पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त कर सकता है। इस तरह कोई भी श्रीभगवान् तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को समझ सकता है और उच्चतम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है (*सिद्धिं परमां गता:*)।

क्वचिद्द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन्यथा वानरः सुतदारवत्सलो व्यवायक्षणः. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—यदा-कदा; द्रुम-वत्—वृक्ष के सदृश (जिस प्रकार वानर एक वृक्ष से दूसरे में कूदकर जाता है वैसे ही बद्धजीव एक से दूसरी देह में देहान्तर करता रहता है); ऐहिक-अर्थेषु—मात्र उत्तम सांसारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए; गृहेषु—घरों (देहों) में; रंस्यन्—सुख अनुभव करते हुए (एक देह से दूसरे में, या तो पशु, मानव या दैव जीवन में); यथा—सदृश; वानरः—बन्दर के; सुत-दार-वत्सलः—सन्तान तथा पत्नी के लिए अत्यन्त प्रिय; व्यवाय-क्षणः—जिसका समय विषयसुख में बीतता है।

जिस प्रकार वानर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूदता रहता हैं, उसी प्रकार बद्धजीव एक देह

से दूसरी में जाता रहता है। जब कोई शिकारी अन्ततोगत्वा वानर को बन्दी बना लेता है, तो वह छूटकर निकल नहीं पाता। उसी प्रकार यह बद्धजीव क्षणिक इन्द्रिय तृप्ति में फँसकर भिन्न-भिन्न प्रकार की देहों से आसक्त होकर गृहस्थ जीवन में बद्ध जाता है। गृहस्थ जीवन में बद्धजीव को क्षणिक इन्द्रियसुख का आनंद प्राप्त होता है और इस प्रकार वह सांसारिक चंगुल से निकलने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (११.९.२९) में कहा गया है—*विषय: खलु सर्वत: स्यात्।* किसी भी जीवरूप में आहार, निद्रा, मैथुन तथा आत्मरक्षा—ये दैहिक आवश्यकताएँ प्राप्त हैं। यहाँ पर बताया गया है कि वानर मैथुन के प्रति अत्यधिक आकृष्ट होता है। प्रत्येक वानर की कम से कम दो दर्जन पत्नियाँ रहती हैं और वह बन्दरियों को पकड़ने के लिए एक वृक्ष से दूसरे पर कूदता रहता है और अविलम्ब संभोग में जुट जाता है। इस प्रकार वानर का व्यापार है एक वृक्ष से दूसरे में कूदकर अपनी पत्नियों के साथ यौनाचार का आनन्द लेना। बद्धजीव भी यही कर रहा है। वह एक देह से दूसरे में देहान्तर करके मैथुनरत रहता है। इस प्रकार वह यह भूल जाता है कि भौतिक बन्धन से किस प्रकार मुक्त हुआ जाये। कभी-कभी कोई शिकारी बन्दरों को पकड़ कर डाक्टरों को बेच देता है ताकि उनकी ग्रन्थियों को निकालकर दूसरे वानरों में लगा दिया जाए। यह सारा धन्धा आर्थिक विकास और विकसित यौन जीवन के नाम पर चलाया जा रहा है।

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात्तमसि गिरिकन्दरप्राये. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—**इस प्रकार**; अध्वनि—**इन्द्रियतुष्टि के पथ पर**; अवरुन्धानः—**अवरुद्ध होने पर (फँस जाने पर) वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भूल जाता है**; मृत्यु-गज-भयात्—**मृत्यु रूपी हाथी के डर से**; तमसि—**अंधकार में**; गिरि-कन्दर-प्राये—**पर्वत की गहन गुफाओं के सदृश**।.

बद्धजीव इस भौतिक जगत में भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूलकर तथा श्रीकृष्णभावनामृत की परवाह किये बिना अनेकानेक दुष्कर्मों एवं पापों में प्रवृत्त होने लगता है। तब उसे ताप-त्रय से पीड़ित होना पड़ता है और वह मृत्यु रूपी हाथी के भय से पर्वत की गुफा के घनान्धकार में जा गिरता है।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी मृत्यु से भयभीत है और भौतिकवादी व्यक्ति चाहे जितना ही बलवान क्यों

न हो, उसे रोग तथा बुढ़ापा आने पर मृत्यु का संदेश स्वीकार करना पड़ता है। तब बद्धजीव अत्यन्त दुखी (खिन्न) होकर मृत्यु के संदेश को ग्रहण करता है। उसके इस भय की तुलना गहन पहाड़ी गुफा में प्रवेश करने से और मृत्यु की तुलना हाथी से की गई है।

क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दु:खानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयविषण्ण आस्ते. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; शीत-वात-आदि—ठंड अथवा तेज हवा इत्यादि; अनेक—कई, अनेक प्रकार के; दैविक—देवताओं द्वारा अथवा हमारे वश से परे शक्तियों द्वारा दिए जाने वाले; भौतिक—अन्य जीवात्माओं द्वारा दिए जाने वाले; आत्मीयानाम्—बद्धजीव तथा मन द्वारा दिए जाने वाले; दु:खानाम्—अनेकानेक दुखों; प्रतिनिवारणे—निवृत्त करने में; अकल्प:—अशक्त; दुरन्त—दुर्लंघ्य; विषय—इन्द्रियतुष्टि, वासना; विषण्ण:—दुखी, खिन्न; आस्ते—रहता है।.

बद्धजीव को अनेक दैहिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं यथा अत्यधिक ठंड तथा तेज हवा। वह अन्य जीवात्माओं के कार्यकलापों तथा प्राकृतिक प्रकोपों के कारण भी कष्ट उठाता है। जब वह उनका सामना करने में अक्षम होकर दयनीय अवस्था में रहता है, तो स्वभावत: वह अत्यन्त खिन्न हो उठता है, क्योंकि वह सांसारिक सुविधाओं का भोग करना चाहता है।

क्वचिन्मिथो व्यवहरन्यत्किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी या कहीं भी; मिथ: व्यवहरन्—परस्पर क्रय-विक्रय आदि व्यापार करने पर; यत्—जो भी; किञ्चित्—रंच भर; धनम्—सम्पत्ति; उपयाति—प्राप्त करता है; वित्त-शाठ्येन—किसी की सम्पत्ति को ठग करके।.

कभी-कभी बद्धजीव परस्पर आदान-प्रदान करते हैं, किन्तु कालान्तर में ठगी के कारण उनमें शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। भले ही रंचमात्र लाभ हो, बद्धजीव परस्पर मित्र न रहकर एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (..८) में कथित है—

पुंस: स्त्रिया मिथुनीभावमेतं तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहु: ।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति॥

वानर-तुल्य बद्धजीव पहले मैथुन में आसक्त होता है और वास्तविक संभोग हो जाने पर वह और अधिक लिप्त हो जाता है। तब उसे कुछ भौतिक सुखों की आवश्यकता होती है—यथा निवासस्थान, भोजन, मित्र, सम्पत्ति इत्यादि। इन्हें प्राप्त करने के लिए उसे दूसरों को ठगना पड़ता है और इससे

घनिष्ठ मित्रों से भी उसकी शत्रुता हो जाती है। कभी-कभी बद्धजीव तथा उसके पिता या गुरु के बीच यह शत्रुता ठन जाती है। जब तक कोई विधि-विधान में दृढ़ नहीं रहता, भले ही वह कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सदस्य क्यों न हो, वह धृष्टता करता रहता है। फलतः हम शिष्यों को विधि-नियमों के दृढ़ पालन का उपदेश देते हैं, अन्यथा शिष्यों में विरोध होने पर मानवता के उत्थान के लिए किया जाने वाला यह महत्त्वपूर्ण आन्दोलन अवरुद्ध हो जाएगा। अतः जो इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए इच्छुक हैं उन्हें इसे स्मरण रखना चाहिए और विधि-नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए, जिससे उनके मन विचलित न हों।

क्वचित्क्षीणधनः शय्यासनाशनाद्युपभोगविहीनो
यावदप्रतिलब्धमनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; क्षीण-धनः—पर्याप्त धन न होने पर; शय्या-आसन-अशन-आदि—सोने, बैठने अथवा भोजन के लिए स्थान; उपभोग—सांसारिक सुख का; विहीनः—वंचित होकर; यावत्—जब तक; अप्रतिलब्ध—उपलब्ध न होने पर; मनोरथ—अभिलाषा से; उपगत—प्राप्त; आदाने—अनैतिक साधनों से हड़पने में; अवसित-मतिः—संकल्प; ततः—उसके कारण; ततः—उससे; अवमान-आदीनि—अपमान तथा दंड; जनात्—सामान्यजन से; अभिलभते—प्राप्त करता है।

कभी-कभी धनाभाव के कारण बद्धजीव को पर्याप्त स्थान प्राप्त करने में कठिनाई होती है। कभी तो उसे बैठने तक के लिए स्थान नहीं मिल पाता, न ही उसे अन्य आवश्यक वस्तुएँ ही प्राप्त होती हैं। दूसरे शब्दों में, वह अभाव का अनुभव करता है और नैतिक साधनों से इन आवश्यकताओं को न प्राप्त कर पाने के कारण वह अनैतिक ढंग से दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करता है। जब उसे वांछित वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो पातीं वह दूसरों से अपमान ही प्राप्त करता है, जिससे वह अत्यन्त खिन्न हो उठता है।

तात्पर्य : ऐसा कहा गया है कि आवश्यकता नियम नहीं पहचानती। जब बद्धजीव के जीवन-निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता आ पड़ती है, तो वह कोई न कोई साधन अपनाता है—चाहे वह भीख माँगे, उधार ले अथवा चोरी करे, किन्तु ये वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं, उल्टे उसका अपमान और उपहास किया जाता है। जब तक अच्छी तरह सुव्यवस्थित न रहा जाये, अनुचित साधनों से धन-संग्रह नहीं किया जा सकता। यदि वह धन-संग्रह कर भी ले तो भी वह राजा या जनता की प्रताड़ना तथा अपमान से नहीं बच सकता है। ऐसे अनेक प्रसंग हैं जब महत्त्वपूर्ण व्यक्ति गबन करते पकड़े गये हैं

और उन्हें जेल में रखा गया है। भले ही कोई जेल के दंड से बच जाये, किन्तु वह भगवान् द्वारा दंडित होने से नहीं बच सकता। क्योंकि वे भौतिक प्रकृति के माध्यम से कार्य करते हैं। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* (७.१४) में हुआ है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।* प्रकृति अत्यन्त क्रूर है। वह किसी को भी क्षमा नहीं करती है। जब मनुष्य प्रकृति की अवहेलना करते हैं, तो वे सभी प्रकार के पापकर्म करते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें कष्ट उठाना पड़ता है।

एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति. ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वित्त-व्यतिषङ्ग—आर्थिक लेन-देन के कारण; विवृद्ध—बढ़ा हुआ; वैर-अनुबन्धः—वैर भाव; अपि—यद्यपि; पूर्व-वासनया—पूर्व अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप; मिथः—परस्पर; उद्वहति—पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह के कारण बँध जाते हैं; अथ—तत्पश्चात्; अपवहति—सम्बन्ध-विच्छेद कर देते हैं, अथवा तलाक दे देते हैं।

अपनी इच्छाओं की बारम्बार पूर्ति के लिए मनुष्य परस्पर शत्रु होने पर भी कभी-कभी विवाह सम्बध स्थापित कर लेते हैं। दुर्भाग्यवश ये विवाह दीर्घकाल तक नहीं चल पाते और ऐसे लोग तलाक या अन्य कारणों से पुनः विलग हो जाते हैं।

तात्पर्य : जैसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक बद्धजीव में छलने की प्रवृत्ति होती है, यहाँ तक कि विवाह सम्बन्धों में भी। इस भौतिक जगत में सर्वत्र ही एक बद्धजीव दूसरे से ईर्ष्या करता है। मनुष्य कुछ काल तक भले ही परस्पर मित्र बने रहें, किन्तु अन्ततः वे शत्रु बन जाते हैं और धन के लिए लड़ते हैं। कभी-कभी वे विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, किन्तु बाद में तलाक या अन्य साधनों से विलग हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसा ऐक्य कभी स्थायी नहीं रहता। छलने की प्रवृत्ति के कारण दोनों पक्ष सदैव ईर्ष्यालु बने रहते हैं। यहाँ तक कि कृष्णभावनामृत में भी भौतिक प्रवृत्तियों की प्रधानता के कारण पृथक्त्व और शत्रुता उत्पन्न हो जाती है।

एतस्मिन्संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमु ह वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन्बिभ्यद्विवदन्क्रन्दन्संहृष्यन्गायन्नह्यमानः साधुवर्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष नरलोकसार्थो यमध्वनः पारमुपदिशन्ति. ॥ ३८॥

शब्दार्थ

एतस्मिन्—इस; संसार—दुखमय (संसार); अध्वनि—पथ पर; नाना—अनेक; क्लेश—कष्ट; उपसर्ग—भौतिक अस्तित्त्व की आपत्तियों द्वारा; बाधितः—क्षुब्ध; आपन्न—कभी-कभी प्राप्त करके; विपन्नः—कभी खोकर; यत्र—जिसमें; यः—कौन; तम्—उसको; उ ह वाव—अथवा; इतरः—अन्य कोई; तत्र—वहाँ; विसृज्य—छोड़ कर; जातम् जातम्—नवजात; उपादाय—

स्वीकार करके; शोचन्—शोक करते हुए; मुह्यन्—मोह ग्रस्त होकर; बिभ्यत्—डरते हुए; विवदन्—कभी-कभी तेज चीखते हुए; क्रन्दन्—कभी-कभी रोते हुए; संहृष्यन्—कभी-कभी प्रसन्न होते हुए; गायन्—गाते हुए; नह्यमानः—बाँधे जाकर; साधु-वर्जितः—सन्त पुरुषों से दूर रहकर; न—नहीं; एव—निश्चय ही; आवर्तते—प्राप्त करता है; अद्य अपि—अब भी; यतः—जिससे; आरब्धः—आरम्भ किया हुआ; एषः—इस; नर-लोक—भौतिक जगत का; स-अर्थः—आत्मकेन्द्रित (स्वार्थी) जीवात्माएँ; यम्—जिनको (श्रीभगवान्); अध्वनः—भौतिक अस्तित्त्व के पथ के; पारम्—उस पार; उपदिशन्ति—ज्ञानीजन इंगित करते हैं।.

इस भौतिक जगत का मार्ग क्लेशमय है और बद्धजीव को अनेक कष्ट विचलित करते रहते हैं। कभी वह हारता है, तो कभी जीतता है। प्रत्येक दशा में यह मार्ग विघ्नों से परिपूर्ण है। कभी बद्धजीव अपने पिता से मृत्यु होने या अन्य कारणों से विलग हो जाता है। वह उसे छोड़कर क्रमशः अन्यों से, यथा अपनी सन्तान से आसक्त हो जाता है। इस प्रकार बद्धजीव कभी-कभी भ्रमित और कभी भयके मारे जोर जोर से चीत्कार करता है। कभी वह अपने परिवार का भरण करते हुए प्रसन्न होता है, तो कभी अत्यधिक प्रसन्न हो जाता है और सुरीले गीत गाता है। इस तरह वह अनन्त काल से श्रीभगवान् के विछोह को भूलकर अपने में बँधता जाता है। उसे भौतिक जगत के भयानक पथ पर चलना तो पड़ता है, किन्तु वह इस पथ पर तनिक भी सुखी नहीं होता। स्वरूप-सिद्ध मनुष्य इस भयानक पथ से छूटने के निमित्त श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करते हैं। भक्तिमार्ग को स्वीकार किये बिना भौतिक जगत के चंगुल से कोई नहीं निकल पाता। तात्पर्य यह है कि इस भौतिक जीवन में कोई भी प्रसन्न नहीं हो सकता है। उसे कृष्णाभावनामृत का आश्रय अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन-शैली का सम्यक् विश्लेषण करने पर कोई भी बुद्धिमान पुरुष समझ सकता है कि इस संसार में तनिक भी सुख नहीं है। किन्तु अनन्त काल से संकटपूर्ण मार्ग पर चलते रहने और सन्तजनों से अपने को विलग रखने के कारण बद्धजीव मोहवश इस भौतिक जगत का आनन्द लेना चाहता है। कभी-कभी बहिरंगा शक्ति तथाकथित सुख का अवसर प्रदान करती है, किन्तु भौतिक प्रकृति बद्धजीव को निरन्तर प्रताड़ित करती रहती है। इसीलिए कहा गया है *दण्ड्यजने राजा येन नदीते चुबाय* (*चैतन्यचरितामृत मध्य* २०.११८)। भौतिकतावादी जीवन का अर्थ है सतत दुख, किन्तु जब दो अन्तरालों के बीच सुख प्रकट होता है, तो हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। कभी-कभी दोषी व्यक्ति को बार-बार पानी में डुबोया जाता है और फिर बाहर निकाला जाता है। वास्तव में यह सब दण्ड देने के उद्देश्य से किया जाता है, किन्तु जब उसे जल से बाहर निकाला जाता है, तो उसे कुछ

राहत का अनुभव होता है। बद्धजीव की ऐसी स्थिति है। अत: सभी शास्त्रों का उपदेश है कि भक्तों तथा साधुओं का सत्संग किया जाये।

'साधुसंग', 'साधुसंग'—सर्वशास्त्रे कय

लवमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय

(*चैतन्य चरितामृत, मध्य* २२.४)

भक्तों के लव-मात्र सत्संग से ही बद्धजीव इस दुखमय भौतिक जगत से उबर सकता है। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रत्येक व्यक्ति को सन्तजनों के साथ सत्संग का अवसर प्रदान करने का प्रयास करता है। इसलिए कृष्णभावनामृत समाज के सभी सदस्यों को पूर्ण साधु होना चाहिए जिससे पतित बद्धजीवों को अवसर मिल सके। यही सर्वश्रेष्ठ मानव-कल्याणकारी कार्य है।

यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरुन्धते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति. ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; इदम्—भगवान् का यह परम धाम; योग-अनुशासनम्—केवल भक्ति के द्वारा प्राप्तव्य; न—नहीं; वा—अथवा; एतत्—मुक्ति का यह पथ; अवरुन्धते—प्राप्त करते हैं; यत्—अत:; न्यस्त-दण्डाः—ऐसे पुरुष जिन्होंने दूसरों से ईर्ष्या करना छोड़ दिया है; मुनयः—मुनि अथवा सन्त जन; उपशम-शीलाः—जो इस समय अत्यन्त शान्तिमय अस्तित्व को प्राप्त हैं; उपरत-आत्मानः—जिन्होंने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया है; समवगच्छन्ति—सरलता से प्राप्त करते हैं।.

समस्त जीवात्माओं के मित्र मुनिजन संयतात्मा होते हैं। वे अपनी इन्द्रियों एवं मन को वश में कर चुके होते हैं और उन्हें मुक्तिपथ, जो श्रीभगवान् तक पहुँचने का मार्ग है, सरलतापूर्वक प्राप्त होता है। क्लेशमय भौतिक परिस्थितियों में संलग्न रहने तथा हतभाग्य होने के कारण भौतिकतावादी व्यक्ति मुनिजनों की संगति नहीं कर पाता।

तात्पर्य : महामुनि जड़भरत ने क्लेशमय दशा तथा उससे बचने के साधन—इन दोनों का वर्णन किया है। इससे बचने का एकमात्र उपाय है : भक्तों की संगति और यह संगति अत्यन्त सुगम है। यद्यपि भाग्यहीन व्यक्तियों को भी यह सुअवसर प्राप्त होता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वे शुद्ध भक्तों की शरण में नहीं जा पाते; अत: वे लगातार कष्ट भोगते रहते हैं। फिर भी यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक प्राणी ''हरे कृष्ण महामंत्र'' का जप करके इस पथ का अनुसरण करे। कृष्णभावनामृत के उपदेशक द्वार-द्वार जाकर लोगों को यह बताते हैं कि भौतिक जीवन के कष्टों

से किस प्रकार छुटकारा पाया जा सकता है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—श्रीकृष्ण तथा गुरु महाराज की कृपा से ही भक्ति का बीज प्राप्त हो सकता है। तनिक भी बुद्धिमान होने पर कृष्णभावनामृत का अनुशीलन किया जा सकता है और इस प्रकार भौतिक जीवन के दुखों से छुटकारा पाया जा सकता है।

यदपि दिगिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः. ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत् अपि—यद्यपि; दिक्-इभ-जयिनः—जो सभी दिशाओं में विजयी होते हैं, चक्रवर्ती, दिग्विजयी; यज्विनः—बड़े-बड़े यज्ञों के करने में पटु; ये—जो सभी; वै—निस्सन्देह; राज-ऋषयः—अत्यन्त महान् सन्त राजा, राजर्षि; किम् तु—किन्तु; परम्—केवल यह पृथ्वी; मृधे—युद्ध में; शयीरन्—लेटे हुए; अस्याम्—इस (पृथ्वी) पर; एव—निश्चय ही; मम—मेरा; इयम्—यह; इति—उस प्रकार से विचार करने पर; कृत—जिस पर सृष्टि की जाती है; वैर-अनु-बन्धायाम्—अन्यों से शत्रुता का भाव; विसृज्य—त्याग कर; स्वयम्—अपना जीवन; उपसंहृताः—मारे हुए।

साधु प्रकृति वाले ऐसे अनेक महान् राजर्षि हो चुके हैं, जो यज्ञ अनुष्ठान में अत्यन्त प्रवीण तथा अन्य राज्यों को जीतने में परम कुशल थे, किन्तु इतनी शक्ति होने पर भी भगवान् की प्रेमाभक्ति नहीं कर पाये, क्योंकि वे महान् राजा, ''मैं देह-स्वरूप हूँ और यह मेरी सम्पत्ति है'' इस मिथ्या बोध को भी नहीं जीत पाये थे। इस प्रकार उन्होंने प्रतिद्वन्द्वी राजाओं से केवल शत्रुता मोल ली, उनसे युद्ध किया और वे जीवन के वास्तविक लक्ष्य को पूरा किये बिना दिवंगत हो गए।

तात्पर्य : बद्धजीव का वास्तविक जीवन-उद्देश्य भगवान् के साथ विस्मृत सम्बन्ध की पुनर्स्थापना तथा भक्ति में संलग्न होना है, जिससे वह देहत्याग के पश्चात् कृष्णभावनामृत को पुनरुज्जीवित करने में समर्थ हो सके। मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्य किसी रूप में अपनी वृत्ति छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। किसी भी स्थिति में अपना नियत कर्तव्य करते हुए मात्र श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि-स्वरूप भक्तों के सत्संग से ही कृष्णभावनामृत का विकास सम्भव है, क्योंकि वे ही इस विज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं। दुख की बात है कि बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ एवं नेता इस भौतिक जगत में केवल शत्रुता उत्पन्न करते हैं और उनकी रुचि आध्यात्मिक उन्नति की ओर नहीं होती है। सामान्य व्यक्ति के लिए भौतिक उन्नति अत्यन्त मोहक होती है, किन्तु अन्ततः उसे परास्त होना पड़ता है, क्योंकि वह

स्वयं को भौतिक देह और इससे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु को अपनी सम्पत्ति मान बैठता है। यही अविद्या है। वास्तव में उसका अपना कुछ भी नहीं होता, यहाँ तक कि यह देह भी नहीं। अपने कर्म के फलस्वरूप मनुष्य को कोई विशेष देह प्राप्त होती है। यदि वह इस देह का उपयोग भगवान् को प्रसन्न करने में नहीं करता तो उसके सारे कार्य निष्फल हो जाते हैं। जीवन के वास्तविक उद्देश्य का उल्लेख *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में हुआ है—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

वस्तुतः इसका कोई महत्त्व नहीं है कि मनुष्य कौन-सा कार्य करता है। यदि वह श्रीभगवान् को केवल सन्तुष्ट कर सकता है, तो उसका जीवन सफल है।

कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि. ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कर्म-वल्लीम्—सकाम कर्मों की लता को; अवलम्ब्य—सहारा बनाकर; ततः—उससे; आपदः—घातक या क्लेशपूर्ण स्थिति; कथञ्चित्—किसी न किसी प्रकार से; नरकात्—जीवन की नारकीय दशा से; विमुक्तः—मुक्त होकर; पुनः अपि—फिर से; एवम्—इस प्रकार; संसार-अध्वनि—भौतिक जगत के मार्ग पर; वर्तमानः—वर्तमान, समुपस्थित; नर-लोक-स-अर्थम्—स्वार्थमय कर्मों का क्षेत्र; उपयाति—प्रवेश करता है; एवम्—इस प्रकार; उपरि—ऊपर (उच्चलोकों में); गतः अपि—(ऊपर) उठाये जाने पर भी।

सकाम कर्म रूपी लता की शरण स्वीकार कर लेने पर बद्धजीव अपने पवित्र कार्यों के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो सकता है और इस तरह नारकीय स्थिति से तो उसे मुक्ति मिल सकती है, किन्तु वह दुर्भाग्यवश वहाँ रह नहीं पाता। अपने पवित्र कार्यों का फल भोगने के बाद उसे निम्न लोकों में लौटना पड़ता है। इस प्रकार वह निरन्तर ऊपर और नीचे आता-जाता रहता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्री चैतन्य महाप्रभु का कथन है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

(*चैतन्यचरितामृत मध्य* १९.१५१)

सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त लाखों वर्षों तक भ्रमण करते रहने पर भी किसी को भौतिक जगत के पथ से तब तक छुटकारा नहीं मिल पाता जब तक उसे किसी विशुद्ध भक्त के चरणारविन्द में शरण नहीं प्राप्त हो जाती। जिस प्रकार एक वानर वट वृक्ष की एक शाखा का आश्रय पाकर आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार यह बद्धजीव अपने जीवन के असली ध्येय को जाने बिना सकाम कर्म रूपी *कर्मकाण्ड* का आश्रय लेता है। कभी-कभी वह इन कार्यों के द्वारा स्वर्ग तक पहुँच जाता है, तो कभी वह फिर से पृथ्वी पर नीचे आ जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसका वर्णन *ब्रह्माण्ड भ्रमिते* कह कर किया है। किन्तु यदि श्रीकृष्ण की कृपा से कोई भाग्यवान जीव गुरु की शरण प्राप्त करता है, तो उसे श्रीभगवान् की भक्ति करने की विधि का पता चल जाता है। इस प्रकार वह इस भौतिक जगत के सतत संघर्ष से छूटने की युक्ति जान लेता है। इसलिए वेदों का यह आदेश है कि मनुष्य को गुरु महाराज की शरण में जाना चाहिए। वेदों की घोषणा है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्* (*मुंडकोपनिषद्* १.२.१२)। इसी प्रकार *भगवद्गीता* (४.३४) में श्रीभगवान् का उपदेश है—

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

''सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम्, विनम्र जिज्ञासा और निष्कपट भाव से उनकी सेवा करके उस तत्त्व को जान। वे तत्त्व को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तेरे लिए ज्ञान का उपदेश करेंगे।''

श्रीमद्भागवत (११.३.२१) में इसी प्रकार का उपदेश है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

''सच्चा सुख प्राप्त करने के आकांक्षी व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु की खोज करे और दीक्षा के द्वारा उसकी शरण प्राप्त करे। उसके गुरु में यह विशिष्टता होनी चाहिए कि उसने धर्मग्रन्थों के सार को सावधानीपूर्वक अनुभव कर लिया हो और वह अन्य लोगों को भी इसकी प्रतीति करा सके। ऐसे महान् पुरुष, जिन्होंने समस्त भौतिक विचारों को त्याग कर श्रीभगवान् की शरण प्राप्त कर ली है, प्रामाणिक गुरु माने जाने चाहिए।'' इसी प्रकार महान् वैष्णव श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का उपदेश

है—*यस्य प्रसादाद् भगवत् प्रसादः*—"गुरु की कृपा से श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त होती है।" श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी यही उपदेश दिया है (*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता बीज*)। यह आवश्यक है। मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्णभावनामृत तक आये और शुद्ध भक्त की शरण में जाये। इस प्रकार से भवबन्धन से छुटकारा पाया जा सकता है।

तस्येदमुपगायन्ति—
आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः ।
नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—जड़भरत का; इदम्—यह यश-गान; उपगायन्ति—गाते हैं; आर्षभस्य—ऋषभदेव के पुत्र का; इह—यहाँ; राज-ऋषेः—महान् ऋषितुल्य राजा का; मनसा अपि—मन से भी; महा-आत्मनः—महात्मा जड़भरत का; न—नहीं; अनुवर्त्म अर्हति—पथ का अनुसरण करने में समर्थ; नृपः—राजा; मक्षिका—मक्खी; इव—सदृश; गरुत्मतः—श्रीभगवान् के वाहन, गरुड़ का।

जड़भरत के उपदेशों का सार सुना चुकने के पश्चात् श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—प्रिय राजा परीक्षित्, जड़भरत द्वारा निर्दिष्ट पथ श्रीभगवान् के वाहन गरुड़ द्वारा अनुगमन किये गये पथ के तुल्य है और सामान्य राजागण मक्खियों के समान हैं। मक्खियाँ गरुड़ के पथ पर नहीं जा सकतीं। आज तक बड़े-बड़े राजाओं तथा विजयी नेताओं में से किसी ने भी भक्ति-पथ का अनुसरण नहीं किया मानसिक रूप से भी नहीं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.३) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

"सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक संसिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और उन सिद्धि प्राप्त करने वालों में से कोई विरला मनुष्य ही मुझे तत्त्वतः जान पाता है।" भक्ति का मार्ग अनेक शत्रुओं पर विजय पाने वाले राजाओं के लिए भी अत्यन्त कठिन है। भले ही ये राजा युद्धभूमि में विजयी रहे हों, किन्तु वे देहात्मबुद्धि पर विजय प्राप्त नहीं कर सके। ऐसे अनेक नेता, स्वामी, योगी तथा नामधारी अवतारी पुरुष हैं, जो बौद्धिक चिन्तन में लगे रहते हैं और अपने को पूर्ण पुरुष के रूप में विज्ञापित करते रहते हैं, किन्तु अन्ततः वे सफल नहीं होते। निस्सन्देह, भक्ति मार्ग का अनुगमन अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि कोई महाजनों के पथ का अनुसरण करना चाहता है, तो वह अत्यन्त सरल हो जाता है।

इस युग में श्री चैतन्य महाप्रभु का पथ उपलब्ध है, जिनका आविर्भाव पतित आत्माओं के उद्धार के लिए हुआ। यह पथ इतना सरल एवं सुगम है कि कोई भी श्रीभगवान् का नाम-जप करके इसे ग्रहण कर सकता है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

हमें सन्तोष है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा इस पथ का उद्घाटन किया जा रहा है, क्योंकि अनेक योरोपीय तथा अमरीकी युवा तथा युवतियाँ इस दर्शन को गम्भीरता से ग्रहण करके क्रमशः पूर्णता प्राप्त कर रहे हैं।

यो दुस्त्यजान्दारसुतान्सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यः—वही जड़भरत जो पहले महाराज ऋषभदेव के पुत्र महाराज भरत थे; दुस्त्यजान्—त्याग पाना अत्यन्त कठिन होता है; दार-सुतान्—पत्नी तथा सन्तान अथवा अत्यन्त वैभवपूर्ण गृहस्थ जीवन को; सुहृत्—मित्र तथा शुभ चिन्तक; राज्यम्—विश्वव्यापी साम्राज्य; हृदि-स्पृशः—अन्तरतम में स्थित; जहौ—परित्याग कर दिया; युवा एव—तरुण होते हुए; मल-वत्—विष्ठा के सदृश; उत्तम-श्लोक-लालसः—उत्तमश्लोक श्रीभगवान् की सेवा करने के लिए लालायित।

महाराज भरत ने अपनी युवावस्था में ही सब कुछ परित्याग कर दिया, क्योंकि वे उत्तमश्लोक श्रीभगवान् की सेवा करना चाहते थे। उन्होंने अपनी सुन्दर पत्नी, उत्तम सन्तान, प्रिय मित्र तथा अपने विशाल साम्राज्य का परित्याग कर दिया। यद्यपि इन वस्तुओं का त्याग कर पाना अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु जड़भरत इतने उच्चस्थ थे कि उन्होंने इनको उस तरह से त्याग दिया जैसे मल त्याग के पश्चात् विष्ठा को त्याग दिया जाता है।

तात्पर्य : ईश्वर का नाम कृष्ण है, क्योंकि वे इतने आकर्षक हैं कि उनके लिए शुद्ध भक्त इस भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर सकता है। महाराज भरत एक आदर्श राजा, उपदेशक तथा चक्रवर्ती सम्राट थे। उनके पास समस्त सांसारिक वैभव था, किन्तु कृष्ण इतने आकर्षक हैं कि उन्होंने महाराज भरत से उनका भौतिक ऐश्वर्य त्याग करवा कर अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। तो भी न जाने किस प्रकार जड़भरत एक मृग के प्रति वत्सल हो उठे और अगले जन्म में उन्हें पदच्युत होकर मृग देह धारण करना पड़ा। किन्तु उन पर श्रीकृष्ण की महती कृपा थी, जिसके कारण वे अपने पद को

विस्मृत नहीं कर पाये और यह समझते रहे कि किस कारण उनका पतन हुआ है। फलतः अगले जन्म में अपनी शक्ति का अपव्यय न करने के लिए महाराज भरत जड़भरत अपने को एक बहरे तथा गूँगे व्यक्ति के रूप में दिखाते रहे। इस प्रकार से वे अपने मनको अपनी भक्ति में केन्द्रित कर सके। हमें महान् राजा भरत से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि कृष्णभावनामृत अनुशीलन करने में किस प्रकार सतर्क रहा जाये। इस समय थोड़ी सी लापरवाही करने से हमारी भक्ति में बाधा पड़ सकती है। किन्तु भगवान् को समर्पित सेवा नष्ट नहीं होती—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्* (*गीता* २.४०)। श्रद्धापूर्वक समर्पित किंचित भक्ति शाश्वत धन है। *श्रीमद्भागवत* (१..१७) में उल्लेख है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-

र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

यदि किसी तरह कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट हो जाता है, तो भक्ति में वह जो कुछ भी करता है, वह शाश्वत सम्पत्ति होती है। यदि अपरिपक्वता अथवा कुःसंग के कारण वह पतित होता भी है, तो उसकी भक्ति-सम्पदा नष्ट नहीं होती। इसके अनेक उदाहरण हैं, यथा अजामिल, महाराज भरत तथा अनेक अन्य। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रत्येक व्यक्ति को भक्ति में तत्पर होने का अवसर प्रदान करता है, भले ही वह अल्प समय के लिए क्यों न हो। इस प्रकार थोड़ी सी सेवा से आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, जिससे जीवन को सफल बनाया जा सकता है।

इस श्लोक में श्रीभगवान् को उत्तमश्लोक कहा गया है। *उत्तम* का अर्थ है "सर्वश्रेष्ठ" तथा *श्लोक* का अर्थ है "यश, ख्याति।" श्रीकृष्ण छः प्रकार के ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, जिनमें यश भी एक है। *ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।* श्रीकृष्ण के यश का अब भी विस्तार हो रहा है। हम इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाकर श्रीकृष्ण की कीर्ति को फैला रहे हैं। कुरुक्षेत्र युद्ध के पाँच सहस्र वर्ष बाद भी श्रीकृष्ण का यश विश्वभर में फैल रहा है। विश्व के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ने कृष्णभावनामृत आन्दोलन के कारण इस समय तक श्रीकृष्ण का नाम अवश्य सुना होगा। ऐसे व्यक्ति जो हमें पसंद नहीं करते और इस आन्दोलन को दबा देना चाहते हैं, वे भी किसी न किसी रूप में

"हरे कृष्ण" का जप कर रहे हैं। उनका कहना कि हरे कृष्ण अनुयायियों को प्रताड़ित करना चाहिए। ऐसे मूर्ख इस आन्दोलन के वास्तविक महत्त्व को नहीं पहचानते। इसकी आलोचना करने की इच्छा मात्र से उन्हें हरे कृष्ण उच्चारण करने का अवसर प्राप्त होता है और यही इस आन्दोलन की विजय है।

यो दुस्त्यजान्क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यः—जो; दुस्त्यजान्—जिनका परित्याग कर पाना अत्यन्त कठिन है, दुस्त्यज; क्षिति—पृथ्वी; सुत—सन्तति, पुत्रादि; स्व-जन-अर्थ-दारान्—कुटुम्बी, धन तथा सुन्दर पत्नी को; प्रार्थ्याम्—लालायित; श्रियम्—लक्ष्मी को; सुर-वरैः—श्रेष्ठ देवताओं द्वारा; स-दय-अवलोकाम्—जिसकी दयादृष्टि; न—नहीं; ऐच्छत्—इच्छा की; नृपः—राजा ने; तत्-उचितम्—यह उनके लिए उचित है (था); महताम्—महात्माओं या महानुभावों का; मधु-द्विट्—मधु नामक असुर को मारने वाले, श्रीकृष्ण, मधुसूदन; सेवा-अनुरक्त—सेवा में अनुरक्त; मनसाम्—जिन मनस्वियों का; अभवः अपि—मोक्ष पद भी; फल्गुः—तुच्छ।

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे कहते हैं—हे राजन्, भरत महाराज के कार्य आश्चर्यजनक हैं। उन्होंने अपनी प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर दिया जो अन्यों के लिए दुष्कर है। उन्होंने अपना साम्राज्य, पत्नी तथा परिवार त्याग दिया। उनका वैभव इतना प्रभूत था कि देवताओं को भी ईर्ष्या होती थी, किन्तु उसका भी उन्होंने परित्याग कर दिया। उनके समान महान् पुरुष के लिए महान् भक्त होना सर्वथा उपयुक्त था। वे प्रत्येक वस्तु का इसलिए परित्याग कर सके, क्योंकि वे भगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, ऐश्वर्य, यश, ज्ञान, शक्ति तथा त्याग के प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। कृष्ण इतने आकर्षक हैं कि उनके लिए समस्त इष्ट वस्तुओं का परित्याग किया जा सकता है। जिनके चित्त भगवान् की सेवा के प्रति आकृष्ट हैं, वे मुक्ति को भी तुच्छ मानते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से श्रीकृष्ण की सर्व-आकर्षकता की पुष्टि होती है। महाराज भरत श्रीकृष्ण के प्रति इतने आकर्षित थे कि उन्होंने अपना समस्त सांसारिक वैभव त्याग दिया, जबकि सामान्य भौतिकतावादी (संसारी) मनुष्य ऐसे वैभव के द्वारा आकर्षित होते हैं।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्

जनस्य मोहोऽयमहं ममेति।

(*भागवत ..८*)

"हर प्राणी अपनी देह, घर, सम्पत्ति, सन्तान, सम्बन्धीजन तथा ऐश्वर्य के प्रति अनुरक्त होता है। इस प्रकार जीवन के प्रति मोह बढ़ता जाता है और वह "यह मैं हूँ और यह मेरा है" के रूप में सोचता है।" भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण मोहजनित है। भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षित होने में कोई लाभ नहीं, क्योंकि इनसे बद्धजीव इधर-उधर भटकता है। उसी का जीवन सफल है जो श्रीकृष्ण की शक्ति, सुन्दरता एवं लीलाओं से आकर्षित होकर उन्हीं में मग्न हो जाता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में उल्लेख है। मायावादी श्रीभगवान् के साथ तदाकार होना चाहते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तदाकार होने की इच्छा से कहीं अधिक आकर्षक हैं। *अभव:* शब्द का अर्थ है इस भौतिक जगत में पुन: जन्म न लेना। भक्त को इसकी परवाह नहीं रहती कि उसका पुनर्जन्म होगा या नहीं। वह प्रत्येक दशा में श्रीभगवान् की सेवा मात्र से सन्तुष्ट रहता है। यही वास्तविक मुक्ति है।

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

"जो मनसा वाचा कर्मणा श्रीकृष्ण की सेवा करता है, वह इस भौतिक संसार में रह कर भी जीवन्मुक्त है।" (*भक्तिरसामृतसिन्धु* १.२.१८७)। जो व्यक्ति श्रीकृष्ण की निरन्तर सेवा का इच्छुक है, वह अन्य व्यक्तियों को यह विश्वास दिलाने में रुचि रखता है कि भगवान् हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। यही उसकी अभिलाषा है। उसे इसकी परवाह नहीं कि वह स्वर्ग में है या नर्क में। यही *उत्तमश्लोक लालसा* कहलाती है।

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय साङ्ख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं
हास्यन्मृगत्वमपि य: समुदाजहार ॥ ४॥

शब्दार्थ

यज्ञाय—समस्त यज्ञों का फल भोगने वाले श्रीभगवान् को; धर्म-पतये—धार्मिक विधानों के स्वामी को; विधि-नैपुणाय—उसे जो निपुणता से विधि-विधान पालन करने के लिए भक्तों को ज्ञान प्रदान करता है; योगाय—साक्षात् योग को; साङ्ख्य-शिरसे—सांख्य दर्शन का उपदेश देने वाले; प्रकृति-ईश्वराय—ब्रह्माण्डके परम नियन्ता को; नारायणाय—असंख्य जीवात्माओं के आश्रय (नर, जीवात्माएँ तथा अयन, आश्रय, शरण) को; हरये—हरि स्वरूप श्रीभगवान् को; नम:—सादर नमस्कार; इति—इस प्रकार; उदारम्—उच्च स्वर से; हास्यन्—हँसते हुए; मृगत्वम् अपि—मृग की देह धारण किये रहने पर भी; य:—जो; समुदाजहार—जप करता रहा।

मृग देह धारण करने पर भी महाराज भरत ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को विस्मृत नहीं

किया; अतः जब वे मृग देह छोड़ने लगे तो उच्च स्वर से इस प्रकार प्रार्थना की, ''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् साक्षात् यज्ञ पुरुष हैं। वे अनुष्ठानों का फल देने वाले हैं। वे धर्म रक्षक, योगस्वरूप, सर्वज्ञानस्त्रोत (सांख्य के प्रतिपाद्य), सम्पूर्ण सृष्टि के नियामक तथा प्रत्येक जीवात्मा में स्थित परमात्मा हैं। वे सुन्दर तथा आकर्षक हैं। मैं उनको नमस्कार करके यह देह त्याग रहा हूँ और आशा करता हूँ कि उनकी दिव्य सेवा में अहर्निश संलग्न रहूँगा।'' यह कह कर महाराज भरत ने अपना शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : सारे वेद कर्म, ज्ञान तथा योग को—सकाम कर्म, मनोधर्मी ज्ञान तथा योग भली- भाँति समझने के लिए हैं। हम आत्मानुभूति के चाहे जिस स्वरूप को स्वीकार करें हमारा परम लक्ष्य तो श्रीभगवान् रहते हैं, जो नारायण हैं। सभी जीवात्माएँ भक्ति के द्वारा उनसे नित्य जुड़ी हुई हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*अन्ते नारायणस्मृतिः*—मृत्यु के समय नारायण का स्मरण ही जीवन की सिद्धि है। यद्यपि महाराज भरत को मृग-देह स्वीकार करनी पड़ी, किन्तु वे मृत्यु के समय नारायण का स्मरण कर सके। फलस्वरूप उनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में पूर्ण भक्त के रूप में हुआ। इससे *भगवद्गीता* (६.४१) के इस कथन—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*—''जो आत्म-साक्षात्कार के पथ से नीचे आ जाता है, वह ब्राह्मणों अथवा सदाचारी धनवानों के घर में जन्म लेता है'' की पुष्टि होती है। यद्यपि महाराज भरत का जन्म राज-कुल में हुआ था, किन्तु असावधान रहने के कारण उन्हें मृग-रूप में जन्म लेना पड़ा। किन्तु मृग देह धारण करने पर वे अत्यन्त सचेष्ट रहे जिससे उनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में जड़भरत के रूप में हुआ। इस जन्म में वे आजीवन कृष्णभक्त रहे और प्रत्यक्ष रूप से श्रीकृष्ण भक्ति के सन्देश का पहला उपदेश महाराज रहूगण से प्रारम्भ किया। इस प्रसंग में *योगाय* शब्द अत्यन्त सार्थक है। जैसाकि श्रील मध्वाचार्य ने बताया है, *अष्टांग योग* का प्रयोजन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने को जोड़ना है। इसका लक्ष्य भौतिक सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं है।

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यापवर्ग्यं वानुशृणोत्याख्यास्यत्यभिनन्दति च सर्वा एवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति. ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; इदम्—इस; भागवत—सामान्य भक्तों के द्वारा; सभाजित—अत्यधिक पूजित; अवदात—शुद्ध; गुण—जिसके गुण; कर्मणः—तथा कर्म; राज-ऋषेः—राजर्षि; भरतस्य—भरत महाराज का; अनुचरितम्—चरित्र, कथा को; स्वस्ति-अयनम्—कल्याण का धाम; आयुष्यम्—जीवन-अवधि (आयु) को बढ़ाने वाला; धन्यम्—धन को बढ़ाने वाला; यशस्यम्—यश प्रदान करने वाला; स्वर्ग्य—स्वर्ग लोक की प्राप्ति कराने वाला (जो कर्मियों का लक्ष्य है); अपवर्ग्यम्—इस भौतिक जगत से मुक्ति प्रदान करके ईश्वर में तदाकार होने में सहायक (जो ज्ञानियों का लक्ष्य है); वा—अथवा; अनुशृणोति—भक्तिमार्ग का अनुसरण करते हुए सदैव सुनता है; आख्यास्यति—परोपकारार्थ वर्णन करता है; अभिनन्दति—भक्तों तथा भगवान् के गुणों का गान करता है; च—तथा; सर्वाः—समस्त; एव—निश्चय ही; आशिषः—आशीर्वाद; आत्मनः—स्वयं के लिए; आशास्ते—प्राप्त करता है; न—नहीं; काञ्चन—कुछ भी; परतः—अन्य किसी से; इति—इस प्रकार।

श्रवण तथा कीर्तन के अनुरागी भक्त नियमित रूप से भरत महाराज के गुणों की विवेचना तथा उनके कर्मों की प्रशंसा करते हैं। यदि कोई विनीत भाव से सर्व कल्याणमय महाराज भरत के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करता है, तो उसकी आयु तथा सांसारिक वैभव में वृद्धि होती है। वह अत्यन्त प्रसिद्ध हो सकता है और सरलता से स्वर्ग अथवा श्रीभगवान् में एकाकार होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। महाराज भरत के कर्मों के श्रवण, कीर्तन तथा स्तवन मात्र से मनोवांछित फल मिलता है। इस प्रकार मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति होती है। इन वस्तुओं के लिए और किसी से माँगने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि महाराज भरत के जीवन के अध्ययन मात्र से सभी वांछित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं।

तात्पर्य : इस चौदहवें अध्याय में ''भवाटवी'' का सारांश दिया गया है। भवाटवी शब्द का अर्थ है भौतिक जगत का पथ। वणिक् वह प्राणी है जो इन्द्रियतृप्ति के लिए धन-उपार्जन के प्रयत्न में भौतिक जगत रूपी जंगल में आता है। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा तथा मन ये छह इन्द्रियाँ छह लुटेरे हैं। अपवर्तित ज्ञान अधम नेता है। ज्ञान तो कृष्णभक्ति के निमित्त है, किन्तु भौतिक जगत के कारण हम अपना सारा ज्ञान भौतिक सुविधाएँ जुटाने में लगा देते हैं। प्रत्येक वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की है, किन्तु मन तथा इन्द्रियों के भ्रष्ट हो जाने से हम श्रीभगवान् की सम्पत्ति को लूट-लूट कर अपनी इन्द्रियों को तृप्त करते रहते हैं। जँगल के शृगाल तथा बाघ हमारे कुटुम्बीजन हैं और झाड़ियाँ तथा लताएँ हमारी भौतिक वासनाएँ हैं। गिरिगह्वर हमारा सुखमय आवास और सर्प तथा मच्छर हमारे शत्रु हैं। चूहे, जंगली पशु तथा गृद्ध विभिन्न प्रकार के चोर हैं, जो हमारे धन का अपहरण करते रहते हैं। हमारी देह तथा घर का मायाजाल ''गन्धर्वपुर'' है। स्वर्ण तथा उसकी चमक मायाजाल है। भौतिक आवास तथा सम्पत्ति हमारे भौतिक सुख के घटक हैं। स्त्री के लिए (प्रमद) आकर्षण ही बवण्डर और विषय-सुख ही अंधड़ है। देवता विभिन्न दिशाओं के नियामक हैं तथा हमारी अनुपस्थिति में शत्रु द्वारा उच्चरित कर्कश

शब्द ही मानों झींगुर हैं। हमारे मुँह पर बुराई करने वाला व्यक्ति उलूक है तथा अशुभ वृक्ष अशुभ लोग हैं। जलहीन नदी उन नास्तिकों की प्रतिनिधि है जो हमें इस लोक तथा परलोक में कष्ट देते हैं। मांसाहारी असुर राज्यकर्मचारी हैं और चुभने वाले काँटे भौतिक जीवन के बाधातुल्य हैं। व्यभिचार का अनुभूत स्वाद परस्त्री सम्भोग की लालसा है। मक्खियाँ स्त्रियों के संरक्षक हैं, जैसे पति, श्वसुर, सास इत्यादि। लता सामान्यत: प्रमदास्वरूप है। सिंह कालचक्र हैं। बगुले, कौवे तथा गिद्ध नामधारी देवता, छद्म स्वामी, योगी तथा अवतारी हैं। ये किसी को राहत दिलाने में असमर्थ हैं। हंस विशुद्ध ब्राह्मण हैं एवं वानर उन असंयत शूद्रों के तुल्य हैं, जो खाने, सोने, मैथुन तथा आत्मरक्षा में व्यस्त रहते हैं। हमारे घर वानरों के रहने वाले वृक्षों के तुल्य हैं तथा हाथी परम मृत्यु है। इस प्रकार इस अध्याय में भौतिक जगत के सभी घटकों का वर्णन मिलता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भवाटवी का वर्णन'' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

राजा प्रियव्रत के वंशजों का यश–वर्णन

इस अध्याय में भरत महाराज तथा अन्य अनेक राजाओं के पूर्वजों का वर्णन किया गया है। महाराज भरत के पुत्र का नाम सुमति था। उसने ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित मुक्ति–पथ का अनुसरण किया। कुछ लोग गलती से सुमति को भगवान् बुद्ध का साक्षात् अवतार मानते थे। सुमति का पुत्र देवताजित् था और उसका पुत्र देवद्युम्न था जिसका पुत्र परमेष्ठी था और उसका पुत्र प्रतीह था। प्रतीह भगवान् विष्णु का परम भक्त था जिसके तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे—प्रतिहर्ता, प्रस्तोता तथा उद्गाता। प्रतिहर्ता के अज तथा भूमा दो पुत्र हुए। भूमा का पुत्र उद्गीथ तथा उद्गीथ का पुत्र प्रस्ताव था। प्रस्ताव का पुत्र विभु था और विभु का पुत्र पृथुषेण था जिसका पुत्र नक्त था। नक्त की पत्नी द्रुति से गय का जन्म हुआ जो अत्यन्त विख्यात एवं महात्मा राजा था। वास्तव में राजा गय गवान् विष्णु के अंश–अवतार थे और विष्णु के प्रति अपनी अगाध भक्ति के कारण उन्हें महापुरुष की उपाधि दी गई थी।

राजा गय के चित्ररथ, सुमति तथा अवरोधन नामक तीन पुत्र थे। चित्ररथ का पुत्र सम्राट नामक महान् राजा हुआ। उसका पुत्र मरीचि था जिसका पुत्र बिन्दु हुआ। बिन्दु का पुत्र मधु और मधु का पुत्र वीरव्रत था। वीरव्रत के दो पुत्र हुए—मंथु तथा प्रमंथु। मंथु का पुत्र भौवन था, भौवन का पुत्र त्वष्टा और त्वष्टा का पुत्र विरज था, जिसने पूरे वंश को उजागर किया। विरज के एक सौ पुत्र तथा एक पुत्री थी। पुत्रों में से शतजीत नाम का पुत्र अत्यन्त विख्यात हुआ।

श्रीशुक उवाच

भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमु ह वाव केचित्पाखण्डिन ऋषभपदवीमनुवर्तमानं चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयस्या कलौ कल्पयिष्यन्ति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा; भरतस्य—भरत महाराज का; आत्म-जः—पुत्र; सुमतिः नाम-अभिहितः—जिसका नाम सुमति था; यम्—जिसको; उ ह वाव—निस्सन्देह; केचित्—कोई; पाखण्डिनः—वैदिक ज्ञान-विहीन, पाखंडी जन; ऋषभ-पदवीम्—राजा ऋषभदेव के मार्ग का; अनुवर्तमानम्—अनुसरण करते हुए; च—तथा; अनार्याः—वैदिक नियमों का कठोरता से पालन न करने वाले अनार्य; अवेद-समाम्नाताम्—जिनका वेदों में उल्लेख नहीं है; देवताम्—भगवान्बुद्ध या बौद्ध विग्रह के समान; स्व-मनीषया—अपनी बौद्धिक कल्पना से; पापीयस्या—अत्यन्त पापमय; कलौ—इस कलियुग में; कल्पयिष्यन्ति—कल्पना करेंगे।.

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—महाराज भरत के पुत्र सुमति ने ऋषभदेव के मार्ग का अनुसरण किया, किन्तु कुछ पाखंडी लोग उन्हें साक्षात् भगवान् बुद्ध मानने लगे। वस्तुतः इन पाखंडी नास्तिक और दुश्चरित्र लोगों ने वैदिक नियमों का पालन काल्पनिक तथा अप्रसिद्ध ढंग से अपने कर्मों की पुष्टि के लिए किया। इस प्रकार इन पापात्माओं ने सुमति को भगवान् बुद्धदेव के रूप में स्वीकार किया और इस मत का प्रवर्तन किया कि प्रत्येक व्यक्ति को सुमति के नियमों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार अपनी कोरी कल्पना के कारण वे रास्ते से भटक गये।

तात्पर्य : जो आर्य हैं, वे वैदिक नियमों का कठोरता से पालन करते हैं, किन्तु इस कलियुग में *आर्य समाज* नामक एक संस्था का जन्म हुआ है जो परम्परा से चले आ रहे वेदों के मंतव्य से अनजान है। इसके नेता प्रामाणिक आचार्यों की निन्दा करके अपने आपको वैदिक नियमों का असली पालक मानते हैं। वैदिक नियमों का पालन न करने वाले ऐसे आचार्य इस समय आर्य-समाज या ''जैन'' कहलाते हैं। वे न केवल वैदिक नियमों का पालन ही नहीं करते, प्रत्युत भगवान् बुद्ध से भी उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। सुमति के आचरण का अनुकरण करने के कारण वे अपने को ऋषभदेव की

संततियाँ घोषित करते हैं। वैष्णवजन इनकी संगति से दूर रहते हैं, क्योंकि ये वेद-पथ से अनजान होते हैं। *भगवद्गीता* (१.१) में श्रीकृष्ण का वचन है— *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य*—''वेदों का वास्तविक प्रयोजन मुझे जान लेना है।'' सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों का यही आदेश है। जो भगवान् श्रीकृष्ण की महानता से परिचित नहीं है उसे आर्य नहीं माना जा सकता। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार भगवान् बुद्ध ने *भागवत धर्म* के दर्शन के प्रचार की विशिष्ट विधि अपनाई थी। वे प्राय: नितान्त पाखंडियों (नास्तिकों) को उपदेश देते थे। नास्तिकों को किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं, अत: भगवान् बुद्ध का कथन था कि ईश्वर नहीं है। उन्होंने अपने अनुयायियों के लाभ के लिए उपदेश देने की यह विधि अपनाई। उन्होंने छद्म रूप में उपदेश दिया कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। ऐसा होते हुए भी वे स्वयं ईश्वर के अवतार थे।

तस्माद्वृद्धसेनायां देवताजिन्नाम पुत्रोऽभवत् ॥ २॥

शब्दार्थ

तस्मात्—सुमति से; वृद्ध-सेनायाम्—उसकी पत्नी वृद्धसेना के गर्भ से; देवताजित्-नाम—देवताजित् नामक; पुत्र:—पुत्र; अभवत्—उत्पन्न हुआ।

सुमति की पत्नी वृद्धसेना के गर्भ से देवताजित् नामक पुत्र का जन्म हुआ।

अथासुर्यां तत्तनयो देवद्युम्नस्ततो धेनुमत्यां सुतः परमेष्ठी तस्य सुवर्चलायां प्रतीह उपजातः. ॥ ३॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आसुर्याम्—उसकी पत्नी आसुरी के गर्भ से; तत्-तनय:—देवताजित् का एक पुत्र; देव-द्युम्न:—देवद्युम्न नाम का; तत:—देवद्युम्न से; धेनु-मत्याम्—देवद्युम्न की पत्नी धेनुमती के गर्भ से; सुत:—एक पुत्र; परमेष्ठी—परमेष्ठी नामक; तस्य—परमेष्ठी की; सुवर्चलायाम्—पत्नी सुवर्चला के गर्भ से; प्रतीह:—प्रतीह नाम का पुत्र; उपजात:—उत्पन्न हुआ।

तत्पश्चात् देवताजित् की पत्नी आसुरी के गर्भ से देवद्युम्न नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। देवद्युम्न की पत्नी धेनुमती के गर्भ से परमेष्ठी नामक पुत्र का और परमेष्ठी की पत्नी सुवर्चला के गर्भ से प्रतीह नाम के पुत्र का जन्म हुआ।

य आत्मविद्यामाख्याय स्वयं संशुद्धो महापुरुषमनुसस्मार. ॥ ४॥

शब्दार्थ

यः—जिसने (राजा प्रतीह ने); आत्म-विद्याम् आख्याय—आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में अनेक लोगों को शिक्षा देने के पश्चात्; स्वयम्—स्वतः; संशुद्धः—आत्म-साक्षात्कार में अतीव समुन्नत एवं परिशुद्ध; महा-पुरुषम्—भगवान् को; अनुसस्मार—भलीभाँति समझा और निरन्तर स्मरण किया।

राजा प्रतीह ने स्वयं आत्म-साक्षात्कार के सिद्धान्तों का प्रसार किया। इस प्रकार शुद्ध होकर वे परम पुरुष भगवान् विष्णु के महान् भक्त बन गये और प्रत्यक्षतः उनका साक्षात्कार किया।

तात्पर्य : *अनुसस्मार* शब्द अत्यन्त सार्थक है। भगवद्भावना न तो काल्पनिक है, न ही मनगढ़न्त। विशुद्ध एवं महान् भक्त भगवान् का यथानुरूप साक्षात्कार करता है। महाराज प्रतीह ने ऐसा ही किया। भगवान् विष्णु का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लेने के बाद उन्होंने आत्म-साक्षात्कार का प्रचार किया और वे स्वयं उपदेशक बन गये। सच्चा उपदेशक कभी छल्ली नहीं होता; पहले उसे भगवान् विष्णु का उसी रूप में साक्षात्कार करना होता है। जिस रूप में *भगवद्गीता* (४.३४) में पुष्टि की गई है—*उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः*—"जिसने सत्य को देखा है, वही ज्ञान प्रदान कर सकता है।" *तत्त्वदर्शी* शब्द से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जिसने सम्यक् रीति से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त किया हो। ऐसा पुरुष गुरु हो सकता है और सारे विश्व में वैष्णव दर्शन की स्थापना कर सकता है। राजा प्रतीह प्रामाणिक उपदेशकों एवं गुरु के आदर्श स्वरूप हैं।

प्रतीहात्सुवर्चलायां प्रतिहर्त्रादयस्त्रय आसन्निज्याकोविदाः सूनवः प्रतिहर्तुः स्तुत्यामजभूमानावजनिषाताम्. ॥ ॥

शब्दार्थ

प्रतीहात्—राजा प्रतीह से; सुवर्चलायाम्—उसकी पत्नी सुवर्चला के गर्भ से; प्रतिहर्तृ-आदयः त्रयः—प्रतिहर्ता, प्रस्तोता तथा उद्गाता नाम के तीन पुत्र; आसन्—उत्पन्न हुए; इज्या-कोविदाः—वेदों के अनुष्ठानों में अत्यन्त दक्ष; सूनवः—तीनों पुत्र; प्रतिहर्तुः—प्रतिहर्ता से; स्तुत्याम्—उसकी पत्नी स्तुती के गर्भ से; अज-भूमानौ—अज तथा भूमा नाम के दो पुत्र; अजनिषाताम्—आविर्भूत हुए।

प्रतीह की पत्नी सुवर्चला के गर्भ से प्रतिहर्ता, प्रस्तोता तथा उद्गाता नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये तीनों पुत्र वैदिक अनुष्ठानों में अत्यन्त दक्ष थे। प्रतिहर्ता की भार्या स्तुती के गर्भ से अज तथा भूमा नामक दो पुत्रों का जन्म हुआ।

भूम्न ऋषिकुल्यायामुद्गीथस्ततः प्रस्तावो देवकुल्यायां प्रस्तावान्नियुत्सायां हृदयज आसीद्विभुर्विभो रत्यां च पृथुषेणस्तस्मान्नक्त आकूत्यां जज्ञे नक्तादद्रुतिपुत्रो गयो राजर्षिप्रवर उदारश्रवा अजायत साक्षाद्भगवतो विष्णोर्जगद्रिरक्षिषया गृहीतसत्त्वस्य कलात्मवत्त्वादिलक्षणेन महापुरुषतां प्राप्तः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भूम्नः—राजा भूमा से; ऋषि-कुल्यायाम्—उसकी पत्नी ऋषिकुल्या के गर्भ से; उद्गीथः—उद्गीथ नामक पुत्र; ततः—फिर राजा उद्गीथ से; प्रस्तावः—प्रस्ताव नामक पुत्र; देव-कुल्यायाम्—उसकी पत्नी देवकुल्या से; प्रस्तावात्—राजा प्रस्ताव से; नियुत्सायाम्—नियुत्सा नाम वाली उसकी पत्नी से; हृदय-जः—पुत्र; आसीत्—उत्पन्न हुआ; विभुः—विभु नामक; विभोः—राजा विभु से; रत्याम्—उसकी पत्नी रती से; च—भी; पृथु-षेणः—पृथुषेण नाम का; तस्मात्—उससे (पृथुषेण से); नक्तः—नक्त नामक पुत्र; आकूत्याम्—उसकी पत्नी आकूती से; जज्ञे—जन्म लिया; नक्तात्—नक्त राजा से; द्रुति-पुत्रः—द्रुति का पुत्र; गयः—गय नामक राजा; राज-ऋषि-प्रवरः—राजर्षियों में अत्यन्त सम्मान्य; उदार-श्रवाः—अत्यन्त पवित्र राजा के रूप में विख्यात; अजायत—उत्पन्न हुआ; साक्षात् भगवतः—साक्षात् भगवान्; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; जगत्-रिरक्-षिषया—समस्त संसार की रक्षा के हेतु; गृहीत—गर्भ में वास किया; सत्त्वस्य—शुद्ध सत्त्व गुण का; कला-आत्म-वत्त्व-आदि—भगवान् के साक्षात् अवतार के रूप में; लक्षणेन—लक्षणों से; महा-पुरुषताम्—मानव समाज के नायक होने का मुख्य गुण (सम्पूर्ण जीवित प्राणियों के नायक भगवान् विष्णु के सदृश); प्राप्तः—प्राप्त किया।

राजा भूमा की पत्नी ऋषिकुल्या के गर्भ से उद्गीथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उद्गीथ की पत्नी देवकुल्या से प्रस्ताव नामक पुत्र ने जन्म लिया और प्रस्ताव को अपनी पत्नी नियुत्सा से विभु नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। विभु की पत्नी रती के गर्भ से पृथुषेण और पृथुषेण की पत्नी आकूती के गर्भ से नक्त नामक पुत्र ने जन्म लिया। नक्त की पत्नी द्रुति हुई, जिसके गर्भ से गय नामक महान् राजा उत्पन्न हुआ। गय अत्यन्त विख्यात एवं पवित्र था, वह राजर्षियों में सर्वश्रेष्ठ था। भगवान् विष्णु तथा उनके सभी अंश विश्व की रक्षा के लिए हैं और वे सदैव दिव्य सत्त्वगुण में, जिसे विशुद्ध सत्त्व कहते हैं, विद्यमान रहते हैं। भगवान् विष्णु के साक्षात् अंश होने के कारण राजा गय भी विशुद्ध-सत्त्व में आसीन थे। इस कारण महाराज गय दिव्य ज्ञान से युक्त थे और इसलिए वे महापुरुष कहलाए।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् के अनेक अवतार हैं। इनमें से कुछ तो भगवान् विष्णु के सीधे विस्तार के विभिन्न अंश हैं, तो कुछ सीधे विस्तार हैं। श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष अवतार *अंश* या *स्वांश* कहलाता है जब कि *अंश* के अवतार को *कला* कहते हैं। कलाओं के अन्तर्गत *विभिन्नांश जीव* अथवा जीवात्माएँ होती हैं। इनकी गणना *जीव-तत्त्वों* में की जाती है। भगवान् विष्णु से प्रत्यक्ष प्राप्त होने वाली जीवात्माएँ *विष्णुतत्त्व* कहलाती हैं और कभी-कभी इन्हें महापुरुष कहा जाता है। श्रीकृष्ण का दूसरा नाम महापुरुष है और कभी-कभी भक्त को *महापौरुषिक* कहा जाता है।

स वै स्वधर्मेण प्रजापालनपोषणप्रीणनोपलालनानुशासनलक्षणेनेज्यादिना च भगवति महापुरुषे परावरे ब्रह्मणि सर्वात्मनार्पितपरमार्थलक्षणेन ब्रह्मविच्चरणानुसेवयापादितभगवद्भक्तियोगेन चाभीक्ष्णशः परिभावितातिशुद्धमतिरुपरतानात्म्य आत्मनि स्वयमुपलभ्यमानब्रह्मात्मानुभवोऽपि निरभिमान एवावनिमजूगुपत्. ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—वह राजा गय; वै—निश्चय ही; स्व-धर्मेण—अपने कर्तव्य के द्वारा; प्रजा-पालन—प्रजा का पालन करने; पोषण—प्रजा का भरण करने; प्रीणन—सभी तरह से उसे सुखी बनाने; उपलालन—उसे पुत्र की भाँति रखने; अनुशासन—कभी-कभी त्रुटियों के लिए दण्डित करने; लक्षणेन—राजा के लक्षणों से; इज्या-आदिना—वेदोक्त विधि से यज्ञ सम्पन्न करके; च—भी; भगवति—श्रीभगवान्, विष्णु; महा-पुरुषे—समस्त जीवात्माओं में प्रमुख; पर-अवरे—भगवान् ब्रह्मा से लेकर अकिंचन चींटी तक समस्त जीवात्माओं का स्रोत; ब्रह्मणि—परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव में; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से; अर्पित—समर्पित, शरणागत; परम-अर्थ-लक्षणेन—चिन्मय लक्षणों से; ब्रह्म-वित्—स्वरूप-सिद्ध सन्त भक्तों के; चरण-अनुसेवया—चरणारविन्दों की सेवा करके; आपादित—प्राप्त किया; भगवत्-भक्ति-योगेन—भगवान् की भक्ति के अभ्यास से; च—भी; अभीक्ष्णशः—अनवरत, सतत्; परिभावित—संतृप्त; अति-शुद्ध-मतिः—जिसकी विशुद्ध चेतना (ऐसी पूर्ण चेतना कि शरीर तथा मन आत्मा से पृथक् है); उपरत-अनात्म्ये—जिसमें भौतिक वस्तुओं की पहचान रुक जाती है; आत्मनि—अपने में; स्वयम्—स्वयं; उपलभ्यमान—साक्षात्कार होते हुए; ब्रह्म-आत्म-अनुभवः—अपनी स्थिति का परब्रह्म के रूप में दर्शन; अपि—यद्यपि; निरभिमानः—अभिमानरहित, झूठी बड़ाई के बिना; एव—इस प्रकार; अवनिम्—सम्पूर्ण संसार पर; अजूगुपत्—वैदिक विधियों के अनुसार दृढ़ता से शासन किया।.

राजा गय ने अपनी प्रजा को पूर्ण सुरक्षा प्रदान की जिससे अवांछित तत्त्वों के द्वारा उनकी निजी सम्पत्ति को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। उन्होंने इसका भी ध्यान रखा कि प्रजा को पर्याप्त भोजन प्राप्त हो (यही ''पोषण'' है)। कभी-कभी प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए वे दान देते थे (यह ''प्रीणन'' कहलाता है)। कभी-कभी वे प्रजा की सभाएं बुलाते और मृदु वचनों से उन्हें तुष्टि प्रदान करते (यह ''उपलालन'' कहलाता है)। वे उन्हें उच्चकोटि के नागरिक बनने की शिक्षा देते (यह ''अनुशासन'' कहलाता है)। राजा गय में इस प्रकार की विलक्षणताएँ थीं। इन सबके साथ ही साथ राजा गय गृहस्थ थे और वे गृहस्थ जीवन के सभी नियमों का कड़ाई से पालन करते थे। वे यज्ञ करते थे तथा श्रीभगवान् के एकनिष्ठ भक्त थे। वे महापुरुष कहे जाते थे, क्योंकि राजा के रूप में उन्होंने नागरिकों को सभी सुविधाएं प्रदान कीं गृहस्थ के रूप में वे सभी कर्तव्यों का पालन करने वाले थे। फलस्वरूप वे अन्ततः भगवान् के परम भक्त हुए। भक्त के रूप में वे सभी भक्तों का आदर करने और भगवान् की सेवा करने को उद्यत रहते थे। यह भक्तियोग की प्रक्रिया है। इन दिव्य कर्मों के कारण राजा गय देहात्मबोध से सदैव मुक्त रहे। वे ब्रह्मसाक्षात्कार में लीन रहने के कारण सदैव प्रमुदित रहते थे। उन्हें भौतिक पश्चात्ताप का अनुभव नहीं करना पड़ा। सभी प्रकार से पूर्ण होने पर भी वे न तो गर्व करते थे, न ही राज्य करने लिए लालायित थे।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि वे धरती पर दो प्रकार के प्रयोजनों से अवतरित होते हैं—साधु पुरुषों का उद्धार करने तथा असुरों का नाश करने (*परित्राणाय साधूनां*

विनाशाय च दुष्कृताम्)। राजा श्रीभगवान् का प्रतिनिधि होता है, इसीलिए उसे कभी-कभी *नरदेव* अर्थात् मनुष्यों का स्वामी कहते हैं। वैदिक आदेशों के अनुसार संसार में उसकी ईश्वर तुल्य पूजा की जाती है। श्रीभगवान् का प्रतिनिधि होने के नाते राजा का यह परम कर्तव्य होता था कि वह प्रजा की भलीभाँति रक्षा करे जिससे प्रजा को भोजन तथा सुरक्षा की चिन्ता न रहे और वह प्रसन्न चित्त रहे। राजा प्रजा को सभी कुछ देता था और इन सबके लिए वह उन पर कर लगाता था। यदि कोई राजा या राज सत्ता किसी और कारण से कर लगाता है, तो वह प्रजा के पापों का भागी होता है। कलियुग में (एकाधिकार) राजतंत्र समाप्त हो गया है क्योंकि राजाओं पर भी इस कलियुग का प्रभाव पड़ गया है। *रामायण* से पता चलता है कि विभीषण ने राजा रामचन्द्र के साथ मैत्री स्थापित हो जाने के बाद वचन दिया था कि यदि वह दैववश या इच्छा से उनके साथ मित्रता भंग करे तो कलियुग में वह *ब्राह्मण* या राजा बनेगा। जैसाकि विभीषण ने संकेत किया है, इस युग में ब्राह्मण तथा राजा दोनों ही दयनीय स्थिति को प्राप्त हैं। सच तो यह है कि इस युग में न तो कोई राजा है, न ब्राह्मण और उनके न होने से सम्पूर्ण विश्व अव्यवस्थित है और सदैव संकटग्रस्त बना हुआ है। वर्तमान मानदण्ड के अनुसार महाराज गय विष्णु के सच्चे प्रतिनिधि थे, इसीलिए वे महापुरुष कहलाए।

तस्येमां गाथां पाण्डवेय पुराविद उपगायन्ति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—राजा गय के; इमाम्—ये; गाथाम्—स्तुतिपरक पद्य; पाण्डवेय—हे महाराज परीक्षित; पुरा-विदः—पुराणों की ऐतिहासिक घटनाओं के ज्ञाता, उपगायन्ति; उपगायन्ति—.

तस्य—राजा गय के; इमाम्—ये; गाथाम्—स्तुतिपरक पद्य; पाण्डवेय—हे महाराज परीक्षित; पुरा-विदः—पुराणों की ऐतिहासिक घटनाओं के ज्ञाता, उपगायन्ति—गाते हैं।

हे राजा परीक्षित्, पुराणों को जानने वाले विद्वान राजा गय की स्तुति और महिमागान निम्नलिखित श्लोकों से करते हैं।

तात्पर्य : वर्तमान शासकों के लिए महान् राजाओं के ऐतिहासिक प्रसंग आदर्श उपस्थित करने वाले हैं। वर्तमान काल में विश्व पर शासन करने वालों को चाहिए कि वे राजा गय, राजा युधिष्ठिर तथा राजा पृथु से शिक्षा ग्रहण करें और प्रजा पर इस प्रकार शासन करें जिससे वह सुखी रहे। आजकल की सरकारें किसी प्रकार का सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक सुधार किये बिना ही कर

उगाहे जा रही हैं। वेदों के अनुसार इसकी अनुमति नहीं है।

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभि-
र्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता ।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां
सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

गयम्—गय; नृपः—राजा; कः—कौन; प्रतियाति—तुलनीय है; कर्मभिः—कर्मों के कारण; यज्वा—जिसने समस्त यज्ञ किये; अभिमानी—सारे विश्व में अत्यधिक सम्मानित; बहु-वित्—वैदिक शास्त्रों से भली-भाँति ज्ञात; धर्म-गोप्ता—प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों का संरक्षक; समागत-श्रीः—सभी प्रकार के वैभव से युक्त; सदसः-पतिः सताम्—महान् व्यक्तियों की सभा का अध्यक्ष; सत्-सेवकः—भक्तों का सेवक; अन्यः—अन्य कोई; भगवत्-कलाम्—श्रीभगवान् की कला (अवतार); ऋते—के अतिरिक्त।

महान् राजा गय सभी प्रकार के वैदिक अनुष्ठान किया करते थे। वे अत्यन्त बुद्धिमान और सभी वैदिक शास्त्रों के अध्ययन में दक्ष थे। उन्होंने धार्मिक नियमों की रक्षा की और वे समस्त वैभव से युक्त थे। वे सज्जनों के नायक और भक्तों के सेवक थे। वे श्रीभगवान् के सच्चे अर्थों में सर्वथा समर्थ अंश (कला) थे। अतः महान् अनुष्ठानों (यज्ञ) को सम्पन्न करने में उनकी तुलना कौन कर सकता है?

यमभ्यषिञ्चन्परया मुदा सतीः
सत्याशिषो दक्षकन्याः सरिद्भिः ।
यस्य प्रजानां दुदुहे धराशिषो
निराशिषो गुणवत्सस्नुतोधाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; अभ्यषिञ्चन्—अभिषेक करती थीं; परया—अत्यन्त (परम); मुदा—सन्तोष से; सतीः—अपने पतियों के प्रति भक्तिभाव रखने वाली तथा पतिव्रता स्त्रियाँ; सत्य—सच्चे; आशिषः—आशीर्वाद; दक्ष-कन्याः—राजा दक्ष की पुत्रियाँ; सरिद्भिः—पवित्र जल के द्वारा; यस्य—जिसकी; प्रजानाम्—प्रजा की; दुदुहे—पूरा किया; धरा—पृथ्वी ने; आशिषः—समस्त कामनाओं का; निराशिषः—यद्यपि स्वयं कामनारहित होकर; गुण-वत्स-स्नुत-उधाः—प्रजा पर राज्य करने वाले गय के गुणों को देखकर गो रूप पृथ्वी के थन से दुग्ध की धारा निकल आई।

महाराज दक्ष की श्रद्धा, मैत्री तथा दया जैसी पतिव्रता तथा सत्यनिष्ठ कन्याएँ जिनके आशीर्वाद सदा फलित होते थे, पवित्र जल से महाराज गय का अभिषेक करती थीं। असल में वे सभी महाराज गय से अत्यधिक सन्तुष्ट थीं। पृथ्वी स्वयं गौ रूप में प्रकट हुई और महाराज गय के उत्तम गुणों को देखकर दुग्ध स्रवण करने लगी, मानो गाय ने अपने वत्स को देखा हो। तात्पर्य यह है कि महाराज गय पृथ्वी के समस्त साधनों से लाभ उठा करके अपनी प्रजा की आकांक्षाओं

को पूरा करते थे। फिर भी वे निस्पृह थे।

तात्पर्य : महाराज गय द्वारा शासित पृथ्वी की तुलना गऊ से और जिन सद्गुणों के कारण वे प्रजा पर शासन करते थे उनकी तुलना बछड़े से की गई है। बछड़े की उपस्थिति में गाय दूध देती है, उसी प्रकार यह पृथ्वी अर्थात् गाय महाराज गय की आकांक्षाओं को पूर्ण करने वाली थी, क्योंकि वे अपनी प्रजा के लाभार्थ पृथ्वी के समस्त साधनों का उपयोग करने में समर्थ थे। ऐसा इसलिए सम्भव हो सका, क्योंकि दक्ष की सच्चरित्र कन्याओं ने पवित्र जल से उनका अभिषेक किया था। जब तक कोई राजा या शासक उच्चाधिकारियों द्वारा आशीर्वाद प्राप्त नहीं करता, तब तक वह सन्तोषजनक रीति से प्रजा पर शासन नहीं कर सकता है। शासक के सद्गुणों से ही प्रजा प्रसन्न होती है और योग्य बनती है।

छन्दांस्यकामस्य च यस्य कामान्
दुदूहुराजह्रुरथो बलिं नृपाः ।
प्रत्यञ्चिता युधि धर्मेण विप्रा
यदाशिषां षष्ठमंशं परेत्य ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

छन्दांसि—वेदों के समस्त अंग; अकामस्य—निष्काम; च—भी; यस्य—जिसकी; कामान्—समस्त इच्छाएँ; दुदूहुः—प्रदान किया; आजह्रुः—अर्पित किया; अथो—इस प्रकार; बलिम्—भेंट, बलि; नृपाः—सभी राजा; प्रत्यञ्चिताः—उसके विपक्ष में युद्ध करने से सन्तुष्ट होकर; युधि—युद्ध में; धर्मेण—धार्मिक नियमों से; विप्राः—समस्त ब्राह्मण; यदा—जब; आशिषाम्—आशीर्वादों का; षष्ठम् अंशम्—छठा अंश; परेत्य—अगले जन्म में।

यद्यपि महाराज गय में इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी प्रकार की व्यक्तिगत इच्छा नहीं थी, किन्तु वैदिक अनुष्ठानों को पूरा करने के कारण उनकी सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होती रहती थी। जिन राजाओं से महाराज गय को युद्ध करना पड़ता, वे धर्मयुद्ध करने के लिए विवश हो जाते। वे महाराज गय के युद्ध से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उन्हें सभी प्रकार की भेंटें प्रदान करते थे। इसी प्रकार से उनके राज्य के समस्त ब्राह्मण उनके मुक्त दान से अत्यन्त सन्तुष्ट रहते थे। फलस्वरूप ब्राह्मणों ने राजा गय को अगले जन्म में प्राप्त होने के लिए अपने पुण्यकर्मों का छठा अंश सहर्ष प्रदान किया था।

तात्पर्य : क्षत्रिय होने के नाते महाराज गय को अपना शासन स्थिर रखने के लिए कभी-कभी अधीनस्थ राजाओं से युद्ध करना पड़ता था। किन्तु अधीनस्थ राजा कभी भी उनसे असन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि वे जानते थे कि महाराज गय धार्मिक नियमों के लिए लड़ते थे। फलतः वे उनकी अधीनता

स्वीकार करके उन्हें नाना प्रकार की भेंटें अर्पित करते रहते थे। इसी प्रकार वैदिक अनुष्ठानों में रत ब्राह्मणजन भी राजा से अत्यन्त सन्तुष्ट रहते थे, यहाँ तक कि वे सहर्ष अपने पुण्यकर्मों का छठा अंश उनके अगले जन्म के लाभार्थ प्रदान करने के लिए राजी हो गये। इस तरह ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सभी महाराज गय से अत्यन्त सन्तुष्ट थे। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि महाराज गय ने क्षत्रिय राजाओं को अपने युद्ध से तथा ब्राह्मणों को अपने दान से सन्तुष्ट कर रखा था। वैश्य भी राजा के उदार वचनों तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार से प्रसन्न रहते थे। शूद्र उनके सतत यज्ञों से प्रचुर भोजन तथा दान प्राप्त करके सन्तुष्ट थे। इस प्रकार महाराज गय अपनी समस्त प्रजा को अत्यधिक सन्तुष्ट रखते थे। जब ब्राह्मणों एवं साधुओं का सम्मान किया जाता है, तो वे सम्मान और सेवा करने वालों को अपने पुण्यकर्मों का एक अंश सहर्ष प्रदान कर देते हैं। अत: जैसाकि *भगवद्गीता* (४.३४) में कहा गया है—*तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया*—मनुष्य को चाहिए कि वह सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम, विनम्र जिज्ञासा और निष्कपट भाव से उसकी सेवा करे।

यस्याध्वरे भगवानध्वरात्मा
मघोनि माद्यत्युरुसोमपीथे ।
श्रद्धाविशुद्धाचलभक्तियोग
समर्पितेज्याफलमाजहार ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका (राजा गय का); अध्वरे—विभिन्न यज्ञों में; भगवान्—भगवान्; अध्वर-आत्मा—समस्त यज्ञों के परम भोक्ता, यज्ञ पुरुष; मघोनि—जब राजा इन्द्र; माद्यति—मदान्ध हो जाता है; उरु—अत्यधिक; सोम-पीथे—मादक सोमरस का पान करते हुए; श्रद्धा—भक्ति से; विशुद्ध—शुद्ध; अचल—तथा स्थिर; भक्ति-योग—भक्ति के द्वारा; समर्पित—चढ़ाया गया, अर्पित; इज्या—पूजन का; फलम्—फल, परिणाम्; आजहार—स्वयं स्वीकार किया।.

महाराज गय के यज्ञों में सोम नामक मादक द्रव्य का अत्यधिक प्रयोग होता था। इनमें राजा इन्द्र आया करते थे और प्रचुर मात्रा में सोमरस पीकर मदान्ध हो जाते थे। भगवान् श्रीविष्णु (यज्ञ पुरुष) भी आया करते थे और यज्ञ क्षेत्र में विशुद्ध भक्तिपूर्वक उनको समर्पित किये गये यज्ञफल को स्वयं स्वीकार करते थे।

तात्पर्य : महाराज गय इतने सिद्ध थे कि स्वर्ग के राजा इन्द्र के अधीन सभी देवता उनसे सन्तुष्ट रहते थे। भगवान् विष्णु स्वयं यज्ञ-क्षेत्र में हव्य ग्रहण करने के लिए आते थे। महाराज गय को अनिच्छित ही देवताओं तथा श्रीभगवान् के आशीर्वाद प्राप्त हुआ करते थे।

यत्प्रीणनाद्बर्हिषि देवतिर्यङ्-
मनुष्यवीरुत्तृणमाविरिञ्चात् ।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः
प्रीतः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्-प्रीणनात्—श्रीभगवान् के प्रसन्न होने से; बर्हिषि—यज्ञ क्षेत्र में; देव-तिर्यक्—देवता तथा निम्न पशु; मनुष्य—मानव समाज; वीरुत्—पादप तथा वृक्ष; तृणम्—घास; आ-विरिञ्चात्—भगवान् ब्रह्मा तक; प्रीयेत—सन्तुष्ट हो जाता है; सद्यः—तुरन्त; सः—श्रीभगवान्; ह—निश्चय ही; विश्व-जीवः—समस्त संसार के जीवात्माओं का पालन करने वाला; प्रीतः—यद्यपि सहज तुष्ट हैं; स्वयम्—साक्षात्; प्रीतिम्—सन्तोष के; अगात्—प्राप्त हुआ; गयस्य—महाराज गय के।

जब परमेश्वर किसी व्यक्ति के कर्मों से प्रसन्न होते हैं, तो ब्रह्मा से लेकर समस्त देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, लताएँ, तृण तथा अन्य समस्त जीवात्माएँ स्वतः प्रसन्न हो जाती हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबों के परमात्मा हैं और वे स्वभाव से परम प्रसन्न रहते हैं। तो भी वे महाराज गय के यज्ञ क्षेत्र में आये और उन्होंने कहा, ''मैं पूर्णतया प्रसन्न हूँ।''

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि केवल श्रीभगवान् को प्रसन्न कर लेने पर देवता तथा अन्य समस्त जीवात्माएँ बिना किसी भेदभाव के प्रसन्न हो जाती हैं। वृक्ष की जड़ों को सींचने से सभी शाखाएँ, पत्तियाँ तथा फूल हरे-भरे हो जाते हैं। यद्यपि श्रीभगवान् आत्म-तुष्ट रहने वाले हैं, किन्तु महाराज गय के आचरण से परम प्रसन्न होकर वे उनके यज्ञ क्षेत्र में स्वयं आये और उन्होंने कहा, ''मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ।'' भला महाराज गय की समता कौन कर सकता है?

गयाद्गयन्त्यां चित्ररथः सुगतिरवरोधन इति त्रयः पुत्रा बभूवुश्चित्ररथादूर्णायां सम्राडजनिष्ट; तत उत्कलायां मरीचिर्मरीचेर्बिन्दुमत्यां बिन्दुमानुदपद्यत तस्मात्सरघायां मधुर्नामाभवन्मधोः सुमनसि वीरव्रतस्ततो भोजायां मन्थुप्रमन्थू जज्ञाते मन्थोः सत्यायां भौवनस्ततो दूषणायां त्वष्टाजनिष्ट त्वष्टुर्विरोचनायां विरजो विरजस्य शतजित्प्रवरं पुत्रशतं कन्या च विषूच्यां किल जातम् ॥ १४-१ ॥

शब्दार्थ

गयात्—महाराज गय से; गयन्त्याम्—उनकी पत्नी गयन्ती के; चित्र-रथः—चित्ररथ नामक; सुगतिः—सुगति नामक; अवरोधनः—अवरोधन नामक; इति—इस प्रकार; त्रयः—तीन; पुत्राः—पुत्र; बभूवुः—उत्पन्न हुए; चित्ररथात्—चित्ररथ से; ऊर्णायाम्—ऊर्णा के गर्भ से; सम्राट्—सम्राट नामक पुत्र; अजनिष्ट—उत्पन्न हुआ; ततः—उससे; उत्कलायाम्—उत्कला नामक पत्नी से; मरीचिः—मरीचि; मरीचेः—मरीचि से; बिन्दु-मत्याम्—उसकी पत्नी बिन्दुमती के गर्भ से; बिन्दुम्—बिन्दु नाम का पुत्र; आनुदपद्यत—उत्पन्न हुआ; तस्मात्—उससे; सरघायाम्—सरघा नाम की पत्नी के गर्भ से; मधुः—मधु; नाम—नामक; अभवत्—जन्म लिया; मधोः—मधु से; सुमनसि—उसकी पत्नी सुमना के गर्भ से; वीर-व्रतः—वीरव्रत नामक पुत्र; ततः—वीरव्रत से; भोजायाम्—उसकी पत्नी भोजा से; मन्थु-प्रमन्थू—मन्थु तथा प्रमन्थु नाम के दो पुत्र; जज्ञाते—उत्पन्न हुए; मन्थोः—मन्थु से; सत्यायाम्—उसकी पत्नी सत्या से; भौवनः—भौवन नामक पुत्र; ततः—उससे; दूषणायाम्—उसकी पत्नी दूषणा के गर्भ से; त्वष्टा—त्वष्टा नाम का एक पुत्र; अजनिष्ट—उत्पन्न हुआ; त्वष्टुः—त्वष्टा से; विरोचनायाम्—उसकी पत्नी विरोचना के;

विरजः—विरज नाम का एक पुत्र; विरजस्य—राजा विरज का; शतजित्-प्रवरम्—(जिनमें) शतजित सर्वोपरि था; पुत्र-शतम्—एक सौ पुत्र; कन्या—एक पुत्री; च—भी; विषूच्याम्—उसकी पत्नी विषूची के; किल—निश्चय ही; जातम्—जन्म लिया।

गयन्ती के गर्भ से महाराज गय के तीन पुत्र हुए जिनके नाम थे—चित्ररथ, सुगति तथा अवरोधन। चित्ररथ की पत्नी ऊर्णा से सम्राट नाम का पुत्र प्राप्त हुआ। सम्राट् की पत्नी का नाम उत्कला था जिसके गर्भ से सम्राट को मरीचि नामक पुत्र का लाभ हुआ। मरीचि की पत्नी बिन्दुमति से बिन्दु नामक पुत्र हुआ। बिन्दु की पत्नी सरघा के गर्भ से मधु नामक एक पुत्र ने जन्म लिया। मधु की पत्नी सुमना से वीरव्रत और वीरव्रत की पत्नी भोजा से मन्थु तथा प्रमन्थु नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। मन्थु की पत्नी सत्या से भौवन नाम का पुत्र और भौवन की पत्नी दूषणा से त्वष्टा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। त्वष्टा की पत्नी विरोचना से विरज नाम का पुत्र हुआ और उसकी पत्नी विषूची के गर्भ से एक सौ पुत्र तथा एक पुत्री उत्पन्न हुई। इन सभी पुत्रों में शतजित् नाम का पुत्र सर्वोपरि था।

तत्रायं श्लोकः—
प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः ।
अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस प्रसंग में; अयम् श्लोकः—यह प्रसिद्ध श्लोक है; प्रैयव्रतम्—राजा प्रियव्रत से चलने वाला; वंशम्—वंश; इमम्—यह; विरजः—राजा विरज; चरम-उद्भवः—एक सौ पुत्रों (जिनमें शतजित् सर्वोपरि था) का स्रोत; अकरोत्—अलंकृत किया; अति-अलम्—अत्यधिक; कीर्त्या—अपनी कीर्ति से; विष्णुः—भगवान् विष्णु, श्रीभगवान्; सुर-गणम्—देवता गण; यथा—जिस प्रकार।

राजा विरज के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है (जिसका अर्थ है)—''अपने उच्च गुणों तथा व्यापक कीर्ति के कारण राजा विरज उसी प्रकार से प्रियव्रत राजा के वंश के मणि हो गए जिस प्रकार भगवान् विष्णु अपनी दिव्य शक्ति द्वारा देवताओं को विभूषित करते और उन्हें आशीष देते हैं।''

तात्पर्य : पुष्पित वृक्ष अपने सुगन्धित फूलों के कारण उद्यान में अच्छी ख्याति अर्जित करता है। इसी प्रकार यदि किसी वंश में कोई प्रसिद्ध व्यक्ति होता है, तो उसकी उपमा वन के सुगन्धित पुष्प से दी जाती है। उसके कारण पूरा वंश इतिहास-प्रसिद्ध हो सकता है। चूँकि श्रीकृष्ण ने यदु वंश में जन्म धारण किया, अत: यदु वंश तथा यादव लोग सर्वदा के लिए विख्यात रहे हैं। राजा विरज के प्रकट होने

से महाराज प्रियवत का वंश सदा से प्रसिद्ध रहा है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा प्रियव्रत के वंशजों का यश वर्णन'' नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

जम्बूद्वीप का वर्णन

महाराज प्रियव्रत तथा उनके पूर्वजों के चरित्र का वर्णन करते हुए शुकदेव गोस्वामी ने मेरु पर्वत तथा भूमण्डल नामक लोक का भी वर्णन किया। भूमण्डल कमल पुष्प के सदृश है और इसके सातों द्वीपों की तुलना कमल के कोश (आवर्त) से की जाती है। जम्बूद्वीप नामक स्थान इस कोश के मध्य में स्थित है। जम्बूद्वीप में सुमेरु नामक एक पर्वत है जो ठोस स्वर्ण से बना है। इस पर्वत की ऊँचाई ८४,००० योजन है, जिसमें से १६,००० योजन पृथ्वी के भीतर है। इसकी चौड़ाई शृंग पर ३२,००० योजन और गिरिपाद पर १६,००० योजन आँकी जाती है (एक योजन लगभग आठ मील के बराबर होता है)। पर्वतों का राजा सुमेरु पृथ्वी ग्रह का आधार है।

इलावृत्त-वर्ष के दक्षिण में हिमवान्, हेमकूट तथा निषध नामक पर्वत हैं और उत्तर में नील, श्वेत तथा शृंग पर्वत हैं। इसी प्रकार पूर्व तथा पश्चिम दिशा में माल्यवान् तथा गंधमादन नामक दो विशाल पर्वत हैं। सुमेरु पर्वत के परितः मंदर, मेरुमंदर, सुपार्श्व तथा कुमुद नामक चार पर्वत हैं। इनमें से प्रत्येक पर्वत १०,००० योजन लम्बा तथा १०,००० योजन ऊँचा है। इन चारों पर्वतों पर १,१०० योजन ऊँचे वृक्ष हैं। इनमें एक आम का, एक जामुन का, एक कदम्ब का और एक बरगद का वृक्ष है। इसमें अनेक सरोवर भी हैं, जो दुग्ध, मधु, इक्षुरस तथा शुद्ध जल से पूर्ण हैं। ये सरोवर समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। साथ ही इसमें नंदन, चित्ररथ, वैभ्राजक तथा सर्वतोभद्र नामक उद्यान भी हैं। सुपार्श्व पर्वत के पार्श्व में एक कदम्ब वृक्ष है, जिसके कोटर से मधु की धारा प्रवाहित हो रही है। कुमुद पर्वत पर शतवल्श नामक एक वटवक्ष है, जिसके मूल से दूध, दही तथा अन्य वांछित पदार्थों की नदियाँ बहती हैं। कमल-नाल के सदृश सुमेरु पर्वत की बीस पर्वत श्रेणियाँ यथा कुरंग, कुरर, कुसुम्भ,

वैकंक तथा त्रिकूट घेरे हुए हैं। सुमेरु के पूर्व जठार तथा देवकूट, पश्चिम में पवन तथा पारियात्र, दक्षिण में कैलाश तथा करवीर और उत्तर में त्रिशृंग तथा मकर पर्वत स्थित हैं। ये आठों पर्वत लगभग १८,००० योजन लम्बे, २,००० योजन चौड़े तथा २,००० योजन ऊँचे हैं। सुमेरु पर्वत के शृंग पर ब्रह्मपुरी है जो ब्रह्माजी का आवास है। इसकी चारों भुजाओं में से हर एक १०,००० योजन लम्बी है। ब्रह्मपुरी को घेरे हुए राजा इन्द्र तथा सात अन्य देवताओं की पुरियाँ हैं। ये सब पुरियाँ ब्रह्मपुरी के चौथाई आकार की हैं।

राजोवाच
उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—महाराज परीक्षित् बोले; उक्तः—पहले ही कहा जा चुका है; त्वया—आपके द्वारा; भू-मण्डल—भूमण्डल नामक लोक; आयाम-विशेषः—त्रिज्या की विशेष लम्बाई; यावत्—जब तक; आदित्यः—सूर्य; तपति—तपता है, दीप्तिमान है; यत्र—वहाँ भी; च—भी; असौ—वह; ज्योतिषाम्—ज्योतिपिंडों का; गणैः—समूह के साथ; चन्द्रमा—चन्द्रमा; वा—या; सह—साथ; दृश्यते—देखा जाता है।.

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से कहा—हे ब्राह्मण, आपने मुझे पहले ही बता दिया है कि भूमण्डल की त्रिज्या वहाँ तक विस्तृत है जहाँ तक सूर्य का प्रकाश और उष्मा पहुँचती है तथा चन्द्रमा और अन्य नक्षत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में इसका उल्लेख है कि भूमण्डल नामक लोक वहाँ तक विस्तीर्ण है जहाँ तक सूर्य का प्रकाश पहुँचता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य का प्रकाश ९,३०,००,००० मील दूरी तय करके पृथ्वी तक पहुँचता है। यदि हम इस आधार पर गणना करें तो भूमण्डल की त्रिज्या ९,३०,००,००० मील हुई। गायत्री मंत्र में हम *ॐ भूर् भुवः स्वः* का जप करते हैं। इसमें *भूर्* शब्द भूमण्डल का द्योतक है। *तत् सवितुर् वरेण्यम्*—सूर्य का प्रकाश भूमण्डल में फैलता है। अतः सूर्य पूजनीय है। तारे, जिनको नक्षत्र कहा जाता है, अन्य प्रकार के सूर्य नहीं हैं, जैसाकि आधुनिक विज्ञानी मानते हैं। *भगवद्गीता* (१०.२१) से हमें विदित होता कि ये नक्षत्र चन्द्रमा के ही समान हैं (*नक्षत्राणां अहं शशी*)। चन्द्रमा की ही भाँति नक्षत्र भी सूर्य प्रकाश को परावर्तित करते हैं। ग्रहों की स्थिति के सम्बन्ध में आज जितना भी ज्ञान प्राप्त है उससे भी अधिक हमें *श्रीमद्भागवत* के सृजन के पहले ही

आकाश तथा विभिन्न ग्रहों के विषय में ज्ञात था। शुकदेव गोस्वामी ने ग्रहों की स्थिति के सम्बन्ध में जो व्याख्या की है उससे यही सूचित होता है कि उनसे भी पहले अत्यन्त दीर्घकाल से तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त था। वैदिक काल के ऋषियों को विभिन्न लोकों की स्थिति अज्ञात न थी।

तत्रापि प्रियव्रतरथचरणपरिखातैः सप्तभिः सप्त सिन्धव उपक्लिप्ता यत एतस्याः सप्तद्वीपविशेषविकल्पस्त्वया भगवन्खलु सूचित एतदेवाखिलमहं मानतो लक्षणतश्च सर्वं विजिज्ञासामि. ॥ २॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस भू-मण्डल में; प्रियव्रत-रथ-चरण-परिखातैः—सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते समय प्रियव्रत महाराज के रथ के पहियों से निर्मित गड्ढों के द्वारा; सप्तभिः—सात; सप्त सिन्धवः—सात समुद्र; उपक्लृप्ताः—प्रभूत; यतः—जिसके कारण; एतस्याः—इस भूमण्डल का; सप्त-द्वीप—सातों द्वीपों का; विशेष-विकल्पः—सरंचना शैली; त्वया—आपके द्वारा; भगवन्—हे महामुनि; खलु—निश्चय ही; सूचितः—वर्णित; एतत्—यह; एव—निस्सन्देह; अखिलम्—सम्पूर्ण प्रजा; अहम्—मैं; मानतः—माप की दृष्टि से; लक्षणतः—(तथा) लक्षणों से; च—भी; सर्वम्—प्रत्येक वस्तु; विजिज्ञासामि—जानने की इच्छा करता हूँ।

हे भगवन्, महाराज प्रियव्रत के रथ के चक्रायमाण पहियों से सात गड्ढे बने, जिससे सात समुद्रों की उत्पत्ति हुई। इन सात समुद्रों के ही कारण भूमण्डल सात द्वीपों में विभक्त है। आपने इनकी माप, नाम तथा विशिष्टताओं का अत्यन्त सामान्य वर्णन मात्र किया है। मुझे विस्तार से इनके सम्बध में जानने की इच्छा है। कृपया मेरी कामना पूर्ण करें।

भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं तदु हैतद्गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति. ॥ ३॥

शब्दार्थ

भगवतः—श्रीभगवान् का; गुण-मये—भौतिक प्रकृति के त्रिगुण युक्त बाह्यस्वरूपों में; स्थूल-रूपे—स्थूल रूप; आवेशितम्—प्रविष्ट; मनः—मन; हि—निश्चित रूप से; अगुणे—दिव्य इन्द्रियातीत; अपि—यद्यपि; सूक्ष्मतमे—हृद्देश से अपने लघुतर रूप में परमात्मा; आत्म-ज्योतिषि—जो ब्रह्म तेज से पूर्ण है; परे—परम; ब्रह्मणि—आत्मस्वरूप; भगवति—श्रीभगवान् में; वासुदेव-आख्ये—भगवान् वासुदेव के नाम से विख्यात; क्षमम्—उपयुक्त; आवेशितुम्—आत्मसात्; तत्—वह; उ ह—निस्सन्देह; एतत्—यह; गुरो—हे गुरुदेव; अर्हसि अनुवर्णयितुम्—कृपया विस्तारपूर्वक कहें; इति—इस प्रकार।

जब मन प्रकृति के गुणों से निर्मित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के बाह्यरूप—स्थूल विश्व रूप—पर स्थिर हो जाता है, तो उसे शुद्ध सत्त्व की स्थिति प्राप्त होती है। उस दिव्य स्थिति में ही भगवान् वासुदेव को जाना जा सकता है जो अपने सूक्ष्मरूप में स्वतः प्रकाशित और गुणातीत हैं। हे प्रभो, विस्तार से वर्णन करें कि वह रूप जो सारे विश्व में व्याप्त है किस प्रकार देखा जाता है।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित को उनके गुरु शुकदेव गोस्वामी ने पहले ही यह उपदेश दे रखा था कि वे श्रीभगवान् के विराट रूप का मनन करें, अत: उन्होंने गुरु के उपदेश का पालन करते हुए उसी रूप का सतत चिन्तन किया। विराट रूप निश्चय ही सांसारिक है, किन्तु प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् का अंश है, अत: अन्तत: कुछ भी सांसारिक नहीं है। फलत: महाराज परीक्षित् का मन आत्मचेतना से संतृप्त था। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—

प्रापंचिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुन: ।

मुमुक्षुभि: परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

प्रत्येक वस्तु, यहाँ तक कि भौतिक वस्तु भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से सम्बन्धित है, फलत: प्रत्येक वस्तु को श्रीभगवान् की सेवा में समर्पित कर देना चाहिए। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक का अनुवाद वर्णन इस प्रकार किया है—

हरि-सेवाय याहा हय अनुकूल।

विषय बलिया ताहार त्यागे हय भुल॥

''मनुष्य को चाहिए कि श्रीभगवान् से सम्बद्ध किसी भी वस्तु को यह सोचकर न त्याग दे कि यह भौतिक है अथवा इन्द्रियसुख के हेतु है।'' यहाँ तक कि शुद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ भी आध्यात्मिक हो जाती हैं। जब महाराज परीक्षित श्रीभगवान् के विराट रूप का चिन्तन कर रहे थे तो उनका मन निश्चित रूप से दिव्य धरातल पर स्थित था। अत: वे ब्रह्माण्ड के विषय में विस्तृत जानकारी की इच्छा न रखने पर भी श्रीभगवान् की पृष्ठभूमि में उसका चिन्तन कर रहे थे। इसीलिए ऐसा भौगोलिक ज्ञान भौतिक न होकर दिव्य था। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र(१..२०) नारद मुनि कहते हैं, *इदं हि विश्वं भगवान् इवेतर:*—यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही श्रीभगवान् है, भले ही यह उनसे भिन्न प्रतीत हो। अत: भले ही परीक्षित महाराज को इस ब्रह्माण्ड के भौगोलिक ज्ञान की आवश्यकता न रही हो, किन्तु वह ज्ञान आध्यात्मिक तथा दिव्य था, क्योंकि वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को श्रीभगवान् की शक्ति का विस्तार मान रहे थे।

हम भी अपने उपदेश कार्य के लिए प्रचुर धन एवं सम्पत्ति का उपयोग करते हैं और अनेकानेक पुस्तकों का क्रय-विक्रय करते हैं। किन्तु चूँकि ये व्यापार कृष्णभावनामृत आन्दोलन से सम्बन्धित होते

हैं, अत: इन्हें कभी भी भौतिक नहीं मानना चाहिए। यदि कोई ऐसे प्रबन्ध के विचार में व्यस्त रहता है, तो इसका यह अर्थ नहीं होगा कि वह कृष्णभक्ति से परे है। यदि कोई प्रतिदिन नियमित रूप से सोलह माला महामंत्र का जप करता है, तो कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचार के लिए भौतिक जगत से उसका सम्पर्क कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक अनुशीलन से किसी प्रकार भिन्न नहीं कहा जा सकता।

ऋषिरुवाच

न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात्प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्याम:. ॥ ४॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; महा-राज—हे महान् राजा; भगवतः—श्रीभगवान् का; माया-गुण-विभूतेः—माया के गुणों का रूपान्तर; काष्ठाम्—अन्त, इति; मनसा—मनसे; वचसा—वचन से; वा—अथवा; अधिगन्तुम्—भलीभाँति समझने के लिए; अलम्—समर्थ; विबुध-आयुषा—ब्रह्मा के समान आयु वाला; अपि—भी; पुरुषः—व्यक्ति; तस्मात्—अतः; प्राधान्येन—प्रमुख स्थानों के सामान्य विवरण से; एव—निश्चित रूप से; भू-गोलक-विशेषम्—भूलोक का विशिष्ट वर्णन; नाम-रूप—नाम तथा स्वरूप; मान—परिमाण, माप; लक्षणतः—लक्षणों के अनुसार; व्याख्यास्यामः—व्याख्या करने का प्रयत्न करूँगा।

ऋषिश्रेष्ठ शुकदेव गोस्वामी बोले, हे राजन्, श्रीभगवान् की माया के विस्तार की कोई सीमा नहीं है। यह भौतिक जगत सत्त्व, रज तथा तम् इन तीन गुणों का रूपान्तर है; फिर भी ब्रह्मा के समान दीर्घ आयु पाकर भी इसकी व्याख्या कर पाना सम्भव नहीं है। इस भौतिक जगत में कोई भी पूर्ण नहीं और अपूर्ण मनुष्य सतत चिन्तन के बाद भी इस भौतिक ब्रह्माण्ड का सही वर्णन नहीं कर सका। तो भी, हे राजन्, मैं भूगोलक (भूलोक) जैसे प्रमुख भूखण्डों की उनके नामों, रूपों, प्रमापों तथा विविध लक्षणों सहित व्याख्या करने का प्रयत्न करूँगा।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत श्रीभगवान् की सृष्टि का चतुर्थांश ही है, किन्तु है अनन्त तथा किसी के लिए भी उसका वर्णन कर पाना या उसे जान पाना असम्भव है, भले ही उसे ब्रह्मा जैसी लाखों वर्ष की दीर्घायु क्यों न प्राप्त हो जाये। आधुनिक विज्ञानी जन तथा ज्योतिर्विद ब्रह्माण्ड की स्थिति और अन्तरिक्ष की विशालता की व्याख्या करने का प्रयत्न कर रहे हैं और उनमें से कुछ का विश्वास है कि सारे प्रकाशमान नक्षत्र विभिन्न सूर्य हैं। किन्तु *भगवद्गीता* से हमें यह पता चलता है कि ये समस्त नक्षत्र चन्द्रमा के तुल्य हैं, क्योंकि ये सूर्य प्रकाश को परावर्तित करते हैं। ये स्वयंप्रकाशित नहीं हैं। भूलोक बाह्य अन्तरिक्ष का वह भाग है, जिसमें से होकर सूर्य प्रकाश तथा उष्मा गति करते हैं। अत: यह

निष्कर्ष निकाला जाना स्वाभाविक है कि यह ब्रह्माण्ड जहाँ तक हमें दिखाई देता है, वहाँ तक अन्तरिक्ष में फैला है और प्रकाशयुक्त नक्षत्रों तक परिवृत है। श्रील शुकदेव गोस्वामी यह स्वीकार करते हैं कि इस ब्रह्माण्ड का पूर्ण वर्णन कर पाना असम्भव है, किन्तु फिर भी वे राजा परीक्षित को वह सब ज्ञान प्रदान करना चाह रहे थे, जो उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ था। अत: हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि यदि कोई श्रीभगवान् के भौतिक विस्तार को नहीं समझ पाता तो वह चिन्मय जगत की विराटता का अनुमान नहीं लगा सकता। *ब्रह्म-संहिता* (.३३) इसकी पुष्टि करती है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द के विस्तार की सीमाओं का अनुमान लगा पाना किसी के लिए भी असम्भव है, भले ही वह ब्रह्मा के समान पूर्ण मानव क्यों न हो। फिर भला तुच्छ विज्ञानिओं की क्या विसात, जिसकी इन्द्रियाँ तथा उपकरण सभी अपूर्ण हैं और जो इस एक ब्रह्माण्ड के विषय में भी पूरी जानकारी नहीं दे पाते! अत: हमें शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक पुरुषों द्वारा कथित वैदिक स्रोतों से उपलब्ध जानकारी से ही सन्तुष्ट होना चाहिए।

यो वायं द्वीपः कुवलयकमलकोशाभ्यन्तरकोशो नियुतयोजनविशालः समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम्. ॥ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वा—अथवा; अयम्—यह; द्वीपः—द्वीप; कुवलय—भूलोक; कमल-कोश—कमल गुच्छ; अभ्यन्तर—भीतरी; कोशः—कोश; नियुत-योजन-विशालः—दस लाख योजन (अस्सी लाख मील) चौड़ा; समवर्तुलः—समान रूप से गोल अथवा समान लम्बाई तथा चौड़ाई वाला; यथा—सदृश; पुष्कर-पत्रम्—कमल का पत्ता।.

भूमण्डल नाम से विख्यात ग्रह कमल पुष्प के अनुरूप है और इसके सातों द्वीप पुष्प-कोश के सदृश हैं। इस कोश के मध्य में स्थित जम्बूद्वीप की लम्बाई तथा चौड़ाई दस लाख योजन (अस्सी लाख मील) है। जम्बूद्वीप कमल-पत्र के समान गोल है।

यस्मिन्नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामान्यष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—उस जम्बूद्वीप में; नव—नौ (संख्या); वर्षाणि—भूखण्ड अथवा वर्ष; नव-योजन-सहस्र—नौ हजार योजन अर्थात् ७२,००० मील लम्बा; आयामानि—माप वाला, आयाम का; अष्टभि:—आठ; मर्यादा—सीमा सूचक; गिरिभि:—पर्वतों के द्वारा; सुविभक्तानि—भली-भाँति विभाजित; भवन्ति—हैं।

जम्बूद्वीप में नौ वर्ष (खण्ड) हैं जिनमें से प्रत्येक की लम्बाई ९,००० योजन (७२,००० मील) है। इन खण्डों की सीमा अंकित करने वाले आठ पर्वत हैं, जो उन्हें भली भाँति विलग करते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *वायु पुराण* से निम्नलिखित उद्धरण दिया है, जिसमें हिमालय पर्वत से प्रारम्भ करके विभिन्न पर्वतों की स्थितियाँ दी गई हैं—

धनुर्वत संस्थिते ज्ञेये द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे। दीर्घाणि तत्र चत्वारि चतुरस्रम् इलावृतम् इति दक्षिणोत्तरे भारतोत्तरकुरुवर्षे चत्वारि किंपुरुषहरिवर्षरम्यकहिरण्मयानि वर्षाणि नीलनिषधयोस्तिरश्चिनीभूय समुद्रप्रविष्टयो: संलग्नत्वम् अंगीकृत्य भद्राश्वकेतुमालयो: अपि धनुराकृतित्वम्। अतस्तयोर् दैर्घ्यत एव मध्ये संकुचितत्वेन नवसहस्रायामत्वम्। इलावृतस्य तु मेरो: सकाशात् चतुर्दिक्षु नवसहस्रायामत्वं संभवेत् वस्तुतस् त्व् इलावृतभद्राश्वकेतुमालानां चतुस्त्रिंशत् सहस्रायामत्वं ज्ञेयम्।

एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थित: सर्वत: सौवर्ण: कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाह: कर्णिकाभूत: कुवलयकमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत्सहस्त्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्त्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्ट:. ॥ ७॥

शब्दार्थ

एषाम्—जम्बूद्वीप के इन समस्त खंड़ों के; मध्ये—मध्य में; इलावृतम् नाम—इलावृत वर्ष नामक; अभ्यन्तर-वर्षम्—आन्तरिक खण्ड; यस्य—जिसके; नाभ्याम्—नाभि में; अवस्थित:—स्थित; सर्वत:—पूरी तरह, पूर्णरूपेण; सौवर्ण:—स्वर्ण का बना हुआ; कुल-गिरि-राज:—प्रसिद्ध पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ; मेरु:—मेरु पर्वत; द्वीप-आयाम-समुन्नाह:—जिसकी ऊँचाई जम्बूद्वीप की चौड़ाई के समान है; कर्णिका-भूत:—आवरण के रूप में विद्यमान; कुवलय—इस लोक के; कमलस्य—कमल पुष्प के सदृश; मूर्धनि—शीर्ष पर; द्वा-त्रिंशत्—बत्तीस; सहस्र—हजार; योजन—योजन (प्रत्येक ८ मील का); वितत:—विस्तृत; मूले—आधार पर मूल भाग में; षोडश-सहस्रम्—सोलह हजार योजन; तावत्—तक; आन्त:-भूम्याम्—पृथ्वी के भीतर; प्रविष्ट:—धँसा हुआ।

इन खण्डों (वर्षों) में से इलावृत नाम का एक वर्ष है जो कमल-कोश के मध्य में स्थित है। इलावृत्त वर्ष में ही सुवर्ण का बना हुआ सुमेरु पर्वत है। यह कमल जैसे भूमण्डल के बाह्य-आवरण की तरह है। इस पर्वत की चौड़ाई जम्बूद्वीप की चौड़ाई के तुल्य, अर्थात् एक लाख योजन या आठ लाख मील है, जिसमें से १६,००० योजन (१,२८,००० मील) पृथ्वी के भीतर है, जिससे पृथ्वी के ऊपर पर्वत की ऊँचाई केवल ८४,००० योजन (६,७२,००० मील) ही है।

शीर्ष पर इस पर्वत की चौड़ाई ३२,००० योजन (२,५६,००० मील) और पाद भाग पर १६,००० योजन है।

उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति त्रयो रम्यकहिरण्मयकुरूणां वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रपृथव एकैकशः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उत्तर-उत्तरेण इलावृतम्—इलावृत वर्ष के सुदूर उत्तर में; नीलः—नील; श्वेतः—श्वेत; शृङ्गवान्—शृंगवान्; इति—इस प्रकार; त्रयः—तीन पर्वत; रम्यक—रम्यक; हिरण्मय—हिरण्मय; कुरूणाम्—कुरु खण्ड के; वर्षाणाम्—वर्षों में; मर्यादा-गिरयः—सीमा बताने वाले पर्वत; प्राक्-आयताः—पूर्व दिशा में फैले; उभयतः—पूर्व तथा पश्चिम की ओर; क्षारोद—लवण सागर; अवधयः—तक फैले हुए; द्वि-सहस्र-पृथवः—जो दो हजार योजन चौड़ा हैं; एक-एकशः—एक के बाद एक, क्रमशः; पूर्वस्मात्—प्रथम की अपेक्षा; पूर्वस्मात्—प्रथम की अपेक्षा; उत्तरः—और भी उत्तर; उत्तरः—और भी उत्तर; दश-अंश-अधिक-अंशेन—पहले वाले का दशमांश; दैर्घ्यः—लम्बाई में; एव—निस्सन्देह; ह्रसन्ति—घटते (छोटे होते) जाते हैं।

इलावृत-वर्ष के सुदूर उत्तर में क्रमशः नील, श्वेत तथा शृंगवान् नामक तीन पर्वत हैं। ये तीनों रम्यक, हिरण्मय तथा कुरु इन तीन वर्षों की सीमा-रेखा बनाने वाले हैं और इनको एक दूसरे से विभक्त करते वाले हैं। इन पर्वतों की चौड़ाई २,००० योजन (१६,००० मील) है। लम्बाई में ये पूर्व से पश्चिम की ओर लवण सागर के तट तक विस्तृत हैं। दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ने पर प्रत्येक पर्वत की लम्बाई अपने पूर्ववर्ती पर्वत की दशमांश होती जाती है, किन्तु इन सबकी ऊँचाई एक सी रहती है।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किये हैं।

यथा भागवते तूक्तं भौवनं कोश-लक्षणं।

तस्याविरोधतो योज्यम् अन्यग्रंथान्तरे स्थितम् ॥

मण्डोदे पुराणं चैव व्यत्यासं क्षीरसागरे।

राहुसोमरवीणां च मण्डलाद्विगुणोक्तिताम् ॥

विनैव सर्वम् उन्नेयं योजनाभेदतोऽत्र तु।

इन श्लोकों से ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य तथा चन्द्र के अतिरिक्त एक अन्य अदृश्य ग्रह भी है, जिसे राहु कहते हैं। राहु के गतिशील होने से सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण लगते हैं। हमारा सुझाव है कि चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए जो आधुनिक यात्राएँ की जा रही हैं, वे भूल से राहु तक जाती हैं।

एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथा नीलादयोऽयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिम्पुरुषभारतानां यथासङ्ख्यम्. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; इलावृतम्—इलावृत वर्ष के; निषधः हेम-कूटः हिमालयः—निषध, हेमकूट तथा हिमालय ये तीन पर्वत; इति—इस प्रकार; प्राक्-आयताः—पूर्व दिशा तक विस्तारित; यथा—जिस प्रकार; नील-आदयः—नील इत्यादि पर्वत; अयुत-योजन-उत्सेधाः—दस हजार योजन ऊँचा; हरि-वर्ष—हरिवर्ष नामक खण्ड; किम्पुरुष—किंपुरुष नामक खण्ड; भारतानाम्—भारतवर्ष नामक खण्ड; यथा-सङ्ख्यम्—संख्यानुसार, क्रमशः।

इसी प्रकार, इलावृत-वर्ष के दक्षिण में तथा पूर्व से पश्चिम को फैले हुए तीन विशाल पर्वत हैं (उत्तर से दक्षिण को) जिनके नाम हैं—निषध, हेमकूट तथा हिमालय। इनमें से प्रत्येक १०,००० योजन (८०,००० मील) ऊँचा है। ये हरिवर्ष, किम्पुरुष-वर्ष तथा भारतवर्ष नामक तीन वर्षों की सीमाओं के सूचक हैं।

तथैवेलावृतमपरेण पूर्वेण च माल्यवद्गन्धमादनावानीलनिषधायतौ द्विसहस्रं पप्रथतुः केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विदधाते. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तथा एव—उसके ही समान; इलावृतम् अपरेण—इलावृत वर्ष के पश्चिम में; पूर्वेण च—और पूर्व दिशा में भी; माल्यवद्-गन्ध-मादनौ—पश्चिम में माल्यवान् तथा पूर्व में गन्धमादन सीमा बनाने वाले पर्वत; आ-नील-निषध-आयतौ—उत्तर दिशा में नीलपर्वत तक और दक्षिण दिशा में निषध पर्वत तक; द्वि-सहस्रम्—दो हजार योजन; पप्रथतुः—फैले हुए हैं; केतुमाल-भद्राश्वयोः—केतुमाल तथ भद्राश्व इन दो वर्षों की; सीमानम्—सीमा; विदधाते—स्थापना करते हैं।

इसी प्रकार से इलावृत-वर्ष के पूर्व तथा पश्चिम क्रमश माल्यवान् और गन्धमादन नामक दो विशाल पर्वत हैं। ये दोनों २,००० योजन (१६,००० मील) ऊँचे हैं और उत्तर में नीलपर्वत तक तथा दक्षिण में निषध तक फैले हैं। ये इलावृत-वर्ष की और केतुमाल तथा भद्राश्व नामक वर्षों की भी सीमाओं के सूचक हैं।

तात्पर्य : इस पृथ्वी ग्रह पर ही न जाने कितने पर्वत हैं जिनकी ठीक से माप नहीं हो पाई है। मेक्सिको से काराकास के मध्य पर्वतीय क्षेत्र के ऊपर से यात्रा करते हुए हमने इतने पर्वत देखे कि शायद ही उन सबों की ठीक-ठीक ऊँचाई, लम्बाई तथा चौड़ाई नापी गई हो। अतः जैसा श्रीशुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* में इंगित किया है, हमें मात्र अपनी गणना के द्वारा बड़े-बड़े पर्वतों को जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उन्होंने यह पहले ही कह दिया है कि ब्रह्मा जैसी दीर्घायु पाकर भी इनकी गणना कर पाना सम्भव नहीं है। हमें शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक विद्वानों के कथन से

संतुष्ट हो जाना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि श्रीभगवान् की माया से यह सारा ब्रह्माण्ड किस प्रकार सम्भव हो सका है। यहाँ पर जो प्रमाण दिये गये हैं—यथा १०,००० या १००,००० योजन उन्हें सही मानना चाहिए, क्योंकि वे श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा दिए गये हैं। हमारे प्रयोगात्मक ज्ञान से *श्रीमद्भागवत* के कथनों की न तो पुष्टि हो सकती है न अपुष्टि। हमें विद्वानों के मुख से ऐसे कथनों का श्रवण मात्र करना चाहिए। यदि हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की असीम शक्ति को समझ सकें तो इसमें हम लाभान्वित ही होंगे।

मन्दरो मेरुमन्दरः सुपार्श्वः कुमुद इत्ययुतयोजनविस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भगिरय उपक्लिप्ताः. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मन्दरः—मन्दर नामक पर्वत; मेरु-मन्दरः—मेरु-मन्दर पर्वत; सुपार्श्वः—सुपार्श्व पर्वत; कुमुदः—कुमुद पर्वत; इति—इस प्रकार; अयुत-योजन-विस्तार-उन्नाहाः—जिनकी ऊँचाई तथा चौड़ाई दस हजार योजन है; मेरोः—सुमेरु की; चतुः-दिशम्—चारों दिशाएँ; अवष्टम्भ-गिरयः—पर्वत जो सुमेरु की मेखलाओं के सदृश हैं; उपक्लिप्ताः—स्थित हैं।

सुमेरु पर्वत की चारों दिशाओं में मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व तथा कुमुद नामक चार पर्वत हैं, जो इसकी मेखलाओं के सदृश हैं। ये पर्वत १०,००० योजन (८०,००० मील) ऊँचे तथा इतने ही चौड़े हैं।

चतुर्ष्वेतेषु चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादपप्रवराः पर्वतकेतव इवाधिसहस्रयोजनोन्नाहास्तावद्विटपविततयः शतयोजनपरिणाहाः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

चतुर्षु—चारों पर; एतेषु—मन्दर इत्यादि इन चारों पर; चूत-जम्बू-कदम्ब—आम, जामुन तथा कदम्ब जैसे वृक्ष; न्यग्रोधाः—(तथा) वट वृक्ष; चत्वारः—चार प्रकार के; पादप-प्रवराः—वृक्षों में श्रेष्ठ; पर्वत-केतवः—पर्वतों पर ध्वजाएँ; इव—सदृश; अधि—ऊपर; सहस्र-योजन-उन्नाहाः—एक हजार योजन ऊँचा; तावत्—इतना भी; विटप-विततयः—शाखाओं की लम्बाई; शत-योजन—एक सौ योजन; परिणाहाः—चौड़ी।

इन चारों पर्वतों की चोटियों पर ध्वजाओं के रूप में एक एक आम्र, जामुन, कदम्ब तथा वट वृक्ष हैं। इन वृक्षों का घेरा १०० योजन (८०० मील) तथा ऊँचाई १,१०० योजन (८,८०० मील) है। इनकी शाखाएँ १,१०० योजन की त्रिज्या में फैली हैं।

ह्रदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमृष्टजला यदुपस्पर्शिन उपदेवगणा योगैश्वर्याणि स्वाभाविकानि भरतर्षभ धारयन्ति; देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति. ॥ १३१४॥

शब्दार्थ

ह्रदा:—सरोवर; चत्वार:—चार; पय:—दुग्ध; मधु—शहद; इक्षु-रस—गन्ने का रस; मृष्ट-जला:—विशुद्ध जल से पूरित; यत्—जिसका; उपस्पर्शिन:—तरल पदार्थों का प्रयोग करनेवाले; उपदेव-गणा:—देवतागण; योग-ऐश्वर्याणि—योग की समस्त सिद्धियाँ; स्वाभाविकानि—सरलता से; भरत-ऋषभ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ; धारयन्ति—धारण करते हैं; देव-उद्यानानि—स्वर्गिक उद्यान; च—भी; भवन्ति—हैं; चत्वारि—चार; नन्दनम्—नन्दनवन; चैत्र-रथम्—चैत्ररथ उद्यान; वैभ्राजकम्—वैभ्राजक उद्यान; सर्वत:-भद्रम्—सर्वतोभद्र उद्यान; इति—इस प्रकार।

भरतवंश में श्रेष्ठ, हे महाराज परीक्षित, इन चारों पर्वतों के मध्य में चार विशाल सरोवर हैं। इनमें से पहले का जल दुग्ध की तरह, दूसरे का मधु के सदृश और तीसरे का इक्षुरस की भाँति स्वादिष्ट है। चौथा सरोवर विशुद्ध जल से परिपूर्ण है। इन चारों सरोवरों की सुविधा का उपभोग सिद्ध, चारण तथा गन्धर्व जैसे अपार्थिव प्राणी, जिन्हें देवता भी कहा जाता है, करते हैं। फलस्वरूप उन्हें योग की सहज सिद्धियाँ—यथा, सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतर और से रूप धारण करने की शक्तियाँ—प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त चार देव-उद्यान भी हैं, जिनके नाम हैं—नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक तथा सर्वतोभद्र। दीर्घतर

येष्वमरपरिवृढा: सह सुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणैरुपगीयमानमहिमान: किल विहरन्ति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

येषु—जिनमें; अमर-परिवृढा:—सर्वश्रेष्ठ देवगण; सह—सहित; सुर-ललना—समस्त देवताओं तथा उपदेवताओं की पत्नियों के; ललाम—आभूषण सदृश उन स्त्रियों के; यूथ-पतय:—पतिगण; उपदेव-गणै:—उपदेवों (गन्धर्वों) के द्वारा; उपगीयमान—जिनकी स्तुति हो रही है; महिमान:—जिनका यश; किल—निश्चय ही; विहरन्ति—विहार करते हैं, क्रीड़ा करते हैं।

इन उद्यानों में श्रेष्ठतम देवगण अपनी-अपनी सुन्दर पत्नियों के सहित जो स्वर्गिक सौन्दर्य के आभूषणों जैसी हैं, एकत्र होकर आनन्द लेते हैं और गन्धर्व-जन उनके यश-गान करते हैं।

मन्दरोत्सङ्ग एकादशशतयोजनोत्तुङ्गदेवचूतशिरसो गिरिशिखरस्थूलानि फलान्यमृतकल्पानि पतन्ति. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मन्दर-उत्सङ्गे—मन्दर पर्वत की निचली ढाल पर; एकादश-शत-योजन-उत्तुङ्ग—१,१०० योजन ऊँचा; देवचूत-शिरस:—देवचूत नामक आम्रवृक्ष की चोटी से; गिरि-शिखर-स्थूलानि—जो पर्वताशृंगों के समान स्थूल हैं; फलानि—फल; अमृत-कल्पानि—अमृत की भाँति मधुर; पतन्ति—गिरते हैं।

मन्दर पर्वत की निचली ढलान पर देवचूत नामक एक आम्रवृक्ष है, जिसकी ऊँचाई १,१०० योजन है। इस वृक्ष की चोटी से पर्वतशृंग जितने बड़े तथा अमृत तुल्य मधुर फल गिरते रहते हैं जिनका उपभोग दिव्य लोक के निवासी करते हैं।

तात्पर्य : विद्वान ऋषियों ने *वायु पुराण* में भी इस वृक्ष का उल्लेख किया है—

अरत्नीनां शतान्यष्टावेकषष्ट्यधिकानि च।

फलप्रमाणमाख्यातमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

तेषां विशीर्यमाणानामतिमधुरसुरभिसुगन्धिबहुलारुणरसोदेनारुणोदा नाम नदी मन्दरगिरिशिखरान्निपतन्ती पूर्वेणेलावृतमुपप्लावयति. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—सभी आम्रफलों के; विशीर्यमाणानाम्—चोटी से गिरकर फट जाने के कारण; अति-मधुर—अत्यन्त मीठी; सुरभि—महकने वाली; सुगन्धि—सुगन्धयुक्त; बहुल—प्रभूत मात्रा; अरुण-रस-उदेन—लाल-लाल रस के द्वारा; अरुणोदा—अरुणोदा; नाम—नामक; नदी—सरिता; मन्दर-गिरि-शिखरात्—मन्दर पर्वत के शिखर से; निपतन्ती—गिरती हुई; पूर्वेण—पूर्व दिशा में; इलावृतम्—इलावृत-वर्ष से होकर; उपप्लावयति—बहती है।

इतनी ऊँचाई से गिरने के कारण वे सभी आम्रफल फट जाते हैं और उनका मधुर, सुगन्धित रस बाहर निकल आता है। यह रस अन्य सुगन्धियों से मिलकर अत्यधिक सुरभित हो जाता है। यही रस पर्वत से झरनों में जाता है और अरुणोदा नामक नदी का रूप धारण कर लेता है जो इलावृत की पूर्व दिशा से होकर बहती है।

यदुपजोषणाद्भवान्या अनुचरीणां पुण्यजनवधूनामवयवस्पर्शसुगन्धवातो दशयोजनं समन्तादनुवासयति. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; उपजोषणात्—सुगन्धित जल का प्रयोग करने से; भवान्याः—भगवान् शिव की पत्नी भवानी की; अनुचरीणाम्—अनुचरियों का; पुण्य-जन-वधूनाम्—जो परम पवित्र यक्षों की पत्नियाँ हैं; अवयव—शरीर के अंगों के; स्पर्श—स्पर्श से; सुगन्ध-वातः—सुरभित वायु; दश-योजनम्—दस योजन (अस्सी मील) तक; समन्तात्—चारों ओर; अनुवासयति—सुवासित करती है।

यक्षों की पवित्र पत्नियाँ भगवान् शंकर की अर्द्धांगिनी भवानी की अनुचरी हैं। अरुणोदा नदी के जल का पान करने के कारण उनके शरीर सुगन्धित हो जाते हैं। वायु उनके शरीर का स्पर्श करके उस सुगन्धि से अस्सी मील तक चारों ओर के समस्त वायुमण्डल को सुरभित कर देती है।

एवं जम्बूफलानामत्युच्चनिपातविशीर्णानामनस्थिप्रायाणामिभकायनिभानां रसेन जम्बू नाम नदी मेरुमन्दरशिखरादयुतयोजनादवनितले निपतन्ती दक्षिणेनात्मानं यावदिलावृतमुपस्यन्दयति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी प्रकार; जम्बू-फलानाम्—जामुन के फलों का; अति-उच्च-निपात—अत्यधिक ऊँचाई से गिरने के कारण; विशीर्णानाम्—खण्ड-खण्ड हो जाने से; अनस्थि-प्रायाणाम्—अत्यन्त लघु बीज होने के कारण; इभ-काय-निभानाम्—और जो हाथी के शरीर के सदृश विशाल हैं; रसेन—रस के द्वारा; जम्बू नाम नदी—जम्बू नामक नदी; मेरु-मन्दर-शिखरात्—मेरु मन्दर पर्वत के शिखर से; अयुत-योजनात्—दस हजार योजन ऊँची; अवनि-तले—पृथ्वी तल पर; निपतन्ती—गिरती हुई; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; आत्मानम्—स्वयमेव; यावत्—सम्पूर्ण; इलावृतम्—इलावृतवर्ष से; उपस्यन्दयति—होकर बहती है।.

इसी प्रकार रस से भरे और अत्यन्त छोटी गुठली वाले जामुन के फल अत्यधिक ऊँचाई से गिरकर खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। ये फल हाथी जैसे आकार वाले होते हैं और इनका रस बहकर जम्बूनदी का रूप धारण कर लेता है। यह नदी इलावृत के दक्षिण में मेरुमन्दर की चोटी से दस हजार योजन नीचे गिरकर समस्त इलावृत भूखण्ड को रस से आप्लावित करती है।

तात्पर्य : हम यह अनुमान लगा सकते रहते हैं कि हाथी जैसे आकार वाले फल, जिसमें गुठली नाममात्र की हो, कितना अधिक रस होता होगा। अत: स्वाभाविक है कि जामुन के फलों के फटने से रस पहले झरनों के रूप में बहता है और फिर इलावृत के पूरे प्रदेश को आप्लावित कर देता है। इस रस से प्रभूत मात्रा में स्वर्ण उत्पन्न होता है, जैसाकि अगले श्लोकों में कहा गया है।

तावदुभयोरपि रोधसोर्या मृत्तिका तद्रसेनानुविध्यमाना वाय्वर्कसंयोगविपाकेन सदामरलोकाभरणं जाम्बूनदं नाम सुवर्णं भवति; यदु ह वाव विबुधादयः सह युवतिभिर्मुकुटकटककटिसूत्राद्याभरणरूपेण खलु धारयन्ति. ॥ २०२१ ॥

शब्दार्थ

तावत्—सर्वथा; उभयोः अपि—दोनों का; रोधसोः—तटों का; या—जो; मृत्तिका—कीचड़; तत्-रसेन—नदी में बहने वाले जम्बू फलों के रस से; अनुविध्यमाना—संपृक्त होकर; वायु-अर्क-संयोग-विपाकेन—वायु तथा धूप की रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप; सदा—सदैव; अमर-लोक-आभरणम्—जो स्वर्गलोक में निवास करने वाले देवताओं के आभूषणों के लिए प्रयुक्त होता है; जाम्बू-नदम् नाम—जाम्बूनद नामक; सुवर्णम्—स्वर्ण; भवति—बन जाता है; यत्—जो; उ ह वाव—निस्सन्देह; विबुध-आदयः—देवता आदि; सह—साथ; युवतिभिः—अपनी युवा पत्नियों के; मुकुट—मुकुट; कटक—चूड़ियाँ; कटि-सूत्र—करधनी; आदि—इत्यादि; आभरण—सभी प्रकार के आभूषणों के; रूपेण—रूप में; खलु—निश्चय ही; धारयन्ति—धारण करती हैं।.

जम्बू नदी के दोनों तटों का कीचड़ जामुनफल के बहते हुए रस से सिक्त होकर और फिर वायु तथा सूर्य प्रकाश के कारण सूख कर जाम्बू-नद नामक स्वर्ण की प्रचुर मात्रा उत्पन्न करता है। स्वर्ग के निवासी इस स्वर्ण का उपयोग विविध आभूषणों के लिए करते हैं। फलत: स्वर्गलोक के सभी निवासी एवं उनकी तरुण पत्नियाँ स्वर्ण के मुकुटों, चूड़ियों तथा करधनियों से आभूषित रहती हैं। इस प्रकार वे सब जीवन का आनन्द लेते हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् की व्यवस्था के फलस्वरूप कुछ लोकों की नदियों के तटों पर स्वर्ण उत्पन्न

होता है। इस पृथ्वी के बेचारे निवासी अपने अल्पज्ञान के कारण "तथाकथित भगवान्" के वशीभूत हो जाते हैं, जो केवल मुट्ठी भर ही स्वर्ण बना पाते हैं। किन्तु ऐसा माना जाता है कि इस भौतिक जगत के उच्चतर लोकों में, जम्बू नदी के तटों का कीचड़ जामुन के रस के साथ मिलकर, सूर्यप्रकाश एवं वायु की प्रक्रिया के कारण प्रचुर मात्रा में स्वर्ण उत्पन्न करता है। इस प्रकार वहाँ के स्त्री-पुरुष विविध स्वर्णाभूषणों से अलकृंत होकर अत्यन्त मनोहर लगते हैं। दुर्भाग्यवश, पृथ्वी पर सोने की इतनी कमी है कि विश्व की सरकारें इसे अपने कोष में रखकर कागजी मुद्रा चलाती हैं। चूँकि यह मुद्रा स्वर्ण पर आश्रित नहीं रहती, इसलिए कागजी नोटों के रूप में वितरित धन व्यर्थ होता है। तो भी सांसारिक प्राणी भौतिक उन्नति पर इतना इतराते हैं। आज के युग में, कन्याएँ तथा स्त्रियाँ सोने के बजाय प्लास्टिक के आभूषण धारण करती हैं, सोने के पात्रों के बजाय प्लास्टिक के बने पात्र काम में लाये जाते हैं, किन्तु फिर भी मनुष्यों को अपनी सम्पत्ति पर अत्यधिक गर्व है। इसीलिए इस युग के मनुष्यों को *मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः* (*भागवत* में १.१.१०) कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वे श्रीभगवान् के ऐश्वर्य को न समझ पाने के कारण अत्यन्त मन्द एवं नीच हैं। उन्हें *सुमन्दमतयः* कहा गया है, क्योंकि वे इतने मूर्ख हैं कि मुट्ठी भर सोना बनाने वाले धूर्त को ईश्वर मान बैठते हैं। पास में सोना न होने से वे अत्यन्त दरिद्र होते हैं, इसीलिए उन्हें अभागा माना जाता है।

कभी-कभी ये अभागे पुरुष भाग्यशाली स्थान प्राप्त करने के लिए स्वर्गलोक जाना चाहते हैं, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तों की रुचि ऐसे ऐश्वर्य के प्रति रंच भर भी नहीं होती। दरअसल कभी-कभी भक्तजन तो स्वर्ण के रंग की उपमा चमकीली सुनहली विष्ठा से देते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भक्तों को स्वर्ण आभूषणों एवं मनोहारी रूप से अलंकृत स्त्रियों के द्वारा आकृष्ट न होने का उपदेश दिया है। *न धनं न जनं न सुन्दरीम्*—भक्त को चाहिए कि वह न तो स्वर्ण से, न सुन्दर स्त्रियों से तथा न ही अनेक अनुगामियों के होने से आकृष्ट हो। अतः श्री चैतन्य महाप्रभु ने गुप्त रूप से प्रार्थना की—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि*—"मेरे प्रभो, मुझे अपनी अहैतुकी भक्ति प्रदान करें। मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।" भक्त इस भौतिक जगत से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना कर सकता है। यही उसकी एकमात्र कामना है।

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ॥

विनीत भक्त भगवान् से यही प्रार्थना करता है, ''कृपा करके अनेकानेक भौतिक ऐश्वर्यों से पूर्ण इस भौतिक जगत से मुझे उबार कर अपने चरणारविन्द की शरण में रख लें।''

श्रीनरोत्तमदास ठाकुर प्रार्थना करते हैं—

हा हा प्रभु नन्दसुत, वृषभानु-सुता-युत

करुणा करह एइ बार

नरोत्तमदास कय, ना ठेलिह रांगापाय,

तोमा विने के आछे आमार

''हे प्रभो, हे नन्द महाराज के पुत्र, आप मेरे समक्ष वृषभानु की पुत्री श्रीमती राधा-रानी सहित खड़े हैं। मुझे अपने चरणकमल की धूलि के रूप में स्वीकार करें। मुझे ठुकरावें नहीं, क्योंकि मेरा अन्य कोई आश्रय नहीं है।''

इसी प्रकार से प्रबोधानन्द सरस्वती बताते हैं कि स्वर्णमुकट तथा अन्य आभूषणों से अलंकृत देवताओं की स्थिति आकाशकुसुम से अधिक नहीं है (*त्रिदशपूर आकाश-पुष्पायते*)। भक्त कभी भी ऐसे ऐश्वर्य से लालायित नहीं होता। वह तो मात्र भगवान् के चरणकमल की धूलि बनने की आकांक्षा रखता है।

यस्तु महाकदम्बः सुपार्श्वनिरूढो यास्तस्य कोटरेभ्यो विनिःसृताः पञ्चायामपरिणाहाः पञ्च मधुधाराः सुपार्श्वशिखरात्पतन्त्योऽपरेणात्मानमिलावृतमनुमोदयन्ति. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—किन्तु; महा-कदम्बः—महाकदम्ब नामक वृक्ष; सुपार्श्व-निरूढः—जो सुपार्श्व पर्वत की बगल में खड़ा हुआ है; याः—जो; तस्य—उसका; कोटरेभ्यः—कोटर से; विनिःसृताः—प्रवाहित; पञ्च—पाँच; आयाम—व्याम, आठ फुट की माप; परिणाहाः—जिसकी माप; पञ्च—पाँच; मधु-धाराः—मधु की धाराएँ; सुपार्श्व-शिखरात्—सुपार्श्व पर्वत की चोटी से; पतन्त्यः—गिर रही हैं; अपरेण—सुमेरु पर्वत की पश्चिम दिशा में; आत्मानम्—समग्र; इलावृतम्—इलावृत वर्ष को; अनुमोदयन्ति—सुरभित करती हैं।

सुपार्श्व पर्वत की बगल में महाकदम्ब नामक अत्यन्त प्रसिद्ध विशाल वृक्ष खड़ा है। इस वृक्ष के कोटर से मधु की पाँच नदियाँ निकलती हैं जिनमें से प्रत्येक लगभग पाँच ''व्याम'' चौड़ी है। यह प्रवहमान मधु सुपार्श्व पर्वत की चोटी से सतत नीचे गिरता रहता है और इलावृत-वर्ष की

पश्चिम दिशा से प्रारम्भ होकर उसके चारों ओर बहता रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्थल सुहावनी गंध से पूरित है।

तात्पर्य : दोनों भुजाओं के फैलाने पर एक हथेली से दूसरी के बीच की दूरी ''व्याम'' कहलाती है जो लगभग आठ फुट होती है। इस प्रकार प्रत्येक नदी की चौड़ाई लगभग चालीस फुट और कुल मिलाकर लगभग दो सौ फुट होगी।

या ह्युपयुञ्जानानां मुखनिर्वासितो वायुः समन्ताच्छतयोजनमनुवासयति. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

याः—जो (वे मधु धाराएँ); हि—निस्सन्देह; उपयुञ्जानानाम्—पान करने वालों के; मुख-निर्वासितः वायुः—मुखों से निष्कासित वायु; समन्तात्—चतुर्दिक्; शत-योजनम्—एक सौ योजन तक (आठ सौ मील); अनुवासयति—सुगन्धित बना देती है।.

इस मधु को पीने वालों के मुख से निकली वायु चारों ओर सौ योजन तक के भूभाग को सुगन्धित बना देती है।

एवं कुमुदनिरूढो यः शतवल्शो नाम वटस्तस्य स्कन्धेभ्यो नीचीनाः
पयोदधिमधुघृतगुडान्नाद्यम्बरशय्यासनाभरणादयः सर्व एव कामदुघा नदाः
कुमुदाग्रात्पतन्तस्तमुत्तरेणेलावृतमुपयोजयन्ति. ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुमुद-निरूढः—कुमुद पर्वत पर उगा हुआ; यः—वह; शत-वल्शः नाम—शतवल्श नामक वृक्ष (एक सौ तने होने के कारण); वटः—वट-वृक्ष; तस्य—उसके; स्कन्धेभ्यः—मोटी-मोटी शाखाओं से; नीचीनाः—नीचे गिरकर; पयः—दुग्ध; दधि—दही; मधु—शहद; घृत—घी; गुड—गुड़; अन्न—अनाज; आदि—इत्यादि; अम्बर—वस्त्र; शय्या—बिस्तर; आसन—बैठने का स्थान; आभरण-आदयः—आभूषणों आदि से युक्त; सर्वे—सब कुछ, प्रत्येक वस्तु; एव—निश्चय ही; काम-दुघाः—समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली; नदाः—बड़ी नदियाँ; कुमुद-अग्रात्—कुमुद पर्वत की चोटी से; पतन्तः—गिरकर, बहकर; तम्—उस तक; उत्तरेण—उत्तर दिशा में; इलावृतम्—इलावृत वर्ष में; उपयोजयन्ति—सुखी बनाती हैं।.

इसी प्रकार कुमुद पर्वत के ऊपर एक विशाल वट वृक्ष है, जो एक सौ प्रमुख शाखाओं के कारण शतवल्श कहलाता है। इन शाखाओं से अनेक जड़ें निकली हुई हैं, जिनमें से अनेक नदियाँ बहती हैं। ये नदियाँ इलावृत-वर्ष की उत्तर दिशा में स्थित पर्वत की चोटी से नीचे बहकर वहाँ के निवासियों को लाभ पहुँचाती हैं। इन नदियों के फलस्वरूप लोगों के पास दूध, दही, शहद, घी, राब, अन्न, वस्त्र, बिस्तर, आसन तथा आभूषण हैं। उनकी समृद्धि के लिए उन्हें जो भी पदार्थ चाहिए वे सब उपलब्ध हैं, जिससे वे सभी अत्यन्त सुखी हैं।

तात्पर्य : मानवीय समृद्धि ऐसी आसुरी सभ्यता पर आश्रित नहीं होती जिसमें केवल गगन-चुम्बी प्रासाद और राजमार्ग पर दौड़ने वाले बड़े-बड़े स्वचालित वाहन तो हों, किन्तु वह संस्कृति तथा ज्ञान से शून्य हो। प्राकृतिक पदार्थ ही इसके लिए पर्याप्त होते हैं। जहाँ दूध, दही, मधु, अन्न, घी, गुड़, धोती, साड़ी, बिस्तर, आसन तथा आभूषण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, वहाँ के वासी ही वास्तव में ऐश्वर्यवान् होते हैं। जब नदी अपने प्रभूत जल की बाढ़ से भूखण्ड को डुबो देती है, तो ये सारी वस्तुएँ उपजाई जा सकती हैं और इस तरह किसी प्रकार का अभाव नहीं दिखता। किन्तु, यह सब कुछ यज्ञ-अनुष्ठान पर निर्भर करता है, जैसाकि वैदिक शास्त्रों में कहा गया है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

"सभी प्राणी अन्न पर निर्भर रहते हैं, जो वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ करने से होती है और यज्ञ की उत्पत्ति नियत कर्म से होती है।" *भगवद्गीता* (३.१४) में इन नियमों का उल्लेख है। यदि मनुष्य पूर्णरूप से कृष्णभावनामृत में इन नियमों का पालन करे तो मानव समाज सम्पन्न होगा और सभी मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में सुखी रहेंगे।

यानुपजुषाणानां न कदाचिदपि प्रजानां
वलीपलितक्लमस्वेददौर्गन्ध्यजरामयमृत्युशीतोष्णवैवर्ण्योपसर्गादयस्तापविशेषा भवन्ति यावज्जीवं सुखं निरतिशयमेव. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यान्—जो (उपर्युक्त नदियों से उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थ); उपजुषाणानाम्—पूर्णरूप से उपभोग करने वाले पुरुषों का; न—नहीं; कदाचित्—किसी भी समय; अपि—निश्चय ही; प्रजानाम्—प्रजा की; वली—झुर्रियाँ; पलित—पके केश; क्लम—थकान; स्वेद—पसीना; दौर्गन्ध्य—पसीने के कारण दुर्गंध; जरा—बुढ़ापा; आमय—रोग; मृत्यु—असामयिक मृत्यु; शीत—कड़ाके की सर्दी; उष्ण—दाहक, गर्मी; वैवर्ण्य—शरीर की कान्ति का धूमिल पड़ना, विवर्णता; उपसर्ग—क्लेश; आदयः—इत्यादि; ताप—दुखों का; विशेषाः—किस्में, प्रकार; भवन्ति—हैं; यावत्—जब तक; जीवम्—जीवन; सुखम्—सुख; निरतिशयम्—अपार, सीमाहीन; एव—केवल।

इस भौतिक जगत के वासी जो इन बहती नदियों से प्राप्त पदार्थों का सेवन करते हैं, उनके शरीर में न तो झुर्रियाँ पड़ती हैं और न उनके केश सफेद होते हैं। न तो उन्हें थकान का अनुभव होता है और न उसके पसीने से उनके शरीर से दुर्गन्ध ही आती है। उन्हें बुढ़ापा, रोग या आसामयिक मृत्यु नहीं सताती है न ही वे कड़ाके की सर्दी अथवा झुलसती गर्मी से दुखी होते हैं

और न ही उनके शरीर की कान्ति लुप्त होती है। वे सभी मृत्युपर्यन्त चिन्ताओं से मुक्त सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में इसी भौतिक जगत के भीतर मानव समाज की सम्पूर्णता का संकेत है। इस भौतिक जगत की दयनीय दशा को दुग्ध, दही, मधु, घी, गुड़, अन्न, आभूषण, बिस्तर, आसन इत्यादि की प्रचुर मात्रा में पूर्ति करके सुधारा जा सकता है। यही मानवीय सभ्यता है। कृषि कर्म द्वारा प्रचुर अन्न उत्पन्न किया जा सकता है और गो-संवर्धन द्वारा प्रचुर दूध, दही तथा घी की व्यवस्था की जा सकती है। वनों की सुरक्षा करके प्रचुर मधु प्राप्त कर सकते हैं। दुर्भाग्यवश आधुनिक सभ्यता के वशीभूत होकर मनुष्य गायों का वध कर रहे हैं, जो दूध, दही, घी की मूल स्रोत हैं। वे उन वृक्षों का विनाश कर रहे हैं, जो मधु देने वाले हैं। वे कृषिकर्म में संलग्न होने के बजाय कल-पुर्जों, स्वचलित वाहनों तथा मदिरा के कारखानें खोलते जा रहे हैं। तो भला मनुष्य किस प्रकार सुखी रह सकते हैं? उन्हें भौतिकता के समस्त कष्टों का भोग करना होगा। उनके शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और धीरे-धीरे उनका क्षय होता रहता है, जिससे वे बौने होने लगते हैं। नाना प्रकार की गर्हित वस्तुओं के खाने से उनके शरीर से पसीना निकलने से दुर्गन्ध निकलती है। यह मानवीय सभ्यता नहीं कहलाती है। यदि सचमुच ही मनुष्य इस जीवन में सुख भोगना चाहते हैं और चाहते हैं कि उनका भावी जीवन सुखमय बने तो उन्हें चाहिए कि वे वैदिक सभ्यता का अनुसरण करें। इस वैदिक सभ्यता में उपर्युक्त सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

**कुरङ्गकुररकुसुम्भवैकङ्कत्रिकूटशिशिरपतङ्गरुचकनिषधशिनीवासकपिलशङ्खवैदूर्यजारुधिहंसऋषभनागक
ालञ्जरनारदादयो विंशतिगिरयो मेरोः कर्णिकाया इव केसरभूता मूलदेशे परित उपक्लिप्ताः. ॥ २६ ॥**

शब्दार्थ

कुरङ्ग—कुरंग; कुरर—कुरर; कुसुम्भ-वैकङ्क-त्रिकूट-शिशिर-पतङ्ग-रुचक-निषध-शिनीवास-कपिल-शङ्ख-वैदूर्य-जारुधि-हंस-ऋषभ-नाग-कालञ्जर-नारद—ये सभी पर्वतों के नाम हैं; आदयः—इत्यादि; विंशति-गिरयः—बीस पर्वत; मेरोः—सुमेरु पर्वत के; कर्णिकायाः—कमलकोश के; इव—सदृश; केसर-भूताः—केसर के समान; मूल-देशे—पाद पृष्ठ पर; परितः—चारों ओर; उपक्लृप्ताः—श्रीभगवान् के द्वारा आयोजित।

मेरु पर्वत के तलहटी के चारों ओर अन्य पर्वत इस सुन्दर ढंग से व्यवस्थित हैं मानों कमल पुष्प की कर्णिका के चारों ओर केसर हों। इन पर्वतों के नाम हैं—कुरंग, कुरर, कुसुम्भ, वैकंक, त्रिकूट, शिशिर, पतंग, रुचक, निषध, शिनीवास, कपिल, शंख, वैदूर्य, जारुधि, हंस,

ऋषभ, नाग, कालञ्जर तथा नारद।

जठरदेवकूटौ मेरुं पूर्वेणाष्टादशयोजनसहस्त्रमुदगायतौ द्विसहस्त्रं पृथुतुङ्गौ भवतः; एवमपरेण पवनपारियात्रौ दक्षिणेन कैलासकरवीरौ प्रागायतावेवमुत्तरतस्त्रिशृङ्गमकरावष्टभिरेतैः परिसृतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः. ॥ २७॥

शब्दार्थ

जठर-देवकूटौ—जठर तथा देवकूट नामक दो पर्वत; मेरुम्—सुमेरु पर्वत; पूर्वेण—पूर्व दिशा में; अष्टादश-योजन-सहस्त्रम्—अठारह हजार योजन; उदगायतौ—उत्तर से दक्षिण को फैला हुआ; द्वि-सहस्त्रम्—दो हजार योजन; पृथु-तुङ्गौ—चौड़ाई तथा ऊँचाई में; भवतः—हैं; एवम्—इसी तरह; अपरेण—पश्चिम दिशा में; पवन-पारियात्रौ—पवन तथा पारियात्र नामक दो पर्वत; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; कैलास-करवीरौ—कैलास तथा करवीर नामक दो पर्वत; प्राक्-आयतौ—पूर्व तथा पश्चिम दिशा में विस्तृत; एवम्—इसी तरह; उत्तरतः—उत्तर दिशा में; त्रिशृङ्ग-मकरौ—त्रिशृंग तथा मकर ये दो पर्वत; अष्टभिः एतैः—इन आठ पर्वतों के द्वारा; परिसृतः—घिरा हुआ; अग्निः इव—अग्नि के सदृश; परितः—सर्वत्र; चकास्ति—तेजी से चमकता है; काञ्चन-गिरिः—सुमेरु या मेरु नामक सोने का पर्वत।

सुमेरु पर्वत के पूर्व में जठर तथा देवकूट नामक दो पर्वत हैं, जो उत्तर तथा दक्षिण की ओर १८,००० योजन (१,४४,००० मील) तक फैले हुए हैं। इसी प्रकार सुमेरु पर्वत की पश्चिम दिशा में पवन तथा पारियात्र नामक दो पर्वत हैं, जो उतनी ही दूरी तक उत्तर तथा दक्षिण में भी फैले हैं। सुमेरु के दक्षिण में कैलास तथा करवीर पर्वत हैं, जो पूर्व और पश्चिम में १८,००० योजन तक फैले हुए हैं और सुमेरु की उत्तरी दिशा में त्रिशृंग तथा मकर नामक दो पर्वत पूर्व और पश्चिम में इतनी ही दूरी में विस्तृत हैं। इन समस्त पर्वतों की चौड़ाई २,००० योजन (१६,००० मील) है। इन आठों पर्वतों से घिरा हुआ स्वर्णनिर्मित सुमेरु पर्वत अग्नि की तरह जाज्वल्यमान है।

मेरोर्मूर्धनि भगवत आत्मयोनेर्मध्यत उपक्लिप्तां पुरीमयुतयोजनसाहस्त्रीं समचतुरस्त्रां शातकौम्भीं वदन्ति. ॥ २८॥

शब्दार्थ

मेरोः—सुमेरु पर्वत की; मूर्धनि—चोटी पर; भगवतः—सर्वशक्तिमान प्राणी; आत्म-योनेः—भगवान् ब्रह्मा की; मध्यतः—मध्य में; उपक्लिप्ताम्—स्थित; पुरीम्—पुरी, विशाल नगरी; अयुत-योजन—दस हजार योजन; साहस्त्रीम्—एक हजार; सम-चतुरस्त्राम्—चारों ओर समान लम्बाई का; शात-कौम्भीम्—पूर्णतः सोने की बनी हुई; वदन्ति—मुनियों का कथन है।

मेरु की चोटी के मध्य भाग में ब्रह्माजी की पुरी स्थित है। इसके चारों कोने समान रूप से एक करोड़ योजन (आठ करोड़ मील) तक विस्तृत हैं। यह पूरे का पूरा स्वर्ण से निर्मित है, इसीलिए विद्वतजन तथा ऋषि-मुनि इसे शातकौम्भी नाम से पुकारते हैं।

तामनुपरितो लोकपालानामष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टावुपक्लिप्ताः. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—ब्रह्मपुरी नामक इस पुरी को; अनुपरितः—घेरे हुए; लोक-पालानाम्—लोकों के शासक; अष्टानाम्—आठ; यथा-दिशम्—दिशाओं के अनुसार; यथा-रूपम्—ब्रह्मपुरी के ही समान; तुरीय-मानेन—माप में केवल एक चतुर्थांश; पुरः—पुरी; अष्टौ—आठ; उपक्लिप्ताः—स्थित हैं।

ब्रह्मपुरी के चारों और सभी दिशाओं में लोकों के आठ प्रमुख लोकपालों के निवास-स्थल हैं, जिनमें से पहला राजा इन्द्र का है। ये निवासस्थल ब्रह्मपुरी के ही समान हैं, किन्तु वे आकार में एक चौथाई हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि लोकों के आठ अधीनस्थ लोकपालों तथा ब्रह्मा की पुरियों का उल्लेख अन्य पुराणों में पाया जाता है—

मेरौ नवपूराणि स्युर्मनोवत्यमरावती

तेजोवती संयमनी तथा कृष्णांगना परा।

श्रद्धावती गन्धवती तथा चान्या महोदया

यशोवती च ब्रह्मेन्द्र बह्यादीनां यथाक्रमम्॥

ब्रह्मा की पुरी मनोवती कहलाती है और उनके सहायक इन्द्र तथा अग्नि इत्यादि की पुरियाँ अमरावती, तेजोवती, संयमनी, कृष्णांगना, श्रद्धावती, गंधावती, महोदया तथा यशोवती कहलाती हैं। ब्रह्मपुरी मध्य में स्थित है और शेष आठों पुरियाँ इसके चारों ओर स्थित हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''जम्बूद्वीप का वर्णन'' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

गंगा-अवतरण

इस अध्याय में गंगा नदी के उद्गम तथा उसके इलावृत-वर्ष में और इसके चारों ओर बहने का वर्णन किया गया है। इसमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चतुर्भुज रूप के अंश संकर्षण के प्रति की गई शिव की वन्दना भी है। एक बार भगवान् विष्णु बलि महाराज के पास पहुँचे तो वे यज्ञ में तल्लीन थे।

भगवान् उनके समक्ष त्रिविक्रम अथवा वामन के रूप में प्रकट हुए और उनसे दानरूप में तीन पग भूमि की याचना की। भगवान् वामन ने दो ही पगों में तीनों लोकों को मापकर अपने बाएँ पैर के अँगूठे से ब्रह्माण्ड के आवरण को भेद डाला। इस छिद्र के कारण–समुद्र से जल की कुछ बूँदे बाहर निकल कर भगवान् शंकर के सिर पर पड़ीं जहाँ पर वे एक हजार युगों तक पड़ी रहीं। ये ही बूँदे पवित्र गंगा नदी हैं। यह पहले स्वर्ग लोक में बहती है जो भगवान् विष्णु के चरण तल में स्थित है। गंगा नदी भागीरथी तथा जाह्नवी आदि कई नामों से भी विख्यात है। यह ध्रुव लोक तथा सप्तर्षि लोकों को पवित्र करने वाली है, क्योंकि ध्रुव तथा सप्तर्षियों की एकमात्र अभिलाषा भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना है।

भगवान् विष्णु के चरणकमल से निर्गत गंगा नदी स्वर्ग लोकों को, विशेष रूप से चन्द्रमा को, आप्लावित करती हुई मेरु पर्वत के ऊपर बसी ब्रह्मपुरी से होकर आगे बहती है। यहाँ पर यह चार धाराओं (सीता, अलकनन्दा, चक्षु तथा भद्रा) में विभाजित होकर लवण सागर की ओर बहती है। इनमें से सीता–नामक धारा शेखर पर्वत तथा गन्धमादन पर्वत से होकर बहती है और फिर भद्राश्व–वर्ष तक प्रवाहित होकर पश्चिम में लवण सागर से मिल जाती है। चक्षु धारा माल्यवान्–गिरि से होकर प्रवाहित होते हुए केतुमाल–वर्ष में पहुँचकर पश्चिम में लवण सागर में मिल जाती है। भद्रा कुरुदेश पहुँचने के पूर्व मेरु, कुमुद, नील, श्वेत तथा शृंगवान पर्वतों को पार करती है और तब उत्तर दिशा में लवण सागर में मिल जाती है। अलकनन्दा ब्रह्मालय से बहती हुई अनेक पर्वतों को, जिनमें हेमकूट तथा हिमकूट भी सम्मिलित हैं लाँघ करके भारतवर्ष में पहुँचती है जहाँ यह लवण सागर के दक्षिण की ओर बहती है। अनेक नदियाँ तथा उनकी शाखाएँ नौ वर्षों में से होकर बहती हैं।

भारतवर्ष नामक भूभाग कर्म क्षेत्र है तथा अन्य आठ वर्ष उन पुरुषों के निमित्त हैं, जो स्वर्गिक आनन्द उठाना चाहते हैं। इन आठों सुन्दर वर्षों में स्वर्गिक प्राणी विभिन्न स्तरों के भौतिक सुख और आनन्द का अनुभव करते हैं। श्रीभगवान् भिन्न अवतार लेकर जम्बूद्वीप के इन नौ वर्षों में अपनी दया का वितरण करते हैं।

इलावृत वर्ष में भगवान् शंकर ही एकमात्र पुरुष हैं। यहाँ वे अपनी पत्नी भवानी के साथ वास करते हैं और अनेक अनुचरियाँ भवानी देवी की सेवा करती हैं। यदि कोई अन्य पुरुष इस प्रदेश में

प्रवेश करता है, तो भवानी के श्राप से वह स्त्री बन जाता है। भगवान् शंकर संकर्षण भगवान् की पूजा अनेक प्रकार की प्रार्थनाओं द्वारा करते हैं। उन प्रार्थनाओं में से एक इस प्रकार है—"हे भगवन्! अपने समस्त भक्तों को इस भौतिक जीवन से उबारें और जो भक्त नहीं हैं उन्हें भौतिक जगत से बाँध कर रखें। आपकी कृपा के बिना कोई भी प्राणी भौतिक जगत के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता।"

श्रीशुक उवाच

तत्र भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणान्तःप्रविष्टा या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिताखिलजगदघमलापहोपस्पर्शनामला साक्षाद्भगवत्पदीत्यनुपलक्षितवचोऽभिधीयमानातिमहता कालेन युगसहस्रोपलक्षणेन दिवो मूर्धन्यवततार यत्तद्विष्णुपदमाहुः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; तत्र—उस काल; भगवतः—श्रीभगवान् के अवतार का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यज्ञ-लिङ्गस्य—समस्त यज्ञों के फल का भोक्ता; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; विक्रमतः—दूसरा पग भरते हुए; वाम-पाद—बाएँ पैर के; अङ्गुष्ठ—अँगूठे के; नख—नाखून द्वारा; निर्भिन्न—भेद कर; ऊर्ध्व—ऊपरी; अण्ड-कटाह—ब्रह्माण्ड का ऊपरी आवरण (इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि इत्यादि सात आवरण हैं).); विवरेण—छिद्र से होकर; अन्तः-प्रविष्टा—ब्रह्माण्ड को भेद कर; या—जो; बाह्य-जल-धारा—ब्रह्माण्ड से बाहर कारण-समुद्र जल की धारा; तत्—उसका; चरण-पङ्कज—चरणकमल का; अवनेजन—धोकर; अरुण-किञ्जल्क—लाल चूर्ण के द्वारा; उपरञ्जिता—रंजित होकर; अखिल-जगत्—सम्पूर्ण संसार के; अघ-मल—पापकर्म; अपहा—विनष्ट करती है; उपस्पर्शन—जिसके स्पर्श से; अमला—नितान्त शुद्ध; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; भगवत्-पदी—श्रीभगवान् के चरणकमल से निकलने वाली; इति—इस प्रकार; अनुपलक्षित—वर्णित; वचः—नाम से; अभिधीयमाना—पुकारी जाकर; अति-महता कालेन—दीर्घकाल के पश्चात्; युग-सहस्र-उपलक्षणेन—एक हजार युग; दिवः—आकाश के; मूर्धनि—शीश पर (ध्रुव लोक); अवततार—नीचे उतरी; यत्—जो; तत्—वह; विष्णु-पदम्—भगवान् विष्णु के चरणकमल; आहुः—पुकारते हैं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्, सभी यज्ञों के भोक्ता भगवान् विष्णु महाराज बलि की यज्ञशाला में वामनदेव का रूप धारण करके प्रकट हुए। तब उन्होंने अपने वाम पाद को ब्रह्माण्ड के छोर तक फैला दिया और अपने पैर के अँगूठे से उसके आवरण में एक छिद्र बना दिया। इस छिद्र से निकले कारण-समुद्र के विशुद्ध जल ने गंगा नदी के रूप में इस ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया। विष्णु के चरणकमलों को, जो केशर से लेपित थे, धोने से गंगा का जल अत्यन्त मनोहर गुलाबी रंग का हो गया। गंगा के दिव्य जल के स्पर्श से क्षण भर में प्राणियों के मन के भौतिक विकार शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु इसका जल सदैव शुद्ध रहता है। चूँकि इस ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होने के पूर्व गंगा प्रत्यक्ष रूप से विष्णुजी के चरणकमलों का स्पर्श करती है, इसलिए वह विष्णुपदी कहलाती है। बाद में उसके अन्य नाम पड़े यथा जाह्नवी तथा भागीरथी। एक हजार युगों के बाद गंगा का जल ध्रुवलोक में उतरा जो इस ब्रह्माण्ड का सर्वोपरि लोक है। इसीलिए

सभी सन्त तथा विद्वान ध्रुवलोक को विष्णुपद (अर्थात् भगवान् विष्णु चरणकमलों में स्थित) कहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी ने गंगा नदी की महिमा का वर्णन किया है। गंगा जल पतित-पावन कहलाता है, क्योंकि यह सभी पापियों का उद्धार करने वाला होता है। यह सर्वविदित है कि गंगा में नित्यप्रति स्नान करने से बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि होती है। बाह्यत: शरीर सभी प्रकार के रोगों का प्रतिरोध कर सकता है और आन्तरिक रूप से मनुष्य में क्रमश: श्रीभगवान् के प्रति भक्तिभाव उत्पन्न होता है। भारतभर के हजारों लोग, जो गंगा के तट पर वास करने वाले हैं, नियमित रूप से गंगाजल में स्नान करते हैं और निश्चित रूप से मन तथा तन से पवित्र होते रहते हैं। अनेक ऋषियों ने, जिनमें शंकराचार्य भी हैं, गंगा की प्रशंसा में स्तुतियाँ लिखी हैं और भारतवर्ष स्वयं भी गंगा, यमुना, गोदावरी, कावेरी, कृष्णा, नर्मदा जैसी नदियों के कारण धन्य हो गया है। स्वाभाविक है कि इन नदियों के तटवर्ती भूभाग का वासी आध्यात्मिक भावना में अग्रणी हो। श्रील माध्वाचार्य का कथन है—

वाराहे वामपादं तु तदन्येषु तु दक्षिणम्।
पादं कल्पेषु भगवानुज्जहार त्रिविक्रम:॥

अपने दक्षिण पाद पर खड़े होकर तथा वामपाद को ब्रह्माण्ड के ऊपर रखकर भगवान् वामन त्रिविक्रम अर्थात् वह अवतार कहलाए जिन्होंने तीन वीरतापूर्ण कार्य किए।

यत्र ह वाव वीरव्रत औत्तानपादि: परमभागवतोऽस्मत्कुलदेवताचरणारविन्दोदकमिति
यामनुसवनमुत्कृष्यमाणभगवद्भक्तियोगेन दृढं क्लिद्यमानान्तर्हृदय
औत्कण्ठ्यविवशामीलितलोचनयुगलकुड्मलविगलितामलबाष्पकलयाभिव्यज्यमानरोमपुलककुलकोऽ
धुनापि परमादरेण शिरसा बिभर्ति. ॥ २॥

शब्दार्थ

यत्र ह वाव—ध्रुवलोक में; वीर-व्रत:—दृढ़प्रतिज्ञ; औत्तानपादि:—महाराज उत्तानपाद का विख्यात पुत्र; परम-भागवत:—परम भक्त; अस्मत्—हमारा; कुल-देवता—पारिवारिक देवता का; चरण-अरविन्द—चरणकमल; उदकम्—जल में; इति—इस प्रकार; याम्—जो; अनुसवनम्—सतत; उत्कृष्यमाण—वर्धमान; भगवत्-भक्ति-योगेन—भगवान् के प्रति भक्ति के द्वारा; दृढम्—अत्यन्त; क्लिद्यमान-अन्त:-हृदय:—अपने हृदय के अन्त: में मृदु होकर; औत्कण्ठ्य—अत्यन्त उत्कंठा (चिन्ता) से; विवश—तत्क्षण; अमीलित—कुछ कुछ खुले; लोचन—नेत्रों का; युगल—जोड़ा; कुड्मल—कली से; विगलित—विकीर्ण होकर; अमल—मलरहित; बाष्प-कलया—अश्रु-पूर्ण; अभिव्यज्यमान—प्रकट रूप में; रोम-पुलक-कुलक:—शरीर में प्रसन्नता के द्योतक लक्षण; अधुना अपि—आज भी; परम-आदरेण—अत्यन्त आदरपूर्वक; शिरसा—शिर पर; बिभर्ति—धारण करता है।.

महाराज उत्तानपाद के ख्याति प्राप्त पुत्र ध्रुव महाराज परम-ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ भक्त कहलाते हैं,

क्योंकि उनकी भक्ति-निष्ठा दृढ़ थी। यह जानते हुए कि गंगाजल भगवान् विष्णु के चरणकमल को पखारता है, वे उस जल को अपने लोक में ही रहते हुए आज तक अपने शिर पर भक्तिपूर्वक धारण करते हैं। चूँकि वे अपने अन्तस्थल (हृदय) में श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, फलतः वे अत्यन्त उत्कंठित रहते हैं, उनके अर्ध-निमीलित नेत्रों से अश्रु की धारा बहती है और उनका शरीर पुलकायमान रहता है।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति श्रीभगवान् की भक्ति में स्थिर हो जाता है, तो उसे *वीरव्रत* अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञ कहते हैं। ऐसा भक्त अपनी उत्कंठा को अधिकाधिक बढ़ाता रहता है। अत: जब वह भगवान् विष्णु का स्मरण करता है, तो उसके नेत्र अश्रु-पूरित हो उठते हैं। यह महाभागवत का लक्षण है। ध्रुव महाराज ऐसी ही भक्तिपूर्ण उत्कंठा में मग्न रहते थे और जगन्नाथ पुरी में रहते हुए चैतन्य महाप्रभु ने भी दिव्य उत्कंठा का व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किया। *चैतन्यचरितामृत* में उनकी जीवनचर्या का सम्यक् वर्णन मिलता है।

ततः सप्त ऋषयस्तत्प्रभावाभिज्ञा यां ननु तपस आत्यन्तिकी सिद्धिरेतावती भगवति सर्वात्मनि वासुदेवेऽनुपरतभक्तियोगलाभेनैवोपेक्षितान्यार्थात्मगतयो मुक्तिमिवागतां मुमुक्षव इव सबहुमानमद्यापि जटाजूटैरुद्वहन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सप्त ऋषयः—(मरीचि से लेकर); तत् प्रभाव-अभिज्ञाः—जो गंगा के प्रभाव से भलीभाँति परिचित थे; याम्—यह गंगा जल; ननु—निश्चय ही; तपसः—हमारे तपों का; आत्यन्तिकी—परम; सिद्धिः—सिद्धि; एतावती—इतनी; भगवति—श्रीभगवान्; सर्व-आत्मनि—सर्वव्यापी; वासुदेवे—श्रीकृष्ण में; अनुपरत—अविरत; भक्ति-योग—भक्ति योग का; लाभेन—इस पद को प्राप्त करके; एव—निश्चय ही; उपेक्षित—तिरस्कृत; अन्य—दूसरा; अर्थ-आत्म-गतयः—सिद्धि के अन्य सभी साधन (यथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष); मुक्तिम्—सांसारिक बन्धनों से छुटकारा; इव—सदृश; आगताम्—प्राप्त किया; मुमुक्षवः—मुक्ति की इच्छा करने वाला व्यक्ति; इव—सदृश; स-बहु-मानम्—अत्यन्त मानपूर्वक; अद्य अपि—आज भी; जटा-जूटैः—जूड़े के रूप में बँधी जटाओं से युक्त; उद्वहन्ति—धारण करते हैं।

ध्रुवलोक के नीचे वाले लोकों में सप्तर्षियों (मरीचि, वसिष्ठ, अत्रि इत्यादि) का वास है। गंगा जल के प्रभाव से परिचित होने के कारण वे आज भी अपने शिर की जटाओं पर उसे धारण करते हैं। अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यही परम धन, समस्त तपस्याओं की सिद्धि तथा दिव्य जीवन बिताने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सतत भक्ति प्राप्त होने के कारण उन्होंने धर्म, अर्थ, काम, तथा परब्रह्म से तदाकार होने (अर्थात्) मोक्ष जैसे समस्त साधनों का परित्याग कर दिया है। जिस प्रकार ज्ञानीजन यह सोचते हैं कि भगवान् में

तदाकार होना ही परम सत्य है उसी प्रकार सप्तर्षि भी भक्ति को जीवन की परम सिद्धि मानते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों की दो प्राथमिक कोटियाँ हैं—निर्विशेषवादी तथा भक्त। निर्विशेषवादी जीवन के आध्यात्मिक रूपों को स्वीकार नहीं करते। वे श्रीभगवान् के ब्रह्मरूप (ब्रह्मज्योति) में तदाकार होना चाहते हैं। किन्तु भक्तजन श्रीभगवान् दिव्य कार्य-कलापों में सम्मिलित होने के लिए इच्छुक रहते हैं। ऊर्ध्वलोकों में सबसे ऊपर ध्रुवलोक है और इसके नीचे महर्षियों अर्थात् पहले मरीचि, वसिष्ठ और अत्रि द्वारा अधिवसित सात ग्रह हैं। ये सभी ऋषि भक्ति को जीवन की चरम सिद्धि मानने वाले हैं। फलत: ये पवित्र गंगाजल को अपने अपने शिर पर धारण करते हैं। इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि जिसने विशुद्ध भक्ति के पद को प्राप्त कर लिया है उसके लिए सभी कुछ, यहाँ तक कि तथाकथित मुक्ति (कैवल्य) भी, तुच्छ है। श्रील श्रीधर स्वामी का कहना है कि भगवान् की विशुद्ध भक्ति प्राप्त कर लेने पर अन्य समस्त कार्यों को तुच्छ समझकर छोड़ा जा सकता है। प्रबोधानन्द स्वामी इस कथन की पुष्टि इस प्रकार करते हैं—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपुर आकाशपुष्पायते
दुर्दान्तेन्द्रियकालसर्पपटली प्रोत्खातदंष्ट्रायते।
विश्वं पूर्णसुखायते विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते
यत् कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरम् एव स्तुमः॥

श्री चैतन्य महाप्रभु ने भक्तियोग की क्रिया का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है। फलत: जो चैतन्य महाप्रभु के चरणकमल की शरण में जाता है, उसके लिए मायावादियों की परम सिद्धि (कैवल्य) नारकीय लगती है और कर्मियों की महत्त्वाकांक्षाओं का क्या कहना जो स्वर्गलोक पहुँचना चाहते हैं। भक्तगण ऐसे लक्ष्य को मायाजाल ही मानते हैं। योगी भी अपनी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भक्ति की अवस्था को प्राप्त हुए बिना उन्हें भी सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। इन्द्रियों की तुलना विषधर सर्पों से की गई है, किन्तु श्रीभगवान् की सेवा में संलग्न भक्तों की इन्द्रियाँ विषदंत विहीन सर्पों की तरह हैं। योगी अपनी इन्द्रियों का दमन करने का भरसक प्रयत्न करता है, किन्तु विश्वामित्र जैसे महान् योगी भी अपने प्रयास में असफल रहते हैं। अपनी तपस्या के समय विश्वामित्र अपनी इन्द्रियों द्वारा पराजित हो गए जब वे अपनी साधना में लीन रहते हुए मेनका द्वारा वशीभूत हो

गये। बाद में उससे शकुन्तला का जन्म हुआ। अत: इस संसार में भक्तियोगी सबसे बुद्धिमान है, जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४७) में श्रीकृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत: ॥

''सब योगियों में जो भी योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्ति योग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अन्तरंग रूप में जुड़ा है और सर्व श्रेष्ठ है।''

ततोऽनेकसहस्रकोटिविमानानीकसङ्कुलदेवयानेनावतरन्तीन्दु मण्डलमावार्य ब्रह्मसदने निपतति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत:—सप्तर्षियों के सात लोकों को पवित्र करने पश्चात्; **अनेक**—कई; **सहस्र**—हजार; **कोटि**—करोड़ों; **विमान-अनीक**—विमान सेना सहित; **सङ्कुल**—समूहित; **देव-यानेन**—देवताओं के अन्तरिक्ष से होकर; **अवतरन्ती**—उतरते हुए; **इन्दु-मण्डलम्**—चन्द्र लोक को; **आवार्य**—आप्लावित करके; **ब्रह्म-सदने**—सुमेरु पर्वत के ऊपर ब्रह्मा के आवास तक; **निपतति**—गिरता है।

ध्रुवलोक के पड़ोसी सात लोकों को पावन करने के पश्चात् गंगा का जल करोड़ों देवताओं के विमानों द्वारा अन्तरिक्ष को ले जाया जाता है। तब यह चन्द्रलोक को आप्लावित करता हुआ अन्तत: मेरु पर्वत पर स्थित ब्रह्मा के आवास तक पहुँच जाता है।

तात्पर्य : हमें स्मरण रखना होगा कि गंगा नदी ब्रह्माण्ड के बाह्यावरण से भी परे कारण-समुद्र से निकली है। भगवान् वामन द्वारा बनाये गये छिद्र से निकलता हुआ कारण-समुद्र का जल स्रावित होकर पहले ध्रुवलोक में पहुँचता है और फिर उसके नीचे के सातों लोकों में पहुँचता है। फिर इसे असंख्य स्वर्गिक विमानों के द्वारा चन्द्रमा तक पहुँचाया जाता है और तब यह मेरु पर्वत की चोटी पर गिरता है। जिसे सुमेरु पर्वत कहते हैं। इस प्रकार गंगा का जल अन्त में अधोलोकों तथा हिमालयश्रृंगों में पहुँचता है जहाँ से बहकर यह हरद्वार पहुँचता है और फिर भारत के समूचे मैदानी भाग को पवित्र बनाता है। इस श्लोक में यह बताया गया है कि गंगा का जल ब्रह्माण्ड के ऊपर से विभिन्न लोकों तक किस प्रकार पहुँचता है। यही जल नैसर्गिक विमानों द्वारा ऋषि-लोकों से अन्य लोकों तक पहुँचता है। आज के तथाकथित समुन्नत विज्ञानी उच्चतर लोकों में पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु इसके साथ साथ उन्हें इसका अनुभव हो रहा है कि पृथ्वी पर ऊर्जा का अभाव हो रहा है। यदि वे सचमुच समर्थ विज्ञानी होते तो वे स्वयं विमानों के द्वारा अन्य लोकों की यात्रा करते, किन्तु ऐसा कर पाने में वे असमर्थ हैं।

उन्होंने अब चन्द्रमा की यात्राएँ बन्द कर दी हैं और अब वे अन्य ग्रहों में जाने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल पा रही।

तत्र चतुर्धा भिद्यमाना चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्दिशमभिस्पन्दन्ती नदनदीपतिमेवाभिनिविशति सीतालकनन्दा चक्षुर्भद्रेति. ॥ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (मेरु पर्वत पर); चतुर्धा—चार धाराओं में; भिद्यमाना—विभाजित होकर; चतुर्भिः—चार; नामभिः—नामों से; चतुः-दिशम्—चारों दिशाओं में (पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण); अभिस्पन्दन्ती—वेग से प्रवाहित होकर; नद-नदी-पतिम्—समस्त बृहद् नदियों का आगार (सागर); एव—निश्चय ही; अभिनिविशति—प्रविष्ट करती है; सीता-अलकनन्दा—सीता तथा अलकनन्दा; चक्षुः—चक्षु; भद्रा—भद्रा; इति—इन नामों से विख्यात।.

मेरु पर्वत की चोटी पर गंगा नदी चार धाराओं में विभक्त हो जाती है और प्रत्येक धारा अलग-अलग दिशाओं की ओर (पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण) वेग से प्रवाहित होती है। ये धाराएँ सीता, अलकनन्दा, चक्षु तथा भद्रा नाम से विख्यात हैं और ये सब सागर की ओर बहती हैं।

सीता तु ब्रह्मसदनात्केसराचलादिगिरिशिखरेभ्योऽधोऽधः प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्धसु पतित्वान्तरेण भद्राश्ववर्षं प्राच्यां दिशि क्षारसमुद्रमभिप्रविशति. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सीता—सीता नामक धारा; तु—निश्चय ही; ब्रह्म-सदनात्—ब्रह्मपुरी से; केसराचल-आदि—केसराचल तथा अन्य महान् पर्वतों के; गिरि—पवर्तों की; शिखरेभ्यः—चोटियों से; अधः अधः—नीचे की ओर; प्रस्रवन्ती—प्रवाहित; गन्धमादन—गंध-मादन पर्वत की; मूर्धसु—चोटी पर; पतित्वा—गिर कर; अन्तरेण—के अन्तर्गत; भद्राश्व-वर्षम्—भद्राश्व प्रदेश; प्राच्याम्—पूर्व; दिशि—दिशा में; क्षार-समुद्रम्—लवण सागर में; अभिप्रविशति—प्रवेश करती है।.

गंगा नदी की सीता नामक धारा मेरु पर्वत की चोटी पर स्थित ब्रह्मपुरी से होकर बहती हुई पार्श्ववर्ती केसराचल पर्वतों के शृंगों पर पहुँचती है। जो मेरु पर्वत जितने ही ऊंचे है। ये पर्वत मेरु पर्वत के चारों ओर तन्तुगुच्छ जैसे हैं। केसराचल पर्वतों से चलकर गंगा नदी गंधमादन पर्वत की चोटी पर गिरती है और वहाँ से भद्राश्व-वर्ष की भूमि में बहती है। अन्त में यह पश्चिम में लवण सागर में पहुँच जाती है।

एवं माल्यवच्छिखरान्निष्पतन्ती ततोऽनुपरतवेगा केतुमालमभि चक्षुः प्रतीच्यां दिशि सरित्पतिं प्रविशति. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; माल्यवत्-शिखरात्—माल्यवान् पर्वत की चोटी से; निष्पतन्ती—नीचे गिरकर; ततः—तत्पश्चात्; अनुपरत-वेगा—अप्रतिहत वेग से; केतुमालम् अभि—केतुमाल वर्ष में; चक्षुः—चक्षु नामक धारा; प्रतीच्याम्—पश्चिम; दिशि—दिशा में; सरित्-पतिम्—सागर में; प्रविशति—प्रवेश करती है।

गंगा नदी की चक्षु नामक धारा माल्यवान् पर्वत की चोटी पर गिरती है और वहाँ से प्रपात के रूप में गिरकर केतुमाल वर्ष में प्रवेश करती है। अविच्छिन्न रूप से केतुमाल वर्ष से बहकर गंगा नदी पश्चिम की ओर लवण सागर तक पहुँच जाती है।

भद्रा चोत्तरतो मेरुशिरसो निपतिता गिरिशिखराद्गिरिशिखरमतिहाय शृङ्गवतः शृङ्गादवस्यन्दमाना उत्तरांस्तु कुरूनभित उदीच्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

भद्रा—भद्रा नामक धारा; च—भी; उत्तरतः—उत्तर दिशा को; मेरु-शिरसः—मेरु पर्वत की चोटी से; निपतिता—गिर कर; गिरि-शिखरात्—कुमुद पर्वत की चोटी से; गिरि-शिखरम्—नील पर्वत की चोटी तक; अतिहाय—बिना स्पर्श किये पार करके; शृङ्गवतः—शृंगवान् पर्वत की; शृङ्गात्—चोटी से; अवस्यन्दमाना—प्रवाहित होकर; उत्तरान्—उत्तरी; तु—किन्तु; कुरून्—कुरु प्रदेश की; अभितः—चारों दिशाओं में; उदीच्याम्—उत्तरी; दिशि—दिशा में; जलधिम्—लवण सागर में; अभिप्रविशति—प्रवेश करती है।

गंगा की भद्रा नामक धारा मेरु पर्वत की उत्तरी दिशा से होकर बहती है। इसका जल क्रमशः कुमुद, नील, श्वेत तथा शृंगवान् पर्वतों की चोटियों पर गिरता है। फिर वह कुरु प्रदेश में से बहती हुई उत्तर में लवण सागर से मिल जाती है।

तथैवालकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनाद्बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य हेमकूटाद्धैमकूटान्यतिरभसतररंहसा लुठयन्ती भारतमभिवर्षं दक्षिणस्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति यस्यां स्नानार्थं चागच्छतः पुंसः पदे पदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तथा एव—इसी प्रकार; अलकनन्दा—अलकनन्दा नामक धारा; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा से; ब्रह्म-सदनात्—ब्रह्मपुरी से; बहूनि—बहुत सी; गिरि-कूटानि—पर्वत चोटियों को; अतिक्रम्य—पार करके; हेमकूटात्—हेमकूट पर्वत से; हैमकूटानि—तथा हिमकूट; अति-रभसतर—अधिक भयावनी; रंहसा—अधिक वेग से; लुठयन्ती—अपहरण करती हुई; भारतम् अभिवर्षम्—भारतवर्ष के चारों ओर; दक्षिणस्याम्—दक्षिण; दिशि—दिशा में; जलधिम्—लवण सागर में; अभिप्रविशति—प्रवेश करती है; यस्याम्—जिसमें; स्नान-अर्थम्—स्नान हेतु; च—और; आगच्छतः—आये हुए; पुंसः—पुरुष; पदे पदे—प्रत्येक पग पर; अश्वमेध-राजसूय-आदीनाम्—अश्वमेध तथा राजसूय जैसे महान् यज्ञों का; फलम्—फल; न—नहीं; दुर्लभम्—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है; इति—ऐसा।

इसी प्रकार अलकनन्दा ब्रह्मपुरी की दक्षिण दिशा से होकर बहती है। विभिन्न प्रदेशों में पर्वतों की चोटियों को पार करती हुई यह अत्यन्त वेग से हेमकूट तथा हिमकूट पर्वतों की चोटियों पर गिरती है। इन पर्वतों की चोटियों को आप्लावित करती हुई गंगा भारतवर्ष नामक भूभाग में गिरती है और उसे अपने जल से आपूरित करती चलती है। तत्पश्चात् यह दक्षिण दिशा

में लवण सागर में मिल जाती है। जो व्यक्ति इस नदी में स्नान करने आते हैं, वे भाग्यशाली हैं। उन्हें पग-पग पर राजसूय तथा अश्वमेध जैसे महान् यज्ञों के करने का फल प्राप्त करना दुष्कर नहीं है।

तात्पर्य : अब भी जहाँ बंगाल की खाड़ी के लवण जल में गंगा नदी मिलती है, वह स्थान गंगा सागर कहलाता है। जनवरी-फरवरी मास में मकर-संक्रान्ति के अवसर पर आज भी यहाँ हजारों लोग मुक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा से स्नान करने आते हैं और वास्तव में उनको मुक्ति प्राप्त होती है, जिसकी पुष्टि यहाँ की गई है। जो लोग किसी भी समय गंगा स्नान करते हैं उन्हें अश्वमेध तथा राजसूय जैसे महान् यज्ञों का फल प्राप्त होना कठिन नहीं होता है। आज भी भारत के अधिकांश लोग गंगा में स्नान करने के इच्छुक हैं और ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ वे स्नान कर सकते हैं। प्रयाग (इलाहाबाद) में प्रतिवर्ष जनवरी मास में गंगा तथा यमुना नदी के संगम पर स्नान करने के लिए लाखों लोग एकत्र होते हैं। इसके बाद वे बंगाल की खाड़ी तथा गंगा के संगम में स्नान करते हैं। भारत के लोगों के लिए यह विशेष सुविधा है कि वे अनेक तीर्थस्थानों पर गंगास्नान कर सकते हैं।

अन्ये च नदा नद्यश्च वर्षे वर्षे सन्ति बहुशो मेर्वादिगिरिदुहितरः शतशः. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य अनेक; च—भी; नदाः—नदियाँ; नद्यः—छोटी नदियाँ; च—तथा; वर्षे वर्षे—प्रत्येक प्रदेश में; सन्ति—हैं; बहुशः—अनेक प्रकार की; मेरु-आदि-गिरि-दुहितरः—मेरु आदि पर्वतों की पुत्रियाँ; शतशः—सैकड़ों।

मेरु पर्वत की चोटी से अन्य अनेक छोटी तथा बड़ी नदियाँ निकलती हैं। ये नदियाँ पर्वत की पुत्रियों के तुल्य हैं और वे सैकड़ों धाराओं में विभिन्न भूप्रदेशों में बहती हैं।

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—इन सबों में से; भारतम्—भारतवर्ष नाम से विख्यात; एव—निश्चय ही; वर्षम्—भूखण्ड, प्रान्त; कर्म-क्षेत्रम्—कर्मक्षेत्र; अन्यानि—अन्य सभी; अष्ट वर्षाणि—आठ वर्ष (भूखण्ड); स्वर्गिणाम्—पवित्र कर्मों के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त जीवात्माओं के; पुण्य—पवित्र कर्मों के फल; शेष—बचे हुए; उपभोग-स्थानानि—भौतिक सुख के स्थान; भौमानि स्वर्ग-पदानि—पृथ्वी पर स्वर्गिक स्थानों के रूप में; व्यपदिशन्ति—कहलाते हैं।

नवों वर्षों में से भारतवर्ष नामक भूभाग कर्मक्षेत्र माना जाता है। विद्वान तथा सन्तजनों का कथन है कि अन्य आठ वर्ष अत्यन्त पुण्यात्माओं के निमित्त हैं। वे स्वर्गलोक से लौटकर इन

आठ भूप्रदेशों में अपने शेष पुण्यकर्मों का फल भोगते हैं।

तात्पर्य : स्वर्ग के भोगस्थानों को तीन श्रेणियो में विभाजित किया जाता है अपार्थिव स्वर्गलोक, भौम स्वर्गलोक, बिल स्वर्गलोक, जो निम्नतर भागों में पाये जाते हैं। इन तीनों श्रेणियों में से भौम स्वर्गलोक भारतवर्ष के अतिरिक्त आठ वर्षों के रूप में हैं। *भगवद्गीता* (९.२१) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—"पुण्यों के क्षय होने पर स्वर्ग में वास करने वाले व्यक्ति इस पृथ्वी पर लौट आते हैं।" इस प्रकार वे पहले स्वर्गलोक पहुँचते हैं और पुन: च्युत होकर पृथ्वी लोक पर आते हैं। यह क्रिया ब्रह्माण्ड-भ्रमण अर्थात् ब्रह्माण्ड भर में ऊपर-नीचे भ्रमण करना कहलाती है। जो बुद्धिमान हैं, वे ऊपर और नीचे के इस आवागमन में नहीं पड़ते। वे भगवान् की सेवा करते हुए अन्त में ब्रह्माण्ड के आवरण को भेदकर दिव्य लोक में प्रवेश करते हैं। फिर वे वैकुण्ठ लोक या इससे भी ऊपर स्थित कृष्णलोक (गोलोक वृन्दावन) में अवस्थित हो जाते हैं। भक्त कभी भी स्वर्गलोक तक उठने और फिर वहाँ से नीचे गिरने के बन्धन में नहीं पड़ते। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

एइ रूपे ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलताबीज॥

ब्रह्माण्ड भर में चक्कर लगाने वाले समस्त जीवात्माओं में जो सर्वाधिक भाग्यवान् है, वही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रतिनिधि के सम्पर्क में आता है और सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त करता है। जो निष्ठा से श्रीकृष्ण की कृपा के लिए लालायित रहते हैं उन्हें ऐसा गुरु प्राप्त होता है जो श्रीकृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है। मनोकल्पना करने वाले मायावादी तथा कर्मों के फल की इच्छा रखने वाले कर्मी गुरु नहीं बन सकते। गुरु को श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होना चाहिए जो उनके निर्देशों को बिना किसी परिवर्तन के प्रसारित करे। इस प्रकार केवल भाग्यवान् व्यक्ति ही गुरु के सम्पर्क में आते हैं। जैसाकि वैदिक शास्त्रों से पुष्टि होती है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—आध्यात्मिक जगत के व्यापारों को समझने के लिए गुरु की खोज करनी होती है। *श्रीमद्भागवत* में भी इसकी पुष्टि की गई है—*तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*—आध्यात्मिक जगत में कार्यों को जानने के इच्छुक व्यक्ति को गुरु की खोज अवश्य करनी चाहिए—ऐसा गुरु जो श्रीकृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि हो। अत: सभी दृष्टियों से गुरु शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है, अन्य कोई नहीं।

पद्मपुराण में कहा गया है—*अवैष्णवो गुरुर्न स्यात्*—जो वैष्णव नहीं हैं अर्थात् जो श्रीकृष्ण का प्रामाणिक प्रतिनिधि नहीं है, वह गुरु नहीं हो सकता। यहाँ तक कि योग्य ब्राह्मणों के छः शुभ लक्षण बताये गये हैं—वे अत्यन्त विद्वान (पठन) तथा अत्यन्त योग्य शिक्षक (पाठन) होते हैं, वे ईश्वर या देवताओं की पूजा (यजन) में दक्ष होते हैं, वे दूसरों को पूजाविधि सिखाते हैं (याजन), वे दूसरों से भिक्षा ग्रहण करने के सुपात्र होते हैं (प्रतिग्रह) और वे दान द्वारा धन का वितरण करते हैं (दान)। इन समस्त योग्यताओं के होने पर भी यदि कोई ब्राह्मण श्रीकृष्ण का प्रतिनिधि नहीं है, तो वह गुरु नहीं बन सकता (*गुरुर्न स्यात्*)। किन्तु *वैष्णवः श्वपचो गुरुः*—श्वपच अर्थात् कुकर-भक्षी परिवार का होकर भी भगवान् विष्णु का प्रामाणिक प्रतिनिधि वैष्णव गुरु बन सकता है। स्वर्गलोक की तीन श्रेणियों में से *भौम स्वर्ग* को कभी-कभी भारतवर्ष के एक भूभाग के रूप में स्वीकार किया जाता है जो कश्मीर के नाम से विख्यात है। इस भूभाग में निश्चय ही इन्द्रियसुख की अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं, किन्तु विशुद्ध इन्द्रियातीत जनों को इससे कोई सरोकार नहीं होता। रूप गोस्वामी ने विशुद्ध इन्द्रियातीत जनों के कार्य का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् की दिव्य सेवा बिना किसी लाभ की आकांक्षा किये या सकाम कर्मों के द्वारा अथवा मीमांसा द्वारा करे। यही विशुद्ध सेवा कहलाती है।" जो श्रीकृष्ण को रिझाने के लिए उनकी सेवा में पूर्णतः लगे रहते हैं, वे स्वर्ग की तीन प्रकार की श्रेणियों *दिव्य स्वर्ग, भौम स्वर्ग* तथा *बिल स्वर्ग* में से किसी में भी रुचि नहीं रखते।

एषु पुरुषाणामयुतपुरुषायुर्वर्षाणां देवकल्पानां नागायुतप्राणानां वज्रसंहननबलवयोमोदप्रमुदितमहासौरतमिथुनव्यवायापवर्गवर्षधृतैकगर्भकलत्राणां तत्र तु त्रेतायुगसमः कालो वर्तते. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

एषु—इन आठ वर्षों में; **पुरुषाणाम्**—समस्त पुरुषों में; **अयुत**—दस हजार; **पुरुष**—व्यक्ति, पुरुष; **आयुः-वर्षाणाम्**—वे जिनकी आयु; **देव-कल्पानाम्**—जो देवताओं के सदृश हैं; **नाग-अयुत-प्राणानाम्**—दस हजार हाथियों के बल वाले; **वज्र-संहनन**—वज्र के समान ठोस शरीर के द्वारा; **बल**—शारीरिक शक्ति; **वयः**—यौवन से; **मोद**—प्रचुर इन्द्रियभोग द्वारा; **प्रमुदित**—उत्तेजित होकर; **महा-सौरत**—अत्यधिक विषयभोग सम्बन्धी; **मिथुन**—पुरुष-स्त्री समागम, प्रसंग; **व्यवाय-अपवर्ग**—रतिजन्य सुख की अवधि के अन्त में; **वर्ष**—अन्तिम वर्ष में; **धृत-एक-गर्भ**—एक गर्भ धारण करने वाली; **कलत्राणाम्**—

पत्नियों के; तत्र—वहाँ; तु—लेकिन; त्रेता-युग-समः—त्रेता युग (जिसमें कोई ताप नहीं रहता) के ही समान; कालः—समय; वर्तते—रहता है।.

गणना के अनुसार इन आठ भूभागों में मानव प्राणी पृथ्वी लोक की गणना के अनुसार दस हजार वर्षों तक जीवित रहते हैं। इनके सभी निवासी प्रायः देवताओं के तुल्य हैं। उनमें दस हजार हाथियों का बल होता है। दरअसल, उनके शरीर वज्र की भाँति कठोर होते हैं। उनके जीवन का यौवनकाल अत्यन्त आनन्ददायक होता है और स्त्री तथा पुरुष दीर्घकाल तक आनन्द-पूर्वक यौन-समागम करते हैं। वर्षों तक इन्द्रियसुख भोगने के पश्चात् जब जीवन का एक वर्ष शेष रह जाता है, तो स्त्री गर्भवती होती है। इस प्रकार इन स्वर्गलोकों के वासी वैसा ही आनन्द उठाते हैं जैसा कि त्रेता युग के मानव प्राणी।

तात्पर्य : युग चार होते हैं—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग। सत्ययुग में सभी मनुष्य अत्यन्त पवित्र होते थे। सारे व्यक्ति आत्मज्ञान तथा भगवत्-साक्षात्कार के लिए योगाभ्यास करते थे। समाधि में लीन रहने के कारण किसी की भी रुचि भौतिक इन्द्रियसुख में नहीं रहती थी। त्रेतायुग में प्राणी किसी प्रकार का कष्ट सहे बिना इन्द्रियसुख भोगते थे। द्वापरयुग में भौतिक तापों का प्रारम्भ हुआ, किन्तु वे अधिक कष्टप्रद न थे। वास्तव में कलियुग के आते ही कठिन भौतिक तापों का आरम्भ हुआ।

इस श्लोक में जो दूसरी बात कही गई है, वह यह है कि इन आठों दिव्य वर्षों में स्त्री तथा पुरुष द्वारा इन्द्रियसुख भोगते रहने पर भी गर्भाधान नहीं होता है। गर्भाधान तो निम्न योनियों में होता है। उदाहरणार्थ, कुतिया तथा सुअरी वर्ष में दो बार गर्भ धारण करती हैं और प्रत्येक बार कम से कम आधा दर्जन बच्चे उत्पन्न होते हैं। सर्प जैसी निम्नतर योनियों में भी एक बार में सैकड़ों बच्चे पैदा होते हैं। इस श्लोक से यह सूचित होता है कि हमारे उच्च योनियों में जीवनपर्यन्त केवल एक बार गर्भाधान होता है। पुरुष के संग संभोग करने पर भी स्त्री के गर्भाधान नहीं होता। दिव्यलोक के प्राणी कामेच्छा के प्रति अधिक आकर्षित नहीं होते जिसका कारण भक्ति की ओर उनकी उच्च मनोवृत्ति है। एक तरह से देखा जाये तो दिव्य लोक में कामेच्छा होती ही नहीं और यदि कभी हुई भी तो गर्भाधान नहीं होता। किन्तु पृथ्वी लोक में गर्भाधान होता है, भले ही लोग सन्तानों से कितना ही क्यों न बचना चाहें। इस पापी कलियुग में तो मनुष्य गर्भ में ही शिशु-हत्या करने लगे हैं। यह अत्यन्त नीच कर्म है, इससे कर्ता के भौतिक कष्टों में वृद्धि ही होती है।

यत्र ह देवपतयः स्वैः स्वैर्गणनायकैर्विहितमहार्हणाः
सर्वर्तुकुसुमस्तबकफलकिसलयश्रियानम्यमानविटपलताविटपिभिरुपशुम्भमानरुचिरकाननाश्रमायतनव र्षगिरिद्रोणीषु तथा चामलजलाशयेषु
विकचविविधनववनरुहामोदमुदितराजहंसजलकुक्कुटकारण्डवसारसचक्रवाकादिभिर्मधुकरनिकराकृति भिरुपकूजितेषु जलक्रीडादिभिर्विचित्रविनोदैः सुललितसुरसुन्दरीणां
कामकलिलविलासहासलीलावलोकाकृष्टमनोदृष्टयः स्वैरं विहरन्ति. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्र ह—उन आठों भूखण्डों में; देव-पतयः—देवताओं के स्वामी, यथा इन्द्र; स्वैः स्वैः—अपने अपने; गण-नायकैः—सेवकों के नेताओं द्वारा; विहित—अलंकृत; महा-अर्हणाः—मूल्यवान भेंटें यथा चन्दन तथा मालाएँ; सर्व-ऋतु—समस्त ऋतुओं में; कुसुम-स्तबक—पुष्प गुच्छ, फूलों का गुच्छा; फल—फल का; किसलय-श्रिया—कोपलों की श्री (वैभव); आनम्यमान—नमित; विटप—जिसकी शाखाएँ; लता—तथा बेलें; विटपिभिः—अनेक वृक्षों से; उपशुम्भमान—पूर्णतया अलंकृत; रुचिर—सुन्दर; कानन—उद्यान; आश्रम-आयतन—और अनेक आश्रमों; वर्ष-गिरि-द्रोणीषु—भूखण्ड की सीमा के सूचक पर्वतों के बीच की घाटियाँ; तथा—और; च—भी; अमल-जल-आशयेषु—विमल जल वाले सरोवरों में; विकच—सद्यः विकसित; विविध—अनेक प्रकार के; नव-वनरुह-आमोद—कमल पुष्पों की सुरभि से; मुदित—प्रसन्न; राज-हंस—बड़े-बड़े हंस; जल-कुक्कुट—जल मुर्गी; कारण्डव—कारण्डव नामक जल पक्षी; सारस—सारस पक्षी; चक्रवाक-आदिभिः—चक्रवाक तथा अन्य पक्षी; मधुकर-निकर-आकृतिभिः—भौंरों के समूह द्वारा; उपकूजितेषु—प्रतिध्वनित; जल-क्रीडा-आदिभिः—जलक्रीड़ा आदि के द्वारा; विचित्र—विविध; विनोदैः—आमोद-प्रमोद से; सु-ललित—आकर्षक; सुर-सुन्दरीणाम्—देवताओं की पत्नियों की; काम—भोगेच्छा; कलिल—उत्पन्न; विलास—आमोद-प्रमोद; हास—मुस्कान; लीला-अवलोक—बाँकी चितवन द्वारा; आकृष्ट-मनः—जिनके मन आकृष्ट होते रहते हैं; दृष्टयः—तथा जिनकी दृष्टि आकृष्ट हो जाती है; स्वैरम्—स्वेच्छापूर्वक; विहरन्ति—विहार करते हैं।

इन भूखण्डों में से प्रत्येक में ऋतुओं के अनुसार फूलों तथा फलों से पूरित अनेक उद्यान एवं मनोहर ढंग से अलंकृत आश्रम हैं। इन भूखण्डों की सीमा बताने वाले विशाल पर्वतों के बीच निर्मल जल से पूरित विशाल सरोवर हैं जिनमें कमल के नए पुष्प खिले हुए हैं। इन कमल पुष्पों की सुगन्धि से हंस, बत्तख, जलमुर्गियाँ तथा सारस जैसे जल-पक्षी अत्यन्त उत्तेजित होते हैं और भौरों के मोहक गुंजन से वायु पूरित रहती है। इन भूखण्डों के निवासी देवताओं के प्रमुख नायक हैं। अपने सेवकों से सेवित ये लोग सरोवरों के तटवर्ती उद्यानों में जीवन का आनन्द उठाते हैं। ऐसे मोहक वातावरण में देवताओं की पत्नियाँ अपने पतियों से हास-परिहास करती हैं और उन्हें कामेच्छा से पूर्ण बाँकी चितवन से देखती हैं। सभी देवताओं एवं उनकी पत्नियों पर उनके सेवक सदैव चन्दन तथा पुष्पमालाएँ चढ़ाते रहते हैं। इस प्रकार आठों स्वर्गिक वर्षों के रहने वाले लोग स्त्रियों की क्रियाओं से आकृष्ट होकर जीवन का आनन्द भोगते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर निम्नस्थ स्वर्गलोकों का वर्णन हुआ है। इन लोकों के वासी मोहक वातावरण में जीवन-उपभोग करते हैं जहाँ स्वच्छ सरोवर नए उगे कमल पुष्पों से और उद्यान नाना प्रकार के

फलफूलों, पक्षियों तथा गुंजार करते भौंरों से भरे रहते हैं। ऐसे वातावरण में वे अपनी अत्यन्त सुन्दर एवं कामासक्त पत्नियों के साथ आनन्दमग्न रहते हैं। तो भी वे सब भगवान् के भक्त होते हैं। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है। इस पृथ्वी के निवासी भी ऐसे स्वर्गिक सुखोपभोग की आकांक्षा करते हैं, किन्तु उन्हें जैसे तैसे कामसुख तथा नशा जैसे कृत्रिम आनन्दों की प्राप्ति हो जाती है, तो वे भगवान् की सेवा सर्वथा भूल जाते हैं। किन्तु स्वर्ग लोकों में उच्चस्तर के इन्द्रियसुख का भोग करते हुए भी वहाँ के वासी यह कभी नहीं भूलते कि वे परम-पुरुष के शाश्वत सेवक हैं।

नवस्वपि वर्षेषु भगवान्नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि सन्निधीयते. ॥ १४॥

शब्दार्थ

नवसु—नवों; अपि—निश्चय ही; वर्षेषु—वर्षों में; भगवान्—श्रीभगवान्; नारायणः—विष्णु; महा-पुरुषः—परम पुरुष; पुरुषाणाम्—विभिन्न भक्तों में; तत्-अनुग्रहाय—कृपा प्रदर्शित करने के लिए; आत्म-तत्त्व-व्यूहेन—अपने चतुर्गुण रूपों वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध में विस्तार करके; आत्मना—स्वयं; अद्य अपि—आज तक; सन्निधीयते—उनकी सेवा स्वीकार करने के लिए भक्तों के निकट हैं।.

इन सभी नौ वर्षों में अपने भक्तों पर कृपा करने के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, जिन्हें नारायण कहा जाता है, अपने चतुर्व्यूह रूपों—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—में विस्तार करते हैं। इस प्रकार अपने भक्तों की सेवा स्वीकार करने के लिए वे उनके निकट रहते हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने बताया है कि सभी देवता परमेश्वर की उनके विविध श्रीविग्रह (अर्चा-विग्रह) रूपों में इसलिए पूजा करते हैं, क्योंकि दिव्य लोक के अतिरिक्त अन्यत्र साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा नहीं की जा सकती। भौतिक जगत में भगवान् की पूजा मन्दिर में अर्चा-विग्रह अथवा श्रीविग्रह के रूप में की जाती है। अर्चा-विग्रह तथा मूल पुरुष में कोई अन्तर नहीं होता, अत: जो लोग इस लोक में ऐश्वर्यपूर्ण मन्दिरों में श्रीविग्रह की पूजा करने में रत रहते है उन्हें निश्चित रूप से श्रीभगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में मानना चाहिए। शास्त्रों में जैसाकि कहा गया है—*अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिः*—"न तो मन्दिर स्थित श्रीविग्रह को पत्थर या धातु मानना चाहिए और न ही गुरु को सामान्य व्यक्ति।" प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह इस शास्त्र के इस आदेश का पालन करके श्रीभगवान् के श्रीविग्रह की पूजा निरपराध भाव से करे। गुरु ईश्वर का साक्षात्

प्रतिनिधि होता है—कोई उसे सामान्य व्यक्ति न समझे। कोई भी व्यक्ति श्रीविग्रह तथा गुरु के प्रति अपराध से विरत रहकर अपने आध्यात्मिक जीवन को उन्नत कर सकता है अथवा कृष्णभावनाभावित हो सकता है।

इस सम्बन्ध में *लघुभागवतामृत* में प्राप्त निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है—

पाद्मे तु परमव्योम्नः पूर्वाद्ये दिक्चतुष्टये।

वासुदेवादयो व्यूहश्चत्वारः कथिताः क्रमात्॥

तथा पादविभूतौ च निवसन्ति क्रमादि मे।

जलावृतिस्थवैकुण्ठस्थित वेदवतीपुरे॥

सत्योर्ध्वे वैष्णवे लोके नित्याख्ये द्वारकापुरे।

शुद्धोदादुत्तरे श्वेतद्वीपे चैरावतीपुरे॥

क्षीराम्बुधिस्थितान्ते क्रोडपर्यंकधामनि

सात्वतीये क्वचित् तन्त्रे नव व्यूहाः प्रकीर्तिताः।

चत्वारो वासुदेवाद्या नारायणनृसिंहकौ॥

हयग्रीवो महाक्रोडो ब्रह्मा चेति नवोदिताः।

तत्र ब्रह्मा तु विज्ञेयः पूर्वोक्तविधया हरिः॥

''पद्मपुराण में यह कहा गया है कि आध्यात्मिक लोक में भगवान् स्वतः समस्त दिशाओं में विस्तार करते हैं और वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध रूप में पूजित हैं। वे ही भगवान् इस भौतिक जगत में जो उनकी सृष्टि का चतुर्थांश हैं श्रीविग्रह रूप में प्रदर्शित किये जाते हैं। इस भौतिक जगत की चारों दिशाओं में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध भी उपस्थित रहते हैं। इस भौतिक जगत में जल के नीचे वैकुण्ठ लोक है, जिसमें वेदवती नामक स्थान है जहाँ वासुदेव स्थित है। एक अन्य लोक, जिसे विष्णुलोक कहते हैं, सत्यलोक के ऊपर स्थित है, जहाँ संकर्षण उपस्थित हैं। इसी प्रकार द्वारकापुरी में प्रद्युम्न का आधिपत्य है। श्वेतद्वीप में क्षीर सागर है। इसी सागर के मध्य में ऐरावती पुर नामक स्थान है जहाँ अनन्तशायी अनिरुद्ध हैं। कतिपय सात्वत तंत्रों में नौ वर्षों एवं उनमें पूजित प्रधान श्रीविग्रहों का वर्णन मिलता है। वे है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, नृसिंह,

हयग्रीव, महावराह तथा ब्रह्मा।'' इस प्रसंग में स्वयं ब्रह्मा ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। जब कोई जीव ब्रह्मा बनने के योग्य नहीं पाया जाता है, तो भगवान् स्वयं ब्रह्मा का स्थान ले लेते हैं। *तत्र ब्रह्मा तु विज्ञेय: पूर्वोक्तविधया हरि: ।* यहाँ पर वर्णित ब्रह्मा साक्षात् हरि हैं।

इलावृते तु भगवान्भव एक एव पुमान्न ह्यन्यस्तत्रापरो निर्विशति भवान्या: शापनिमित्तज्ञो यत्प्रवेक्ष्यत: स्त्रीभावस्तत्पश्चाद्वक्ष्यामि. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

इलावृते—इलावृत-वर्ष में; तु—लेकिन; भगवान्—सर्वशक्तिमान; भव:—भगवान् शिव; एक—एकमात्र; एव—निश्चय ही; पुमान्—पुरुष; न—नहीं; हि—अवश्य ही; अन्य:—दूसरा कोई; तत्र—वहाँ; अपर:—के अतिरिक्त; निर्विशति—प्रवेश करता है; भवान्या: शाप-निमित्त-ज्ञ:—शिव की पत्नी भवानी के शाप का कारण जानने वाला; यत्-प्रवेक्ष्यत:—बलपूर्वक उस प्रदेश में प्रवेश करने वाले का; स्त्री-भाव:—स्त्री में परिवर्तन; तत्—वह; पश्चात्—बाद में; वक्ष्यामि—मैं व्याख्या करूँगा।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इलावृत वर्ष नामक भूखण्ड में भगवान् शिव ही एकमात्र पुरुष हैं जो देवताओं में सर्वाधिक शक्तिमान है। भगवान् शिव की पत्नी देवी दुर्गा नहीं चाहतीं कि उस प्रदेश में कोई भी पुरुष प्रवेश करे। यदि कोई मूर्ख पुरुष प्रवेश करने का दुस्साहस करता है, तो वे उसे तत्क्षण स्त्री में परिणत कर देती हैं। इसकी व्याख्या मै बाद में (नवम स्कन्ध में) करूँगा।

भवानीनाथै: स्त्रीगणार्बुदसहस्त्रैरवरुध्यमानो भगवतश्चतुर्मूर्तेर्महापुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्तिं प्रकृतिमात्मन: सङ्कर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण सन्निधाप्यैतदभिगृणन्भव उपधावति. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भवानी-नाथै:—भवानी के संग से; स्त्री-गण—स्त्रियों का; अर्बुद-सहस्त्रै:—सौ अरब; अवरुध्यमान:—सदैव सेवित होकर; भगवत: चतु:-मूर्ते:—चतुर्गुण रूप में विस्तारित श्रीभगवान्; महा-पुरुषस्य—परम पुरुष का; तुरीयाम्—चतुर्थ विस्तार; तामसीम्—तमोगुण से सम्बद्ध; मूर्तिम्—रूप; प्रकृतिम्—स्त्रोत स्वरूपा; आत्मन:—स्वयं (भगवान् शिव) का; सङ्कर्षण-संज्ञाम्—संकर्षण नाम से विख्यात; आत्म-समाधि-रूपेण—समाधि में स्वयं के ध्यान के द्वारा; सन्निधाप्य—निकट लाकर; एतत्—यह; अभिगृणन्—स्पष्ट रूप से कीर्तन करके; भव:—भगवान् शिव; उपधावति—पूजा करता है।.

इलावृत्त वर्ष में भगवान् शंकर सदैव दुर्गा की सौ अरब दासियों से घिरे रहते है जो उनकी सेवा करती हैं। परमात्मा का चतुर्गुण विस्तार वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण में हुआ है। इनमें चतुर्थ विस्तार संकर्षण है जो निश्चित रूप से दिव्य है, किन्तु भौतिक जगत में उनका संहार-कार्य तमोगुणमय है, अत: वे तामसी अर्थात् तमोगुणी-ईश्वर कहलाते हैं। भगवान् शिव को ज्ञात है कि संकर्षण उनके अपने अस्तित्व के मूल कारण हैं, अत: वे समाधि में निम्नलिखित

मंत्र का जप करते हुए उनका ध्यान करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी हम भगवान् शंकर का ध्यानावस्थित चित्र देखते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि शिवजी समाधि में सदा संकर्षण का ध्यान करते रहते हैं। शिव इस जगत के संहारक हैं। ब्रह्मा इस जगत की सृष्टि करते हैं तथा भगवान् विष्णु इसका पालन करते हैं और शिवजी इसका संहार करते हैं। चूँकि संहार तमोगुण है, अत: शिवजी तथा उनके उपास्य संकर्षण को तामसी कहा गया है। शिवजी तमोगुण के अवतार हैं। चूँकि शिवजी तथा संकर्षण दोनों प्रबुद्ध हैं और दिव्य पद पर स्थित हैं, अत: वे भौतिक गुणों—सतो, रजो तथा तमो—से कोई सरोकार नहीं रखते, किन्तु उनके कर्म उन्हें तमोगुणी बनाते हैं, अत: वे कभी-कभी तामसी कहलाते हैं।

श्रीभगवानुवाच
ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसङ्ख्यानायानन्तायाव्यक्ताय नम इति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् शंकर कहते हैं; ॐ नमो भगवते—भगवान् को मैं आदरपूर्वक प्रणाम करता हूँ; महा-पुरुषाय—आप महापुरुष है; सर्व-गुण-सङ्ख्यानाय—समस्त दिव्य गुणों के आगार; अनन्ताय—अपरिमित; अव्यक्ताय—भौतिक जगत में न प्रगट होने वाले; नमः—प्रणाम करता हूँ; इति—इस प्रकार।

परम शक्तिमान भगवान् शिव कहते हैं—हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, मैं संकर्षण के रूप में आपको प्रणाम करता हूँ। आप समस्त दिव्य गुणों के आगार हैं। अनन्त होकर भी आप अभक्तों के लिए अप्रकट रहते हैं।

भजे भजन्यारणपादपङ्कजं
भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम् ।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं
भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

भजे—मैं पूजा करता हूँ; भजन्य—हे आराध्य स्वामी; अरण-पाद-पङ्कजम्—जिसके चरणकमल भक्तों के सभी प्रकार के भयों से रक्षा करते हैं; भगस्य—ऐश्वर्य का; कृत्स्नस्य—विभिन्न प्रकार के (धन, यश, बल, ज्ञान, रूप तथा त्याग); परम्—श्रेष्ठ; परायणम्—परम शरण; भक्तेषु—भक्तों के लिए; अलम्—अनुमान से परे; भावित-भूत-भावनम्—भक्तों के परितोष के लिए अपने विभिन्न रूपों को प्रकट करने वाला; भव-अपहम्—भक्त के जन्म-मरण चक्र को रोकने वाले; त्वा—आपको; भव-भावम्—भौतिक सृष्टि का मूल; ईश्वरम्—भगवान् को।

हे प्रभो, आप ही एकमात्र आराध्य हैं, क्योंकि आप ही समस्त ऐश्वर्यों के आगार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। आपके चरण-कमल भक्तों के एकमात्र आश्रय हैं। आप भक्तों को अपने

नाना रूपों द्वारा सन्तुष्ट करने वाले हैं। हे प्रभो, आप अपने भक्तों को भौतिक संसार के चंगुल से छुड़ाने वाले हैं। आपकी इच्छा से ही अभक्त लोग इस भौतिक संसार में उलझे रहते हैं। कृपया मुझे अपने नित्य दास के रूप में स्वीकार करें।

न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभि-
र्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते ।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां
कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; यस्य—जिसकी; माया—माया शक्ति, माया; गुण—गुणों में; चित्त—हृदय की; वृत्तिभिः—क्रियाओं के द्वारा (चिन्तन, अनुभव तथा इच्छा); निरीक्षतः—निरीक्षण करने वाले का; हि—निश्चय ही; अणु—कुछ-कुछ; अपि—भी; दृष्टिः—दृष्टि; अज्यते—प्रभावित होती है; ईशे—नियमन हेतु; यथा—जिस प्रकार; नः—हम लोगों का; अजित—जो जीता न जा सके; मन्यु—क्रोध के; रंहसाम्—वेग को; कः—कौन; तम्—उस (ईश्वर) को; न—नहीं; मन्येत—पूजा करेगा; जिगीषुः—जीतने की कामना करने वाला; आत्मनः—इन्द्रियों को।

हम अपने क्रोध के वेग को रोक नहीं पाते, अतः जब हम भौतिक वस्तुओं को देखते हैं तो उनसे आकर्षित या विकर्षित हुए बिना नहीं रह पाते। किन्तु परमेश्वर इस प्रकार कभी भी प्रभावित नहीं होते। यद्यपि इस भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के हेतु इस पर दृष्टिपात करते हैं, किन्तु इससे रंचमात्र भी प्रभावित नहीं होते। अतः वह जो अपनी इन्द्रियों के वेग पर विजय प्राप्त करना चाहता है, उसे श्रीभगवान् के चरमकमलों की शरण लेनी चाहिए। तभी वह विजयी होगा।

तात्पर्य : भगवान् सदा अचिन्त्य शक्तियों से युक्त रहते हैं। यद्यपि उनके द्वारा भौतिक शक्ति (माया) पर दृष्टिपात करते ही सृष्टि हो जाती है, किन्तु भौतिक प्रकृति के गुणों से वे अप्रभावित रहते है। जब भगवान् इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, तो उनकी दिव्य स्थिति के कारण भौतिक प्रकृति के गुण उनमें व्याप्त नहीं होते। इसीलिए भगवान् दिव्य कहलाते हैं। फलतः जो भी भौतिक प्रकृति के गुणों के प्रभाव से बचना चाहता है उसे उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए।

असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया
क्षीबेव मध्वासवताम्रलोचनः ।
न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे ह्रिया

यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

असत्-दृशः—कुत्सित दृष्टि वाले व्यक्ति के हेतु; यः—जो; प्रतिभाति—प्रतीत होता है; मायया—माया के वश में; क्षीबः—क्रुद्ध; इव—सदृश; मधु—शहद; आसव—तथा सुरा द्वारा; ताम्र-लोचनः—ताँबे के समान रक्तनेत्र वाला; न—नहीं; नाग-वध्वः—नागों की स्त्रियाँ; अर्हणे—पूजन; ईशिरे—करने में अशक्त; ह्रिया—लज्जावश; यत्-पादयोः—जिसके चरणकमल के; स्पर्शन—स्पर्श से; धर्षित—उत्तेजित; इन्द्रियाः—जिसकी इन्द्रियाँ।

कुत्सित दृष्टि वाले व्यक्तियों के लिए भगवान् के नेत्र मदिरा पीये हुए उन्मत्त पुरुष जैसे हैं। ऐसे अविवेकी पुरुष भगवान् पर रुष्ट होते हैं और अपने रोषवश उन्हें श्रीभगवान् अत्यन्त रुष्ट एवं भयावह लगते हैं। किन्तु यह माया है। जब भगवान् के चरणकमलों के स्पर्श से नाग-वधुएँ उत्तेजित हुईं तो वे लज्जावश उनकी और अधिक आराधना नहीं कर पाईं फिर भी भगवान् उनके स्पर्श से उत्तेजित नहीं हुए, क्योंकि समस्त परिस्थितियों में वे धीर बने रहते हैं। अतः ऐसा कौन होगा जो भगवान् की आराधना करना नहीं चाहेगा?

तात्पर्य : उत्तेजना का कारण रहते हुए भी जो उत्तेजित नहीं होता वह धीर कहलाता है। भगवान् सदैव दिव्य स्थिति में रहने के कारण कभी भी किसी प्रकार उत्तेजित नहीं होते। अतः यदि कोई धीर बनना चाहता है, तो उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण में जाना चाहिए। *भगवद्गीता* (२.१३) में श्रीकृष्ण का कथन है, *धीरस्तत्र न मुह्यति*—ऐसा पुरुष जो सभी परिस्थितियों में धीर बना रहता है कभी किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होता। प्रह्लाद महाराज धीर के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जब नृसिंहदेव हिरण्यकशिपु का वध करने के लिए अपने विकराल रूप में प्रकट हुए तो प्रह्लाद तनिक भी उत्तेजित नहीं हुए। वे शान्त और स्थिर बने रहे, जबकि अन्य सभी, यहाँ तक कि ब्रह्माजी भी, भगवान् के रूप से भयभीत हो गए थे।

यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं
त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः ।
न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित्स्थितं
भूमण्डलं मूर्धसहस्रधामसु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; आहुः—उन्होंने कहा; अस्य—इस भौतिक जगत की; स्थिति—पोषण; जन्म—सृष्टि; संयमम्—संहार; त्रिभिः—इन तीनों; विहीनम्—से रहित; यम्—जो; अनन्तम्—अनन्त, असीम्; ऋषयः—समस्त महान् ऋषि; न—नहीं; वेद—अनुभव करते हैं; सिद्ध-अर्थम्—सरसों का बीज; इव—के समान; क्वचित्—जहाँ; स्थितम्—स्थित; भू-मण्डलम्—यह ब्रह्माण्ड; मूर्ध-सहस्र-धामसु—भगवान् के सैकड़ों हजारों फणों पर।

शिवजी कहते हैं—सभी महान् ऋषि भगवान् को सृजक, पालक और संहारक के रूप में स्वीकार करते हैं, यद्यपि वास्तव में उनका इन कार्यों से कोई सरोकार नहीं है। इसीलिए श्रीभगवान् को अनन्त कहा गया है। यद्यपि शेष अवतार के रूप में वे अपने फणों पर समस्त ब्रह्माण्डों को धारण करते हैं, किन्तु प्रत्येक ब्रह्माण्ड उन्हें सरसों के बीज से अधिक भारी नहीं लगता। अतः सिद्धि का इच्छुक ऐसा कौन पुरुष होगा जो ईश्वर की आराधना नहीं करेगा?

तात्पर्य : श्रीभगवान् के शेष या अनन्त अवतार में असीम शक्ति, यश, वैभव, ज्ञान, सौन्दर्य तथा त्याग भरा है। इस श्लोक में बताया गया है कि अनन्त अवतार में इतनी महान् शक्ति है कि उनके फणों पर असंख्य ब्रह्माण्ड टिके हैं। उनका शरीर हजार फणों वाले सर्प की भाँति है और अपार शक्ति होने के कारण फणों पर टिके सभी ब्रह्माण्ड सरसों के बीज से अधिक भारी नहीं प्रतीत होते। हम सहज कल्पना कर सकते हैं कि सर्प फण पर स्थित सरसों का बीज कितना नगण्य होता है। इस प्रसंग में पाठकों को चाहिए कि वे *चैतन्यचरितामृत आदिलीला* अध्याय श्लोक ११७-१२ पढ़ें। उसमें यह कहा गया है कि अनन्त शेषनाग के रूप में श्रीविष्णु का अवतार समस्त ब्रह्माण्डों को अपने फणों पर धारण किये है। हमारी गणना के अनुसार भले ही कोई ब्रह्माण्ड कितना ही भारी क्यों न हो, किन्तु अनन्त होने के कारण श्रीभगवान् को वह सरसों के बीज से अधिक भारी नहीं लगता।

यस्याद्य आसीद्गुणविग्रहो महान्
विज्ञानधिष्ण्यो भगवानजः किल ।
यत्सम्भवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा
वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे ॥ २२ ॥
एते वयं यस्य वशे महात्मनः
स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः ।
महानहं वैकृततामसेन्द्रियाः
सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिससे; आद्यः—आरम्भ; आसीत्—था; गुण-विग्रहः—गुणों का अवतार; महान्—सम्पूर्ण माया; विज्ञान—सम्पूर्ण ज्ञान का; धिष्ण्यः—आगार; भगवान्—सर्व-शक्तिमान; अजः—भगवान् ब्रह्मा; किल—निश्चय ही; यत्—जिससे; सम्भवः—उत्पन्न, सम्भूत; अहम्—मैं; त्रि-वृता—तीन गुणों के अनुसार तीन प्रकार का; स्व-तेजसा—अपनी शक्ति से; वैकारिकम्—सभी देवता; तामसम्—भौतिक तत्त्व; ऐन्द्रियम्—इन्द्रियाँ; सृजे—उत्पन्न करता हूँ; एते—इन सबों को; वयम्—हम; यस्य—जिसके; वशे—वश में; महा-आत्मनः—महान् पुरुष; स्थिताः—स्थित; शकुन्ताः—गृद्ध; इव—सदृश; सूत्र-यन्त्रिताः—सूत्र (डोरी) के

द्वारा बद्ध; महान्—महत्तत्व; अहम्—मैं; वैकृत—देवतागण; तामस—पाँच तत्त्व; इन्द्रियाः—इन्द्रियाँ; सृजामः—हम सृष्टि करते हैं; सर्वे—हम सभी; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से; इदम्—यह भौतिक जगत।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से ही ब्रह्माजी प्रकट होते हैं, जिनका शरीर महत् तत्त्व से निर्मित है और वह भौतिक प्रकृति के रजोगुण द्वारा प्रभावित बुद्धि का आगार है। ब्रह्माजी से मैं स्वयं मिथ्या अहंकार रूप में, जिसे रुद्र कहते हैं, उत्पन्न होता हूँ। मैं अपनी शक्ति से अन्य समस्त देवताओं, पंच तत्त्वों तथा इन्द्रियों को जन्म देता हूँ। अतः मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की आराधना करता हूँ। वे हम सबों से श्रेष्ठ हैं और सभी देवता, महत् तत्त्व तथा इन्द्रियाँ, यहाँ तक कि ब्रह्माजी और स्वयं मैं उनके वश में वैसे ही हैं जिस प्रकार कि डोरी से बँधे पक्षी। केवल उन्हीं के अनुग्रह से हम इस जगत का सृजन, पालन एवं संहार करते हैं। अतः मैं परमब्रह्म को सादर प्रणाम करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में सृष्टि का सारांश दिया गया है। संकर्षण से महाविष्णु और महाविष्णु से गर्भोदकशायी विष्णु का विस्तार होता है। ब्रह्माजी का जन्म इन्हीं विष्णु से हुआ और ब्रह्माजी से शिवजी का जन्म हुआ जिनसे अन्य समस्त देवताओं का क्रम से विकास हुआ। ब्रह्माजी, शिवजी तथा श्रीविष्णु भिन्न-भिन्न गुणों से युक्त अवतार हैं। भगवान् विष्णु समस्त भौतिक गुणों से परे हैं, किन्तु वे सत्त्व गुण को वश में रखते हैं जिससे ब्रह्माण्ड का पोषण होता है। ब्रह्माजी की उत्पत्ति महत्तत्व से हुई। ब्रह्माजी ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सृजन करने वाले हैं, श्रीविष्णु इसका पालन करने वाले और शिवजी इसका संहार करने वाले हैं। श्रीभगवान् समस्त प्रमुख देवताओं को—विशेषतः ब्रह्माजी तथा शिवजी को वैसे ही अपने वश में रखते हैं जिस प्रकार डोरी से बँधे कोई पक्षी का मालिक। कभी-कभी गृद्ध भी इसी तरह वशीभूत किये जाते हैं।

यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं
मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः ।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा
तस्मै नमस्ते विलयोदयात्मने ॥ २४॥

शब्दार्थ

यत्—जिससे; निर्मिताम्—निर्मित; कर्हि अपि—किसी भी समय; कर्म-पर्वणीम्—कर्मों की गाँठ को बाँधने वाली; मायाम्—माया को; जनः—व्यक्ति; अयम्—यह; गुण-सर्ग-मोहितः—तीन प्रकार के गुणों से मोहित; न—नहीं; वेद—जानता है;

निस्तारण-योगम्—सांसारिक बन्धन से छूटने की विधि; अञ्जसा—शीघ्र; तस्मै—उसको; नमः—नमस्कार है; ते—तुम्हें; विलय-उदय-आत्मने—जिसमें प्रत्येक वस्तु विलय होकर पुनः उसी से उत्पन्न होती है।

श्रीभगवान् की माया हम समस्त बद्ध जीवात्माओं को इस भौतिक जगत से बाँधती है, अतः उनकी कृपा के बिना हम जैसे तुच्छ प्राणी माया से छूटने की विधि नहीं समझ पाते। मैं उन श्रीभगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ, जो इस जगत की उत्पत्ति और लय के कारणस्वरूप हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१४) में श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"मेरी यह दैवीशक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सुगमतापूर्वक इससे तर जाते हैं।" भगवान् के मायावश होकर कार्य करनेवाली समस्त बद्ध जीवात्माएँ देह को ही स्वयं मानकर निरन्तर ब्रह्माण्ड में घूमती रहती हैं और विभिन्न योनियों में जन्म धारण करके नाना प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करती रहती हैं। कभी-कभी वे इन समस्याओं से निराश होकर ऐसी विधि निकाल लेती हैं, जिससे वे इस बन्धन से निकल सकें। दुर्भाग्यवश ऐसे तथाकथित शोध करनेवाले श्रीभगवान् तथा उनकी माया से अपरिचित रहकर अंधकार में भटकते फिरते हैं और कभी बाहर निकल नहीं पाते। तथाकथित विज्ञानी और उन्नतिशील शोधकर्ता जीवन के कारण का पता लगाने का प्रयास कर रहे हैं। वे इसकी ओर ध्यान नहीं देते कि जीवन का सृजन पहले से हो रहा है। यदि वे जीवन का रासायनिक संघटन ज्ञात कर लेते हैं तो इसमें उनका क्या श्रेय है? उनके सभी रासायनिक पदार्थ आखिर पाँच तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर—के विभिन्न रूपान्तर ही तो हैं। जैसा *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है जीवात्मा का कभी सृजन नहीं होता (*न जायते म्रियते वा कदाचिन्*)। वैसे पाँच स्थूल भौतिक तत्त्व, तीन सूक्ष्म भौतिक तत्त्व (मन, बुद्धि और अहं) तथा शाश्वत जीवात्माएँ हैं। जीवात्मा जब किसी विशेष प्रकार की देह की कामना करता है, तो श्रीभगवान् की आज्ञा से भौतिक प्रकृति से उस देह की उत्पत्ति होती है जो परम-ईश्वर द्वारा संचालित यंत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् जीवात्मा को एक विशेष प्रकार की यांत्रिक देह प्रदान करता है और जीवात्मा को सकाम कर्मों के नियमानुसार इस देह के साथ कार्य करना होता है। कर्मों का विवरण इस श्लोक में दिया गया है—*कर्म-पर्वणी मायाम्।* जीवात्मा यंत्रारूढ़ है और श्रीभगवान् की

आज्ञानुसार वह उस यंत्र का संचालन करता है। आत्मा के एक देह से दूसरे में देहान्तरण का यही रहस्य है। इस प्रकार जीवात्मा इस भौतिक जगत में सकाम कर्मों में फँस जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.७) में पुष्टि की गई है— *मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*—"जीवात्मा मन समेत छहों इन्द्रियों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है।"

उत्पत्ति तथा लय की समस्त क्रियाओं में जीवात्मा अपने सकाम कर्मों में फँसा रहता है जो माया के द्वारा सम्पादित होते हैं। वह भगवान् द्वारा संचालित कम्प्यूटर के समान है। तथाकथित विज्ञानियों का कथन है कि प्रकृति मुक्त भाव से कार्य करती है, किन्तु वे प्रकृति की व्याख्या नहीं कर पाते। प्रकृति भगवान् द्वारा संचालित यंत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संचालनकर्ता को जान लेने पर मनुष्य-जीवन की समस्याएँ हल हो जाती हैं, जैसा श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ॥

"बहुत से जन्म-जन्मांतरों के अन्त में तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष मुझे सब कारणों का परम कारण और सर्वव्यापक जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है।" अत: बुद्धिमान व्यक्ति भगवान् की शरण में जाता है और इस प्रकार माया के फंदे से निकल जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पंचम स्कंध के अन्तर्गत "गंगा-अवतरण" नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

जम्बूद्वीप के निवासियों द्वारा भगवान् की स्तुति

इस अध्याय में शुकदेव गोस्वामी ने जम्बूद्वीप के विभिन्न वर्षों एवं प्रत्येक में पूजित भगवान् के अवतारों का वर्णन किया है। भद्राश्ववर्ष का प्रधान शासक भद्रश्रवा है। वह तथा उसके अनेक सेवक हयग्रीव नामक अवतार की सदैव पूजा करते हैं। प्रत्येक *कल्प* के अन्त में, जब अज्ञान नामक असुर वैदिक-ज्ञान को चुरा ले जाता है, तो भगवान् हयग्रीव प्रकट होकर उसको संरक्षित रखते हैं। फिर वे यह ज्ञान ब्रह्माजी को प्रदान करते हैं। हरिवर्ष नामक स्थल में परम भक्त प्रह्लाद महाराज नृसिंह भगवान्

की आराधना करते हैं। (नृसिंह भगवान् के प्राकट्य का वर्णन *श्रीमद्भागवतम्* के सातवें स्कन्ध में मिलता है)। प्रह्लाद महाराज का अनुसरण करते हुए हरिवर्ष के सभी निवासी नृसिंह भगवान् की पूजा करते हैं और उनकी प्रेमाभक्ति में तत्पर रहने का वर माँगते हैं। केतुमालवर्ष नामक भूभाग में श्रीभगवान् (भगवान् हृषीकेश) कामदेव के रूप में प्रकट होते हैं। ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मीजी तथा वहाँ रहने वाले देवता-गण अहर्निश उनकी सेवा में लगे रहते हैं। भगवान् हृषीकेश सोलह अंशों में प्रकट होते हैं और समस्त उत्साह, बल तथा प्रभाव के स्रोत हैं। यह जीवात्मा का सबसे बड़ा दोष है कि वह सदैव भयभीत रहता है किन्तु श्रीभगवान् की कृपामात्र से उसका सारा भय जाता रहता है। अत: भगवान् को ही ईश्वर के रूप में सम्बोधित किया जा सकता है। रम्यक वर्ष नामक स्थल में मनु तथा समस्त वासी आज भी मत्स्यदेव की आराधना करते हैं। मत्स्यदेव जिनका स्वरूप पूर्ण सतोगुणी है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक एवं नियामक हैं, अत: वे इन्द्र समेत समस्त देवताओं के भी निदेशक हैं। हिरण्यमय-वर्ष में भगवान् विष्णु ने कच्छप (कूर्म मूर्ति) रूप धारण कर रखा है और वहाँ वे (*अर्यमा*) तथा अन्य समस्त वासियों द्वारा पूजित हैं। इसी प्रकार उत्तरकुरुवर्ष नामक खण्ड में भगवान् श्रीहरि ने शूकर रूप धारण कर रखा है और इसी रूप में वे वहाँ के निवासियों की सेवाएँ ग्रहण करते हैं।

इस अध्याय की सारी सूचनाएँ वही मनुष्य ठीक से समझ सकता है जो भगवान् के भक्तों की संगति करता है। इसलिए शास्त्रों की संस्तुति है कि मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति करे। यह गंगा के तट पर बसने की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। विशुद्ध भक्तों के हृदयों में समस्त सद्भाव एवं देवताओं के सभी श्रेष्ठ गुण वास करते हैं। किन्तु जो भक्त नहीं हैं उनके हृदयों में ऐसे गुण नहीं रह सकते क्योंकि भगवान् की माया से मोहित हैं। भक्तजनों का अनुसरण करके ही यह जाना जा सकता है कि श्रीभगवान् ही एकमात्र पूजनीय श्रीविग्रह हैं। प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि इस विचार को स्वीकार करे और ईश्वर की आराधना करे। जैसाकि *भगवद्गीता* (१.१) में कहा गया है— *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—"समस्त वैदिक शास्त्रों के अध्ययन का उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना करना है।" यदि समस्त वैदिक शास्त्र पढ़ लेने के बाद परब्रह्म के प्रति सुप्त भगवत्प्रेम जाग्रत नहीं होता तो मनुष्य को यह समझना चाहिए कि उसका सारा श्रम व्यर्थ रहा। उसने केवल अपना समय गँवाया। श्रीभगवान् के प्रति आसक्ति न होने से वह इस भौतिक जगत में आकर केवल पारिवारिक जीवन में व्यस्त रहता है।

अत: इस अध्याय की यही शिक्षा है कि मनुष्य को चाहिए कि वह पारिवारिक जीवन से निकल कर एकान्त भाव से भगवान् के चरणकमलों की शरण ले।

श्रीशुक उवाच

तथा च भद्रश्रवा नाम धर्मसुतस्तत्कुलपतयः पुरुषा भद्राश्ववर्षे साक्षाद्भगवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण समाधिना सन्निधाप्येदमभिगृणन्त उपधावन्ति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी बोले; तथा च—इसी प्रकार (जिस प्रकार इलावृत-वर्ष में शिवजी संकर्षण की पूजा करते हैं); भद्र-श्रवा—भद्रश्रवा; नाम—नामक; धर्म-सुतः—धर्मराज के पुत्र; तत्—उससे; कुल-पतयः—कुल के मुखिया; पुरुषाः—समस्त वासी; भद्राश्व-वर्षे—भद्राश्ववर्ष नामक भूखण्ड में; साक्षात्—प्रकट रूप में, स्वयं; भगवतः—श्रीभगवान्; वासुदेवस्य—वासुदेव का; प्रियाम् तनुम्—अत्यन्त प्रिय रूप; धर्म-मयीम्—समस्त धार्मिक नियमों का निदेशक; हयशीर्ष-अभिधानाम्—हयशीर्ष (हयग्रीव भी कहा जाता है) नामक भगवान् के अवतार; परमेण समाधिना—परम समाधि द्वारा; सन्निधाप्य—समीप आकर; इदम्—यह; अभिगृणन्तः—कीर्तन करते हुए; उपधावन्ति—पूजा करते हैं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—धर्मराज के पुत्र भद्रश्रवा भद्राश्ववर्ष नामक भूखण्ड में राज्य करते हैं। जिस प्रकार इलावृतवर्ष में भगवान् शिव संकर्षण की पूजा करते हैं उसी प्रकार भद्रश्रवा अपने सेवकों तथा राज्य के समस्त वासियों समेत वासुदेव के स्वांश हयशीर्ष की पूजा करते हैं। हयशीर्ष भक्तों को अत्यन्त प्रिय हैं और वे समस्त धार्मिक विधानों के निदेशक हैं। गहन समाधि में स्थित भद्रश्रवा तथा उनके सेवक भगवान् को सादर नमस्कार करते हैं और सावधानी पूर्वक उच्चारण करते हुए निम्नलिखित स्तुतियों का कीर्तन करते हैं।

भद्रश्रवस ऊचुः

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

भद्रश्रवसः ऊचुः—शासक भद्रश्रवा तथा उसके पार्षद बोले; ओम्—हे ईश्वर; नमः—सादर नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् को; धर्माय—समस्त धार्मिक विधानों के स्रोत; आत्म-विशोधनाय—भौतिक दूषण से शुद्ध करने वाले को; नमः—नमस्कार करते हैं; इति—इस प्रकार।

राजा भद्रश्रवा तथा उसके घनिष्ठ सेवक इस प्रकार स्तुति करते हैं—इस भौतिक जगत में बद्धजीव के चित्त को शुद्ध करने वाले, समस्त धार्मिक विधानों के आगार भगवान् को हमारा नमस्कार है। हम उन्हें बारम्बार सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : मूढ़ संसारी व्यक्ति यह नहीं जान पाते कि वे प्रकृति के नियमों द्वारा किस प्रकार पग-पग पर नियंत्रित और दण्डित किये जा रहे हैं। वे बार-बार जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग के प्रयोजन को

जाने बिना यह मान बैठते हैं कि वे भौतिक जीवन की बद्धावस्था में परम सुखी हैं। फलतः *भगवद्गीता* (७.१) में भगवान् कृष्ण ने ऐसे सं सारी व्यक्तियों को मूढ़ कहा है—*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।* ये मूढ़ यह नहीं जानते कि यदि वे पवित्र होना चाहते हैं, तो तप और संयम द्वारा भगवान् वासुदेव (कृष्ण) की पूजा करें। यही पवित्रता मानव जीवन का ध्येय है। यह जीवन अन्धाधुन्ध इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं मिला। मनुष्य-जीवन पाकर प्रत्येक प्राणी को अपने को पवित्र बनाने के लिए कृष्णभावनामृत में संलग्न करना चाहिए—*तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येत्।* यह अपने पुत्रों के प्रति राजा ऋषभदेव का उपदेश है। मनुष्य जन्म पाकर हर व्यक्ति को सभी प्रकार के तपों के द्वारा अपने को पवित्र बनाना चाहिए। *यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।* हम सभी सुख की खोज में रहते हैं, किन्तु अज्ञानवश हम यह नहीं जान पाते कि वास्तव में अबाध सुख क्या है। अबाध सुख ब्रह्म सौख्य कहलाता है। यद्यपि इस भौतिक जगत में हमें कुछ तथाकथित सुख प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह क्षणिक होता है। मूर्ख भौतिकतावादी इसे नहीं समझ सकते। अतः प्रह्लाद महाराज निर्देश करते हैं—*माया-सुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्*—क्षणिक भौतिक सुख के लिए ये मूढ़ बड़े-बड़े प्रबन्ध करते हैं और इस तरह जन्म-जन्मातर दिग्भ्रमित रहते हैं।

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं
घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति ।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति ॥ ३॥

शब्दार्थ

अहो—अरे; विचित्रम्—आश्चर्यजनक; भगवत्-विचेष्टितम्—भगवान् की लीला; घ्नन्तम्—मृत्यु; जनः—व्यक्ति; अयम्—यह; हि—निश्चय ही; मिषन्—देखकर भी; न पश्यति—नहीं देखता; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; असत्—भौतिक सुख; यर्हि—क्योंकि; विकर्म—वर्जित कार्य; सेवितुम्—उपभोग करते हुए; निर्हृत्य—जलाकर; पुत्रम्—पुत्रों का; पितरम्—पिता को; जिजीविषति—दीर्घायु की इच्छा करता है।.

अहो! कितने आश्चर्य की बात है कि मूर्ख संसारी अपने सिर पर नाचती मृत्यु की ओर भी ध्यान नहीं देता। यह जानते हुए भी कि मृत्यु अटल है, वह उसके प्रति उदासीन एवं लापरवाह रहता है। चाहे उसके पिता की मृत्यु हो, अथवा पुत्र की मृत्यु क्यों न हो, वह उसकी सम्पत्ति का उपभोग करना चाहता है। प्रत्येक दशा में वह अर्जित धन से किसी की परवाह किये बिना सांसारिक सुख का उपभोग करने का प्रयत्न करता है।

तात्पर्य : भौतिक सुख का अर्थ है आहार, निद्रा, मैथुन तथा सुरक्षा की सुविधाएँ प्राप्त होना। इस संसार में भौतिकतावादी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के इन चार साधनों के लिए ही मृत्यु की भी परवाह न करके जीवित रहना चाहता है। पुत्र अपने पिता की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति का उपभोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है। इसी प्रकार यदि किसी में पुत्र की मृत्यु होती है, तो पिता उसकी सम्पत्ति का उपभोग करता है। कभी-कभी वह पिता पुत्र की विधवा के साथ संभोग करता है। जितने भौतिकतावादी व्यक्ति हैं, वे ऐसा ही आचरण करते हैं। इसीलिए शुकदेव गोस्वामी का कथन है, "श्रीभगवान् की इच्छा से घटने वाली भौतिक सुख की ये लीलाएँ कितनी विचित्र हैं!" दूसरे शब्दों में, भौतिकतावादी व्यक्ति सभी प्रकार के दुष्कर्म करना चाहते हैं, किन्तु भगवान् की इच्छा के बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता। तो फिर भगवान् दुष्कर्म करने की अनुमति क्यों देते हैं? भगवान् नहीं चाहते कि कोई भी जीव पाप करे। उन्हें पाप से दूर रहने के लिए वे उसके अन्त:करण में प्रेरणा देते हैं। किन्तु जब कोई पाप करने पर उतारू हो जाता है, तो श्रीभगवान् उसे अपनी जिम्मेदारी पर वैसा करने की अनुमति भी दे देते हैं (*मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कोई कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु वे इतने दयालु हैं कि जब बद्ध-आत्मा जिद करने लगता है तो उस आत्मा को उसके दायित्व पर वैसा करने के लिए अनुमति प्रदान कर देते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार अन्य लोकों में तथा इस ब्रह्माण्ड के पृथ्वी के अन्य भागों में, विशेषत: स्वर्गलोक में, पुत्र सदैव पिता के बाद तक जीवित रहते हैं। किन्तु इस पृथ्वीलोक पर प्राय: पुत्र अपने पिता से पहले मरता है और उसका पिता उसकी सम्पत्ति का प्रसन्नतापूर्वक उपभोग करता है। पिता या पुत्र में से किसी को भी इस वास्तविकता के दर्शन नहीं होते कि दोनों की ही मृत्यु होनी है। किन्तु जब मृत्यु आ जाती है, तो उपभोग की सारी योजनाएँ धरी रह जाती हैं।

वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं
पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः ।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया
सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

वदन्ति—वे साधिकार कहते हैं; **विश्वम्**—समस्त भौतिक सृष्टि को; **कवयः**—विद्वान सन्त; **स्म**—निश्चय ही; **नश्वरम्**—नश्वर, विनाशशील; **पश्यन्ति**—समाधि में देखते हैं; **च**—भी; **अध्यात्म-विदः**—आत्मज्ञानी; **विपश्चितः**—अत्यन्त ज्ञानीजन; **तथा**

अपि—तिस पर भी; मुह्यन्ति—मोहित हो जाते हैं; तव—आपके; अज—हे अजन्मा; मायया—माया के द्वारा; सु-विस्मितम्—अत्यन्त विचित्र; कृत्यम्—कार्य; अजम्—परम अजन्मा को; नतः अस्मि—मैं नमस्कार करता हूँ; तम्—उसको।.

हे अजन्मा, आत्मज्ञान में समुन्नत वेदविद् अन्य तार्किकों तथा दार्शनिकों की तरह यह भलीभाँति जानते हैं कि यह भौतिक जगत नश्वर है। वे समाधि की दशा में इस जगत की वास्तविक स्थिति का अनुभव करते हैं। वे सत्य का भी उपदेश देते हैं। किन्तु कभी-कभी वे भी आपकी माया से मोहित हो जाते हैं। यह आपकी अपनी ही विचित्र लीला है, अतः मैं समझ सकता हूँ कि आपकी माया अत्यन्त विचित्र है। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : श्रीभगवान् की माया इस भौतिक जगत में रहने वाले बद्ध-आत्मा पर ही अपना प्रभाव नहीं जमाती, वरन् कभी-कभी ऐसे परम विद्वज्जनों पर भी प्रभाव दिखाती है जो आत्म-साक्षात्कार द्वारा इस भौतिक जगत की वास्तविक स्थिति से अनजान हैं। ज्योंही कोई यह सोचता है कि मैं देहस्वरूप हूँ (*अहं ममेति*) और इस देह से सम्बन्धित सभी वस्तुएँ मेरी हैं, तो वह मोहग्रस्त हो जाता है। माया से उत्पन्न यह मोह विशेषतः बद्धजीवों पर प्रभाव दिखाता है, किन्तु कभी-कभी मुक्त जीव भी इसके वश में हो जाते हैं। मुक्त जीव वह व्यक्ति होता है, जिसे इस भौतिक जगत का यथेष्ट ज्ञान रहता है, जिससे वह जीवन की देहात्मबुद्धि में लिप्त नहीं होता। किन्तु दीर्घकाल तक भौतिक प्रकृति के गुणों के संसर्ग से, मुक्त जीव भी कभी-कभी माया के द्वारा छले जाते हैं इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है, *मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—"मेरी शरण में आने वाले ही माया के प्रभाव से बच सकते हैं।" फलतः किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि वह माया से अप्रभावित मुक्त जीव है। प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह विधि-विधान का दृढ़ता से पालन करते हुए सतर्कतापूर्वक भक्ति करे। इस प्रकार वह भगवान् के चरणारविन्द पर स्थिर रह सकता है। अन्यथा थोड़ी सी भी असावधानी से तवाही मच जायेगी। महाराज भरत इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं—जैसा हम देख चुके हैं। वे निस्सन्देह एक महान् भक्त थे, किन्तु एक नन्हे मृग के प्रति अपना थोड़ा ध्यान बाँटने के कारण उन्हें और दो जन्म भोगने पड़े—एक तो मृग के रूप में और दूसरा जड़ भरत ब्राह्मण के रूप में। इसके बाद उनकी मुक्ति हुई और वे भगवान् के धाम पहुँच गए।

श्रीभगवान् अपने भक्त को क्षमा करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। किन्तु यदि भक्त उनकी इस उदारता का लाभ उठा कर जान-बूझ कर बारम्बार त्रुटि करता है, तो वे निश्चय ही उसे माया के चंगुल

में गिरने देकर दंडित करते हैं। कहने का आशय यह है कि वेदों के अध्ययन से प्राप्त मात्र कोरे ज्ञान द्वारा माया के चंगुल से रक्षा नहीं की जा सकती। मनुष्य को चाहिए कि वह दृढ़ता से श्रीभगवान् के चरणारविन्द की भक्ति करे। तभी मनुष्य की स्थिति सुरक्षित है।

विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
ह्यकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः ॥ ॥

शब्दार्थ

विश्व—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की; उद्भव—उत्पत्ति का; स्थान—स्थिति या पालन का; निरोध—लय का; कर्म—ये कर्म; ते—आपके (हे ईश्वर); हि—ही; अकर्तुः—पृथक्, विलग; अङ्गीकृतम्—वैदिक शास्त्रों द्वारा अब भी मान्य; अपि—यद्यपि; अपावृतः—इन समस्त कर्मों से अछूता; युक्तम्—अनुकूल, योग्य; न—नहीं; चित्रम्—विचित्र; त्वयि—आप में; कार्य-कारणे—समस्त कार्यों का मूल कारण; सर्व-आत्मनि—सभी प्रकार से; व्यतिरिक्ते—विलग; च—भी; वस्तुतः—मूल वस्तु।

हे भगवन्, यद्यपि आप इस भौतिक जगत की उत्पत्ति, पालन तथा प्रलय से सर्वथा विरत हैं और इन कार्यों से आप प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं होते, तो भी वे आपके द्वारा किये गये माने जाते हैं। हमें इस पर विस्मय नहीं होता, क्योंकि सर्वात्मरूप होने से आप समस्त कारणों के कारण हैं। आप प्रत्येक वस्तु से विलग रहते हुए भी प्रत्येक वस्तु के सक्रिय तत्त्व हैं। इस प्रकार हम अनुभव करते हैं कि आपकी अचिन्त्य शक्ति के कारण ही प्रत्येक घटना घटती है।

वेदान्युगान्ते तमसा तिरस्कृतान्
रसातलाद्यो नृतुरङ्गविग्रहः ।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते
तस्मै नमस्तेऽवितथेहिताय इति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वेदान्—चारों वेदों को; युग-अन्ते—कल्प के अन्त में; तमसा—साक्षात् अज्ञानरूपी दैत्यों द्वारा; तिरस्कृतान्—चुराये जाकर; रसातलात्—रसातल (निम्नतम लोक) से; यः—जो (श्रीभगवान्); नृ-तुरङ्ग-विग्रहः—आधा घोड़ा तथा आधा मनुष्य का रूप धारण कर; प्रत्याददे—लौटा दिया; वै—निश्चय ही; कवये—परम कवि (भगवान् ब्रह्मा) को; अभिया-चते—उनके माँगने पर; तस्मै—उनको (हयग्रीव रूप); नमः—मेरा नमस्कार है; ते—आपको; अवितथ-ईहिताय—जिसका संकल्प विफल नहीं होता; इति—इस प्रकार।

कल्प के अन्त में साक्षात् अज्ञान एक दैत्य का रूप धारण कर सभी वेदों को चुरा कर उन्हें रसातल ले गया। किन्तु श्रीभगवान् ने हयग्रीव का रूप धारण करके वेदों को पुनः प्राप्त किया और ब्रह्माजी के विनय करने पर उन्हें लाकर दे दिया। हे सत्यसंकल्प पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, मैं

आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि वैदिक ज्ञान अनश्वर है, किन्तु इस भौतिक जगत में कभी वह प्रकट होता है, तो कभी लुप्त होता रहता है। जब इस भौतिक जगत के प्राणी अज्ञान में डूब जाते हैं, तो वैदिक ज्ञान लुप्त हो जाता है। किन्तु भगवान् हयग्रीव अथवा मत्स्य भगवान् वैदिक ज्ञान की सदैव रक्षा करते हैं और वह ज्ञान यथासमय ब्रह्माजी के माध्यम से पुन: वितरित होने लगता है। ब्रह्माजी ही श्रीभगवान् के विश्वासपात्र प्रतिनिधि हैं, अत: जब उन्होंने वैदिक ज्ञान-कोष की पुन: याचना की तो भगवान् ने उनकी इच्छा पूरी की।

हरिवर्षे चापि भगवान्नरहरिरूपेणास्ते; तद्रूपग्रहणनिमित्तमुत्तरत्राभिधास्ये; तद्दयितं रूपं
महापुरुषगुणभाजनो महाभागवतो दैत्यदानवकुलतीर्थीकरणशीलाचरितः
प्रह्लादोऽव्यवधानानन्यभक्तियोगेन सह तद्वर्षपुरुषैरुपास्ते इदं चोदाहरति. ॥ ७॥

शब्दार्थ

हरि-वर्षे—हरिवर्ष नामक भूभाग में; च—भी; अपि—निस्सन्देह; भगवान्—श्रीभगवान्; नर-हरि-रूपेण—नृसिंह देव के रूप में; आस्ते—अवस्थित है; तत्-रूप-ग्रहण-निमित्तम्—श्रीकृष्ण (केशव) ने नृसिंह रूप जिस कारण धारण किया; उत्तरत्र—अगले अध्यायों में; अभिधास्ये—मैं वर्णन करूँगा; तत्—वह; दयितम्—अत्यन्त प्रिय; रूपम्—रूप; महा-पुरुष-गुण-भाजनः—प्रह्लाद महाराज, जो महापुरुषोचित गुणों के आगार हैं; महा-भागवतः—सर्वश्रेष्ठ भक्त; दैत्य-दानव-कुल-तीर्थी-करण-शीला-चरितः—उनके कर्म तथा चरित्र इतने पवित्र थे कि अपने कुल में उत्पन्न समस्त दैत्यों का मोक्ष करा दिया; प्रह्लादः—महाराज प्रह्लाद; अव्यवधान-अनन्य-भक्ति-योगेन—अविच्छिन्न एवं अनन्य भक्ति के द्वारा; सह—सहित; तत्-वर्ष-पुरुषैः—हरिवर्ष के निवासियों के; उपास्ते—नमस्कार एवं पूजन करता है; इदम्—यह; च—और; उदाहरति—जप करता है।

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे कहते हैं—हे राजन्, भगवान् नृसिंह हरिवर्ष नामक भूभाग में वास करते हैं। मैं *श्रीमद्भागवत* के सप्तम स्कंध में आपको बताऊँगा कि प्रह्लाद महाराज ने किस प्रकार श्रीभगवान् को नृसिंह देव रूप धारण करने के लिए बाध्य किया। प्रह्लाद महाराज भगवद्-भक्तों में शिरोमणि हैं और महापुरुषों के अनुरुप समस्त उत्तम गुणों के आगार हैं। उनके चरित्र और कर्म से उनके दैत्य वंश के समस्त पतित जनों का उद्धार हुआ है। उन्हें भगवान् नृसिंह देव परम प्रिय हैं। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज अपने समस्त सेवकों तथा हरिवर्ष के समस्त वासियों सहित भगवान् नृसिंह देव की पूजा निम्नलिखित मंत्रोच्चार द्वारा करते हैं।

तात्पर्य : जयदेव गोस्वामी द्वारा रचित भगवान् श्रीकृष्ण (केशव) के दशावतारों की स्तुति के प्रत्येक पद्यांश में केशव नाम आता है। उदाहरणार्थ—*केशव धृत-नर-हरि-रूप जय जगदीश हरे, केशव धृत-मीन शरीर जय जगदीश हरे* तथा *केशव धृत-वामन-रूप जय जगदीश हरे। जगदीश* शब्द से

समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी का बोध होता है। उनका मूल रूप दो भुजाओं वाले श्रीकृष्ण हैं, जिसमें वे अपने हाथ में मुरली लिए खड़े हुए गायों के पालन में व्यस्त हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-

लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मीसहस्रशतसंभ्रमसेव्यमानं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"लाखों कल्पवृक्षों से आवृत चिन्तामणि कर-गठित गृहसमूह में सुरभि गौवों का पालन करने वाले तथा सैकड़ों-हजारों लक्ष्मी-देवियों से सेवित, मैं उन आदि पुरुष गोविन्द की आराधना करता हूँ।" इस श्लोक से हमें यह ज्ञात होता है कि गोविन्द या श्रीकृष्ण आदि-पुरुष हैं। जिस प्रकार बहती हुई नदी में असंख्य तरंगें होती हैं, उसी प्रकार भगवान् के असंख्य अवतार हैं, किन्तु भगवान् का मूल रूप श्रीकृष्ण या केशव ही है।

श्रीशुकदेव गोस्वामी नृसिंहदेव का उल्लेख प्रह्लाद महाराज के कारण करते हैं। प्रह्लाद महाराज को उनके पिता दैत्य हिरण्यकशिपु ने अत्यधिक कष्ट पहुँचाया था। उसके समक्ष अपने को असहाय मानकर ही उन्होंने भगवान् को पुकारा। भगवान् ने उस दैत्यराज को मारने के लिए आधा सिंह तथा आधा पुरुष वाला नृसिंहदेव का रूप धारण किया था। यद्यपि श्रीकृष्ण ही आदि-पुरुष हैं, जिसके समान कोई अन्य नहीं है, किन्तु वे अपने भक्तों को तुष्ट रखने अथवा कोई विशेष कार्य पूरा करने के उद्देश्य से नाना रूप धारण करते रहते हैं। इसलिए जयदेव गोस्वामी विभिन्न उद्देश्यों से धारण किए भगवान् के दशावतारों का वर्णन करते हुए अपनी स्तुति में केशव नाम का बारम्बार उल्लेख करते हैं।

ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान्रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा; अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठा ॐ क्ष्रौम्. ॥ ८॥

शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; **नमः**—सादर नमस्कार; **भगवते**—भगवान् को; **नर-सिंहाय**—नृसिंह नाम से विख्यात; **नमः**—नमस्कार है; **तेजः-तेजसे**—समस्त तेजों के तेज; **आविः-आविर्भव**—कृपया पूर्णरूप से प्रकट करें; **वज्र-नख**—वज्र के समान नखों वाले; **वज्र-दंष्ट्र**—वज्र के समान दाँतों वाले; **कर्म-आशयान्**—भौतिक कर्म के द्वारा सुखी रहने की आसुरी इच्छाएँ; **रन्धय रन्धय**—कृपया परास्त करें; **तमः**—अज्ञान; **ग्रस**—दूर करें; **ग्रस**—दूर करें; **ॐ**—हे ईश्वर; **स्वाहा**—सादर आहुति; **अभयम्**—निर्भीकता;

अभयम्—निर्भीकता; आत्मनि—मेरे मन में; भूयिष्ठाः—आप प्रकट हों; ॐ—हे ईश; क्ष्रौम्—भगवान् नृसिंह की स्तुतियों का बीज मंत्र।

समस्त तेज के स्रोत भगवान् नृसिंहदेव, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे वज्र के समान नख तथा दांतों वाले प्रभु! आप इस भौतिक जगत में हमारी आसुरी सकाम कर्म-वासनाओं को मिटा दें। हमारे हृदय में प्रकट होकर हमारे अज्ञान को भगा दें, जिससे इस भौतिक जगत में हम निडर होकर जीवन के लिए संघर्ष कर सकें।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (४.२२.३९) में महाराज पृथु से सनत्-कुमार कहते हैं—

यत्पादपङ्कजपलाश विलासभक्त्या

कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।

तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-

स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

"श्रीभगवान् के चरणारविन्द की सेवा में संलग्न भक्त कर्म-वासनाओं की ग्रन्थि से सरलता से मुक्त हो सकते हैं। किन्तु अभक्तों के लिए ऐसा कर पाना कठिन है क्योंकि ज्ञानी तथा योगी, जो भक्त नहीं हैं, प्रयास करने पर भी इन्द्रियतृप्ति की तरंगों को नहीं रोक पाते। अतः तुम्हें उपदेश दिया जाता है कि वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की भक्ति में अपने को लगाओ।"

इस भौतिक जगत में रहने वाला प्रत्येक जीव हर पदार्थ का जी भर कर उपभोग करना चाहता है। इसके लिए बद्धजीव को एक के पश्चात् दूसरी देह धारण करनी पड़ती है और इस प्रकार उसकी प्रबल कामनाएँ वैसी की वैसी बनी रहती हैं। पूरी तरह कामना-रहित हुए बिना जन्म तथा मृत्यु के चक्र को रोका नहीं जा सकता। इसलिए श्रील रूप गोस्वामी ने शुद्ध भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिए कि सकाम कर्म अथवा दार्शनिक चिन्तन द्वारा भौतिक लाभ की कामना किए बिना श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमा-भक्ति करे। यही विशुद्ध भक्ति है।" जब तक मनुष्य उन समस्त भौतिक कामनाओं से, जो अज्ञान-तम से उत्पन्न होती हैं पूरी तरह मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह भगवान् की भक्ति में भली-भाँति संलग्न नहीं हो पाता। अतः हमें सदैव नृसिंहदेव की, जिन्होंने भौतिक कामना के

साक्षात् रूप हिरण्यकशिपु का वध किया, स्तुति करनी चाहिए। हिरण्य का अर्थ ''स्वर्ण'' और कशिपु का अर्थ ''मुलायम शय्या'' है। भौतिकतावादी व्यक्ति शरीर को सदा सुखी रखना चाहते हैं। इस प्रकार हिरण्यकशिपु भौतिकतावादी जीवन का सही प्रतिनिधि था; इसीलिए वह भक्तराज प्रह्लाद महाराज को तब तक कष्ट पहुँचाता रहा जब तक कि नृसिंहदेव ने उसका वध नहीं कर दिया। अत: जो भी व्यक्ति भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने की अभिलाषा रखता है उसे चाहिए कि वह नृसिंहदेव की उसी प्रकार सादर स्तुति करे जिस प्रकार से इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज ने की है।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

स्वस्ति—कल्याण, मंगल; अस्तु—हो; विश्वस्य—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; खलः—ईर्ष्यालु (लगभग सभी); प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; ध्यायन्तु—विचार करें; भूतानि—सभी जीवात्माएँ; शिवम्—मंगल; मिथः—परस्पर; धिया—अपनी बुद्धि से; मनः—मन; च—और; भद्रम्—शान्ति; भजतात्—अनुभव होने दें; अधोक्षजे—मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा अगम्य भगवान् में; आवेश्यताम्—ध्यानमग्न हों; नः—हमारी; मतिः—बुद्धि; अपि—निस्सन्देह; अहैतुकी—बिना किसी हेतु के।

इस सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो और सभी इर्ष्यालु व्यक्ति शान्त हों, सभी जीवात्माएँ भक्तियोग का अभ्यास करके प्रशान्त हों, क्योंकि भक्ति करने पर वे एक दूसरे का कल्याण-चिन्तन कर सकेंगे। अतः हम सभी भगवान् श्रीकृष्ण की परम भक्ति में लगकर उन्हीं के विचार में मग्न रहें।

तात्पर्य : निम्नलिखित पद्य में वैष्णव का वर्णन किया गया है—

वांछाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिंधुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

कल्पवृक्ष के समान वैष्णव उन सबों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला है जो उसके चरणकमलों की शरण में आते हैं। प्रह्लाद महाराज एक विशिष्ट वैष्णव हैं। वे अपने लिए नहीं वरन् उन समस्त जीवात्माओं के लिए—चाहे वे साधु हों, ईर्ष्यालु हों या दुष्ट हों—प्रार्थना करते हैं। उन्होंने सदैव दुष्टों का, यथा अपने पिता हिरण्यकशिपु का भी, हितचिन्तन किया। उन्होंने अपने लिए कभी कुछ नहीं माँगा, अपितु भगवान् से अपने दैत्य पिता को क्षमा करने के लिए प्रार्थना की। यही वैष्णव का स्वभाव

है। वह निरन्तर समग्र विश्व के कल्याण का चिन्तन करता है।

श्रीमद्भागवत तथा भागवत-धर्म ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं, जो ईर्ष्या से पूर्णत: रहित हों (*परम निर्मत्सराणाम्*)। इसलिए इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज प्रार्थना करते हैं—*खल: प्रसीदताम्,* "सभी ईर्ष्यालु पुरुष शांत हों।" यह संसार ईर्ष्यालु पुरुषों से भरा हुआ है, किन्तु यदि कोई स्वयं को ईर्ष्या-मुक्त कर ले तो वह सामाजिक व्यवहार में उदार हो सकता है और परमार्थ के लिए सोच सकता है। जो कोई भी कृष्णभावनामृत ग्रहण करके श्रीभगवान् की सेवा में पूर्णरूपेण जुट जाता है उसका हृदय समस्त प्रकार के ईर्ष्यायुक्त विचारों से रहित हो जाता है (*मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे*)। अत: हमें चाहिए कि हम नृसिंहदेव से अपने हृदयों में विराजने के लिए विनय करें। हमें प्रार्थना करनी चाहिए—*बहिर् नृसिंहो हृदये नृसिंह:*—"भगवान् नृसिंहदेव, मेरी समस्त कुवृत्तियों का विनाश करते हुए मेरे अन्तस्थल में विराजमान हों; वे मेरे मन को विमल करें जिससे मैं शान्तिपूर्वक भगवान् की पूजा कर सकूँ और अखिल विश्व को शान्ति प्रदान कर सकूँ।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में हमें उत्तम सीख दी है। जब कोई श्रीभगवान् से प्रार्थना करता है, तो वह सदा एक न एक वर माँगता है। यहाँ तक कि निष्काम भक्त भी कोई न कोई वर माँगता है, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपनी कृति *शिक्षाष्टक* में शिक्षा दी है—

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितिधूलीसदृशं विचिन्तय॥

"हे नन्दकुमार! मैं आपका चिर सेवक हूँ, किन्तु न जाने कैसे जन्म-मरण के सागर में गिर गया हूँ। कृपा करके मुझे मृत्युसागर से उबारकर अपने चरणकमल का रजकण बना लीजिए।" एक अन्य स्तुति में श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*ममजन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि*—"मुझे जन्म-जन्मांतर आपके चरणकमलों में विशुद्ध प्रेम और भक्ति प्राप्त हो।" जब प्रह्लाद महाराज, *ॐ नमो भगवते नृसिंहाय* का जप करते हैं, तो वे ईश्वर से वर माँगते हैं, किन्तु परम वैष्णव होने के नाते वे अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए कुछ भी नहीं माँगते। इस स्तुति में उनकी प्रथम कामना है—*स्वस्त्यस्तु विश्वस्य*—"सारे विश्व का कल्याण हो।" इस प्रकार उन्होंने सबों पर, यहाँ तक कि सर्वाधिक ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने पिता पर भी, दया दिखाने की प्रार्थना की। चाणक्य पण्डित के अनुसार ईष्यालु जीवात्माएँ

दो प्रकार की होती हैं—एक तो सर्प और दूसरी हिरण्यकशिपु जैसा व्यक्ति जो प्रत्येक व्यक्ति से, चाहे वह पिता हो या पुत्र, ईर्ष्या करता है। हिरण्यकशिपु अपने नन्हें से पुत्र प्रह्लाद से ईष्या करता था, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता के हितार्थ वर माँगा। हिरण्यकशिपु भक्तों से ईर्ष्या करता था, किन्तु प्रह्लाद चाहते थे कि उनका पिता तथा पिता के सदृश अन्य दैत्य भगवान् की कृपा से अपनी ईष्यालु प्रकृति त्याग कर भक्तों को सताना बन्द कर दें (*खल:प्रसीदताम्*)। किन्तु कठिनाई यह है कि खल (ईर्ष्यालु) कभी शान्त नहीं होते। सर्प, जो एक प्रकार का खल है, उसे तो केवल मंत्र बल से या विशेष औषधि से शान्त किया जा सकता है (*मन्त्रौषधिवश: सर्प: खलकेन निवार्यते*)। किन्तु खल (ईर्ष्यालु) पुरुष को किसी भी प्रकार शान्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए प्रह्लाद महाराज विनती करते हैं कि सभी खलों के हृदयों का परिवर्तन हो और वे दूसरों की भलाई सोचें।

यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन समस्त संसार में फैल सके और भगवान् के अनुग्रह से सभी लोग इसे मानने लगें तो खल-जनों की विचारधारा में परिवर्तन आएगा। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का हित-चिन्तन करेगा। अत: प्रह्लाद महाराज प्रार्थना करते हैं—*शिवं मिथो धिया*—अपने-अपने कर्मों में प्रत्येक व्यक्ति अन्यों से ईर्ष्या करता है, किन्तु कृष्णभावनामृत में कोई किसी से ईष्या नहीं करता, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का कल्याण सोचता है। इसलिए प्रह्लाद महाराज विनती करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का मन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में स्थिर होकर उदार बने (*भजताद् अधोक्षजे*)। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र इंगित किया गया है *(स वै मन: कृष्णपदारविन्दयो:*) और भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६) में उपदेश दिया है— *मन्मना भव मद्भक्त:*—मनुष्य को चाहिए कि वह सैदव श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का चिन्तन करे। इससे उसका मन स्वच्छ होगा (*चेतो दर्पणमार्जनम्*)। भौतिकतावादी सदैव इन्द्रियतृप्ति का चिन्तन करते हैं, किन्तु प्रह्लाद महाराज की प्रार्थना है कि भगवान् की कृपा से उनके मन परिवर्तित हों और वे इन्द्रियतृप्ति का चिन्तन छोड़ दें। यदि वे निरन्तर श्रीकृष्ण का चिन्तन करें तो सब कुछ ठीक हो जाये। कुछ लोगों का तर्क है कि यदि प्रत्येक प्राणी इस प्रकार श्रीकृष्ण का चिन्तन करे तो यह समस्त विश्व रिक्त हो जाएगा, क्योंकि सभी भगवान् के धाम वापस चले जाएँगे। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है कि ऐसा असम्भव है, क्योंकि जीवात्माएँ असंख्य हैं। यदि कृष्णभावनामृत आन्दोलन से जीवात्माओं का एक समूह मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, तो दूसरा

समूह सारे विश्व को भर देगा।

मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु
सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः ।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान्
सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मा—नहीं; अगार—घर; दार—पत्नी; आत्म-ज—सन्तान; वित्त—धन; बन्धुषु—मित्रों एवं सम्बंधियों के मध्य; सङ्गः—साथ, लगाव; यदि—यदि; स्यात्—होना चाहिए; भगवत्-प्रियेषु—श्रीभगवान् के अत्यन्त प्रिय व्यक्तियों में; नः—हम लोगों में से; यः—जो कोई; प्राण-वृत्त्या—जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से; परितुष्टः—सन्तुष्ट; आत्म-वान्—जिसने अपने मन को वश में कर लिया है और अपने आपको जान लिया (आत्मज्ञान) है; सिद्ध्यति—सफल होता है; अदूरात्—शीघ्र ही; न—नहीं; तथा—तथा; इन्द्रिय-प्रियः—इन्द्रियतुष्टि में लीन व्यक्ति।

हे भगवन्, हमारी प्रार्थना है कि हम पारिवारिक जीवन के बन्धन जिसमें घर, स्त्री, सन्तान, मित्र, धन तथा सम्बन्धीजन इत्यादि सम्मिलित हैं, इसके प्रति कभी भी आकृष्ट न हों। यदि हम में किसी से किंचित आसक्ति हो भी तो वह भक्तों से हो जिनके लिए श्रीकृष्ण ही परम प्रिय हैं। जिस व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार हो चुका है और जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, वह जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से तुष्ट रहता है। वह अपनी इन्द्रियतुष्टि का प्रयास नहीं करता। ऐसा व्यक्ति जल्दी ही कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होता है, किन्तु जो भौतिक वस्तुओं में अत्यधिक लिप्त रहते हैं, उनके लिए ऐसा कर पाना कठिन है।

तात्पर्य : जब श्री चैतन्य महाप्रभु से वैष्णव अथवा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के कर्तव्य की व्याख्या करने के लिए अनुरोध किया गया तो उन्होंने तुरन्त कहा—*असत्संग-त्याग,—एइ वैष्णव-आचार।* वैष्णव का प्रथम कर्तव्य है कि वह ऐसे व्यक्ति की संगति तुरन्त त्याग दे जो श्रीकृष्ण का भक्त नहीं है और स्त्री, सन्तान, धन आदि भौतिक वस्तुओं में अत्यधिक लिप्त रहता है। प्रह्लाद महाराज भी श्रीभगवान् से यही प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें उन अभक्तों से दूर रहें जो भौतिक जीवन बिताते हैं। यदि उन्हें किसी से अनुरक्त होना भी पड़े तो मात्र भक्त से।

भक्त की रुचि इन्द्रियों की तृप्ति के लिए अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने की ओर कभी भी नहीं होती। निस्सन्देह, जब तक कोई भी इस भौतिक जगत में रहता है, उसे भौतिक देह चाहिए और भक्ति करने के लिए इसका पोषण होना चाहिए। शरीर का पोषण श्रीकृष्ण-प्रसाद खाकर सरलता से किया

जा सकता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

"यदि मुझे कोई प्रेम एवं भक्ति से एक पत्री, पुष्प, फल या जल अर्पण करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।" जीभ की तुष्टि के लिए व्यंजनों की संख्या में अनावश्यक वृद्धि क्यों की जाये? भक्तों को चाहिए कि सादा से सादा भोजन करें। अन्यथा भौतिक वस्तुओं के प्रति लगाव बढ़ता जायेगा और इन्द्रियाँ प्रबल होने के कारण अधिकाधिक आनन्द चाहेंगी। इससे जीवन के असली कार्य अर्थात् कृष्णभावनामृत की उन्नति रुक जायेगी।

यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम् ।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिनके (भक्तों के); सङ्ग-लब्धम्—संग से उपलब्ध; निज-वीर्य-वैभवम्—जिसका प्रभाव असामान्य है; तीर्थम्—तीर्थस्थल, यथा गंगा नदी; मुहुः—बारम्बार; संस्पृशताम्—उन स्पर्शों का; हि—निश्चयपूर्वक; मानसम्—मन के मल; हरति—हर लेती है; अजः—अजन्मा; अन्तः—अन्तःकरण में; श्रुतिभिः—कानों से; गतः—प्रविष्ट; अङ्ग-जम्—शरीर के मल या संदूषण; कः—कौन; वै—निस्सन्देह; न—नहीं; सेवेत—सेवा करेगा; मुकुन्द-विक्रमम्—भगवान् मुकुन्द के यशस्वी कार्यों की।

ऐसे व्यक्तियों की संगति करने से, जिनके लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मुकुन्द ही सब कुछ हैं, भगवान् के यशस्वी कार्यों को सुनकर शीघ्र ही समझ सकता है। मुकुन्द के यशस्वी कार्य इतने सक्षम हैं कि इनको सुनकर ही भगवान् की संगति प्राप्त की जा सकती है। निरन्तर उत्सुकतापूर्वक भगवान् के यशस्वी कार्यों का वर्णन सुनते रहने से परम सत्य श्रीभगवान् ध्वनि तरंगों के रूप में हृदय में प्रवेश करते हैं और समस्त कल्मष को दूर कर देते हैं। दूसरी ओर यद्यपि गंगास्नान से मल तथा संदूषण घटते हैं, किन्तु स्नान तथा पवित्र स्थानों के दर्शन से दीर्घकाल के अनन्तर ही हृदय स्वच्छ हो पाता है। अतः कौन ऐसा विज्ञपुरुष होगा जो जीवन की सिद्धि के लिए भक्तों की संगति नहीं करना चाहेगा?

तात्पर्य : निस्सन्देह, गंगास्नान से कई संक्रामक रोग दूर हो जाते हैं, किन्तु इससे भौतिकता से

आसक्त मनुष्य का मन स्वच्छ नहीं हो सकता, जिसके कारण भौतिक जीवन में सभी प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। किन्तु जो कोई भगवान् के कार्यों का श्रवण करके उनसे प्रत्यक्ष संगति करता है, वह मन की मलिनता को धोकर शीघ्र ही कृष्णभावनामृत को प्राप्त करता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में सूत गोस्वामी ने इसकी पुष्टि की है—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

जब कोई भगवान् के कार्यों का वर्णन सुनता है, तो प्रत्येक के हृदय में वास करने वाले परमात्मा अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और वे स्वयं श्रोता के मनोमल को स्वच्छ कर देते हैं। *हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति*—वे मन के समस्त मल को धो डालते हैं। भौतिकता मन के भीतर दूषित वस्तुओं से उत्पन्न होती है, अपने मन को धो डालने पर मनुष्य कृष्णभावनामृत की अपनी मूल स्थिति में पहुँच जाता है और इस प्रकार उसका जीवन सफल हो जाता है। इसीलिए भक्तिमार्ग के सभी महान् सन्तजन श्रवण विधि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने "हरे कृष्ण" मंत्र के सामूहिक कीर्तन का शुभारम्भ किया जिससे प्रत्येक व्यक्ति श्रीकृष्ण के पवित्र नाम का श्रवण कर सके, क्योंकि, "हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे" के श्रवण मात्र से वह पवित्र हो जाता है (*चेतोदर्पणमार्जनम्*)। इसीलिए हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सारे संसार में मुख्यतया हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन कराने में लगा हुआ है।

जब "हरे कृष्ण" के कीर्तन से मन शुद्ध हो जाता है, तो मनुष्य क्रमशः कृष्णभावनामृत-स्थिति को प्राप्त होता है और वह *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता, श्रीचैतन्यचरितामृत* तथा *भक्तिरसामृतसिंधु* जैसे ग्रन्थों को पढ़ता है। इस प्रकार वह भौतिक दूषण से अधिकाधिक पवित्र होता जाता है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१८) में कहा गया है—

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।

भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥

"निरन्तर *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करने तथा निष्काम भक्त की सेवा से मन के सारे कष्ट दूर हो जाते हैं और यशस्वी भगवान् के प्रति सेवाभाव स्थायी रूप में स्थापित हो जाता है जिनकी प्रशंसा दिव्य

गीतों द्वारा की जाती है।'' इस प्रकार भगवान् के शक्तिशाली कार्यकलापों के श्रवण मात्र से भक्त का हृदय पूरी तरह शुद्ध हो जाता है और चिरन्तन दास के रूप में, जो भगवान् का भिन्नांश होता है, उसकी अपनी मूल स्थिति प्रकट हो जाती है। भक्त द्वारा भक्ति में संलग्न होने पर रजोगुण तथा तमोगुण क्रमश: पराभूत हो जाते हैं और वह सतोगुण में ही सारे कार्य करता है। उस समय वह प्रमुदित हो जाता है और शनै-शनै वह कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होता है।

सभी बड़े-बड़े आचार्यों का मत है कि मनुष्यों को श्रीभगवान् के सम्बन्ध में सुनने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। तब सफलता निश्चित है। जितना ही अधिक हम अपने हृदयों के भौतिक आसक्ति के मल को स्वच्छ करेंगे उतना ही अधिक श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, वैशिष्ट्य और कार्यों के प्रति आकृष्ट होंगे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही सार है।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; अस्ति—है; भक्तिः—भक्ति; भगवति—श्रीभगवान् के प्रति; अकिञ्चना—निष्काम; सर्वैः—समस्त; गुणैः—उत्तम गुणों के द्वारा; तत्र—वहाँ (उस व्यक्ति में); समासते—निवास करते हैं; सुराः—समस्त देवता; हरौ—भगवान् में; अभक्तस्य—अभक्त का; कुतः—कहाँ; महत्-गुणाः—उत्तम गुण; मनोरथेन—मानसिक चिन्तन द्वारा; असति—नश्वर भौतिक जगत में; धावतः—दौड़ता हुआ; बहिः—बाहर।

जो व्यक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव के प्रति शुद्ध भक्ति उत्पन्न कर लेता है उसके शरीर में सभी देवता तथा उनके महान् गुण यथा धर्म, ज्ञान तथा त्याग प्रकट होते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति भक्ति से रहित है और भौतिक कर्मों में व्यस्त रहता है उसमें कोई सद्गुण नहीं आते। भले ही कोई व्यक्ति योगाभ्यास में दक्ष क्यों न हो और अपने परिवार और सम्बन्धियों का भलीभाँति भरण-पोषण करता हो वह अपनी मनोकल्पना द्वारा भगवान् की बहिरंगा-शक्ति की सेवा में तत्पर होता है। भला ऐसे पुरुष में सद्गुण कैसे आ सकते हैं?

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में व्याख्या की गई है, श्रीकृष्ण समस्त जीवात्माओं के आदि स्रोत हैं। *भगवद्गीता* (१.७) में इसकी पुष्टि हुई है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

''इस बद्ध जगत में यह जीवात्माएँ मेरे ही शाश्वत भिन्नांश हैं। बद्ध दशा में होने के कारण वे मन और पाँच इन्द्रियों के साथ घोर संघर्ष कर रहे हैं।'' सभी जीवात्माएँ श्रीकृष्ण के भिन्नांश हैं, अत: जब वे मूल कृष्णभावना को पुन:प्राप्त कर लेती हैं, तो उनमें थोड़ी मात्रा में श्रीकृष्ण के महान् गुण आ जाते हैं। जब कोई नवधाभक्ति में रत होता है (*श्रवणं कर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनं। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्*) तो उसका हृदय पवित्र हो जाता है और वह श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को तुरन्त समझ जाता है। तब उसमें कृष्णभावनामृत के आदि गुण जागरित हो उठते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत के अध्याय आठ में आदि लीला के अन्तर्गत भक्तों के कतिपय गुणों का वर्णन आता है। उदाहरणार्थ, श्रीपण्डित हरिदास को अत्यन्त शिष्ट, सहनशील, शान्त, विशाल हृदय तथा गम्भीर बताया गया है। इसके अतिरिक्त वह मृदुभाषी, धैर्यवान्, विनयशील, परोपकारी, द्वैत भाव से मुक्त मन वाला तथा कपटरहित था। मूलत: ये श्रीकृष्ण के गुण हैं और जब कोई भक्त बन जाता है, तो ये गुण स्वत: उसमें प्रकट हो जाते हैं। *श्रीचैतन्यचरितामृत* के लेखक श्रीकृष्णदास कविराज का कथन है कि वैष्णव के शरीर में समस्त गुण प्रकट होते हैं और इन्हीं सद्गुणों के आधार पर वैष्णव तथा अवैष्णव में अन्तर किया जा सकता है। उन्होंने वैष्णवों के छब्बीस गुणों की सूची प्रस्तुत की है जो इस प्रकार है—(१) वह सबों पर दयालु होता है। (२) उसका कोई शत्रु नहीं होता। (३) वह सत्यनिष्ठ होता है। (४) वह सब पर समभाव रखता है। ( ) उस में किसी प्रकार का अवगुण नहीं पाया जाता। (६) वह उदार होता है। (७) वह मृदु होता है। (८) वह सदैव स्वच्छ रहता है। (९) उसके सम्पत्ति नहीं होती। (१०) वह सभी के कल्याण के लिए कार्य करता है। (११) वह शान्त होता है। (१२) वह श्रीकृष्ण का शरणागत होता है। (१३) उसे कोई भौतिक कामना नहीं सताती। (१४) वह विनम्र होता है। (१) वह स्थिर-चित्त होता है। (१६) वह अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखता है। (१७) वह आवश्यकता से अधिक नहीं खाता। (१८) वह ईश्वर की माया से प्रभावित नहीं होता। (१९) वह सबों का आदर करता है। (२०) वह अपने सम्मान का भूखा नहीं रहता। (२१) वह अत्यन्त गम्भीर होता है। (२२) वह कृपालु होता है। (२३) वह सखा होता है। (२४) वह कवित्वपूर्ण होता है। (२) वह पटु होता है। (२६) वह मितभाषी होता है।

हरिर्हि साक्षाद्भगवान्शरीरिणाम्
आत्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम् ।
हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे
तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

हरिः—भगवान्; हि—निश्चय ही; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप में; भगवान्—भगवान्; शरीरिणाम्—समस्त देहधारियों की; आत्मा—आत्मा; झषाणाम्—जलचरों के; इव—सदृश; तोयम्—जल; ईप्सितम्—कामना की जाती है; हित्वा—त्यागकर; महान्—महान् व्यक्ति; तम्—उसको; यदि—यदि; सज्जते—लिप्त हो जाता है; गृहे—गृहस्थ जीवन में; तदा—उस समय; महत्त्वम्—बड़प्पन; वयसा—आयु से; दम्-पतीनाम्—पति-पत्नी का।

जिस प्रकार जलचर प्राणी सदैव विशाल जलराशि में रहना चाहते हैं उसी प्रकार समस्त बद्धात्माएँ श्रीभगवान् के अपार अस्तित्त्व में रहने की कामना करती हैं। अतः यदि भौतिक गणना के आधार पर माना गया कोई श्रेष्ठ पुरुष किन्हीं कारणों से परमात्मा की शरण न ग्रहण कर गृहस्थ जीवन में लिप्त हो जाता है, तो उसकी श्रेष्ठता निम्न श्रेणी के तरुण दम्पत्ति जैसी होती है। भौतिक जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्ति से समस्त आध्यात्मिक गुणों का लोप हो जाता है।

तात्पर्य : यद्यपि मकर अत्यन्त भयावना पशु है, किन्तु जल के बाहर आने पर वह अशक्त हो जाता है। जल के बाहर आने पर वह अपनी मूल-शक्ति नहीं दिखा सकता। इसी प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा समस्त प्राणियों का स्रोत है और सभी प्राणी उसके विभिन्न अंश हैं। जब प्राणी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव के सम्पर्क में रहता है, तो वह अपनी आध्यात्मिक शक्ति को उसी प्रकार प्रकट करता रहता है, जिस प्रकार जल में मकर अपनी शक्ति प्रदर्शित करता है। तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा आध्यात्मिक जगत में रहता है और आध्यात्मिक कार्यों में संलग्न रहता है तभी उसकी महानता के दर्शन होते हैं। अनेक गृहस्थ वेदों में पारंगत होते हुए भी गृहस्थ जीवन में लिप्त रहते हैं। उनकी तुलना यहाँ जल के बाहर आये हुए मकर से की जाती है, क्योंकि वे समस्त आध्यात्मिक शक्ति से विहीन होते हैं। उनकी स्थिति उस तरुण पति-पत्नी युग्म से की जा सकती है जो अशिक्षित होते हुए भी पारस्परिक अस्थायी सुन्दरता के प्रति आकृष्ट होकर परस्पर प्रशंसा करते रहते हैं। इस प्रकार की महानता निम्न श्रेणी के व्यक्तियों द्वारा सरायी जाती है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह परमात्मा की शरण में जाये, जो समस्त जीवात्माओं का

मूल स्रोत है। किसी भी व्यक्ति को तथाकथित भौतिकतावादी गृहस्थ जीवन के सुख में वृथा समय नहीं गँवाना चाहिए। वैदिक सभ्यता में पचास वर्ष की आयु तक ही इस प्रकार का पंगु जीवन बिताने की अनुमति दी जाती है। फिर तो गृहस्थ जीवन त्याग कर वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम में प्रवेश करना होता है (जिसमें वह भगवान् का पूर्णाश्रय ग्रहण करता है)।

तस्माद्रजोरागविषादमन्यु
मानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं
नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत:; रज:—रजोगुण का; राग—भौतिक वस्तुओं के प्रति लगाव; विषाद—तब निराशा; मन्यु—क्रोध; मान-स्पृहा—समाज में सम्मानित बनने की कामना; भय—भय; दैन्य—दीनता का; अधिमूलम्—मूल कारण; हित्वा—परित्याग करके; गृहम्—गृहस्थ जीवन; संसृति-चक्रवालम्—जन्म-मरण का चक्र; नृसिंह-पादम्—भगवान् नृसिंह देव के चरणारविन्द; भजत—पूजा करते हुए; अकुत:-भयम्—निर्भीकता की शरण; इति—इस प्रकार।.

अत:, हे असुरगण, गृहस्थ जीवन के तथाकथित सुख का परित्याग करके भगवान् नृसिंह देव के चरणारविन्दों की शरण ग्रहण करो। वे ही निर्भीकता की वास्तविक शरण-स्थली हैं। सांसारिक अनुरक्ति, दुर्दमनीय कामनाएँ, विषाद, क्रोध, निराशा, भय, झूठी प्रतिष्ठा की भूख इन सबका मूल कारण गृहस्थ जीवन में आसक्ति है, जिसके कारण जीवन-मरण का चक्र चलता रहता है।

केतुमालेऽपि भगवान्कामदेवस्वरूपेण लक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया प्रजापतेर्दुहितृणां पुत्राणां तद्वर्षपतीनां पुरुषायुषाहोरात्रपरिसङ्ख्यानानां यासां गर्भा महापुरुषमहास्त्रतेजसोद्वेजितमनसां विध्वस्ता व्यसवः संवत्सरान्ते विनिपतन्ति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

केतुमाले—केतुमालवर्ष में; अपि—भी; भगवान्—श्रीभगवान्, विष्णु; कामदेव-स्वरूपेण—कामदेव के रूप में (प्रद्युम्न); लक्ष्म्या:—लक्ष्मी देवी की; प्रिय-चिकीर्षया—तुष्ट करने की कामना; प्रजापते:—प्रजापति की; दुहितृणाम्—पुत्रियों के; पुत्राणाम्—पुत्रों का; तत्-वर्ष-पतीनाम्—उस भूभाग (वर्ष) के राजा; पुरुष-आयुषा—मनुष्य के जीवनकाल में (लगभग १०० वर्ष); अह:-रात्र—दिन तथा रातें; परिसङ्ख्यानानाम्—समान संख्या वाले; यासाम्—जिनका (पुत्रियों के); गर्भा:—गर्भ; महा-पुरुष—श्रीभगवान् का; महा-अस्त्र—महास्त्र (चक्र); तेजसा—तेज या प्रभा के द्वारा; उद्वेजित-मनसाम्—उत्तेजित चित्त से; विध्वस्ता:—विध्वंस; व्यसव:—मृत; संवत्सर-अन्ते—वर्ष के अन्त में; विनिपतन्ति—गिर जाते हैं।.

शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—केतुमालवर्ष नामक भूभाग में भगवान् विष्णु अपने भक्तों के संतोष के लिए ही कामदेव के रूप में रहते हैं। इन भक्तों में लक्ष्मीजी, प्रजापति संवत्सर तथा

संवत्सर के समस्त पुत्र तथा पुत्रियाँ सम्मिलित हैं। प्रजापति की पुत्रियाँ रात के तथा उनके पुत्र दिन के नियामक देवता माने जाते हैं। प्रजापति की सन्तानों की संख्या ३६,००० है जो मनुष्य के जीवन काल के प्रत्येक दिन तथा रात की संख्या के तुल्य है। प्रत्येक वर्ष के अन्त में प्रजापति की पुत्रियाँ श्रीभगवान् के चक्र को देखकर अत्यन्त उद्वेलित हो उठती हैं जिससे उन सबों का गर्भपात हो जाता है।

तात्पर्य : कामदेव श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में प्रकट होते हैं और वे ही विष्णुतत्त्व हैं। ऐसा क्यों है, इसकी व्याख्या मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से उद्धरण देकर की है—*कामदेवस्थितं विष्णुं उपास्ते।* यद्यपि यह कामदेव विष्णुतत्त्व है, किन्तु उसका शरीर आध्यात्मिक न होकर भौतिक है। भगवान् विष्णु प्रद्युम्न या कामदेव के रूप में इस भौतिक शरीर को धारण करते हैं, किन्तु फिर भी वे आध्यात्मिक रूप में आचरण करते हैं। चाहे वे भौतिक रूप धारण करें या आध्यात्मिक, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे किसी भी दशा में रहकर आध्यात्मिक रूप में आचरण कर सकने वाले हैं। मायावादी दार्शनिक भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर को भी भौतिक मानते हैं, किन्तु उनके मत से भगवान् की आध्यात्मिक क्रियाशीलता में कोई बाधा नहीं पहुँचती।

अतीव सुललितगतिविलासविलसितरुचिरहासलेशावलोकलीलया
किञ्चिदुत्तम्भितसुन्दरभ्रूमण्डलसुभगवदनारविन्दश्रिया रमां रमयन्निन्द्रियाणि रमयते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अतीव—अत्यन्त; सु-ललित—सुन्दर; गति—चाल से; विलास—लीलाओं से; विलसित—प्रकट रूप; रुचिर—मनोहर; हास-लेश—मन्द मुसकान; अवलोक-लीलया—लीलापूर्ण चितवन से; किञ्चित्-उत्तम्भित—कुछ-कुछ ऊपर उठा; सुन्दर—सुन्दर; भ्रू-मण्डल—भौंहों से; सुभग—शुभ; वदन-अरविन्द-श्रिया—अपने कमल तुल्य मुख से; रमाम्—रमा अथवा लक्ष्मी देवी को; रमयन्—आनन्दित करते हुए; इन्द्रियाणि—समस्त इन्द्रियों को; रमयते—आनन्दित करते हैं।.

केतुमालवर्ष में भगवान् कामदेव (प्रद्युम्न) अत्यन्त लालित्य पूर्ण चाल से चलते हैं। उनकी मन्द मुसकान मनोहर है और जब वे अपनी भृकुटियों को किंचित ऊपर उठा कर लीलापूर्वक देखते हैं, तो उनके मुख की सुन्दरता बढ़ जाती हैं और वे लक्ष्मीजी को आनन्दित करते हैं। इस प्रकार वे अपनी दिव्य इन्द्रियों का आनन्द लेते हैं।

तद्भगवतो मायामयं रूपं परमसमाधियोगेन रमा देवी संवत्सरस्य रात्रिषु प्रजापतेर्दुहितृभिरुपेताहःसु च तद्भर्तृभिरुपास्ते इदं चोदाहरति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

तत्—वह; भगवतः—श्रीभगवान् का; माया-मयम्—भक्तों के लिए स्नेह से पूरित; रूपम्—रूप; परम—सर्वोच्च; समाधि-योगेन—प्रभु की सेवा में मन तल्लीन होने से; रमा—लक्ष्मी; देवी—दिव्य नारी; संवत्सरस्य—संवत्सर नामक; रात्रिषु—रात्रि में; प्रजापतेः—प्रजापति की; दुहितृभिः—पुत्रियों के साथ; उपेत—मिलकर; अहःसु—दिन में; च—भी; तत्-भर्तृभिः—पतियों के साथ; उपास्ते—पूजा करती हैं; इदम्—यह; च—भी; उदाहरति—जप करती हैं।.

लक्ष्मीजी संवत्सर की अवधि में दिन के समय प्रजापति के पुत्रों के साथ और रात्रि में उनकी पुत्रियों के साथ मिलकर परम दयालु कामदेव रूप में भगवान् की पूजा करती हैं। भक्ति में तल्लीन रहकर लक्ष्मीजी निम्नलिखित मंत्रों का जप करती हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त *मायामयम्* शब्द का अर्थ मायावादियों की विवेचना के अनुसार नहीं ग्रहण करना चाहिए। माया का अर्थ प्रेम तथा मोह (भ्रम) दोनों है। जब माता अपने बालक को प्यार करती है, तो वह मायामय कहलाती है। भगवान् विष्णु चाहे जिस रूप में प्रकट हों, वे अपने भक्तों पर सदैव स्नेहिल रहते हैं, अत: यहाँ *मायामयम्* शब्द का व्यवहार, ''भक्तों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल'' अर्थ में हुआ है। श्रील जीव गोस्वामी लिखते हैं कि इस सम्बन्ध में मायामयम् का एक अर्थ *कृपा-प्रचुरम्* (अत्यधिक दयालु) भी हो सकता है। इसी प्रकार श्रील वीर राघव कहते हैं—*माया प्रचुरनात्मीयसंकल्पेन परिगृहीतम् इत्यर्थः ज्ञानपर्यायोऽत्र मायाशब्दः*—जब अन्तरंग सम्बन्धों के कारण कोई अत्यन्त स्नेहिल होता है, तो उसे मायामय कहा जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *मायामयम्* को *माया* तथा *आमयम्* शब्दों में विभक्त करके व्याख्या की है। वे इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—चूंकि जीवात्मा मोह रोग से घिरा है, अत: भगवान् अपने भक्त को माया के चंगुल से छुड़ाने और माया के कारण उत्पन्न रोग से छुड़ाने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं।

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ॐ नमो भगवते हृषीकेशाय सर्वगुणविशेषैर्विलक्षितात्मने आकूतीनां चित्तीनां चेतसां विशेषाणां चाधिपतये षोडशकलाय च्छन्दोमयायान्नमयायामृतमयाय सर्वमयाय सहसे ओजसे बलाय कान्ताय कामाय नमस्ते उभयत्र भूयात्. ॥ १८॥

शब्दार्थ

ओम्—हे ईश्वर; ह्राम् ह्रीम् ह्रूम्—सिद्धि के लिए जप करने जाने वाला बीज मंत्र; ओम्—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् के चरणकमलों में; हृषीकेशाय—इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश को; सर्व-गुण—समस्त दिव्य गुणों सहित; विशेषैः—समस्त प्रकारों सहित; विलक्षित—विशेष रूप से दृष्टव्य; आत्मने—समस्त जीवात्माओं में; आकूतीनाम्—समस्त प्रकार के कार्यों का; चित्तीनाम्—समस्त प्रकार के ज्ञानों का; चेतसाम्—मन के कार्यों, यथा संकल्प तथा मानसिक प्रयत्नों

का; विशेषाणाम्—अपने-अपने लक्ष्यों का; च—तथा; अधिपतये—अधिपति तक; षोडश-कलाय—उत्पत्ति की सोलह कलाएँ जिनके अंगस्वरूप (यथा पाँच इन्दियों के विषय तथा मन सहित ग्यारह इन्दियाँ); छन्दः-मयाय—समस्त अनुष्ठानों को; अन्न-मयाय—जो समस्त जीवात्माओं का भरण करता है; अमृत-मयाय—जो अमर रहता है; सर्व-मयाय—जो सर्वव्यापी है; सहसे—शक्तिमान; ओजसे—इन्द्रियों को बल प्रदान करने वाला; बलाय—शरीर को शक्ति प्रदान करने वाला; कान्ताय—समस्त जीवात्माओं के परम भर्ता या स्वामी; कामाय—भक्तों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले को; नमः—विनीत नमस्कार; ते—आपको; उभयत्र—सदैव (दिन तथा रात्रि अथवा इस तथा अगले जीवन में); भूयात्—शुभ हो।

मेरी समस्त इन्द्रियों के नियन्ता तथा समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति के स्तोत्र भगवान् हृषीकेश को मेरा नमस्कार है। वे समस्त दैहिक, मानसिक तथा बौद्धिक कर्मों के अधीश्वर और उनके फलों के एकमात्र भोक्ता हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषय तथा मन समेत ग्यारह इन्द्रियाँ उनकी आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं। वे समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं, जो उनकी शक्तिस्वरूपा होने के कारण उनसे अभिन्न हैं; वे प्रत्येक व्यक्ति की दैहिक और मानसिक शक्ति के कारण रूप हैं, जो उनसे अभिन्न हैं। दरअसल, वे समस्त जीवात्माओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले तथा उनके भर्ता हैं। समस्त वेदों का ध्येय उनकी उपासना है। अतः हम सभी उन्हें सविनय नमस्कार करते हैं। वे इस जन्म में तथा अगले जन्म में सदा हमारे अनुकूल रहें।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मायामय* शब्द की और अधिक भी व्याख्या की गई है कि किस प्रकार भगवान् विभिन्न दिशाओं में अपनी दया का प्रसार करते हैं। *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—श्रीभगवान् की शक्तियाँ कई प्रकार से समझी जाती हैं। इस श्लोक में उन्हें प्रत्येक वस्तु का—यहाँ तक कि हमारे देह, मन, इन्द्रियों, कर्म, बल, शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संकल्प का भी—मूल स्रोत कहा गया है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक वस्तु में श्रीभगवान् की शक्ति के दर्शन किये जा सकते हैं। *भगवद्गीता* (७.८) में कहा गया है—*रसोऽहमप्सु कौन्तेय*—जल का स्वाद भी कृष्णमय है। हमारे भरण के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनमें क्रियाशील तत्त्व श्रीकृष्ण ही हैं।

इस श्लोक की रचना परमेश्वर की सादर स्तुति ऐश्वर्य की देवी रमा ने की है। यह चेतना शक्ति से ओत-प्रोत है। गुरुदेव के देखरेख में सबों को इस मंत्र का जाप करना चाहिए। इस तरह ईश्वर का पूर्ण भक्त बना जा सकता है। भौतिक बन्धन से पूर्ण छुटकारा पाने के लिए इस मंत्र का जप करना चाहिए और मुक्ति मिलने के पश्चात् भी वैकुण्ठलोक में श्रीभगवान् की पूजा करते हुए इसे जपते रहना चाहिए। निस्सन्देह, सभी मंत्र इस जन्म तथा अगले जन्म के लिए हैं, जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.१४)

में स्वंय पुष्टि की है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

"ये महात्माजन नित्य-निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ निश्चयपूर्वक चेष्टा करते हुए मुझे नमस्कार करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी उपासना करते हैं।" जो भक्त इस जीवन में तथा अगले जीवन में महामंत्र या किसी अन्य मंत्र का जप करता है, वह *नित्ययुक्तोपासक* कहलाता है।

स्त्रियो व्रतैस्त्वा हृषीकेश्वरं स्वतो
ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम् ।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं
प्रियं धनायूंषि यतोऽस्वतन्त्राः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्त्रियः—सभी स्त्रियाँ; व्रतैः—व्रत उपवास रखकर; त्वा—आप; हृषीकेश्वरम्—इन्द्रियों के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को; स्वतः—स्वयमेव; हि—निश्चयपूर्वक; आराध्य—आराधना करके; लोके—इस जगत में; पतिम्—पति, स्वामी; आशासते—याचना करते हैं; अन्यम्—दूसरा; तासाम्—उन सभी स्त्रियों का; न—नहीं; ते—वे पति; वै—निस्सन्देह; परिपान्ति—रक्षा करने में समर्थ; अपत्यम्—सन्तानें; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; धन—सम्पत्ति; आयूंषि—अथवा जीवनकाल; यतः—क्योंकि; अस्व-तन्त्राः—आश्रित।

हे प्रभो, आप निश्चित रूप से समस्त इन्द्रियों के पूर्ण रूप से स्वतंत्र स्वामी हैं। अतः समस्त स्त्रियाँ जो अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए पति को पाने की कामना से संकल्पों का दृढ़पालन करके आपकी उपासना करती हैं, वे अवश्य ही मोहग्रस्त हैं। वे यह नहीं जानती कि ऐसा पति न तो उनकी और न ही उनकी सन्तानों की रक्षा कर सकता है। वह स्वयं ही काल, कर्मफल तथा प्रकृति-गुणों के अधीन है जो सब आपके अधीनस्थ हैं, अतः वह न तो सम्पत्ति की रक्षा कर सकता है और न अपने सन्तानों की।

तात्पर्य : प्रस्तुत श्लोक में देवी लक्ष्मी उन स्त्रियों के प्रति दयाभाव प्रदर्शित कर रही हैं, जो सुयोग्य वर पाने के उद्देश्य से भगवान् की आराधना करती हैं। यद्यपि ऐसी स्त्रियाँ सन्तान, धन, दीर्घायु तथा अपनी प्रिय वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना करके सुखी बनना चाहती हैं, किन्तु वे वैसा नहीं कर पातीं। भौतिक जगत में तथाकथित पति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर आश्रित होता है। ऐसी स्त्रियों के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जिनके पति अपने कर्मफलों के आधार पर अपनी पत्नी, सन्तान, पत्नी के धन

तथा उसके जीवन का पालन नहीं कर पाते। अत: वास्तव में समस्त स्त्रियों के परम पति श्रीकृष्ण हैं। गोपियाँ मुक्त जीव होने के कारण इस तथ्य से परिचित थीं। इसीलिए उन्होंने अपने सांसारिक पतियों को त्याग कर श्रीकृष्ण को अपने वास्तविक पति के रूप में स्वीकार किया। श्रीकृष्ण न केवल गोपियों के, वरन् प्रत्येक जीवात्मा के वास्तविक स्वामी हैं। अत: सबों को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण सभी जीवात्माओं के वास्तविक पति हैं। इसलिए *भगवद्गीता* में उन्हें प्रकृति (स्त्री) कहा गया है, पुरुष (नर) नहीं। *भगवद्गीता* (१०.१२) में केवल श्रीकृष्ण को ही पुरुष कहकर सम्बोधित किया गया है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

''अर्जुन ने कहा, हे प्रभो! आप परम ब्रह्म, परम धाम तथा पालनकर्ता परम-तत्त्व तथा सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी सौन्दर्य हैं।''

श्रीकृष्ण आदिपुरुष हैं और जीवात्माएँ प्रकृति स्वरूपा हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण भोक्ता हैं और सभी जीवात्माएँ उनके भोगार्थ हैं। अत: यदि कोई स्त्री अपनी रक्षा के लिए संसारी पति की चाह करती है या कोई पुरुष पति बनने के लिए पत्नी की कामना करता है, तो वह मोहग्रस्त है। पति बनने का अर्थ होता है धन तथा सुरक्षा द्वारा पत्नी और सन्तान का अच्छा पोषण। किन्तु सांसारिक पति ऐसा करने में समर्थ नहीं हो पाता, क्योंकि वह कर्माधीन होता है। *कर्मणा दैव-नेत्रेण*—उसकी परिस्थितियाँ उसके विगत कर्मों से निर्धारित होती हैं। अत: कोई यह गर्व करे कि वह अपनी पत्नी की रक्षा कर सकता है, तो वह मोहग्रस्त ही है। श्रीकृष्ण ही एकमात्र पति हैं, अत: इस भौतिक जगत में पति-पत्नी का सम्बन्ध कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। चूँकि हममें विवाह करने की आकांक्षा रहती है, इसलिए श्रीकृष्ण दयापूर्वक तथाकथित पति को पत्नी बनाने के लिए अनुमति देते हैं। और पारस्परिक सन्तोष के लिए स्त्री को पति बनाने की अनुमति देते हैं। *ईशोपनिषद्* में कहा गया है—*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा*—ईश्वर सबों को उसका प्राप्य प्रदान करते हैं। तो भी वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा प्रकृति है और श्रीकृष्ण ही एकमात्र (भर्ता) पति हैं।

एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।

यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य॥

(*चैतन्यचरितामृत आदि* .१४२)

श्रीकृष्ण प्रत्येक प्राणी के आद्यपति हैं और अन्य समस्त जीवात्माएँ पति या पत्नी के रूप में उन्हीं की इच्छा से नाच रही हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए तथाकथित पति अपनी पत्नी से भले ही संभोग करे, किन्तु उसकी इन्द्रियों का संचालन हृषीकेश द्वारा होता है जो वास्तविक पति हैं।

स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं
समन्ततः पाति भयातुरं जनम् ।
स एक एवेतरथा मिथो भयं
नैवात्मलाभादधि मन्यते परम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निस्संदेह; पतिः—पति; स्यात्—हो; अकुतः-भयः—जो किसी से भयभीत नहीं है, निर्भय; स्वयम्—आत्मनिर्भर; समन्ततः—पूर्णतया; पाति—भरण करता है; भय-आतुरम्—अत्यन्त भयभीत; जनम्—व्यक्ति को; सः—अतः वह; एकः—एक; एव—केवल; इतरथा—अन्यथा; मिथः—एक दूसरे से; भयम्—भय, डर; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आत्म-लाभात्—आपकी प्राप्ति की अपेक्षा; अधि—महत्तर; मन्यते—मानी जाती है; परम्—अन्य वस्तु।

जो स्वयं निर्भय है तथा जो सभी भयभीत व्यक्तियों को शरण प्रदान करता है, केवल वही वास्तव में पति तथा रक्षक हो सकता है। अतः, हे प्रभो, आप ही एकमात्र पति हैं, कोई अन्य इस पद का भागी नहीं हो सकता। यदि आप एकमात्र पति न होते तो आप भी अन्यों से डरते। अतः वेदों के पारंगत व्यक्ति आपको ही प्रत्येक का स्वामी स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि आपसे बढ़कर कोई अन्य पति एवं रक्षक नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर पति या संरक्षक की स्पष्ट व्याख्या की गई है। मनुष्य इस श्रेष्ठ पद का अर्थ समझे बिना पति, संरक्षक, शासक अथवा राजनीतिक नेता बनना चाहते हैं। इस ब्रह्माण्ड में न जाने कितने ऐसे व्यक्ति हैं, जो कुछ समय के लिए अपने को पति, संरक्षक, शासक अथवा राजनीतिक नेता मानने का दावा करते हैं, किन्तु कालान्तर में परमेश्वर उन्हें इन पदों से हटा देना चाहता है और तुरन्त ही उनके इन जीवन पदों का अन्त हो जाता है। अतः जो वास्तव में विद्वान हैं और दिव्य जीवन में अग्रणी हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी नेता, पति या भर्ता को स्वीकार नहीं करते।

भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा है—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि*—"मैं सम्पूर्ण पापों से तेरा उद्धार कर दूँगा।" श्रीकृष्ण किसी से भी भयभीत नहीं होते,

अपितु प्रत्येक प्राणी उन्हीं से भयभीत है। अत: वे ही अपने अधीन जीवात्माओं को सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। चूँकि नामधारी नेता या तानाशाह भौतिक प्रकृति के पूर्णत: वशीभूत हैं, अत: वे किसी को पूर्ण सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकते हैं, भले ही वे झूठी प्रतिष्ठा के कारण ऐसा दम भरते रहें। *न ते विदु: स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—लोग यह नहीं जानते कि जीवन का परम उत्कर्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को अपना स्वामी मान लेने में है। समस्त राजनीतिक नेताओं, पतियों तथा संरक्षकों को चाहिए कि वे अपने आपको तथा अन्यों को सर्वशक्तिमान बताकर धोखा न देकर कृष्णाभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करें जिससे प्रत्येक व्यक्ति यह सीख सके कि परम पति श्रीकृष्ण के समक्ष किस प्रकार आत्मसमर्पण किया जाये।

या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं
निकामयेत्साखिलकामलम्पटा ।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो
यद्भग्नयाच्ञा भगवन्प्रतप्यते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

या—जो स्त्री; तस्य—उसका; ते—आपका; पाद-सरोरुह—चरणकमलों का; अर्हणम्—पूजा; निकामयेत्—पूर्णतया कामना करती है; सा—ऐसी स्त्री; अखिल-काम-लम्पटा—समस्त प्रकार की लौकिक कामनाएँ करते हुए भी; तत्—वह; एव—केवल; रासि—आप प्रदान करते हैं; ईप्सितम्—कुछ अन्य वाञ्छा; ईप्सित:—वाञ्छित; अर्चित:—पूजित; यत्—जिससे; भग्न-याच्ञा—जो आपके चरणकमलों को छोड़कर अन्य वस्तुओं की कामना करती है और इस प्रकार भग्नचित्त हो जाती है; भगवन्—हे ईश्वर; प्रतप्यते—पीड़ा को प्राप्त होती है।

हे भगवन्, जो स्त्री आपके चरणकमल की आराधना विशुद्ध प्रेमवश करती है, आप उसकी समस्त कामनाओं को स्वत: ही पूरा करते हैं। यदि कोई स्त्री आपके चरणकमलों की पूजा किसी विशेष प्रयोजन के लिए करती है, तो भी आप उसकी कामनाओं को शीघ्र पूरा करते हैं, किन्तु अन्तत: वह टूटे हुए मन से पश्चात्ताप करती है। अत: किसी भौतिक लाभ के लिए आपके चरणकमलों की आराधना नहीं की जानी चाहिए।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने विशुद्ध भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतम्*—मनुष्यों को चाहिए कि वे भगवान् की आराधना किसी भौतिक कामना की पूर्ति के लिए न करें। भगवान् के चरणारविन्दों की सेवा करने का अर्थ है उन्हीं की इच्छानुकूल सेवा करना। अत: नव–दीक्षित भक्त को यह आदेश दिया जाता है कि गुरु तथा शास्त्रों के द्वारा बताये गये विधि–

नियमों के अनुसार ही भगवान् की पूजा करे। इस प्रकार से भक्ति करते हुए वह क्रमशः श्रीकृष्ण में आसक्त होता है और जब उसका भगवान् के लिए मौलिक सुप्त प्रेम जाग्रत हो जाता है, तो बिना किसी उद्देश्य के वह भगवान् की सेवा करने लगता है। ऐसी अवस्था भगवान् के साथ उसके सम्बन्ध की परमावस्था है। तब ईश्वर अयाचित ही अपने भक्त की सुख-सुविधा तथा संरक्षण का ध्यान रखते हैं। *भगवद्गीता* (९.२२) में श्रीकृष्ण यह वचन देते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

परमेश्वर अपनी भक्ति में पूर्णतः संलग्न रहने वालों का स्वतः ध्यान रखते हैं। भक्त के पास जो कुछ है, वे उसकी सभी प्रकार से रक्षा करते हैं और उसे जो कुछ चाहिए उसकी पूर्ति करते हैं। तो भला किसी भौतिक वस्तु के लिए भगवान् को क्यों परेशान किया? ऐसी प्रार्थनाएँ वृथा हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बताते हैं कि यदि कोई भक्त भगवान् से अपनी किसी इच्छा-पूर्ति की कामना करे, तो भी उसे सकाम-भक्त नहीं मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (७.१६) में श्रीकृष्ण ने कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतवर्षभ॥

"हे भरतश्रेष्ठ! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।" जो आर्त तथा अर्थार्थी भगवान् के निकट दुख से छुटकारा पाने या कुछ धन प्राप्त करने के उद्देश्य से जाते हैं, वे सकाम-भक्त नहीं हैं। चाहे वे ऐसा प्रतीत होते हो। वे नौसिखिया भक्त होने के कारण अज्ञानी होते हैं। अन्यत्र श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं—*उदाराः सर्व एवैते*—वे सभी उदार हैं। प्रारम्भ में भले ही किसी भक्त के मन में कोई कामना रहे, किन्तु कालान्तर में उसका लोप हो जाता है। अतः *श्रीमद्भागवत* का (२.३.१०) आदेश है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

"व्यापक बुद्धिवाला पुरुष चाहे वह सकाम हो या निष्काम अथवा मोक्ष चाहने वाला हो उसे सभी

प्रकार से श्रीभगवान् की आराधना करनी चाहिए।''

यदि किसी व्यक्ति को किसी प्रकार की भौतिक कामना हो तो उसे श्रीभगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी से प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वही उसको पूर्ण करते हैं। यदि वह अपनी कामनापूर्ति के लिए किसी देवता के पास जाता है, तो उसे नष्ट-बुद्धि मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (७.२०) में श्रीकृष्ण का कथन है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

''कामनाओं ने जिनके ज्ञान को हर लिया है, वे ही अन्य देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुरूप उपासना के विधि-विधानों का पालन करते हैं।''

लक्ष्मी देवी उन समस्त भक्तों को जो भगवान् के पास कोई भौतिक कामना लेकर जाते हैं अपने अनुभव के आधार पर यही उपदेश देती हैं कि श्रीभगवान् कामदेव हैं, अतः उनसे किसी भौतिक वस्तु की याचना न की जाये। वे कहती हैं कि प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि बिना किसी कामना के भगवान् की सेवा करे। चूँकि श्रीभगवान् का प्रत्येक प्राणी के हृदय में वास है, अतः वे उन सबकी इच्छाओं को जानते हैं और समय आने पर वे उनकी समस्त आकांक्षाओं को पूरा भी करते हैं। अतः किसी प्रकार के वरदान प्राप्त करने की परवाह किये बिना हमें भगवान् की सेवा पर पूर्णरूपेण अवलंबित रहना चाहिए।

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादय-
स्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रिये धियः ।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां
विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित ॥ २२॥

शब्दार्थ

मत्-प्राप्तये—मेरी दया प्राप्त करने के लिए; अज—ब्रह्माजी; ईश—शिवजी; सुर—अन्य देवता जिनके स्वामी इन्द्र, चन्द्र तथा वरुण हैं; असुर-आदयः—असुर भी; तप्यन्ते—तप करते हैं; उग्रम्—कठिन; तपः—तपस्या; ऐन्द्रिये धियः—जिनके मस्तिष्क महत् इन्द्रियतृप्ति में लीन रहते हैं; ऋते—जब तक; भवत्-पाद-परायणात्—जो श्रीभगवान् के चरणारविन्द की सेवा में एकान्त भाव से तल्लीन रहते हैं; न—नहीं; माम्—मुझको; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; अहम्—मैं; त्वत्—आप में; हृदयाः—जिनके हृदय; यतः—अतः; अजित—हे दुर्जेय।

हे अजेय परमेश्वर, मेरा आशीर्वाद पाने के लिए इन्द्रियसुख के अभिलाषी ब्रह्माजी तथा शिवजी आदि समस्त सुर-असुरगण घोर तपस्या करते हैं, किन्तु आपके चरणारविन्द की सेवा में

संलग्न भक्त के अतिरिक्त अन्य पर मैं अनुग्रह नहीं करती, चाहे वह कितना भी महान् क्यों न हो। चूँकि मैं निरन्तर आपको अपने हृदय में बसाये रहती हूँ इसलिए मैं भक्त के अतिरिक्त अन्य किसी पर अनुग्रह नहीं करती।

तात्पर्य : इस श्लोक में सौभाग्य की देवी लक्ष्मीजी स्पष्ट बताती हैं कि वे किसी संसारी व्यक्ति पर अनुग्रह नहीं करतीं। भले ही कोई संसारी व्यक्ति दूसरे संसारी व्यक्ति की दृष्टि में कितना ही ऐश्वर्यवान् क्यों न बन जाये, ऐसे ऐश्वर्य की दात्री स्वयं लक्ष्मी देवी न होकर सौभाग्य की देवी अंशरूपा भगवती दुर्गा देवी होती हैं। जिन्हें धन-धान्य की कामना होती है वे दुर्गादेवी की आराधना इस मंत्र से करते हैं—*धनं देहि रूपं देहि रूपपतिभाजं देहि*—"हे माता दुर्गे! मुझे धन, बल, यश, पत्नी इत्यादि दें।" देवी दुर्गा को प्रसन्न करके ऐसे वर प्राप्त किये जा सकते हैं, किन्तु वे क्षणिक होने के कारण माया-सुख ही प्रदान करने वाले होते हैं। जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है—*मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्*—जो भौतिक लाभों के लिए अत्यन्त श्रम करते हैं, वे विमूढ़ हैं, क्योंकि ऐसा सुख स्थायी नहीं होता। दूसरी ओर प्रह्लाद तथा ध्रुव महाराज जैसे भक्त हैं, जिन्होंने अद्वितीय ऐश्वर्य प्राप्त किया। किन्तु वह माया-सुख नहीं था। जब किसी भक्त को अद्वितीय ऐश्वर्य प्राप्त होता है, तो यह नारायण के हृदय में वास करने वाली ऐश्वर्य की देवी का प्रत्यक्ष दान होता है।

देवी दुर्गा की स्तुति करके प्राप्त किया हुआ ऐश्वर्य क्षणिक होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२३) में कहा गया है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—अल्पबुद्धि प्राणी ही क्षणिक सुख की कामना करते हैं। हमें ज्ञात है कि भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के एक शिष्य ने अपने गुरु की सम्पत्ति का भोग करना चाहा तो दयालु गुरु ने सहर्ष उसे ऐसा करने की अनुमति तो दे दी, किन्तु विश्व भर में श्री चैतन्य महाप्रभु सम्प्रदाय के उपदेश देने की अपनी शक्ति नहीं दी। उपदेश देने की यह विशिष्ट शक्ति केवल उस भक्त को दी जाती है जो अपने गुरु से किसी संसारी वस्तु की कामना नहीं करता वरन् गुरु की सेवा ही करना चाहता है। दृष्टान्त के रूप में असुर रावण की कथा सटीक होगी। यद्यपि रावण ने ऐश्वर्य की देवी सीता देवी को भगवान् रामचन्द्र के अधिकार से हरण कर लेना चाहा, किन्तु वह ऐसा नहीं कर पाया। उसने जिस सीता देवी को बलपूर्वक हरण किया वह वास्तविक सीता देवी न होकर माया रूप अथवा दुर्गा देवी थी। फलस्वरूप ऐश्वर्य की देवी की कृपा प्राप्त करने के बजाय दुर्गा देवी

की शक्ति से रावण सपरिवार विनष्ट हो गया (*सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका*)।

स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं
कराम्बुजं यत्त्वदधायि सात्वताम् ।
बिभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य मायया
क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुरिति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वम्—आप; मम—मेरे; अपि—भी; अच्युत—च्युत न होने वाले; शीर्ष्णि—शिर पर; वन्दितम्—पूजित; कर-अम्बुजम्—आपके कर-कमल; यत्—जो; त्वत्—आपके द्वारा; अधायि—रखे गये; सात्वताम्—भक्तों के ऊपर; बिभर्षि—आप पालन करते हैं; माम्—मुझको; लक्ष्म—आपके वक्षस्थल पर चिह्न; वरेण्य—हे पूज्य; मायया—माया से, भ्रम से; कः—कौन; ईश्वरस्य—ईश्वर का; ईहितम्—इच्छाएं; ऊहितुम्—तर्क द्वारा समझना; विभुः—समर्थ है; इति—इस प्रकार।

हे अच्युत, आपका कर-कमल सभी वरदानों का स्रोत है। अतः आपके शुद्ध भक्त उसकी पूजा करते हैं और आप अत्यन्त दयापूर्वक उनके शिरों पर अपना हाथ रखते हैं। मेरी भी यही कामना है कि आप मेरे मस्तक पर अपना हाथ रखें, यद्यपि आप पहले से ही अपने वक्षस्थल पर श्रीलक्ष्म रूप में मुझे धारण करते हैं, किन्तु इस सम्मान को मैं मिथ्या प्रतिष्ठा की तरह मानती हूँ। आप अपनी वास्तविक दया भक्तों पर ही दिखाते हैं, मुझ पर नहीं। निस्सन्देह, आप सर्वसमर्थ नियंता हैं, आपके प्रयोजन को भला कौन समझ सकता है?

तात्पर्य : शास्त्रों में कई स्थलों पर श्रीभगवान् को वक्षस्थल में सतत वास करने वाली अपनी पत्नी की अपेक्षा भक्तों के प्रति अधिक दयालु दिखाया गया है। *श्रीमद्भागवत* (११.१४.१) में कहा गया है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।

न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥

यहाँ श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि उन्हें ब्रह्मा, शिव, संकर्षण, लक्ष्मी, यहाँ तक कि स्वयं की अपेक्षा उनके भक्त अधिक प्रिय हैं। *श्रीमद्भागवत* (१०.९.२०) में अन्यत्र शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।

प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥

सबों के मोक्षदाता परमेश्वर ब्रह्माजी, शिवजी, यहाँ तक कि अपनी पत्नी और अपने शरीर में वास

करने वाली ऐश्वर्य की देवी की अपेक्षा गोपियों के प्रति अधिक दयालु दिखाई पड़ते है। इसी तरह *श्रीमद्‌भागवत* का यह भी कहना है (१०.४७.६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरते: प्रसाद:

स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्या: ।

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-

लब्धाशिषां य उदगाद्‌ व्रजसुन्दरीणाम्‌ ॥

''गोपियों को भगवान्‌ से वे सभी वर प्राप्त हुए जो न तो लक्ष्मीजी को और न स्वर्ग की परम सुन्दरी नर्तकियों को प्राप्त हो सके। रास-नृत्य में भगवान्‌ ने परम भाग्यशाली गोपियों के कंधों पर अपना हाथ रखकर और प्रत्येक के साथ नृत्य करके परम अनुकम्पा प्रदर्शित की। भगवान्‌ की अहैतुकी कृपा प्राप्त करने वाली गोपियों की कोई बराबरी नहीं कर सकता।''

श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा गया है कि गोपियों के चरणचिह्नों का अनुसरण किये बिना किसी को भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्‌ का वास्तविक अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ तक कि ऐश्वर्य की देवी वर्षों तक कठिन तपस्या करके भी गोपियों का सा अनुग्रह नहीं पा सकीं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस बात की विवेचना व्येंकट भट्ट से *चैतन्यचरितामृत* (मध्य ९.१११-१३१) में की है—''चैतन्य महाप्रभु ने व्येंकट भट्ट से पूछा 'तुम्हारी आराध्य देवी लक्ष्मी सदैव नारायण के वक्षस्थल में विराजमान रहती हैं और निश्चित रूप से सृष्टि की सबसे पवित्र महिला हैं। किन्तु मेरे प्रभु श्रीकृष्ण एक गोप हैं, जो गायों को चराने में लगे रहते हैं। तो फिर वह कौन सा कारण है कि ऐसी पतिव्रता पत्नी मेरे प्रभु की संगिनी बनना चाहती है? मात्र श्रीकृष्ण का संग-लाभ उठाने के निमित्त लक्ष्मी देवी ने वैकुण्ठ का दिव्य सुख छोड़कर दीर्घकाल तक विधिविधानों तथा व्रतों का पालन करके असीम कठोर तप किया।'

व्येंकट भट्ट ने उत्तर दिया, 'भगवान्‌ श्रीकृष्ण तथा भगवान्‌ नारायण एक ही हैं, किन्तु श्रीकृष्ण की लीलाएँ क्रीड़ा रूप होने के कारण अधिक मधुर हैं। वे श्रीकृष्ण की शक्तियों के लिए अधिक मनमोहक हैं। चूँकि श्रीकृष्ण तथा नारायण दोनों एक ही पुरुष हैं, अत: कृष्ण के साथ लक्ष्मी का मिलन उनके पातिव्रत्य को नष्ट नहीं करता। यह अत्यन्त कुतूहलपूर्ण है कि लक्ष्मी ने जानबूझकर श्रीकृष्ण से मिलाप करना चाहा। ऐश्यर्व की देवी ने सोचा कि श्रीकृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करने से उनका पतिव्रत भंग

नहीं होगा, वरन् उन्हें रास-नृत्य का लाभ प्राप्त हो सकेगा। यदि वे स्वयं श्रीकृष्ण के साथ भोग करना चाहती थी तो इसमें क्या दोष है? आप क्यों उपहास कर रहे हैं?'

''चैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया, 'मैं यह समझता हूँ कि लक्ष्मीजी में कोई दोष नहीं है, किन्तु तो भी वे रास-नृत्य में प्रविष्ट नहीं हो पाईं। ऐसा शास्त्रों से प्रकट होता है। दण्डकारण्य में वेदों के ज्ञानी जन भगवान् श्रीरामचन्द्र से मिले और उनकी तपस्या के कारण उन्हें रास-नृत्य में प्रवेश करने की अनुमति मिल गई। किन्तु क्या तुम बता सकते हो कि ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मीजी को यह सुअवसर क्यों नहीं प्राप्त हो सका?'

''इस पर व्येंकट भट्ट का उत्तर था, ''मैं एक तुच्छ प्राणी हूँ, अत: मैं इस घटना के रहस्य को नहीं बता सकता। मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ मेरा ज्ञान सीमित है और मैं सदैव अशान्त रहता हूँ। भला मैं परमात्मा की लीलाओं को कैसे समझ सकता हूँ? उनकी लीलाएँ लाखों सागरों से भी अगाध हैं।'

''श्री चैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया, 'श्रीकृष्ण में एक विशेष गुण हैं। वे अपने व्यक्तिगत माधुर्य प्रेम से सबके हृदयों को आकृष्ट कर लेते हैं। व्रजलोक अथवा गोलोक वृन्दावन के वासियों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए श्रीकृष्ण के चरणकमलों का आश्रय प्राप्त हो सकता है। किन्तु उस लोक के वासी इस तथ्य से अपरिचित हैं कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। फलत: नन्द महाराज, यशोदा देवी तथा गोपियाँ उन्हें अपने प्रिय पुत्र या प्रेमी के रूप में मानती हैं। माता यशोदा उन्हें पुत्रवत् मानती हैं और कभी-कभी उन्हें ऊखल से बाँध देती हैं। गोपजन उन्हें सामान्य बालक मानते हैं और वे उनके कन्धों पर चढ़ जाते हैं। गोलोक वृन्दावन में श्रीकृष्ण को प्रेम करने के अतिरिक्त कोई और कुछ भी नहीं चाहता।''

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि व्रजभूमि के निवासियों की कृपादृष्टि के बिना श्रीकृष्ण की संगति नहीं मिल सकती। अत: यदि कोई चाहता है कि श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष मोक्ष प्रदान करें तो उसे वृन्दावनवासियों की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वे भगवान् के विशुद्ध भक्त हैं।

रम्यके च भगवतः प्रियतमं मात्स्यमवताररूपं तद्वर्षपुरुषस्य मनोः प्राक्प्रदर्शितं स इदानीमपि महता भक्तियोगेनाराधयतीदं चोदाहरति. ॥ २४॥

शब्दार्थ

रम्यके च—रम्यकवर्ष में भी; **भगवतः**—श्रीभगवान् का; **प्रिय-तमम्**—अत्यन्त प्रिय; **मात्स्यम्**—मछली; **अवतार-रूपम्**—अवतार स्वरूप; **तत्-वर्ष-पुरुषस्य**—उस भूभाग के शासक; **मनोः**—मनु के; **प्राक्**—इसके पूर्व (चाक्षुष-मन्वन्तर के अन्त में);

प्रदर्शितम्—प्रदर्शित; सः—वह मनु; इदानीम् अपि—यहाँ तक कि आज भी; महता भक्ति-योगेन—महती भक्ति के द्वारा; आराधयति—श्रीभगवान् की आराधना करता है; इदम्—यह; च—तथा; उदाहरति—जप करता है।

शुकदेव गोस्वामी आगे कहते हैं—रम्यकवर्ष में पिछले मन्वन्तर (चाक्षुष) के अन्त में श्रीभगवान् मत्स्य रूप में प्रकट हुए, जहाँ के अधिपति वैवस्वत मनु हैं। वे आज भी मत्स्य भगवान् की शुद्ध भक्ति करते हैं और निम्नलिखित मंत्र का जप करते हैं।

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नम इति. ॥ २॥

शब्दार्थ

ओम्—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् को; मुख्य-तमाय—प्रथम अवतार को; नमः—मेरा नमस्कार है; सत्त्वाय—सत्त्व रूप को; प्राणाय—जीवन के मूलाधार को; ओजसे—इन्द्रियों के ओजस्वरूप; सहसे—समस्त बुद्धि बल के स्त्रोत; बलाय—शारीरिक शक्ति के उद्‌गम; महा-मत्स्याय—महा मत्स्यावतार को; नमः—नमस्कार है; इति—इस प्रकार।

मैं सत्त्व स्वरूप श्रीभगवान् को नमस्कार करता हूँ। वे प्राण, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति तथा ज्ञानेन्द्रिय शक्ति के मूल स्त्रोत हैं। समस्त अवतारों में प्रकट होने वाले वे महामत्स्यावतार हैं। मैं पुनः उनको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : श्रील जयदेव गोस्वामी का गीत है—

प्रलयो पयोधि-जले धृतवान् असि वेदं

विहित-वहित्र-चरित्रम् अखेदम्

केशव धृत-मीन-शरीर जय जयदीश हरे।

सृष्टि-रचना के तुरन्त बाद यह सारा ब्रह्माण्ड जल में मग्न हो गया। उस समय वेदों की रक्षा के लिए भगवान् श्रीकृष्ण (केशव) ने महामत्स्य के रूप में अवतार लिया। इसीलिए मनु ने मत्स्य भगवान् को मुख्यतम् अर्थात् प्रथम अवतार ग्रहण करनेवाला कहा है। सामान्यत: मत्स्य को तमो तथा रजो गुणों से युक्त माना जाता है, किन्तु हमें यह समझना आवश्यक है कि श्रीभगवान् का प्रत्येक अवतार पूर्णत: दिव्य होता है। परमात्मा के मूल दिव्य गुण में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। इसलिए *सत्त्वाय* शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है दिव्य धरातल पर विशुद्ध सत्त्व। भगवान् के अनेक अवतार हैं—वराहमूर्ति, कूर्ममूर्ति, हयग्रीवमूर्ति इत्यादि। किन्तु इन्हें भौतिक नहीं मानना चाहिए। वे शुद्ध सत्त्व पद पर सदैव अवस्थित रहते हैं।

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकै-
रदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः ।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनय-
न्नाम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; च—भी; अखिल-लोक-पालकैः—विभिन्न लोकों, समाजों, राज्यों आदि के नायकों द्वारा; अदृष्ट-रूपः—अदृश्य; विचरसि—विचरण करते हो; उरु—अत्यन्त महान्; स्वनः—जिसकी ध्वनि (वैदिक मंत्र); सः—वह; ईश्वरः—परम नियन्ता; त्वम्—आपको; यः—जो; इदम्—वह; वशे—वश में; अनयत्—ले आया; नाम्ना—विभिन्न नामों से, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र; यथा—ठीक वैसा ही; दारुमयीम्—काष्ठ की बनी; नरः—मनुष्य; स्त्रियम्—पुतली को।.

हे ईश्वर, जिस प्रकार एक नटकठ पुतलियों को तथा पति अपनी पत्नी को वश में रखता है, उसी प्रकार आप इस ब्रह्माण्ड की समस्त जीवात्माओं को, चाहे वे ब्राह्मण हों या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र, अपने वश में रखने वाले हैं। यद्यपि आप जन-जन के हृदयों के भीतर परम साक्षी के रूप में और उनके बाहर भी निवास करते हैं, किन्तु समाज, जाति तथा देश के तथाकथित नेता आपको समझ नहीं पाते। केवल वैदिक मंत्रों की स्वरलहरियों को सुनने वाले आपको जान पाते हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् *अन्तर्बहिः* अर्थात् सबों के भीतर और बाहर विद्यमान रहते हैं। भगवान् की माया से जनित भ्रम को जीतकर उनकी अन्तः तथा बहिः उपस्थिति अनुभव की जा सकती है। *श्रीमद्भागवत* (१.८.१९) में श्रीमती कुन्तीदेवी ने बताया है कि इस जगत में श्रीकृष्ण *नटो नाट्यधरो* यथा—नाटक के नट की भाँति—प्रकट होते हैं— *भगवद्गीता* (१८.६१) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—"हे अर्जुन, ईश्वर प्राणीमात्र के हृदय में स्थित हैं।" ईश्वर प्रत्येक के हृदय में और इसके बाहर भी वास करते हैं। हृदय के भीतर वे परमात्मा हैं, जो निदेशक तथा साक्षी तुल्य हैं। यद्यपि ईश्वर हमारे हृदयों में वास करते हैं, किन्तु फिर भी अज्ञानी कहते फिरते हैं कि मैं ईश्वर को नहीं देख सकता; मुझे उनके दर्शन कराओ।

प्रत्येक प्राणी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के वश में उसी प्रकार है, जिस प्रकार नाचने वाली कठ पुतलियाँ नट के वश में रहती हैं, अथवा जैसे पति के वश में पत्नी। स्त्री की उपमा पुतली (दारुमयी) से दी गई है, क्योंकि वह पराधीन है। मनुष्य उस पर सदैव शासन करता है। तो भी, झूठी प्रतिष्ठावश स्त्रियों का एक वर्ग स्वतंत्र रहना चाहता है। स्त्रियाँ तो स्त्रियाँ, समस्त जीवात्माएँ प्रकृति (स्त्री) हैं, अतः वे भगवान् पर आश्रित हैं, जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में स्वयं कहा है (*अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं*

विद्धि मे परम्) जीवात्मा कभी भी स्वतंत्र नहीं है। सभी दशाओं में वह भगवान् की कृपा पर आश्रित है। भगवान् ने मानव समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन वर्णों में विभाजित किया और आदेश दिया कि अपने-अपने वर्ण के नियमों का पालन करें। इस प्रकार समाज के सभी सदस्य सदैव परम पुरुष के वश में रहते हैं। फिर भी कुछ मूर्ख लोग ईश्वर की सत्ता को नकारते हैं।

आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है भगवान् की तुलना में अपनी अधीनस्त स्थिति को समझना। जब मनुष्य को यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो वह श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करता है और माया के चंगुल से छुटकारा पा लेता है। दूसरे शब्दों में, जब तक मनुष्य भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण नहीं कर देता, तब तक माया उसे विभिन्न रूपों में वशीभूत करती रहेगी। इस भौतिक जगत में कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि वह वश में है। भगवान् नारायण इस भौतिक जगत से परे हैं और वही सबको वश में रखते हैं। इस वैदिक मंत्र से इसकी पुष्टि होती है—*एको ह वै नारायण आसीत्।* मूर्ख लोग नारायण को सामान्य भौतिक जगत के धरातल पर मानते हैं। वे जीवात्मा की प्राकृतिक स्वाभाविक स्थिति से परिचित नहीं हैं, इसलिए वे दरिद्रनारायण, स्वामीनारायण या मिथ्यानारायण जैसे शब्द गढ़ लेते हैं। किन्तु नारायण वास्तव में सबों के परम नियन्ता हैं। यही ज्ञान आत्म-साक्षात्कार है।

यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा
हित्वा यतन्तोऽपि पृथक्समेत्य च ।
पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः
सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते ॥ २७॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको (आपको); लोक-पालाः—इस ब्रह्माण्ड के महान् नेता, जिनमें ब्रह्मा प्रथम हैं; किल—अन्यों की क्या कहें; मत्सर-ज्वराः—जिन्हें ईर्ष्या का ज्वर चढ़ा हुआ है; हित्वा—परित्याग करके; यतन्तः—यत्न करते हुए; अपि—यद्यपि; पृथक्—अलग से; समेत्य—सम्मिलित; च—भी; पातुम्—रक्षा करने में; न—नहीं; शेकुः—समर्थ; द्वि-पदः—दो पैर वाले; चतुः-पदः—चार पाँव वाले; सरीसृपम्—रेंगने वाले; स्थाणु—जड़; यत्—जो भी; अत्र—इस भौतिक जगत के भीतर; दृश्यते—दीख पड़ता है।.

हे ईश्वर, इस ब्रह्माण्ड के बड़े से बड़े नेता, यथा ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं से लेकर इस संसार के राजनीतिक नेताओं तक, सभी आपकी सत्ता के प्रति ईर्ष्यालु हैं। किन्तु आपकी सहायता के बिना वे न तो पृथक्-पृथक्, न ही सम्मिलित रूप से इस ब्रह्माण्ड के असंख्य जीवों का पालन कर सकते हैं। आप समस्त मनुष्यों, पशुओं (यथा गाय, गधा) तथा समस्त

वनस्पतियों, रेंगने वाले जीवों, पक्षियों, पर्वतों तथा इस संसार में जो भी दिखाई पड़ता है उसके एकमात्र वास्तविक पालक हैं।

तात्पर्य : संसारी व्यक्तियों में ईश्वर की सत्ता से स्पर्धा करना फैशन बन चुका है। जब नामधारी विज्ञानी अपनी प्रयोगशालाओं में जीव की सृष्टि करने का प्रयास करते हैं, तो उनका एकमात्र उद्देश्य श्रीभगवान् की प्रतिभा एवं शक्ति को चुनौती देना होता है। यही माया कहलाती है। यह वैकुण्ठलोक में भी व्याप्त है जहाँ ब्रह्मा, शिव इत्यादि महान् देवता वास करते हैं। इस संसार में अपने समस्त प्रयासों के असफल होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति झूठी प्रतिष्ठा से फूला रहता है। जब दिखावे के लिए गरीबों की सहायता करने वाले नामधारी परोपकारियों के पास कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य जाते हैं, तो वे कहते हैं कि आप लोग वृथा ही अपना समय नष्ट करते हैं, हम लोग ही असंख्य भूखे जनसमूह का भरण करने वाले हैं। दुर्भाग्यवश उनके इने-गिने प्रयास, चाहे व्यष्टि रूप से हों या समष्टि रूप में, किसी समस्या का हल नहीं ढूँढ पाते।

कभी-कभी तथाकथित स्वामी लोग दरिद्रों को भोजन देने के अत्यन्त इच्छुक रहते हैं; वे उन्हें दरिद्रनारायण समझते हैं। वे मूल परम-नारायण की अपेक्षा कृत्रिम दरिद्रनारायण की सेवा को वरीयता प्रदान करते हैं। उनका कहना है कि भगवान् नारायण की सेवा को बढ़ावा देने की अपेक्षा संसार के भूखे मनुष्यों की सेवा करना श्रेष्ठ है। दुर्भाग्यवश ऐसे भौतिकतावादी, व्यष्टि रूप से या संयुक्त राष्ट्र के रूप में समष्टि रूप में अपनी योजनाएँ पूरी नहीं कर पाते। सत्य तो यह है कि करोड़ों मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों तथा वृक्षों—यही नहीं सम्पूर्ण जीवात्माओं—का भरण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा अकेले ही किया जाता है। *एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—एक ही श्रीभगवान् सभी जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं। भगवान् नारायण की सत्ता को चुनौती देना असुरों का कार्य है। किन्तु कभी-कभी माया के वशीभूत होकर सुर अथवा भक्तजन भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने को सारे ब्रह्माण्ड का नियामक घोषित करने लगते हैं। ऐसी घटनाओं का उल्लेख *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में मिलता है जहाँ शुकदेव गोस्वामी बताते हैं कि किस प्रकार ब्रह्माजी और राजा इन्द्र को गर्व होता है और अन्त में वे श्रीकृष्ण द्वारा दण्डित होते हैं।

भवान्युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि
क्षोणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम् ।
मया सहोरु क्रमतेऽज ओजसा
तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नम इति ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; युग-अन्त-अर्णवे—प्रलयकालीन सागर में; ऊर्मि-मालिनि—उत्ताल तरंगों के स्वामी; क्षोणीम्—पृथ्वी को; इमाम्—इस; ओषधि-वीरुधाम्—समस्त प्रकार की औषधियों एवं लताओं को; निधिम्—आगार, संग्रह; मया—मेरे; सह—साथ; उरु—महान्; क्रमते—आप भ्रमण करते रहे; अज—हे अजन्मा; ओजसा—गतिपूर्वक; तस्मै—उसको; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; प्राण-गण-आत्मने—जीवन का परम स्रोत; नमः—नमस्कार है; इति—इस प्रकार।

हे सर्वशक्तिमान ईश्वर, कल्पान्त में यह पृथ्वी, जो सभी प्रकार की जड़ी बूटियों तथा वृक्षों की आगार है, जल की बाढ़ से प्रलयकारी तरंगों के नीचे डूब गई। उस समय आपने पृथ्वी सहित मेरी रक्षा की और अत्यन्त वेग से आप समुद्र में भ्रमण करते रहे। हे अजन्मा, आप इस समग्र सृष्टि के वास्तविक पालनकर्ता हैं, इसलिए आप ही सभी जीवात्माओं के कारणस्वरूप हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ईर्ष्यालु व्यक्ति यह नहीं समझ पाते कि ईश्वर कितने आश्चर्यजनक ढंग से इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि, उसका पालन और फिर संहार करते हैं। किन्तु ईश्वर के भक्तजन इसे अच्छी तरह समझते हैं। वे यह देख पाने में समर्थ हैं कि इस भौतिक प्रकृति के अद्‌भुत कार्यों के पीछे कैसे ईश्वर का हाथ है।

भगवद्गीता (९.१०) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इस के अनुसार इस जगत का बारम्बार सृजन और संहार होता है।" प्रकृति के समस्त विस्मयकारी परिवर्तन श्रीभगवान् के निरीक्षण में घटित होते हैं। ईर्ष्यालु व्यक्ति इसे नहीं देख पाते, किन्तु जो भक्त हैं, वे विनम्र तथा अशिक्षित होने पर भी प्रकृति की इन क्रियाओं के पीछे भगवान् के हाथ को देख पाते हैं।

हिरण्मयेऽपि भगवान्निवसति कूर्मतनुं बिभ्राणस्तस्य तत्प्रियतमां तनुमर्यमा सह वर्षपुरुषैः पितृगणाधिपतिरुपधावति मन्त्रमिमं चानुजपति. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

हिरण्मये—हिरण्मयवर्ष में; अपि—निस्सन्देह; भगवान्—श्रीभगवान्; निवसति—निवास करते हैं; कूर्म-तनुम्—कछुए का शरीर; बिभ्राणः—प्रकट करते हुए; तस्य—श्रीभगवान् का; तत्—वह; प्रिय-तमाम्—सर्वाधिक प्रिय; तनुम्—शरीर; अर्यमा—हिरण्मय वर्ष का प्रमुख वासी अर्यमा के; सह—साथ; वर्ष-पुरुषैः—उस भूभाग के व्यक्ति; पितृ-गण-अधिपतिः—जो पितरों का प्रतिनिधि है; उपधावति—भक्तिपूर्वक पूजा करता है; मन्त्रम्—मंत्र को; इमम्—इस; च—भी; अनुजपति—जपता है।

शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—हिरण्मयवर्ष में भगवान् विष्णु कच्छप रूप में निवास करते हैं। इस परम प्रिय एवं सुन्दर रूप की आराधना हिरण्मयवर्ष के प्रमुख निवासी अर्यमा तथा उस वर्ष के अन्य वासियों द्वारा सदैव की जाती है। वे निम्नलिखित स्तुति करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रियतम* (सर्वाधिक प्रिय) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। प्रत्येक भक्त भगवान् के किसी विशेष रूप को ही अपना प्रिय समझता है। कुछ सौन्दर्यप्रेमी नास्तिक विचारधारा के कारण ऐसा सोचते हैं कि भगवान् के कूर्म, शूकर तथा मत्स्य अवतार अति सुन्दर नहीं हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि भगवान् का प्रत्येक रूप अत्यन्त तेजवान है। चूँकि उनके ऐश्वर्यों में से अनन्त सौन्दर्य एक है, अतः भगवान् के समस्त अवतार अत्यन्त सुन्दर हैं और भक्त लोग उसकी सराहना करते हैं। किन्तु जो भगवान् के भक्त नहीं हैं, वे श्रीकृष्ण के अवतारों को सामान्य संसारी प्राणी मानते हैं, फलतः वे सुन्दर तथा असुन्दर में अन्तर पाते हैं। प्रत्येक भक्त भगवान् के किसी एक विशेष रूप को पूजता है, क्योंकि वह उसी रूप में उन्हें देखना चाहता है। *ब्रह्म-संहिता* (.३३) में कहा गया है—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।* भगवान् का परम सुन्दर रूप सदैव यौवनपूर्ण रहता है। विशिष्ट सम्प्रदाय के सेवक उसी रूप को परम सुन्दर मानकर निरन्तर भक्ति करते हैं।

ॐ नमो भगवते अकूपाराय सर्वसत्त्वगुणविशेषणायानुपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमो नमोऽवस्थानाय नमस्ते. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ओम्—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् को; अकूपाराय—कूर्म के रूप में; सर्व-सत्त्व-गुण-विशेषणाय—जिसका रूप शुद्ध सत्त्वमय है; अनुपलक्षित-स्थानाय—आपको, जिनका स्थान अनिश्चित है; नमः—नमस्कार है; वर्ष्मणे—काल की मर्यादा के बाहर आपको; नमः—आदरपूर्वक नमस्कार; भूम्ने—उस महान् को जो सर्वत्र जा सकता हैं; नमः नमः—बारम्बार नमस्कार है; अवस्थानाय—सर्वाधार; नमः—नमस्कार है; ते—आपको।

हे प्रभो, कच्छप स्वरूप आपको मेरा सादर नमस्कार है। आप समस्त दिव्य गुणों के आगार हैं। आप भौतिकता से पूर्णतः रहित तथा परम सत्त्व में स्थित हैं। आप जल में विचरण करते रहते हैं, किन्तु कोई आपका पता नहीं लगा पाता, अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। अपनी

दिव्य स्थिति के कारण आप भूत, वर्तमान तथा भविष्य से बँधे नहीं रहते। आप सर्वत्र सर्वाधार रूप में उपस्थित रहते हैं, अतः मैं बारम्बार आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि *गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूत:*—आध्यात्मिक जगत में सबसे ऊपर के लोक गोलोक में भगवान् सदैव रहते हैं। इसके साथ ही साथ वे सर्वव्यापी हैं। ऐसा विरोधाभास केवल श्रीभगवान् पर ही लागू हो सकता है जो समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। भगवान् की सर्वव्यापकता की पुष्टि *भगवद्गीता* से (१८.६१) होती है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं—*ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित हैं।" *भगवद्गीता* में ही अन्यत्र (१.१) वे कहते हैं— *सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सब प्राणियों के हृदय में बैठा हूँ और मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और विस्मृति होती है। अत: यद्यपि भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं, किन्तु वे सामान्य नेत्रों से नहीं देखे जा सकते। जैसाकि अर्यमा कहते हैं, श्रीभगवान् *अनुपलक्षितस्थान* हैं अर्थात् उनको कोई ढूँढ नहीं सकता। यही श्रीभगवान् की महानता है।

यद्रूपमेतन्निजमाययार्पित-
मर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम् ।
सङ्ख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भनात्-
तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; रूपम्—रूप; एतत्—यह; निज-मायया अर्पितम्—आपकी माया से प्रकट; अर्थ-स्वरूपम्—यह समस्त दृश्य सार्वभौम अभिव्यक्ति (प्रकाश); बहु-रूप-रूपितम्—अनेक रूपों में प्रकट; सङ्ख्या—गणना; न—नहीं; यस्य—जिसकी; अस्ति—है; अयथा—झूठे ही; उपलम्भनात्—देखने से; तस्मै—उसे (भगवान् को); नम:—मेरा नमस्कार; ते—आपको; अव्यपदेश—मानसिक चिन्ता द्वारा निश्चित न हो सकने वाला, अनिवर्चनीय; रूपिणे—जिसका सत्य रूप।

हे भगवन्, यह विराट दृश्य अभिव्यक्ति आपकी अपनी सृजनात्मक शक्ति का प्रदर्शन है। इसके अन्तर्गत अनन्त रूप आपकी बहिरंगा शक्ति (माया) का प्रदर्शन मात्र है, अतः यह विराट रूप आपका वास्तविक रूप नहीं है। आपके वास्तविक रूप का दर्शन तो केवल दिव्य भावना भावित भावित भक्तजन कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं। इसलिए मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : मायावादी दार्शनिक भगवान् के विराट रूप को ही सत्य तथा उनके व्यक्तिगत स्वरूप को मायास्वरूप मानते हैं। उनकी त्रुटि एक सरल उदाहरण द्वारा समझी जा सकती है। अग्नि में तीन तत्त्व

होते हैं—शक्तिस्वरूप उष्मा, प्रकाश तथा स्वयं अग्नि। यह कोई भी समझ सकता है कि मूलत: अग्नि ही वास्तविक है और उष्मा तथा प्रकाश अग्नि की शक्ति मात्र हैं। वे अग्नि की स्वरूपहीन शक्तियाँ होने के कारण अवास्तविक रूप हैं। केवल अग्नि में रूप होता है, अत: यही उष्मा तथा प्रकाश का वास्तविक रूप है। *भगवद्गीता* (९.४) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*—मेरी प्राकृत इन्द्रियों से अतीत अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। इस प्रकार भगवान् का अव्यक्त रूप अग्नि की उष्मा तथा प्रकाश के प्रसार की भाँति है। *भगवद्गीता* में भगवान् का यह भी वचन है—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:*—यह सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि श्रीकृष्ण की शक्ति पर आश्रित है, चाहे वह भौतिक हो, आध्यात्मिक या तटस्था शक्ति हो। किन्तु उनका रूप उनकी शक्ति के विस्तार से रहित है, अत: वे व्यक्तिगत रूप में उपस्थित नहीं हैं। श्रीभगवान् की शक्ति का अकल्पनीय विस्तार अचिन्त्य शक्ति कहलाता है। अत: बिना भक्त बने कोई भी भगवान् के सत्य रूप को नहीं जान पाता।

जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं
चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम् ।
द्यौ: खं क्षिति: शैलसरित्समुद्र-
द्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एक: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

जरायु-जम्—गर्भ से उत्पन्न; **स्वेद-जम्**—पसीने से उत्पन्न; **अण्ड-ज**—अंडे से उत्पन्न; **उद्भिदम्**—पृथ्वी से उत्पन्न; **चर-अचरम्**—चर तथा अचर (स्थावर तथा जंगम); **देव**—देवता; **ऋषि**—ऋषि; **पितृ**—पितृलोक के वासी; **भूतम्**—वायु, अग्नि जल तथा क्षिति नामक तत्त्व; **ऐन्द्रियम्**—सभी इन्द्रियाँ; **द्यौ:**—उच्चतर लोक; **खम्**—आकाश; **क्षिति:**—पृथ्वी; **शैल**—पर्वत; **सरित्**—नदियाँ; **समुद्र**—सागर; **द्वीप**—द्वीप; **ग्रह-ऋक्ष**—नक्षत्र तथा ग्रह; **इति**—इस प्रकार; **अभिधेय:**—विभिन्न नामों से अभिहित; **एक:**—एक।

हे प्रिय प्रभु, आप अपनी विविध शक्तियाँ अनगिनत रूपों में प्रदर्शित करते हैं—जैसे कि गर्भ से अंडे से तथा स्वेद से उत्पन्न होने वाले जीव; धरती से पौधों एवं वृक्षों के रूप में विकसित होने वाले जीव; देवता , विद्वान, ऋषि-मुनि तथा पितृओं सहित चर तथा अचर सारे जीव; बाह्यावकाश, स्वर्गलोक सहित उच्चतर ग्रहमंडल एवं पर्वत, नदियाँ, महासागरों तथा द्वीपों सहित पृथ्वी ग्रह इत्यादि।

तात्पर्य : यह श्लोक *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या* के सिद्धान्त को पूर्णतया नकारता है, जिसके अनुसार ब्रह्म सत्य है, जबकि यह भौतिक जगत अपने महत्-पदार्थों समेत मिथ्या (असत्य) है। कुछ भी

मिथ्या नहीं है। एक वस्तु स्थायी हो सकती और दूसरी अस्थायी, किन्तु स्थायी तथा अस्थायी दोनों ही तथ्य हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई क्षण भर के लिए क्रुद्ध हो जाता है, तो कोई यह नहीं कहेगा कि उसका क्रोध असत्य है। यह केवल क्षणिक है। दैनिक जीवन में अनुभव की जाने वाली प्रत्येक वस्तु इसी प्रकार की है; यह क्षणिक होकर भी सत्य है।

इस श्लोक में विभिन्न स्रोतों से आगत नाना प्रकार के जीवात्माओं का सुस्पष्ट वर्णन मिलता है। इनमें से कुछ गर्भ से उत्पन्न होते हैं और कुछ जैसे कुछ कीट मनुष्य के पसीने से; अन्य अण्डे से और कुछ पृथ्वी से अंकुरित होते हैं। जीवात्मा अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में जन्म लेता है। यद्यपि उसका शरीर भौतिक होता है, किन्तु यह कभी मिथ्या नहीं होता। यह किसी भी व्यक्ति को स्वीकार्य नहीं होगा कि मनुष्य का भौतिक शरीर मिथ्या है, इसलिए हत्या की कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी। हमारे अस्थायी शरीर अपने कर्मों के अनुसार हमें प्राप्त होते हैं और इसी शरीर से हमें जीवन की वेदनाओं और आनन्दों को भोगना पड़ता है। हमारे शरीर मिथ्या नहीं कहे जा सकते; हाँ वे अस्थायी अवश्य हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि भगवान् की शक्ति स्वयं भगवान् की भाँति स्थायी है, भले ही यह शक्ति कभी प्रकट रहे तो कभी अप्रकट रहे। जैसाकि वेदों में सार-रूप में कहा गया है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है।

यस्मिन्नसङ्ख्येयविशेषनाम-
रूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम् ।
सङ्ख्या यया तत्त्वदृशापनीयते
तस्मै नमः साङ्ख्यनिदर्शनाय ते इति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें (श्रीभगवान् में); असङ्ख्येय—अगणित; विशेष—विशेष; नाम—नाम; रूप—रूप; आकृतौ—शारीरिक स्वरूप से युक्त; कविभिः—विद्वान व्यक्तियों के द्वारा; कल्पिता—कल्पित की गई; इयम्—यह; सङ्ख्या—गिनती; यया—जिसके द्वारा; तत्त्व—सत्य का; दृशा—ज्ञान से; अपनीयते—निकाल लेते हैं; तस्मै—उसे; नमः—नमस्कार; साङ्ख्य-निदर्शनाय—जो सांख्य दर्शन के उद्धाटक हैं; ते—आपको; इति—इस प्रकार।

हे प्रभो, आपका नाम, रूप तथा आकृति असंख्य रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि आप कितने रूपों में विद्यमान हैं, फिर भी आपके स्वयं के अवतार कपिलदेव जैसे मुनियों ने इस विराट जगत में चौबीस तत्त्व निश्चित किये हैं। अतः यदि कोई सांख्य दर्शन में रुचि रखता है, तो उसे चाहिए कि विभिन्न सत्यों को वह आपसे सुने।

दुर्भाग्यवश जो आपके भक्त नहीं हैं, वे केवल तत्त्वों की गणना कर पाते हैं, किन्तु आपके वास्तविक रूप से अनजान रहते हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : लाखों-करोड़ों वर्षों से दार्शनिक तथा वैज्ञानिक सम्पूर्ण विश्व-स्थिति का भिन्न-भिन्न तरीकों से सिद्धान्त बनाने और करने का प्रयास करते रहे हैं, किन्तु नामधारी वैज्ञानिक या दार्शनिक की काल्पनिक शोध उसकी मृत्यु के साथ ही अवरुद्ध हो जाती है और प्रकृति के नियम उसके कार्य से प्रभावित हुए अबाध गति से चलते रहते हैं।

भौतिक सृष्टि में अरबों वर्षों तक परिवर्तन होते रहने के बाद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है और अप्रकट हो जाता है। प्रकृति में परिवर्तन तथा विनाश (*भूत्वा भूत्वा प्रलीयते*) अनवरत् रूप से चलते रहते हैं। तो भी संसारी विज्ञानीजन प्रकृति के मूलाधार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जाने बिना प्राकृतिक नियमों का अध्ययन करना चाहते हैं। *भगवद्गीता* (९.१०) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है और सम्पूर्ण चर और अचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत का बारम्बार सृजन और संहार होता है।''

सृष्टि की भौतिक अभिव्यक्ति हो जाने पर अन्ततः इसका संहार होगा और लाखों वर्षों तक सुसुप्त स्थिति रहने के पश्चात् पुनः सृष्टि होगी। यही प्रकृति का नियम है।

उत्तरेषु च कुरुषु भगवान्यज्ञपुरुषः कृतवराहरूप आस्ते तं तु देवी हैषा भूः सह कुरुभिरस्खलितभक्तियोगेनोपधावति इमां च परमामुपनिषदमावर्तयति. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

उत्तरेषु—उत्तर दिशा में; च—भी; कुरुषु—कुरुवर्ष में; भगवान्—श्रीभगवान्; यज्ञ-पुरुषः—समस्त यज्ञों के फल को स्वीकार करने वाला; कृत-वराह-रूपः—शूकर (वराह) रूप को धारण करके; आस्ते—शाश्वत विद्यमान रहता है; तम्—उसको; तु—निश्चयपूर्वक; देवी—देवी; ह—निश्चय ही; एषा—यह; भूः—पृथ्वी लोक; सह—के साथ; कुरुभिः—कुरु-देश के वासी; अस्खलित—स्खलित न होने वाली; भक्ति-योगेन—भक्ति के द्वारा; उपधावति—पूजा करता है; इमाम्—इस; च—भी; परमाम् उपनिषदम्—श्रेष्ठतम उपनिषद् (भगवान् तक पहुँचने की विधि) को; आवर्तयति—अभ्यास हेतु बारम्बार जप करता है।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन्, सभी यज्ञाहुतियों को स्वीकार करने वाले श्रीभगवान् वराह रूप में जम्बूद्वीप के उत्तरी भाग में निवास करते हैं। वहाँ उत्तर-कुरुवर्ष में पृथ्वी माता तथा

अन्य सभी वासी निम्नलिखित उपनिषद् मंत्र का बारम्बार जप करते हुए उनकी आराधना करते हैं।

ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते. ॥ ३ ॥ ।

शब्दार्थ

ओम्—हे प्रभो; नमः—नमस्कार; भगवते—श्रीभगवान् को; मन्त्र-तत्त्व-लिङ्गाय—जो विभिन्न मंत्रों द्वारा समझे जाते हैं; यज्ञ—पशु-बलि के रूप में; क्रतवे—तथा पशुबलि; महा-ध्वर—बड़ी-बड़ी बलियाँ; अवयवाय—जिनके शरीर के अंग; महा-पुरुषाय—परमात्मा को; नमः—नमस्कार; कर्म-शुक्लाय—जो जीवात्माओं के कर्मों को पवित्र करने वाला है; त्रि-युगाय—तीन युगों में छः ऐश्वर्यों के साथ प्रकट होने वाले श्रीभगवान् (चतुर्थ युग में प्रच्छन्न रहने वाले) को; नमः—नमस्कार; ते—आपको।.

हे प्रभो, हम विराट पुरुष के रूप में आपको सादर नमस्कार करते हैं। केवल मंत्रोच्चार से हम आपको पूर्णतः समझ सकते हैं। आप यज्ञरूप हैं, आप क्रतु हैं। अतः यज्ञ के सभी अनुष्ठान आपके दिव्य शरीर के अंशरूप हैं और केवल आप ही समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं। आपका स्वरूप दिव्य गुणों से युक्त है। आप 'त्रियुग ' कहलाते हैं, क्योंकि कलियुग में आपने प्रच्छन्न अवतार लिया है और आप छहों ऋद्धियों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु इस कलियुग के लिए अवतार हैं, जैसाकि पुराणों, महाभारत, *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य *उपनिषदों* में अनेक स्थलों में पुष्टि हुई है। उनके आविर्भाव का विवरण *चैतन्यचरितामृत* (मध्यलीला ६.९९) में निम्न प्रकार मिलता है—

कलियुगे लीलावतार ना करे भगवान्।

अतएव 'त्रियुग' करि' कहि तार नाम॥

इस कलिकाल में श्रीभगवान् लीलावतार के रूप में, लीलाओं के प्रदर्शनार्थ प्रकट नहीं होते। इसलिए वे *त्रियुग* कहलाते हैं। अन्य अवतारों के विपरीत श्री चैतन्य महाप्रभु कलिकाल में श्रीभगवान् के भक्त के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए उन्हें *छन्नावतार* कहा जाता है।

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो
गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम् ।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो
गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; स्व-रूपम्—स्वरूप; कवयः—महान् सन्त; विपश्चितः—परम सत्य को सुनिश्चित करने में पटु; गुणेषु—तीन गुणों से युक्त भौतिक जगत में; दारुषु—काष्ठ में; इव—सदृश; जात—प्रकट; वेदसम्—अग्नि; मथ्नन्ति—मथते हैं; मथ्ना—अरणी या मथानी से उत्पन्न अग्नि; मनसा—मन के द्वारा; दिदृक्षवः—उत्सुकजन; गूढम्—छिपे; क्रिया-अर्थैः—कर्मों तथा उनके फलों के द्वारा; नमः—नमस्कार है; ईरित-आत्मने—प्रकट होने वाले प्रभु को।

ऋषि तथा मुनि काठ में छिपी अग्नि को अरणी के द्वारा उत्पन्न कर सकने में समर्थ हैं। हे प्रभो, परम सत्य को समझने में दक्ष ऐसे व्यक्ति आपको प्रत्येक वस्तु में, यहाँ तक कि अपने शरीर में भी देखने का प्रयास करते हैं किन्तु आप फिर भी अप्रकट रहते हैं। मानसिक या भौतिक क्रियाओं जैसी अप्रत्यक्ष विधियों से आपको नहीं समझा जा सकता। आप स्वतः प्रकट होने वाले हैं, अतः जब आप देख लेते हैं कि कोई व्यक्ति सर्वभावेन आपकी खोज में संलग्न है तभी आप अपने को प्रकट करते हैं। अतः मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।

तात्पर्य : *क्रियार्थैः* शब्द का अर्थ है, ''देवताओं को प्रसन्न करने के निमित्त अनुष्ठानों द्वारा।'' *विपश्चितः* शब्द की व्याख्या *तैत्तिरीय उपनिषद्* में इस प्रकार दी गई है—*सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुतेसर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।* जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (७.१९) में कहते हैं—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*—''बहुत जन्मांतरों के अन्त में तत्त्वज्ञान को प्राप्त पुरुष मुझे सब कारणों का कारण जानकर मेरी शरण में आता है।'' जब मनुष्य को यह बोध हो जाता है कि भगवान् सबके हृदयों में विद्यमान हैं और जब वह भगवान् को वास्तव में कण-कण में उपस्थित देखता है, तो वह पूर्ण ज्ञानी होता है। *जातवेदः* शब्द का तात्पर्य है, ''वह अग्नि जो काष्ठ के रगड़ने से उत्पन्न होती है।'' वैदिक युग में ऋषियों द्वारा काष्ठ से अग्नि उत्पन्न की जाती थी। *जातवेदः* का अर्थ जठराग्नि भी होता है जो हमारे खाए हुए भोजन को पचाने वाली और भूख उत्पन्न करने वाली होती है। *गूढ* शब्द की विवेचना *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में की गई है। *एको देवः सर्वभूतेषु गूढः*—वैदिक मंत्रों के जाप से ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जाना जा सकता है। *सर्वव्यापी सर्व-भूतान्तरात्मा*—वह सर्वव्यापी है और प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित है। *कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः*—वह जीवात्मा के सभी व्यापारों का साक्षी है। *साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च*—परमात्मा साक्षी होने के साथ-साथ जीवनी शक्ति भी हैं, तो भी वह समस्त भौतिक गुणों से परे हैं।

द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभि-
र्मायागुणैर्वस्तुनिरीक्षितात्मने ।
अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभि-
र्निरस्तमायाकृतये नमो नमः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

द्रव्य—इन्द्रियसुख के पदार्थों द्वारा; क्रिया—इन्द्रियों का व्यापार; हेतु—इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता; अयन—शरीर; ईश—प्रबल काल; कर्तृभिः—झूठे अहंकार से; माया-गुणैः—भौतिक प्रकृति के गुणों द्वारा; वस्तु—तथ्य स्वरूप; निरीक्षित—निरीक्षण किया जाकर; आत्मने—परमात्मा को; अन्वीक्षया—अत्यन्त विचार करके; अङ्ग—योगसाधना के अंगों द्वारा; अतिशय-आत्म-बुद्धिभिः—जिनकी बुद्धि स्थिर हो चुकी है उनके द्वारा; निरस्त—पूर्णतया मुक्त; माया—माया; आकृतये—जिनकी आकृति (रूप); नमः—नमस्कार; नमः—नमस्कार है।

भौतिक सुख के साधन (शब्द, गन्ध, रूप, स्पर्श, स्वाद), ऐन्द्रिय कर्म, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता, शरीर, अनन्त काल तथा अहंकार—ये सभी आपकी माया से उत्पन्न हैं। जिन्होंने योग के द्वारा अपनी बुद्धि को स्थिर कर लिया है वे यह देख सकते हैं कि ये सभी तत्त्व आपकी माया के ही परिणाम हैं। वे आपके दिव्य रूप को भी प्रत्येक वस्तु की पृष्ठ भूमि में परम आत्मा के रूप में देख सकते हैं। अतः मैं पुनः पुनः आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भौतिक सुख के साधन, मानसिक क्रियाएँ, इन्द्रियसुख के प्रति लगाव, शरीर, मिथ्या अहंकार इत्यादि सभी भगवान् की माया से उत्पन्न हैं। इन सब कार्यों का आधार जीवात्मा है और जीवात्माओं के संचालक हैं परमात्मा। जीव सर्वेसर्वा नहीं होता। वह परमात्मा द्वारा निर्देशित होता है। *भगवद्गीता* (१.१) में श्रीकृष्ण इस की पुष्टि करते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—"मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान और विस्मृति होती है।" जीव निर्देशों के लिए परमात्मा पर निर्भर करता है। आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति अथवा योगक्रिया (यमनियमासनादि) में पटु व्यक्ति ही सत्त्व को परमात्मा या श्रीभगवान् के रूप में जान सकता है। परमेश्वर ही सभी प्राकृतिक घटनाओं के मूल कारण हैं। अतः उन्हें *सर्वकारण-कारणम्*—सभी कारणों का कारण—बताया गया है। हमें जो कुछ भी दिखाई पड़ता है उसका कुछ न कुछ कारण है और जो कोई समस्त कारणों के मूल कारण, श्रीकृष्ण, को देख सकता है, वही वास्तव में देख सकता है। सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण ही प्रत्येक वस्तु की पृष्ठभूमि में हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में वे स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है और यह सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत का बारम्बार सृजन और संहार होता है।"

करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं
यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः ।
माया यथायो भ्रमते तदाश्रयं
ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; विश्व—ब्रह्मांड की; स्थिति—भरण; संयम—विलोप; उदयम्—सृष्टि; यस्य—जिसका; ईप्सितम्—वांछित; न—नहीं; ईप्सितम्—वांछित; ईक्षितुः—ऊपर से देखने वाले का; गुणैः—गुणों के द्वारा; माया—माया; यथा—जितना; अयः—लोहा; भ्रमते—भ्रमण करता है; तत्-आश्रयम्—उसके निकट स्थित; ग्राव्णः—चुम्बक पत्थर; नमः—नमस्कार; ते—आपको; गुण-कर्म-साक्षिणे—भौतिक प्रकृति की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के साक्षी।

हे प्रभो, आप इस भौतिक जगत की सृष्टि, पालन या संहार के इच्छुक नहीं हैं, किन्तु बद्धजीवों के लिए अपनी सृजनात्मक शक्ति के द्वारा इन क्रियाओं को निष्पादित करते हैं। जिस प्रकार चुम्बक-पत्थर के प्रभाव से लोहे का टुकड़ा घूमता है ठीक उसी प्रकार जब आप समस्त माया पर दृष्टि फेरते हैं, तो सारे जड़ पदार्थ गति करने लगते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी मन में यह प्रश्न उठता है कि भगवान् ने जीवों के लिए अनेक प्रकार के कष्टों से पूर्ण इस भौतिक जगत की सृष्टि क्यों की है। यहाँ यह उत्तर दिया गया है कि श्रीभगवान् जीवों को कष्ट भोगने मात्र के लिए भौतिक जगत की सृष्टि नहीं करना चाहते। परमेश्वर तो बद्धआत्माओं के सुख-भोग के लिए इसकी सृष्टि करते हैं।

प्रकृति के कार्यकलाप स्वतः नहीं चलते रहते। प्रकृति (माया) पर भगवान् की दृष्टि पड़ने से ही प्रकृति उसी प्रकार आश्चर्यजनक तरीके से कार्यशील हो जाती है, जिस प्रकार कि चुम्बक पत्थर के कारण लोहे के टुकड़े इधर-उधर घुमने लगते हैं। चूँकि भौतिकतावादी विज्ञानी तथा नामधारी सांख्य दार्शनिक ईश्वर में विश्वास नहीं करते, इसलिए वे प्रकृति को बिना किसी अधीक्षक के कार्यशील होती मानते हैं। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। *चैतन्यचरितामृत* (आदि ६.१८-१९) में भौतिक जगत की उत्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—

यद्यपि सांख्य माने, 'प्रधान'—कारण।

जड़ हइते कभु नहे जगत-सृजन॥

निज सृष्टिशक्ति प्रभु संचारे प्रधाने।

ईश्वरेर शक्त्ये तबे हये त' निर्माणे॥

''नास्तिक सांख्य दार्शनिक सोचते हैं कि समग्र भौतिक शक्ति से विराट जगत की सृष्टि होती है, किन्तु वे गलती पर हैं। जड़ पदार्थ में गति करने की शक्ति नहीं होती, अत: यह स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकता। भगवान् अपनी सृजन शक्ति का भौतिक अवयवों में संचार करते हैं। तब भगवान् की शक्ति से द्रव्य गति करता है और परस्पर क्रिया करता है।'' सागर की तरंगें वायु द्वारा गतिशील होती हैं, वायु का सृजन आकाश से होता है और प्रकृति के त्रिगुणों के विक्षोभ से आकाश की उत्पत्ति होती है तथा वे त्रिगुण समग्र भौतिक शक्ति (माया) पर भगवान् की कृपादृष्टि से परस्पर क्रिया करते हैं। अत: सभी प्राकृतिक घटनाओं के मूलाधार श्रीभगवान् ही हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*मयाध्यक्षेणप्रकृति: सूयते सचराचरम्*)। इसकी व्याख्या *चैतन्यचरितामृत* (आदि .९-६१) में भी की गई है—

जगत्कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।

शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्णशक्त्ये प्रकृति हय गौण कारण।

अग्निशक्तये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल-जगत्कारण।

प्रकृति—कारण यैछे अजागलस्तन॥

''चूँकि प्रकृति जड़ रूप है, अत: यह भौतिक जगत का वास्तविक कारण नहीं हो सकती। भगवान् श्रीकृष्ण जड़ प्रकृति में अपनी शक्ति का संचार करके अनुग्रह प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण की शक्ति से प्रकृति गौण कारणस्वरूप है, जिस प्रकार से लोहा अग्नि की शक्ति से लाल होता है। अत: श्रीकृष्ण इस विराट जगत के मूल कारण हैं। प्रकृति बकरी के उस गलस्तन के तुल्य है, जिसमें से दूध नहीं निकलता।'' इस तरह वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों की यह भारी भूल है कि वे पदार्थ (जड़) को स्वतंत्र रूप से गतिशील मानते हैं।

प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणं मृधे
यो मां रसाया जगदादिसूकरः ।
कृत्वाग्रदंष्ट्रे निरगादुदन्वतः
क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभुमिति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

प्रमथ्य—वध करके; दैत्यम्—असुर को; प्रतिवारणम्—अत्यन्त शक्तिशाली प्रतियोगी; मृधे—युद्ध में; यः—वह जो; माम्—मुझको (पृथ्वी); रसायाः—रसातल में पड़ी हुई; जगत्—इस भौतिक जगत में; आदि-सूकरः—आदिसूकर रूप; कृत्वा—धारण करके; अग्र-दंष्ट्रे—दाँतों के अग्रभाग में; निरगात्—जल के बाहर लाया; उदन्वतः—गर्भोदक सागर से; क्रीडन्—खेलते हुए; इव—समान, सदृश; इभः—हाथी; प्रणता अस्मि—मैं आपके समक्ष नतमस्तक हूँ; तम्—उसको; विभुम्—भगवान् को; इति—इस प्रकार।

हे प्रभो, इस ब्रह्माण्ड में आदि शूकर रूप में आपने हिरण्याक्ष दैत्य के साथ युद्ध करके उसका संहार किया। फिर आपने अपने दाढ़ो के अग्र भाग से मुझ पृथ्वी को गर्भोदक सागर से उसी प्रकार ऊपर उठा लिया जैसे क्रीड़ारत गज जल में से कमल-पुष्प तोड़ लेता है। मैं आपके समक्ष नतमस्तक हूँ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "जम्बूद्वीप के निवासियों द्वारा भगवान् की स्तुति" नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

जम्बूद्वीप का वर्णन

इस अध्याय में भारतवर्ष के यशोगान के साथ ही किम्पुरुष वर्ष नामक भूखण्ड में भगवान् रामचन्द्र की आराधना का वर्णन है। किम्पुरुष वर्ष के निवासी भाग्यशाली हैं, क्योंकि वे भगवान् रामचन्द्र की आराधना उनके आज्ञाकारी सेवक हनुमान सहित करते हैं। भगवान् रामचन्द्र एक ऐसे अवतार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो अपने भक्तों की रक्षा तथा दुष्टों के वध करने के उद्देश्य से अवतरित होते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।* भगवान् रामचन्द परमेश्वर के अवतार के वास्तविक उद्देश्य को प्रस्तुत करते हैं और भक्तजन उनकी प्रेमपूर्वक दिव्य सेवा करने का सुयोग प्राप्त करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह तथाकथित सुख, ऐश्वर्य तथा शिक्षा का परित्याग करके पूर्णतः भगवान् के समक्ष आत्मसमर्पण कर दे, क्योंकि ये सब भगवान् को प्रसन्न करने के लिए तनिक भी सहायक नहीं होते। भगवान् तो केवल आत्मसमर्पण की क्रिया से प्रसन्न होते हैं।

जब देवर्षि नारद सार्वणि मनु को उपदेश देने के लिए अवतरित हुए तो उन्होंने भारतवर्ष के ऐश्वर्य का वर्णन किया। सार्वणि मनु तथा भारतवर्ष के निवासी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में संलग्न रहते हैं, जो सृष्टि, पालन और संहार के मूलरूप हैं और आत्मज्ञानी जनों द्वारा सदैव वंदित हैं। भारतवर्ष में भी अन्य भूखण्डों की भाँति अनेक नदियाँ तथा पर्वत हैं, किन्तु भारतवर्ष का विशेष महत्त्व इसलिए है, क्योंकि यहाँ पर वेदसम्मत वर्णाश्रम-धर्म प्रचलित है जो समाज को चार वर्णों तथा चार आश्रमों में वर्गीकृत करता है। यही नहीं, नारदमुनि के अनुसार यदि वर्णाश्रम धर्म के पालन में कोई क्षणिक बाधा भी पहुँचती है, तो तुरन्त ही उसको पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। वर्णाश्रम धर्म में दृढ़ रहने के कारण क्रम से परम पद की प्राप्ति और भौतिक बन्धन से छुटकारा मिलता है। वर्णाश्रम धर्म के नियमों के पालन से भक्तों की संगति का सुअवसर मिलता है, जिससे श्रीभगवान् के प्रति सेवाभाव की सुप्त प्रवृत्ति जागृत होती है और पापमय जीवन से छुटकारा मिल जाता है। तब मनुष्य को भगवान् वासुदेव की विशुद्ध भक्ति करने का अवसर प्राप्त होता है। भारतवासियों को ऐसा अवसर मिल सकने के कारण स्वर्ग में भी उनकी प्रशंसा की जाती है। यहाँ तक कि इस ब्रह्मांड के सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक में भी भारतवर्ष के स्थान की चर्चा अत्यन्त रुचिपूर्वक की जाती है।

इस ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में तथा विभिन्न योनियों में समस्त बद्धजीवों का विकास हो रहा है। इस प्रकार कोई भी जीव ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है, किन्तु उसे पुनः पृथ्वी पर उतरना होता है जैसाकि *श्रीमद्भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*)। यदि भारतवर्ष के वासी वर्णाश्रम धर्म का दृढ़ता से पालन करें और अपनी सुसुप्त कृष्णभावना को विकसित होने दें तो मृत्यु के पश्चात् उन्हें इस भौतिक जगत में लौटने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जहाँ सिद्ध आत्माओं द्वारा श्रीभगवान् की चर्चा सुनने को नहीं होती, चाहे व ब्रह्मलोक ही क्यों न हो, जीवात्मा के लिए अनुकूल स्थान नहीं है। यदि किसी ने भारतवर्ष में मनुष्य का जन्म लेकर आध्यात्मिक उन्नति का लाभ नहीं उठाया तो सचमुच ही उसकी स्थिति शोचनीय है। यदि भारतवर्ष की भूमि में कोई ''सर्वकाम'' भक्त है अर्थात् वह किसी भौतिक कामना की पूर्ति करना चाहता है, तो वह भी भक्तों की संगति करने से समस्त कामनाओं से मुक्त होकर अंत में शुद्ध भक्त बन जाता है और बिना किसी कठिनाई के भगवान् के धाम वापस पहुँच जाता है।

इस अध्याय के अन्त में श्रीशुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित् से जम्बूद्वीप के अन्तर्गत आठ उपद्वीपों का वर्णन किया है।

श्रीशुक उवाच

किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरणसन्निकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान्सह किम्पुरुषैरविरतभक्तिरुपास्ते. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; किम्पुरुषे वर्षे—किम्पुरुष नामक भूखण्ड में; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; आदि-पुरुषम्—समस्त कारणों के मूल कारण; लक्ष्मण-अग्र-जम्—लक्ष्मण के अग्रज (बड़े भ्राता); सीता-अभिरामम्—सीता माता को अत्यन्त प्रिय अथवा सीतादेवी के पति; रामम्—भगवान् रामचन्द्र को; तत्-चरण-सन्निकर्ष-अभिरतः—भगवान् राम के चरणकमलों की सेवा में सदैव तत्पर; परम-भागवतः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विख्यात महान् भक्त; हनुमान्—श्री हनुमानजी; सह—सहित; किम्पुरुषैः—किम्पुरुषवर्ष के निवासियों द्वारा; अविरत—निरन्तर; भक्तिः—भक्ति करने वाला; उपास्ते—पूजा करता है।

श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—हे राजन्, किम्पुरुषवर्ष में महान् भक्त हनुमान वहाँ के निवासियों सहित लक्ष्मण के अग्रज तथा सीतादेवी के पति भगवान् रामचन्द्र की सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं।

आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुपशृणोति स्वयं चेदं गायति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आर्ष्टि-षेणेन—किम्पुरुष वर्ष का प्रधान पुरुष आर्ष्टिषेण; सह—साथ; गन्धर्वैः—गन्धर्वों के द्वारा; अनुगीयमानाम्—जपे जाकर; परम-कल्याणीम्—परम कल्याण प्रदान करने वाली; भर्तृ-भगवत्-कथाम्—अपने पति (श्रीभगवान्) का यशोगान; समुपशृणोति—अत्यन्त मनोयोग से श्रवण करता है; स्वयम् च—स्वयं भी; इदम्—यह; गायति—गायन करता है।

गन्धर्वों का समूह सदा ही भगवान् रामचन्द्र के यशों का गान करता है। ऐसा गायन अत्यन्त मंगलकारी होता है। हनुमानजी तथा किम्पुरुषवर्ष के प्रधान पुरुष आर्ष्टिषेण अत्यन्त मनोयोग से इस यशोगान का निरन्तर श्रवण करते हैं। हनुमानजी निम्न मंत्रों का जप करते हैं।

तात्पर्य : पुराणों में भगवान् रामचन्द्र के सम्बन्ध में दो मत हैं। *लघुभागवतामृत* (.३४-३६) में मनु-अवतार वर्णन में इसकी पुष्टि हुई है।

वासुदेवादिरूपाणामवताराः प्रकीर्तिताः ।

विष्णु-धर्मोत्तरे रामलक्ष्मणाद्याः क्रमादमी ॥

पाद्मे तु रामो भगवान् नारायण इतीरितः ।

शेषश्चक्रं च शंखश्च क्रमात् स्युर्लक्ष्मणादय: ॥

मध्यदेशस्थितायोध्यापुरेऽस्य वसति: स्मृता।

महावैकुठलोके च राघवेन्द्रस्य कीर्तिता॥

विष्णु-धर्मोत्तर में वर्णित है कि रामचन्द्रजी तथा उनके भ्राता लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न क्रमश: वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के अवतार हैं। किन्तु *पद्म पुराण* का कथन है कि भगवान् रामचन्द्र नारायण के अवतार हैं और अन्य तीनों भाई शेष, चक्र तथा शंख के अवतार हैं। अत: श्रील बलदेव विद्याभूषण इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि *तदिदं कल्पभेदेनैव सम्भाव्यम्।* कहने का तात्पर्य यह कि ये मत विरोधाभासी नहीं हैं। किसी युग में अपने भाइयों सहित भगवान् रामचन्द्र वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के रूप में अवतरित होते हैं, तो अन्य युग में वे नारायण, शेष, चक्र तथा शंख का अवतार धारण करते रहते हैं। भगवान् रामचन्द्र का निवास स्थान इसी धरा पर स्थित अयोध्या मैं है। उत्तर प्रदेश के उत्तर में जिला फैजाबाद के अन्तर्गत अयोध्या नगर आज भी स्थित है।

ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ओम्—हे भगवान्; नमः—नमस्कार है; भगवते—श्रीभगवान् को; उत्तम-श्लोकाय—जिनकी अर्चना सदैव उत्तम श्लोकों से की जाती है; नमः—मेरा नमस्कार; आर्य-लक्षण-शील-व्रताय—जिसमें उत्तम पुरुषों के समस्त गुण विद्यमान हैं; नमः—मेरा नमस्कार; उपशिक्षित-आत्मने—आपको जिनकी इन्द्रियाँ वश में हैं; उपासित-लोकाय—जो समस्त श्रेणियों के लोगों द्वारा सदैव पूजित हैं; नमः—मेरा नमस्कार; साधु-वाद-निकषणाय—श्रीभगवान् को जो गुणों के परखने की कसौटी तुल्य हैं; नमः—मेरा नमस्कार; ब्रह्मण्य-देवाय—जो सुयोग्य ब्राह्मणों द्वारा पूजित हैं; महा-पुरुषाय—श्रीभगवान् को जो इस भौतिक सृष्टि का कारण होने की वज़ह से पुरुष-सूक्त द्वारा पूजित हैं; महा-राजाय—सभी राजाओं में श्रेष्ठ महाराज को; नमः—मेरा नमस्कार; इति—इस प्रकार।

हे प्रभो, मैं ॐ कार बीजमंत्र के जप से आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। मैं उन श्रीभगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जो उत्तम पुरुषों में सर्वाधिक हैं। आप आर्यजनों के समस्त उत्तम गुणों के भंडार हैं। आपके गुण तथा आचरण सदैव एकसमान रहने वाला है और आप अपनी इन्द्रियों तथा मन को सदैव अपने वश में रखने वाले हैं। सामान्य व्यक्ति की भाँति आप आदर्श चरित्र प्रस्तुत करके अन्यों को आचरण करना सिखाते हैं। कसौटी केवल स्वर्ण के गुण की परीक्षा करने में समर्थ है, किन्तु आप ऐसे स्पर्श-मणि हैं, जिससे समस्त उत्तम गुणों की परीक्षा

हो जाती है। आप भक्तों में अग्रणी ब्राह्मणों के द्वारा उपासित हैं। हे परम पुरुष, आप महाराजा हैं, अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् ।
प्रत्यक्प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥ ४॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—उस परम सत्य को; विशुद्ध—विशुद्ध, भौतिक प्रकृति के स्पर्श से दूर; अनुभव—अनुभव; मात्रम्—सच्चिदानन्द दिव्य देह; एकम्—एकमात्र; स्व-तेजसा—अपने तेज से; ध्वस्त—ध्वस्त; गुण-व्यवस्थम्—गुणों का प्रभाव; प्रत्यक्—दिव्य, भौतिक नेत्रों से अदृष्ट; प्रशान्तम्—धीर, विक्षोभरहित; सुधिया—कृष्णभावना से, जो भौतिक कामनाओं, कर्मों तथा कल्पनाओं से अप्रभावित है; उपलम्भनम्—उपलब्ध किया जा सकने वाला; हि—निस्सन्देह; अनाम-रूपम्—नाम तथा रूप रहित; निरहम्—अहंकाररहित; प्रपद्ये—मुझे नमस्कार करने दें।

भगवान् को, जिनका विशुद्ध रूप (सच्चिदानन्दविग्रह) भौतिक गुणों के द्वारा दूषित नहीं है, विशुद्ध चेतना के द्वारा ही देखा जा सकता है। वेदान्त में उसे अद्वितीय कहा गया है। अपने तेजवश वह भौतिक प्रकृति के कल्मष से अछूता है और भौतिक दृष्टि से पर है। अप्रभावित है, अतः वह दिव्य है। न तो वह कोई कर्म करता है, न उसका कोई भौतिक रूप अथवा नाम है। केवल श्रीकृष्णभावना में ही भगवान के दिव्य रूप के दर्शन किये जा सकते हैं। हमें चाहिए कि हम भगवान् रामचन्द के चरणकमलों में दृढ़तापूर्वक स्थित होकर उनको सादर नमन करें।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण अनेक रूपों में प्रकट होते हैं, जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (.३९) में कहा गया है—

रामादि मूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द की आराधना करता हूँ जो राम, नृसिंह जैसे अवतारों तथा उप-अवतारों के रूप में सदैव विराजमान हैं, किन्तु जो मूल रूप में भगवान् श्रीकृष्ण हैं और स्वयं भी अवतरित होते हैं।" कृष्ण विष्णुतत्त्व हैं, जिन्होंने अपने को विष्णु के नाना रूपों में विस्तारित किया है

जिनमें से भगवान् रामचन्द्र एक हैं। यह ज्ञातव्य है कि विष्णुतत्त्व को पक्षिराज गरुड़ अपने ऊपर रहन करते हैं और उनके चारों हाथों में भिन्न-भिन्न आयुध रहते हैं। अत: हमें संशय हो सकता है कि क्या रामचन्द्रजी भी उसी कोटि में आते हैं, क्योंकि उनको गरुड़ ने नहीं, वरन् हनुमानजी ने धारण किया था और उनके न तो चार भुजाएँ थीं, न ही उन्होंने शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किया था। अत: इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचन्द्र तथा श्रीकृष्ण में अन्तर नहीं है (*रामादिमूर्तिषु कला*)। यद्यपि श्रीकृष्ण मूल श्रीभगवान् हैं, किन्तु रामचन्द्रजी उनसे भिन्न नहीं हैं। भौतिक गुणों से अप्रभावित रहने के कारण भगवान् रामचन्द्र जी "प्रशान्त" हैं।

जब तक श्रीभगवान् के प्रति अगाध प्रेम नहीं होता, तब तक भगवान् रामचन्द्र की दिव्यता का महत्त्व समझ में नहीं आता। उन्हें भौतिक चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। चूँकि रावण जैसे असुरों के दिव्य दृष्टि नहीं होती, अत: वे भगवान् रामचन्द्र को सामान्य क्षत्रिय राजा मानते हैं। इसलिए रावण ने उनकी नित्य अर्धांगिनी सीतादेवी का अपहरण करना चाहा। किन्तु रावण सीतादेवी को उनके वास्तविक रूप में नहीं ले जा सका। ज्योंही रावण ने उनका स्पर्श किया, उन्होंने भौतिक रूप तो उसे समर्पित कर दिया, किन्तु अपने मूल रूप को बनाये रखा जो उसकी बुद्धि के परे था। इसलिए इस श्लोक में आगत *प्रत्यक् प्रशान्तं* यह सूचित करता है कि भगवान् रामचन्द्र तथा उनकी तेजस्वरूपा अर्धांगिनी सीतादेवी भौतिक शक्ति के प्रभाव से अपने को विलग रखते हैं।

उपनिषदों में कहा गया है—*यं एवैष वृणुते तेन लभ्य:।* परमात्मा का दर्शन उन्हीं को होता है जो उनकी भक्ति से ओतप्रोत हैं। *ब्रह्म-संहिता* (.३८) में कहा गया है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्त: सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदिपुरुष गोविन्द का भजन (पूजा) करता हूँ जो उन भक्तों द्वारा सदैव देखे जाते हैं जिनकी आँखों में प्रेम रूपी अंजन लगा होता है। वे भक्त के हृदय के भीतर अपने नित्य श्यामसुन्दर रूप में देखे जाते हैं।" इसी प्रकार *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है—*एतास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन।*

यहाँ *अनेन* शब्द से आत्मा एवं परमात्मा का अन्तर बताया गया है। *तिस्रो देवता* से यह सूचित होता है कि जीव-देह तीन भौतिक तत्त्वों—अग्नि, पृथ्वी तथा जल—से बनी हुअी है। यद्यपि परमात्मा जीवात्मा के हृदय में प्रवेश करता है, जो भौतिक शरीर कहलाता है किन्तु जीवात्मा की देह से कोई सरोकार नहीं रहता। इसलिए परमात्मा को *अनाम रूपं निरहम्* कहा गया है। परमात्मा की कोई भौतिक पहचान नहीं हैं, किन्तु जीवात्मा की होती है। जीवात्मा अपना परिचय भारतीय, अमरीकी या जर्मन कह कर दे सकता है, किन्तु परमात्मा का ऐसा कोई भौतिक नाम नहीं होता। जीवात्मा अपने नाम से भिन्न होता है, किन्तु परमात्मा ऐसा नहीं है। उसका नाम और वह स्वयं एक हैं। *निरहं* का यही तात्पर्य है। इसको तोड़ मरोड़ कर यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि परमात्मा अंहकार रहित या स्वरूपविहीन हैं। उनका परम दिव्य स्वरूप है। श्रील जीव गोस्वामी ने यही व्याख्या दी है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक दूसरा ही विवेचन किया है, जिसमें *निरहं* का अर्थ *निर्निश्चयेन अहं* है। *निरहं* का यह अर्थ नहीं कि भगवान् के कोई स्वरूप नहीं। वरन् *अहं* शब्द पर *बल* होने से यह सिद्ध होता है कि भगवान् का अपना स्वरूप है क्योंकि *निर्* का अर्थ केवल *नकारात्मक* न होकर पुष्टि करने वाला भी होता है।

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥ ॥

शब्दार्थ

मर्त्य—मनुष्य; अवतारः—जिसका अवतार; तु—तो भी; इह—इस लोक में; मर्त्य-शिक्षणम्—समस्त जीवों को, विशेष रूप से मनुष्य को शिक्षा देने के लिए; रक्षः-वधाय—रावण असुर को मारने के लिए; एव—निश्चय ही; न—नहीं; केवलम्—केवल, मात्र; विभोः—श्रीभगवान् का; कुतः—कहाँ से; अन्यथा—अन्यथा; स्यात्—होगा; रमतः—रमण करने वाले का; स्वे—अपने आप में; आत्मनः—ब्रह्माण्ड का आत्म-स्वरूप; सीता—भगवान् रामचन्द्र की पत्नी सीता का; कृतानि—वियोग के कारण उत्पन्न; व्यसनानि—समस्त दुख; ईश्वरस्य—श्रीभगवान् के।

राक्षसों के नायक रावण को यह वर प्राप्त था कि उसका वध मनुष्य ही कर सकता है, इसलिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र को मनुष्य रूप धारण करना पड़ा, किन्तु भगवान् रामचन्द्र का उद्देश्य मात्र रावण का वध करना ही नहीं था। वे तो मर्त्य-प्राणियों को यह शिक्षा देना चाहते थे कि भोग विलास अथवा पत्नी के चारों ओर केन्द्रित भौतिक सुख समस्त दुखों का कारण है। वे स्वयं में पूर्ण हैं और उन्हें किसी भी प्रकार का पश्चात्ताप नहीं है। अतः भला वे माता

सीता के अपहरण से क्या कष्ट भोगते?

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कहा गया है, इस जगत में श्रीभगवान् दो उद्देश्यों से मनुष्य रूप धारण करते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—असुरों का वध करने और अपने भक्तों की रक्षा करने के हेतु। भक्तों की रक्षा करने के लिए वे न केवल अपनी उपस्थिति से वरन् भक्ति पर दृढ़ रहने की शिक्षा देकर उन्हें तुष्ट करते हैं। भगवान् रामचन्द्र ने अपने भक्तों को यह शिक्षा दी कि वैवाहिक जीवन में प्रवेश न करना बेहतर है क्योंकि इसीसे ही सारे कष्ट झेलने पड़ते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (७.९.४) में पुष्टि की गई है—

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दु:खदु:खम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदु:खभाज:
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेतधीर: ॥

आत्मज्ञान में समुन्नत न होने वाले *कृपण,* जो ब्राह्मणों से सर्वथा विपरीत हैं, गृहस्थ जीवन स्वीकार करते हैं जिसमें संभोग की छूट है और वे पुन: पुन: इन्द्रियसुख भोगते हैं यद्यपि इस इन्द्रियसुख के पश्चात् उन्हें नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। भक्तों के लिए यह चेतावनी है। भक्तों को तथा सारे मानव समाज को यह शिक्षा देने के लिए ही श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीभगवान् होते हुए भी नाना प्रकार के कष्टों को सहा, क्योंकि माता सीता को उन्होंने अर्द्धांगिनी के रूप में स्वीकार किया था। निस्सन्देह, उन्होंने सारे कष्ट इसलिए झेले कि हमें शिक्षा मिले; वास्तव में उनके द्वारा पश्चात्ताप करने का कोई प्रयोजन नहीं था।

भगवान् की शिक्षाओं का एक दूसरा पक्ष यह भी है कि एक बार पत्नी बना लेने के बाद मनुष्य को सत्यनिष्ठ होकर पत्नी की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए। मानव समाज में दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं—वे जो धार्मिक नियमों का निष्ठा से पालन करते हैं तथा वे जो भक्त हैं। भगवान् रामचन्द्र अपने चरित्र से इन दोनों प्रकार के लोगों को यह बताना चाहते थे कि किस प्रकार धार्मिक नियमों का पालन करते हुए प्रिय तथा कर्तव्यनिष्ठ पति बना जा सकता है; अन्यथा भगवान् राम को इतने कष्ट उठाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। धार्मिक नियमों का पालन करने वालों को चाहिए कि वे अपनी पत्नी

की रक्षा करने में उपेक्षा न बरतें। हो सकता है कि ऐसा करने में कुछ कष्ट उठाने पड़ें, किन्तु पति को इन्हें सहना ही चाहिए। सत्यनिष्ठ पति का यही कर्तव्य है। अपने साक्षात् दृष्टान्त से भगवान् रामचन्द्रजी ने इस कर्तव्य का प्रदर्शन किया। भगवान् रामचन्द्र चाहते तो अपनी इच्छाशक्ति से हजारों सीताएँ उत्पन्न कर सकते थे, किन्तु सत्यनिष्ठ पति का कर्तव्य निभाने के लिए ही न केवल रावण से सीता की रक्षा की, वरन् रावण का पूरे परिवार के साथ संहार किया।

भगवान् रामचन्द्र की शिक्षाओं का एक पक्ष यह भी है कि भगवान् विष्णु तथा उनके भक्तों को भले ही ऊपर से सांसारिक यातनाएँ झेलनी पड़ें, किन्तु इन यातनाओं से उनका कोई सरोकार नहीं है। वे तो सभी परिस्थितियों में मुक्त पुरुष हैं। इसीलिए *श्रीचैतन्य भागवत* में कहा गया है—

यत देख वैष्णवेर व्यवहार दु:ख।

निश्चय जानिह ताहा परमानन्द-सुख॥

भक्ति में मग्न रहने के कारण वैष्णव सदैव दिव्य आनन्द का लाभ उठाता है। भले ही ऐसा लगे कि उसे भौतिक कष्ट है, किन्तु उसे दिव्य विरह अवस्था प्राप्त रहती है। प्रेमी तथा प्रेमिका को भले ही वियोग कष्टकर लगता हो, किन्तु वास्तव में यह होता है अत्यन्त आनन्ददायक। अत: सीतादेवी से भगवान् रामचन्द्र का वियोग तथा उसके बाद उनके द्वारा भोगी जाने वाली यातनाएँ एक प्रकार से उनके दिव्य-सुख को प्रकट करने वाली हैं। ऐसा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का अभिमत है।

न वै स आत्मात्मवतां सुहृत्तमः
सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान्वासुदेवः ।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत
न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; सः—वह; आत्मा—परम-आत्मा; आत्मवताम्—स्वरूपसिद्धों का; सुहृत्-तमः—सर्वश्रेष्ठ मित्र; सक्तः—आसक्त; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों के भीतर कोई भी; भगवान्—श्रीभगवान्; वासुदेवः—सर्वव्यापी भगवान्; न—नहीं; स्त्री-कृतम्—अपनी पत्नी के कारण प्राप्त; कश्मलम्—वियोग-दुख; अश्नुवीत—प्राप्त करेगा; न—नहीं; लक्ष्मणम्—रामचन्द्र के लघु भ्राता लक्ष्मण; च—भी; अपि—निश्चय ही; विहातुम्—परित्याग करना; अर्हति—समर्थ होता है।.

चूँकि भगवान् रामचन्द्र पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान वासुदेव हैं अत: वे इस भौतिक जगत से किसी प्रकार लिप्त नहीं हैं। वे सभी स्वरूपसिद्ध आत्माओं के परम प्रिय परमात्मा और उनके घनिष्ठ मित्र हैं। वे परम ऐश्वर्यवान् हैं। अत: पत्नी-विछोह के कारण उन्होंने न तो अधिक कष्ट

उठाये होंगे, न ही उन्होंने अपनी पत्नी तथा अपने लघु भ्राता लक्ष्मण का परित्याग किया। उनके लिए इन दोनों में किसी एक का भी परित्याग सर्वथा असम्भव था।

तात्पर्य : श्रीभगवान् की परिभाषा देते हुए हम यह कहते हैं कि वे छहों *ऐश्वर्यों*—धन, यश, बल, प्रभाव, रूप तथा त्याग—से युक्त हैं। इस भौतिक जगत से किसी प्रकार का लगाव न होने के कारण वे परित्यागी कहलाते हैं उनका लगाव वैकुण्ठ जगत और वहाँ की जीवात्माओं से है। भौतिक जगत के समस्त कार्यकलाप दुर्गादेवी की अध्यक्षता में संचालित होते हैं (*सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधन-शक्तिरेका। छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा*)। दुर्गा के रूप में भौतिक शक्ति के कठोर नियमों के अन्तर्गत सब कुछ घटता है। फलतः भगवान् इस भौतिक जगत से पूर्णतः विरक्त रहते हैं और उन्हें इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रहती। सीतादेवी का सम्बन्ध वैकुण्ठ जगत से है। इसी प्रकार लक्ष्मण संकर्षण के प्रकाश (स्वांश) रूप हैं और भगवान् रामचन्द्र स्वयं वासुदेव हैं।

चूंकि भगवान् सदा दिव्यता से युक्त हैं अतः उन का लगाव उन सेवकों से रहता है जो उनकी दिव्य सेवा करते हैं। वे ब्राह्मण-गुणों से नहीं, वरन् जीवन के सत्य से लगाव रखते हैं। निस्सन्देह उनका लगाव भौतिक गुणों से किसी प्रकार नहीं रहता। यद्यपि वे समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं, किन्तु जो आत्मसिद्ध हैं उनके समक्ष वे प्रकट होते हैं और अपने दिव्य भक्तों के लिए परमप्रिय हैं। चूँकि भगवान् रामचन्द्र ने मानव समाज को यह शिक्षा देने के लिए कि राजा को कितना कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिए, अवतार लिया था, अतः उन्होंने माता सीता तथा लक्ष्मण का बाह्यतः परित्याग किया, उन्होंने उनका वास्तविक परित्याग नहीं किया था। अतः हमें आत्मसिद्ध पुरुषों से भगवान् रामचन्द्र के कार्यों को सीखना चाहिए। तभी भगवान् के दिव्य कार्यों को समझा जा सकता है।

न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ्न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः ।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः ॥ ७॥

शब्दार्थ

न—न; जन्म—उच्च कुल में जन्म; नूनम्—निस्सन्देह; महतः—श्रीभगवान् का; न—न तो; सौभगम्—सौभाग्य; न—न तो; वाक्—शिष्टाचारपूर्वक बात करना; न—न तो; बुद्धिः—तीक्ष्ण बुद्धि; न—नहीं; आकृतिः—शरीर के अंग-प्रत्यंग; तोष-हेतुः—भगवान् के आनन्द का कारण; तैः—उक्त समस्त गुणों के द्वारा; यत्—क्योंकि; विसृष्टान्—अस्वीकृत; अपि—यद्यपि;

नः—हमको; वन-ओकसः—वनवासी; चकार—स्वीकार किया; सख्ये—मित्रता से; बत—हाय; लक्ष्मण-अग्र-जः—लक्ष्मण के बड़े भाई, भगवान् श्रीरामचन्द्र ने।

उच्चकुल में जन्म धारण करने, शारीरिक सौन्दर्य, वाक्चातुरी, तीक्ष्ण बुद्धि या श्रेष्ठ जाति अथवा राष्ट्र जैसे भौतिक गुणों के कारण कोई चाह कर भी भगवान् रामचन्द्र से मैत्री स्थापित नहीं कर सकता। उनसे मित्रता स्थापित करने के लिए इन गुणों की आवश्यकता नहीं है, अन्यथा भला हम असभ्य वनवासियों को, बिना उच्च कुल में जन्म लिये तथा रूप-रंग न होते हुए और भद्र पुरुषों की भाँति बात कर सकने में सक्षम न होने पर भी अपने मित्रों के रूप में क्यों स्वीकार करते?

तात्पर्य : श्रीमती कुन्तीदेवी ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उन्हें *अकिंचन-गोचर* कहा है। *अ* उपसर्ग का अर्थ है नहीं और *किंचन* का अर्थ होता है इस भौतिक जगत से सम्बन्धित। कोई अपने उच्च पद, सम्पत्ति, रूप, शिक्षा इत्यादि का कितना ही गर्व क्यों न करे, श्रीभगवान् के साथ मित्रता स्थापित करने में इनका कोई महत्त्व नहीं है, भले ही भौतिक आचार-विचार में इन गुणों को प्रधानता प्राप्त हो। जिनमें ये समस्त गुण होते हैं, उनसे भक्त बनने की आशा की जाती है और वैसा करने पर इन गुणों का सदुपयोग होता है। किन्तु जो उच्च जन्म, सम्पत्ति, शिक्षा तथा रूप से गर्वित हो उठते हैं (*जन्मैश्वर्य-श्रुत-श्री*) वे दुर्भाग्यवश न तो कृष्णभावनामृत की ओर उन्मुख होते हैं और न श्रीभगवान् को ही इन भौतिक गुणों की कोई परवाह है। श्रीभगवान् को तो भक्ति से प्राप्त किया जाता है (*भक्त्या मामभिजानाति*)। श्रीभगवान् की सेवा करने के लिए भक्ति तथा उत्कट कामना ही पर्याप्त हैं। रूप गोस्वामी ने भी यही कहा है कि भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उत्कटता ही पर्याप्त है (*लौल्यं एकं मूल्यम्*)। *चैतन्यभागवत* में कहा गया है—

खोलावेचा सेवकेर देख भाग्यसीमा।

ब्रह्मा शिव काँदे यार देखिया महिमा॥

धने-जने-पांडित्ये कृष्ण नाहि पाइ।

केवल भक्तिर वश चैतन्य-गोसाञि॥

"जरा खोलावेचा भक्त के परम भाग्य को तो देखो! उसकी महानता को देखकर ब्रह्माजी तथा शिव अश्रुपात करते हैं। किसी के पास चाहे कितनी ही शिष्य-सम्पत्ति, धन या विद्या क्यों न हो, उसे

इनसे भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती। श्री चैतन्य महाप्रभु तो केवल विशुद्ध भक्ति के वश में होते हैं।'' श्री चैतन्य महाप्रभु के परम आज्ञाकारी शिष्य का नाम खोलावेचा श्रीधर था, जिसका एकमात्र काम था केले की छाल के बने पात्र बेचना। उसे जितनी आमदनी होती उसका आधा वह गंगाजी की पूजा में व्यय कर देता था और शेष आधे से घर का काम चलाता था। कुल मिलाकर उस दरिद्र के पास एक झोपड़ी थी जिसकी छत टूटी थी और जिसमें अनेक छेद थे। वह पीतल के बर्तन नहीं खरीद सकता था, इसलिए वह लोहे के पात्र में जल पीता था। तो भी वह श्री चैतन्य महाप्रभु का परम भक्त था। वह एक ऐसा विशिष्ट उदाहरण है कि बिना किसी प्रकार के धन के भी कोई भगवान् का परम भक्त कैसे बन सकता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई भाव भौतिक ऐश्वर्य के माध्यम से श्रीकृष्ण अथवा श्री चैतन्य गोसाईं के चरणकमल की शरण नहीं प्राप्त कर सकता; वह शरण तो केवल विशुद्ध भक्तिभाव से प्राप्त की जा सकती है।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

''मनुष्य को चाहिए कि वह बिना किसी भौतिक लाभ या सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन के भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा दिव्य प्रेमाभक्ति से करे। यही विशुद्ध भक्ति है।''

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति ॥ ८॥

शब्दार्थ

सुरः—देवता; असुरः—असुर; वा अपि—अथवा; अथ—अतः; वा—अथवा; अनरः—मनुष्य के अतिरिक्त (पशु-पक्षी इत्यादि); नरः—मनुष्य; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से, हृदय से; यः—जो; सु-कृतज्ञम्—सरलता से आज्ञाकारी बनाया गया; उत्तमम्—सर्वोत्कृष्ट; भजेत—पूजा करनी चाहिए; रामम्—श्रीरामचन्द्र को; मनुज-आकृतिम्—मनुष्य रूप में प्रकट होकर; हरिम्—श्रीभगवान् को; यः—जो; उत्तरान्—उत्तरी भारत के; अनयत्—वापस ले गये; कोसलान्—कोशल देश, अयोध्यावासियों को; दिवम्—आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठ लोक में; इति—इस प्रकार।

अतः चाहे सुर हो या असुर, मनुष्य हो या मनुष्येतर प्राणी जैसे पशु या पक्षी, प्रत्येक को उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र की पूजा करनी चाहिए जो इस पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् की पूजा के लिए किसी कठोर तप या साधना की आवश्यकता नहीं है,

क्योंकि वे अपने भक्त की तुच्छ सेवा को भी स्वीकार करने वाले हैं। इस प्रकार से वे तुष्ट हो जाते हैं और उनके तुष्ट होते ही भक्त सफल हो जाता है। निस्सन्देह, श्रीरामचन्द्र अयोध्या के समस्त भक्तों को वैकुण्ठ धाम वापस ले गये।

तात्पर्य : भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने भक्तों के प्रति इतने दयालु हैं कि वे किसी के द्वारा, चाहे मनुष्य हो या कुछ और, थोड़ी भी सेवा किये जाने पर सरलता से प्रसन्न हो जाते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र की पूजा करने का यही लाभ है। ऐसा ही लाभ श्री चैतन्य महाप्रभु की पूजा करने से होता है। श्रीकृष्ण तथा श्रीरामचन्द्र ने कभी कभी क्षत्रियों की भाँति असुरों का वध करके अपनी दया का प्रदर्शन किया, किन्तु भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने असुरों तक को सहज ही भगवत्प्रेम प्रदान किया। श्रीभगवान् के समस्त अवतारों ने विशेषत: श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण तथा बाद में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने पूर्ववर्ती अनेक जीवात्माओं को मोक्ष प्रदान किया। अत: श्री चैतन्य महाप्रभु को *षड्भुज मूर्ति* के रूप में प्रदर्शित किया जाता है जो श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा श्री चैतन्य महाप्रभु इन तीनों का सम्मिलित रूप है। मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य भगवान् के इस षड्भुज-रूप श्री रामचन्द्र की दो भुजाएं, श्रीकृष्ण की दो और श्री चैतन्य महाप्रभु की दो भुजाएँ की आराधना से ही प्राप्त हो जाता है।

भारतेऽपि वर्षे भगवान्नरनारायणाख्य
आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया
तपोऽव्यक्तगतिश्चरति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

भारते—भारत; अपि—भी; वर्षे—भूभाग में; भगवान्—श्रीभगवान्; नर-नारायण-आख्य:—नर-नारायण के नाम से विख्यात; आ-कल्प-अन्तम्—कल्पान्त तक; उपचित—वर्धमान; धर्म—धर्म; ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—वैराग्य; ऐश्वर्य—सम्पदा; उपशम—इन्द्रिय-निग्रह; उपरम—अहंकार से मुक्ति; आत्म-उपलम्भनम्—आत्म-साक्षात्कार; अनुग्रहाय—अनुग्रह हेतु; आत्म-वताम्—आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को; अनुकम्पया—अहैतुकी दया से; तप:—तप; अव्यक्त-गति:—अकथनीय महिमामय; चरति—करता है।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे बोले—श्रीभगवान् की महिमा अकल्पनीय है। उन्होंने अपने भक्तों पर अनुग्रहवश उन्हें धर्म, ज्ञान, त्याग, अध्यात्म, इन्द्रिय-निग्रह तथा अहंकार से मुक्ति की शिक्षा प्रदान करने के लिए भारतवर्ष की भूमि में बदरिकाश्रम नामक स्थान पर अपने को नर-नारायण रूप में प्रकट किया है। वे आत्मज्ञान की सम्पदा से परिपूर्ण हैं और कल्पान्त तक तप में रत रहने वाले हैं। यही आत्म-साक्षात्कार की क्रिया है।

तात्पर्य : भारतवासी बदरिकाश्रम स्थित नर–नारायण के मन्दिर की यात्रा करके यह जान सकते हैं कि श्रीभगवान् किस प्रकार नर–नारायण के रूप में अवतरित हुए और जन–सामान्य को आत्म–साक्षात्कार प्राप्त करने की विधि समझाई। मात्र चिन्तन तथा संसारी कार्यों में मग्न रह कर आत्मानुभूति कर पाना असम्भव है। आत्म–साक्षात्कार एवं तपस्या के विषय में गम्भीर रहने की आवश्यकता होती है। दुर्भाग्यवश इस कलियुग के लोग तपस्या का अर्थ भी नहीं जानते। फलतः भगवान् ने श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में पतित आत्माओं को आत्म–साक्षात्कार प्राप्त करने की सरलतम विधि बताने के लिए अवतार लिया है, जिसे *चेतो–दर्पण मार्जनम्*—अर्थात् हृदय से मल को स्वच्छ करना कहा जा सकता है। यह विधि अत्यन्त सरल है। कोई भी श्रीकृष्ण–संकीर्तन—*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—का जप कर सकता है। इस युग में तथाकथित उच्च विज्ञान के अनेक रूप हैं—यथा नृविज्ञान, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, राष्ट्रवाद, उद्योगवाद, किन्तु यदि हम नर–नारायण द्वारा बताई गई सरल विधि का अनुसरण न करके इन वादों के निर्देशनानुसार अत्यधिक श्रम करेंगे तो हमारा अमूल्य मानव जीवन बेकार हो जायेगा। इस प्रकार हम ठगे जाएँगे और पथविमुख होंगे।

तं भगवान्नारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवत्प्रोक्ताभ्यां साङ्ख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्तिभावेनोपसरति इदं चाभिगृणाति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (नर-नारायण); भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली सन्त पुरुष; नारदः—नारद ऋषि; वर्ण-आश्रम-वतीभिः—चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के अनुयायियों द्वारा; भारतीभिः—भारतवर्ष नामक देश के; प्रजाभिः—वासियों द्वारा; भगवत्-प्रोक्ताभ्याम्—श्रीभगवान् द्वारा कथित; साङ्ख्य—सांख्य-योग द्वारा (भौतिक गुणों का विश्लेष्णात्मक अध्ययन); योगाभ्याम्—योग के अभ्यास द्वारा; भगवत्-अनुभाव-उपवर्णनम्—जो भगवत्-प्राप्ति की क्रिया को बताता है; सावर्णेः—सावर्णि मनु को; उपदेक्ष्यमाणः—उपदेश करते हुए; परम-भक्ति-भावेन—अत्यन्त भक्तिभाव से; उपसरति—भगवान् की सेवा करता है; इदम्—इसे; च—तथा; अभिगृणाति—जप करता है।

नारद पंचरात्र नामक अपने ग्रंथ में भगवान् नारद ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक बताया है कि किस प्रकार ज्ञान तथा योगक्रिया के द्वारा जीवन के परम लक्ष्य—भक्ति—को प्राप्त करने के लिए कार्य करना चाहिए। उन्होंने श्रीभगवान् की महिमा का भी वर्णन किया है। महर्षि नारद ने इस दिव्य साहित्य का उपदेश सावर्णि मनु को दिया, जिससे वह भारतवर्ष के उन वासियों को भगवान् की भक्ति प्राप्त करने की शिक्षा दे सकें, जो दृढ़तापूर्वक वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हैं। इस प्रकार नारद मुनि भारतवर्ष के अन्य निवासियों सहित नर-नारायण की सदा

सेवा करते हुए निम्नलिखित मंत्र का जप करते रहते हैं।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट घोषणा की है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

भारतवर्ष में मनुष्य जीवन के उद्देश्य की पूर्ति अथवा वास्तविक सफलता सहज ही प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि भारत वर्ष में जीवन-उद्देश्य तथा सफलता प्राप्ति की विधि सुस्पष्ट है। भारतवर्ष में प्राप्त होने वाले सुअवसर का लाभ लोगों को, विशेष रूप से उनको जो वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करने वाले हैं, उठाना चाहिए। यदि हम वर्णाश्रम धर्म के नियमों को—चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) को—स्वीकार करते हुए पालन नहीं करते तो जीवन में सफलता नहीं मिल सकती। दुर्भाग्यवश कलियुग के प्रभाव से प्रत्येक वस्तु की हानि हो रही है। भारतवर्ष के वासी धीरे-धीरे पतित म्लेच्छ तथा यवन बनते जा रहे हैं। तो फिर वे दूसरों को कैसे शिक्षा दे सकते हैं? इसीलिए इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को न केवल भारतवासियों के लिए, वरन् समस्त विश्व के मनुष्यों के लिए चलाया जा रहा है, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने घोषित किया है। अब भी समय है और यदि भारतवासी इस आन्दोलन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करें तो सारा जगत अधोगति को प्राप्त होने से बच सकता है। यह आन्दोलन *पंचरात्रिक विधि* के साथ ही *भागवत* विधि का पालन करता है, जिससे मनुष्य इस आन्दोलन का लाभ उठाकर अपने जीवन को सफल बना सके।

ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ओम्—हे परमेश्वर; नमः—मेरा सादर नमस्कार; भगवते—श्रीभगवान् को; उपशम-शीलाय—जिन्होंने इन्द्रियों को वश में कर लिया है; उपरत-अनात्म्याय—भौतिक जगत से विरक्त; नमः—नमस्कार; अकिञ्चन-वित्ताय—धनहीन व्यक्तियों के सम्पत्ति स्वरूप श्रीभगवान् को; ऋषि-ऋषभाय—ऋषियों में श्रेष्ठ को; नर-नारायणाय—नर नारायण को; परमहंस-परम-गुरवे—परमहंसों अर्थात् मुक्त पुरुषों के परम आदरणीय गुरु; आत्माराम-अधिपतये—आत्मारामों में श्रेष्ठ; नमः नमः—बारम्बार नमस्कार है; इति—इस प्रकार।

मैं समस्त सन्त पुरुषों में श्रेष्ठ श्रीभगवान् नर-नारायण को सादर नमस्कार करता हूँ। वे

अत्यन्त आत्मसंयमित तथा आत्माराम हैं, वे झूठी प्रतिष्ठा से परे हैं और निर्धनों की एकमात्र सम्पदा हैं। वे मनुष्यों में परम सम्माननीय समस्त परमहंसों के गुरु हैं और आत्मसिद्धों के स्वामी हैं। मैं उनके चरणकमलों को पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ।

गायति चेदम्—
कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते
न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः ।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते
तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

गायति—गाता है; च—तथा; इदम्—यह; कर्ता—करने वाला; अस्य—इस जगत का; सर्ग-आदिषु—सृष्टि, पालन तथा संहार का; यः—जो; न बध्यते—सृष्टिकर्ता या स्वामी के रूप में लिप्त नहीं है; न—नहीं; हन्यते—पीड़ित किया जाता है; देह-गतः अपि—मनुष्य के रूप में प्रकट होकर भी; दैहिकैः—भूख, प्यास, थकान जैसी शारीरिक यातनाओं के द्वारा; द्रष्टुः—सर्व द्रष्टा को; न—नहीं; दृक्—दृष्टि-शक्ति; यस्य—जिसकी; गुणैः—भौतिक गुणों के द्वारा; विदूष्यते—कलुषित हो जाता है; तस्मै—उसको; नमः—नमस्कार है; असक्त—अनासक्त श्रीभगवान् को; विविक्त—बिना प्यार के; साक्षिणे—सब का साक्षी।.

परम शक्तिमान ऋषि नारद नर-नारायण की आराधना निम्नलिखित मंत्र का जप करके करते हैं—''पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् इस दृश्य जगत के सृष्टिकर्ता, पालक और संहारक हैं, तो भी वे मिथ्या अभिमान से पूर्णतया मुक्त हैं। यद्यपि मूढ़ों के लिए उन्होंने हमारे समान शरीर धारण करना स्वीकार किया प्रतीत होता है, किन्तु उन्हें भूख, प्यास तथा थकान जैसे शारीरिक कष्ट नहीं सताते। यद्यपि वे सर्वद्रष्टा हैं, किन्तु जिन वस्तुओं को वे देखते हैं उनसे उनकी इन्द्रियाँ दूषित नहीं होती। मैं ऐसे अनासक्त, जगत के साक्षी, परमात्मास्वरूप श्रीभगवान् को बारम्बार नमस्कार करता हूँ।''

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण को ''सच्चिदानन्द विग्रह'' के रूप में वर्णित किया गया है। इस श्लोक में उनका विशेष वर्णन मिलता है। श्रीकृष्ण इस सम्पूर्ण विराट जगत के कर्ता हैं, किन्तु वे इससे अनासक्त रहते हैं। यदि हम गगनचुम्बी भवन का निर्माण करें तो हम इसके प्रति अत्यधिक आसक्त होंगे, किन्तु श्रीकृष्ण इतने अनासक्त हैं कि सब कुछ उत्पन्न करके भी किसी वस्तु से लिप्त नहीं हैं (*न बध्यते*)। यही नहीं, श्रीकृष्ण का दिव्य रूप सच्चिदानन्द विग्रह है। उन्हें दैहिक आवश्यकताएँ नहीं सतातीं। उदाहरणार्थ, न तो उन्हें भूख लगती है, न प्यास, न थकावट (*न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकै*)। सचमुच ही, चूँकि प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण की है, वे सब कुछ देखते हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं, किन्तु

दिव्य देह होने के कारण वे दृष्टि, दृष्टि की इन्द्रियों तथा दृष्टि प्रक्रिया से परे है। जब हम कोई सुन्दर वस्तु देखते हैं, तो उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। सुन्दर स्त्री को देखते ही पुरुष तुरन्त आकर्षित होता है और पुरुष को देखकर स्त्री आकृष्ट होती है। किन्तु श्रीकृष्ण इन समस्त दोषों से परे हैं। वे सर्वद्रष्टा हैं, उनकी दृष्टि दूषित नहीं होती (*न दृग् यस्य गुणैर्विदूष्यते*) अत: वे साक्षी हैं और कर्मों के मोह से पृथक् रहने वाले हैं। वे सदैव निर्लिप्त तथा पृथक् रहते हैं, वे मात्र साक्षी हैं।

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद यत् ।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो
भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवरः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; हि—निश्चयपूर्वक; योग-ईश्वर—हे समस्त योगशक्ति के स्वामी; योग-नैपुणम्—योगिक नियमों की साधना में दक्ष; हिरण्य-गर्भः—भगवान् ब्रह्मा; भगवान्—सर्वशक्तिमान; जगाद—कहा; यत्—जो; यत्—जो; अन्त-काले—मृत्यु के समय; त्वयि—तुममें (आप में); निर्गुणे—सत्त्व; मनः—मन (मस्तिष्क); भक्त्या—भक्तिपूर्वक; दधीत—रखना चाहिए; उज्झित-दुष्कलेवरः—भौतिक शरीर के साथ ही अपना स्वरूप त्याग करके।

हे योगेश्वर, आत्माराम भगवान् ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) ने योगक्रिया के विषय में जो कुछ कहा है यह उसकी व्याख्या है। मृत्यु के समय सभी योगी आपके चरण-कमलों में अपना मन स्थापित करके अपने भौतिक शरीर को त्यागते हैं। यह योग सिद्धि है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

यस्य सम्यग् भगवति ज्ञानं भक्तिस्तथैव च।

निश्चिन्तस्तस्य मोक्षः स्यात् सर्वपापकृतोऽपि तु॥

''जो श्रीभगवान् की वास्तविक स्थिति समझने के उद्देश्य से अपने जीवनकाल में गम्भीरतापूर्वक भक्ति करता है उसकी इस जगत से मुक्ति निश्चित है, भले ही वह पापाचार क्यों न करता रहा हो।'' *भगवद्गीता* (९.३०) में भी इसकी पुष्टि की गई—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

''यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरी अनन्यभक्ति के परायण हो जाये, तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि वह मेरी एकान्त निष्ठा रूपी श्रेष्ठ निश्चय वाला है।'' इस जीवन का एकमात्र उद्देश्य

श्रीकृष्ण के विचारों तथा उसके रूप, लीलाओं, कार्यों और गुणों में पूर्णत: मग्न रहना है। यदि कोई इस प्रकार श्रीकृष्ण के विषय में चौबीसों घंटे सोच सकता है, तो वह पहले से मुक्त है (*स्वरूपेण व्यवस्थिति:*)। जहाँ भौतिकतावादी लोग सांसारिक विचारों तथा कार्यों में मग्न रहते हैं वहां भक्तजन श्रीकृष्ण के विचारों एवं उनकी क्रियाओं में डूबे रहते हैं। अत: वे मोक्ष के पद को पहले ही प्राप्त कर चुके होते हैं। मृत्यु के समय मनुष्य को चाहिए कि पूर्णत: श्रीकृष्ण के विचार में मग्न रहे। तभी वह श्रीभगवान् के धाम को निश्चित रूप से लौट सकेगा।

यथैहिकामुष्मिककामलम्पट:
सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन् ।
शङ्केत विद्वान्कुकलेवरात्ययाद्
यस्तस्य यत्न: श्रम एव केवलम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; ऐहिक—इस जीवन में; अमुष्मिक—भावी जीवन में; काम-लम्पट:—कामवासनाओं में लिप्त रहने वाला पुरुष; सुतेषु—सन्तान; दारेषु—पत्नी; धनेषु—सम्पत्ति में; चिन्तयन्—सोचते हुए; शङ्केत—भयभीत रहता है; विद्वान्—आत्मज्ञानी पुरुष; कु-कलेवर—इस मलमूत्र से पूरित शरीर का; अत्ययात्—क्षति के कारण; य:—जो कोई; तस्य—उसका; यत्न:—प्रयास; श्रम:—समय एवं शक्ति का अपव्यय; एव—निश्चय ही; केवलम्—मात्र, केवल।

सामान्य रूप से भौतिकतावादी जन अपने वर्तमान तथा भावी शारीरिक सुखों में अत्यन्त लिप्त रहते हैं। अत: वे अपनी पत्नी, सन्तान तथा सम्पत्ति के विचारों में सदैव मग्न रहते हैं और इस मलमूत्र से भरे हुए शरीर को त्यागने से भयभीत रहते हैं। यदि कृष्णभक्ति में संलग्न व्यक्ति भी अपने शरीर-त्याग से भयभीत हों तो फिर शास्त्रों के अध्ययन में किये श्रम का क्या लाभ? यह केवल समय की बरबादी है।

तात्पर्य : मृत्यु के समय भौतिकतावादी व्यक्ति अपनी पत्नी तथा सन्तान के विषय में सोचता रहता है। वह इसी सोच में डूबता-उतराता रहता है कि उसकी मृत्यु के बाद उनकी देखभाल कौन करेगा और वे कैसे रहेंगे। अत: वह कभी भी शरीर नहीं छोड़ना चाहता, वरन् वह जीवित रहकर अपने समाज, परिवार, मित्र इत्यादि की सेवा करते रहना चाहता है। अत: उसे चाहिए कि योगाभ्यास द्वारा ऐहिक सम्बन्धों से विरक्त हो जाये। यदि भक्तियोग की साधना तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन के पश्चात् भी मनुष्य इस कुदेह का जो मन के कष्टों की जड़ है परित्याग करने से भयभीत होता है, तो आध्यात्मिक जीवन में उन्नति का प्रयास करने से क्या लाभ? योग साधना का रहस्य शारीरिक लगाव से

मुक्त होना है। श्रील नरोत्तदास ठाकुर का कथन है कि *देह-स्मृति नाहि यार, संसार-बंधन काहाँ तार*—जिसके अभ्यास से दैहिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाती है उसे अधिक काल तक बद्ध जीवन नहीं बिताना पड़ता। ऐसे व्यक्ति का बन्धन से छुटकारा हो जाता है। कृष्णभावनामृत में लगे व्यक्ति को बिना किसी भौतिक आसक्ति के पूर्णरूपेण अपना भक्तिकार्य संपन्न करना चाहिए। तभी उसकी मुक्ति निश्चित है।

तन्नः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां
त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां
विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावमिति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; नः—हमारी; प्रभो—हे प्रभो; त्वम्—आप (तुम); कु-कलेवर-अर्पिताम्—मलमूत्र से पूरित इस बुरे शरीर में लगे हुए; त्वत्-मायया—आपकी माया से; अहम्-ममताम्—"मैं और मेरा" का विचार; अधोक्षज—हे सत्त्व; भिन्द्याम—त्याग सकता है; येन—जिससे; आशु—शीघ्र ही; वयम्—हम; सुदुर्भिदाम्—जिसको त्याग पाना दुष्कर है; विधेहि—कृपया प्रदान करें; योगम्—क्रिया; त्वयि—आपको; नः—हमारा; स्वभावम्—जो स्थिर मन के द्वारा जाना जाता है; इति—इस प्रकार।

अतः हे प्रभो, हे अधोक्षज, कृपा करके हमें भक्तियोग साधने की शक्ति प्रदान करें जिससे हम अपने अस्थिर मन को वश में करके आप में लगा सकें। हम सभी आपकी माया से प्रभावित हैं, अतः हम मलमूत्र से पूरित शरीर तथा इससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के प्रति अत्यधिक समर्पित हैं। इस आसक्ति को त्यागने का एकमात्र उपाय भक्ति है, अतः आप हमें यह वर दें।

तात्पर्य : *भवद्गीता* में श्रीकृष्ण का उपदेश है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* सदैव श्रीकृष्ण का चिन्तन, भक्ति में व्यस्तता, सदैव श्रीकृष्ण की पूजा और उनको नमस्कार करना—ये पूर्ण योगक्रिया के अन्तर्गत आते हैं। इस योगक्रिया को किये बिना इस मल-मूत्र पूरित शरीर के प्रति मोह को त्याग पाना दुष्कर है। योग की सिद्धि इसी में हैं कि देह के प्रति जो भी मोह है उसे श्रीकृष्ण के प्रति आसक्ति में परिणत कर दिया जाये। हम सांसारिक सुख में अत्यधिक लिप्त हैं, किन्तु जब हम श्रीकृष्ण के प्रति वैसी आसक्ति उत्पन्न कर लेते हैं, तो हमारे उद्धार का मार्ग प्रशस्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि इसी योग-प्रक्रिया का पालन करे।

भारतेऽप्यस्मिन्वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति बहवो मलयो मङ्गलप्रस्थो मैनाकस्त्रिकूट ऋषभः कूटकः कोल्लकः सह्यो देवगिरिरृष्यमूकः श्रीशैलो वेङ्कटो महेन्द्रो वारिधारो विन्ध्यः शुक्तिमानृक्षगिरिः पारियात्रो द्रोणश्चित्रकूटो गोवर्धनो रैवतकः ककुभो नीलो गोकामुख इन्द्रकीलः कामगिरिरिति चान्ये च शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसङ्ख्याताः. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भारते—भारतवर्ष में; अपि—भी; अस्मिन्—इस; वर्षे—भूभाग में; सरित्—नदियाँ; शैलाः—पर्वत; सन्ति—हैं; बहवः—अनेक; मलयः—मलय; मङ्गल-प्रस्थः—मंगलप्रस्थ; मैनाकः—मैनाक पर्वत; त्रि-कूटः—त्रिकूट पर्वत; ऋषभः—ऋषभ; कूटकः—कूटक; कोल्लकः—कोल्लक; सह्यः—सह्य; देवगिरिः—देवगिरि; ऋष्य-मूकः—ऋष्यमूक; श्री-शैलः—श्रीशैल; वेङ्कटः—वेंकट; महेन्द्रः—महेन्द्र; वारि-धारः—वारिधार; विन्ध्यः—विन्ध्याचल; शुक्तिमान्—शुक्तिमान्; ऋक्ष-गिरिः—ऋक्षगिरि; पारियात्रः—पारियात्र; द्रोणः—द्रोण; चित्र-कूटः—चित्रकूट; गोवर्धनः—गोवर्धन; रैवतकः—रैवतक; ककुभः—ककुभ; नीलः—नील; गोकामुखः—गोकामुख; इन्द्रकीलः—इन्द्रकील; काम-गिरिः—कामगिरि; इति—इस प्रकार; च—तथा; अन्ये—अन्य; च—भी; शत-सहस्रशः—सैकड़ों तथा हजारों; शैलाः—पर्वत; तेषाम्—उनके; नितम्ब-प्रभवाः—ढालों से उत्पन्न; नदाः—बड़ी-बड़ी नदियाँ; नद्यः—छोटी नदियाँ; च—और; सन्ति—हैं; असङ्ख्याताः—असंख्य।

इलावृत-वर्ष की भाँति ऋक्ष गिरि, पारियात्र, द्रोण, चित्रकुट, गोवर्धन, ऐवतक, भारतवर्ष में भी अनेक पर्वत और नदियाँ हैं। कुछ पर्वत इस प्रकार हैं—मलय, मंगलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट, ऋषभ, कूटक, कोल्लक, सह्य, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेंकट, महेन्द्र, वारिधारा, विन्ध्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष गिरि, पारियात्र, द्रोण, चित्रकूट, गोवर्धन, ऐैवतक, ककुभ, नील, गोकामुख, इन्द्रकील तथा कामगिरि। इनके अतिरिक्त अनेक पहाड़ियाँ हैं जिनकी ढालों से अनेक बड़ी तथा छोटी नदियाँ निकलती हैं।

एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति; चन्द्रवसा ताम्रपर्णी अवटोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी शर्करावर्ता तुङ्गभद्रा कृष्णावेण्या भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्धः शोणश्च नदौ महानदी वेदस्मृतिरृषिकुल्या त्रिसामा कौशिकी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती सरयू रोधस्वती सप्तवती सुषोमा शतद्रूश्चन्द्रभागा मरुद्वृधा वितस्ता असिक्नी विश्वेति महानद्यः. ॥ १७१८ ॥

शब्दार्थ

एतासाम्—इन सबों का; अपः—जल; भारत्यः—भारतवर्ष के; प्रजाः—वासी; नामभिः—नामों से; एव—केवल; पुनन्तीनाम्—पवित्र बनाती हैं; आत्मना—मन; च—भी; उपस्पृशन्ति—स्पर्श करती हैं; चन्द्र-वसा—चन्द्रवसा; ताम्र-पर्णी—ताम्र-पर्णी; अवटोदा—अवटोदा; कृत-माला—कृतमाला; वैहायसी—वैहायसी; कावेरी—कावेरी; वेणी—वेणी; पयस्विनी—पयस्विनी; शर्करावर्ता—शर्करावर्ता; तुङ्ग-भद्रा—तुंगभद्रा; कृष्णा-वेण्या—कृष्णावेण्या; भीम-रथी—भीमरथी; गोदावरी—गोदावरी; निर्विन्ध्या—निर्विन्ध्या; पयोष्णी—पयोष्णी; तापी—तापी; रेवा—रेवा; सुरसा—सुरसा; नर्मदा—नर्मदा; चर्मण्वती—चर्मण्वती; सिन्धुः—सिन्धु; अन्धः—अन्ध; शोणः—शोण; च—तथा; नदौ—दो नदियाँ; महा-नदी—महानदी; वेद-स्मृतिः—वेदस्मृति; ऋषि-कुल्या—ऋषिकुल्या; त्रि-सामा—त्रिसामा; कौशिकी—कौशिकी; मन्दाकिनी—मन्दाकिनी; यमुना—यमुना; सरस्वती—सरस्वती; दृषद्वती—दृषद्वती; गोमती—गोमती; सरयू—सरयू; रोधस्वती—रोधस्वती; सप्तवती—सप्तवती; सुषोमा—सुषोमा; शत-द्रूः—शतद्रु; चन्द्रभागा—चन्द्रभागा; मरुद्वृधा—मरुद्वृधा; वितस्ता—वितस्ता; असिक्नी—असिक्नी; विश्वा—विश्वा; इति—इस प्रकार; महा-नद्यः—बड़ी नदियाँ।

नदियों में से दो नदियाँ—ब्रह्मपुत्र तथा शोण—नद अथवा महा नदियाँ कहलाती हैं। अन्य

प्रमुख बड़ी नदियाँ इस प्रकार हैं—चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी, अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शर्करावर्ता, तुंगभद्रा, कृष्णावेण्या, भीमरथी, गोदावरी, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी, मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रू, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्नी तथा विश्वा। भारतवर्ष के वासी इन नदियों का स्मरण करने से पवित्र रहते हैं। कभी-कभी वे इन नदियों के नामों का मंत्रवत् जाप करते हैं और कभी-कभी जाकर इनका स्पर्श और इनमें स्नान भी करते हैं। इस तरह भारतवर्ष के निवासी पवित्र होते रहते हैं।

तात्पर्य : ये समस्त नदियाँ दिव्य हैं। अत: इनके स्मरण, स्पर्श या स्नान से पवित्र हुआ जा सकता है। आज भी यह प्रथा चालू है।

अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभि: शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अस्मिन् एव वर्षे—इसी भूभाग (भारतवर्ष) में; पुरुषै:—पुरुषों के द्वारा; लब्ध-जन्मभि:—जन्म देने वालों के द्वारा; शुक्ल—सत्त्वगुण का; लोहित—रजोगुण का; कृष्ण—तमोगुण का; वर्णेन—वर्ण (विभाग) के अनुसार; स्व—स्वयं; आरब्धेन—प्रारम्भ किया हुआ; कर्मणा—कर्म के द्वारा; दिव्य—दिव्य, दैवी; मानुष—मानवीय; नारक—नारकीय; गतय:—गन्तव्य; बह्व्य:—अनेक; आत्मन:—स्वयं का; आनुपूर्व्येण—पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार; सर्वा:—समस्त; हि—निश्चय-पूर्वक; एव—निस्सन्देह; सर्वेषाम्—सबों का; विधीयन्ते—भाग्य में लिखा है; यथा-वर्ण-विधानम्—विभिन्न वर्णों के अनुसार; अपवर्ग:—मुक्ति का मार्ग; च—और; अपि—भी; भवति—सम्भव है।

इस भूभाग में जन्म लेने वाले व्यक्ति गुणों—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—के अनुसार विभाजित हैं। इनमें से कुछ अत्यन्त महान् व्यक्तियों के रूप में, कुछ सामान्य व्यक्तियों के रूप में और कुछ अत्यन्त निम्न व्यक्तियों के रूप में जन्म लेते हैं, क्योंकि भारतवर्ष में मनुष्य का विगत कर्म के अनुसार जन्म होता है। यदि प्रामाणिक गुरु के द्वारा किसी भी मनुष्य की स्थिति निश्चित की जाये और यदि उसे चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा चार आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के अनुसार भगवान् विष्णु की सेवा में रत होने का सही-सही प्रशिक्षण दिया जाये तो उसका जीवन सफल हो सकता है।

तात्पर्य : अधिक जानकारी के लिए *भगवद्गीता* (१४.१८ तथा १८.४२-४) देखना चाहिए। श्रील रामानुजाचार्य ने अपनी पुस्तक *वेदान्त संग्रह* में लिखा है—

एवंविधपराभक्तिस्वरूपज्ञानविशेषस्योत्पादकः पूर्वोक्ताहरहरुपचीयमानज्ञानपूर्वककर्मानुगृहीतभक्तियोग एव; यथोक्तं भगवता पराशरेण—वर्णाश्रमेति। निखिलजगदुद्धारणायावनितलेऽवतीर्णं परमब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमः स्वयमेतदुक्तवान्—''स्वकर्म-निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु'' ''यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥''

महर्षि पराशर मुनि ने *विष्णु-पुराण* (३८९) से उद्धरण देते हुए संस्तुति की है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पंथा नान्यत्के तत्तोषकारणम्॥

''वर्णाश्रम प्रणाली में उल्लिखित कर्तव्यों के सही-सही पालन द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु की आराधना की जाती है। भगवान् को तुष्ट करने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।'' भारतवर्ष में वर्णाश्रम-धर्म का सरलता से पालन हो सकता है। इस समय भारतवर्ष के कुछ आसुरी वर्ण वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली की उपेक्षा कर रहे हैं। चूँकि लोगों को यह शिक्षा देने के लिए कि किस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बना जा सकता है या ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी कैसे बना जाता है कोई संस्था नहीं है, अतः ये असुर वर्गहीन समाज चाहते हैं। इससे अव्यवस्था उत्पन्न हो रही है। धर्मनिरपेक्ष सरकार के नाम पर अयोग्य व्यक्ति सर्वोच्च शासकीय पद हथिया रहे हैं। किसी को भी वर्णाश्रम-धर्म के नियमों के अनुसार कार्य करने की शिक्षा नहीं दी जा रही है, जिससे मनुष्य अत्यन्त पतित हो कर पशु-जीवन की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। जीवन का मुख्य उद्देश्य मुक्ति है, किन्तु दुर्भाग्यवश मनुष्यों को मुक्ति का अवसर नहीं दिया जाता जिससे उनका जीवन विनष्ट हो रहा है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन सम्पूर्ण विश्व में वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली की पुनः-स्थापना करने और मानव समाज को नारकीय जीवन में गिरने से बचाने के लिए प्रवर्द्धित किया जा रहा है।

योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्गः. ॥ २०॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; असौ—उस; भगवति—श्रीभगवान् में; सर्व-भूत-आत्मनि—समस्त जीवात्माओं के परम आत्मा; अनात्म्ये—लगाव रहित; अनिरुक्ते—मन तथा वाणी से परे; अनिलयने—अन्य किसी पर आश्रित नहीं; परम-आत्मनि—परमात्मा में;

वासुदेवे—भगवान् वासुदेव, वसुदेव के पुत्र; अनन्य—अद्वय; निमित्त—कारण; भक्ति-योग-लक्षण:—शुद्ध भक्ति के लक्षणों से युक्त; नाना-गति—विभिन्न गन्तव्यों का; निमित्त—कारण; अविद्या-ग्रन्थि—अज्ञानरूपी बन्धन; रन्धन—काटने का; द्वारेण—साधन द्वारा; यदा—जब; हि—निस्सन्देह; महा-पुरुष—श्रीभगवान् का; पुरुष—भक्त के साथ; प्रसङ्गः—घनिष्ठ सम्बन्ध।

अनेकानेक जन्मों के पश्चात्, मनुष्य को अपने पुण्यकर्मों के फलित होने पर शुद्ध भक्तों की संगति का अवसर प्राप्त होता है। तभी उसके अज्ञानरूपी बन्धन की ग्रंथि, जो उसके नाना प्रकार के सकाम कर्मों के कारण जकडे रहती है, कट पाती है। भक्तों की संगति करने से धीरे-धीरे ऐसे भगवान् वासुदेव की सेवा में मन लगने लगता है, जो दिव्य हैं, भौतिक बन्धनों से मुक्त हैं, मन एवं वाणी से परे हैं तथा परम स्वतंत्र हैं। यही भक्तियोग अर्थात् भगवान् वासुदेव की भक्ति ही मुक्ति का वास्तविक मार्ग है।

तात्पर्य : ब्रह्म-साक्षात्कार मुक्ति का शुभारम्भ है तथा परमात्मा-साक्षात्कार मुक्ति की ओर एक पग और आगे है। किन्तु किसी को वास्तविक मुक्ति तभी मिलती है जब वह अपने आपको पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का शाश्वत दास मानने लगता है (*मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:*)। इस भौतिक जगत में देहात्मबुद्धि से प्रत्येक प्राणी उल्टी दिशा में कार्यशील रहता है। जब वह *ब्रह्मभूत* हो जाता है, तो उसे यह ज्ञान होता है कि वह देह नहीं है और जीवन का देहात्मबोध वृथा तथा उल्टी दिशा में ले जाने वाला है। तब उसकी भक्ति प्रारम्भ होती है। *भगवद्गीता* (१८.४) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और पूर्णतया आनन्दमय हो जाता है। वह न शोक करता है और न ही इच्छा ही करता है; वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है।'' भक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। जब मनुष्य श्रीभगवान् के सौन्दर्य से आकर्षित होता है और उसका मन उनके चरणकमलों में सदा लगा रहता है, तब उसे वे सारे विषय नहीं रुचते जिनसे आत्म-साक्षात्कार में बाधा पहुँचती हो। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त प्रकार के कार्यों के प्रति उसका आकर्षण जाता रहता है। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.७) में कहा गया है— *एष ह्येवानन्दयति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्न दृश्येऽनात्म्ये अनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति।* जब जीवात्मा यह समझ लेता है कि उसका सुख आत्म-साक्षात्कार पर निर्भर है

जो आनन्द का मूल तत्त्व है और जब वह निरन्तर सर्वोपरि भगवान् की सेवा में निरत रहता है। तो वह सिद्ध तथा आनन्दमय जीवन बिताने लगता है।

एतदेव हि देवा गायन्ति—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; देवाः—सभी देवता; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; अहो—अरे; अमीषाम्—भारतवर्ष के इन वासियों का; किम्—क्या; अकारि—किया गया; शोभनम्—पवित्र सुन्दर कार्य; प्रसन्नः—प्रसन्न; एषाम्—उन पर; स्वित्—अथवा; उत—कहा गया; स्वयम्—स्वयं; हरिः—श्रीभगवान्; यैः—जिसके द्वारा; जन्म—जन्म; लब्धम्—प्राप्त किया; नृषु—मानव समाज में; भारत-अजिरे—भारतवर्ष के प्रांगण में; मुकुन्द—मुक्तिदाता श्रीभगवान्; सेवा-औपयिकम्—सेवा करने का माध्यम, स्वरूप; स्पृहा—इच्छा; हि—निस्सन्देह; नः—हमारी।

चूँकि आत्मसाक्षात्कार के लिए मनुष्य-जीवन ही परम पद है, अतः स्वर्ग के सभी देवता इस प्रकार कहते हैं—इन मनुष्यों के लिए भारतवर्ष में जन्म लेना कितना आश्चर्यजनक है। इन्होंने भूतकाल में अवश्य ही कोई तप किया होगा अथवा श्रीभगवान् स्वयं इन पर प्रसन्न हुए होंगे। अन्यथा वे इस प्रकार से भक्ति में संलग्न क्योंकर होते? हम देवतागण भक्ति करने के लिए भारतवर्ष में मनुष्य जन्म धारण करने की मात्र लालसा कर सकते हैं, किन्तु ये मनुष्य पहले से भक्ति में लगे हुए हैं।

तात्पर्य : *चैतन्यचरितामृत* (आदि ९.४१) में इन तथ्यों की विशद व्याख्या है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

''जिसने भारत देश में मनुष्य का जन्म लिया है उसे अपना जीवन सार्थक बनाना चाहिए और परोपकार करना चाहिए।''

भारतवर्ष में भक्ति करने की अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। यहाँ के अनेक आचार्यों ने अपने अनुभवों का योगदान किया है और श्री चैतन्य महाप्रभु ने साक्षात् प्रकट होकर भारतवर्ष के वासियों को यह शिक्षा दी कि किस प्रकार परमार्थ जीवन में आगे बढ़ना और भगवान् की भक्ति में स्थिर होना चाहिए। सभी प्रकार से भारत देश विशिष्ट है, जहाँ भक्ति को सरलता में समझ कर अपने जीवन को सफल

बनाया जा सकता है। यदि कोई भक्ति में सफलता प्राप्त करके विश्व के अन्य भागों में भक्ति का उपदेश देता है, तो उससे विश्वभर के लोग लाभ उठा सकेंगे।

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
दार्नादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना ।
न यत्र नारायणपादपङ्कज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ है; दुष्करैः—अत्यन्त कठिन; नः—हमारा; क्रतुभिः—यज्ञों के करने से; तपः—तप से; व्रतैः—व्रत से; दान-आदिभिः—दान देने आदि से; वा—अथवा; द्युजयेन—स्वर्गलोक की प्राप्ति से; फल्गुना—तुच्छ; न—नहीं; यत्र—जहाँ; नारायण-पाद-पङ्कज—भगवान् नारायण के चरणकमल; स्मृतिः—स्मरण; प्रमुष्ट—खोया हुआ; अतिशय—अत्यधिक; इन्द्रिय-उत्सवात्—भौतिक इन्द्रियतृप्ति के कारण।

देवता आगे कहते हैं—वैदिक यज्ञों के करने, तप करने, व्रत रखने तथा दान देने जैसे दुष्कर कार्यों के करने के पश्चात् ही हमें स्वर्ग में निवास करने का यह पद प्राप्त हुआ है। किन्तु हमारी इस सफलता का क्या महत्त्व है? यहाँ हम निश्चय ही भौतिक इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त रहकर भगवान् नारायण के चरणकमलों का स्मरण तक नहीं कर पाते। अत्यधिक इन्द्रिय तृप्ति के कारण हम उनके चरणकमलों को लगभग विस्मृत ही कर चुके हैं।

तात्पर्य : भारत देश की इतनी महिमा है कि यहाँ जन्म लेने वाले को न केवल स्वर्गलोक का लाभ होता है वरन् वे सीधे भगवान् के धाम को वापस पहुँचते हैं। *भगवद्गीता* (९.२) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

"देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को, भूतों को पूजने वाले भूतों को और जो मेरे भक्त हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।" भारतवर्ष के वासी सामान्य रूप से वैदिक नियमों का पालन करते हैं, जिससे वे महान् यज्ञों को करते हुए स्वर्गलोकों को प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु इतनी बड़ी उपलब्धि का क्या लाभ? जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—यज्ञ, दान तथा अन्य पुण्यकर्मों के क्षीण होने पर मनुष्य को मर्त्यलोक में वापस आकर पुनः जन्म और मृत्यु के कष्टों का अनुभव करना होता है। किन्तु यदि कोई

कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो वह श्रीकृष्ण के पास वापस जा सकता है (*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*)। अत: देवताओं को भी इस बात का दुख है कि वृथा ही वे स्वर्गलोक के उच्च पद पर स्थित हैं। उन्हें इस बात का खेद है कि उनका जन्म भारतवर्ष में क्यों नहीं हुआ। इसके विपरीत वे उच्चस्तर इन्द्रियतृप्ति के लोभ में आकर मृत्यु के समय भगवान् नारायण के चरणकमलों को भूल जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि जिसने भारतवर्ष में जन्म धारण लिया है उसे श्रीभगवान् द्वारा दिये गये आदेशों का पालन करना होगा। *यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीभगवान् के धाम अर्थात् वैकुण्ठलोक या फिर गोलोक वृन्दावन वापस पहुँचे जहाँ वह श्रीभगवान् के संग आनन्दपूर्वक शाश्वत जीवन बिता सके।

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
सन्न्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कल्प-आयुषाम्—जो ब्रह्मा के समान कई कल्पों तक जीवित रहते हैं; स्थान-जयात्—स्थान अथवा लोकप्राप्ति की अपेक्षा; पुनः-भवात्—जन्म, मृत्यु और जरा की सम्भावना से; क्षण-आयुषाम्—ऐसे पुरुषों का जिनकी आयु केवल एक सौ वर्ष है; भारत-भू-जयः—भारतवर्ष में जन्म; वरम्—श्रेष्ठ है; क्षणेन—क्षणिक जीवन के लिए; मर्त्येन—शरीर के द्वारा; कृतम्—किया हुआ कार्य; मनस्विनः—जीवन के सार को ठीक से समझने वाले; सन्न्यस्य—श्रीकृष्ण के चरणकमलों में आत्म-समर्पण करते हुए; संयान्ति—प्राप्त करते हैं; अभयम्—चिन्तारहित; पदम्—धाम; हरेः—श्रीभगवान् का।

ब्रह्मलोक में करोड़ों-अरबों वर्ष की आयु प्राप्त करने की अपेक्षा भारतवर्ष में अल्पायु प्राप्त करना श्रेयस्कर है, क्योंकि ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेने के बाद भी बारम्बार जन्म तथा मरण के चक्र में पड़ना होता है। यद्यपि मर्त्यलोक के अन्तर्गत भारतवर्ष में जीवन अत्यन्त अल्प है, किन्तु यहाँ का वासी पूर्ण कृष्णभक्ति तक पहुँच सकता है और भगवान् के चरणकमलों में अर्पित होकर इस लघु जीवन में भी परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उसे वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है जहाँ न तो चिन्ता है, न भौतिक शरीर युक्त पुनर्जन्म।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु से इस कथन की पुष्टि होती है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

भारतवर्ष में जन्म ग्रहण करने वाले को श्रीकृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* में दिये गये सीधे उपदेशों का अध्ययन करने का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता है और इस तरह वह इस मानव जीवन में जो कुछ करना है, उसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय ले सकता है। मनुष्य को चाहिए कि वह निश्चित रूप से समस्त विकल्पों को त्याग कर श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण कर दे। श्रीकृष्ण तुरन्त ही उसके सारे विगत पापों के फल को दूर कर देंगे (*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः*)। अतः साक्षात् श्रीकृष्ण के वचनों को मानकर उनकी भक्ति करनी चाहिए। *मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु*—सदैव मेरा ही स्मरण करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। यह तो एक बालक के लिए भी अत्यन्त सुगम है। तो फिर इस पथ को क्यों न ग्रहण किया जाये? मनुष्य को चाहिए कि श्रीकृष्ण के उपेदशों का यथातथ्य पालन करे और इस प्रकार भगवद्धाम को प्राप्त करने की क्षमता ले (*त्यक्त्या देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*)। मनुष्य को चाहिए कि श्रीकृष्ण के पास जाकर सीधे उनकी सेवा में लग जाये। भारतवर्ष के वासियों के लिए यह सर्वोत्तम अवसर है। जो ईश्वर के धाम लौटने के योग्य होता है उसे अच्छे या बुरे कर्म-फल नहीं भोगने पड़ते।

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्र—जहां; वैकुण्ठ-कथा-सुधा-आपगाः—समस्त चिन्ताओं को दूर करने वाले श्रीवैकुण्ठ अर्थात् श्रीभगवान् की अमृतमयी धारा के समान कथा; न—न तो; साधवः—भक्तजन; भागवताः—श्रीभगवान् की सेवा में निरन्तर तत्पर; तत्-आश्रयाः—श्रीभगवान् की शरण में गये; न—नहीं; यत्र—जहाँ; यज्ञ-ईश-मखाः—यज्ञों के स्वामी के प्रति की गई भक्ति; महा-उत्सवाः—जो वास्तविक उत्सव हैं; सुरेश-लोकः—स्वर्गवासियों का स्थान; अपि—यद्यपि; न—नहीं; वै—निश्चय ही; सः—उस; सेव्यताम्—सेवनीय।

जहाँ श्रीभगवान् की कथा रूपी विशुद्ध गंगा प्रवाहित नहीं होती और जहाँ पवित्रता की ऐसी नदी के तट पर सेवा में तल्लीन भक्तजन नहीं रहते, अथवा श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए जहाँ संकीर्तन-यज्ञ के उत्सव नहीं मनाये जाते, ऐसे स्थान में बुद्धिमान पुरुष के लिए रुचि नहीं होती। क्योंकि (इस युग में विशेषकर संकीर्तन-यज्ञ की संस्तुति की गई है)।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु का जन्म भारतवर्ष में, विशेष रूप से बंगाल के नदिया जिले में, हुआ

जहां नवद्वीप स्थित है। अत: श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ लोक यह पृथ्वी है और इसी पर भारतवर्ष स्थित है; भारतवर्ष में ही बंगाल है जो इससे उत्तम है, बंगाल में नदिया जिला उससे भी उत्तम है और नदिया में नवद्वीप सर्वोत्तम है, क्योंकि यहीं श्री चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन का शुभारम्भ करने के लिए हुआ। शास्त्रों का मत है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदं।

यज्ञै संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस: ॥

श्री चैतन्य महाप्रभु के साथ सदैव ही उनके पार्षद, यथा श्रीनित्यानंद, श्रीगदाधर तथा श्रीअद्वैत एवं श्रीवास जैसे अनेक भक्त रहते हैं। वे सदैव भगवन्नाम का कीर्तन और श्रीकृष्ण का गुण-गान करते हैं। इसीलिए भारतवर्ष विश्वभर में सर्वश्रेष्ठ स्थान है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन ने श्री चैतन्य महाप्रभु के जन्मस्थान मायापुर में अपना केन्द्र स्थापित कर रखा है, जिससे लोग वहाँ जायें और सतत चल रहे संकीर्तन-यज्ञ के उत्सव में भाग ले सकें जैसाकि महासंस्तुत है—यज्ञेष मखा महोत्सवा: तथा उन लाखों भूखे मनुष्यों को प्रसाद का वितरण कर सकें जो आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए लालायित हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। इसकी पुष्टि *चैतन्यभागवत* में इस प्रकार की गई है—''भले ही स्वर्ग क्यों न हो, यदि वहाँ श्रीभगवान् के यश प्रसार करने का प्रचार नहीं हो पाता, यदि भगवान् के शुद्ध भक्त वैष्णवों का वहाँ चिह्न नहीं मिलता और कृष्णभावनामृत को प्रचारित करने वाले उत्सव वहाँ नहीं मनाये जाते, तो मनुष्य को ऐसे स्थान की कामना नहीं करनी चाहिए। इससे अच्छा तो यही है कि सदा-सर्वदा माता के गर्भ में वास रहे, जहाँ कम से कम भगवान् के चरणकमलों का स्मरण तो हो सकता है। मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे ऐसे अधम स्थान में जन्म न लेना पड़े।'' इसी प्रकार *चैतन्यचरितामृत* में कृष्णदास कविराज का कथन है कि चूँकि श्री चैतन्य महाप्रभु ही संकीर्तन आन्दोलन के प्रवर्तक हैं, अत: जो भी भगवान् को प्रसन्न करने के लिए संकीर्तन करता है, वह अत्यन्त भाग्यशाली है। ऐसा मनुष्य परम बुद्धिमान है, जबकि अन्य लोग भौतिक जीवन की अविद्या से ग्रस्त हैं। वैदिक साहित्य में जितने भी यज्ञों का उल्लेख है उनमें संकीर्तन यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। एक सौ अश्वमेघ यज्ञों की भी तुलना संकीर्तन यज्ञ से नहीं की जा सकती, *चैतन्यचरितामृत* के लेखक के अनुसार यदि

कोई संकीर्तन यज्ञ की तुलना अन्य यज्ञों से करता है, तो वह पाखण्डी है और यमराज द्वारा दण्डित होगा। अनेक मायावादी संकीर्तन यज्ञ को अश्वमेध-यज्ञ तथा अन्य शुभ-आयोजनों के समान पवित्र कार्य मानते हैं, किन्तु ऐसा मानना नाम-अपराध है। मायावादी भले ही ऐसा सोचें, किन्तु नारायण के पवित्र नाम का संकीर्तन तथा अन्य नामों का संकीर्तन कभी भी एकसमान नहीं है।

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम् ।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

प्राप्ताः—जिन्होंने प्राप्त कर लिया है; नृ-जातिम्—मनुष्य समाज में जन्म; तु—निश्चय ही; इह—इस भारत देश में; ये—वे जो; च—भी; जन्तवः—जीव; ज्ञान—ज्ञान से; क्रिया—कर्म से; द्रव्य—पदार्थों के; कलाप—समूह से; सम्भृताम्—पूर्ण; न—नहीं; वै—निश्चित रूप से; यतेरन्—प्रयत्न; अपुनः-भवाय—अमर-पद के लिए; ते—ऐसे व्यक्ति; भूयः—पुनः; वनौकाः—पक्षियों; इव—जैसा; यान्ति—जाते हैं; बन्धनम्—बन्धन को।

भक्ति के लिए भारतवर्ष में उपयुक्त क्षेत्र तथा परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं, जिस भक्ति से ज्ञान तथा कर्म के फलों से मुक्त हुआ जा सकता है। यदि कोई भारतवर्ष में मनुष्य देह धारण करके संकीर्तन-यज्ञ नहीं करता तो वह उन जंगली पशुओं तथा पक्षियों की भाँति है जो मुक्त किये जाने पर भी असावधान रहते हैं और शिकारी द्वारा पुनः बन्दी बना लिए जाते हैं।

तात्पर्य : भारतवर्ष ऐसा देश है, जिसमें *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* वाले संकीर्तन यज्ञ को अथवा *स्मरणं अर्चनं दास्यं सख्यं* तथा *आत्मनिवेदनं* जैसी अन्य भक्ति-विधियों को सरलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। भारतवर्ष में ही अनेक पवित्र स्थानों को देखने का अवसर प्राप्त है जिनमें श्री चैतन्य महाप्रभु का जन्म-स्थान नवद्वीप तथा भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान वृन्दावन मुख्य हैं, जहाँ के अनेक शुद्ध भक्तों की एकमात्र अभिलाषा भक्ति है (*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*)। इस प्रकार से प्राणी भौतिक बन्धनों से छूट जाता है। अन्य मार्ग, यथा ज्ञान मार्ग तथा कर्म-मार्ग उतने लाभप्रद नहीं हैं। पुण्यकार्यों से स्वर्ग प्राप्त हो सकता है और ज्ञान-मीमांसा से ब्रह्मभूत हुआ जा सकता है, किन्तु यह वास्तविक लाभ नहीं, क्योंकि मनुष्य को पुनः नीचे आना पड़ता है। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् के धाम वापस पहुँचने के लिए प्रयास करे (*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*) अन्यथा मनुष्य जीवन तथा जंगली पशु-पक्षियों के जीवन में कोई अन्तर नहीं है। पशु तथा पक्षी भी स्वतंत्र होते

हैं, किन्तु निम्न योनि में जन्मने के कारण वे स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर पाते। अत: भारतवर्ष में जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य को जो भी सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनका उपयोग करते हुए उसे प्रबुद्ध भक्त बनकर भगवान् के धाम वापस जाना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही विषय है। भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य सभी देशों के वासियों को भौतिक सुख-सुविधाएँ तो प्राप्त हैं, किन्तु उन्हें कृष्णभक्ति प्राप्त करने की वैसी ही सुविधा प्राप्त नहीं है। अत: श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि जिस किसी ने भारत भूमि में मनुष्य रूप में जन्म लिया है उसे अपने आपको श्रीकृष्ण का अंश मानना चाहिए और कृष्णभावनामृत प्राप्त कर लेने के पश्चात् समग्र विश्व में इस ज्ञान का वितरण करना चाहिए।

यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हवि-
निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः ।
एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा
गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यैः—जिनके द्वारा (भारतवासी); श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; बर्हिषि—वैदिक यज्ञों के करने में; भागशः—विभाजन द्वारा; हविः—आहुति; निरुप्तम्—डाली गई; इष्टम्—इच्छित श्रीविग्रह को; विधि—विधिपूर्वक; मन्त्र—मंत्रोच्चार द्वारा; वस्तुतः—समुचित वस्तुओं सहित; एकः—एक श्रीभगवान्; पृथक्—भिन्न; नामभिः—नामों से; आहुतः—पुकारा हुआ; मुदा—अत्यधिक सुखपूर्वक; गृह्णाति—स्वीकार करता है; पूर्णः—परमेश्वर, जो स्वयं में पूर्ण है; स्वयम्—अपने आप में साक्षात्; आशिषाम्—समस्त आशीर्वादों का; प्रभुः—दाता।

भारतवर्ष में परमेश्वर द्वारा नियुक्त विभिन्न अधिकारी स्वरूप देवताओं—यथा इन्द्र, चन्द्र तथा सूर्य—के अनेक उपासक हैं, जिन सभी की पृथक्-पृथक् विधियों से पूजा की जाती हैं। उपासक इन देवताओं को पूर्ण ब्रह्म का अंश मानते हुए अपनी आहुतियाँ अर्पण करते हैं, फलतः श्रीभगवान् इन भेंटों को स्वीकार करते हैं और क्रमशः इन उपासकों की कामनाओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करके उन्हें शुद्ध भक्ति पद तक ऊपर उठा देते हैं। चूँकि श्रीभगवान् पूर्ण हैं, अतः वे उनको मनवांछित वर देते हैं, चाहे उपासक उनके दिव्य शरीर के किसी एक अंश की पूजा क्यों न करते हों।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.१३) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

"हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन तो मेरी दिव्य प्रकृति के आश्रित होकर और मुझे अविनाशी आदिपुरुष जानकर अनन्य चित्त से मेरी भक्ति के ही परायण रहते हैं।" *महात्मा* केवल भगवान् की उपासना करते हैं। किन्तु अन्य भी, जिन्हें कभी-कभी *महात्मा* कहा जाता है, भगवान् की उपासना *एकत्वेन पृथक्त्वेन* रूप में करते हैं। तात्पर्य यह है कि वे देवताओं को श्रीकृष्ण के विभिन्न अंश मानकर नाना प्रकार के वरों के लिए उपासना करते हैं। यद्यपि देवताओं के भक्तों को इस तरह कृष्णद्वारा प्रदत्त वांछित फल मिलते हैं, किन्तु *भगवद्गीता* में इन्हें *हृत-ज्ञान* अर्थात् अत्यधिक ज्ञानी नहीं कहा गया। श्रीकृष्ण नहीं चाहते कि उनकी देह के विभिन्न अंशों द्वारा उनकी अप्रत्यक्ष उपासना की जाये, वे तो प्रत्यक्ष भक्ति-उपासना के इच्छुक हैं। अत: ऐसा भक्त जो श्रीकृष्ण की उपासना *श्रीमद्भागवत* में बताई गई कठिन भक्ति साधना से (*तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्*) करते हैं उन्हें वे शीघ्र ही दिव्य-पद प्रदान करते हैं। फिर भी जो भक्त भगवान् के अंश रूप देवताओं की उपासना करते हैं, उन्हें मनवांछित फल प्राप्त होते हैं, क्योंकि सभी वरों के आदि-स्वामी भगवान् ही हैं। यदि कोई विशेष वर माँगता है, तो श्रीभगवान् के लिए ऐसा वर देना कोई कठिन काम नहीं होता।

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सचमुच; दिशति—देता है; अर्थितम्—अभीष्ट पदार्थ; अर्थितः—माँगने पर; नृणाम्—मनुष्यों के द्वारा; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अर्थ-दः—वर देनेवाला; यत्—जो; पुनः—फिर; अर्थिता—वर की कामनाएँ; यतः—जिससे; स्वयम्—साक्षात्; विधत्ते—प्रदान करता है; भजताम्—भगवान् की सेवा में निरत लोगों को; अनिच्छताम्—निष्काम भाव से; इच्छा-पिधानम्—समस्त वांछित वस्तुएँ; निज-पाद-पल्लवम्—अपने चरणकमलों पर।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उस भक्त की भौतिक कामनाओं की पूर्ति करते हैं, जो सकाम भाव से उनके पास जाता है, किन्तु वे भक्त को ऐसा वर नहीं देते जिससे वह अधिकाधिक वर माँगता रहे। फिर भी, भगवान् प्रसन्नतापूर्वक ऐसे भक्त को अपने चरणकमलों में शरण देते हैं, भले ही वह इसकी आकांक्षा न करे और शरणागत होने पर उसकी समस्त इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। यह श्रीभगवान् की विशेष अनुकम्पा है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में वर्णित भक्तजन श्रीभगवान् के पास सकाम भाव से पहुँचते हैं। इस

श्लोक में यह बताया गया है कि वे किस प्रकार उन कामनाओं से अलग रखे जा सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* का (२.३.१०) उपदेश है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी:।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

''चाहे भौतिक कामनाओं से मुक्त हो या उनसे पूर्ण अथवा परमात्मा से तदाकार होना (मोक्षकामी) चाहता हो, मनुष्य को चाहिए कि भक्ति करे।'' इससे न केवल भक्त की इच्छाएँ पूरी होंगी, वरन् एक दिन ऐसा आएगा जब वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहेगा। जो किसी उद्देश्य से भगवान् की सेवा करता है, वह *सकाम भक्त* कहलाता है और जो बिना किसी उद्देश्य के सेवा करता है, वह *अकाम भक्त* कहलाता है। श्रीकृष्ण इतने दयालु हैं कि वे *सकाम भक्त* को *अकाम भक्त* बना देते हैं। शुद्ध भक्त अथवा अकाम भक्त जिस में किसी प्रकार की कामना नहीं होती। वह तो भगवान् के चरणकमलों की सेवा करके ही सन्तुष्ट रहता है। *भगवद्गीता* (६.२२) में इसकी पुष्टि की गई है—*यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:*—श्रीभगवान् के चरणकमलों की सेवा में लगे रहने पर किसी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं रह जाती। यह भक्ति की सर्वोच्च अवस्था है। भगवान् सकाम-भक्त पर भी इतने दयालु रहते हैं और उसकी इच्छाओं को इस प्रकार पूर्ण करते हैं कि वह एक दिन अकाम भक्त बन जाता है। उदाहरणार्थ, ध्रुव महाराज अपने पिता से भी बढ़कर उत्तम राज्य प्राप्त करने के लिए भक्त बने। किन्तु अन्त में *अकाम भक्त* होकर उन्होंने भगवान् से कहा—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*—''हे स्वामी, मैं परम सन्तुष्ट हूँ, मैं केवल आपके चरणकमलों की सेवा करना चाहता हूँ। मुझे किसी सांसारिक लाभ की इच्छा नहीं है।'' कभी-कभी छोटा बालक गन्दी वस्तु को खाने लगता है, तो उसके माता-पिता उसके मुँह से उस वस्तु को निकाल कर उसे *संदेश* या कोई दूसरी मिठाई खाने को देते हैं। वह भक्त जो भौतिक वर की इच्छा करता है ऐसे ही बालक के तुल्य है। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे उसकी समस्त भौतिक कामनाओं को हर कर उसे सर्वोच्च वर प्रदान करते हैं। अत: भौतिक कामनाओं के लिए भी श्रीभगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य की पूजा नहीं करनी चाहिए। मनुष्य को भगवान् की ही भक्ति करनी चाहिए जिससे उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हों और अन्त में वह श्रीभगवान् के धाम वापस पहुँच सके। इसकी व्याख्या

चैतन्यचरितामृत (मध्य २२.३७-३९,४१) में इस प्रकार की गई है।

अन्यकामी—हो सकता है कि भक्त भगवान् के चरणकमलों के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की कामना करे; *यदि करे कृष्णेर भजन*—किन्तु यदि वह श्रीकृष्ण की सेवा में अपने को लगाता है, *ना मागितेह कृष्ण तारे देन स्व-चरण*—उसके न चाहने पर भी श्रीकृष्ण उसे अपने चरणकमलों में शरण देते हैं। *कृष्ण कहे*—श्रीकृष्ण कहते हैं; *आमा भजे*—वह मेरी सेवा में रत है। *मागे विषय-सुख*—तो भी इन्द्रिय सुख चाहता है; *अमृत छाड़ि' विष मागे*—ऐसा भक्त उस पुरुष के तुल्य है जो अमृत छोड़कर विष की याचना करता है; *एइ बड़ मूर्ख*—यही उसकी नादानी है, *आमी—विज्ञ* 'किन्तु मैं अनुभवी हूँ'; *इए मूर्खे 'विषय' केने दिब*—मैं ऐसे मूर्ख को भला क्योंकर भौतिक सुख जैसी गन्दी वस्तु देने लगा। स्व-चरणामृत मेरे लिए अच्छा होगा यदि मैं उसे अपने चरणकमलों में शरण दूं' *'विषय' भुलाइब*—मैं ऐसा करूँगा कि वह समस्त भौतिक कामनाओं को भूल जाये। *काम लागि, कृष्ण भजे*—यदि कोई इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् की सेवा में रत होता है। *पाय कृष्ण-रसे*—उसे अन्त में भगवान् के चरणकमलों की सेवा का स्वाद मिल जाता है; *काम छाड़ि 'दास' हैते हय अभिलाषे*—वह समस्त कामनाएँ छोड़कर भगवान् का चिरन्तन सेवक बनना चाहता है।

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं
स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् ।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्
वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; अत्र—इस स्वर्गलोक में; नः—हमारा; स्वर्ग-सुख-अवशेषितम्—स्वर्गिक सुख भोगने के बाद जो कुछ भी शेष रहता है; सु-इष्टस्य—पूर्ण यज्ञ का; सु-उक्तस्य—वैदिक साहित्य के पठन का; कृतस्य—सुकर्म का; शोभनम्—शेष कार्य; तेन—ऐसे कार्य से; अजनाभे—भारतवर्ष में; स्मृति-मत् जन्म—भगवान् के चरणों को स्मरण करने वाला जन्म; नः—हमारा; स्यात्—हो; वर्षे—देश में; हरिः—श्रीभगवान्; यत्—जिसमें; भजताम्—भक्तों का; शम् तनोति—कल्याण का प्रसार करता है।

यज्ञ, पुण्य कर्म, अनुष्ठान तथा वेदाध्ययन करते रहने के कारणस्वरूप हम स्वर्ग-लोक में वास कर रहे हैं, किन्तु एक दिन ऐसा आएगा जब हमारा भी अन्त हो जाएगा। हमारी प्रार्थना है कि उस समय तक यदि हमारे एक भी पुण्य शेष रहें तो हम मनुष्य रूप में भगवान् के चरणकमलों का स्मरण करने के लिए भारतवर्ष में जन्म लें। श्रीभगवान् इतने दयालु हैं कि वे

स्वयं भारतवर्ष में आते हैं और यहाँ के वासियों को सौभाग्य प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : निस्सन्देह, पुण्यकर्मों के फलस्वरूप ही स्वर्गलोक में मनुष्य जन्म लेता है, किन्तु वहाँ से उसे पुनः मर्त्यलोक में आना पड़ता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*)। यहाँ तक कि देवताओं को भी पुण्य क्षीण होने पर पृथ्वी पर लौट कर सामान्य व्यक्तियों की तरह कार्य करना होता है। तो भी, देवतागण भारतवर्ष की भूमि में आने की कामना करते रहते हैं। यदि उनके पुण्य कर्मों के फल का थोड़ा सा भाग भी बचा हो। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में जन्म लेने के लिए देवताओं से भी अधिक पुण्य करने पड़ते हैं। भारतवर्ष में स्वाभाविक रूप से मनुष्य कृष्णभावनाभावित रहता है और यदि श्रीकृष्ण की कृपा से वह आगे भी कृष्णभक्ति का अनुशीलन करता रहता है, तो वह कृष्णभक्ति में पारंगत बन कर और भगवान् के धाम को सरलता से वापस जाकर अपने सौभाग्य का विस्तार करता है। वैदिक साहित्य में अन्य कई स्थानों में उल्लेख मिलता है कि देवता भी भारतवर्ष की भूमि में आने के इच्छुक रहते हैं। केवल मूर्ख व्यक्ति ही अपने पुण्यकर्मों के बदले में स्वर्गलोक की कामना करेगा, अन्यथा देवता भी भारतवर्ष में आकर देह धारण करना चाहते हैं, जिससे इसका उपयोग कृष्णभावनामृत के अनुशीलन में किया जा सके। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु बारम्बार कहते हैं—

भारत भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

भारत भूमि में जन्म लेने वाले मनुष्य को कृष्णभक्ति अनुशीलन करने का विशेष अधिकार प्राप्त है। अतः जो पहले ही भारतवर्ष में जन्म ले चुके हैं, उनका कर्तव्य है कि वे शास्त्रों तथा गुरुओं से शिक्षा ग्रहण करें तथा कृष्णभावनामृत से पूर्णतया परिचित होने के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु की अनुकम्पा का लाभ उठाएँ। इस तरह कृष्णभावनामृत का पूरा-पूरा लाभ उठाकर श्रीभगवान् के धाम को वापस जाया जा सकता है (*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*)। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर में अनेक केन्द्रों की स्थापना करके मानव समाज को यह सुविधा प्रदान कर रहा है, जिससे जन-साधारण कृष्णभावनामृत आन्दोलन के शुद्ध भक्तों का संग कर सकें, कृष्णभावनामृत के विज्ञान को समझें, एवं अन्त में श्रीधाम को वापस जाँए।

श्रीशुक उवाच

जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति सगरात्मजैरश्वान्वेषण इमां महीं परितो निखनद्भिरुपकल्पितान् ॥ २९ ॥ तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्तनो रमणको मन्दरहरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; जम्बूद्वीपस्य—जम्बूद्वीप का; च—भी; राजन्—हे राजा; उपद्वीपान् अष्टौ—आठ उपद्वीप; ह—निश्चय ही; एके—कुछेक; उपदिशन्ति—विद्वान बताते हैं; सगर-आत्म-जैः—महाराज सगर के पुत्रों द्वारा; अश्व-अन्वेषणे—खोये हुए घोड़े को ढूँढते समय; इमाम्—इस; महीम्—भूभाग को; परितः—चारों ओर; निखनद्भिः—खोदते हुए; उपकल्पितान्—सृष्टि की; तत्—उस; यथा—निम्नलिखित प्रकार से; स्वर्ण-प्रस्थः—स्वर्ण-प्रस्थ; चन्द्र-शुक्लः—चन्द्रशुक्ल; आवर्तनः—आवर्तन; रमणकः—रमणक; मन्दर-हरिणः—मन्दरहरिण; पाञ्चजन्यः—पांचजन्य; सिंहलः—सिंहल; लङ्का—लंका; इति—इस प्रकार।

श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—हे राजन्, कुछ ज्ञानी पुरुषों के मत के अनुसार जम्बूद्वीप के चारों ओर आठ छोटे-छोटे द्वीप हैं। जब महाराज सगर के पुत्र अपने खोये हुए घोड़े की खोज सारे संसार में कर रहे थे, तो उन्होंने पृथ्वी को खोद डाला। इस प्रकार से निकटस्थ आठ द्वीप अस्तित्व में आए। इन द्वीपों के नाम हैं—स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पांचजन्य, सिंहल तथा लंका।

तात्पर्य : *कूर्म पुराण* में देवताओं की इच्छाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित कथन मिलता है—

अनधिकारिणो देवाः स्वर्गस्था भारतोद्भवम्।

वांछन्त्य् आत्मविमोक्षार्थमुद्रेकार्थेऽधिकारिणः ॥

यद्यपि देवता स्वर्गलोक में उच्च पदों पर आसीन हैं फिर भी वे मर्त्यलोक में भारतवर्ष की भूमि पर उतरने के लिए उत्सुक रहते हैं। इससे संकेत मिलता है कि देवता भी भारतवर्ष में रहने के लिए योग्य नहीं हैं। अतः यदि भारतवर्ष में जन्म लेने वाला प्राणी कुत्ते-बिल्ली की तरह रहे और इस भूमि में जन्म प्राप्त करने का लाभ न उठाए तो वह सचमुच ही अभागा है।

एवं तव भारतोत्तम जम्बूद्वीपवर्षविभागो यथोपदेशमुपवर्णित इति. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; तव—तुमसे; भारत-उत्तम—भरत के वंशजों में श्रेष्ठ; जम्बूद्वीप-वर्ष-विभागः—इस जम्बूद्वीप का प्रखण्ड; यथा-उपदेशम्—अधिकारियों से मुझे जितना ज्ञान प्राप्त है; उपवर्णितः—मैंने व्याख्या की; इति—इस प्रकार।

भरत महाराज के वंशजों में श्रेष्ठ, हे राजा परीक्षित्, मैंने जितना ज्ञान प्राप्त किया है, उसी के

अनुसार मैंने भारतवर्ष तथा उसके निकटवर्ती द्वीपों का वर्णन किया है। ये ही जम्बूद्वीप के उपद्वीप हैं।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''जम्बूद्वीप का वर्णन'' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

ब्रह्माण्ड रचना का विश्लेषण

इस अध्याय में प्लक्षद्वीप से प्रारम्भ करके विभिन्न द्वीपों तथा उनको घेरने वाले समुद्रों का वर्णन है। इसके अन्तर्गत लोकालोक नामक पर्वत की स्थिति और उसके आकार-प्रकार का भी वर्णन है। प्लक्षद्वीप विस्तार में जम्बूद्वीप से दुगुना है तथा लवण सागर से घिरा है। इस द्वीप का स्वामी इध्मजिह्व है जो महाराज प्रियव्रत के पुत्रों में से है। यह द्वीप सात विभागों में बँटा है और प्रत्येक में एक पर्वत तथा एक बड़ी नदी है।

दूसरा द्वीप शाल्मलिद्वीप कहलाता है। यह सुरा के समुद्र से घिरा है और ३,२००,००० मील चौड़ा अर्थात् प्लक्षद्वीप से दुगुना है। इस द्वीप का स्वामी महाराज प्रियव्रत के पुत्रों में से एक यज्ञबाहु है। प्लक्षद्वीप के ही समान यह भी सात भागों में बँटा है, जिनमें से प्रत्येक में एक पर्वत और एक बड़ी नदी है। इस द्वीप के वासी श्रीभगवान् की पूजा चन्द्रात्मा के रूप में करते हैं।

तीसरा द्वीप घृत के सागर से घिरा है और वह भी सात भागों में विभाजित है। यह कुशद्वीप कहलाता है। इसका स्वामी महाराज प्रियव्रत का अन्य पुत्र हिरण्यरेता है। इसके वासी अग्नि रूप में श्रीभगवान् की पूजा करते हैं। इस द्वीप की चौड़ाई ६,४००,००० मील अर्थात् शाल्मलिद्वीप से दुगुनी है।

चौथा द्वीप क्रौंचद्वीप है, जो दुग्ध सागर से घिरा है। इसकी चौड़ाई १,२८,००,००० मील है और यह भी अन्यों की तरह सात भागों में विभाजित है। इसके प्रत्येक भाग में एक पर्वत तथा एक बड़ी नदी है। इस द्वीप का स्वामी महाराज प्रियव्रत का ही एक पुत्र घृतपृष्ठ है। इस द्वीप के वासी जल के रूप में श्रीभगवान् की पूजा करते हैं।

पाँचवाँ द्वीप शाकद्वीप है जो २,६,००,००० मील चौड़ा और मट्ठे के समुद्र से घिरा है। इसका स्वामी मेधातिथि नामक महाराज प्रियव्रत का पुत्र है। यह द्वीप भी सात भागों में विभाजित है, जिसके प्रत्येक भाग में एक पर्वत तथा एक बड़ी नदी है। इसके वासी वायु रूप में श्रीभगवान् की पूजा करते हैं।

छठा द्वीप पुष्करद्वीप है जो पिछले वाले द्वीप से दुगुना चौड़ा है और निर्मल जल के समुद्र से घिरा हुआ है। इसका स्वामी वीतिहोत्र है जो महाराज प्रियव्रत का ही पुत्र है। यह द्वीप मानसोत्तर पर्वत द्वारा दो भागों में विभाजित है। इसके वासी श्रीभगवान् के ही अन्य रूप स्वयंभू ही पूजा करते हैं। इस द्वीप से भी आगे दो और द्वीप हैं जिनमें से एक सदैव सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित रहता है और दूसरा सदैव अंधकार से पूर्ण रहता है। इन दोनों द्वीपों के मध्य लोकालोक नामक पर्वत है जो ब्रह्माण्ड के सिरे से एक अरब मील दूर है। इस पर्वत पर भगवान् नारायण अपने ऐश्वर्य का विस्तार करते हुए निवास करते हैं। लोकालोक पर्वत से आगे का भाग अलोक वर्ष कहलाता है और इसके भी आगे मुक्ति से इच्छुक पुरुषों का निवासस्थान है।

सूर्य इस ब्रह्माण्ड के मध्य में, भूर्लोक तथा भुवलोक के बीचोंबीच अन्तरिक्ष में स्थित है। सूर्य तथा अण्डगोलक अर्थात् ब्रह्माण्ड गोलक के बीच की दूरी पच्चीस कोटि योजन (दो अरब मील) है। सूर्य को मार्तण्ड कहा जाता है, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके आकाश को विभाजित करता है और हिरण्यगर्भ, जो महत् तत्त्व का शरीर है, से उत्पन्न होने के कारण यह हिरण्यगर्भ भी कहलाता है।

श्रीशुक उवाच
अतः परं प्लक्षादीनां प्रमाणलक्षणसंस्थानतो वर्षविभाग उपवर्ण्यते. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; **अतः परम्**—इसके पश्चात्; **प्लक्ष-आदीनाम्**—प्लक्षद्वीप तथा अन्य द्वीप; **प्रमाण-लक्षण-संस्थानतः**—आकार-प्रकार, लक्षण तथा स्थिति की दृष्टि से; **वर्ष-विभागः**—द्वीप का विभाजन; **उपवर्ण्यते**—वर्णन किया जा रहा है।.

महर्षि शुकदेव गोस्वामी बोले—इसके पश्चात् मैं प्लक्षादि अन्य छः द्वीपों के आकार प्रकार, लक्षण तथा स्थिति का वर्णन करूँगा।

जम्बूद्वीपोऽयं यावत्प्रमाणविस्तारस्तावता क्षारोदधिना परिवेष्टितो यथा मेरुर्जम्ब्वाख्येन लवणोदधिरपि ततो द्विगुणविशालेन प्लक्षाख्येन परिक्षिप्तो यथा परिखा बाह्योपवनेन; प्लक्षो जम्बूप्रमाणो द्वीपाख्याकरो हिरण्मय उत्थितो यत्राग्निरुपास्ते सप्तजिह्वस्तस्याधिपतिः प्रियव्रतात्मज इध्मजिह्वः स्वं द्वीपं सप्तवर्षाणि विभज्य सप्तवर्षनामभ्य आत्मजेभ्य आकलय्य स्वयमात्मयोगेनोपरराम. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

जम्बू-द्वीपः—जम्बू नामक द्वीप, जम्बूद्वीप; अयम्—यह; यावत्-प्रमाण-विस्तारः—इसके विस्तार के तुल्य परिमाप अर्थात् १,००,००० योजन (एक योजन आठ मील के तुल्य है); तावता—इतना; क्षार-उदधिना—खारे सागर द्वारा; परिवेष्टितः—घिरा हुआ; यथा—जिस प्रकार; मेरुः—सुमेरु पर्वत; जम्बू-आख्येन—जम्बू नामक द्वीप से; लवण-उदधिः—लवण-सागर; अपि—निश्चय ही; ततः—तत्पश्चात्; द्वि-गुण-विशालेन—दुगुना विस्तृत; प्लक्ष-आख्येन—प्लक्ष नामक द्वीप से; परिक्षिप्तः—घिरा हुआ; यथा—सदृश; परिखा—खाई; बाह्य—बाहरी; उपवनेन—उद्यानवत् वन के द्वारा; प्लक्षः—प्लक्ष (पाकड़) वृक्ष; जम्बू-प्रमाणः—जम्बू वृक्ष जितना ऊँचा; द्वीप-आख्या-करः—द्वीप का नाम पड़ा; हिरण्मयः—अत्यन्त तेजमय; उत्थितः—ऊपर उठा हुआ; यत्र—जहाँ; अग्निः—अग्नि; उपास्ते—स्थित है; सप्त-जिह्वः—सात ज्वालाओं वाली; तस्य—उस द्वीप का; अधिपतिः—राजा अथवा स्वामी; प्रियव्रत-आत्मजः—राजा प्रियव्रत का पुत्र; इध्म-जिह्वः—इध्मजिह्व नामक; स्वम्—निजी; द्वीपम्—द्वीप; सप्त—सात; वर्षाणि—भूभागों में; विभज्य—विभाजित होकर; सप्त-वर्ष-नामभ्यः—जिन पर सातों भूभागों के नाम रखे गये; आत्मजेभ्यः—अपने पुत्रों को; आकलय्य—भेंट, अर्पण; स्वयम्—स्वतः; आत्म-योगेन—भगवान् की भक्ति द्वारा; उपरराम—समस्त भौतिक कार्यों से अवकाश ग्रहण कर लिया।.

जिस प्रकार सुमेरु पर्वत चारों ओर से जम्बूद्वीप द्वारा घिरा हुआ है, उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी लवण के सागर से घिरा है। जम्बूद्वीप की चौड़ाई १,००,००० योजन (८,००,००० मील) है और लवण का सागर भी इतना ही चौड़ा है। जिस तरह कभी-कभी दुर्ग की खाई उपवन से घिरी रहती है उसी प्रकार जम्बूद्वीप को घेरने वाला लवण-सागर भी प्लक्षद्वीप से घिरा हुआ है। प्लक्षद्वीप की चौड़ाई लवण के सागर से दुगुनी अर्थात् २,००,००० योजन (१६,००,००० मील) है। प्लक्षद्वीप में स्वर्ण के समान चमकीला एक वृक्ष है जो जम्बूद्वीप स्थित जम्बूवृक्ष के बराबर ऊँचा है। इसके मूल भाग में सात ज्वालाओं वाली अग्नि है। यह वृक्ष प्लक्ष का है, अतः इस द्वीप का नाम प्लक्षद्वीप पड़ा। यह द्वीप महाराज प्रियव्रत के एक पुत्र इध्मजिह्व द्वारा शासित था। उन्होंने सातों द्वीपों के नाम अपने सात पुत्रों के नामों पर रखे और उन्हें अपने पुत्रों को देकर, सक्रिय जीवन से अवकाश प्राप्त कर वे स्वयं श्रीभगवान् की सेवा में लीन रहने लगे।

शिवं यवसं सुभद्रं शान्तं क्षेमममृतमभयमिति वर्षाणि तेषु गिरयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः; मणिकूटो वज्रकूट इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान्सुपर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति सेतुशैलाः अरुणा नृम्णाङ्गिरसी सावित्री सुप्तभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरा इति महानद्यः; यासां जलोपस्पर्शनविधूतरजस्तमसो हंसपतङ्गोर्ध्वायनसत्याङ्गसंज्ञाश्चत्वारो वर्णाः सहस्रायुषो विबुधोपमसन्दर्शनप्रजननाः स्वर्गद्वारं त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमयं सूर्यमात्मानं यजन्ते. ॥ ३-४ ॥

शब्दार्थ

शिवम्—शिव; यवसम्—यवस; सुभद्रम्—सुभद्र; शान्तम्—शान्त; क्षेमम्—क्षेम; अमृतम्—अमृत; अभयम्—अभय; इति—इस प्रकार; वर्षाणि—सातों पुत्रों के नामों के अनुसार सात वर्ष; तेषु—उनमें; गिरयः—पर्वत; नद्यः च—और नदियाँ; सप्त—सात; एव—निस्संदेह; अभिज्ञाताः—जाने जाते हैं; मणि-कूटः—मणिकूट; वज्र-कूटः—वज्रकूट; इन्द्र-सेनः—इन्द्रसेन; ज्योतिष्मान्—ज्योतिष्मान्; सुपर्णः—सुपर्ण; हिरण्य-ष्ठीवः—हिरण्यष्ठीव; मेघ-मालः—मेघ-माल; इति—इस प्रकार; सेतु-शैलाः—वर्षों की सीमा बनाने वाली पर्वत श्रेणियाँ; अरुणा—अरुणा; नृम्णा—नृम्णा; आङ्गिरसी—आंगिरसी; सावित्री—सावित्री; सुप्त-भाता—सुप्तभाता; ऋतम्भरा—ऋतम्भरा; सत्यम्भरा—सत्यंभरा; इति—इस प्रकार; महा-नद्यः—बड़ी बड़ी नदियाँ; यासाम्—जिनकी; जल-उपस्पर्शन—जल स्पर्श मात्र से; विधूत—धुल जाते हैं; रजः-तमसः—जिनके रजो तथा तमो गुण; हंस—हंस; पतङ्ग—पतंग; ऊर्ध्वायन—ऊर्ध्वायन; सत्याङ्ग—सत्यांग; संज्ञाः—नाम वाले; चत्वारः—चारों; वर्णाः—जातियाँ; सहस्र-आयुषः—एक हजार वर्षों तक जीवित रहकर; विबुध-उपम—देवताओं के समान; सन्दर्शन—अत्यन्त सुन्दर रूप होने में; प्रजननाः—तथा संतति उत्पन्न करने में; स्वर्ग-द्वारम्—स्वर्गलोक जाने का द्वार; त्रय्या विद्यया—वैदिक नियमों के अनुसार अनुष्ठान करके; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; त्रयी-मयम्—वेदों में स्थापित; सूर्यम् आत्मानम्—सूर्यदेव रूपी परमात्मा को; यजन्ते—पूजा करते हैं।

इन सात वर्षों के नाम उन सातों पुत्रों के अनुसार क्रमशः शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत तथा अभय पड़े। इन सात वर्षों में सात पर्वत तथा सात नदियाँ हैं। पर्वतों के नाम हैं—मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव तथा मेघमाल और नदियों के नाम हैं—अरुणा, नृम्णा, आंगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा तथा सत्यम्भरा। इन नदियों के स्पर्श करने या स्नान करने से भौतिक मल तुरन्त दूर हो जाते और प्लक्षद्वीप में रहने वाली हंस, पतंग, ऊर्ध्वायन तथा सत्यांग नामक चार जातियाँ अपने को इसी प्रकार पवित्र करती हैं। इस द्वीप के वासी एक हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं। वे देवताओं के समान सुन्दर हैं और उनकी सन्तानें भी उन्हीं के अनुरूप हैं। वे वेदों में वर्णित अनुष्ठानों को पूरा करके तथा श्रीभगवान् के प्रतिनिधि स्वरूप सूर्यदेव की उपासना करके सूर्यलोक को प्राप्त होते हैं, जो स्वर्गलोक ही है।

तात्पर्य : सामान्य अनुभव के अनुसार मूलतः तीन देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, किन्तु अल्पज्ञानी भगवान् विष्णु को ब्रह्मा या शिव से श्रेष्ठतर नहीं मानते पर यह निष्कर्ष अप्रामाणिक है। वेदों में कहा गया है कि *इष्टापूर्तं बहुधा जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः तदेवाग्निस्तद् वायुस्तत् सूर्यस्तद् उ चन्द्रमाः अग्निः सर्वदैवतः।* इसका अर्थ यह हुआ कि जो परमात्मा वैदिक अनुष्ठानों (इष्टपूर्त) को स्वीकारता और उनकी फलों को भोगता है, सम्पूर्ण सृष्टि का पालन करता है, समस्त जीवात्माओं की आवश्यकताएँ पूरी करता है (*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*) और समस्त सृष्टि का केन्द्रबिन्दु है, वह भगवान् विष्णु हैं। भगवान् विष्णु अग्नि, वायु, सूर्य और चन्द्र के रूप में विस्तारित होते हैं, जो उनके अंश रूप हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने *श्रीमद्भगवद्गीता* (९.२३) में कहा है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

''जो सकाम भक्त श्रद्धासहित अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं, परन्तु उनकी आराधना विधिपूर्वक नहीं होती।'' कहने का तात्पर्य यह कि जो देवताओं एवं श्रीभगवान् के सम्बन्ध को समझे बिना देवताओं की उपासना करता है उसकी आराधना विधिपूर्वक नहीं होती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी *भगवद्गीता* (९.२४) में कहा है—*अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च*—''एकमात्र मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता हूँ।''

यह तर्क दिया जा सकता है कि देवता भी विष्णु के समान महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनके नाम विष्णु के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। किन्तु यह निष्कर्ष सही नहीं है, क्योंकि वैदिक ग्रन्थों में इसका प्रतिवाद करते हुए कहा गया है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्रादयश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत। नारायणाद् ब्रह्मा, नारायणाद्रुद्रो जायते, नारायणात् प्रजापतिः जायते, नारायणादिन्द्रो जायते, नारायणादष्टौ वसवो जायन्ते, नारायणादेकादश रुद्रा जायन्ते।

''चन्द्रमा देवता नारायण के मन से और सूर्य देवता उनके नेत्रों से उत्पन्न हुए। श्रवण तथा प्राणवायु के नियामक देवता नारायण से उत्पन्न हुए और अग्नि देवता उनके मुख से निकले। प्रजापति भगवान् ब्रह्मा, इन्द्र, आठों वसु, भगवान् शिव के ग्यारहों विस्तार (रुद्र) तथा बारहों आदित्य भी नारायण से उत्पन्न हुए।'' *स्मृति* में भी कहा गया है—

ब्रह्मा शम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः।

एवमाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा॥

जगत्कार्यावसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसा।

वितेजश्च ते सर्वे पंचत्वमुपयान्ति ते॥

''ब्रह्मा, शम्भु, सूर्य तथा इन्द्र सभी श्रीभगवान् की शक्ति के फल हैं। जिन अन्य देवताओं के नाम नहीं लिये गये, वे भी ऐसे हैं। इस जगत के विनाश होने पर नारायण की शक्ति के ये विभिन्न अंश नारायण में ही विलीन हो जाएँगे, अर्थात् ये सभी देवता मर जाएँगे। उनकी प्राणशक्ति वापस ले ली जाएगी और वे नारायण में विलीन हो जाएंगे।''

अत: यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् विष्णु ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, ब्रह्मा या शिव नहीं। जिस प्रकार कभी-कभी एक राजकीय कर्मचारी को ही सरकार मान लिया जाता है, यद्यपि वह किसी एक विभाग के संचालक रूप में ही कार्य करता है, उसी प्रकार सारे देवता भगवान् विष्णु से न्यायवादी शक्ति प्राप्त करके उनके लिए कार्य करते हैं, किन्तु वे उनके समान शक्तिमान नहीं होते। सभी देवताओं को विष्णु के आदेशों का पालन करना होता है। इसीलिए कहा गया है कि *एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—श्रीकृष्ण अथवा विष्णु ही एकमात्र स्वामी हैं, शेष सभी उनकी आज्ञा का पालन करने वाले आज्ञाकारी सेवक हैं। भगवान् विष्णु तथा अन्य भक्तों के इस अन्तर का उल्लेख *भगवद्गीता* (९.२) में भी हुआ है—*यान्ति देवव्रता देवान् ...यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—"देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते है, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और कृष्ण और विष्णु के भक्त वैकुण्ठ लोक को ही प्राप्त होते हैं।" ये स्मृति-वचन हैं। अत: यह मत कि विष्णु तथा अन्य देवताओं को एकसमान मानना शास्त्रों के विरुद्ध है। देवता सर्वोच्च नहीं हैं। उनकी श्रेष्ठता भगवान् नारायण (श्रीविष्णु या श्रीकृष्ण) की कृपा पर निर्भर है।

प्रत्नस्य विष्णो रूपं यत्सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मणः ।
अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमहीति ॥ ॥

शब्दार्थ

प्रत्नस्य—प्राचीनतम पुरुष का; **विष्णोः**—भगवान् विष्णु का; **रूपम्**—रूप; **यत्**—जो; **सत्यस्य**—परम सत्य का; **ऋतस्य**—धर्म का; **ब्रह्मणः**—परब्रह्म का; **अमृतस्य**—शुभ फल का; **च**—तथा; **मृत्योः**—मृत्यु (अशुभ फल) का; **च**—तथा; **सूर्यम्**—सूर्य देवता; **आत्मानम्**—सभी आत्माओं के मूल परमात्मा की; **ईमहि**—शरण की याचना करते हैं; **इति**—इस प्रकार।

[इस मंत्र के द्वारा प्लक्षद्वीप के वासी परब्रह्म की उपासना करते हैं।] हम सूर्य देवता की शरण ग्रहण करें जो परम प्रकाशित, पुराणपुरुष श्रीभगवान् के प्रतिबिम्ब हैं। विष्णु ही एकमात्र आराध्य हैं। वही वेद हैं, वही धर्म हैं और वही शुभाशुभ फलों के स्रोत हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु मृत्यु के भी परमेश्वर हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*)। शुभ तथा अशुभ इन दोनों प्रकार के कार्यों के नियन्ता भगवान् विष्णु हैं। ऐसा माना जाता है कि शुभ कार्य विष्णु के सम्मुख होते हैं और अशुभ कार्य उनकी पीठ के पीछे। शुभ तथा अशुभ कार्य सारे विश्व में एकसाथ पाये जाते हैं और भगवान् विष्णु इन दोनों के नियन्ता हैं। इस श्लोक के सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है—

सूर्यसोमाग्निवारीशविधातृषु यथाक्रमम्।

प्लक्षादिद्वीपसंस्थासु स्थितं हरिमुपासते॥

सम्पूर्ण सृष्टि में अनेक भूभाग, खेत, पहाड़ तथा सागर पाये जाते हैं और सर्वत्र ही श्रीभगवान् विभिन्न नामों से पूजे जाते हैं।

श्रील वीरराघव आचार्य ने *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—विराट जगत के मूल कारण अवश्य ही पुरातन पुरुष हैं और वे भौतिक रूपान्तर से परे होने चाहिए। वे ही समस्त शुभ कार्यों के भोक्ता हैं और इस बद्ध जीवन तथा मुक्ति के कारण भी वे ही हैं। सूर्यदेव की गणना परम शक्तिशाली जीव अथवा जीवात्मा के रूप में की गई है जो उनके शरीर के एक अंग का प्रतिनिधित्व करते हैं। हम स्वभावत: शक्तिशाली जीवों के वश में हैं, अत: हम विभिन्न देवताओं की उपासना ऐसे जीवों के रूप में कर सकते हैं, जो श्रीभगवान् के शक्तिशाली प्रतिनिधि हैं। यद्यपि इस मंत्र में सूर्यदेवता की उपासना के लिए कहा गया है, किन्तु उनकी उपासना श्रीभगवान् के रूप में नहीं वरन् उनके शक्तिशाली प्रतिनिधि रूप में की जाती है।

कठ उपनिषद् (१.३.१) में कहा गया है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति

पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता:॥

''हे नाचिकेता! सूक्ष्म जीवात्मा तथा परमात्मा के रूप में विष्णु के ये दोनों अंश इस शरीर की हृदय-गुहा में स्थित हैं। इस गुहा में प्रवेश करके जीवात्मा प्राणवायु पर आधारित रह कर कर्मों के फल का भोग करता है और परमात्मा साक्षी बनकर उसे भोग करने देता है। ब्रह्म-ज्ञानियों तथा वैदिक नियमों का पालन करने वाले गृहस्थों का कहना है कि इन दोनों में वैसा ही अन्तर है जैसाकि सूर्य तथा उसकी छाया में।''

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६.१६) में कहा गया है—

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि:

ज्ञः कालाकारो गुणी सर्वविद् यः।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः

संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥

"इस जगत का सृष्टिकर्ता परमात्मा अपनी सृष्टि का कोना-कोना पहचानता है। यद्यपि वह इसका कारण है, किन्तु उसके प्रकट होने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह सर्वज्ञाता है। वह परमात्मा, समस्त दिव्य गुणों का स्वामी तथा इस जगत के बन्धन और मोक्ष का भी स्वामी है।"

इसी प्रकार *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.८) में कहा गया है—

भीषास्माद्वातः पवते

भीषोदेति सूर्यः।

भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च

मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

"परब्रह्म के भय से वायु बहती है, सूर्य उदय-अस्त होता है और अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। उसी के भय से मृत्यु तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र अपना-अपना कार्य करते हैं।"

जैसाकि इस अध्याय में वर्णित है, प्लक्षद्वीप इत्यादि पाँच द्वीपों के वासी क्रमशः सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु तथा ब्रह्मा की उपासना इत्यादि करते हैं। यद्यपि वे इन पाँचों देवताओं की उपासना करते हैं, किन्तु वास्तव में वे समस्त जीवों के परमात्मा श्रीभगवान् विष्णु को ही उपासते हैं, जैसाकि इस श्लोक के इन शब्दों से प्रकट है—*प्रत्नस्य विष्णो रूपम्।* विष्णु ब्रह्म हैं, अमृत हैं, मृत्यु हैं—वे परब्रह्म हैं और शुभ तथा अशुभ सभी वस्तुओं के मूल हैं। वे सबों के हृदय में स्थित हैं, जिनमें देवता भी सम्मिलित हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः*—कामनाओं ने जिनके ज्ञान को हर लिया है, वे ही अन्य देवताओं की शरण ग्रहण करते हैं। जो महत्त्वाकांक्षाओं के कारण अंधे होते हैं, उन्हें अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए देवताओं की उपासना की सलाह दी जाती है, किन्तु देवता उनकी मनोकामनाओं को वास्तव में पूरा नहीं कर पाते। सभी देवता उतना की कर पाते हैं जितने की भगवान् विष्णु उन्हें आज्ञा देते हैं। जो अत्यधिक लालची होते हैं, वे विष्णु को न पूजकर अनेक देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु वास्तव में वे भगवान् विष्णु की ही उपासना करते हैं,

क्योंकि वे ही समस्त देवताओं के परमात्मा हैं।

प्लक्षादिषु पञ्चसु पुरुषाणामायुरिन्द्रियमोजः सहो बलं बुद्धिर्विक्रम इति च सर्वेषामौत्पत्तिकी सिद्धिरविशेषेण वर्तते. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

प्लक्ष-आदिषु—प्लक्ष आदि द्वीपों में; पञ्चसु—पाँच; पुरुषाणाम्—निवासियों का; आयुः—दीर्घ जीवनकाल; इन्द्रियम्—इन्द्रियों की पुष्टता; ओजः—शारीरिक बल; सहः—मनोबल; बलम्—शारीरिक शक्ति; बुद्धिः—बुद्धि; विक्रमः—शौर्य; इति—इस प्रकार; च—भी; सर्वेषाम्—सबों का; औत्पत्तिकी—अंतःभूत; सिद्धिः—सिद्धि; अविशेषेण—बिना किसी भेदभाव के; वर्तते—विद्यमान है।.

हे राजन्, प्लक्ष आदि पाँच द्वीपों में सभी वासियों में जन्म से ही आयु, मनोबल, इन्द्रिय बल, शारीरिक बल, बुद्धि और शौर्य (पराक्रम) समान रूप में प्रकट रहते हैं।

प्लक्षः स्वसमानेनेक्षुरसोदेनावृतो यथा तथा द्वीपोऽपि शाल्मलो द्विगुणविशालः समानेन सुरोदेनावृतः परिवृङ्क्ते. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

प्लक्षः—प्लक्षद्वीप; स्व-समानेन—विस्तार में समान; इक्षु-रस—गन्ने के रस के; उदेन—समुद्र से; आवृतः—घिरा हुआ; यथा—जिस प्रकार; तथा—उसी प्रकार; द्वीपः—अन्य द्वीप; अपि—भी; शाल्मलः—शाल्मल नामक; द्वि-गुण-विशालः—दुगुने विस्तार का; समानेन—विस्तार में समान; सुरा-उदेन—मदिरा के सागर से; आवृतः—घिरा हुआ; परिवृङ्क्ते—विद्यमान है।.

प्लक्षद्वीप अपने ही समान चौड़ाई वाले इक्षुरस के समुद्र से घिरा हुआ है। इसी प्रकार उसके आगे उससे दुगुने परिमाण वाला शाल्मलीद्वीप है (४,००,००० योजन अथवा ३२,००,००० मील चौड़ा) जो उतने ही चौड़ाईवाले जल समूह अर्थात् सुरासागर से घिरा हुआ है।

यत्र ह वै शाल्मली प्लक्षायामा यस्यां वाव किल निलयमाहुर्भगवतश्छन्दःस्तुतः पतत्त्रिराजस्य सा द्वीपहूतये उपलक्ष्यते. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ह वै—निश्चय ही; शाल्मली—शाल्मली वृक्ष; प्लक्ष-आयामा—प्लक्ष वृक्ष जितना बड़ा (१०० योजन चौड़ा तथा ११०० योजन ऊँचा); यस्याम्—जिसमें; वाव किल—निस्सन्देह; निलयम्—निवासस्थान; आहुः—ऐसा कहते हैं; भगवतः—सर्वशक्तिमान का; छन्दः-स्तुतः—जो वैदिक स्तुतियों द्वारा ईश्वर की उपासना करता है; पतत्त्रि-राजस्य—भगवान् विष्णु का वाहन पक्षिराज गरुड़; सा—वह वृक्ष; द्वीप-हूतये—द्वीप के नाम हेतु; उपलक्ष्यते—प्रसिद्ध है।.

शाल्मलीद्वीप में शाल्मली का एक वृक्ष है, जिससे इस द्वीप का यह नाम पड़ा। यह प्लक्ष वृक्ष के बराबर चौड़ा और ऊँचा है, अर्थात् १०० योजन ८०० मील चौड़ा तथा ११०० योजन ८८०० मील ऊँचा है। विद्वानों का कथन है कि यह विशाल वृक्ष पक्षियों के राजा तथा विष्णु के

वाहन गरुड़ का निवासस्थान है। यहाँ गरुड़ भगवान् विष्णु की वैदिक स्तुति करता है।

तद्द्वीपाधिपतिः प्रियव्रतात्मजो यज्ञबाहुः स्वसुतेभ्यः सप्तभ्यस्तन्नामानि सप्तवर्षाणि व्यभजत्सुरोचनं सौमनस्यं रमणकं देववर्षं पारिभद्रमाप्यायनमविज्ञातमिति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्-द्वीप-अधिपतिः—उस द्वीप का स्वामी; प्रियव्रत-आत्मजः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; यज्ञ-बाहुः—यज्ञबाहु है; स्व-सुतेभ्यः—अपने पुत्रों के; सप्तभ्यः—सातों; तत्-नामानि—जिनके नाम उनके नामों के अनुसार; सप्त-वर्षाणि—सातों वर्षों (भूखण्डों) को; व्यभजत्—विभाजित; सुरोचनम्—सुरोचन; सौमनस्यम्—सौमनस्य; रमणकम्—रमणक; देव-वर्षम्—देववर्ष; पारिभद्रम्—पारिभद्र; आप्यायनम्—आप्यायन; अविज्ञातम्—अविज्ञात; इति—इस प्रकार।

शाल्मलीद्वीप के स्वामी महाराज प्रियव्रत के पुत्र यज्ञबाहु ने इस द्वीप को सात भागों में विभाजित करके उन्हें अपने पुत्रों को दे दिया। इन विभागों के नाम उनके पुत्रों के नामों पर हैं—सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन तथा अविज्ञात।

तेषु वर्षाद्रयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः स्वरसः शतशृङ्गो वामदेवः कुन्दो मुकुन्दः पुष्पवर्षः सहस्रश्रुतिरिति; अनुमतिः सिनीवाली सरस्वती कुहू रजनी नन्दा राकेति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तेषु—इन भागों में; वर्ष-अद्रयः—पर्वत; नद्यः च—नदियाँ भी; सप्त एव—सात; अभिज्ञाताः—जाना गया; स्वरसः—स्वरस; शत-शृङ्गः—शतशृंग; वाम-देवः—वामदेव; कुन्दः—कुन्द; मुकुन्दः—मुकुन्द; पुष्प-वर्षः—पुष्पवर्ष; सहस्र-श्रुतिः—सहस्रश्रुति; इति—इस प्रकार; अनुमतिः—अनुमति; सिनीवाली—सिनीवाली; सरस्वती—सरस्वती; कुहू—कुहू; रजनी—रजनी; नन्दा—नन्दा; राका—राका; इति—इस प्रकार।

इन सातों विभागों में सात पर्वत हैं, जिनके नाम स्वरस, शतशृंग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष तथा सहस्रश्रुति हैं। उनमें सात नदियाँ भी हैं जिनके नाम अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नन्दा तथा राका हैं। ये आज भी विद्यमान हैं।

तद्वर्षपुरुषाः श्रुतधरवीर्यधरवसुन्धरेषन्धरसंज्ञा भगवन्तं वेदमयं सोममात्मानं वेदेन यजन्ते. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्-वर्ष-पुरुषाः—उन वर्षों के निवासी; श्रुतधर—श्रुतधर; वीर्यधर—वीर्यधर; वसुन्धर—वसुन्धर; इषन्धर—इषन्धर; संज्ञाः—के नाम से विख्यात; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; वेद-मयम्—वैदिक ज्ञान से सुपरिचित; सोमम् आत्मानम्—सोम नामक जीवात्मा द्वारा प्रदर्शित; वेदेन—वैदिक नियमों के पालन से; यजन्ते—उपासना करते हैं।

इन द्वीपों के वासी श्रुतिधर, वीर्यधर, वसुन्धर तथा इषन्धर नामों से विख्यात हैं और वे वर्णाश्रम धर्म का कठोरता से पालन करते हुए श्रीभगवान् के सोम नामक अंश की, जो साक्षात् चन्द्रदेव हैं, उपासना करते हैं।

स्वगोभिः पितृदेवेभ्यो विभजन्कृष्णशुक्लयोः ।

प्रजानां सर्वासां राजान्धः सोमो न आस्त्विति ॥ १२॥

शब्दार्थ

स्व-गोभिः—अपनी प्रकाशमय किरणों के विस्तार से; पितृ-देवेभ्यः—अपने पितरों तथा देवता-गणों को; विभजन्—विभाजित करके; कृष्ण-शुक्लयोः—कृष्ण तथा शुक्ल पक्षों में; प्रजानाम्—निवासियों का; सर्वासाम्—सभी; राजा—राजा; अन्धः—अन्न; सोमः—चन्द्रदेव; नः—हम पर; आस्तु—अनुकूल रहे; इति—इस प्रकार।

[शाल्मलीद्वीप के वासी चन्द्रदेवता की आराधना निम्नलिखित शब्दों से करते हैं।] पितरों तथा देवताओं को अन्न देने के उद्देश्य से चन्द्रदेव ने अपने ही किरणों से मास को शुक्ल तथा कृष्ण नामक दो पक्षों में विभाजित किया है। चन्द्र देवता काल का विभाजन करने वाला और ब्रह्माण्ड के वासियों का अधिपति है। अतः हम यह प्रार्थना करते हैं कि वह हमारा अधिपति तथा पथप्रदर्शक बना रहे। हम उसे सादर नमस्कार करते हैं।

एवं सुरोदाद्बहिस्तद्द्विगुणः समानेनावृतो घृतोदेन यथापूर्वः कुशद्वीपो यस्मिन्कुशस्तम्बो देवकृतस्तद्द्वीपाख्याकरो ज्वलन इवापरः स्वशष्परोचिषा दिशो विराजयति. ॥ १३॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सुरोदात्—सुरासागर से; बहिः—बाहर; तत्-द्वि-गुणः—उसका दुगुना; समानेन—चौड़ाई में समान; आवृतः—घिरा हुआ; घृत-उदेन—घृत सागर के द्वारा; यथा-पूर्वः—शाल्मलीद्वीप के ही समान; कुश-द्वीप—कुशद्वीप; यस्मिन्—जिसमें; कुश-स्तम्बः—कुश नामक घास; देव-कृतः—श्रीभगवान् की परमेच्छा से उत्पन्न; तत्-द्वीप-आख्या-करः—द्वीप का नामकरण करके; ज्वलनः—अग्नि; इव—सदृश; अपरः—अन्य; स्व-शष्प-रोचिषा—अंकुरित दूब के ऐश्वर्य से; दिशः—समस्त दिशाएँ; विराजयति—प्रकाशित करता है।

सुरासागर के बाहर कुशद्वीप नामक एक अन्य द्वीप है जो सुरासागर से दूना अर्थात् ८,००,००० योजन (६४,००,००० मील) चौड़ा है। जिस प्रकार शाल्मली द्वीप सुरासागर से घिरा है उसी प्रकार कुशद्वीप अपने तुल्य विस्तार वाले घृतसागर से घिरा है। इस द्वीप में कुशघास के पौधे पाये जाते हैं, इसीलिए द्वीप का यह नाम पड़ा है। यह कुशघास परमेश्वर की इच्छा के अनुसार देवताओं द्वारा उत्पन्न की गई थी और द्वितीय अग्नि जैसी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु इसकी ज्वालाएँ अत्यन्त मृदु तथा मनोहर हैं। इसके नव-अंकुर (शिखर) समस्त दिशाओं को प्रकाशित करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में दिये गये विवरण से चन्द्रमा पर ज्वालाओं की प्रकृति के सम्बन्ध में बुद्धिपरक अनुमान लगाया जा सकता है। सूर्य के समान चन्द्रमा को भी ज्वालाओं से पूर्ण होना चाहिए,

क्योंकि ज्वालाओं के बिना प्रकाश सम्भव नहीं। किन्तु चन्द्रमा की ज्वालाएं सूर्य से भिन्न अतएव मृदु एवं मनोहारी होनी चाहिए। ऐसा हमारा मानना है। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार चन्द्रमा धूल से भरा हुआ है जो *श्रीमद्भागवत* के श्लोकों में मान्य नहीं है। इस श्लोक के सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कहना है— *सुशष्पाणि सुकोमलशिखास्तेषां रोचिषा*—कुश घास समस्त दिशाओं को प्रकाशित करती है, किन्तु इसकी ज्वालाएँ अत्यन्त मृदु एवं मनोहारी हैं। इससे चन्द्रमा में स्थित ज्वालाओं के सम्बन्ध में कुछ अनुमान प्राप्त होता है।

तद्द्वीपपतिः प्रैयव्रतो राजन्हिरण्यरेता नाम स्वं द्वीपं सप्तभ्यः स्वपुत्रेभ्यो यथाभागं विभज्य स्वयं तप आतिष्ठत वसुवसुदानदृढरुचिनाभिगुप्तस्तुत्यव्रतविविक्तवामदेवनामभ्यः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्-द्वीप-पतिः—उस द्वीप का स्वामी; प्रैयव्रतः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; राजन्—हे राजा; हिरण्यरेता—हिरण्यरेता; नाम—नामक; स्वम्—उसका अपना; द्वीपम्—द्वीप; सप्तभ्यः—सातों; स्व-पुत्रेभ्यः—अपने पुत्रों को; यथा-भागम्—हिस्से के अनुसार; विभज्य—विभाजित करके; स्वयम्—स्वयं; तपः आतिष्ठत—तप में लग गया; वसु—वसु को; वसुदान—वसुदान; दृढरुचि—दृढ़रुचि; नाभि-गुप्त—नाभिगुप्त; स्तुत्य-व्रत—स्तुत्यव्रत; विविक्त—विविक्त; वाम-देव—वामदेव; नामभ्यः—नामक।

हे राजन्, महाराज प्रियव्रत के दूसरे पुत्र हिरण्यरेता इस द्वीप के राजा थे। उन्होंने इसके सात विभाग किये और उसके एक-एक विभाग को उत्तराधिकारी के अनुसार अपने सातों पुत्रों वसु, वसुदान, दृढ़रुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेव को दे दिये। राजा स्वयं गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर तप करने लगे।

तेषां वर्षेषु सीमागिरयो नद्यश्चाभिज्ञाताः सप्त सप्तैव चक्रश्चतुःशृङ्गः कपिलश्चित्रकूटो देवानीक ऊर्ध्वरोमा द्रविण इति रसकुल्या मधुकुल्या मित्रविन्दा श्रुतविन्दा देवगर्भा घृतच्युता मन्त्रमालेति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन पुत्रों के; वर्षेषु—भूभागों (वर्षों) में; सीमा-गिरयः—सीमान्त पर्वत; नद्यः च—और नदियाँ भी; अभिज्ञाताः—ज्ञात; सप्त—सात; सप्त—सात; एव—निश्चय ही; चक्रः—चक्र; चतुः-शृङ्गः—चतुःशृंग; कपिलः—कपिल; चित्र-कूटः—चित्रकूट; देवानीकः—देवानीक; ऊर्ध्व-रोमा—ऊर्ध्वरोमा; द्रविणः—द्रविण; इति—इस प्रकार; रस-कुल्या—रमकुल्या; मधु-कुल्या—मधुकुल्या; मित्र-विन्दा—मित्रविन्दा; श्रुत-विन्दा—श्रुतविन्दा; देव-गर्भा—देवगर्भा; घृत-च्युता—घृतच्युता; मन्त्र-माला—मंत्रमाला; इति—इस प्रकार।

इन सातों द्वीपों में सात सीमान्त पर्वत हैं, जिनके नाम चक्र, चतुःशृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा तथा द्रविण हैं। इसी प्रकार सात नदियाँ हैं जिनके नाम रमकुल्या, मधुकुल्या, मित्रविन्दा, श्रुतविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता तथा मंत्रमाला हैं।

यासां पयोभिः कुशद्वीपौकसः कुशलकोविदाभियुक्तकुलकसंज्ञा भगवन्तं जातवेदसरूपिणं कर्मकौशलेन यजन्ते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यासाम्—जिनके; पयोभिः—जल से; कुश-द्वीप-ओकसः—कुशद्वीप के वासी; कुशल—कुशल; कोविद—कोविद; अभियुक्त—अभियुक्त; कुलक—कुलक; संज्ञाः—नामक; भगवन्तम्—श्रीभगवान् को; जातवेद—अग्नि देवता; स-रूपिणम्—स्वरूप को प्रकट करके; कर्म-कौशलेन—अनुष्ठानों में कुशलता के कारण; यजन्ते—आराधना करते हैं।

कुशद्वीप के वासी कुशल, कोविद, अभियुक्त तथा कुलक नामों से विख्यात हैं। वे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के सदृश हैं। उक्त नदियों के जल में स्नान करके ये सभी वासी पवित्र होते हैं। वे वैदिक शास्त्रों के अनुसार अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में कुशल हैं। इस प्रकार वे अग्नि देवता के रूप में भगवान् की उपासना करते हैं।

परस्य ब्रह्मणः साक्षाज्जातवेदोऽसि हव्यवाट् ।
देवानां पुरुषाङ्गानां यज्ञेन पुरुषं यजेति ॥ १७॥

शब्दार्थ

परस्य—परमेश्वर की; ब्रह्मणः—ब्रह्म का; साक्षात्—प्रकट रूप में, साक्षात्; जात-वेदः—हे अग्निदेव; असि—आप हैं; हव्यवाट्—अन्न तथा घृत की आहुति के वाहक; देवानाम्—समस्त देवताओं के; पुरुष-अङ्गानाम्—जो परम पुरुष के अंग हैं; यज्ञेन—यज्ञों के द्वारा; पुरुषम्—परम् पुरुष को; यज—यज्ञ करो; इति—इस प्रकार।

[यह वह मंत्र है, जिसके द्वारा कुशद्वीप के वासी अग्निदेव की पूजा करते हैं।] हे अग्निदेव, आप श्रीभगवान् हरि के अंश रूप हैं और उन तक समस्त हवियों को पहुँचाते हैं। अतः हम आपसे प्रार्थना करते कि हम देवताओं को जो भी यज्ञ-सामग्री अर्पण कर रहे हैं, उसे आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को अर्पित करें, क्योंकि परमेश्वर ही असली भोक्ता हैं।

तात्पर्य : समस्त देवता श्रीभगवान् के सेवक हैं, जो उनकी सेवा में रत रहते हैं। अतः यदि कोई व्यक्ति देवताओं की उपासना करता है, तो वे देवता परमेश्वर के सेवकों की भाँति उन तक समस्त हवियों को पहुँचाते हैं, जिस प्रकार कर-संग्राहक नागरिकों से कर वसूल कर सरकारी कोष में पहुँचाते हैं। देवता इन हवियों को स्वीकार नहीं कर सकते; वे उन्हें श्रीभगवान् तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्-प्रसादः*—चूँकि गुरु श्रीभगवान् का प्रतिनिधि होता है, अतः उसे जो भी अर्पित किया जाता है उसे वह ईश्वर तक पहुँचाता है। इसी प्रकार से समस्त देवता श्रीभगवान् के आज्ञाकारी सेवकों की भाँति समस्त हवियों को उन तक

पहुँचाते हैं। यदि यह समझ कर देवताओं की उपासना की जाये तो इसमें कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि कोई यह सोचे कि देवता श्रीभगवान् के तुल्य हैं और स्वतंत्र हैं तो उसे हम *हृतज्ञान* अर्थात् ज्ञान की हानि (*कामैस्तैस्तैर्हृज्ञाना:*) कहेंगे। अत: जो देवताओं को वास्तविक वर देनेवाला समझते हैं, वे त्रुटि करते हैं।

तथा घृतोदाद्बहि: क्रौञ्चद्वीपो द्विगुण: स्वमानेन क्षीरोदेन परित उपक्लिप्तो वृतो यथा कुशद्वीपो घृतोदेन यस्मिन्क्रौञ्चो नाम पर्वतराजो द्वीपनामनिर्वर्तक आस्ते. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तथा—और उसी प्रकार; घृत-उदात्—घृत सागर से; बहि:—बाहर, परे; क्रौञ्च-द्वीप:—क्रौंच द्वीप नामक अन्य द्वीप; द्वि-गुण:—दुगुना बड़ा; स्व-मानेन—समान विस्तार का; क्षीर-उदेन—दुग्ध सगार से; परित:—चारों ओर; उपक्लृप्त:—घिरा हुआ; वृत:—घिरा; यथा—सदृश; कुश-द्वीप:—कुशद्वीप; घृत-उदेन—घृत सागर से; यस्मिन्—जिसमें; क्रौञ्च: नाम—क्रौंच नामक; पर्वत-राज:—पर्वतों का राजा; द्वीप-नाम—द्वीप का नाम; निर्वर्तक:—लिया जाता है; आस्ते—विद्यमान है।

घृतसागर के बाहर क्रौंचद्वीप नाम का एक अन्य द्वीप है, जिसकी चौड़ाई घृतसागर से दुगुनी अर्थात् १६,००,००० योजन (१२,८००,००० मील) है। जिस प्रकार कुशद्वीप घृतसागर से घिरा हुआ है उसी प्रकार क्रौंचद्वीप अपने ही समान चौड़ाई वाले दुग्ध-सागर (क्षीरसागर) से घिरा हुआ है। क्रौंचद्वीप में क्रौंच नामक एक विशाल पर्वत है, जिसके कारण इस द्वीप का यह नाम पड़ा।

योऽसौ गुहप्रहरणोन्मथितनितम्बकुञ्जोऽपि क्षीरोदेनासिच्यमानो भगवता वरुणेनाभिगुप्तो विभयो बभूव. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

य:—जो; असौ—वह (पर्वत); गुह-प्रहरण—भगवान् शिव के पुत्र कार्तिकेय के प्रहार द्वारा; उन्मथित—मथा हुआ; नितम्ब-कुञ्ज:—ढालों पर के वृक्ष तथा वनस्पतियाँ; अपि—यद्यपि; क्षीर-उदेन—क्षीर सागर से; आसिच्यमान:—सदैव सिंचित होकर; भगवता—सर्वशक्तिमान द्वारा; वरुणेन—वरुण नाम देवता के द्वारा; अभिगुप्त:—सुरक्षित; विभय: बभूव—निर्भय हो गया है।

यद्यपि कार्त्तिक्ये के शस्त्र प्रहार से क्रौंच पर्वत के ढालों की वनस्पतियाँ विनष्ट हो गई थीं, किन्तु चारों ओर से क्षीरसागर द्वारा सदा सिंचित होने एवं वरुण देव के द्वारा संरक्षित होने से यह पर्वत पुन: निर्भीक हो गया है।

तस्मिन्नपि प्रैयव्रतो घृतपृष्ठो नामाधिपतिः स्वे द्वीपे वर्षाणि सप्त विभज्य तेषु पुत्रनामसु सप्त रिक्थादान्वर्षपान्निवेश्य स्वयं भगवान्भगवतः परमकल्याणयशस आत्मभूतस्य हरेश्चरणारविन्दमुपजगाम. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस द्वीप में; अपि—भी; प्रैयव्रतः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; घृत-पृष्ठः—घृतपृष्ठ; नाम—नामक; अधिपतिः—स्वामी, राजा; स्वे—अपने; द्वीपे—द्वीप में; वर्षाणि—भूभाग; सप्त—सात; विभज्य—विभाजित करके; तेषु—उनमें से प्रत्येक में; पुत्र-नामसु—अपने पुत्रों के नाम वाले; सप्त—सात; रिक्था-दान्—पुत्र; वर्ष-पान्—वर्षों के स्वामी; निवेश्य—नियुक्त करके; स्वयम्—स्वयं; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; भगवतः—श्रीभगवान् का; परम-कल्याण-यशसः—जिसका यश परम कल्याणकारी है; आत्म-भूतस्य—समस्त आत्माओं की आत्मा; हरेः चरण-अरविन्दम्—हरि के चरणकमल में; उपजगाम—शरण ली।

इस द्वीप के अधिपति महाराज प्रियव्रत के अन्य पुत्र थे जिनका नाम घृतपृष्ठ था और जो अत्यन्त विद्वान थे। उन्होंने भी अपने देश को सात भागों में विभाजित करके उनके नाम अपने सातों पुत्रों के नामों के अनुसार रखे और स्वयं गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर परम कल्याणकारी, समस्त आत्माओं की आत्मा श्रीभगवान् के पदारविन्दों में शरण ली। इस प्रकार वे सिद्धि को प्राप्त हुए।

आमो मधुरुहो मेघपृष्ठः सुधामा भ्राजिष्ठो लोहितार्णो वनस्पतिरिति घृतपृष्ठसुतास्तेषां वर्षगिरयः सप्त सप्तैव नद्यश्चाभिख्याताः शुक्लो वर्धमानो भोजन उपबर्हिणो नन्दो नन्दनः सर्वतोभद्र इति अभया अमृतौघा आर्यका तीर्थवती रूपवती पवित्रवती शुक्लेति. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आमः—आम; मधु-रुहः—मधुरुह; मेघ-पृष्ठः—मेघपृष्ठ; सुधामा—सुधामा; भ्राजिष्ठः—भ्राजिष्ठ; लोहितार्णः—लोहितार्ण; वनस्पतिः—वनस्पति; इति—इस प्रकार; घृतपृष्ठ-सुताः—घृतपृष्ठ के पुत्र; तेषाम्—इन पुत्रों के; वर्ष-गिरयः—देश की सीमा विभाजन करने वाले पर्वत; सप्त—सात; सप्त—सात; एव—भी; नद्यः—नदियाँ; च—तथा; अभिख्याताः—सुप्रसिद्ध; शुक्लः वर्धमानः—शुक्ल तथा वर्धमान; भोजनः—भोजन; उपबर्हिणः—उपबर्हिण; नन्दः—नन्द; नन्दनः—नदंन; सर्वतः-भद्रः—सर्वतोभद्र; इति—इस प्रकार; अभया—अभया; अमृतौघा—अमृतौघा; आर्यका—आर्यका; तीर्थवती—तीर्थवती; रूपवती—रूपवती; पवित्रवती—पवित्र-वती; शुक्ला—शुक्ला; इति—इस प्रकार।

महाराज घृतपृष्ठ के पुत्रों के नाम आम, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण तथा वनस्पति थे। उनके द्वीप में सात पर्वत थे, जो सात देशों की सीमाओं को सूचित करने वाले थे और सात नदियाँ भी थीं। पर्वतों के नाम हैं-शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन तथा सर्वतोभद्र। नदियों के नाम अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, रूपवती, पवित्रवती तथा शुक्ला हैं।

यासामम्भः पवित्रममलमुपयुञ्जानाः पुरुषऋषभद्रविणदेवकसंज्ञा वर्षपुरुषा आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यासाम्—सभी नदियों का; अम्भः—जल; पवित्रम्—अत्यन्त पावन; अमलम्—अत्यन्त निर्मल; उपयुञ्जानाः—उपयोग करते हुए; पुरुष—पुरुष; ऋषभ—ऋषभ; द्रविण—द्रविण; देवक—देवक; संज्ञाः—नामों वाले; वर्ष-पुरुषाः—उन वर्षों के निवासी; आपः-मयम्—जल के स्वामी वरुण को; देवम्—उपास्य श्रीविग्रह के रूप में; अपाम्—जल को; पूर्णेन—पूर्ण; अञ्जलिना—अंजुली से; यजन्ते—आराधना करते हैं।

क्रौंच द्वीप के निवासी चार वर्णों में विभाजित हैं—पुरुष, ऋषभ, द्रविण तथा देवक। वे जल के स्वामी वरुण जिन का रूप जल के समान है के चरणारविन्दों पर इन पवित्र नदियों की जलांजलि अर्पित करके श्रीभगवान् की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*आपोमयः अश्मयम्*—क्रौंच द्वीप के विभिन्न वर्णों के लोग बद्ध अंजलि द्वारा पवित्र नदियों का जल प्रस्तर या लोहे के बने श्रीविग्रह पर अर्पित करते हैं।

आपः पुरुषवीर्याः स्थ पुनन्तीर्भूर्भुवःसुवः ।
ता नः पुनीतामीवघ्नीः स्पृशतामात्मना भुव इति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

आपः—हे जल; पुरुष-वीर्याः—श्रीभगवान् की शक्ति से युक्त; स्थ—आप हैं; पुनन्तीः—पवित्र करने वाले; भूः—भूवः नामक लोक; भुवः—भूवः नामक लोक; सुवः—स्वःलोक; ताः—वह जल; नः—हम सबको; पुनीत—पवित्र करता है; अमीव-घ्नीः—पापों का नाश करने वाला; स्पृशताम्—स्पर्श करने वालों के; आत्मना—अपने स्वाभाविक पद के कारण; भुवः—देह; इति—इस प्रकार।

[क्रौंच द्वीप के निवासी इस मंत्र से उपासना करते हैं] हे नदियों के जल, आपको श्रीभगवान् से शक्ति प्राप्त है। अतः आप भूलोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक को पवित्र करते हैं। अपने स्वाभाविक पद के कारण आप पापों को ग्रहण करते हैं, इसलिए हम आपका स्पर्श करते हैं। आप हमें पवित्र करते रहें।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.४) में श्रीकृष्ण का कथन है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी भिन्ना (अपरा) प्रकृति है।"

जिस प्रकार उष्मा तथा प्रकाश नामक सूर्य की शक्तियाँ इस ब्रह्माण्ड में क्रियाशील हैं और प्रत्येक

वस्तु को कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं, उसी प्रकार परमेश्वर की शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में क्रियाशील रहती है। शास्त्रों में वर्णित विशिष्ट नदियाँ भी श्रीभगवान् की शक्तियाँ हैं और जो व्यक्ति इनमें प्रतिदिन स्नान करते हैं, वे पवित्र होते रहते हैं। सचमुच अनेक लोग गंगा में स्नान करने मात्र से रोगमुक्त होते हैं। इसी प्रकार क्रौंच द्वीप के निवासी नदियों में स्नान करके पवित्र होते हैं।

एवं पुरस्तात्क्षीरोदात्परित उपवेशितः शाकद्वीपो द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामः समानेन च दधिमण्डोदेन परीतो यस्मिन्शाको नाम महीरुहः स्वक्षेत्रव्यपदेशको यस्य ह महासुरभिगन्धस्तं द्वीपमनुवासयति. ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; पुरस्तात्—परे; क्षीर-उदात्—क्षीर सागर से; परितः—चारों ओर; उपवेशितः—स्थित; शाक-द्वीपः—शाकद्वीप नामक अन्य द्वीप; द्वा-त्रिंशत्—बत्तीस; लक्ष—लाख; योजन—योजन; आयामः—जिसकी माप; समानेन—समान लम्बाई वाला; च—और; दधि-मण्ड-उदेन—मट्ठे के समान जल वाले समुद्र द्वारा; परीतः—आवृत; यस्मिन्—जिसमें; शाकः—शाक; नाम—नामक; महीरुहः—अंजीर का वृक्ष; स्व-क्षेत्र-व्यपदेशकः—जिससे द्वीप का यह नाम पड़ा; यस्य—जिसका; ह—निस्सन्देह; महा-सुरभि—अत्यधिक भीनी; गन्धः—सुगन्ध; तम् द्वीपम्—उस द्वीप को; अनुवासयति—महकाती रहती है।

क्षीर समुद्र से बाहर शाकद्वीप है, जिसकी चौड़ाई ३२,००,००० योजन (२,६,००,००० मील) है। जिस प्रकार क्रौंचद्वीप अपने ही क्षीरसागर से घिरा है उसी प्रकार शाकद्वीप अपने ही समान चौड़ाई वाले मट्ठे के समुद्र से घिरा है। शाकद्वीप में एक विशाल शाक वृक्ष है, जिससे इस द्वीप का यह नाम पड़ा। यह वृक्ष अत्यन्त सुगन्धित है। इससे सारा द्वीप महकता रहता है।

तस्यापि प्रैयव्रत एवाधिपतिर्नाम्ना मेधातिथिः सोऽपि विभज्य सप्त वर्षाणि पुत्रनामानि तेषु स्वात्मजान्पुरोजवमनोजवपवमानधूम्रानीकचित्ररेफबहुरूपविश्वधारसंज्ञान्निधाप्याधिपतीन्स्वयं भगवत्यनन्त आवेशितमतिस्तपोवनं प्रविवेश. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य अपि—इस द्वीप का भी; प्रैयव्रतः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; एव—निश्चय ही; अधिपतिः—राजा; नाम्ना—नामक; मेधा-तिथिः—मेधातिथि; सः अपि—वह भी; विभज्य—विभाजित करके; सप्त वर्षाणि—द्वीप के सात विभाग; पुत्र-नामानि—पुत्रों के नाम; तेषु—उनमें; स्व-आत्मजान्—अपने पुत्रों; पुरोजव—पुरोजव; मनोजव—मनोजव; पवमान—पवमान; धूम्रानीक—धूम्रानीक; चित्र-रेफ—चित्ररेफ; बहु-रूप—बहुरूप; विश्वधार—विश्वधार; संज्ञान्—नाम वाले; निधाप्य—प्रतिष्ठित करके; अधिपतीन्—शासक, राजा; स्वयम्—स्वयं; भगवति—श्रीभगवान् में; अनन्ते—अनन्त रूप में; आवेशित-मतिः—ध्यानमग्न; तपः-वनम्—तपोवन में; प्रविवेश—प्रवेश किया।

इस द्वीप के स्वामी प्रियव्रत के ही पुत्र मेधातिथि थे। उन्होंने भी अपने द्वीप को सात भागों में विभाजित करके उनका नाम अपने पुत्रों के नाम पर रखा और उन्हें उन द्वीपों का राजा बना दिया। उनके इन पुत्रों के नाम हैं—पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप तथा

विश्वधार। इस द्वीप को विभाजित करके अपने पुत्रों को उनका राजा बनाकर मेधापति स्वयं विरक्त हो गये और उन्होंने अपने मन को श्रीभगवान् के चरणारविन्दों में लगाने के उद्देश्य से ध्यान-योग्य एक तपोवन में प्रवेश किया।

एतेषां वर्षमर्यादागिरयो नद्यश्च सप्त सप्तैव ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेसरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति अनघायुर्दा उभयस्पृष्टिरपराजिता पञ्चपदी सहस्रस्रुतिर्निजधृतिरिति. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एतेषाम्—इन समस्त विभागों की; वर्ष-मर्यादा—सीमा रेखा के रूप में; गिरयः—बड़ी बड़ी पहाड़ियाँ; नद्यः च—तथा नदियाँ भी; सप्त—सात; एव—निस्सन्देह; ईशानः—ईशान; उरुशृङ्गः—उरुशृंग; बल-भद्रः—बलभद्र; शत-केसरः—शतकेसर; सहस्र-स्रोतः—सहस्रस्रोत; देव-पालः—देवपाल; महानसः—महानस; इति—इस प्रकार; अनघा—अनघा; आयुर्दा—आयुर्दा; उभयस्पृष्टिः—उभयस्पृष्टि; अपराजिता—अपराजिता; पञ्चपदी—पंचपदी; सहस्र-स्रुतिः—सहस्र-स्रुति; निज-धृतिः—निजधृति; इति—इस प्रकार।

इन द्वीपों में भी सात मर्यादा पर्वत तथा सात ही नदियाँ हैं। पर्वतों के नाम ईशान, उरुशृंग, बलभद्र, शतकेशर, सहस्र-स्रोत, देवपाल तथा महानस हैं तथा नदियाँ अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पंचपदी, सहस्रस्रुति तथा निजधृति हैं।

तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रतनामानो भगवन्तं वाय्वात्मकं प्राणायामविधूतरजस्तमसः परमसमाधिना यजन्ते. ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तत्-वर्ष-पुरुषाः—उस वर्ष के निवासी; ऋत-व्रत—ऋतव्रत; सत्य-व्रत—सत्यव्रत; दान-व्रत—दानव्रत; अनुव्रत—अनुव्रत; नामानः—इन (चार) नाम वाले; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; वायु-आत्मकम्—वायु देवता के रूप में; प्राणायाम—प्राणायाम द्वारा; विधूत—निर्मल बनाया; रजः-तमसः—रजोगुण तथा तमोगुण; परम समाधिना—परम समाधि द्वारा; यजन्ते—उपासना करते हैं।

उन द्वीपों के वासी भी ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत तथा अनुव्रत—इन चार वर्णों में विभक्त हैं, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के समान हैं। वे प्राणायाम तथा योग साधते हैं और समाधि द्वारा वायु रूप में परमेश्वर भगवान् की उपासना करते हैं।

अन्तःप्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः ।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात्पातु नो यद्वशे स्फुटम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-प्रविश्य—अन्तःकरण में प्रवेश करके; भूतानि—समस्त प्राणियों का; यः—जो; बिभर्ति—पालन करता है; आत्म-केतुभिः—अन्तः वायु की क्रियाओं (प्राण, अपान इत्यदि) द्वारा.); अन्तर्यामी—अन्तस्थ परमात्मा; ईश्वरः—परमेश्वर; साक्षात्—साक्षात्; पातु—पालन करे; नः—हमारा; यत्-वशे—जिसके वश में; स्फुटम्—विराट जगत।

[शाकद्वीप के निवासी वायु रूप में श्रीभगवान् की उपासना निम्नलिखित शब्दों से करते हैं] हे परम पुरुष, देह के भीतर परमात्मा रूप में स्थित आप विभिन्न वायुओं यथा प्राण की विभिन्न क्रियाओं का संचालन करने वाले तथा समस्त जीवात्माओं का पालन करने वाले हैं। हे ईश्वर, हे परमात्मा, हे विराट जगत के नियामक, आप सभी प्रकार के संकटों से हमारी रक्षा करें।

तात्पर्य : योगीजन प्राणायाम नामक योगक्रिया के बल से शरीर के भीतर वायु को रोक कर शरीर को स्वस्थ रखते हैं। इस प्रकार योगी समाधि दशा को प्राप्त होते हैं और अपने हृदय-प्रदेश में श्रीभगवान् को देखने का प्रयास करते हैं। अपने हृदय-प्रदेश में श्रीभगवान् को अन्तर्यामी रूप में देखकर उसमें तल्लीन रहने के लिए समाधि की अवस्था प्राप्त करना आवश्यक है जो प्राणायाम के माध्यम से सम्भव है।

एवमेव दधिमण्डोदात्परतः पुष्करद्वीपस्ततो द्विगुणायामः समन्तत उपकल्पितः समानेन स्वादूदकेन समुद्रेण बहिरावृतो यस्मिन्बृहत्पुष्करं ज्वलनशिखामलकनकपत्रायुतायुतं भगवतः कमलासनस्याध्यासनं परिकल्पितम्. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम् एव—इस प्रकार; दधि-मण्ड-उदात्—मट्ठे के सागर से; परतः—परे; पुष्कर-द्वीपः—पुष्कर द्वीप नामक अन्य द्वीप; ततः—उस (शाकद्वीप) की अपेक्षा; द्वि-गुण-आयामः—जिसका विस्तार दुगुना है; समन्ततः—चारों दिशाओं में; उपकल्पितः—घिरा हुआ; समानेन—समान विस्तार वाला; स्वादु-उदकेन—मधुर जल वाले; समुद्रेण—समुद्र से; बहिः—बाहर से; आवृतः—घिरा हुआ; यस्मिन्—जिसमें; बृहत्—विशाल; पुष्करम्—कमल पुष्प; ज्वलन-शिखा—प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओं सदृश; अमल—निर्मल; कनक—स्वर्ण; पत्र—पत्तियाँ; अयुत-अयुतम्—लाखों अथवा दस करोड़; भगवतः—अत्यन्त शक्तिमान; कमल आसनस्य—ब्रह्मा का, जिनका आसन कमल है; अध्यासनम्—आसन; परिकल्पितम्—माना जाता है।

दधि के समुद्र से बाहर पुष्कर नाम का एक अन्य द्वीप है जो इस समुद्र से दुगनी चौड़ाई वाला अर्थात् ६४,००,००० योजन (२२,००,००० मील) है। यह द्वीप अपने ही समान चौड़ाई वाले मधुर जल के सागर से घिरा हुआ है। पुष्कर द्वीप में अग्नि की ज्वालाओं के समान देदीप्यमान दस करोड़ स्वर्णिम पंखुड़ियों वाला विशाल कमल का पुष्प है, जो सर्वशक्तिमान तथा इसी कारण कभी कभी भगवान् कहलाने वाले ब्रह्मा का आसन माना जाता है।

तद्द्वीपमध्ये मानसोत्तरनामैक एवार्वाचीनपराचीनवर्षयोर्मर्यादाचलोऽयुतयोजनोच्छ्रायायामो यत्र तु चतसृषु दिक्षु चत्वारि पुराणि लोकपालानामिन्द्रादीनां यदुपरिष्टात्सूर्यरथस्य मेरुं परिभ्रमतः संवत्सरात्मकं चक्रं देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमति. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्-द्वीप-मध्ये—उस द्वीप के मध्य में; मानसोत्तर—मानसोत्तर; नाम—नामक; एकः—एक; एव—निस्सन्देह; अर्वाचीन—इस ओर; पराचीन—उस ओर; वर्षयोः—वर्षों (भूभागों) के; मर्यादा—सीमा सूचक; अचलः—पर्वत; अयुत—दस हजार; योजन—आठ मील तुल्य दूरी; उच्छ्राय-आयामः—जिसकी ऊँचाई तथा चौड़ाई; यत्र—जहाँ; तु—लेकिन; चतसृषु—चारों; दिक्षु—दिशाओं में; चत्वारि—चार; पुराणि—नगर; लोक-पालानाम्—लोकों के पालकों का; इन्द्र-आदीनाम्—इंद्र आदि; यत्—जिसका; उपरिष्टात्—ऊपर; सूर्य-रथस्य—सूर्य देव के रथ का; मेरुम्—मेरु पर्वत; परिभ्रमतः—परिक्रमा करते हुए; संवत्सर-आत्मकम्—एक संवत्सर वाला; चक्रम्—चक्र; देवानाम्—देवताओं का; अहः-रात्राभ्याम्—दिन तथा रात्रि से; परिभ्रमति—चक्कर लगाता है।

उस द्वीप के बीचोंबीच, भीतरी तथा बाहरी ओर की सीमा बनाने वाला मानसोत्तर नाम का एक पर्वत है। यह दस हजार योजन (८०,००० मील) ऊँचा और इतना ही चौड़ा है इसके ऊपर चारों दिशाओं में इन्द्रादि लोकपालों की पुरियाँ हैं। सूर्यदेव अपने रथ में आरूढ़ होकर इस पर्वत के ऊपर संवस्तर नामक परिधि में, जो मेरु पर्वत का चक्कर लगाती है, यात्रा करते हैं। उत्तर दिशा में सूर्य का पथ उत्तरायण और दक्षिण दिशा में दक्षिणायन कहलाता है। देवताओं के लिए एक दिशा में दिन होता है, तो दूसरी में रात्रि।

तात्पर्य : सूर्य की गति की पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (.२) से भी होती है— *यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृत-कालचक्रः।* सूर्य छः मास तक सुमेरु पर्वत की उत्तर दिशा में और छः मास तक दक्षिण दिशा में चक्कर लगाता है। स्वर्गलोक के देवताओं के दिन और रात्रि की यही अवधियाँ हैं।

तद्द्वीपस्याप्यधिपतिः प्रैयव्रतो वीतिहोत्रो नामैतस्यात्मजौ रमणकधातकिनामानौ वर्षपती नियुज्य स स्वयं पूर्वजवद्भगवत्कर्मशील एवास्ते. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्-द्वीपस्य—उस द्वीप का; अपि—भी; अधिपतिः—राजा; प्रैयव्रतः—महाराज प्रियव्रत का पुत्र; वीतिहोत्रः नाम—वीतिहोत्र नामक; एतस्य—उसके; आत्म-जौ—अपने दो पुत्रों को; रमणक—रमणक; धातकि—तथा धातकि; नामानौ—नाम वाले; वर्ष-पती—दोनों वर्षों के स्वामी; नियुज्य—नियुक्त करके; सः स्वयम्—वह स्वयं; पूर्वज-वत्—अपने अन्य भाइयों के समान; भगवत्-कर्म-शीलः—श्रीभगवान् को प्रसन्न करने में लीन; एव—निस्सन्देह; आस्ते—लगा रहता है।

इस द्वीप का अधिपति महाराज प्रियव्रत का पुत्र वीतिहोत्र था जिसके रमणक तथा धातकी नामक दो पुत्र हुए। उसने इन दोनों पुत्रों को इस द्वीप के दोनों छोर दे दिये और स्वयं अपने अग्रज मेधातिथि के समान श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर रहने लगा।

तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं सकर्मकेण कर्मणाराधयन्तीदं चोदाहरन्ति. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्-वर्ष-पुरुषा:—उस द्वीप के वासी; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; ब्रह्म-रूपिणम्—कमलासीन भगवान् ब्रह्मा के रूप में; स-कर्मकेण—भौतिक कामनाओं की पूर्ति हेतु; कर्मणा—वेदविहित अनुष्ठान करके; आराधयन्ति—आराधना करते हैं; इदम्—यह; च—तथा; उदाहरन्ति—जप करते हैं।

इस द्वीप के वासी अपनी भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए ब्रह्मा के रूप में श्रीभगवान् की आराधना करते हैं। वे इस प्रकार उनकी स्तुति करते हैं।

यत्तत्कर्ममयं लिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं जनोऽर्चयेत् ।
एकान्तमद्वयं शान्तं तस्मै भगवते नम इति ॥ ३३॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—वह; कर्म-मयम्—वैदिक कृत्यों के द्वारा प्राप्य; लिङ्गम्—स्वरूप को; ब्रह्म-लिङ्गम्—जिससे परब्रह्म जाने जाते हैं; जन:—व्यक्ति; अर्चयेत्—अर्चना करनी चाहिए; एकान्तम्—एक परम ब्रह्म में पूर्ण आस्था रखने वाला; अद्वयम्—अभिन्न; शान्तम्—शान्त; तस्मै—उन; भगवते—सर्वशक्तिमान को; नम:—नमस्कार है; इति—इस प्रकार।

भगवान् ब्रह्मा कर्ममय कहलाते हैं, क्योंकि अनुष्ठानों को करके कोई भी उनका पद प्राप्त कर सकता है और उन्हीं से वैदिक अनुष्ठान-स्तुतियाँ प्रकट होती हैं। वे अविचल भाव से श्रीभगवान् की भक्ति करते हैं, अत: एक प्रकार से वे भगवान् से अभिन्न हैं। फिर भी उनकी उपासना एकान्तिक भाव से न करके द्वैत भाव से करनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि अपने को दास मानते हुए पर-ब्रह्म को ही परम आराध्य माने। अत: हम भगवान् ब्रह्मा को साक्षात् वेदज्ञान के रूप में नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *कर्म-मयम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। वेदों का वचन है—*स्वधर्म-निष्ठ: शतजन्मभि: पुमान् विरिञ्चताम् एति*—जो एक सौ जन्मों तक वर्णाश्रम धर्म के नियमों का कठोरता से पालन करता है उसे ब्रह्मा-पद की प्राप्ति होती है। यद्यपि भगवान् ब्रह्मा अत्यन्त शक्तिमान हैं, किन्तु वे कभी भी अपने को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न नहीं मानते, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात है कि वे ईश्वर के शाश्वत दास हैं। चूँकि आध्यात्मिक स्तर पर अभिन्न रूप से भगवान् तथा दास एक हैं, इसीलिए ब्रह्मा को यहाँ भगवान् कहा गया है। भगवान् तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं, किन्तु यदि कोई भक्त परम आस्था से उनकी सेवा करता है, तो वैदिक साहित्य का उसे ज्ञान हो जाता है। इसीलिए ब्रह्मा को *ब्रह्मलिंग* कहा जाता है, जिससे यह बोध होता है कि उनका सम्पूर्ण स्वरूप वैदिक ज्ञानमय है।

ऋषिरुवाच
तत: परस्ताल्लोकालोकनामाचलो लोकालोकयोरन्तराले परित उपक्षिप्त:. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ततः—मधुर जल के सागर से; परस्तात्—परे, आगे; लोकालोक-नाम—लोकालोक नामक; अचलः—पर्वत; लोक-अलोकयोः अन्तराले—प्रकाश तथा अंधकार से पूर्ण देशों के मध्य में; परितः—चारों ओर; उपक्षिप्तः—विद्यमान है।.

इसके पश्चात् मृदुल जल वाले सागर के आगे तथा इसको पूरी तरह घेरने वाला लोकालोक नामक पर्वत है जो देशों को सूर्य से प्रकाशित तथा अप्रकाशित इन दो भागों में विभाजित कर देता है।

यावन्मानसोत्तरमेर्वोरन्तरं तावती भूमिः काञ्चन्यन्यादर्शतलोपमा यस्यां प्रहितः पदार्थो न कथञ्चित्पुनः प्रत्युपलभ्यते तस्मात्सर्वसत्त्वपरिहृतासीत्. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जहाँ तक; मानसोत्तर-मेर्वोः अन्तरम्—मानसोत्तर तथा मेरु के बीच की भूमि (सुमेरु पर्वत के मध्य से प्रारम्भ); तावती—वहाँ तक; भूमिः—भूमि; काञ्चनी—स्वर्णनिर्मित; अन्या—अन्य; आदर्श-तल-उपमा—जिसका तल दर्पण की तरह है; यस्याम्—जिस पर; प्रहितः—गिराई हुई; पदार्थः—वस्तु; न—नहीं; कथञ्चित्—किसी प्रकार से; पुनः—फिर; प्रत्युपलभ्यते—पाई जाती है; तस्मात्—अतः; सर्व-सत्त्व—सारे जीवों द्वारा; परिहृता—परित्यक्त; आसीत्—थी।.

मृदुल जल के सागर से आगे सुमेरु पर्वत के मध्य से लेकर मानसोत्तर पर्वत की सीमा तक जितना अन्तर है उतनी भूमि है। उस भूभाग में अनेक प्राणी रहते हैं। उसके आगे लोकालोक पर्वत तक फैली हुई दूसरी भूमि है जो स्वर्णमय है। स्वर्णमय सतह के कारण यह दर्पण की तरह सूर्य प्रकाश को परावर्तित कर देती है, अतः इसमें गिरी हुई वस्तु पुनः नहीं दिखाई पड़ती। फलतः सभी प्राणियों ने इस स्वर्णमयी भूमि का परित्याग कर दिया है।

लोकालोक इति समाख्या यदनेनाचलेन लोकालोकस्यान्तर्वर्तिनावस्थाप्यते. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

लोक—प्रकाश(अथवा वासियों) से; अलोकः—प्रकाशरहित (अथवा वासियों से विहीन); इति—इस प्रकार से; समाख्या—पद; यत्—जो; अनेन—इस; अचलेन—पर्वत से; लोक—जीवात्माओं के देश; अलोकस्य—बिना प्राणियों वाले देश का; अन्तर्वर्तिना—मध्य में स्थित; अवस्थाप्यते—स्थित है।.

जीवात्माओं से युक्त तथा बिना प्राणियों वाले देशों के मध्य में एक विशाल पर्वत है जो इन दोनों को पृथक् करता हैं, अतः लोकालोक नाम से विख्यात है।

स लोकत्रयान्ते परित ईश्वरेण विहितो यस्मात्सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयोऽर्वाचीनांस्त्रींल्लोकानावितन्वाना न कदाचित्पराचीना भवितुमुत्सहन्ते तावदुन्नहनायामः. ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह पर्वत; लोक-त्रय-अन्ते—तीनों लोकों (भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक) के अन्त में; परितः—चारों ओर; ईश्वरेण—भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा; विहितः—सृष्टि की; यस्मात्—जिससे; सूर्य-आदीनाम्—सूर्यलोक का; ध्रुव-अपवर्गाणाम्—ध्रुव तथा अन्य निम्नतर नक्षत्रों तक; ज्योतिः-गणानाम्—समस्त नक्षत्रों का; गभस्तयः—किरणें; अर्वाचीनान्—इस दिशा में; त्रीन्—तीन; लोकान्—लोक; आवितन्वानाः—विस्तीर्ण; न—नहीं; कदाचित्—किसी समय; पराचीनाः—उस पर्वत की सीमा के परे; भवितुम्—होने के लिए; उत्सहन्ते—समर्थ हैं; तावत्—उतना; उन्नहन-आयामः—पर्वत की ऊँचाई की माप।

श्रीकृष्ण की परमेच्छा से लोकालोक नामक पर्वत तीनों लोकों—भूर्लोक, भूवर्लोक तथा स्वर्लोक—की बाहरी सीमा के रूप में स्थापित किया गया है, जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूर्य की किरणों का नियंत्रण किया जा सके। सूर्य से लेकर ध्रुवलोक एवं सारे नक्षत्र इन तीनों लोकों में इस पर्वत के द्वारा निर्मित सीमा के अन्तर्गत अपनी किरणें बिखेरते हैं। चूँकि यह पर्वत ध्रुवलोक से भी ऊँचा है, अतः यह नक्षत्रों की किरणों को अवरुद्ध कर लेता है, जिससे वे कभी भी इसके बाहर प्रसारित नहीं हो पातीं।

तात्पर्य : लोकत्रय से हमारा प्रयोजन उन तीन लोकों—भूः, भुवः तथा स्वः—से है जिनमें यह ब्रह्माण्ड विभक्त है। इन लोकों को घेरने वाली आठ दिशाएँ हैं, जिनके नाम हैं-पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उत्तर-पूर्व, दक्षिण-पूर्व, उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम। लोकालोक पर्वत की स्थापना समस्त लोकों की बाह्य सीमा में इसलिए की गई, जिससे सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों की किरणें समस्त ब्रह्माण्ड में समान रूप से वितरित हों।

सूर्य की किरणें ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में जिस प्रकार वितरित होती हैं, इसका यह वर्णन अत्यन्त वैज्ञानिक है। शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को यह विश्वविवरण जैसा अपने पूर्वजों से सुना था कह सुनाया। उन्होंने इन तथ्यों को पाँच हजार वर्ष पूर्व कह सुनाया था, किन्तु यह ज्ञान बहुत काल पहले से उपलब्ध था और श्रीशुकदेव गोस्वामी ने इसे शिष्य परम्परा से प्राप्त किया। परम्परा से प्राप्त होने से यह ज्ञान पूर्ण है। इसके विपरीत आधुनिक विज्ञान का इतिहास कुछ सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। अतः यदि आधुनिक विज्ञानी *श्रीमद्भागवत* के अन्य तथ्यों को न भी स्वीकार करें तो भी वे दीर्घकाल से चली आने वाली नक्षत्रविज्ञान सम्बन्धी पूर्ण गणनाओं को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं? *श्रीमद्भागवत* से अथाह सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती है। किन्तु आधुनिक विज्ञानियों को अन्य लोकों के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है और वास्तविकता तो यह है कि जिस लोक में हम रह रहे हैं उससे भी वे ठीक से परिचित नहीं हो पाये हैं।

एतावाँल्लोकविन्यासो मानलक्षणसंस्थाभिर्विचिन्तितः कविभिः स तु पञ्चाशत्कोटिगणितस्य भूगोलस्य तुरीयभागोऽयं लोकालोकाचलः. ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; लोक-विन्यासः—विभिन्न लोकों का वितरण; मान—परिमाप; लक्षण—लक्षण, चिह्न; संस्थाभिः—तथा उनकी विभिन्न स्थितियाँ; विचिन्तितः—वैज्ञानिक गणनाओं द्वारा निश्चित की गई; कविभिः—विद्वानों के द्वारा; सः—वह; तु—लेकिन; पञ्चाशत्-कोटि—पचास करोड़ योजन; गणितस्य—गणना करने पर; भू-गोलस्य—भूगोलक नामक लोक का; तुरीय-भागः—चतुर्थांश; अयम्—यह; लोकालोक-अचलः—लोकालोक नामक पर्वत।

त्रुटि, भ्रम तथा वंचना से मुक्त विद्वानों ने प्रमाण, लक्षण और स्थिति के अनुसार लोकों का इतना ही विस्तार बतलाया है। उन्होंने विचार-विमर्श के बाद यह स्थापना की है कि सुमेरु तथा लोकालोक पर्वत की दूरी ब्रह्माण्ड के व्यास की चतुर्थांश अर्थात् १२,०,००० (साढ़े बारह करोड़) योजन (एक अरब मील) है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने लोकालोक पर्वत की स्थिति, सूर्य गोलक की गतियों तथा सूर्य एवं ब्रह्माण्ड की परिधि के बीच की दूरी के सम्बन्ध में सही-सही ज्योतिषीय वैज्ञानिक जानकारी प्रस्तुत की है। किन्तु ज्योतिर्वेद द्वारा इन गणनाओं में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का अंग्रेजी में अनुवाद कर पाना कठिन है। अत: पाठकों को सन्तुष्ट करने के लिए हम श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा संस्कृत में दिए गये कथन को यथावत् उद्धृत कर रहे हैं—

स तु लोकालोकस्तु भूगोलकस्य भूसम्बन्धाण्डगोलकस्येत्यर्थः। सूर्यस्य एव भुवोऽप्य-ण्डगोलकयोर्मध्यवर्तित्वात् खगोलमिव भूगोलमपि पंचाशत्कोटियोजनप्रमाणं तस्य तुरीयभागः सार्धद्वादशकोटियोजनविस्तारोच्छ्राय इत्यर्थः भूस्तु चतुस्त्रिंशल्लक्षोनपञ्चाशतकोटिप्रमाणा ज्ञेया। यथा मेरुमध्यान्मानसोत्तरमध्यपर्यन्तं सार्द्धसप्तपञ्चाशल्लक्षोत्तरकोटियोजनप्रमाणम्। मानसोत्तरमध्यात्स्वादूदकसमुद्रपर्यन्तं षण्णवतिलक्षयोजनप्रमाणं ततः काञ्चनीभूमिः सार्धसप्तपञ्चाशल्लक्षोत्तरकोटियोजनप्रमाणा एवमेकतो मेरुलोकालोकयोरन्तरालमेकादशशल्लक्षाधिकचतुष्कोटिपरिमितमन्यतोऽपि तथत्येतो लोकालोकाल्लोकपर्यन्तं स्थानं द्वाविंशतिलक्षोत्तराष्टकोटिपरिमितं लोकालोकाद्बहिरप्येकतः एतावदेव अन्यतोऽप्येतावदेव यद्वक्ष्यते, योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणं च व्याख्यातं यद्बर्हिर्लोकालोकाचलादित्येकतो लोकालोकः सार्धद्वादशकोटियोजपरिमाणतः अन्यतोऽपि स तथेत्येवं

चतुस्त्रिंशल्लक्षोनपञ्चाशत्कोटिप्रमाणा भूः साब्धिद्वीपपर्वता ज्ञेया। अतएवाण्डगोलकात् सर्वतो दिक्षु सप्तदशलक्षयोजनावकाशे वर्तमाने सति पृथिव्याः शेषनागेन धारणं दिग्गजैश्च निश्चलीकरणं सार्थकं भवेदन्यथा तु व्याख्यान्तरे पञ्चाशतकोटिप्रमाणत्वाद् अण्डगोलकलग्नत्वे तत् तत् सर्वम् अकिंचित्करं स्यात् चाक्षुषे मन्वन्तरे चाकस्मात् मज्जनं श्रीवराहदेवेनोत्थापनं च दुर्घटं स्यादित्यधिकं विवेचनीयम्।

तदुपरिष्टाच्चतसृष्वाशास्वात्मयोनिनाखिलजगद्गुरुणाधिनिवेशिता ये द्विरदपतय ऋषभः पुष्करचूडो वामनोऽपराजित इति सकललोकस्थितिहेतवः. ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तत्-उपरिष्टात्—लोकालोक पर्वत की चोटी पर; चतसृषु आशासु—चारों दिशाओं में; आत्म-योनिना—भगवान् ब्रह्मा द्वारा; अखिल-जगत्-गुरुणा—समस्त ब्रह्माण्ड के गुरु; अधिनिवेशिताः—स्थापित; ये—वे सब; द्विरद-पतयः—हाथियों में श्रेष्ठ; ऋषभः—ऋषभ; पुष्कर-चूडः—पुष्करचूड; वामनः—वामन; अपराजितः—अपराजित; इति—इस प्रकार; सकल-लोक-स्थिति-हेतवः—विश्व के अन्तर्गत विभिन्न लोकों के पालन के कारण।

लोकालोक पर्वत के ऊपर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के परम-गुरु भगवान् ब्रह्मा के द्वारा स्थापित गजों में श्रेष्ठ चार गज-पति हैं। इन गजों के नाम हैं-ऋषभ, पुष्करचूड़, वामन तथा अपराजित। ये ब्रह्माण्ड के लोकों को धारण करते हैं।

तेषां स्वविभूतीनां लोकपालानां च विविधवीर्योपबृंहणाय भगवान्परममहापुरुषो महाविभूतिपतिरन्तर्याम्यात्मनो विशुद्धसत्त्वं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याद्यष्टमहासिद्ध्युपलक्षणं विष्वक्सेनादिभिः स्वपार्षदप्रवरैः परिवारितो निजवरायुधोपशोभितैर्निजभुजदण्डैः सन्धारयमाणस्तस्मिन्गिरिवरे समन्तात्सकललोकस्वस्तय आस्ते. ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनमें से; स्व-विभूतीनाम्—जो उनके व्यक्तिगत अंश-विस्तार तथा सेवक हैं; लोक-पालानाम्—जिन पर विश्व के कार्य व्यापारों की देख-रेख का भार है; च—तथा; विविध—नाना प्रकार; वीर्य-उपबृंहणाय—शक्तियों के प्रसार हेतु; भगवान्—श्रीभगवान्; परम-महा-पुरुषः—सभी प्रकार के ऐश्वर्य के आद्य स्वामी, श्रीभगवान्; महा-विभूति-पतिः—समस्त अकल्पनीय शक्तियों के स्वामी; अन्तर्यामी—परमात्मा; आत्मनः—अपना; विशुद्ध-सत्त्वम्—प्रकृति के गुणों से निष्कलुष अस्तित्त्व वाला; धर्म-ज्ञान-वैराग्य—धर्म, ज्ञान तथा वैराग्य का; ऐश्वर्य-आदि—समस्त प्रकार के ऐश्वर्य का; अष्ट—आठ; महा-सिद्धि—तथा महान् सिद्धियाँ; उपलक्षणम्—गुणमय; विष्वक्सेन-आदिभिः—विष्वक्सेन आदि अपने अंश-विस्तार द्वारा; स्व-पार्षद-प्रवरैः—अपने श्रेष्ठ सहायकों से; परिवारितः—घिरे हुए; निज—अपना; वर-आयुध—विभिन्न प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों द्वारा; उपशोभितैः—सुशोभित; निज—निजी; भुज-दण्डैः—भुजदण्ड द्वारा; सन्धारयमाणः—इस रूप को प्रकट करके; तस्मिन्—उस समस्त लोकों के कल्याण हेतु; गिरि-वरे—महान् पर्वत; समन्तात्—चारों ओर; सकल-लोक-स्वस्तये—सारे लोकों के लाभ हेतु; आस्ते—है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त दिव्य ऐश्वर्य तथा चिदाकाश के स्वामी हैं। वे परम पुरुष हैं अर्थात् भगवान् हैं, वे प्रत्येक प्राणी के परमात्मा हैं। स्वर्ग लोक के राजा इन्द्र के अधीन देवतागण इस भौतिक जगत के कार्यों का निरीक्षण करते हैं। विभिन्न लोकों के प्राणियों के लाभ हेतु तथा उन हाथियों तथा देवताओं की शक्ति को बढ़ाने के लिए भगवान् स्वयं उस पर्वत

की चोटी पर प्रकृति के गुणों से अदूषित दिव्य शरीर धारण करके प्रकट होते हैं। अपने निजी प्रकाश तथा विष्वक्सेन जैसे सहायकों से घिरे रह कर वे अपने पूर्ण ऐश्वर्य (यथा ज्ञान तथा धर्म) एवं अपनी शक्तियों (यथा अणिमा, लघिमा तथा महिमा) को प्रदर्शित करते हैं। वे सुअलंकृत हैं और अपनी चारों भुजाओं में विविध आयुध धारण किये हुए हैं।

आकल्पमेवं वेषं गत एष भगवानात्मयोगमायया विरचितविविधलोकयात्रागोपीयायेत्यर्थः. ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आ-कल्पम्—कल्प के अन्त तक; एवम्—इस प्रकार; वेषम्—वेश; गतः—स्वीकार किया; एषः—यह; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-योग-मायया—अपनी योगमाया से; विरचित—सम्पन्न; विविध-लोक-यात्रा—विभिन्न लोकों का जीवनयापन; गोपीयाय—पालन करने भर को; इति—इस प्रकार; अर्थः—प्रयोजन।.

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विविध रूप, यथा नारायण तथा विष्णु, विभिन्न आयुधों से अलंकृत हैं। श्रीभगवान् अपनी योगमाया से उत्पन्न समस्त लोकों का पालन करने के लिए इन रूपों को प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.६) में भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है—*सम्भवाम्यात्ममायया*—मैं अपनी आन्तरिक शक्ति से प्रकट होता हूँ। *आत्ममाया* शब्द से ईश्वर की अपनी शक्ति योगमाया का बोध होता है। अपनी योगमाया से भौतिक तथा वैकुण्ठ जगत दोनों की सृष्टि करने के पश्चात् वे विष्णु तथा देवताओं के विभिन्न रूपों में विस्तारित होकर इसका पालन करते हैं। वे भौतिक सृष्टि का आरम्भ से अन्त तक पालन करते हैं और दिव्य लोक का वे स्वयं पालन करते हैं।

योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणं च व्याख्यातं यद्बहिर्लोकालोकाचलात्; ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरन्ति. ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यः—वह जो; अन्तः-विस्तारः—लोकालोक पर्वत की आन्तरिक दूरी; एतेन—इससे; हि—ही; अलोक-परिमाणम्—अलोक वर्ष का विस्तार; च—तथा; व्याख्यातम्—वर्णित; यत्—जो; बहिः—बाहर की ओर; लोकालोक-अचलात्—लोकालोक पर्वत से आगे; ततः—वह; परस्तात्—परे, आगे; योगेश्वर-गतिम्—ब्रह्माण्ड के आवरणों को भेदने के लिए योगेश्वर (कृष्ण) का मार्ग; विशुद्धाम्—भौतिक कलुष से रहित; उदाहरन्ति—वे कहते हैं।.

हे राजन्, लोकालोक पर्वत के बाहर अलोकवर्ष है जो पर्वत के भीतरी चौड़ाई के विस्तार के बराबर अर्थात् १२,०,००,००० (साढ़े बा रह करोड़) योजन (एक अरब मील) तक विस्तीर्ण है। अलोक वर्ष के परे भौतिक जगत से मुक्ति के इच्छुक व्यक्तियों का गन्तव्य है।

इसको प्रकृति के भौतिक गुण कलुषित नहीं कर पाते, अत: यह पूर्णतया विशुद्ध है। ब्राह्मण के पुत्रों को वापस लाते समय श्रीकृष्ण अर्जुन को इसी स्थान से होकर ले गये थे।

**अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ।
सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ॥ ४३ ॥**

शब्दार्थ

अण्ड-मध्य-गतः—**ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित**; सूर्यः—**सूर्य गोलक**; द्याव्-आभूम्योः—**भूर्लोक तथा भुवर्लोक नामक दो लोक**; यत्—**जो**; अन्तरम्—**के मध्य**; सूर्य—**सूर्य का**; अण्ड-गोलयोः—**तथा ब्रह्माण्ड के**; मध्ये—**बीच में**; कोट्यः—**एक करोड़ के समूह**; स्युः—**हैं**; पञ्च-विंशतिः—**पच्चीस**।

सूर्य इस ब्रह्माण्ड के मध्य में, भूर्लोक तथा भुवर्लोक के मध्यवर्ती भाग में स्थित है, जिसे अन्तरिक्ष कहते हैं। सूर्य तथा ब्रह्माण्ड की परिधि के बीच की दूरी पच्चीस कोटि योजन (३ अरब मील) है।

तात्पर्य : कोटि शब्द का अर्थ करोड़ है तथा योजन आठ मील के बराबर होता है। इस ब्रह्माण्ड का व्यास पचास करोड़ योजन (चार अरब मील) है। चूँकि सूर्य मध्य में स्थित है, अत: सूर्य से ब्रह्माण्ड के सिरे तक की दूरी पच्चीस करोड़ योजन (दो अरब मील) आँकी गई है।

**मृतेऽण्ड एष एतस्मिन्यदभूत्ततो मार्तण्ड इति व्यपदेशः ।
हिरण्यगर्भ इति यद्धिरण्याण्डसमुद्भवः. ॥ ४४ ॥**

शब्दार्थ

मृते—**मृत**; अण्डे—**गोलक में**; एषः—**यह**; एतस्मिन्—**इसमें**; यत्—**जो**; अभूत्—**सृष्टि के समय स्वयं प्रविष्ट हुआ**; ततः—**उससे**; मार्तण्ड—**मार्तण्ड**; इति—**इस प्रकार**; व्यपदेशः—**नाम**; हिरण्य-गर्भः—**हिरण्यगर्भ नाम से विख्यात**; इति—**इस प्रकार**; यत्—**क्योंकि**; हिरण्य-अण्ड-समुद्भवः—**उनकी देह हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुई**।

सूर्यदेव वैराज अर्थात् समस्त जीवात्माओं के लिए सम्पूर्ण भौतिक शरीर भी कहलाते हैं। ब्रह्माण्ड की सृष्टि के समय ब्रह्माण्ड के अण्डे के भीतर प्रवेश करने के कारण वे मार्तण्ड भी कहलाते हैं। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) से भौतिक शरीर प्राप्त करने के कारण वे हिरण्यगर्भ भी कहलाते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा का पद परम पूर्णता प्राप्त तथा आध्यात्मिकता में उन्नत जीवों के लिए है। ऐसे जीवों के अभाव में विष्णु भगवान् अपना विस्तार ब्रह्मा के रूप में करते हैं, किन्तु ऐसा विरले ही होता है। फलत: ब्रह्मा दो प्रकार के हैं—कभी वे सामान्य जीवात्मा के रूप में रहते हैं, तो कभी श्रीभगवान्

के रूप में। यहाँ पर सामान्य ब्रह्मा का उल्लेख हुआ है। ब्रह्मा चाहे जिस रूप में हों वे वैराज ब्रह्मा तथा हिरण्यगर्भ ब्रह्मा कहे जाते हैं। इसीलिए सूर्यदेव को भी वैराज ब्रह्मा के रूप में माना गया है।

सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्मही भिदा ।
स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सूर्येण—सूर्यदेव द्वारा; हि—ही; विभज्यन्ते—विभाजित हैं; दिशः—दिशाएँ; खम्—आकाश; द्यौः—स्वर्गलोक; मही—पृथ्वीलोक; भिदा—अन्य वर्गीकरण; स्वर्ग—स्वर्गलोक; अपवर्गौ—मुक्ति के लिए स्थान; नरकाः—नरकलोक; रसौकांसि—यथा अतल; च—भी; सर्वशः—सभी।

हे राजन्, सूर्यदेव तथा सूर्यलोक ब्रह्माण्ड की समस्त दिशाओं को विभाजित करते हैं। सूर्य की उपस्थिति के ही कारण हम समझ पाते हैं कि आकाश, स्वर्गलोक, यह संसार तथा पाताललोक क्या हैं। सूर्य के ही कारण हम जान पाते हैं कि भोग या मोक्ष के स्थान कौन-कौन से हैं और कौन से नरक तथा अतल आदि लोक हैं।

देवतिर्यङ्मनुष्याणां सरीसृपसवीरुधाम् ।
सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं; तिर्यक्—निम्न पशुओं; मनुष्याणाम्—तथा मनुष्यों का; सरीसृप—कीट तथा सर्प; स-वीरुधाम्—तथा पेड़-पौधे; सर्व-जीव-निकायानाम्—समस्त जीव समूहों का; सूर्यः—सूर्यदेव; आत्मा—प्राण तथा आत्मा; दृक्—नेत्र के; ईश्वरः—भगवान्।

सूर्यलोक से सूर्यदेव द्वारा प्रदान की जा रही उष्मा तथा प्रकाश पर ही समस्त जीवात्माएँ, जिनमें देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, रेंगनेवाले जीव, लताएँ तथा वृक्ष सम्मिलित हैं, निर्भर हैं। सूर्य की ही उपस्थिति में सभी प्राणी देख सकते हैं, इसीलिए वह दृग्-ईश्वर अर्थात् दृष्टि के ईश्वर कहलाते हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है—*सूर्य आत्मा आत्मत्वेनोपास्यः।* इस ब्रह्माण्ड में सूर्य ही समस्त प्राणियों का जीवन और आत्मा है। इसीलिए वह उपास्य है। हम सूर्यदेव की उपासना गायत्री मंत्र के जप (*ॐ भुर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि*) द्वारा करते हैं। सूर्य इस ब्रह्माण्ड का उसी प्रकार जीवन और आत्मा है, जिस प्रकार श्रीभगवान् इस समस्त सृष्टि के हैं। ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं जिन के लिए सूर्य देव जीवन और आत्मा

हैं। हमें ज्ञात है कि वैराज, हिरण्यगर्भ ने सूर्य नामक विशाल भौतिक गोलक में प्रवेश किया। अत: तथाकथित वैज्ञानिकों का यह कथन है कि वहाँ कोई नहीं वास करता, असत्य है। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि उन्होंने सर्वप्रथम सूर्यदेव को गीता का उपदेश दिया (*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्*)। अत: सूर्य रिक्त नहीं है। इसमें जीवात्माएँ निवास करती हैं और इसका प्रधान श्रीविग्रह वैराज अथवा विवस्वान् है। पृथ्वी तथा सूर्य में यही अन्तर है कि सूर्य अग्निमय लोक है, किन्तु वहाँ के प्राणी अनुकूल शरीर धारण करके बिना कठिनाई के वहाँ निवास कर सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''ब्रह्माण्ड की रचना का विश्लेषण'' नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter इक्कीस

सूर्य की गतियों का वर्णन

इस अध्याय में सूर्य की गतियों का वर्णन हुआ है। सूर्य स्थिर नहीं है, यह भी अन्य ग्रहों की भाँति गतिमान है। सूर्य की गतियों से दिन और रात्रि की अवधि का निर्धारण होता है। जब सूर्य विषुवत् रेखा के उत्तर में यात्रा करता है, तो वह दिन में अत्यन्त मन्द तथा रात्रि में अत्यन्त तेजी से गति करता है, जिससे दिन बड़े और रातें छोटी होती हैं। इसी प्रकार जब सूर्य विषुवत् रेखा के दक्षिण में गति करता है, तो इसके विपरीत होता है—दिन छोटे तथा रातें लम्बी होती हैं। जब सूर्य कर्क राशि में प्रवेश करके सिंह राशि से होता हुआ धनु राशि में पहुँचता है, तो उसके पथ को दक्षिणायन कहा जाता है। इसी प्रकार जब सूर्य मकर राशि में प्रवेश करके कुम्भ राशि से होता हुआ मिथुन राशि में पहुँचता है, तो इस पथ को उत्तरायण कहते हैं। जब सूर्य मेष तथा तुला राशियों में रहता है, तो दिन और रात समान होते हैं।

मानसोत्तर पर्वत में चार देवताओं का निवास है। सुमेरु पर्वत के पूर्व स्थित देवधानी में राजा इन्द्र का तथा सुमेरु के दक्षिण स्थित संयमनी में मृत्यु के अधीक्षक यमराज का वास है। इसी प्रकार सुमेरु के पश्चिम निम्लोचनी में जल के स्वामी वरुण का आवास है। सुमेरु के उत्तर में विभावरी है जहाँ चन्द्र देवता निवास करता है। इन सभी स्थानों में सूर्य की गति के कारण प्रात:, मध्याह्न, सूर्यास्त तथा

अर्धरात्रि होती है। सूर्योदय के स्थान के ठीक सामने सूर्यास्त होता है। इसी प्रकार जहाँ मध्याह्न है उसके ठीक सामने की ओर के प्राणी अर्धरात्रि का अनुभव करते हैं। सूर्य अन्य समस्त ग्रहों समेत, जिनमें चन्द्रमा तथा अन्य नक्षत्र प्रमुख हैं, उदय और अस्त होता रहता है।

सम्पूर्ण कालचक्र सूर्यदेव के रथ के चक्र पर स्थापित है। यह चक्र संवत्सर कहलाता है। सूर्य के रथ को खींचने वाले सातों अश्व गायत्री, बृहती, उष्णिक्, जगती, त्रिष्टुप, अनुष्टुप तथा पंक्ति कहलाते हैं। वे अरुणदेव नामक देवता द्वारा ९,००,००० योजन चौड़े जुए में जोते जाते हैं। इस प्रकार यह रथ आदित्यदेव अथवा सूर्यदेव को ले जाता है। सूर्यदेव के समक्ष सदैव स्तुति करते हुए वालिखिल्य नामक साठ हजार ऋषि रहते हैं। प्रत्येक मास सूर्यदेव के माध्यम से विभिन्न नामों से श्रीभगवान् की आराधना करने वाले चौदह गंधर्व, अप्सराएँ तथा सात श्रेणियों में विभक्त अनेक देवता हैं। इस प्रकार सूर्यदेव १६,००४ मील प्रति क्षण की गति से इस ब्रह्माण्ड की ९,१,००,००० योजन (७६०,८००,००० मील) की प्रदक्षिणा करता है।

श्रीशुक उवाच
एतावानेव भूवलयस्य सन्निवेशः प्रमाणलक्षणतो व्याख्यातः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एतावान्—इतना; एव—ही; भू-वलयस्य सन्निवेशः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की योजना; प्रमाण-लक्षणतः—लक्षणों तथा माप के अनुसार (पचास करोड़ योजन या ४ अरब लम्बाई तथा चौड़ाई); व्याख्यातः—अनुमान किया गया।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्, मैंने यहाँ तक आपसे विद्वानों के अनुमानों के आधार पर ब्रह्माण्ड के व्यास (पचास करोड़ योजन या ४ अरबमील) तथा इसके सामान्य लक्षणों का वर्णन किया है।

एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनां ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितम्. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एतेन—इस अनुमान के आधार पर; हि—निस्सन्देह; दिवः—स्वर्गलोक का; मण्डल-मानम्—गोलक का परिमाण(माप); तत्-विदः—इसको जानने वाले विद्वज्जन; उपदिशन्ति—उपदेश देते हैं; यथा—जिस प्रकार; द्वि-दलयोः—दो अर्द्धभागों में; निष्पाव-आदीनाम्—अन्न के दाने यथा गेहूँ के; ते—दो विभागों का; अन्तरेण—बीच के स्थान में; अन्तरिक्षम्—आकाश या बाह्य-आकाश; तत्—दोनों के द्वारा; उभय—दोनों ओर; सन्धितम्—जहाँ दोनों भाग जुड़े हैं।

जिस प्रकार गेहूँ के दाने को भागों में विभाजित कर देने पर निचले भाग के परिमाण

(आकार) का ज्ञान होने पर ऊपरी भाग का पता लगाया जाता है उसी प्रकार भूगोलवेत्ताओं का कहना है कि इस ब्रह्माण्ड के ऊपरी भाग की माप को तभी समझा जा सकता है, जब निचले भाग की माप ज्ञात हो। भूलोक तथा द्युलोक के बीच का आकाश अन्तरिक्ष अथवा बाह्य-आकाश कहलाता है। यह भूलोक की चोटी तथा द्युलोक के निचले भाग को जोड़ता है।

यन्मध्यगतो भगवांस्तपतां पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा स एष उदगयनदक्षिणायनवैषुवतसंज्ञाभिर्मान्द्यशैघ्र्यसमानाभिर्गतिभिरारोहणावरोहणसमानस्थानेषु यथासवनमभिपद्यमानो मकरादिषु राशिष्वहोरात्राणि दीर्घह्रस्वसमानानि विधत्ते. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिस (मध्यावकाश) का; मध्य-गतः—मध्य में स्थित होने से; भगवान्—सर्वशक्तिमान; तपताम् पतिः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को तपाने वालों का स्वामी; तपनः—सूर्यः; आतपेन—ताप से; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों को; प्रतपति—तप्त करता है; अवभासयति—प्रकाशित करता है; आत्म-भासा—अपनी भास्कर किरणों से; सः—वह; एषः—सूर्यगोलक; उदगयन—विषुवत रेखा के उत्तर की ओर गमन का; दक्षिण-अयन—विषुवत रेखा के दक्षिण गमन का; वैषुवत—अथवा विषुवत रेखा पार करने का; संज्ञाभिः—विभिन्न नामों से; मान्द्य—मन्दता से; शैघ्र्य—शीघ्रता से; समानाभिः—तथा समानता से; गतिभिः—गति से; आरोहण—ऊपर जाने; अवरोहण—नीचे जाने की; समान—मध्य में स्थित रहने की; स्थानेषु—स्थितियों में; यथा-सवनम्—श्रीभगवान् की आज्ञानुसार; अभिपद्यमानः—गति करते हुए; मकर-आदिषु—मकर आदि; राशिषु—विभिन्न राशियों में; अहः-रात्राणि—दिन तथा रात्रियाँ; दीर्घ—लम्बे; ह्रस्व—छोटे; समानानि—समान; विधत्ते—करता है।

उस अन्तरिक्ष के मध्य में ताप उत्पन्न करने वाले समस्त ग्रहों का राजा परम तेजवान सूर्य है जो अपने प्रकाश से समस्त ब्रह्माण्ड को तप्त करता है और उसको वास्तविक स्वरूप प्रदान करता है। यह समस्त जीवात्माओं को प्रकाश प्रदान करता है, जिससे वे देख पाते हैं। श्रीभगवान् की आज्ञानुसार वह उत्तरायण, दक्षिणायन होकर या विषुवत रेखा को पार करते हुए मन्द, शीघ्र और मध्यम गतियों से घूमता हुआ समयानुसार मकरादि राशियों में ऊँचे-नीचे और समान स्थानों में जाकर दिन तथा रात को बड़ा, छोटा या समान बनाता है।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* (.२) में भगवान् ब्रह्मा की स्तुति है—

यच्चक्षुरेष सवितासकलग्रहाणां

राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।

यस्याज्ञया भ्रमति संवृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

“मैं उन आदिदेव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द की आराधना करता हूँ, जिनके नियंत्रण में ईश्वर

के नेत्र माने जाने वाले सूर्य भी काल की स्थिर कक्ष्या में घूमते हैं। सूर्य समस्त लोकों का राजा है और उसमें असीम ताप तथा प्रकाश-शक्ति है।" यद्यपि सूर्य को भगवान् अर्थात् सर्वशक्तिमान कहा गया है और सचमुच ही यह इस ब्रह्माण्ड का सर्वशक्तिमान ग्रह है फिर भी इसे गोविन्द अर्थात् श्रीकृष्ण का आदेश-पालन करना होता है। सूर्यदेव अपनी निर्धारित परिधि से एक इंच भी विचलित नहीं हो सकते। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में श्रीभगवान् के परमादेश का पालन होता है। सम्पूर्ण भौतिक प्रकृति उनके आदेश का पालन करती है। किन्तु अज्ञानवश हम प्रकृति की क्रियाओं के पीछे भगवान् को तथा उनके परमादेश को नहीं समझ पाते। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृति:* अर्थात् यह भौतिक प्रकृति ईश्वर के आदेशों का पालन करती है, जिससे सभी वस्तुओं का नियमन होता है।

यदा मेषतुलयोर्वर्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ति यदा वृषभादिषु पञ्चसु च राशिषु चरति तदाहान्येव वर्धन्ते ह्रसति च मासि मास्येकैका घटिका रात्रिषु. ॥ ४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मेष-तुलयो:—मेष तथा तुला राशियों में; वर्तते—सूर्य रहता है; तदा—उस समय; अह:-रात्राणि—दिन तथा रातें; समानानि—समान अवधि की; भवन्ति—होती हैं; यदा—जब; वृषभ-आदिषु—वृषभ, मिथुन आदि; पञ्चसु—पाँच; च—भी; राशिषु—राशियों में; चरति—घूमता है; तदा—उस समय; अहानि—दिन; एव—निश्चय ही; वर्धन्ते—बढ़ते हैं; ह्रसति—घटते हैं; च—भी; मासि मासि—प्रत्येक मास में; एक-एका—एक; घटिका—आधा घंटा; रात्रिषु—रातों में।

जब सूर्य मेष या तुला राशि पर आता है, तो दिन और रात की अवधि समान हो जाती है। जब यह वृषभ इत्यादि पाँचों राशियों पर से गुजरता है, तो दिन (कर्क तक) बढ़ता जाता है और तब प्रति मास आधा घंटा घटता रहता है, जब तक दिन तथा रात्रि पुन: (तुला में) समान नहीं हो जाते।

यदा वृश्चिकादिषु पञ्चसु वर्तते तदाहोरात्राणि विपर्ययाणि भवन्ति. ॥ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; वृश्चिक-आदिषु—वृश्चिक इत्यादि; पञ्चसु—पाँच; वर्तते—रहता है; तदा—उस काल; अह:-रात्राणि—दिन तथा रात; विपर्ययाणि—इसके विपरीत (दिन घटता और रात बढ़ती है); भवन्ति—होते हैं।

जब सूर्य वृश्चिक इत्यादि पाँच राशियों से होकर गुजरता है, तो दिन घटता है (जब तक यह मकर राशि पर नहीं आ जाता) और फिर क्रमश: मास प्रति मास बढ़ता जाता है जब तक दिन और रात समान (मेष पर) नहीं हो जाते।

यावद्दक्षिणायनमहानि वर्धन्ते यावदुदगयनं रात्रय:. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; दक्षिण-अयनम्—सूर्य दक्षिण को चला जाता है; अहानि—दिन; वर्धन्ते—बढ़ते हैं; यावत्—जब तक; उदगयनम्—सूर्य उत्तर को जाता है (उत्तरायण); रात्रय:—रातें।.

सूर्य के दक्षिणायन होने तक दिन बढ़ते रहते हैं और उत्तरायण होने तक रातें लम्बी होती जाती हैं।

एवं नव कोटय एकपञ्चाशल्लक्षाणि योजनानां मानसोत्तरगिरिपरिवर्तनस्योपदिशन्ति तस्मिन्नैन्द्रीं पुरीं पूर्वस्मान्मेरोर्देवधानीं नाम दक्षिणतो याम्यां संयमनीं नाम पश्चाद्वारुणीं निम्लोचनीं नाम उत्तरत: सौम्यां विभावरीं नाम तासूदयमध्याह्नास्तमयनिशीथानीति भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तानि समयविशेषेण मेरोश्चतुर्दिशम्. ॥ ७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; नव—नौ; कोटय:—करोड़; एक-पञ्चाशत्—इक्यावन; लक्षाणि—लाख; योजनानाम्—योजनों का; मानसोत्तर-गिरि—मानसोत्तर पर्वत की; परिवर्तनस्य—परिक्रमा का; उपदिशन्ति—वे (विद्वान) उपदेश देते हैं; तस्मिन्—उस पर्वत पर; ऐन्द्रीम्—इन्द्र की; पुरीम्—पुरी, नगर; पूर्वस्मात्—पूर्व दिशा में; मेरो:—सुमेरु पर्वत की; देवधानीम्—देवधानी; नाम—नामक; दक्षिणत:—दक्षिण दिशा में; याम्याम्—यमराज का; संयमनीम्—संयमनी; नाम—नामक; पश्चात्—पश्चिम दिशा में; वारुणीम्—वरुण का; निम्लोचनीम्—निम्लोचनी; नाम—नामक; उत्तरत:—उत्तर दिशा में; सौम्याम्—चन्द्रमा का; विभावरीम्—विभावरी; नाम—नामक; तासु—इन सबों में; उदय—सूर्योदय; मध्याह्न—दोपहर; अस्तमय—सूर्यास्त; निशीथानि—अर्धरात्रि; इति—इस प्रकार; भूतानाम्—जीवात्माओं की; प्रवृत्ति—क्रियाशीलता; निवृत्ति—क्रियाशीलता का अन्त; निमित्तानि—कारण; समय-विशेषेण—विशेष समय द्वारा; मेरो:—सुमेरु पर्वत की; चतु:-दिशम्—चारों दिशाएँ।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे बोले—हे राजन्, जैसा पहले कह चुका हूँ पण्डितों का कहना है कि मानसोत्तर पर्वत के चारों ओर सूर्य का परिक्रमा-पथ ९,१,००,०० ० (नौ करोड़ इक्यावन लाख) योजन (७६ करोड़ आठ लाख मील) है। मानसोत्तर पर्वत पर मेरु के पूर्व की ओर इन्द्र की देवधानी, दक्षिण में यमराज की संयमनी, पश्चिम में वरुण की निम्लोचनी तथा उत्तर में चन्द्रमा की विभावरी नामक पुरियाँ स्थित हैं। इन सभी पुरियों में मेरु के चारों ओर विशिष्ट कालों के अनुसार सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त तथा अर्धरात्रि होती रहती है और तदनुसार समस्त जीवात्माएँ अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त अथवा निवृत्त होती रहती हैं।

तत्रत्यानां दिवसमध्यङ्गत एव सदादित्यस्तपति सव्येनाचलं दक्षिणेन करोति; यत्रोदेति तस्य ह समानसूत्रनिपाते निम्लोचति यत्र क्वचन स्यन्देनाभितपति तस्य हैष समानसूत्रनिपाते प्रस्वापयति तत्र गतं न पश्यन्ति ये तं समनुपश्येरन्. ॥ ८९॥

शब्दार्थ

तत्रत्यानाम्—मेरु पर्वत पर रहने वाली जीवात्माओं के लिए; दिवस-मध्यङ्गत:—मध्याह्नकालीन; एव—ही; सदा—सदैव; आदित्य:—सूर्य; तपति—तपता है; सव्येन—वाम दिशा को; अचलम्—सुमेरु पर्वत; दक्षिणेन—दक्षिण को (दक्षिण को बहते पवन से प्रेरित होकर सूर्य दक्षिण को जाता है); करोति—चलता है; यत्र—जहाँ; उदेति—उदय होता है; तस्य—उस स्थान का;

ह—निश्चय ही; समान-सूत्र-निपाते—सर्वथा विपरीत दिशा वाले बिन्दु पर ठीक दूसरी ओर; निम्लोचति—सूर्यास्त होता है; यत्र—जहाँ; क्वचन—कहीं; स्यन्देन—पसीने से; अभितपति—तपता है (मध्याह्न में); तस्य—उसका; ह—ही; एषः—यह (सूर्य); समान-सूत्र-निपाते—एकदम विपरीत बिन्दु पर ठीक दूसरी ओर; प्रस्वापयति—सूर्य सुलाता है (अर्द्धरात्रि में); तत्र—वहाँ; गतम्—गया हुआ; न पश्यन्ति—नहीं देखते; ये—जो; तम्—सूर्यास्त; समनुपश्येरन्—देखते हुए।

सुमेरु पर्वत पर रहने वाले प्राणी मध्याह्न के समय सदा ही अत्यन्त तप्त होते हैं, क्योंकि सूर्यदेव सदैव उनके सिर के ऊपर रहता है। यद्यपि सूर्य घड़ी की विपरीत दिशा में सुमेरु पर्वत को अपने बाईं ओर छोड़ता हुआ जाता है, किन्तु यह घड़ी की दिशा में भी घूमता है, जिससे पर्वत उसके दाईं ओर रहता दिखता है, क्योंकि उस पर दक्षिणावर्त पवन का प्रभाव पड़ता है। जहाँ सर्वप्रथम उदय होता सूर्य दिखता है, उसके ठीक दूसरी ओर वह अस्त होता दिखता है। उससे होकर एक सीधी रेखा खींची जाये तो इस रेखा के दूसरे सिरे के प्राणी मध्यरात्रि का अनुभव कर रहे होंगे। इसी प्रकार यदि अस्ताचल के प्राणी अपनी ठीक दूसरी ओर स्थित देशों में जायें तो उन्हें सूर्य उसी स्थिति में नहीं मिलेगा।

यदा चैन्द्र्याः पुर्याः प्रचलते पञ्चदशघटिकाभिर्याम्यां सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्धद्वादशलक्षाणि साधिकानि चोपयाति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; च—तथा; ऐन्द्र्याः—इन्द्र की; पुर्याः—पुरी से; प्रचलते—चलता है, गति करता है; पञ्चदश—पन्द्रह; घटिकाभिः—आधे घंटे की अवधि (वस्तुतः चौबीस मिनट); याम्याम्—यमराज के आवास तक; सपाद-कोटि-द्वयम्—सवा दो करोड़ (२,२००,०००) ; योजनानाम्—योजनों का; सार्ध—तथा आधा; द्वादश-लक्षाणि—बारह लाख; साधिकानि—पचास हजार अधिक; च—तथा; उपयाति—ऊपर से जाता है।

सूर्य इन्द्र की पुरी देवधानी से यमराज की पुरी संयमनी तक पन्द्रह घड़ियों (छः घंटे) में कुल मिलाकर २,३७,७००० योजन (१९, ०२,००,०००) की यात्रा करता है।

तात्पर्य : *साधिकानि* शब्द से *पंचविंशति-सहस्राधिकानि* अथवा २००० योजन की दूरी का अर्थ निकलता है। इस प्रकार इन दोनों पुरियों की दूरी जिसकी सूर्य यात्रा करता है दो करोड़ पचास लाख और साढ़े बारह लाख योजन है। यह दूरी २,३७, ७००० योजन अथवा १९,०२,००,००० मील है। सूर्य की पूरी परिक्रमा इस दूरी की चौगुनी अर्थात् ९,१,००,००० योजन (७६,०८,००,००० मील) है।

एवं ततो वारुणीं सौम्यामैन्द्रीं च पुनस्तथान्ये च ग्रहाः सोमादयो नक्षत्रैः सह ज्योतिश्चक्रे समभ्युद्यन्ति सह वा निम्लोचन्ति. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ततः—वहाँ से; वारुणीम्—वरुण की पुरी तक; सौम्याम्—पुरी जहाँ चन्द्रमा निवास करता है; ऐन्द्रीं च—और वह पुरी जहाँ इन्द्र निवास करता है; पुनः—फिर; तथा—इस तरह; अन्ये—अन्य; च—भी; ग्रहाः—ग्रह; सोम-आदयः—चन्द्रमा इत्यादि; नक्षत्रैः—सभी नक्षत्रों के; सह—साथ; ज्योतिः-चक्रे—स्वर्गीय गोलक में; समभ्युद्यन्ति—उदय होते हैं; सह—के साथ; वा—अथवा; निम्लोचन्ति—अस्त होते हैं।

सूर्य यमराज की पुरी से वरुण की पुरी निम्लोचनी पहुँचता है और फिर वहाँ से चन्द्रदेव की पुरी विभावरी से होते हुए पुनः इन्द्रपुरी पहुँच जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमा अन्यत्र नक्षत्रों तथा ग्रहों सहित ज्योतिश्चक्र में उदित और अस्त होता रहता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.२१) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*नक्षत्राणां अहं शशी*—"मैं नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।" इससे यह सूचित होता है कि चन्द्रमा अन्य नक्षत्रों के समान है। वैदिक साहित्य से विदित होता है कि इस ब्रह्माण्ड में एक ही सूर्य है जो गतिवान है। वैदिक साहित्य से इस पाश्चात्य सिद्धान्त की पुष्टि नहीं हो पाती कि आकाश के सभी ज्योतिपुंज विभिन्न सूर्य हैं। न ही हम यह मान सकते हैं कि ये नक्षत्र अन्य ब्रह्माण्डों के सूर्य हैं, क्योंकि प्रत्येक ब्रह्माण्ड के चारों ओर भौतिक तत्त्वों के अनेक स्तर होते हैं और इस प्रकार यद्यपि अनेक ब्रह्माण्ड संपुंजित हैं, किन्तु तो भी हम एक ब्रह्माण्ड से दूसरे को नहीं देख पाते। तात्पर्य यह है कि हम केवल इसी ब्रह्माण्ड के भीतर देख सकते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड का एक ब्रह्मा होता है और अन्य ग्रहों पर भी देवता हैं, किन्तु सूर्य केवल एक है।

एवं मुहूर्तेन चतुस्त्रिंशल्लक्षयोजनान्यष्टशताधिकानि सौरो रथस्त्रयीमयोऽसौ चतसृषु परिवर्तते पुरीषु. ॥ १२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मुहूर्तेन—एक मुहूर्त(४८ मिनट) में; चतुः-त्रिंशत्—चौंतीस; लक्ष—लाख; योजनानि—योजन; अष्ट-शताधिकानि—आठ सौ और; सौरः रथः—सूर्यदेव का रथ; त्रयी-मयः—जो गायत्री मंत्र द्वारा पूजित है.); असौ—वह; चतसृषु—चारों से होकर; परिवर्तते—घूमता है; पुरीषु—पुरियों से होकर।

इस प्रकार त्रयीमय अर्थात् ॐ भूर्भुवः स्वः शब्दों द्वारा पूजित सूर्यदेव का रथ ऊपर वर्णित चारों पुरियों से होकर एक मुहूर्त में ३४,००,८०० योजन (२,७२,०६,४०० मील) की गति से घूमता रहता है।

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवद्भ्रमन्मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति. ॥ १३॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; एकम्—एक; चक्रम्—चक्र; द्वादश—बारह; अरम्—अरे, तीलियाँ; षट्—छ:; नेमि—नेमि (रिम); त्रि-णाभि—नाभि (हब) के तीन खंड (आँवन); संवत्सर-आत्मकम्—संवत्सर स्वरूप; समामनन्ति—पूर्णतया वर्णन करते हैं; तस्य—सूर्यदेव का रथ; अक्षः—धुरी (एक्सल); मेरोः—सुमेरु पर्वत की; मूर्धनि—चोटी पर; कृतः—स्थिर; मानसोत्तरे—मानसोत्तर पर्वत पर; कृत—जड़ा हुआ, लगा; इतर-भागः—दूसरा सिरा; यत्र—जहाँ; प्रोतम्—लगा हुआ; रवि-रथ-चक्रम्—सूर्यदेव के रथ का चक्र; तैल-यन्त्र-चक्र-वत्—कोल्हू के समान; भ्रमत्—घूमते हुए; मानसोत्तर-गिरौ—मानसोत्तर पर्वत पर; परिभ्रमति—घूमता है।

सूर्यदेव के रथ में एक ही चक्र है, जिसे संवत्सर कहते हैं। बारहों महीने इसके बारह अरे, छह ऋतु, छः नेमियाँ (हाल) तथा तीन चार्तुमास इसके तीन भागों में विभाजित आँवने (नाभि) हैं। चक्र को धारण करने वाले धुरे का एक सिरा सुमेरु पर्वत की चोटी पर और दूसरा सिरा मानसोत्तर पर्वत पर टिका है। धुरे के बाहरी सिरे पर लगा यह पहिया कोल्हू के चक्र की भाँति निरन्तर मानसोत्तर पर्वत के चक्कर लगाता है।

तस्मिन्नक्षे कृतमूलो द्वितीयोऽक्षस्तुर्यमानेन सम्मितस्तैलयन्त्राक्षवद्ध्रुवे कृतोपरिभागः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

तस्मिन् अक्षे—उस धुरे में; कृत-मूलः—जिसका मूल भाग लगा है; द्वितीयः—दूसरा; अक्षः—धुरा; तुर्यमानेन—चौथाई; सम्मितः—मापा गया; तैल-यन्त्र-अक्ष-वत्—कोल्हू के धुरे के समान; ध्रुवे—ध्रुव लोक तक; कृत—लगा हुआ; उपरि-भागः—ऊपरी भाग।

कोल्हू के समान यह पहली धुरी एक दूसरी धुरी में लगी है जो इसकी चौथाई के बराबर लम्बी (३९,३७,०० योजन अथवा ३,१००,००० मील) है। इस द्वितीय धुरी का ऊपरी भाग वायु की रस्सी द्वारा ध्रुवलोक से जुड़ा है।

रथनीडस्तु षट्‍त्रिंशल्लक्षयोजनायतस्तत्तुरीयभागविशालस्तावान्रविरथयुगो यत्र हयाश्छन्दोनामानः सप्तारुणयोजिता वहन्ति देवमादित्यम्. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

रथ-नीडः—रथ का भीतरी भाग; तु—लेकिन; षट्-त्रिंशत्-लक्ष-योजन-आयतः—३६,००,००० योजन लम्बा; तत्-तुरीय-भाग—इसका चौथाई भाग (९,००,००० योजन); विशालः—चौड़ाई वाला; तावान्—तथा इतना ही; रवि-रथ-युगः—घोड़े के लिए जुआँ; यत्र—जहाँ; हयाः—घोड़े; छन्दः-नामानः—वैदिक छन्दों के विभिन्न नाम वाले; सप्त—सात; अरुण-योजिताः—अरुणदेव द्वारा नाधे गये; वहन्ति—ले जाते हैं; देवम्—देवता; आदित्यम्—सूर्यदेव को।

हे राजन्, रथ का भीतरी भाग ३६,००,००० योजन (२,८८,००,००० मील) लम्बा तथा इसका एक चौथाई चौड़ा ९,००,००० योजन तथा ७२,००,०००) है। रथ के घोड़ों के नाम गायत्री आदि वैदिक छन्दों पर रखे गये हैं और उन्हें अरुणदेव ऐसे जुएँ में जोतता है जो ९,००,००० योजन चौड़ा है। यह रथ लगातार सूर्यदेव को लिये रहता है।

तात्पर्य : *विष्णु पुराण* में कहा गया है—

गायत्री च बृहत्युष्णिग् जगती त्रिष्टुपेव च।

अनुष्टुप-पंक्तिरित्युक्ताश्छंदांसि हरयो रवे:॥

सूर्यदेव के रथ में जुते सातों घोड़े गायत्री, बृहति, जगती, उष्णिक्, त्रिष्टुप, अनुष्टुप तथा पंक्ति कहलाते हैं। विभिन्न वैदिक छन्द सूर्य के रथ को खींचने वाले सातों अश्वों के परिचायक हैं।

पुरस्तात्सवितुररुण: पश्चाच्च नियुक्त: सौत्ये कर्मणि किलास्ते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पुरस्तात्—सम्मुख; सवितु:—सूर्यदेव के; अरुण:—अरुण नामक देवता; पश्चात्—पीछे देखता हुआ; च—तथा; नियुक्त:—संलग्न; सौत्ये—रथ के; कर्मणि—कार्य में; किल—निश्चय ही; आस्ते—रहता है।

यद्यपि अरुणदेव सूर्यदेव के सम्मुख बैठ कर रथ को हाँकते हैं तथा घोड़ों को वश में रखते हैं, तो भी वे पीछे की ओर सूर्यदेव को देखते रहते हैं।

तात्पर्य : *वायुपुराण* में घोड़ों की स्थिति का वर्णन हुआ है—

सप्ताश्वरूपच्छन्दांसि वहन्ते वामतो रविम्।

चक्रपक्षनिबद्धानि चक्रेवाक्ष: समाहित:॥

यद्यपि अरुणदेव सबसे आगे के आसन पर आसीन होकर घोड़ों को वश में रखते हैं, किन्तु वे अपनी बाईं ओर से पीछे मुड़कर सूर्यदेव को देखते रहते हैं।

तथा वालिखिल्या ऋषयोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रा: षष्टिसहस्राणि पुरत: सूर्यं सूक्तवाकाय नियुक्ता: संस्तुवन्ति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

तथा—वहाँ; वालिखिल्या:—वालखिल्य नामक; ऋषय:—ऋषिगण; अङ्गुष्ठ-पर्व-मात्रा:—अंगूठे के आकार वाले; षष्टि-सहस्राणि—साठ हजार; पुरत:—सामने; सूर्यम्—सूर्यदेव; सु-उक्त-वाकाय—सुस्पष्ट बोलने के लिए; नियुक्ता:—नियुक्त किये गये; संस्तुवन्ति—स्तुति करते हैं।

अँगूठे के आकार वाले वालखिल्य नामक साठ हजार ऋषिगण सूर्य के आगे रहकर उनका स्वस्तिवाचन करते हैं।

तथान्ये च ऋषयो गन्धर्वाप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा इत्येकैकशो गणाः सप्त चतुर्दश मासि मासि भगवन्तं सूर्यमात्मानं नानानामानं पृथङ्नानानामानः पृथक्कर्मभिर्द्वन्द्वश उपासते. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तथा—इसी प्रकार; अन्ये—अन्य; च—भी; ऋषयः—ऋषिगण; गन्धर्व-अप्सरसः—गन्धर्व तथा अप्सराएँ; नागाः—नाग(सर्प); ग्रामण्यः—यक्ष; यातुधानाः—राक्षसगण; देवाः—देवता; इति—इस प्रकार; एक-एकशः—एक एक करके; गणाः—समूह; सप्त—सात; चतुर्दश—चौदह; मासि मासि—प्रत्येक महीने; भगवन्तम्—सर्वशक्तिमान देवता; सूर्यम्—सूर्य को; आत्मानम्—ब्रह्माण्ड का प्राण; नाना—अनेक; नामानम्—नाम वाला; पृथक्—भिन्न; नाना-नामानः—विभिन्न नाम वाला; पृथक्—भिन्न; कर्मभिः—अनुष्ठानों द्वारा; द्वन्द्वशः—दो के समूहों में, जोड़ों में; उपासते—उपासना करते हैं।

इसी प्रकार अन्य मुनि, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, यक्ष, राक्षस तथा देवतागण जो संख्या में चौदह हैं, किन्तु दो-दो के जोड़े में विभाजित हैं, प्रतिमास नया नाम धारण करके अनेक नामधारी, सर्वाधिक शक्तिमान देवता सूर्य के रूप में श्रीभगवान् की आराधना करने के लिए निरन्तर विभिन्न कर्मकाण्डों से उपासना करते रहते हैं।

तात्पर्य : विष्णु-पुराण में कहा गया है—

स्तुवन्ति मुनयः सूर्यं गन्धर्वैर्गीयते पुरः।

नृत्यन्तोऽप्सरसो यान्ति सूर्यस्यानु निशाचराः ॥

वहन्ति पन्नगा यक्षैः क्रियतेऽभिषुसंग्रहः।

वालिखिल्यास्तथैवैनं परिवार्य समासते ॥

सोऽयं सप्तगणः सूर्यमंडले मुनिसत्तम।

हिमोष्ण वारिवृष्टीणां हेतुत्वे समयं गतः ॥

सर्वशक्तिमान सूर्यदेवता की आराधना करते समय गन्धर्व उनके समक्ष गाते हैं, अप्सराएँ रथ के समक्ष नाचती हैं, निशाचर रथ का पीछा करते हैं, पन्नग रथ को सजाते हैं, यक्ष रथ की रक्षा करते हैं और वालखिल्य नामक ऋषिगण सूर्यदेवता को घेर कर स्तुति करते हैं। चौदह सहयोगियों के सात जोड़े ब्रह्माण्ड भर में हिम, ताप तथा वर्षा का उचित समय निश्चित करते हैं।

लक्षोत्तरं सार्धनवकोटियोजनपरिमण्डलं भूवलयस्य क्षणेन सगव्यूत्युत्तरं द्विसहस्त्रयोजनानि स भुङ्क्ते. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

लक्ष-उत्तरम्—१,००,००० अधिक; सार्ध—०,००,००० सहित ; नव-कोटि-योजन—९,००,००,००० योजन की; परिमण्डलम्—परिधि; भू-वलयस्य—पृथ्वी गोलक का भूमण्डल; क्षणेन—एक क्षण में; सगव्यूति-उत्तरम्—दो कोस (चार मील) अधिक; द्वि-सहस्त्र-योजनानि—२,००० योजन; सः—सूर्यदेव; भुङ्क्ते —तै करता है।

हे राजन्, भूमण्डल की परिक्रमा करते हुए सूर्यदेव एक क्षण में दो हजार योजन तथा दो कोस (१६,००४ मील) की गति से ९,१, ००,००० योजन (७६,०८८०,००० मील) की दूरी तय करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''सूर्य की गतियों का वर्णन'' नामक इक्कीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बाईस

ग्रहों की कक्ष्याएँ

इस अध्याय में ग्रहों की कक्ष्याओं का वर्णन मिलता है। चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों की गतियों के अनुसार इस ब्रह्माण्ड के सभी जीव शुभ तथा अशुभ स्थितियों में प्रवृत्त होते हैं। इसे नक्षत्रों का प्रभाव कहा जाता है।

सूर्यदेव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कार्य व्यापारों को, विशेष रूप से ताप, प्रकाश, ऋतु-परिवर्तन आदि को नियंत्रित करते हैं और नारायण के विस्तार (अंश) माने जाते हैं। वे ऋग्, यजुर तथा साम—इन तीन वेदों का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं, इसलिए त्रयीमय कहलाते हैं, जो भगवान् नारायण का ही रूप है। कभी-कभी सूर्यदेव को सूर्यनारायण भी कहा जाता हैं। सूर्यदेव ने स्वयं को बारह विभागों में विभाजित किया है और वे इस तरह छः ऋतुओं के परिवर्तन का नियंत्रण करते हुए शीत, ग्रीष्म तथा वर्षा आदि का कारण बनते हैं। वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए योगी तथा कर्मीजन अपने-अपने लाभ के लिए हठ या अष्टांग योग अथवा अग्निहोत्र यज्ञ द्वारा सूर्यनारायण की आराधना करते हैं। सूर्यदेव सदा श्रीभगवान् नारायण के सम्पर्क में रहते हैं। सूर्य ब्रह्माण्ड के भूलोक तथा भुवर्लोक के मध्य में स्थित अन्तरिक्ष में रहकर बारह राशियों के कालचक्र में घूमता हुआ राशि के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम धारण करता है। चन्द्रमा के अनुसार मास दो पक्षों में विभाजित है। इसी प्रकार सौर गणनाओं के अनुसार सूर्य को एक राशि में जितना समय लगता है, वह मास है, दो मास मिलकर ऋतु बनाते हैं और बारह मासों का एक वर्ष होता है। आकाश का सम्पूर्ण क्षेत्रफल दो अर्धों में विभक्त हैं जिनमें से प्रत्येक अयन कहलाता है, जो सूर्य द्वारा छः मास में तय किये जाने वाला मार्ग है। सूर्य कभी तीव्र गति से

चलता है, कभी मन्द गति से और कभी मध्यम गति से। इस प्रकार वह स्वर्ग, मर्त्य तथा अन्तरिक्ष—इन तीन लोकों की यात्रा करता है। विद्वान लोग इन कक्ष्याओं को संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर तथा वत्सर नामों से अभिहित करते हैं।

चन्द्रमा सूर्य की किरणों से १,००,००० योजन ऊपर स्थित है। स्वर्ग तथा पितृलोक में दिन तथा रात की गणना चन्द्रमा के घटने-बढ़ने के अनुसार की जाती है। चन्द्रमा से २,००,००० योजन की दूरी पर कुछ नक्षत्र स्थित हैं और इन नक्षत्रों के ऊपर शुक्रग्रह है जो ब्रह्माण्ड के समस्त वासियों के लिए कल्याणप्रद है। शुक्रग्रह से २,००,००० योजन ऊपर बुध ग्रह है जो कभी कल्याणप्रद होता है, तो कभी अशुभ। बुध ग्रह से २,००,००० योजन ऊपर अंगारक (मंगल) है, जिसका प्रभाव प्राय: प्रतिकूल होता है। अंगारक से भी २,००,००० योजन ऊपर बृहस्पति ग्रह है जो सुपात्र ब्राह्मणों के लिए सर्वदा अनुकूल होता है। बृहस्पति के ऊपर शनि नामक अत्यन्त अशुभ ग्रह है। इससे भी ऊपर विश्व का कल्याण मनाने वाले ऋषियों से युक्त सात नक्षत्रों का एक पुंज है। ये सातों नक्षत्र ध्रुवलोक की परिक्रमा करते हैं, जो इस ब्रह्माण्ड में भगवान् विष्णु का वास है।

राजोवाच

यदेतद्भगवत आदित्यस्य मेरुं ध्रुवं च प्रदक्षिणेन परिक्रामतो राशीनामभिमुखं प्रचलितं चाप्रदक्षिणं भगवतोपवर्णितममुष्य वयं कथमनुमिमीमहीति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा (महाराज परीक्षित) ने पूछा; यत्—जो; एतत्—इस; भगवतः—सर्वशक्तिमान; आदित्यस्य—सूर्य (सूर्यनारायण) का; मेरुम्—सुमेरु पर्वत; ध्रुवम् च—तथा ध्रुवलोक; प्रदक्षिणेन—दाहिने रखकर; परिक्रामतः—परिक्रमा करते हुए; राशीनाम्—राशियों की; अभिमुखम्—ओर मुख करके; प्रचलितम्—गति करते हुए; च—तथा; अप्रदक्षिणम्—बाँये रख कर; भगवता—आपके द्वारा; उपवर्णितम्—वर्णित; अमुष्य—उसका; वयम्—हम (श्रोता); कथम्—किस प्रकार; अनुमिमीमहि—तर्क तथा निर्णय द्वारा स्वीकार करें; इति—इस प्रकार।

राजा परीक्षित ने श्रीशुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे भगवान्, आपने पहले ही इस सत्य की पुष्टि की है कि परम शक्तिमान सूर्यदेव ध्रुवलोक तथा सुमेरु पर्वत को अपने दाएँ रखकर ध्रुवलोक की परिक्रमा करते हैं, तो भी वे राशियों की ओर मुख किये रहते हैं और सुमेरु तथा ध्रुवलोक को अपने बाएँ भी रखते हैं, अत: हम तर्क तथा निर्णय द्वारा किस प्रकार स्वीकार करें कि हर समय सूर्यदेव सुमेरु तथा ध्रुवलोक को दाएँ तथा बाएँ दोनों ओर रखते हुए चलते हैं?

स होवाच

यथा कुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वादेवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च प्रदक्षिणेन परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात्. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—शुकदेव गोस्वामी ने; ह—अत्यन्त स्पष्ट; उवाच—उत्तर दिया; यथा—जिस प्रकार; कुलाल-चक्रेण—कुम्हार के चाक के; भ्रमता—घूमते हुए; सह—साथ; भ्रमताम्—जो चारों ओर घूमते हुए, घूमने वाले; तत्-आश्रयाणाम्—उस (चक्र) में स्थित होकर; पिपीलिक-आदीनाम्—छोटी-छोटी चींटियों की; गतिः—गति; अन्या—दूसरी; एव—ही; प्रदेश-अन्तरेषु—विभिन्न स्थानों में; अपि—भी; उपलभ्यमानत्वात्—अनुभवगम्य होने के कारण; एवम्—इसी प्रकार; नक्षत्र-राशिभिः—नक्षत्रों तथा राशियों द्वारा; उपलक्षितेन—देखा जाकर; काल-चक्रेण—कालचक्र के साथ; ध्रुवम्—ध्रुवलोक नामक नक्षत्र; मेरुम्—सुमेरु पर्वत को; च—तथा; प्रदक्षिणेन—दाईं ओर; परिधावता—चारों ओर घूमते हुए; सह—साथ; परिधावमानानाम्—परिक्रमा करने वालों का; तत्-आश्रयाणाम्—जिनका आश्रय कालचक्र हैं; सूर्य-आदीनाम्—सूर्य आदि; ग्रहाणाम्—ग्रहों की; गतिः—गति; अन्या—अन्य; एव—निश्चय ही; नक्षत्र-अन्तरे—विभिन्न नक्षत्रों में; राशि-अन्तरे—विभिन्न राशियों में; च—तथा; उपलभ्यमानत्वात्—देखे जाने के कारण।

श्रीशुकदेव ने उत्तर दिया—जब कुम्हार के घूमते हुए चाक पर छोटी छोटी चींटियाँ बैठी रहती हैं, तो वे उसके साथ-साथ घूमती हैं, किन्तु उनकी गति चाक की गति से भिन्न होती हैं, क्योंकि कभी वे चाक के एक भाग में दिखती हैं, तो कभी दूसरे भाग पर। इसी प्रकार राशियाँ तथा नक्षत्र सुमेरु तथा ध्रुवलोक को अपने दाईं ओर रखकर कालचक्र के साथ घूमते हैं और सूर्य तथा अन्य ग्रह चींटी के तुल्य उनके साथ-साथ घूमते हैं। तो भी वे विभिन्न कालों में विभिन्न राशियों तथा नक्षत्रों में देखे जाते हैं। इससे सूचित होता है कि उनकी गति राशियों तथा कालचक्र से सर्वथा भिन्न है।

स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान्विदधाति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; भगवान्—परम शक्तिमान; आदि-पुरुषः—आदि पुरुष; एव—ही; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; नारायणः—श्रीभगवान् नारायण; लोकानाम्—अन्य लोकों के; स्वस्तये—लाभ हेतु; आत्मानम्—स्वयं; त्रयी-मयम्—तीन वेदों (साम, यजुर् तथा ऋग्) से युक्त; कर्म-विशुद्धि—कर्मों की शुद्धि; निमित्तम्—कारणरूप; कविभिः—महान् सन्तों द्वारा; अपि—भी; च—तथा; वेदेन—वैदिक ज्ञान से; विजिज्ञास्यमानः—पूछे जाने पर; द्वादश-धा—बारह विभागों में; विभज्य—विभाजित होकर; षट्सु—छः में; वसन्त-आदिषु—वसन्त आदि; ऋतुषु—ऋतुओं में; यथा-उपजोषम्—अपने पूर्व कर्मों के भोग के अनुसार; ऋतु-गुणान्—विभिन्न ऋतुओं के गुण; विदधाति—विधान करता है।

विराट जगत के आदि कारण भगवान् नारायण हैं। जब वैदिक ज्ञान से भली भाँति परिचित महान् साधुजनों ने परम पुरुष की स्तुति की तो वे समस्त लोकों का हित करने तथा कर्मों की

शुद्धि के लिए सूर्य के रूप में इस भौतिक जगत में अवतरित हुए। उन्होंने स्वयं को बारह भागों में विभाजित करके वसन्तादि ऋतुओं की सृष्टि की। इस प्रकार उन्होंने ताप, शीत इत्यादि ऋतु सम्बन्धी गुणों की सृष्टि की।

तमेतमिह पुरुषास्त्रय्या विद्यया वर्णाश्रमाचारानुपथा उच्चावचैः कर्मभिराम्नातैर्योगवितानैश्च श्रद्धया यजन्तोऽञ्जसा श्रेयः समधिगच्छन्ति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उस (श्रीभगवान्) को; एतम्—यह; इह—इस मर्त्यलोक में; पुरुषाः—सभी मनुष्य; त्रय्या—तीन विभागों वाले; विद्यया—वैदिक ज्ञान से; वर्ण-आश्रम-आचार—वर्णाश्रम धर्म; अनुपथाः—अनुसरण करते हुए; उच्च-अवचैः—वर्णाश्रम धर्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) में पद के अनुसार उच्च या निम्न; कर्मभिः—अपने कर्मों द्वारा; आम्नातैः—प्रदत्त; योग-वितानैः—ध्यान तथा अन्य योग-क्रियाओं से; च—तथा; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धा सहित; यजन्तः—आराधना करते हुए; अञ्जसा—बिना कठिनाई के; श्रेयः—जीवन का परम लाभ; समधिगच्छन्ति—प्राप्त करते हैं।

चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के लोग सामान्य रूप से सूर्यदेव के रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण की उपासना करते हैं। वे अत्यन्त श्रद्धा के साथ वेदत्रयी द्वारा प्रतिपादित अग्निहोत्र जैसे छोटे-बड़े सकाम कर्मों के अनुसार तथा योग क्रिया द्वारा परमात्मास्वरूप श्रीभगवान् की आराधना करते हैं। इस प्रकार वे सुगमतापूर्वक जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

अथ स एष आत्मा लोकानां द्यावापृथिव्योरन्तरेण नभोवलयस्य कालचक्रगतो द्वादश मासान्भुङ्क्ते राशिसंज्ञान्संवत्सरावयवान्मासः पक्षद्वयं दिवा नक्तं चेति सपादर्क्षद्वयमुपदिशन्ति यावता षष्ठमंशं भुञ्जीत स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः. ॥ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; सः—वह; एषः—यह; आत्मा—प्राणशक्ति; लोकानाम्—तीनों लोकों का; द्याव्-आ-पृथिव्योः अन्तरेण—ब्रह्माण्ड के ऊपरी तथा निचले भागों के मध्य; नभः-वलयस्य—अन्तरिक्ष का; काल-चक्र-गतः—काल के चक्र में आसीन; द्वादश मासान्—बारह महीने; भुङ्क्ते —तय करता है; राशि-संज्ञान्—राशियों के नाम पर; संवत्सर-अवयवान्—पूरे वर्ष के अंग; मासः—एक मास; पक्ष-द्वयम्—दो पखवाड़े; दिवा—दिन; नक्तम् च—तथा रात्रि; इति—इस प्रकार; सपाद-ऋक्ष-द्वयम्—ज्योतिष गणना के अनुसार दो तथा चौथाई (सवा दो) नक्षत्र; उपदिशन्ति—उपदेश देते हैं; यावता—जितने समय से; षष्ठम् अंशम्—अपनी कक्ष्या का छठवाँ भाग; भुञ्जीत—तय करता है; सः—वह भाग; वै—निस्संदेह; ऋतुः—ऋतु; इति—इस प्रकार; उपदिश्यते—उपदेशित होता है; संवत्सर-अवयवः—वर्ष का भाग।

सूर्यदेव जो नारायण अथवा विष्णु हैं और समस्त लोकों के आत्मा हैं, वे इस ब्रह्माण्ड के ऊपरी तथा निचले भागों (पृथ्वी तथा द्युलोक) के मध्य अन्तरिक्ष में स्थित हैं। कालचक्र में स्थित होकर बारह मासों को तय करते हुए सूर्य बारह राशियों के सम्पर्क में आकर उनके

अनुसार बारह भिन्न-भिन्न नाम धारण करते हैं। इन बारह मासों का योगफल संवत्सर अथवा एक पूर्ण वर्ष कहलाता है। चन्द्र गणना के अनुसार चन्द्रमा के घटने-बढ़ने के दो पक्ष मिल कर एक मास बनाते हैं। पितृलोक ग्रह पर यही काल एक दिन तथा रात के तुल्य है। ज्योतिष गणना के अनुसार एक मास सवा दो नक्षत्रों के बराबर होता है। जब सूर्य दो मास यात्रा कर लेता है, तो एक ऋतु बीतती है; इसलिए ऋतु के अनुसार होने वाले परिवर्तनों को वर्ष-देह का अंग माना जाता है।

अथ च यावतार्धेन नभोवीथ्यां प्रचरति तं कालमयनमाचक्षते. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; च—भी; यावता—जितने समय से; अर्धेन—आधा; नभः-वीथ्याम्—अन्तरिक्ष में; प्रचरति—सूर्य चलता है; तम्—उस; कालम्—समय को; अयनम्—अयन; आचक्षते—कहते हैं।

इस प्रकार आधे अन्तरिक्ष को पार करने में सूर्य को जितना समय लगता है, वह अयन कहलाता है [उत्तर या दक्षिण दिशा में]।

अथ च यावन्नभोमण्डलं सह द्यावापृथिव्योर्मण्डलाभ्यां कात्स्न्र्येन स ह भुञ्जीत तं कालं संवत्सरं परिवत्सरमिडावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्यशैघ्र्यसमगतिभिः समामनन्ति. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; च—भी; यावत्—जब तक; नभः-मण्डलम्—उच्च तथा निम्न लोक के मध्य का अन्तरिक्ष; सह—के साथ; द्यौ—ऊपरी जगत का; आपृथिव्योः—निम्न जगत का; मण्डलाभ्याम्—गोलक; कात्स्न्र्येन—पूर्णतः; सः—वह; ह—निस्संदेह; भुञ्जीत—तय करता है; तम्—उस; कालम्—काल, समय को; संवत्सरम्—संवत्सर; परिवत्सरम्—परिवत्सर; इडावत्सरम्—इडावत्सर; अनुवत्सरम्—अनुवत्सर; वत्सरम्—वत्सर; इति—इस प्रकार; भानोः—सूर्य की; मान्द्य—धीमी, मन्द; शैघ्र्य—तीव्र; सम—समान; गतिभिः—गतियों के द्वारा; समामनन्ति—अनुभवी विद्वान वर्णन करते हैं।

सूर्यदेव की तीन प्रकार की गतियाँ हैं—मन्द, तीव्र और मध्यम। इन तीनों गतियों से स्वर्ग, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष प्रक्षेत्रों के चारों ओर पूरी यात्रा करने में जितना समय लगता है उसे विद्वद्जन संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर तथा वत्सर—इन पाँच नामों से वर्णन करते हैं। सौर पद्धति ज्योतिष गणनाओं के अनुसार प्रत्येक वर्ष कलैण्डर वर्ष से छः दिन आगे तक जाता है और चन्द्र पक्षीय वर्षों में बारह दिन का अन्तर होता है, जैसे-जैसे सम्वत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर बीतते हैं, प्रत्येक पाँच वर्षों में दो अतिरिक्त मास जुड़ जाते हैं। इससे छठा सम्वत्सर बन जाता है, किन्तु अतिरिक्त सम्वत्सर होने के कारण सौर-पद्धति में

सम्वत्सरों की उपयुक्त पाँच नामों के अनुसार गणना की जाती है।

एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानोऽर्कस्य संवत्सरभुक्तिं पक्षाभ्यां मासभुक्तिं सपादर्क्षाभ्यां दिनेनैव पक्षभुक्तिमग्रचारी द्रुततरगमनो भुङ्क्ते. ॥ ८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; चन्द्रमा—चाँद; अर्क-गभस्तिभ्य:—सूर्य प्रकाश की किरणों से; उपरिष्टात्—ऊपर; लक्ष-योजनतः—१,००,००० योजन से; उपलभ्यमानः—स्थित रह कर; अर्कस्य—सूर्य का; संवत्सर-भुक्तिम्—भोग का व्यतीत हुआ एक वर्ष; पक्षाभ्याम्—दो पक्षों के द्वारा; मास-भुक्तिम्—व्यतीत एक मास; सपाद-ऋक्षाभ्याम्—सवा दो दिन से; दिनेन—एक दिन से; एव—केवल; पक्ष-भुक्तिम्—पक्ष की अवधि; अग्रचारी—आगे चलने वाला; द्रुत-तर-गमनः—अधिक तेजी से चलते हुए; भुङ्क्ते—तय करता है।

सूर्य-प्रकाश की किरणों से १,००,००० योजन (८,००,००० मील) ऊपर चन्द्रमा है जो सूर्य से अधिक तीव्र गति से यात्रा करता है। वह दो चन्द्र पक्षों में एक सौर संवत्सर के समान दूरी तय कर लेता है। अर्थात् सवा दो दिन में सूर्य के एक मास के तुल्य और एक दिन में सूर्य के एक पक्ष के बराबर दूरी तय कर लेता है।

तात्पर्य : जब हम इस तथ्य पर विचार करते हैं कि चन्द्रमा सूर्य की किरणों से १,००,००० योजन या ८,००,००० मील दूरी पर स्थित है, तो यह अत्यन्त विस्मयजनक लगता है कि चन्द्रमा तक आधुनिक यात्राएँ सम्भव हो सकीं। चूँकि चाँद इतनी दूर है इस कारण चन्द्रमा तक अन्तरिक्ष-यान कैसे पहुँच सके। यह संदेहास्पद रहस्य है। आधुनिक वैज्ञानिक गणनाएँ एक के बाद एक बदलती रहती हैं, अत: वे अनिश्चित हैं। हमें वैदिक साहित्य की गणनाओं को ही स्वीकार करना होगा। ये गणनाएँ स्थायी हैं। प्राचीन ज्योतिष-गणनाएँ वैदिक साहित्य में अंकित हैं और ये आज भी सही हैं। वैदिक अथवा आधुनिक गणनाओं में कौनसी अच्छी हैं, यह औरों के लिए रहस्यपूर्ण क्यों न हों, किन्तु हमारे विचार से वैदिक गणनाएँ ही सही हैं।

अथ चापूर्यमाणाभिश्च कलाभिरमराणां क्षीयमाणाभिश्च कलाभिः पितृणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः सर्वजीवनिवहप्राणो जीवश्चैकमेकं नक्षत्रं त्रिंशता मुहूर्तैर्भुङ्क्ते. ॥ ९॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; च—भी; आपूर्यमाणाभिः—क्रमशः बढ़ते हुए; च—तथा; कलाभिः—चन्द्रमा की कलाओं; अमराणाम्—देवताओं का; क्षीयमाणाभिः—क्रमशः घटते रहने से; च—तथा; कलाभिः—चन्द्र कलाओं से; पितृणाम्—पितृलोक-वासियों का; अहः-रात्राणि—दिन तथा रात; पूर्व-पक्ष-अपर-पक्षाभ्याम्—कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष से; वितन्वानः—वितरित करते हुए; सर्व-जीव-निवह—समस्त जीवात्माओं का; प्राणः—जीवन, प्राण; जीवः—जीव; च—भी; एकम् एकम्—एक के बाद एक; नक्षत्रम्—तारा-समूह; त्रिंशता—तीस; मुहूर्तैः—मुहूर्तों से; भुङ्क्ते—तय करता है।

जब चन्द्रमा बढ़ता है (शुक्ल पक्ष में) तो इसका प्रकाशमय अंश प्रतिदिन बढ़ता जाता है, जिससे देवताओं के लिए दिन और पितरों के लिए रात्रि उत्पन्न होती है। किन्तु जब चन्द्रमा घटता रहता है (कृष्ण पक्ष में) तो देवताओं के लिए रात्रि और पितरों के लिए दिन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार तीस मुहूर्तों में (पूरे एक दिन में) चन्द्रमा प्रत्येक नक्षत्र से होकर गुजरता है। चन्द्रमा अमृतमयी शीतलता प्रदान करके अन्नों की वृद्धि को प्रभावित करता है, इसलिए चन्द्रदेव को समस्त जीवात्माओं का प्राण माना जाता है। फलस्वरूप उसे इस ब्रह्माण्ड में वास करने वाला मुख्य प्राणी, जीव, कहा गया है।

य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान्मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एषः—यह; षोडश-कलः—सोलह कलाओं वाला (पूर्ण चन्द्रमा); पुरुषः—पुरुष; भगवान्—श्रीभगवान् से प्राप्त महान् शक्ति वाला; मनः-मयः—मन का प्रधान श्रीविग्रह; अन्न-मयः—अन्नों का शक्ति स्रोत; अमृत-मयः—अमृतमय; देव—समस्त देवताओं का; पितृ—समस्त पितृलोकवासियों का; मनुष्य—समस्त मानवगण; भूत—समस्त जीवात्माएँ; पशु—समस्त जानवर; पक्षि—पक्षियों का; सरीसृप—रेंगने वाले जन्तुओं का; वीरुधाम्—समस्त लताओं तथा वृक्षों का; प्राण—प्राणवायु; अपि—निश्चय ही; आयन-शीलत्वात्—पोषण करने से; सर्व-मयः—सर्वव्यापी; इति—इस प्रकार; वर्णयन्ति—विद्वान लोग वर्णन करते हैं।.

समस्त शक्तियों से पूर्ण होने के कारण चन्द्रमा श्रीभगवान् के प्रभाव का सूचक है। प्रत्येक व्यक्ति के मन का प्रमुख श्रीविग्रह होने के कारण चन्द्रमा मनोमय कहलाता है। वह अन्नमय भी कहलाता है क्योंकि वह समस्त वनस्पतियों तथा पौधों को शक्ति प्रदान करता है। समस्त जीवात्माओं का प्राणाधार होने से वह अमृतमय भी कहा जाता है। चन्द्रमा समस्त देवताओं, पितरों, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, सरीसृपों, वृक्षों, पौधों तथा अन्य सभी जीवात्माओं को प्रसन्न करने वाला हैं। सभी प्राणी चन्द्रमा की उपस्थिति से संतुष्ट रहते हैं; फलतः वह ''सर्वमय'' भी कहलाता है।

तत उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनतो नक्षत्राणि मेरुं दक्षिणेनैव कालायन ईश्वरयोजितानि सहाभिजिताष्टाविंशतिः. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ततः—चन्द्रमा के उस भाग से; उपरिष्टात्—ऊपर; द्वि-लक्ष-योजनतः—२,००,००० योजन; नक्षत्राणि—अनेक नक्षत्र; मेरुम्—सुमेरु पर्वत; दक्षिणेन एव—दाईं दिशा में; काल-अयने—कालचक्र में; ईश्वर-योजितानि—श्रीभगवान् द्वारा जोड़ा गया; सह—साथ; अभिजिता—अभिजित् नामक नक्षत्र; अष्टा-विंशतिः—अट्ठाइस।

चन्द्रमा से २,००,००० योजन (१६,००,०००) ऊपर कई नक्षत्र स्थित हैं। श्रीभगवान् ने उन्हें कालचक्र में संयुक्त कर रखा है, अतः ये सुमेरु पर्वत को दाईं ओर रखते हुए घूमते रहते हैं और इनकी गति सूर्य की गति से सर्वथा भिन्न होती है। अभिजित् सहित कुल अट्ठाइस नक्षत्र हैं।

तात्पर्य : यहाँ जिन नक्षत्रों का उल्लेख हुआ है वे सूर्य से १६,००,००० मील (२,००,००० योजन) ऊपर हैं। इस प्रकार वे पृथ्वी से ४०,००,००० मील ऊपर हुए।

तत उपरिष्टादुशना द्विलक्षयोजनत उपलभ्यते पुरतः पश्चात्सहैव वार्कस्य शैश्यमान्द्यसाम्याभिर्गतिभिरर्कवच्चरति लोकानां नित्यदानुकूल एव प्रायेण वर्षयंश्चारेणानुमीयते स वृष्टिविष्टम्भग्रहोपशमनः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—इन नक्षत्र पुञ्जों से; उपरिष्टात्—ऊपर; उशना—शुक्र; द्वि-लक्ष-योजनतः—२,००,००० योजन; उपलभ्यते—अनुभव किया जाता है; पुरतः—सामने; पश्चात्—पीछे; सह—साथ-साथ; एव—निस्सन्देह; वा—तथा; अर्कस्य—सूर्य का; शैश्य—तीव्र; मान्द्य—मन्द; साम्याभिः—समान; गतिभिः—गतियों से; अर्कवत्—सूर्य के ही समान; चरति—घूमता है; लोकानाम्—इस ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों का; नित्यदा—अनवरत; अनुकूलः—अनुकूल; एव—निस्सन्देह; प्रायेण—प्रायः; वर्षयन्—वर्षा करके; चारेण—बादल उठाकर; अनुमीयते—देखा जाता है; सः—वह (शुक्र); वृष्टि-विष्टम्भ—वर्षा के लिए बाधास्वरूप; ग्रह-उपशमनः—उपशमनकारी ग्रह।

इन नक्षत्रों से लगभग २,००,००० योजन (१६,००,००० मील) ऊपर शुक्र ग्रह है जो लगभग सूर्य की ही गति अर्थात् तीव्र, मन्द तथा मध्यम गतियों से घूमता है। वह कभी सूर्य के पीछे, कभी सामने और कभी उसी के साथ-साथ रहता है। वह वर्षा में विघ्न डालने वाले ग्रहों को शान्त करने वाला है, अतः इसकी उपस्थिति में वर्षा होती है और इसलिए यह इस ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के अनुकूल माना जाता है। इसे विद्वानों ने स्वीकार किया है।

उशनसा बुधो व्याख्यातस्तत उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनतो बुधः सोमसुत उपलभ्यमानः प्रायेण शुभकृद्यदार्काद्व्यतिरिच्येत तदातिवाताभ्रप्रायानावृष्ट्यादिभयमाशंसते. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

उशनसा—शुक्र से; बुधः—बुध; व्याख्यातः—जिसकी व्याख्या हो गई हो; ततः—उस (शुक्र) से; उपरिष्टात्—ऊपर; द्वि-लक्ष-योजनतः—२,००,००० योजन अर्थात् १६,००,००० मील; बुधः—बुध ग्रह; सोम-सुतः—चन्द्रमा का पुत्र; उपलभ्यमानः—अवस्थित है; प्रायेण—प्रायः; शुभ-कृत्—ब्रह्माण्ड के वासियों के लिए शुभ; यदा—जब; अर्कात्—सूर्य से; व्यतिरिच्येत—पृथक् किया जाता है; तदा—उस समय; अतिवात—चक्रवात तथा अन्य विघ्न; अभ्र—बादल; प्राय—प्रायः; अनावृष्टि-आदि—अनावृष्टि इत्यादि; भयम्—भय; आशंसते—बढ़ाता है।

बुध को शुक्र के ही समान बताया है, क्योंकि यह कभी सूर्य के पीछे, कभी सामने और कभी-कभी इसके साथ-साथ घूमता है। यह शुक्र से १६,००,००० मील अथवा पृथ्वी से ७२,००,००० मील ऊपर स्थित है। यह चन्द्रमा का पुत्र होने से विश्व के वासियों का मंगल करने वाला है, किन्तु जब यह सूर्य के साथ नहीं घूमता होता तो यह चक्रवात, अंधड़, अनियमित वर्षा तथा जलरहित बादलों की जानकारी देता है। इस प्रकार अवर्षा या अतिवर्षा के कारण यह भयावह परिस्थिति उत्पन्न करता है।

अत ऊर्ध्वमङ्गारकोऽपि योजनलक्षद्वितय उपलभ्यमानस्त्रिभिस्त्रिभिः पक्षैरेकैकशो राशीन्द्वादशानुभुङ्क्ते यदि न वक्रेणाभिवर्तते प्रायेणाशुभग्रहोऽघशंसः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

अतः—इससे; ऊर्ध्वम्—ऊपर; अङ्गारकः—मंगल; अपि—भी; योजन-लक्ष-द्वितये—२,००,००० योजन अर्थात् १६,००,००० मील की दूरी पर; उपलभ्यमानः—स्थित है; त्रिभिः त्रिभिः—तीन-तीन करके; पक्षैः—पक्ष; एक-एकशः—एक के पश्चात् एक; राशीन्—राशियाँ; द्वादश—बारह; अनुभुङ्क्ते —से पार करता है; यदि—यदि; न—नहीं; वक्रेण—वक्र सहित; अभिवर्तते—निकट पहुँचता है; प्रायेण—प्रायः; अशुभ-ग्रहः—प्रतिकूल, अमंगलकारी ग्रह; अघ-शंसः—कष्ट उत्पन्न करने वाला।

बुध से १६,००,००० मील ऊपर अथवा पृथ्वी से ८८,००,००० मील ऊपर मंगल ग्रह है। यदि यह वक्रगति से न चले तो एक-एक राशि को तीन-तीन पक्षों में पार करता हुआ क्रमशः बारहों राशियों में से यात्रा करता है। यह प्रायः सदैव वर्षा तथा अन्य प्रभावों के रूप में प्रतिकूल अवस्थाएँ उत्पन्न करता है।

तत उपरिष्टाद्द्विलक्षयोजनान्तरगता भगवान्बृहस्पतिरेकैकस्मिन्राशौ परिवत्सरं परिवत्सरं चरति यदि न वक्रः स्यात्प्रायेणानुकूलो ब्राह्मणकुलस्य. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ततः—वह (मंगल); उपरिष्टात्—ऊपर; द्वि-लक्ष-योजन-अन्तर-गताः—२,००,००० योजन अर्थात् १६,००,००० मील की दूरी पर स्थित; भगवान्—सर्वाधिक शक्तिमान ग्रह; बृहस्पतिः—बृहस्पति; एक-एकस्मिन्—एक के पश्चात् एक; राशौ—राशि में; परिवत्सरम् परिवत्सरम्—प्रति परिवत्सर तक; चरति—चलता है; यदि—यदि; न—नहीं; वक्रः—वक्र; स्यात्—हो जाता है; प्रायेण—प्रायः; अनुकूलः—शुभ; ब्राह्मण-कुलस्य—इस ब्रह्माण्ड के ब्राह्मणों के लिए।

मंगल से १,६००,००० योजन अथवा पृथ्वी से १०,४००,००० मील ऊपर बृहस्पति नामक ग्रह स्थित है जो एक परिवत्सर में एक राशि की यात्रा करता है। यदि यह वक्रगति से न चले तो यह ब्राह्मणों के लिए अत्यन्त अनुकूल रहता है।

तत उपरिष्टाद्योजनलक्षद्वयात्प्रतीयमानः शनैश्चर एकैकस्मिन्राशौ त्रिंशन्मासान्विलम्बमानः सर्वानेवानुपर्येति तावद्भिरनुवत्सरैः प्रायेण हि सर्वेषामशान्तिकरः. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ततः—वह (बृहस्पति); उपरिष्टात्—ऊपर; योजन-लक्ष-द्वयात्—२,००,००० योजन (१६,००,००० मील) की दूरी से; प्रतीयमानः—अवस्थित है; शनैश्चरः—शनिश्चर ग्रह; एक-एकस्मिन्—एक के पश्चात् एक; राशौ—राशि में; त्रिंशत् मासान्—तीस मास तक; विलम्-बमानः—विलम्ब करते हुए, रुकते हुए; सर्वान्—सभी बारह राशियाँ; एव—ही; अनुपर्येति—को पार करता है; तावद्भिः—उतने; अनुवत्सरैः—अनुवत्सरों से; प्रायेण—प्रायः; हि—निस्सन्देह; सर्वेषाम्—समस्त वासियों के लिए; अशान्तिकरः—अत्यधिक कष्टकारक ।.

बृहस्पति से २,००,००० योजन अर्थात् १६,००,००० मील और पृथ्वी से १,२०,००,००० मील ऊपर शनिग्रह स्थित है जो तीस-तीस मास में प्रत्येक राशि से होकर जाता है और तीस अनुवत्सरों में सम्पूर्ण राशिवृत्त पूरा करता है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए अत्यन्त अशुभ है।

तत उत्तरस्माद्दषय एकादशलक्षयोजनान्तर उपलभ्यन्ते य एव लोकानां शमनुभावयन्तो भगवतो विष्णोर्यत्परमं पदं प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ततः—शनि ग्रह; उत्तरस्मात्—ऊपर; ऋषयः—ऋषिगण; एकादश-लक्ष-योजन-अन्तरे—११,००,००० योजन की दूरी पर; उपलभ्यन्ते—अवस्थित है; ये—सभी; एव—ही; लोकानाम्—ब्रह्माण्ड के समस्त निवासियों के लिए; शम्—शुभ; अनुभावयन्तः—सदैव सोचते हैं; भगवतः—श्रीभगवान्; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; यत्—जो; परमम् पदम्—परम धाम; प्रदक्षिणम्—दायें रख कर; प्रक्रमन्ति—परिक्रमा करते हैं ।.

शनिग्रह से ११,००,००० योजन अर्थात् ८८,००,००० मील (अथवा पृथ्वी से २,०८,००,००० मील) ऊपर सप्तर्षि अवस्थित हैं, जो सदैव ब्रह्माण्ड के समस्त प्राणियों की मंगल-कामना करते रहते हैं। वे भगवान् विष्णु के परम धाम ध्रुवलोक की प्रदक्षिणा करते हैं।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से निम्नलिखित श्लोक उद्‌धृत किया है—

ज्ञानानन्दात्मनो विष्णुः शिशुमारवपुष्यथ ।

ऊर्ध्वलोकेषु स व्याप्त आदित्याद्यास्तदाश्रिता ॥

ज्ञान तथा दिव्य आनन्द के स्रोत भगवान् विष्णु ने ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च तल पर स्थित सातवें स्वर्ग में शिशुमार का रूप धारण किया। सूर्य आदि अन्य सभी ग्रह इस शिशुमार लोक के अधीन अवस्थित हैं।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''ग्रहों की कक्ष्याएँ'' नामक बाईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेइस

शिशुमार ग्रह-मण्डल

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार सभी ग्रह ध्रुवतारा अथवा ध्रुवलोक का आश्रय ग्रहण करते हैं। इसमें इसका भी वर्णन है कि ये सभी ग्रह मण्डल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के बाह्यशरीर के अन्य विस्तार *शिशुमार* के रूप में हैं। इस ब्रह्माण्ड के भीतर भगवान् विष्णु का आवास ध्रुवलोक, सप्तनक्षत्रों से १३,००,००० योजन की दूरी पर स्थित है। ध्रुवलोक ग्रहमंडल में अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, कश्यप तथा धर्म नामक नक्षत्र सम्मिलित हैं और ये सभी नक्षत्र धुव्र तारा पर रहने वाले परम भक्त ध्रुव को आदर की दृष्टि से देखते हैं। सभी नक्षत्र काल द्वारा प्रेरित होकर ध्रुवलोक के चारों ओर इसी प्रकार चक्कर लगाते हैं, जिस प्रकार एक मध्यवर्ती धुरी में जुते हुए बैल। जो भगवान् के विश्वरूप अर्थात् *विराट पुरुष* की आराधना करते हैं, वे इस समग्र चक्कर लगाते हुए ग्रह मंडल को शिशुमार नामक जन्तु मानते हैं। यह काल्पनिक शिशुमार ईश्वर का अन्य रूप है। इसका शिर नीचे की ओर है और इसका शरीर कुण्डलीबद्ध सर्प की भाँति प्रतीत होता है। इसकी पूँछ के सिरे पर ध्रुवलोक, पूँछ के मध्य में प्रजापति, अग्नि, इन्द्र तथा धर्म और पूँछ के ऊपरी भाग में धाता तथा विधाता स्थित हैं। इसके कटि भाग में सात महर्षि हैं। शिशुमार का पूरा शरीर दाई ओर है और यह नक्षत्रों की कुण्डली के समान लगता है। इस कुण्डली के दाईं ओर अभिजित् से लेकर पुनर्वसु पर्यन्त चौदह प्रमुख नक्षत्र हैं। बाईं ओर भी पुष्य से उत्तराषाढ़ा पर्यन्त चौदह नक्षत्र हैं। पुनर्वसु तथा पुष्य नक्षत्र शिशुमार के दाहिने तथा बाएँ कूल्हे पर और आर्द्रा तथा अश्लेषा नक्षत्र दाहिने तथा बाएँ पैरों पर अवस्थित हैं। वैदिक ज्योतिर्विदों की गणनाओं के अनुसार अन्य नक्षत्र भी शिशुमार चक्र की विभिन्न दिशाओं में स्थित हैं। योगीजन ध्यानावस्थित होने के लिए शिशुमार की आराधना करते हैं। इसी को *कुंडलिनी चक्र* भी कहा जाता है।

श्रीशुक उवाच

अथ तस्मात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिरग्निनेन्द्रेण प्रजापतिना कश्यपेन धर्मेण च समकालयुग्भिः सबहुमानं दक्षिणतः क्रियमाण इदानीमपि कल्पजीविनामाजीव्य उपास्ते तस्येहानुभाव उपवर्णितः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुक देव गोस्वामी ने कहा; अथ—तदनन्तर; तस्मात्—सप्त नक्षत्रों के गोलक से; परतः—उससे परे; त्रयोदश-लक्ष-योजन-अन्तरतः—और १३,००,००० योजन; यत्—जो; तत्—वह; विष्णोः परमम् पदम्—भगवान् विष्णु का परम धाम, अथवा भगवान् विष्णु के चरणकमल; अभिवदन्ति—ऋग्वेद के मंत्र स्तुति करते हैं; यत्र—जिस पर; ह—निस्सन्देह; महा-भागवतः—परमभक्त; ध्रुवः—महाराज ध्रुव; औत्तानपादिः—महाराज उत्तानपाद के पुत्र; अग्निना—अग्निदेव द्वारा; इन्द्रेण—स्वर्गलोक के राजा इन्द्र द्वारा; प्रजापतिना—प्रजापति द्वारा; कश्यपेन—कश्यप द्वारा; धर्मेण—धर्मराज द्वारा; च—भी; समकाल-युग्भिः—एक ही समय संलग्न; स-बहु-मानम्—सदैव आदरपूर्वक; दक्षिणतः—दाहिनी ओर; क्रियमाणः—चक्कर लगाया जाकर; इदानीम्—इस समय; अपि—भी; कल्प-जीविनाम्—कल्पान्त तक विद्यमान जीवात्माओं का; आजीव्यः—आजीविका, प्राणाधार; उपास्ते—बना रहता है; तस्य—उसका; इह—यहाँ; अनुभावः—सेवा कार्य की महानता; उपवर्णितः—पहले ही वर्णित (श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में)।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन्, सप्तर्षि-मण्डल से १३,००,००० योजन (१०,०४,००,०००) ऊपर भगवान् विष्णु का धाम कहा जाता है। वहाँ पर अब भी महाराज उत्तानपाद के पुत्र, परम भक्त महाराज ध्रुव वास करते हैं, जो इस सृष्टि के अन्त तक रहने वाले समस्त जीवात्माओं के प्राणाधार हैं। वहाँ पर इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, कश्यप तथा धर्म सभी समवेत होकर उनका आदर करते हैं और नमस्कार करते हैं। वे उनके दाईं ओर रह कर उनकी प्रदक्षिणा करते हैं। मैं पहले ही महाराज ध्रुव के यशस्वी कार्यों का वर्णन (*श्रीमद्भागवत* के चतुर्थ स्कन्ध में) कर चूका हूँ।

स हि सर्वेषां ज्योतिर्गणानां ग्रहनक्षत्रादीनामनिमिषेणाव्यक्तरंहसा भगवता कालेन भ्राम्यमाणानां स्थाणुरिवावष्टम्भ ईश्वरेण विहितः शश्वदवभासते. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—ध्रुव महाराज का वह लोक; हि—निस्सन्देह; सर्वेषाम्—सभी; ज्योतिः-गणानाम्—ज्योतिर्गण; ग्रह-नक्षत्र-आदीनाम्—ग्रह नक्षत्र इत्यादि का; अनिमिषेण—न विश्राम लेने वाला; अव्यक्त—अवर्णनीय; रंहसा—जिसका बल; भगवता—सर्व शक्तिमान; कालेन—काल द्वारा; भ्राम्यमाणानाम्—घुमाया जाकर; स्थाणुः इव—ठूँठ की भाँति; अवष्टम्भः—आधार-स्तम्भ; ईश्वरेण—श्रीभगवान् की इच्छा से; विहितः—स्थापित; शश्वत्—अनवरत; अवभासते—प्रकाशित होता रहता है।

श्रीभगवान् की परम इच्छा से स्थापित ध्रुव महाराज का लोक ध्रुवलोक समस्त नक्षत्रों तथा ग्रहों के मध्यवर्ती-स्तम्भ के रूप में निरन्तर प्रकाशमान रहता है। सदा जागते रहने वाला अदृश्य सर्वशक्तिमान काल इन ज्योतिर्गणों को अहर्निश ध्रुवतारे के चारों ओर घुमाता रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है कि सभी ज्योतिर्गण, नक्षत्र तथा ग्रह परम काल के प्रभाव से चक्कर लगाते रहते हैं। यह काल श्रीभगवान् की दूसरी विशेषता है। प्रत्येक प्राणी काल के

वशीभूत है, किन्तु श्रीभगवान् इतने सदय हैं और अपने भक्त महाराज ध्रुव को इतना चाहते हैं कि उन्होंने समस्त ज्योतिर्पिण्डों को ध्रुवलोक के अधीन कर रखा है और ऐसी व्यवस्था की है कि काल उनके अधीन अथवा उनके सहयोग से कार्य करता है। वास्तव में प्रत्येक कार्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इच्छा और निर्देश से चालित है, किन्तु अपने भक्त ध्रुव को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्राणी बनाने के उद्देश्य से ही काल के कार्यकलापों को भी उनके अधीन कर रखा है।

यथा मेढीस्तम्भ आक्रमणपशवः संयोजितास्त्रिभिस्त्रिभिः सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्त्येवं भगणा ग्रहादय एतस्मिन्नन्तर्बहिर्योगेन कालचक्र आयोजिता ध्रुवमेवावलम्ब्य वायुनोदीर्यमाणा आकल्पान्तं परिचङ्क्रमन्ति नभसि यथा मेघाः श्येनादयो वायुवशाः कर्मसारथयः परिवर्तन्ते एवं ज्योतिर्गणाः प्रकृतिपुरुषसंयोगानुगृहीताः कर्मनिर्मितगतयो भुवि न पतन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; मेढीस्तम्भे—मध्यवर्ती-स्तम्भ में; आक्रमण-पशवः—कोल्हू चलाने वाले बैल; संयोजिताः—जोते जाकर; त्रिभिः त्रिभिः—तीन तीन करके; सवनैः—गतियों के द्वारा; यथा-स्थानम्—अपने-अपने स्थानों पर; मण्डलानि—मंडल, चक्कर; चरन्ति—पार करते हैं; एवम्—उसी प्रकार; भ-गणाः—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति इत्यादि ज्योतिर्गण; ग्रह-आदयः—विभिन्न ग्रह; एतस्मिन्—इसमें; अन्तः-बहिः-योगेन—भीतरी अथवा बाहरी चक्कर के साथ सम्बन्ध होने से; काल-चक्रे—अनन्त कालचक्र में; आयोजिताः—बँधा हुआ; ध्रुवम्—ध्रुवलोक; एव—निश्चय ही; अवलम्ब्य—आधार बनाकर; वायुना—वायु द्वारा; उदीर्यमाणाः—चक्राकार घुमाये जाकर; आ-कल्प-अन्तम्—कल्प के अन्त तक; परिचङ्क्रमन्ति—चारों ओर चक्कर लगाता है; नभसि—आकाश में; यथा—सदृश; मेघाः—घने बादल; श्येन-आदयः—बाज जैसे पक्षी; वायु-वशाः—वायु के द्वारा चालित; कर्म-सारथयः—अपने पूर्व कर्म रूपी सारथी; परिवर्तन्ते—चारों ओर घूमते हैं; एवम्—इस प्रकार; ज्योतिः-गणाः—आकाश के ग्रह, नक्षत्र ज्योति-पिण्ड; प्रकृति—प्राकृतिक; पुरुष—तथा परम-पुरुष, कृष्ण का; संयोग-अनुगृहीताः—संयुक्त प्रयत्नों के द्वारा ग्रहण किया हुआ; कर्म-निर्मित—कर्मों के द्वारा उत्पन्न; गतयः—जिसकी गतियाँ; भुवि—भूमि पर; न—नहीं; पतन्ति—गिरते हैं।

यदि बैलों को एकसाथ नाधकर उन्हें एक मध्यवर्ती आधार-स्तम्भ से बाँधकर भूसे पर घुमाया जाता है, तो वे अपनी स्थिति से हटे बिना चक्कर लगाते रहते हैं—पहला बैल स्तम्भ के निकट रहता है, दूसरा बीच में और तीसरा बाहर की ओर। इसी प्रकार सभी ग्रह तथा सैकड़ों हजारों नक्षत्र भी ध्रुवतारे के चारों ओर ऊपर तथा नीचे स्थित अपनी-अपनी कक्ष्याओं में घूमते रहते हैं। वे अपने पूर्वकर्मों के अनुसार श्रीभगवान् द्वारा प्रकृति-यंत्र में बाँधे जाकर वायु द्वारा ध्रुवलोक के चारों ओर घुमाये जाते हैं और इस प्रकार कल्पान्त तक घूमते रहेंगे। ये ग्रह विशाल आकाश के भीतर वायु में वैसे ही तैरते रहते हैं, जिस प्रकार हजारों टन जल से लदे बादल वायु में तैरते रहते हैं, अथवा अपने पूर्वकर्मों के कारण बड़े-बड़े बाज आकाश में ऊँचाई तक उड़ते रहते हैं और भूमि पर कभी नहीं गिरते।

तात्पर्य : इस श्लोक के विवरण के अनुसार सैकड़ों हजारों नक्षत्र तथा सूर्य, चन्द्र, बुध, बृहस्पति, शुक्र जैसे बृहद् नक्षत्र न तो गुरुत्वाकर्षण के नियम द्वारा अथवा आधुनिक वैज्ञानिकों की अन्य किसी कल्पना द्वारा ही संपुंजित हैं। ये समस्त नक्षत्र एवं ग्रह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द अथवा कृष्ण के दासस्वरूप हैं और उनकी ही आज्ञा से अपने-अपने रथों में आरूढ़ होकर अपनी-अपनी कक्ष्याओं में घूमते रहते हैं। इन कक्ष्याओं की उपमा प्रकृति द्वारा नक्षत्र और लोकों के अधिपतियों को प्रदत्त यंत्रों से की गई है जो महाराज ध्रुव द्वारा शासित ध्रुवलोक के चारों ओर चक्कर लगा कर श्रीभगवान् के आदेशों का पालन करने वाले हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (.२) में इस प्रकार की गई है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां

राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।

यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ, जिनके आदेश से ईश्वर के चक्षु रूप सूर्य भी शाश्वत काल की स्थिर कक्ष्या में घूमता है। सूर्य समस्त नक्षत्रों का राजा है और उसमें उष्मा तथा प्रकाश की असीम शक्ति है।'' *ब्रह्म-संहिता* के इस श्लोक से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि सबसे बड़ा एवं सर्वशक्तिमान ग्रह सूर्य भी स्थिर कक्ष्या अथवा कालचक्र के अन्तर्गत श्रीभगवान् की आज्ञा से घूमता है। गुरुत्वाकर्षण या विज्ञानियों द्वारा बनाए गए अन्य काल्पनिक सिद्धान्तों से इसका कोई सरोकार नहीं है।

भौतिक विज्ञानी श्रीभगवान् के शासन से दूर रह कर नक्षत्रों की गति के लिए नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। जिन के अन्तर्गत वे नक्षत्रों की गति को होना मानते हैं। किन्तु श्रीभगवान् का आदेश सर्वप्रमुख शर्त है। ग्रहों के प्रमुख देवता पुरुष हैं और भगवान् भी पुरुष (पूर्ण पुरुषोत्तम) हैं। श्रीभगवान् अपने अधीन विभिन्न नामधारी देवतोओं को आदेश देते हैं कि वे उनकी परम इच्छा का पालन करें। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से (९.१०) हुई है, जिसमें श्रीकृष्ण का वचन है—

मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को

उत्पन्न करती है। इसी कारण इस दृश्य जगत का बारम्बार सृजन एवं संहार होता है।''

नक्षत्रों की कक्ष्याएँ उन शरीरों के समान हैं, जिनके भीतर जीवात्मा विद्यमान है क्योंकि दोनों ही श्रीभगवान् द्वारा संचालित यंत्र हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

''हे अर्जुन, परमेश्वर प्राणीमात्र के हृदय में स्थित है। वही भौतिक-शक्ति रूपी यंत्र में आरूढ़ होकर सब जीवों को अपनी माया-शक्ति के द्वारा घुमा रहा है।'' यह यंत्र, चाहे शरीर-यंत्र, कक्ष्यायंत्र अथवा कालचक्र हो, श्रीभगवान् के ही आदेशानुसार कार्य करता है। श्रीभगवान् तथा भौतिक प्रकृति दोनों ही मिलकर न केवल इस ब्रह्माण्ड का वरन् इससे परे लाखों ब्रह्माण्डों को बनाए रखते हैं।

इस श्लोक में इस प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है कि नक्षत्र तथा ग्रह किस प्रकार तैर रहे हैं। गुरुत्वाकर्षण का इसमें कोई हाथ नहीं है, वरन् नक्षत्र तथा ग्रह वायु के द्वारा तैर पाते हैं। इसी कारण आकाश में बड़े-बड़े बादल और बड़े-बड़े बाज पक्षी उड़ पाते हैं। आधुनिक वायुयान, यथा ७४७ जेटयान भी इसी प्रकार कार्य करते हैं—वे वायु को नियंत्रित करके, आकाश में ऊँचाई पर तैरते हैं और नीचे गिरते को रोकते हैं। इस प्रकार से वायु का नियंत्रण पुरुष और प्रकृति के सिद्धान्तों के सहयोग के द्वारा सम्भव हो पाता है। प्रकृति और पुरुष माने जाने वाले श्रीभगवान् के सहयोग से इस ब्रह्माण्ड के सारे कार्यकलाप सुचारु रूप से चलते रहते हैं। *ब्रह्म-संहिता* (.४४) में प्रकृति क ा वर्णन इस प्रकार हुआ है—

सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका

छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।

इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''बहिरंगाशक्ति माया की, जो चित् शक्ति की छाया तुल्य है, सभी लोग दुर्गा के रूप में, जो संसार के सृजन, पालन तथा संहार करने वाली शक्ति है, आराधना करते हैं। मैं उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ, जिनकी इच्छा से दुर्गा अपने सारे कार्य करती हैं।'' प्रकृति परमेश्वर की बहिरंगाशक्ति

दुर्गा अर्थात् नारी शक्ति के नाम से भी अभिहित है जो इस ब्रह्माण्ड रूपी दुर्ग की रक्षा करती है। दुर्गा शब्द का अर्थ दुर्ग भी है। यह ब्रह्माण्ड एक महान् दुर्ग के समान है, जिसमें बद्धजीव रखे गये हैं और वे तब तक इससे छुटकारा नहीं पा सकते जब तक श्रीभगवान् की दया-दृष्टि न हो। *भगवद्गीता* (४.९) में श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति ममेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मनुष्य मेरा आविर्भाव और कर्म के दिव्य स्वभाव को जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त हो जाता है।" इस प्रकार केवल कृष्णभावनामृत के द्वारा भगवान् की कृपा से मुक्ति प्राप्त हो सकती है अर्थात् इस ब्रह्माण्ड रूपी दुर्ग से छुटकारा पाकर आध्यात्मिक जगत में जाया जा सकता है।

यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि बड़े से बड़े ग्रहों के प्रमुख अधिष्ठाता देवताओं को जो उच्च स्थान प्राप्त है, वह उनके पूर्वजन्मों में किये गये अत्यन्त मूल्यवान पुण्यकर्मों के फलस्वरूप है। इसका संकेत *कर्म-निर्मित-गतय:* शब्दों से मिलता है। उदाहरणार्थ, हम पहले यह बता चुके हैं कि चन्द्रमा जीव कहलाता है, क्योंकि वह हम जैसा जीवात्मा है, किन्तु अपने पुण्यकर्मों के कारण उसे चन्द्रदेव का पद प्रदान किया गया है। इसी प्रकार समस्त देवतागण जीवात्माएँ हैं, जिन्हें चन्द्र, पृथ्वी तथा शुक्र के अधिष्ठाता जैसे विभिन्न पदों पर महान सेवा तथा पूण्य कर्मों के कारण आरूढ़ किया गया है। इनमें से सर्वप्रमुख सूर्य के अधिष्ठाता देवता सूर्यनारायण को ही श्रीभगवान् का अवतार माना जाता है। ध्रुवलोक के प्रमुख देवता महाराज ध्रुव भी जीवात्मा हैं। इस प्रकार से आत्मा दो प्रकार के हैं—परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा सामान्य जीवात्मा या जीव (*नित्यो नित्यानां चेतेनश्चेतनानाम्*)। समस्त देवता ईश्वर की सेवा में संलग्न रहते हैं और केवल ऐसी व्यवस्था से ही ब्रह्माण्ड के सारे कार्य चलते हैं।

जहाँ तक इस श्लोक में वर्णित श्येनों (बाज पक्षियों) का प्रश्न है, यह माना जाता है कि ऐसे विशाल बाज हैं, जो बड़े हाथी का शिकार कर सकते हैं। वे इतनी ऊँचाई पर उड़ते हैं कि वे एक ग्रह से दूसरे ग्रह की यात्रा कर सकते हैं। वे एक ग्रह से उड़ना आरम्भ करके दूसरे तक पहुँचते हैं और

उड़ते समय अंडे देते हैं जिनसे अन्य पक्षी उत्पन्न होते हैं। जबकि अण्डे गिर रहे होते हैं। संस्कृत में ऐसे बाज पक्षियों को श्येन कहा जाता है। आधुनिक परिस्थितियों में इतने बड़े श्येन तो नहीं दिखते, किन्तु हमें ऐसे विशाल पक्षी ज्ञात हैं, जो बन्दरों को पकड़ कर नीचे गिरा देते हैं और उन्हें मार कर खा जाते है। इसी प्रकार ऐसे भी विशालकाय पक्षी ज्ञात हैं, जो हाथियों पर आक्रमण करके उन्हें मार डालते हैं और खा जाते हैं।

श्येन तथा बादलों के ये दो उदाहरण यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि वायु के द्वारा उड़ाना तथा तैरना कैसे सम्भव होता है। इसी प्रकार ग्रह भी तैरते हैं, क्योंकि भौतिक प्रकृति श्रीभगवान् के आदेशानुसार वायु को संचालित करती है। ऐसा सोचा जा सकता है कि ऐसा संयोजन गुरुत्वाकर्षण के कारण होता है, किन्तु प्रत्येक दशा में हमें यह स्वीकार करना होगा कि समस्त सिद्धान्तों के बनाने वाले श्रीभगवान् ही हैं। इन पर तथाकथित विज्ञानियों का किसी प्रकार नियंत्रण नहीं होता। विज्ञानी झूठे ही यह घोषणा कर सकते हैं कि ईश्वर नहीं हैं, किन्तु यह वास्तविकता नहीं है।

केचनैतज्ज्योतिरनीकं शिशुमारसंस्थानेन भगवतो वासुदेवस्य योगधारणायामनुवर्णयन्ति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

केचन—कुछ योगी अथवा ज्योतिर्विद; एतत्—यह; ज्योतिः-अनीकम्—नक्षत्रों तथा ग्रहों का विशाल चक्र; शिशुमार-संस्थानेन—यह चक्र मानो शिशुमार (सूँस) हो; भगवतः—श्रीभगवान्; वासुदेवस्य—भगवान् वासुदेव, श्रीकृष्ण का; योग-धारणायाम्—ध्यानमग्न; अनुवर्णयन्ति—बताते हैं।

नक्षत्रों तथा ग्रहों से युक्त यह विराट यंत्र जल में शिशुमार (सूँस मछली) के स्वरूप से समानता रखने वाला है। कभी-कभी इसे वासुदेव श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है। वास्तव में दृश्य होने के कारण बड़े-बड़े योगी वासुदेव के इस रूप का ध्यान करते हैं।

तात्पर्य : ऐसे योगी जिनके मन भगवान् के रूप को अपने में नहीं स्थान दे पाते वे किसी अत्यन्त विराटवस्तु की यथा *विराटपुरुष* की कल्पना करते हैं। इसलिए कुछ योगी इस काल्पनिक शिशुमार के आकाश में उसी तरह तैरते हुए रूप की कल्पना करते हैं जिस तरह जल में डॅल्फिन मछली तैरती है। ये इस पर परमेश्वर के विराट रूप की भाँति ध्यान करते हैं।

यस्य पुच्छाग्रेऽवाक्शिरसः कुण्डलीभूतदेहस्य ध्रुव उपकल्पितस्तस्य लाङ्गूले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति पुच्छमूले धाता विधाता च कट्यां सप्तर्षयः; तस्य दक्षिणावर्तकुण्डलीभूतशरीरस्य यान्युदगयनानि

दक्षिणपार्श्वे तु नक्षत्राण्युपकल्पयन्ति दक्षिणायनानि तु सव्ये; यथा शिशुमारस्य कुण्डलाभोगसन्निवेशस्य पार्श्वयोरुभयोरप्यवयवाः समसङ्ख्या भवन्ति; पृष्ठे त्वजवीथी आकाशगङ्गा चोदरतः. ॥ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; पुच्छ-अग्रे—पूँछ के सिरे पर; अवाक्शिरसः—जिसका सिर नीचे की ओर है; कुण्डली-भूत-देहस्य—जिसका शरीर कुण्डलीबद्ध है; ध्रुवः—ध्रुव लोक के ध्रुव महाराज; उपकल्पितः—स्थित है; तस्य—उसकी; लाङ्गूले—पूँछ पर; प्रजापतिः—प्रजापति; अग्निः—अग्नि; इन्द्रः—इन्द्र; धर्मः—धर्म; इति—इस प्रकार; पुच्छ-मूले—पूँछ के मूल भाग पर; धाता विधाता—धाता तथा विधाता नामक देवतागण; च—भी; कट्याम्—कटि भाग पर; सप्त-ऋषयः—सप्तर्षिगण; तस्य—उसके; दक्षिण-आवर्त-कुण्डली-भूत-शरीरस्य—जिसका शरीर दक्षिण की ओर घूमती हुई कुण्डली के समान है; यानि—जो; उदगयनानि—उत्तरी पथ को बताने वाले; दक्षिण-पार्श्वे—दाहिनी ओर; तु—लेकिन; नक्षत्राणि—नक्षत्रगण; उपकल्पयन्ति—स्थित हैं; दक्षिण-आयनानि—पुष्या से लेकर उत्तराषाढ़ा तक के १४ नक्षत्र जो उत्तरापथ को बताते हैं; तु—लेकिन; सव्ये—बाईं ओर; यथा—जिस प्रकार; शिशुमारस्य—सूँस का; कुण्डला-भोग-सन्निवेशस्य—जिसका शरीर कुण्डली सदृश प्रतीत होता है; पार्श्वयोः—पार्श्वों में; उभयोः—दोनों; अपि—ही; अवयवाः—शरीर के अंग; समसङ्ख्याः—समान संख्या के (१४); भवन्ति—हैं; पृष्ठे—पीठ पर; तु—निस्सन्देह; अजवीथी—दक्षिण पथ को बताने वाले प्रथम तीन नक्षत्र (मूला, पूर्वाषाढ़ा तथा उत्तराषाढ़ा); आकाश-गङ्गा—आकाशगंगा; च—भी; उदरतः—पेट पर।

यह शिशुमार कुण्डली मारे हुए है और इसका सिर नीचे की ओर है। इसकी पूँछ के सिरे पर ध्रुव नामक लोक स्थित है। इसकी पूँछ के मध्य भाग में प्रजापति, अग्नि, इन्द्र तथा धर्म नामक देवताओं के लोक स्थित हैं और पूँछ के मूल भाग में धाता और विधाता नामक देवताओं के लोक हैं। उसके कटिप्रदेश में वसिष्ठ, अंगिरा इत्यादि सातों ऋषि हैं। कुण्डलीबद्ध शिशुमार का शरीर दाहिनी ओर मुड़ता है, जिसमें अभिजित् से लेकर पुनर्वसु पर्यन्त चौदह नक्षत्र स्थित हैं। इसकी बाईं ओर पुष्य से लेकर उत्तराषाढ़ा पर्यन्त चौदह नक्षत्र हैं। इस प्रकार दोनों ओर समान संख्या में नक्षत्र होने से इसका शरीर सन्तुलित है। शिशुमार के पृष्ठ भाग में अजवीथी नामक नक्षत्रों का समूह है और उदर में आकाश-गंगा है।

पुनर्वसुपुष्यौ दक्षिणवामयोः श्रोण्योरार्द्राश्लेषे च दक्षिणवामयोः पश्चिमयोः पादयोरभिजिदुत्तराषाढे दक्षिणवामयोर्नासिकयोर्यथासङ्ख्यं श्रवणपूर्वाषाढे दक्षिणवामयोर्लोचनयोर्धनिष्ठा मूलं च दक्षिणवामयोः कर्णयोर्मघादीन्यष्ट नक्षत्राणि दक्षिणायनानि वामपार्श्ववङ्क्रिषु युञ्जीत तथैव मृगशीर्षादीन्युदगयनानि दक्षिणपार्श्ववङ्क्रिषु प्रातिलोम्येन प्रयुञ्जीत शतभिषाज्येष्ठे स्कन्धयोर्दक्षिणवामयोर्न्यसेत्. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पुनर्वसु—पुनर्वसु नामक नक्षत्र; पुष्यौ—तथा पुष्य नक्षत्र; दक्षिण-वामयोः—दाहिने तथा बाएँ; श्रोण्योः—कटि तट; आर्द्रा—आर्द्रा नामक नक्षत्र; अश्लेषे—अश्लेषा नक्षत्र; च—भी; दक्षिण-वामयोः—दाएँ तथा बाएँ; पश्चिमयोः—पीछे; पादयोः—पैर; अभिजित्-उत्तराषाढे—अभिजित् तथा उत्तराषाढ़ा नक्षत्र; दक्षिण-वामयोः—दाएँ तथा बाएँ; नासिकयोः—नथुने; यथा-सङ्ख्यम्—क्रमानुसार; श्रवण-पूर्वाषाढे—श्रवणा तथा पूर्वाषाढ़ा नामक नक्षत्र; दक्षिण-वामयोः—दाईं तथा बाईं ओर; लोचनयोः—आँखें; धनिष्ठा मूलम् च—तथा धनिष्ठा एवं मूला नक्षत्र; दक्षिण-वामयोः—दाएँ बाएँ; कर्णयोः—कान; मघा-आदीनि—मघा आदि नक्षत्र; अष्ट नक्षत्राणि—आठ नक्षत्र; दक्षिण-आयनानि—दक्षिण पथ को बताने वाले; वाम-पार्श्व—बाईं ओर; वङ्क्रिषु—पसलियों पर; युञ्जीत—रख सकते हैं; तथा एव—इसी प्रकार; मृग-शीर्षा-आदीनि—मृगशीर्ष आदि;

उदगयनानि—उत्तरी पथ को बताते हुए; दक्षिण-पार्श्व-वङ्क्रिषु—दाहिनी ओर; प्रातिलोम्येन—विपरीत क्रम में; प्रयुञ्जीत—रख सकते हैं; शतभिषा—शतभिषा; ज्येष्ठे—ज्येष्ठा; स्कन्धयोः—दोनों कन्धों पर; दक्षिण-वामयोः—दाएँ तथा बाएँ; न्यसेत्—रखना चाहिए।

शिशुमार चक्र के दाहिने तथा बाएँ कटि तटों पर पुनर्वसु तथा पुष्य नक्षत्र हैं। इसके दाएँ तथा बाएँ पैरों पर आर्द्रा एवं अश्लेषा; इसके दाएँ तथा बाएँ नथुनों पर क्रमशः अभिजित् तथा उत्तराषाढ़ा; इसके दाएँ तथा बाएँ नेत्रों पर श्रवणा तथा पूर्वषाढ़ा और इसके दाएँ तथा बाएँ कानों पर धनिष्ठा तथा मूला स्थित हैं। मघा से अनुराधा तक दक्षिणायन् के आठ नक्षत्र बाईं पसलियों पर और उत्तरायण के मृगशीर्ष से पूर्वभाद्र पर्यन्त आठ नक्षत्र दाईं ओर की पसलियों पर स्थित हैं। शतभिषा तथा ज्येष्ठा ये दो नक्षत्र क्रमशः दाहिने और बाएँ कन्धों पर स्थित हैं।

उत्तराहनावगस्तिरधराहनौ यमो मुखेषु चाङ्गारकः शनैश्चर उपस्थे बृहस्पतिः ककुदि वक्षस्यादित्यो हृदये नारायणो मनसि चन्द्रो नाभ्यामुशना स्तनयोरश्विनौ बुधः प्राणापानयो राहुर्गले केतवः सर्वाङ्गेषु रोमसु सर्वे तारागणाः. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

उत्तरा-हनौ—ऊपरी जबड़े पर; अगस्तिः—अगस्ति नामक नक्षत्र; अधरा-हनौ—निचले जबड़े पर; यमः—यमराज; मुखेषु—मुख पर; च—भी; अङ्गारकः—मंगल; शनैश्चरः—शनि; उपस्थे—लिंगप्रदेश में; बृहस्पतिः—बृहस्पति; ककुदि—गर्दन के पीछले भाग पर; वक्षसि—वक्ष (छाती) पर; आदित्यः—सूर्य; हृदये—हृदय में; नारायणः—भगवान् नारायण; मनसि—मन में; चन्द्रः—चन्द्रमा; नाभ्याम्—नाभि में; उशना—शुक्र; स्तनयोः—दोनों स्तनों पर; अश्विनौ—अश्विनद्वय (अश्विनी कुमार); बुधः—बुध; प्राणापानयोः—प्राण तथा अपान नामक श्वासों में; राहुः—राहु ग्रह; गले—गर्दन पर; केतवः—केतुगण; सर्व-अङ्गेषु—सम्पूर्ण शरीर पर; रोमसु—रोओं में; सर्वे—सभी; तारा-गणाः—असंख्य तारे।

शिशुमार की ऊपरी ठोड़ी पर अगस्ति, निचली ठोड़ी पर यमराज, मुँह में मंगल, उपस्थ में शनि, गर्दन (ककुद) पर बृहस्पति, छाती पर सूर्य, हृदय के छोर में नारायण, मन में चन्द्रमा, नाभि में शुक्र तथा स्तनों में अश्विनी कुमार स्थित हैं। प्राण और अपान नामक प्राण वायु में बुध, गले में राहु तथा समस्त शरीर पर केतु और रोमों में समस्त तारागण स्थित हैं।

एतदु हैव भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहीति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; उ ह—निस्सन्देह; एव—ही; भगवतः—श्रीभगवान्; विष्णोः—विष्णु का; सर्व-देवता-मयम्—समस्त देवताओं से युक्त; रूपम्—स्वरूप; अहः-अहः—सदैव; सन्ध्यायाम्—प्रातः, दोपहर तथा शाम को; प्रयतः—ध्यान धरते हुए; वाग्यतः—शब्दों (वाणी) पर नियंत्रण करते हुए; निरीक्षमाणः—निरीक्षण करते हुए; उपतिष्ठेत—उपासना करनी चाहिए; नमः—नमस्कार; ज्योतिः-लोकाय—समस्त ग्रहों के आधारस्वरूप को; कालायनाय—परम काल के रूप में; अनिमिषाम्—देवताओं के; पतये—स्वामी को; महा-पुरुषाय—परम-पुरुष को; अभिधीमहि—चिन्तन करें; इति—इस प्रकार।

हे राजन्, इस प्रकार से वर्णित शिशुमार के शरीर को भगवान् श्रीविष्णु का बाह्य रूप मानना चाहिए। प्रत्येक प्रातः, दोपहर तथा सायंकाल शिशुमार चक्र के रूप में भगवान् का दर्शन मौन होकर करना चाहिए और इस मंत्र से उपासना करनी चाहिए—''हे काल रूप धारण करने वाले भगवान्, हे विभिन्न कक्ष्याओं में घूमने वाले ग्रहों के आश्रय, हे समस्त देवों के स्वामी, हे परम पुरुष, मैं आपको नमस्कार करता हूँ और आपका ध्यान धरता हूँ।''

ग्रहर्क्षतारामयमाधिदैविकं
पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम् ।
नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं
नश्येत तत्कालजमाशु पापम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ग्रह-ऋक्ष-तारा-मयम्—समस्त नक्षत्रों तथा ग्रहों से युक्त; आधिदैविकम्—समस्त देवताओं के अधिपति; पाप-अपहम्—पापों का नाश करने वाले; मन्त्र-कृताम्—जो उपर्युक्त मंत्र का जप करते हैं; त्रि-कालम्—तीनों काल को; नमस्यतः—नमस्कार; स्मरतः—ध्यान करते हैं; वा—अथवा; त्रि-कालम्—तीन बार; नश्येत—नाश करता है; तत्-काल-जम्—उस समय उत्पन्न; आशु—शीघ्रता से; पापम्—समस्त पापों को।.

शिशुमार चक्र रूपी परमेश्वर विष्णु का शरीर समस्त देवताओं, नक्षत्रों तथा ग्रहों का आश्रय है। जो व्यक्ति परम पुरुष की आराधना करने हेतु नित्य तीन बार प्रातः, दोपहर तथा सायंकाल इस मन्त्र का जप करता है, वह समस्त पापों के फल से अवश्य ही मुक्त हो जाता है। यदि कोई इस रूप में उनको केवल नमस्कार करे या इसे दिन में तीन बार स्मरण करे तो उसके हाल में किए हुए समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के ग्रहों के सम्पूर्ण विवरण का सार-समाहार करते हुए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जो कोई इस *विराट रूप या विश्वरूप* का ध्यान करने में समर्थ है और दिन में उनका तीन बार स्मरण करता है, वह समस्त पाप-फलों से मुक्त हो जाता है। उनका अनुमान है कि ध्रुवलोक सूर्य से ३८,००,००० योजन ऊपर स्थित है। ध्रुवलोक से भी १,००,००,००० योजन ऊपर महर्लोक और इससे २,००,००,००० योजन ऊपर जनलोक, फिर इससे ८,००,००,००० योजन ऊपर तपोलोक और इससे भी १२,००,००,००० योजन ऊपर सत्यलोक स्थित है। इस प्रकार सूर्य से सत्यलोक की दूरी २३,३८,००,००० योजन अथवा १,८७,०४,००,००० मील है। सत्यलोक से २,६२,००,००० योजन ऊपर वैकुण्ठलोक प्रारम्भ होते हैं। *विष्णु पुराण* के अनुसार सूर्य से ब्रह्माण्ड का

आवरण २६,००,००,००० योजन (२,०८,००,००,००० मील) दूर है। सूर्य से पृथ्वी तक की दूरी १,००,००० योजन है और पृथ्वी के नीचे ७०,००० योजन दूरी पर सात निम्नलोक हैं, जिनके नाम हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल। इन लोकों से ३०,००० योजन नीचे गर्भोदक सागर में शेषनाग शयन कर रहे हैं। यह सागर २४,९८,००,००० योजन गहरा है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का समग्र व्यास लगभग ०,००,००,००० योजन या ४,००,००,००,००० मील है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत शिशुमार ग्रहमण्डल '' नामक तेईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौबीस

नीचे के स्वर्गीय लोकों का वर्णन

इस अध्याय में सूर्य से नीचे १०,००० योजन (८०,००० मील) दूरी पर स्थित राहु ग्रह तथा अतल एवं अन्य निम्न लोकों का वर्णन किया गया है। राहु सूर्य तथा चन्द्रमा के नीचे स्थित है। यह इन दोनों ग्रहों (लोकों) एवं पृथ्वी के मध्य में है। जब राहु सूर्य अथवा चन्द्रमा को ढक लेता है, तो पूर्ण अथवा आंशिक ग्रहण लगते हैं, जो उसकी सीधी या वक्रगति पर निर्भर करता है।

राहु से भी १०,००,००० योजन नीचे सिद्धों, चारणों तथा विद्याधरों के लोक और इनसे भी नीचे यक्षलोक तथा राक्षसलोक स्थित हैं। इन सब ग्रहों के नीचे पृथ्वी है और इसके भी नीचे ७०,००० योजन पर निम्नतरलोक–अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल लोक हैं। इन निम्नतर ग्रहों में असुर तथा राक्षसगण अपनी पत्नियों तथा संतानों समेत वास करते हैं और अगले जन्मों की परवाह किये बिना सदैव ही इन्द्रियभोग में लिप्त रहते हैं। इन लोकों में सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता। इन्हें सर्पों के फणों पर लगी मणियाँ प्रकाशित करती हैं जिससे वहाँ अंधकार नहीं रहता है। इन लोकों के वासी न तो वृद्ध होते हैं और न उन्हें रोग सताता है। वे किसी कारण से होने वाली मृत्यु से भयभीत नहीं हैं। यदि वे भयभीत हैं, तो केवल काल से जो श्रीभगवान् ही है।

अतललोक में अँगड़ाते एक असुर (दैत्य) से तीन प्रकार की स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं—जिन्हें *स्वैरिणी*

(स्वतंत्र), *कामिनी* (कामोन्मत्त) तथा *पुंश्चली* (पुरुषों द्वारा आसानी से वशीभूत) कहते हैं। अतल से नीचे वितल ग्रह है जहाँ भगवान् शिव अपनी पत्नी गौरी के साथ निवास करते हैं। उनकी उपस्थिति से एक प्रकार का स्वर्ण उत्पन्न होता है जो *हाटक* कहलाता है। वितल के नीचे सुतल ग्रह में परम भाग्यशाली बलि महाराज का आवास है। भगवान् वामनदेव ने उनकी कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर बलि महाराज पर कृपा की। वे उनके साथ यज्ञस्थल पर गये और तीन पग भूमि माँगकर उसी बहाने उनकी सारी सम्पत्ति ले ली। सर्वस्व देने के लिए बलि महाराज द्वारा तैयार हो जाने पर भगवान् परम प्रसन्न हुए; फलस्वरूप वे उनके द्वारपाल बन गये। बलि महाराज का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के अष्टम स्कन्ध में हुआ है।

जब भगवान् किसी भक्त को भौतिक सुख प्रदान करते हैं, तो वह उनका वास्तविक वरदान नहीं होता। अपने ऐश्वर्य के गर्व में फूले हुए देवतागण ईश्वर से केवल भौतिक सुख के लिए प्रार्थना करते हैं। किन्तु प्रह्लाद महाराज जैसे भक्तगण भौतिक सुख की कामना नहीं करते। भौतिक सुख की क्या बात, वे भौतिक बन्धन से मुक्ति तक की कामना नहीं करते, यद्यपि पवित्र नाम के अशुद्ध उच्चारण से जप करने से भी मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

सुतललोक के नीचे तलातल है, जो मय-असुर का वास है। भगवान् शंकर के वरदान से यह असुर भौतिक दृष्टि से अत्यन्त सुखी है, किन्तु उसे कभी आत्मिक सुख प्राप्त नहीं हो पाता। तलातल से भी नीचे महातल है जहाँ सैकड़ों-हजारों फणों वाले अनेक सर्प हैं। महातल के नीचे रसातल और उससे भी नीचे पाताललोक है जहाँ नाग वासुकी अपने साथियों सहित वास करता है।

श्रीशुक उवाच

अधस्तात्सवितुर्योजनायुते स्वर्भानुर्नक्षत्रवच्चरतीत्येके योऽसावमरत्वं ग्रहत्वं चालभत भगवदनुकम्पया स्वयमसुरापसदः सैंहिकेयो ह्यतदर्हस्तस्य तात जन्म कर्माणि चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; अधस्तात्—नीचे; सवितुः—सूर्य गोलक; योजन—आठ मील के बराबर की दूरी; अयुते—दस हजार; स्वर्भानुः—राहु नामक ग्रह; नक्षत्र-वत्—नक्षत्र के समान; चरति—घूमता है; इति—इस प्रकार; एके—कुछ पुराणवेत्ता; यः—जो; असौ—वह; अमरत्वम्—देवताओं के सदृश जीवन; ग्रहत्वम्—किसी प्रमुख ग्रह की सी स्थिति; च—और; अलभत—प्राप्त की गई; भगवत्-अनुकम्पया—श्रीभगवान् की दया से; स्वयम्—स्वयं, साक्षात्; असुर-अपसदः—असुरों में निम्नतम; सैंहिकेयः—सिंहिका का पुत्र होने से; हि—निस्सन्देह; अ-तत्-अर्हः—उस पद के लिए सुयोग्य; तस्य—उसका; तात—हे राजन्; जन्म—जन्म; कर्माणि—क्रियाएँ; च—भी; उपरिष्टात्—बाद में; वक्ष्यामः—मैं कहूँगा।

श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—हे राजन्, कुछ पुराण-वाचकों का कथन है कि सूर्य से १०,००० (८०,००० मील) योजन नीचे राहु नामक ग्रह है जो नक्षत्रों की भाँति घूमता है। इस ग्रह का अधिष्ठाता देवता, जो सिंहिका का पुत्र है समस्त असुरों में घृणास्पद है और इस पद के लिए सर्वथा अयोग्य होने पर भी श्रीभगवान् की कृपा से उसे प्राप्त कर सका है। मैं उसके विषय में आगे कहूँगा।

यददस्तरणेर्मण्डलं प्रतपतस्तद्विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसहस्त्रं सोमस्य त्रयोदशसहस्त्रं राहोर्यः पर्वणि तद्व्यवधानकृद्वैरानुबन्धः सूर्याचन्द्रमसावभिधावति. ॥ २॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अदः—वह; तरणेः—सूर्य का; मण्डलम्—गोलक; प्रतपतः—जो सदैव उष्मा प्रदान करता है; तत्—वह; विस्तरतः—विस्तार में; योजन—आठ मील की दूरी; अयुतम्—दस हजार; आचक्षते—उनका अनुमान है; द्वादश-सहस्त्रम्—बीस हजार योजन; सोमस्य—चन्द्रमा का; त्रयोदश—तीस; सहस्त्रम्—हजार; राहोः—राहु नामक ग्रह का; यः—जो; पर्वणि—अवसर पर; तत्-व्यवधान-कृत्—जिसने अमृत वितरण के समय सूर्य तथा चन्द्रमा के लिए अवरोध उत्पन्न किया; वैर-अनुबन्धः—वैर भाव; सूर्या—सूर्य; चन्द्रमसौ—तथा चन्द्रमा; अभिधावति—पूर्णिमा तथा अमावस्या के समय उनका पीछा करता है।.

उष्मा के स्त्रोत सूर्य गोलक का विस्तार १०,००० योजन (८०,००० मील) है। चन्द्रमा का २०,००० योजन (१६०,००० मील) और राहु का ३०,००० योजन (२४०,००० मील) तक फैला हुआ है। अमृत वितरण के समय राहु ने सूर्य तथा चन्द्रमा के मध्य आसीन होकर उनके बीच विद्वेष उत्पन्न करना चाहा। राहु, सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों के प्रति शत्रुभाव रखता है। इसलिए वह सदा अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन उनको ढकने का प्रयत्न करता रहता है।

तात्पर्य : जैसाकि यहाँ बताया गया है सूर्य १०,००० योजन तक और चन्द्रमा इससे दूना २०,००० योजन तक विस्तीर्ण है। यहाँ द्वादश शब्द का अर्थ दस का दो गुना अर्थात् बीस मानना चाहिए। विजयध्वज के मत से राहु को चन्द्रमा का दो गुना अर्थात् ४०,००० योजन तक विस्तीर्ण होना चाहिए। किन्तु *भागवत* के इस विरोधाभास से सहमत होने के लिए वे राहु के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—*राहुसोमरवीणां तु मण्डला द्विगुणोक्तिताम्*—जिसका अर्थ है कि राहु चन्द्रमा से दुगुना बड़ा है और चन्द्रमा सूर्य से दुगुना है। यह निष्कर्ष टीकाकार विजयध्वज का है।

तन्निशम्योभयत्रापि भगवता रक्षणाय प्रयुक्तं सुदर्शनं नाम भागवतं दयितमस्त्रं तत्तेजसा दुर्विषहं मुहुः परिवर्तमानमभ्यवस्थितो मुहूर्तमुद्विजमानश्चकितहृदय आरादेव निवर्तते तदुपरागमिति वदन्ति लोकाः. ॥ ३॥

शब्दार्थ

तत्—वह स्थिति; निशम्य—सुनकर; उभयत्र—सूर्य तथा चन्द्र दोनों के चारों ओर; अपि—निस्सन्देह; भगवता—श्रीभगवान् द्वारा; रक्षणाय—उनकी रक्षा हेतु; प्रयुक्तम्—संलग्न; सुदर्शनम्—श्रीकृष्ण का चक्र; नाम—नामक; भागवतम्—अत्यन्त विश्वासपात्र भक्त; दयितम्—अत्यन्त प्रिय; अस्त्रम्—आयुध; तत्—वह; तेजसा—अपने तेज से; दुर्विषहम्—असह्य गर्मी; मुहुः—बारम्बार; परिवर्तमानम्—सूर्य तथा चन्द्र की परिक्रमा करता हुआ; अभ्यवस्थितः—स्थित; मुहूर्तम्—एक मुहूर्त (४८मिनट) के लिए; उद्विजमानः—जिसका मन चिन्ताओं से पूर्ण है; चकित—चकित, डरा हुआ; हृदयः—हृदय; आरात्—सुदूर स्थान तक; एव—ही; निवर्तते—भागता है; तत्—वह स्थिति; उपरागम्—ग्रहण; इति—इस प्रकार; वदन्ति—कहते हैं; लोकाः—लोग।

सूर्य तथा चन्द्र देवताओं से राहु के आक्रमण को सुन कर उनकी रक्षा हेतु भगवान् विष्णु अपना सुदर्शन चक्र चलाते हैं। यह चक्र भगवान् का अत्यन्त प्रिय भक्त और प्रिय पात्र है। अवैष्णवों के वध हेतु इसका प्रचण्ड तेज राहु के लिए असह्य है, अतः वह डर कर भाग जाता है। जब राहु चन्द्र या सूर्य को सताता है, तो ग्रहण लगता है।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु अपने भक्तों के, जिन्हें देवता भी कहा जाता है, सदैव ही रक्षक हैं। प्रधान देवता विष्णु के अत्यन्त आज्ञाकारी होते हैं, यद्यपि उन्हें भी भौतिक इन्द्रिय-भोग चाहिए और इसीलिए वे देवता या ईश्वरतुल्य माने जाते हैं। राहु सूर्य तथा चन्द्र पर आक्रमण करने का प्रयास करता है, किन्तु वे भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित हैं। भगवान् विष्णु के चक्र से भयभीत रहने के कारण राहु सूर्य या चन्द्र के समक्ष एक मुहूर्त (४८ मिनट) से अधिक समय तक नहीं ठहर पाता। जब राहु सूर्य या चन्द्रमा के प्रकाश को रोक लेता है, तो यह घटना ग्रहण कहलाती है। पृथ्वी के विज्ञानियों का चन्द्रमा तक जाने का प्रयास राहु के आक्रमण के समान आसुरी है। निस्सन्देह उनके प्रयत्न विफल होंगे, क्योंकि कोई भी सूर्य या चन्द्रमा में सरलता से प्रवेश नहीं कर सकता। राहु के आक्रमण के समान ही ऐसे प्रयास निष्फल सिद्ध होंगे।

ततोऽधस्तात्सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव. ॥ ४॥

शब्दार्थ

ततः—राहु ग्रह से; अधस्तात्—नीचे; सिद्ध-चारण—सिद्धलोक तथा चारण लोक का; विद्याधराणाम्—तथा विद्याधरों के ग्रहों के; सदनानि—आवास; तावत् मात्र—केवल उतनी ही दूरी ८०,००० मील; एव—निस्सन्देह।

राहु से १०,००० योजन (८०,००० मील) नीचे सिद्धलोक, चारणलोक तथा

विद्याधरलोक हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि सिद्धलोक के वासियों को योगियों की सिद्धियाँ प्राप्त हैं, जिससे वे वायुयान अथवा इसी प्रकार के यंत्रों का प्रयोग किये बिना ही एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा कर सकते हैं।

ततोऽधस्ताद्यक्षरक्षःपिशाचप्रेतभूतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद्वायुः प्रवाति यावन्मेघा उपलभ्यन्ते. ॥ ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—सिद्ध, चारण तथा विद्याधर लोकों से नीचे; यक्ष-रक्षः-पिशाच-प्रेत-भूत-गणानाम्—यक्ष, राक्षस, पिशाच भूत इत्यादि के; विहार-अजिरम्—भोग-विलास का स्थान; अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष या आकाश में; यावत्—जहाँ तक; वायुः—वायु; प्रवाति—बहती है; यावत्—जहाँ तक; मेघाः—मेघ; उपलभ्यन्ते—देखे जाते हैं।

अन्तरिक्ष में विद्याधरलोक, चारणलोक तथा सिद्धलोक के नीचे यक्षों, राक्षसों, पिशाचों, भूतों इत्यादि के भोगविलास के स्थान हैं। जहाँ तक वायु प्रवाहित होती है और आकाश में बादल तैरते हैं, वहाँ तक अन्तरिक्ष का विस्तार है। इसके ऊपर वायु नहीं है।

ततोऽधस्ताच्छतयोजनान्तर इयं पृथिवी यावद्धंसभासश्येनसुपर्णादयः पतत्त्रिप्रवरा उत्पतन्तीति. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—इससे भी नीचे; शत-योजन—एक सौ योजन; अन्तरे—दूरी पर; इयम्—यह; पृथिवी—पृथ्वी; यावत्—जितना ऊँचा; हंस—हंस पक्षी; भास—गिद्ध; श्येन—बाज; सुपर्ण-आदयः—तथा अन्य पक्षीगण; पतत्त्रि-प्रवराः—पक्षियों में श्रेष्ठ; उत्पतन्ति—उड़ सकते हैं; इति—इस प्रकार।

यक्षों तथा राक्षसों के आवासों के नीचे १०० (८०० मील) योजन की दूरी पर पृथ्वी ग्रह है। इसकी ऊपरी सीमा उतनी ऊँचाई तक है जहाँ तक हंस, गिद्ध, बाज तथा अन्य बड़े पक्षी उड़ सकते हैं।

उपवर्णितं भूमेर्यथासन्निवेशावस्थानमवनेरप्यधस्तात्सप्त भूविवरा एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तारेणोपक्लिप्ता अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

उपवर्णितम्—पूर्वकथित; भूमेः—पृथ्वी का; यथा-सन्निवेश-अवस्थानम्—विभिन्न स्थानों की योजना के अनुसार; अवनेः—पृथ्वी के; अपि—निश्चय ही; अधस्तात्—नीचे; सप्त—सात; भू-विवराः—अन्य लोक; एक-एकशः—क्रम से, ब्रह्माण्ड की ऊपरी सीमा तक; योजन-अयुत-अन्तरेण—दस हजार योजन के अन्तर पर; आयाम-विस्तारेण—चौड़ाई तथा लम्बाई में;

उपक्लिप्ताः—स्थित; अतलम्—अतल; वितलम्—वितल; सुतलम्—सुतल; तलातलम्—तलातल; महातलम्—महातल; रसातलम्—रसातल; पातालम्—पाताल; इति—इस प्रकार।

हे राजन्, इस पृथ्वी के नीचे सात अन्य लोक हैं, जो अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल कहलाते हैं। मैं पृथ्वीलोक की स्थिति पहले ही बता चुका हूँ। इन सात निम्नलोकों की चौड़ाई तथा लम्बाई पृथ्वी के बराबर ही परिगणित की गई है।

एतेषु हि बिलस्वर्गेषु स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दभूतिविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्यानाक्रीडविहारेषु दैत्यदानवकाद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्तकलत्रापत्यबन्धुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतेषु—इसमें से; हि—निश्चय ही; बिल-स्वर्गेषु—अधः-स्वर्ग लोकों में; स्वर्गात्—स्वर्गलोकों की अपेक्षा; अपि—भी; अधिक—बढ़कर; काम-भोग—इन्द्रियभोग का सुख; ऐश्वर्य-आनन्द—ऐश्वर्यजन्य आनन्द; भूति—प्रभाव; विभूतिभिः—वस्तुओं तथा सम्पत्ति से; सु-समृद्ध—उन्नत; भवन—घर; उद्यान—उपवन, बगीचे; आक्रीड-विहारेषु—इन्द्रियतृप्ति के लिए नाना प्रकार के क्रीड़ा स्थलों में; दैत्य—दैत्य, असुर; दानव—भूत-प्रेत; काद्रवेयाः—सर्प; नित्य—शाश्वत; प्रमुदित—अत्यधिक प्रसन्न; अनुरक्त—लगाव के कारण; कलत्र—पत्नी को; अपत्य—बच्चे; बन्धु—सगे सम्बन्धी; सुहृत्—मित्र; अनुचराः—अनुचर; गृह-पतयः—गृहस्वामी, घर का मुखिया; ईश्वरात्—देवताओं के तुल्य अधिक सक्षम जनों की अपेक्षा; अपि—भी; अप्रतिहत-कामाः—जिनकी कामेच्छा रोके नहीं रुकती; माया—मायामय; विनोदाः—जो सुख का अनुभव करते हैं; निवसन्ति—निवास करते हैं।

बिल स्वर्ग (नीचे के स्वर्ग) कहलाने वाले इन सातों लोकों में अत्यन्त सुन्दर घर, उद्यान तथा क्रीड़ास्थलियाँ हैं, जो स्वर्गलोक से भी अधिक ऐश्वर्यशाली हैं, क्योंकि असुरों के विषय-भोग, सम्पत्ति तथा प्रभाव के मानक बहुत ऊँचे हैं। इन लोकों के वासी दैत्य, दानव तथा नाग कहलाते हैं और उनमें से बहुत से गृहस्थों की भाँति रहते हैं। उनकी पत्नियाँ, सन्तानें, मित्र तथा उनका समाज मायामय भौतिक सुख में पूरी तरह मग्न रहता है। भले ही देवताओं के ऐन्द्रिय-सुख में कभी-कभी बाधा आए, किन्तु इन लोकों के वासी अबाध जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार उन्हें मायामय सुख में अत्यधिक लिप्त माना जाता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के कथना नुसार भौतिक सुख *मायासुख* कहलाता है। वैष्णव सदैव ऐसे झूठे सुख से जीवों को मुक्ति दिलाने के लिए चिन्तित रहता है। प्रह्लाद महाराज कहते हैं—*मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्*—ये मूर्ख (विमूढ़) क्षणिक भौतिक सुख में लिप्त रहते हैं। चाहे स्वर्गलोक हो या अधोलोक अथवा मर्त्यलोक, लोग सर्वत्र क्षणिक भौतिक सुख में लिप्त रहते हैं और यह भूल जाते हैं कि यथासमय उन्हें भौतिक नियमों के अनुसार अपना शरीर बदलना होगा और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था

तथा रोग के आवागमन में पड़ना होगा। अगले जन्म की परवाह किये बिना नितान्त भौतिकतावादी अपने लघु जीवन-काल में आनन्द-भोग करने में मस्त रहना चाहते हैं। ऐसे विमूढ़ भौतिकतावादियों को आध्यात्मिक आनन्द का वास्तविक सुख प्रदान करने के लिए वैष्णव सदैव उत्सुक रहता है।

येषु महाराज मयेन मायाविना विनिर्मिताः पुरो
नानामणिप्रवरप्रवेकविरचितविचित्रभवनप्राकारगोपुरसभाचैत्यचत्वरायतनादिभिर्नागासुरमिथुनपारावतशुकसारिकाकीर्णकृत्रिमभूमिभिर्विवरेश्वरगृहोत्तमैः समलङ्कृताश्चकासति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येषु—उन अधोलोकों में; महा-राज—हे राजन्; मयेन—मय दानव के द्वारा; माया-विना—वास्तुकला में दक्ष; विनिर्मिताः—निर्मित किया हुआ; पुरः—पुरियाँ; नाना-मणि-प्रवर—बहुमूल्य मणियों का; प्रवेक—श्रेष्ठतम; विरचित—निर्मित; विचित्र—आश्चर्यजनक; भवन—घर; प्राकार—भित्तियाँ; गोपुर—द्वार; सभा—सभागार; चैत्य—मन्दिर; चत्वर—पाठशालाएँ; आयतन-आदिभिः—होटलों या मनोरंजन-शालाओं आदि से युक्त; नाग—सर्प के सदृश शरीर वाले जीवों का; असुर—असुरों या अनीश्वरवादी व्यक्तियों का; मिथुन—युग्मों द्वारा; पारावत—कबूतर; शुक—तोता; सारिका—मैना; आकीर्ण—समूहित; कृत्रिम—बनावटी; भूमिभिः—भूमि से; विवर-ईश्वर—लोकों के अधिपतियों के; गृह-उत्तमैः—उत्तम घरों से; समलङ्कृताः—अलंकृत; चकासति—चमचमाते रहते हैं।

हे राजन्, कृत्रिम स्वर्ग में, जिन्हें बिल-स्वर्ग कहते हैं, मय नामक एक महादानव है जो अत्यन्त कुशल वास्तुशिल्पी है। उसने अनेक अलंकृत पुरियों का निर्माण किया है जहाँ अनेक विचित्र भवन, प्राचीर, द्वार, सभाभवन, मन्दिर, आँगन तथा मन्दिर-प्राचार एवं विदेशियों के रहने के होटल तथा आवास हैं। इन ग्रहों के अधिपतियों के भवनों को अत्यन्त मूल्यवान रत्नों से निर्मित किया गया है। ये भवन नागों तथा असुरों के अतिरिक्त अनेक कबूतरों, तोतों तथा अन्य पक्षियों से परिपूर्ण हैं। कुल मिलाकर ये कृत्रिम स्वर्गिक पुरियाँ अत्यन्त आकर्षक ढंग से अलंकृत की गई हैं।

उद्यानानि चातितरां मनइन्द्रियानन्दिभिः कुसुमफलस्तबकसुभगकिसलयावनतरुचिरविटपविटपिनां लताङ्गालिङ्गितानां श्रीभिः समिथुनविविधविहङ्गमजलाशयानाममलजलपूर्णानां झषकुलोल्लङ्घनक्षुभितनीरनीरजकुमुदकुवलयकह्लारनीलोत्पललोहितशतपत्रादिवनेषु कृतनिकेतनानामेकविहाराकुलमधुरविविधस्वनादिभिरिन्द्रियोत्सवैरमरलोकश्रियमतिशयितानि. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

उद्यानानि—बाग तथा पार्क; च—भी; अतितराम्—अत्यधिक; मनः—मन को; इन्द्रिय—तथा इन्द्रियों को; आनन्दिभिः—आनन्द प्रदान करने वाले; कुसुम—फूलों से; फल—फलों के; स्तबक—गुच्छे; सुभग—अत्यन्त सुन्दर; किसलय—नई टहनियाँ; अवनत—नीचे झुकी; रुचिर—आकर्षक; विटप—शाखाओं वाले; विटपिनाम्—वृक्षों के; लता-अङ्ग-आलिङ्गितानाम्—लताओं के अंगों द्वारा आलिंगित; श्रीभिः—सुन्दरता से; स-मिथुन—जोड़ों में; विविध—अनेक प्रकार के; विहङ्गम—पक्षियों द्वारा; जल-आशयानाम्—जलागारों के; अमल-जल-पूर्णानाम्—निर्मल जल से पूर्ण; झष-कुल-उल्लङ्घन—

विविध प्रकार की मछलियों के कूदने से; क्षुभित—विक्षुब्ध; नीर—जल में; नीरज—कमलपुष्पों के; कुमुद—कुमुदिनी; कुवलय—कुवलय नामक पुष्प; कह्लार—कह्लार नामक पुष्प; नील-उत्पल—नीले कमल; लोहित—लाल; शत-पत्र-आदि—सौ पंखुड़ियों वाले कमलपुष्प इत्यादि; वनेषु—वनों में; कृत-निकेतनानाम्—उन पक्षियों का जिन्होंने अपने घोंसले बना लिए हैं; एक-विहार-आकुल—बेरोक सुख से पूर्ण; मधुर—अत्यधिक मीठा; विविध—नाना प्रकार के; स्वन-आदिभि:—कम्पनों से; इन्द्रिय-उत्सवै:—इन्द्रिय सुख मनाने वाले; अमर-लोक-श्रियम्—देवताओं के लोकों की सुन्दरता; अतिशयितानि—मात करने वाले।.

कृत्रिम स्वर्गों के बाग-बगीचे स्वर्गलोक के उद्यानों की शोभा को मात करने वाले हैं। उन उद्यानों के वृक्ष लताओं से लिपटे जाकर फलों तथा फूलों से लदी शाखाओं के भार से झुके रहते हैं, जिसके कारण वे अतीव सुन्दर लगते हैं। यह सुन्दरता किसी को भी आकृष्ट करनेवाली और मन को भोगेच्छा से प्रफुल्लित कर देने वाली है। वहाँ अनेक जलाशय एवं झीलें हैं जिनका जल निर्मल, पारदर्शी है तथा मछलियों के कूदने से उद्वेलित होता रहता है और कुमुदिनी, कुवलय, कह्लार तथा नील एवं लाल कमल के पुष्पों से सुसज्जित रहता है। झीलों में चक्रवाक के जोड़े तथा अन्य अनेक जलपक्षी विहार करते हैं और प्रसन्न होकर कलरव करते हैं जिसे सुनकर मन और इन्द्रियों को अत्यन्त आह्लाद होता है।

यत्र ह वाव न भयमहोरात्रादिभि: कालविभागैरुपलक्ष्यते. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ह वाव—निश्चय ही; न—नहीं; भयम्—भय, डर; अह:-रात्र-आदिभि:—दिन और रात के कारण; काल-विभागै:—काल के विभाग; उपलक्ष्यते—अनुभव किया जाता है।.

चूँकि उन अध:लोकों में सूर्य का प्रकाश नहीं जाता, अत: काल दिन तथा रात में विभाजित नहीं है, जिसके फलस्वरूप काल से उत्पन्न भय नहीं रहता।

यत्र हि महाहिप्रवरशिरोमणय: सर्वं तम: प्रबाधन्ते. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; हि—निस्सन्देह; महा-अहि—बड़े-बड़े सर्पों के; प्रवर—सर्वश्रेष्ठ; शिर:-मणय:—फनों पर स्थित मणियाँ; सर्वम्—सभी; तम:—अंधकार; प्रबाधन्ते—दूर भगाती हैं।.

वहाँ अनेक बड़े-बड़े सर्प वास करते हैं जिनके फनों की मणियों के प्रकाश से अंधकार दूर भाग जाता है।

न वा एतेषु वसतां दिव्यौषधिरसरसायनान्नपानस्नानादिभिराधयो व्याधयो वलीपलितजरादयश्च देहवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यस्वेदक्लमग्लानिरिति वयोऽवस्थाश्च भवन्ति. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वा—या; एतेषु—इन लोकों में; वसताम्—बसने वालों का; दिव्य—विस्मयकारी; औषधि—जड़ी बूटियों का; रस—रस; रसायन—तथा अमृत; अन्न—खाने से; पान—पीने से; स्नान-आदिभिः—स्नान आदि करने से; आधयः—मानसिक क्लेश; व्याधयः—रोग, व्याधियाँ; वली—झुर्रियाँ; पलित—पके केश; जरा—वृद्धावस्था; आदयः—आदि; च—तथा; देह-वैवर्ण्य—शारीरिक कान्ति का म्लान पड़ना; दौर्गन्ध्य—दुर्गन्ध; स्वेद—पसीना; क्लम—थकान; ग्लानिः—शक्ति-क्षय; इति—इस प्रकार; वयः अवस्थाः—आयु के बढ़ने के कारण उत्पन्न शोचनीय दशाएँ; च—भी; भवन्ति—हैं।

चूँकि इन लोकों के निवासी जड़ी-बूटियों से बने रस तथा रसायन का पान करते हैं और उनमें स्नान करते हैं, अतः वे सभी प्रकार की चिन्ताओं और व्याधियों से मुक्त रहते हैं। न तो उनके केश सफेद होते हैं, न झुर्रियाँ पड़ती हैं, न वे अशक्य होते हैं। उनकी शारीरिक कान्ति कभी मलिन नहीं पड़ती, उनके पसीने से दुर्गन्ध नहीं आती और न तो उन्हें थकान, न ही शक्ति का अथवा वृद्धावस्थाजन्य उत्साह का अभाव सताता है।

न हि तेषां कल्याणानां प्रभवति कुतश्चन मृत्युर्विना भगवत्तेजसश्चक्रापदेशात्. ॥ १४॥

शब्दार्थ

न हि—नहीं; तेषाम्—उनका; कल्याणानाम्—जो स्वभाव से शुभ होते हैं; प्रभवति—प्रभाव डालने में सक्षम; कुतश्चन—कहीं से भी; मृत्युः—मृत्यु; विना—के सिवा; भगवत्-तेजसः—श्रीभगवान् की शक्ति का; चक्र-अपदेशात्—सुदर्शन चक्र से।

वे अत्यन्त कुशलपूर्वक रहते हैं और काल रूप श्रीभगवान् के सुदर्शन चक्र के अतिरिक्त अन्य किसी साधन द्वारा मृत्यु से भयभीत नहीं हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत का यही दोष है। अधोलोकों में प्रत्येक वस्तु सुचारु रीति से व्यवस्थित है। वहाँ सुन्दर आवास हैं, मोहक वायुमण्डल है और वहाँ शारीरिक क्लेश या मानसिक व्याधियाँ नहीं हैं। तो भी वहाँ जो रहते हैं उन्हें अपने कर्मों के अनुसार दूसरा जन्म ग्रहण करना होता है। मन्द बुद्धि वाले पुरुष सुखोन्मुखी भौतिकतावादी सभ्यता के इस दोष को नहीं समझ सकते। कोई कितना ही क्यों न अपनी इन्द्रियों को भाने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न कर ले, किन्तु, अन्ततः उसे मृत्यु का सामना करना ही पड़ता है। आसुरी सभ्यता के लोग अपनी परिस्थितियों को अत्यन्त सुखद बनाने का प्रयास करते हैं, किन्तु वे मृत्यु को नहीं रोक पाते। तथाकथित सुदर्शन चक्र के प्रभाव से उनका यह तथाकथित भौतिक सुख स्थायी नहीं रह सकता।

यस्मिन्प्रविष्टेऽसुरवधूनां प्रायः पुंसवनानि भयादेव स्रवन्ति पतन्ति च. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जहाँ; प्रविष्टे—प्रवेश करने पर; असुर-वधूनाम्—उन असुर वधुओं का; प्रायः—प्रायः; पुंसवनानि—गर्भ; भयात्—भयवश; एव—ही; स्रवन्ति—बाहर सरकते हैं; पतन्ति—गिर पड़ते हैं; च—तथा।

जब सुदर्शन चक्र उन प्रदेशों में पहुँचता है, तो उसके तेज के भय से असुरों की गर्भिणी स्त्रियों का गर्भपात हो जाता है।

अथातले मयपुत्रोऽसुरो बलो निवसति येन ह वा इह सृष्टाः षण्णवतिर्मायाः काश्चनाद्यापि मायाविनो धारयन्ति यस्य च जृम्भमाणस्य मुखतस्त्रयः स्त्रीगणा उदपद्यन्त स्वैरिण्यः कामिन्यः पुंश्चल्य इति या वै बिलायनं प्रविष्टं पुरुषं रसेन हाटकाख्येन साधयित्वा स्वविलासावलोकनानुरागस्मितसंलापोपगूहनादिभिः स्वैरं किल रमयन्ति यस्मिन्नुपयुक्ते पुरुष ईश्वरोऽहं सिद्धोऽहमित्ययुतमहागजबलमात्मानमभिमन्यमानः कत्थते मदान्ध इव. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; अतले—अतल नामक लोक पर; मय-पुत्रः असुरः—मय का असुर पुत्र; बलः—बल; निवसति—वास करता है; येन—जिसके द्वारा; ह वा—निस्सन्देह; इह—इसमें; सृष्टाः—रचना की; षट्-णवतिः—छियानबे; मायाः—माया के प्रकार; काश्चन—कोई; अद्य अपि—आज भी; माया-विनः—मायावी लोग (यथा सोना बनाने वाले); धारयन्ति—उपयोग करते हैं; यस्य—जिसका; च—भी; जृम्भमाणस्य—उवासी लेते हुए; मुखतः—मुख मार्ग से; त्रयः—तीन; स्त्री-गणाः—स्त्रियों के प्रकार; उदपद्यन्त—उत्पन्न हुए; स्वैरिण्यः—स्वैरिणी (जो अपनी ही जाति में ब्याह करती है); कामिन्यः—कामिनी (जो कामवश किसी भी जाति के पुरुष से ब्याह कर लेती है); पुंश्चल्यः—पुंश्चली (जो एक पति को छोड़कर दूसरा पति बनाना चाहती है); इति—इस प्रकार; याः—जो; वै—निश्चय ही; बिल-अयनम्—अधोलोक, बिल-स्वर्ग में; प्रविष्टम्—प्रवेश करके; पुरुषम्—नर; रसेन—रस द्वारा; हाटक-आख्येन—हाटक नामक मादक जड़ी से बना हुआ; साधयित्वा—विषयभोग के लिए सक्षम बनाकर; स्व-विलास—अपने इन्द्रियभोग के लिए; अवलोकन—चितवन से; अनुराग—कामी; स्मित—मन्द हास से; संलाप—बातचीत से; उपगूहन-आदिभिः—आलिंगन आदि से; स्वैरम्—अपनी इच्छानुसार; किल—निस्सन्देह; रमयन्ति—रमण करते हैं; यस्मिन्—जो; उपयुक्ते—उपभोग करने पर; पुरुषः—पुरुष; ईश्वरः अहम्—मैं सर्वशक्तिमान पुरुष हूँ; सिद्धः अहम्—मैं सिद्ध पुरुष हूँ; इति—इस प्रकार; अयुत—दस हजार; महा-गज—बड़े-बड़े हाथियों की; बलम्—शक्ति; आत्मानम्—अपने आप; अभिमन्यमानः—गर्व से पूर्ण होकर; कत्थते—कहते हैं; मद-अन्धः—मिथ्या अहंकार से अन्धा; इव—सदृश।

हे राजन्, अब मैं तुमसे अतललोक से प्रारम्भ करके एक एक करके समस्त अधोलोकों का वर्णन करूँगा। अतललोक में मय-दानव का पुत्र बल नामक असुर है, जिसने छियानबे प्रकार की माया रच रखी है। कुछ तथाकथित योगी तथा स्वामी आज भी लोगों को ठगने के लिए इस माया का प्रयोग करते हैं। बल असुर ने उवासी लेने से स्वैरिणी, कामिनी तथा पुंश्चली के नाम से तीन प्रकार की स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। स्वैरिणियाँ अपने ही समूह के पुरुष से ब्याह करना पसन्द करती हैं, कामिनियाँ किसी भी वर्ग के पुरुष से ब्याह कर लेती हैं और पुंश्चलियाँ अपना पति बदलती रहती हैं। यदि कोई पुरुष अतललोक में प्रवेश करता है, तो ये स्त्रियाँ तुरन्त ही उसे बन्दी बना कर हाटक नामक जड़ी से बनाये गये मादक पेय को पीने के लिए बाध्य कर देती हैं। इस पेय से मनुष्य में प्रचुर काम-शक्ति जाग्रत होती है, जिसका उपयोग वे स्त्रियाँ अपने सम्भोग हेतु करती हैं। स्त्रियाँ उसे अपनी मोहक चितवन, प्रेमालाप, मन्द मुस्कान तथा आलिंगन इत्यादि के

द्वारा मोह लेती हैं। इस प्रकार वे उन्हें अपने साथ संभोग के लिए फुसलाकर जी भर कर कामतृप्ति करती हैं। कामशक्ति बढ़ने के कारण मनुष्य अपने को दस हजार हाथियों से भी अधिक बलवान और सक्षम न मानने लगता है। दरअसल मदहोशी के कारण मोहग्रस्त होकर वह सर पर खड़ी मृत्यु की अनदेखी करके अपने आपको ईश्वर समझने लगता है।

ततोऽधस्ताद्वितले हरो भगवान्हाटकेश्वरः स्वपार्षदभूतगणावृतः प्रजापतिसर्गोपबृंहणाय भवो भवान्या सह मिथुनीभूत आस्ते यतः प्रवृत्ता सरित्प्रवरा हाटकी नाम भवयोर्वीर्येण यत्र चित्रभानुर्मातरिश्वना समिध्यमान ओजसा पिबति तन्निष्ठ्यूतं हाटकाख्यं सुवर्णं भूषणेनासुरेन्द्रावरोधेषु पुरुषाः सह पुरुषीभिर्धारयन्ति. ॥ १७॥

शब्दार्थ

ततः—अतललोक के; अधस्तात्—नीचे; वितले—वितललोक में; हरः—भगवान् शिव; भगवान्—सर्वशक्तिमान; हाटकेश्वरः—स्वर्ण का स्वामी; स्व-पार्षद—अपने पार्षदों से; भूत-गण—जो भूत जैसे प्राणी हैं; आवृतः—घिर कर; प्रजापति-सर्ग—भगवान् ब्रह्मा की सृष्टि; उपबृंहणाय—जनसंख्या बढ़ाने के उद्देश्य से; भवः—भगवान् शिव; भवान्या सह—अपनी पत्नी भवानी सहित; मिथुनी-भूतः—कामक्रीड़ा में रत; आस्ते—रहते हैं; यतः—उस लोक (वितल) से; प्रवृत्ता—निकल कर; सरित्-प्रवरा—बड़ी नदी; हाटकी—हाटकी; नाम—नाम की; भवयोः वीर्येण—भगवान् शिव तथा भवानी के वीर्य एवं रज से; यत्र—जहाँ; चित्र-भानुः—अग्निदेवता; मातरिश्वना—वायु द्वारा; समिध्यमानः—तेजी से प्रज्वलित किये जाने पर; ओजसा—अत्यधिक शक्ति के साथ; पिबति—पीता है; तत्—वह; निष्ठ्यूतम्—फूत्कार करते हुए थूकना; हाटक-आख्यम्—हाटक नाम का; सुवर्णम्—सोना; भूषणेन—अनेक प्रकार के आभूषणों द्वारा; असुर-इन्द्र—महान् असुरों के; अवरोधेषु—घरों में; पुरुषाः—नर; सह—के साथ; पुरुषीभिः—अपनी पत्नियों तथा स्त्रियों के; धारयन्ति—धारण करते हैं।

अतललोक के नीचे अगला ग्रह वितल है जहाँ स्वर्ण खानों के स्वामी भगवान् शिव अपने गणों, भूतों तथा ऐसे ही अन्य जीवों के साथ रहते हैं। पिता-रूप शिव माता-रूप भवानी के साथ विहार करते हैं और इनके वीर्य-रज के मिश्रण से हाटकी नामक नदी निकलती है। जब वायु द्वारा अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, तो वह नदी को पी जाती है और बाहर थूक देने पर हाटक नामक स्वर्ण उत्पन्न होता है। इस लोक के वासी असुर अपनी पत्नियों सहित उस स्वर्ण के बने आभूषणों से अपने को अलंकृत करते हैं और इस प्रकार से वे अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हैं।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भव तथा भवानी अर्थात् शिवजी तथा उनकी पत्नी के सम्भोग करने पर जो वीर्य निकलता है, उसमें जो रसायन होता है उसे अग्नि में तपाने पर सोना उत्पन्न किया जा सकता है। कहा जाता है कि मध्य युग के कीमयागर निम्न धातु से सोना बनाना जानते थे और श्रील सनातन गोस्वामी का भी कथन है काँसे को पारे से अभिकृत करने पर सोना बन सकता है। श्रील सनातन गोस्वामी का यह उल्लेख निम्न वर्ग के पुरुषों को ब्राह्मण बनाने के प्रसंग में हुआ है। उनका

कथन है—

यथा कांचनतां याति कांस्यं रसं विधानतः।

तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वम् जायते नृणाम्॥

"जिस प्रकार कांसे को पारे से अभिकृत करके उसे सोने में बदला जा सकता है उसी प्रकार निम्न कुल में उत्पन्न मनुष्य को वैष्णव कार्यों में लगाकर ब्राह्मण बनाया जा सकता है।" अन्तर्राष्ट्रीय *कृष्णभावनामृत* संघ द्वारा म्लेच्छों तथा यवनों को उचित ढंग से दीक्षा दे कर तथा उन्हें मांसाहार, मादक द्रव्य, व्यभिचार तथा द्यूत-क्रीड़ा से विरत करके ब्राह्मणों में परिणत करने का प्रयास किया जा रहा है। जो कोई इन चार पापकर्मों का परित्याग करके *हरे कृष्ण महामंत्र* का जप करता है, वह प्रामाणिक दीक्षा द्वारा शुद्ध ब्राह्मण बन सकता है। ऐसा श्रील सनातन गोस्वामी का प्रस्ताव है।

इसके अतिरिक्त, यदि कोई इस श्लोक से संकेत पाकर यह सीख ले कि कांसे के साथ पारे को कैसे मिलाते तथा गलाते हैं, तो वह सस्ते में सोना तैयार कर सकता है। यद्यपि मध्ययुग के कीमियागरों ने स्वर्ण बनाने का प्रयास किया, किन्तु वे असफल रहे, क्योंकि शायद उन्होंने सही निर्देशों का पालन नहीं किया।

ततोऽधस्तात्सुतले उदारश्रवाः पुण्यश्लोको विरोचनात्मजो बलिर्भगवता महेन्द्रस्य प्रियं चिकीर्षमाणेनादितेर्लब्धकायो भूत्वा वटुवामनरूपेण पराक्षिप्तलोकत्रयो भगवदनुकम्पयैव पुनः प्रवेशित इन्द्रादिष्वविद्यमानया सुसमृद्धया श्रियाभिजुष्टः स्वधर्मेणाराधयंस्तमेव भगवन्तमाराधनीयमपगतसाध्वस आस्तेऽधुनापि. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—वितल लोक के नीचे; सुतले—सुतल लोक में; उदार-श्रवाः—अत्यन्त प्रसिद्ध; पुण्य-श्लोकः—अत्यन्त पवित्र एवं चिन्मय भावना में अग्रसर; विरोचन-आत्मजः—विरोचन का पुत्र; बलिः—बलि महाराज; भगवता—श्रीभगवान् के द्वारा; महा-इन्द्रस्य—स्वर्ग के राजा इन्द्र का; प्रियम्—कुशलता; चिकीर्षमाणेन—करने की कामना रखने वाला; आदितेः—अदिति से; लब्ध-कायः—अपना शरीर प्राप्त करके; भूत्वा—प्रकट होकर; वटु—ब्रह्मचारी; वामन-रूपेण—वामन के रूप में; पराक्षिप्त—ऐंठ लिया; लोक-त्रयः—तीनों लोक; भगवत्-अनुकम्पया—श्रीभगवान् की कृपा से; एव—ही; पुनः—फिर; प्रवेशितः—प्रवेश करने के लिए बाध्य किया; इन्द्र-आदिषु—स्वर्ग के राजा जैसे देवताओं के मध्य में; अविद्यमानया—अनुपस्थित रहकर; सुसमृद्धया—ऐसे ऐश्वर्य से अत्यन्त धनी बनकर; श्रिया—सौभाग्य से; अभिजुष्टः—आशीष प्राप्त करके; स्व-धर्मेण—भक्ति करके; आराधयन्—आराधना करके; तम्—उसे; एव—निश्चय ही; भगवन्तम्—श्रीभगवान् को; आराधनीयम्—अत्यन्त आराध्य; अपगत-साध्वसः—भयरहित; आस्ते—रहता है; अधुना अपि—आज भी।

वितल के नीचे सुतल नामक एक अन्य लोक है जहाँ महाराज विरोचन के पुत्र बलि महाराज रहते हैं, जो अत्यन्त पवित्र राजा के रूप में विख्यात हैं और वहाँ आज भी निवास करते हैं। स्वर्ग

के राजा इन्द्र के कल्याण हेतु भगवान् विष्णु अदिति के पुत्र वामन ब्रह्मचारी के रूप मेंप्रकट हुए और केवल तीन पग पृथ्वी माँग कर महाराज बलि को छल कर तीनों लोक प्राप्त कर लिए। सर्वस्व दान ले लेने पर बलि से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें उनका राज्य लौटा दिया और इन्द्र से भी ऐश्वर्यवान् बना दिया। आज भी सुतललोक में श्रीभगवान् की आराधना करते हुए बलि महाराज भक्ति करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को उत्तमश्लोक कहा गया है, जिसका अर्थ है, ''जिसकी आराधना श्रेष्ठतम चुने हुए संस्कृत श्लोकों से की जाती है'' तथा बलि महाराज सरीखे उनके भक्तों की भी पुण्यश्लोक अर्थात् करुणा बढ़ाने वाले श्लोकों के रूप में आराधना की जाती है। बलि महाराज ने अपना सर्वस्व, अपनी सम्पत्ति, अपना राज्य यहाँ तक कि अपना शरीर भी भगवान् को अर्पित कर दिया (*सर्वात्म-निवेदने बलिः*)। भगवान् ब्राह्मण भिक्षुक के रूप में बलि महाराज के सम्मुख प्रकट हुए और बलि महाराज ने जो कुछ भी उनके पास था, वह सब कुछ दे डाला। फिर भी, वे दरिद्र नहीं हुए, वे श्रीभगवान् को अपना सर्वस्व अर्पित करके सफल भक्त बन गये और भगवान् के आशीष से उन्हें सब कुछ वापस मिल गया। इसी प्रकार जो लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के कार्यों को बढ़ावा देने के लिए और इसके उद्देश्यों को पूरा करने के लिए दान देते हैं, वे कभी घाटे में नहीं रहते, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के आशीर्वाद से सब कुछ वापस मिल जाएगा। दूसरी ओर जो अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के लिए धन संग्रह करते हैं उन्हें चाहिए कि उसमें से भगवान् की दिव्य सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में एक पाई भी खर्च न करें।

नो एवैतत्साक्षात्कारो भूमिदानस्य यत्तद्भगवत्यशेषजीवनिकायानां जीवभूतात्मभूते परमात्मनि वासुदेवे तीर्थतमे पात्र उपपन्ने परया श्रद्धया परमादरसमाहितमनसा सम्प्रतिपादितस्य साक्षादपवर्गद्वारस्य यद्बिलनिलयैश्वर्यम्. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नो—न; एव—निश्चित ही; एतत्—यह; साक्षात्कारः—प्रत्यक्ष फल; भूमि-दानस्य—भूमि दान का; यत्—जो; तत्—वह; भगवति—श्रीभगवान् के प्रति; अशेष-जीव-निकायानाम्—असंख्य जीवात्माओं का; जीव-भूत-आत्म-भूते—जो जीवन एवं परम-आत्मा है; परम-आत्मनि—परम नियन्ता; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव (श्रीकृष्ण) में; तीर्थ-तमे—तीर्थों में श्रेष्ठ; पात्रे—सबसे योग्य ग्राहक; उपपन्ने—पहुँचने के बाद; परया—परमश्रेष्ठ के द्वारा; श्रद्धया—श्रद्धा द्वारा; परम-आदर—अतीव सम्मान सहित; समाहित-मनसा—अत्यन्त मनोयोग से; सम्प्रतिपादितस्य—प्रदान किया गया; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; अपवर्ग-द्वारस्य—मुक्ति का द्वार; यत्—जो; बिल-निलय—बिल स्वर्ग का, कृत्रिम स्वर्गलोकों का; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य।

हे राजन्, बलि महाराज ने श्रीभगवान् वामनदेव को अपना सर्वस्व दान कर दिया, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अपने दान के कारण उन्हें बिल-स्वर्ग में इतना भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। समस्त जीवात्माओं के जीवनमूल श्रीभगवान् प्रत्येक व्यक्ति के अन्तस्थल में मित्र परमात्मा के रूप में निवास करते हैं और उन्हीं के आदेश से इस भौतिक संसार में आनंद उठाते हैं या कष्ट भोगते हैं। भगवान् के दिव्य गुणों पर रीझ कर बलि महाराज ने अपना सर्वस्व उनके चरणकमलों में अर्पित कर दिया। किन्तु उनका लक्ष्य भौतिक लाभ प्राप्त करना नहीं था, वे तो शुद्ध भक्त बनना चाहते थे। शुद्ध भक्त के लिए मुक्ति के द्वार स्वतः खुले जाते हैं। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि केवल अपने दान के कारण बलि महाराज को इतना ऐश्वर्य प्राप्त हो सका। जब कोई प्रेमवश शुद्ध भक्त बन जाता है, तो उसे भी भगवदिच्छा से अच्छा भौतिक स्थान प्राप्त होता है। किन्तु कभी गलती से यह नहीं समझना चाहिए कि भक्ति के परिणामस्वरूप किसी भक्त को सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। भक्ति का असली फल तो श्रीभगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम जागृत होना है जो समस्त परिस्थितियों में बना रहता है।

यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन्पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; ह वाव—निस्सन्देह; क्षुत—भूखे होने पर; पतन—गिरना; प्रस्खलन-आदिषु—लड़खड़ाना आदि; विवशः—असहाय होकर; सकृत्—एक बार; नाम अभिगृणन्—भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हुए; पुरुषः—व्यक्ति; कर्म-बन्धनम्—कर्मों का बन्धन; अञ्जसा—पूर्णतया; विधुनोति—धो देते हैं; यस्य—जिसका; ह—निश्चय ही; एव—इस प्रकार; प्रतिबाधनम्—विकर्षण; मुमुक्षवः—मुक्ति के इच्छुक प्राणी; अन्यथा—अन्यथा; एव—निश्चय ही; उपलभन्ते—अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं।.

यदि भूख से व्याकुल होने, गिरने अथवा ठोकर खाने पर कोई इच्छा अथवा अनिच्छा से एक बार भी भगवान् का पवित्र नाम लेता है, तो वह सहसा अपने पूर्वकर्मों के प्रभावों से मुक्त हो जाता है। कर्मी लोग भौतिक कार्यों में फँस कर योग-साधना में अनेक कष्ट उठाते हैं और अन्य लोग भी वैसी ही स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

तात्पर्य : यह आवश्यक नहीं है कि श्रीभगवान् की भक्ति करने के पूर्व मनुष्य को अपनी सारी सम्पत्ति उन्हें अर्पित की जाये और बन्धनमुक्त हो लिया जाये। भक्त को किसी प्रकार के प्रयत्न के बिना

ही स्वतः मुक्ति प्राप्त होती है। बलि महाराज को उनकी सारी सम्पत्ति इसलिए नहीं वापस मिली कि उन्होंने श्रीभगवान् को दान दिया था। जो भी समस्त भौतिक कामनाओं एवं प्रयोजनों से मुक्त होकर प्रत्येक सुअवसर को चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक भगवान् का वरदान समझता है उसकी भगवत्सेवा में कभी बाधा नहीं पहुँचती। मुक्ति तथा भुक्ति तो भक्ति के आनुषंगिक फल मात्र हैं। भक्त को मुक्ति के लिए अलग से कुछ नहीं करना होता। श्रील बिल्वमंगल ठाकुर का कथन है कि *मुक्तिः स्वयं मुकुलितांजलिः सेवतेऽस्मान्*—भगवान् के भक्त को मुक्ति के लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि मुक्ति सदैव उनकी सेवा के लिए उद्यत रहती है।

इस प्रसंग में चैतन्य-चरितामृत (अन्त्य ३.१७७-१८८) में भगवन्नाम जप के प्रभाव की पुष्टि हरिदास ठाकुर द्वारा वर्णित है—

केह बले,—'नाम हैते हय पापक्षय'।

केह बले,—'नाम हैते जीवेर मोक्ष हय'॥

कुछ लोगों का कहना है कि भगवान् का पवित्र नाम लेने से पापमय जीवन के समस्त प्रभावों से मुक्त हुआ जा सकता है और कुछ का कहना है कि भगवन्नाम जप से भौतिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

हरिदास कहेन,—''नामेर एइ दुइ फल नय।

नामेर फले कृष्णपदे प्रेम उपजय॥

किन्तु हरिदास ठाकुर ने कहा है कि भगवन्नाम जप का मनोवांछित फल भौतिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना या पापमय जीवन के फलों से मुक्त होना नहीं है। भगवन्नाम के जप का वास्तविक परिणाम सुप्त कृष्णभावनामृत को जाग्रत करना है।

आनुषंगिक फल नामेर—'मुक्ति', 'पापनाश'।

ताहार दृष्टान्त यैछे सूर्येर प्रकाश॥

हरिदास ठाकुर ने कहा है कि पाप-कर्मों के फलों से मुक्ति तथा स्वतंत्रता तो भगवन्नाम जप के आनुषांगिक फल हैं। यदि कोई शुद्धभाव से भगवन्नाम जप करता है, तो उसे श्रीभगवान् की प्रिय सेवा का पद प्राप्त होता है। इस प्रसंग में हरिदास ने नाम-शक्ति की तुलना सूर्यप्रकाश से की है।

एइ श्लोकेर अर्थ कर पंडितेर गण।''

सबे कहे,—'तुमि कह अर्थ-विवरण'॥

उन्होंने समस्त विद्वानों के समक्ष एक श्लोक रखा, किन्तु उन सबों ने उन्हीं से उस श्लोक का भावार्थ पूछा—

हरिदास कहेन,—''यैछे सूर्येर उदय।

उदय ना हैते आरम्भे तमेर हय क्षय॥

हरिदास ने कहा ज्योंही सूर्य उदय होने लगता है त्योंही रात्रि का अंधकार सूर्य-प्रकाश दिखने के पहले ही भागने लगता है।

चौर-प्रेत-राक्षसादिर भय हय नाश।

उदय हैले धर्म-कर्म आदि परकाश॥

सूर्योदय के पहले ही प्रात:कालीन प्रकाश के भय से रात्रि के समय होने वाले संकल अर्थात् चोरों, भूतों तथा राक्षसों के उत्पात विनष्ट हो जाते हैं और जब वास्तव में धूप निकल आती है, तो मनुष्य अपने कार्यों में लग जाता है।

ऐछे नामोदयारम्भे पाप-आदिर क्षय।

उदय कैले कृष्णपदे हय प्रेमोदय॥

इसी प्रकार पवित्र नाम का शुद्ध रूप में जप करने के पूर्व ही मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है और शुद्ध रीति से जप करने पर वह श्रीकृष्ण का प्रेमी बन जाता है।

'मुक्ति' तुच्छ-फल हय नामाभास हैते।

येमुक्ति भक्त ना लय, से कृष्ण चाहे दिते॥''

यदि श्रीकृष्ण मुक्ति प्रदान करें तो भी भक्त उसे कभी स्वीकार नहीं करता। मुक्ति तो नामाभास अर्थात् पूर्ण प्रकाश दृष्टिगोचर होने के पूर्व ही पवित्र नाम के प्रकाश की झलक से प्राप्त हो सकती है।

नामाभास नाम अपराध अर्थात् अपराध करते हुए नाम जप करने तथा शुद्ध जप के मध्य की अवस्था है। भगवान् के नाम-जप की तीन अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्था में नाम जप करते हुए प्राणी दस प्रकार के अपराध करता है। दूसरी अवस्था नामाभास है, जिसमें अपराध लगभग बन्द हो जाते हैं

और प्राणी विशुद्ध जप की दशा की ओर अग्रसर होता है। तृतीय अवस्था में जब प्राणी अपराध मुक्त होकर हरे कृष्ण मंत्र का जप करता है, तो कृष्ण के प्रति उसका सुप्त प्रेम तत्क्षण जाग्रत हो उठता है। यही सिद्धि है।

तद्भक्तानामात्मवतां सर्वेषामात्मन्यात्मद आत्मतयैव. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; भक्तानाम्—भक्तों का; आत्म-वताम्—सनक तथा सनातन जैसे आत्मज्ञानी पुरुषों का; सर्वेषाम्—सबों का; आत्मनि—आत्मा रूप श्रीभगवान् तक; आत्म-दे—जो बिना हिचक के अपने आप को दे देता है; आत्मतया—जो परम आत्मा है, परमात्मा; एव—निस्सन्देह।

प्रत्येक प्राणी के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित श्रीभगवान् नारदमुनि जैसे भक्तों के हाथों बिक जाते हैं। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर ऐसे ही भक्तों को प्यार करते हैं और जो उन्हें शुद्ध भाव से प्यार करते हैं। वे उनके हाथों अपने आप को सौंप देते हैं। यहाँ तक कि महान् आत्म-साक्षात्कार करने वाले योगी, यथा चारों कुमार भी अपने अन्तर में परमात्मा का साक्षात्कार करके दिव्य आनन्द प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् बलि महाराज के द्वारपाल इसलिए नहीं बने कि उन्होंने अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था, वरन् इसलिए कि वे प्रेमी के रूप में उच्चपद सिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

न वै भगवान्नूनममुष्यानुजग्राह यदुत पुनरात्मानुस्मृतिमोषणं मायामयभोगैश्वर्यमेवातनुतेति. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; भगवान्—श्रीभगवान् ने; नूनम्—निश्चय ही; अमुष्य—बलि महाराज को; अनुजग्राह—अपना अनुग्रह दिखाया; यत्—क्योंकि; उत—निश्चय ही; पुनः—फिर; आत्म-अनुस्मृति—श्रीभगवान् के स्मरण का; मोषणम्—लूटने वाला; माया-मय—माया का एक गुण; भोग-ऐश्वर्यम्—भौतिक ऐश्वर्य; एव—निश्चय ही; आतनुत—विस्मृत; इति—इस प्रकार।

श्रीभगवान् ने बलि महाराज को भौतिक सुख तथा ऐश्वर्य प्रदान करके अपना अनुग्रह प्रदर्शित नहीं किया क्योंकि इनसे ईश्वर की प्रेमाभक्ति भूल जाती है। भौतिक ऐश्वर्य का परिणाम यह होता है कि फिर भगवान् में मन नहीं लगता।

तात्पर्य : दो प्रकार के ऐश्वर्य होते हैं—एक वह जो कर्मों से जनित है और भौतिक है तथा जबकि दूसरा आध्यात्मिक है। शरणागत जीव जो श्रीभगवान् पर पूर्णतः आश्रित होता है इन्द्रियभोग के लिए भौतिक ऐश्वर्य की कामना नहीं करता। अतः यदि शुद्ध भक्त के पास विपुल ऐश्वर्य दिखे तो वह उसके

कर्म के कारण नहीं होता, वरन् उसकी भक्ति के कारण होता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि उसे यह पद इसलिए दिया जाता है, क्योंकि भगवान् चाहते हैं कि वह सरलतापूर्वक एवं वैभवपूर्ण ढंग से उनकी सेवा कर सके। नवदीक्षित भक्त पर भगवान् विशेष दयालु रहते हैं, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वह निर्धन हो जाता है। यह भगवत्कृपा ही है, अन्यथा नवदीक्षित भक्त ऐश्वर्य प्राप्त करके भगवान् की सेवा भूल सकता है। किन्तु यदि भगवान् किसी महान् भक्त को ऐश्वर्य प्रदान करते हैं, तो यह भौतिक ऐश्वर्य नहीं है किन्तु इसे एक आध्यात्मिक अवसर ही मानना चाहिए। देवताओं को प्रदत्त भौतिक ऐश्वर्य से भक्त भगवान् को भूल जाता है, किन्तु बलि महाराज को भगवान् के प्रति भक्ति बनाये रखने के लिए ऐश्वर्य का वरदान मिला था। जिसे माया छू तक नहीं गई थी।

यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहृतस्वशरीरावशेषितलोकत्रयो वरुणपाशैश्च सम्प्रतिमुक्तो गिरिदर्यां चापविद्ध इति होवाच. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—वह; भगवता—श्रीभगवान् द्वारा; अनधिगत-अन्य-उपायेन—जिसे अन्य साधनों से नहीं देखा जा सकता; याच्ञा-छलेन—याचना (भिक्षा) के बहाने; अपहृत—ठगा गया; स्व-शरीर-अवशेषित—केवल अपना शरीर शेष रह जाने पर; लोक-त्रयः—तीनों लोक; वरुण-पाशैः—वरुण के पाश द्वारा; च—तथा; सम्प्रतिमुक्तः—पूर्णतया बँधा हुआ; गिरि-दर्याम्—पर्वत की गुफा में; च—तथा; अपविद्धः—रोका जाकर; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; उवाच—कहा।

जब श्रीभगवान् को बलि महाराज का सर्वस्व ले लेने की कोई युक्ति न सूझी तो उन्होंने भिक्षा माँगने के बहाने तीनों लोक माँग लिए। इस प्रकार उनका शरीरमात्र शेष बच रहा, किन्तु तो भी भगवान् सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने बलि महाराज को वरुण पाश से बन्दी बना लिया और एक पर्वत की गुफा में ले जाकर फेंक दिया। यद्यपि बलि महाराज का सर्वस्व ले लिया गया था और उन्हें बन्दी बना कर गुफा में डाल दिया गया था, तो भी महान् भक्त होने के कारण वे इस प्रकार बोले।

नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहाय स्वयमुपेन्द्रेणात्मानमयाचतात्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यमतिगम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिवृत्तं कियल्लोकत्रयमिदम्. ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; बत—धिक्; अयम्—यह; भगवान्—अत्यन्त विद्वान; अर्थेषु—आत्महित के लिए; न—नहीं; निष्णातः—परम अनुभवी; यः—जो; असौ—स्वर्ग का राजा; इन्द्रः—इन्द्र; यस्य—जिसका; सचिवः—प्रधान मंत्री; मन्त्राय—मंत्रणा के

लिए, सलाह के लिए; वृतः—चुना हुआ; एकान्ततः—अकेला; बृहस्पतिः—बृहस्पति; तम्—उसको; अतिहाय—उपेक्षा करके; स्वयम्—स्वयं; उपेन्द्रेण—उपेन्द्र (भगवान् वामनदेव) की सहायता से; आत्मानम्—मुझसे; अयाचत—प्रार्थना की; आत्मनः—स्वयं; च—तथा; आशिषः—आशीर्वाद (तीनों लोक); नो—नहीं; एव—ही; तत्-दास्यम्—भगवान् की सप्रेम सेवा; अति—अत्यधिक; गम्भीर-वयसः—अपार अवधि वाला; कालस्य—काल का; मन्वन्तर-परिवृत्तम्—मनु के जीवन के अन्त होने पर परिवर्तित; कियत्—क्या लाभ; लोक-त्रयम्—तीनों लोक; इदम्—इन।

धिक्! स्वर्ग का राजा इन्द्र कितना दयनीय है कि अत्यन्त विद्वान और शक्तिमान होकर तथा बृहस्पति को परामर्श हेतु अपना प्रधान बना लेने पर भी आध्यात्मिक उन्नति के विषय में सर्वथा अज्ञानी है। बृहस्पति भी बुद्धिमान नहीं है, क्योंकि उसने अपने शिष्य इन्द्र को उचित शिक्षा नहीं दी। भगवान् वामनदेव इन्द्र के द्वार पर खड़े हुए थे, किन्तु उनसे इन्द्र ने दिव्य सेवा के लिए अवसर का वरदान न माँग कर उन्हें मेरे द्वार पर अपने इन्द्रिय-भोग के लिए तीन लोकों की प्राप्ति के लिए भिक्षा हेतु भेज दिया। तीनों लोकों की प्रभुता अत्यन्त महत्त्वहीन है, क्योंकि मनुष्य के पास चाहे कितना भी ऐश्वर्य क्यों न रहे वह एक मन्वन्तर तक ही चलता है, जो अनन्त काल का एक क्षुद्रांश मात्र है।

तात्पर्य : बलि महाराज इतने शक्तिशाली थे कि उन्होंने इन्द्र से युद्ध करके तीनों लोकों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। इन्द्र निश्चय ही अत्यन्त बुद्धिमान था, फिर भी उसने भगवान् वामनदेव से उनकी भक्ति में संलग्न होने की बात न कह कर अपने लिए ऐसे धन-धान्य की याचना की जो एक मन्वन्तर में समाप्त हो जाता है। मनु की आयु बहत्तर युग आँकी गई है। एक युग में ४३,००,००० वर्ष होते हैं, अत: मनु का जीवनकाल ३०,९६,००,००० वर्ष हुआ। देवताओं का भौतिक ऐश्वर्य एक मन्वन्तर तक ही रहता है। काल दुस्तर है! नियत काल, भले ही लाखों वर्ष क्यों न हो, तुरन्त बीत जाता है। देवताओं का ऐश्वर्य काल की सीमाओं के भीतर ही रहता है। अत: बलि महाराज को यह पछतावा रहा कि अत्यन्त विद्वान होते हुए भी इन्द्र अपनी बुद्धि का समुचित उपयोग नहीं कर पाया, क्योंकि वामनदेव से भगवान् की भक्ति न माँग कर इन्द्र ने उनका उपयोग भौतिक सम्पत्ति माँगने के लिए किया। यद्यपि इन्द्र बुद्धिमान था और उसका प्रधान मंत्री बृहस्पति भी बुद्धिमान था, किन्तु इनमें से किसी ने भी भगवान् वामनदेव की प्रेमा-भक्ति करने का वर नहीं माँगा। अत: बलि महाराज को इन्द्र पर पछतावा हुआ।

यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वव्रे न तु स्वपित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु स्वपितरि. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका (श्रीभगवान् का); अनुदास्यम्—सेवा; एव—निश्चय ही; अस्मत्—हमारा; पिता-महः—पितामह, बाबा; किल—निस्सन्देह; वव्रे—स्वीकृत; न—नहीं; तु—लेकिन; स्व—अपना; पित्र्यम्—पैतृकसम्पत्ति; यत्—जो; उत—निश्चय ही; अकुतः-भयम्—निर्भीकता; पदम्—पद, स्थान; दीयमानम्—प्रदान किये जाने पर; भगवतः—भगवान् की अपेक्षा; परम्—अन्य; इति—इस प्रकार; भगवता—श्रीभगवान् द्वारा; उपरते—बध किये जाने पर; खलु—निस्संदेह; स्व-पितरि—अपना पिता।

बलि महाराज ने कहा—मेरे पितामह प्रह्लाद महाराज ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने आत्महित पहचाना। उनके पिता हिरण्यकशिपु की मृत्यु के पश्चात् भगवान् नृसिंहदेव ने प्रह्लाद को उनके पिता का साम्राज्य प्रदान करने के साथ ही भौतिक बन्धनों से मुक्ति प्रदान करनी चाही, किन्तु प्रह्लाद ने इनमें से किसी को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सोचा कि मुक्ति तथा भौतिक ऐश्वर्य भक्ति में बाधक हैं, अतः श्रीभगवान् से ऐसे वरदान प्राप्त कर लेना भगवान् का वास्तविक अनुग्रह नहीं है। फलस्वरूप कर्म तथा ज्ञान के फलों को न स्वीकार करते हुए प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से केवल उनके दास की भक्ति में अनुरक्त रहने का वर माँगा।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि शुद्ध भक्त अपने को परमेश्वर के दास का भी दास माने (*गोपीभर्तुः पादकमलयोर् दासदासानुदासः*)। वैष्णव दर्शन में किसी को प्रत्यक्ष दास नहीं बनना चाहिए। प्रह्लाद महाराज को इस संसार में ऐश्वर्यपूर्ण पद तथा ब्रह्म में तदाकार होने की स्वच्छन्दता जैसे आशीर्वाद प्राप्त थे, किन्तु उन्होंने इन्हें अस्वीकार कर दिया। उन्होंने भगवान् के दासों के भी दास की सेवा में रत रहना श्रेयस्कर समझा। इसलिए बलि महाराज ने कहा है कि चूँकि उनके पितामह प्रह्लाद महाराज ने भौतिक ऐश्वर्य तथा बन्धन से मुक्ति जैसे श्रीभगवान् के आशीर्वादों को नकार दिया था, इसलिए वे आत्महित को भलीभाँति समझते थे।

तस्य महानुभावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः परिहीणभगवदनुग्रह उपजिगमिषतीति. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—प्रह्लाद महाराज का; महा-अनुभावस्य—जो सिद्ध भक्त थे; अनुपथम्—पथ; अमृजित-कषायः—भौतिकता से दूषित पुरुष; कः—क्या; वा—अथवा; अस्मत्-विधः—हमारे तुल्य; परिहीण-भगवत्-अनुग्रहः—श्रीभगवान् के अनुग्रह बिना; उपजिगमिषति—अनुसरण करना चाहता है; इति—इस प्रकार।

बलि महाराज ने कहा—हमारे जैसे पुरुष, जो अब भी भौतिक सुखों में लिप्त हैं, जो भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से दूषित हैं और जिन पर श्रीभगवान् के अनुग्रह का अभाव है, वे

भला ईश्वर के सिद्ध भक्त प्रह्लाद महाराज के सर्वोत्कृष्ट मार्ग का अनुसरण कैसे कर सकते हैं?

तात्पर्य : कहा जाता है कि आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुष्य को भगवान् ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, शिवजी तथा प्रह्लाद महाराज जैसे महापुरुषों का अनुसरण करना चाहिए। यदि पूर्ववर्ती आचार्यों तथा विद्वानों के पदचिह्नों पर चला जाये तो भक्ति का मार्ग बिल्कुल ही कठिन नहीं है, किन्तु जो प्रकृति के गुणों के द्वारा भौतिक दृष्टि से कलुषित हो चुके है उनके लिए उस मार्ग पर चल पाना कठिन है। यद्यपि बलि महाराज अपने पितामह के पदचिह्नों का अनुसरण कर रहे थे, किन्तु अपनी विनयशीलतावश सोच रहे थे कि वे ऐसा नहीं कर रहे हैं। भक्ति के नियमों का पालन करने वाले सिद्ध भक्तों की यह विशेषता है कि अपने को सामान्य व्यक्ति समझते हैं। यह विनयशीलता का कृत्रिम दिखावा नहीं है; एक वैष्णव वास्तव में इसी प्रकार सोचता है, और अपने को परम पद पर कभी नहीं मानता।

तस्यानुचरितमुपरिष्टाद्विस्तरिष्यते यस्य भगवान्स्वयमखिलजगद्गुरुर्नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयो येनाङ्गुष्ठेन पदा दशकन्धरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटितः. ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्य—बलि महाराज का; अनुचरितम्—चरित्र, वर्णन; उपरिष्टात्—बाद के, परवर्ती (आठवें स्कंध में); विस्तरिष्यते—विस्तार से वर्णन किया जायेगा; यस्य—जिसका; भगवान्—श्रीभगवान्; स्वयम्—स्वयं; अखिल-जगत्-गुरुः—तीनों लोकों के गुरु; नारायणः—साक्षात् नारायण; द्वारि—द्वार पर; गदा-पाणिः—हाथ में गदा लिये हुए; अवतिष्ठते—खड़े रहते हैं; निज-जन-अनुकम्पित-हृदयः—जिनका हृदय अपने भक्तों के लिए सदैव दया से पूरित रहता है; येन—जिसके द्वारा; अङ्गुष्ठेन—बड़े अँगूठे से; पदा—अपने पाँव का; दश-कन्धरः—दश सिरों वाला, रावण; योजन-अयुत-अयुतम्—अस्सी हजार मील की दूरी; दिक्-विजये—बलि महाराज पर विजय प्राप्त करने हेतु; उच्चाटितः—फेंक दिया।.

शुकदेव गोस्वामी बोले—हे राजन्, भला मैं बलि महाराज के चरित्र का कैसे गुणगान कर सकता हूँ? तीनों लोकों के स्वामी श्रीभगवान्, जो अपने भक्त पर अत्यन्त दयालु हैं, महाराज बलि के द्वार पर गदा धारण किये खड़े रहते हैं। जब पराक्रमी असुर रावण बलि महाराज पर विजय पाने के लिए आया तो वामनदेव ने उसे अपने पैर के अँगूठे से अस्सी हजार मील दूरी पर फेंक दिया। मैं बलि महाराज के चरित्र तथा कार्यकलापों का विस्तृत वर्णन आगे (आठवें स्कंध में) करूँगा।

ततोऽधस्तात्तलातले मयो नाम दानवेन्द्रस्त्रिपुराधिपतिर्भगवता पुरारिणा त्रिलोकीशं चिकीर्षुणा निर्दग्धस्वपुरत्रयस्तत्प्रसादाल्लब्धपदो मायाविनामाचार्यो महादेवेन परिरक्षितो विगतसुदर्शनभयो महीयते. ॥ २८॥

शब्दार्थ

ततः—सुतल नामक लोक के; अधस्तात्—नीचे; तलातले—तलातल नामक लोक में; मयः—मय; नाम—नाम का; दानव-इन्द्रः—दानव, दानवों का राजा; त्रि-पुर-अधिपतिः—तीनों पुरियों का ईश्वर; भगवता—सर्वशक्तिमान द्वारा; पुरारिणा—भगवान् शिव द्वारा, जिन्हें त्रिपुरारी कहा जाता है; त्रि-लोकी—तीनों लोकों का; शम्—सौभाग्य; चिकीर्षुणा—कामना करने वाला; निर्दग्ध—जला दिया; स्व-पुर-त्रयः—जिसकी तीनों पुरियाँ; तत्-प्रसादात्—भगवान् शिव के अनुग्रह से; लब्ध—प्राप्त किया गया; पदः—राज्य; माया-विनाम् आचार्यः—समस्त मायावियों के स्वामी; महा-देवेन—भगवान् शिव के द्वारा; परिरक्षितः—सुरक्षित; विगत-सुदर्शन-भयः—जो श्रीभगवान् तथा उनके सुदर्शन चक्र से भयभीत नहीं है; महीयते—आराधित है।.

सुतल लोक के नीचे तलातल नामक एक और लोक है जो मय दानव द्वारा शासित है। मय इन्द्रजाल की शक्तियों से पूर्ण, समस्त मायावियों के आचार्य (स्वामी) रूप में विख्यात है। एक बार भगवान् शिव ने, जिन्हें त्रिपुरारी कहा जाता है, तीनों लोकों के लाभ के लिए मय के तीनों राज्यों को जला दिया, किन्तु बाद में उससे प्रसन्न होकर उसका राज्य लौटा दिया। तब से शिवजी मय दानव की रक्षा करते हैं, इसलिए वह गलती से सोचता है कि उसे श्रीभगवान् के सुदर्शन चक्र का भय नहीं करना चाहिए।

ततोऽधस्तान्महातले काद्रवेयाणां सर्पाणां नैकशिरसां क्रोधवशो नाम गणः कुहकतक्षककालियसुषेणादिप्रधाना महाभोगवन्तः पतत्त्रिराजाधिपतेः पुरुषवाहादनवरतमुद्विजमानाः स्वकलत्रापत्यसुहृत्कुटुम्बसङ्गेन क्वचित्प्रमत्ता विहरन्ति. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तलातल लोक से; अधस्तात्—नीचे; महातले—महातल नामक लोक में; काद्रवेयाणाम्—कद्रू की सन्तानों का; सर्पाणाम्—जो सर्प है; न एक-शिरसाम्—जो अनेक फनों वाले हैं; क्रोध-वशः—सदैव क्रोध के वशीभूत; नाम—नामक; गणः—गण, समूह; कुहक—कुहक; तक्षक—तक्षक; कालिय—कालिय; सुषेण—सुषेण; आदि—इत्यादि; प्रधानाः—प्रमुख; महा-भोगवन्तः—समस्त प्रकार के भोगों में लिप्त; पतत्त्रि-राज-अधिपतेः—समस्त पक्षियों के अधिपति, गरुड़ से; पुरुष-वाहात्—श्रीभगवान् को ले जाने वाला; अनवरतम्—निरन्तर; उद्विजमानाः—भयभीत; स्व—अपने आप; कलत्र-अपत्य—स्त्रियों तथा सन्तानों; सुहृत्—मित्र; कुटुम्ब—कुटुम्बीजन; सङ्गेन—साथ में; क्वचित्—कभी-कभी; प्रमत्ताः—क्रुद्ध; विहरन्ति—विहार करते हैं, खेलते हैं।.

तलातल के नीचे का लोक महातल कहलाता है। यह सदैव क्रुद्ध रहने वाले अनेक फनों वाले कद्रू की सर्प-सन्तानों का आवास है। इन सर्पों में कुहक, तक्षक, कालिय तथा सुषेण प्रमुख हैं। महातल के सारे सर्प भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ के भय से सदैव आतंकित रहते हैं, किन्तु चिन्तातुर होते हुए भी उनमें से कुछ अपनी पत्नियों, सन्तानों, मित्रों तथा कुटुम्बियों के साथ-साथ क्रीड़ाएँ करते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह बताया गया है कि महातल लोक के सर्प अत्यन्त शक्तिशाली तथा अनेक फनों वाले होते हैं। वे अपनी स्त्रियों तथा पुत्रों के साथ रहते हुए अपने को परम सुखी मानते हैं, यद्यपि उन्हें

गरुड़ का भय बना रहता है जो उनको नष्ट करने के लिए वहाँ आता है। यही भौतिक जीवन का विधान है। भले ही कोई कितनी कठिन परिस्थिति में क्यों न रहे, तो भी वह अपनी पत्नी, पुत्र, मित्र तथा कुटुम्बीजनों के मध्य अपने को सुखी मानता है।

ततोऽधस्ताद्रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम निवातकवचाः कालेया हिरण्यपुरवासिन इति विबुधप्रत्यनीका उत्पत्त्या महौजसो महासाहसिनो भगवतः सकललोकानुभावस्य हरेरेव तेजसा प्रतिहतबलावलेपा बिलेशया इव वसन्ति ये वै सरमयेन्द्रदूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद्बिभ्यति. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—महातल के भी नीचे; रसातले—रसातल में; दैतेयाः—दिति के पुत्र; दानवाः—दनु के पुत्र; पणयः नाम—पणि नामक; निवात-कवचाः—निवात कवच; कालेयाः—कालेय; हिरण्य-पुरवासिनः—हिरण्य-पुरवासी; इति—इस प्रकार; विबुध-प्रत्यनीकाः—देवताओं के शत्रु; उत्पत्त्याः—जन्म के; महा-ओजसः—अत्यन्त ओजस्वी; महा-साहसिनः—अत्यन्त क्रूर; भगवतः—भगवान् का; सकल-लोक-अनुभावस्य—जो समस्त लोकों के लिए मंगलकारी है; हरेः—श्रीभगवान् का; एव—निश्चय ही; तेजसा—सुदर्शन चक्र से; प्रतिहत—पराजित; बल—शक्ति; अवलेपाः—तथा गर्व (शारीरिक बल के कारण); बिल-ईशयाः—सर्प; इव—सदृश; वसन्ति—रहते हैं; ये—जो; वै—निस्सन्देह; सरमया—सरमा द्वारा; इन्द्र-दूत्या—इन्द्र की दूती; वाग्भिः—शब्दों से; मन्त्र-वर्णाभिः—मंत्रों के रूप में; इन्द्रात्—राजा इन्द्र से; बिभ्यति—डरते हैं।

महातल के नीचे रसातल नामक लोक है जो दिति तथा दनु के आसुरी पुत्रों का निवास है। ये पणि, निवात-कवच, कालेय तथा हिरण्य-पुरवासी कहलाते हैं। ये देवताओं के शत्रु हैं और सर्पों की भाँति बिलों में रहते हैं। ये जन्म से ही अत्यन्त शक्तिशाली एवं क्रूर हैं और अपनी शक्ति का गर्व होने पर भी वे समस्त लोकों के अधिपति श्रीभगवान् के सुदर्शन चक्र द्वारा सदैव पराजित होते हैं। जब इन्द्र की नारी रूप दूत सरमा विशेष एक विशिष्ट शाप देती है, तो महातल के असुर सर्प इन्द्र से अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि इन सर्पासुरों एवं इन्द्र के बीच घमासान युद्ध हुआ। सरमा नाम की इन्द्र की दूत से जब इन पराजित असुरों की भेंट हुई तो वह एक मंत्र का जप कर रही थी, अतः वे इससे डर गये; इसलिए तब से वे रसातल नामक लोक में निवास कर रहे हैं।

ततोऽधस्तात्पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिकमहाशङ्खश्वेतधनञ्जयधृतराष्ट्रशङ्खचूडकम्बलाश्वतरदेवदत्तादयो महाभोगिनो महामर्षा निवसन्ति येषामु ह वै पञ्चसप्तदशशतसहस्रशीर्षाणां फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ततः अधस्तात्—रसातल के नीचे; पाताले—पाताल लोक में; नाग-लोक-पतयः—नागलोकों के स्वामी; वासुकि—वासुकि; प्रमुखाः—प्रमुख; शङ्ख—शंख; कुलिक—कुलिक; महा-शङ्ख—महाशंख; श्वेत—श्वेत; धनञ्जय—धनञ्जय; धृतराष्ट्र—धृतराष्ट्र; शङ्ख-चूड—शंखचूड़; कम्बल—कम्बल; अश्वतर—अश्वतर; देव-दत्त—देवदत्त; आदयः—इत्यादि; महा-भोगिनः—अत्यन्त भोगी; महा-अमर्षाः—प्रकृति से अत्यन्त ईर्षालु; निवसन्ति—रहते हैं; येषाम्—जिनका; उ ह—निश्चय ही; वै—निस्सन्देह; पञ्च—पाँच; सप्त—सात; दश—दस; शत—एक सौ; सहस्र—एक हजार; शीर्षाणाम्—फणों वालों का; फणासु—उन फणों पर; विरचिताः—जड़ित; महा-मणयः—अत्यन्त मूल्यवान मणि; रोचिष्णवः—तेज से पूर्ण; पाताल-विवर—पाताल लोक की गुफाएँ; तिमिर-निकरम्—अंधकार-राशि; स्व-रोचिषा—उनके फणों के तेज से; विधमन्ति—भागते हैं।

रसातल के नीचे पाताल अथवा नागलोक नामक एक अन्य लोक है जहाँ अनेक आसुरी सर्प तथा नागलोक के स्वामी रहते हैं, यथा शंख, कुलिक, महाशंख, श्वेत, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, शंखचूड़, कम्बल, अश्वतर तथा देवदत्त। इसमें से वासुकि प्रमुख है। वे अत्यन्त क्रुद्ध रहते हैं और उनमें से कुछ के पाँच, कुछ के सात, कुछ के दस, कुछ के सौ और अन्यों के हजार फण होते हैं। इन फणों में बहुमूल्य मणियां सुशोभित हैं और इन मणियों से निकला प्रकाश बिल-स्वर्ग के सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''नीचे के स्वर्गीय लोकों का वर्णन'' नामक चौबीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पच्चीस

भगवान् अनन्त की महिमा

इस अध्याय में शुकदेव गोस्वामी भगवान् शिव के उत्स अनन्त का वर्णन किया है जिनका शरीर पूर्णतया आध्यात्मिक हैं। भगवान् अनन्त पाताल लोक के मूल में निवास करते हैं। वे भगवान् शिव के हृदय-देश में सदैव निवास करने वाले हैं और इस ब्रह्माण्ड का संहार करने में इनकी सहायता करते हैं। अनन्त बताते हैं कि इस विश्व का कैसे संहार हो इसलिए वे कभी-कभी तामसी अर्थात् तमोगुणी कहे जाते हैं। वे भौतिक चेतना के अधिष्ठाता देव हैं और चूँकि वे समस्त जीवों को आकृष्ट कर लेते हैं, इसलिए कभी-कभी वे संकर्षण भी कहलाते हैं। यह सम्पूर्ण भौतिक जगत भगवान् संकर्षण के फणों पर टिका है। वे अपने शिर के अग्रभाग से भगवान् शिव को इस भौतिक जगत के संहार हेतु शक्ति प्रदान करते हैं। चूँकि संकर्षण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के स्वांश हैं, इसलिए अनेक भक्तजन उनकी स्तुति करते हैं और पाताललोक के समस्त सुर, असुर, गंधर्व, विद्याधर तथा ऋषि-मुनि उनको सादर नमस्कार करते हैं। भगवान् उनसे मृदु वाणी बोलते हैं। उनका शरीर पूर्णतया चिन्मय एवं अत्यन्त

मनोहर है। जो कोई किसी प्रामाणिक गुरु से उनके सम्बन्ध में सुनता है, वह समस्त भवबन्धनों से छूट जाता है। सम्पूर्ण भौतिक शक्ति (माया) अनन्तदेव की योजना के अनुसार क्रियाशील है। अत: उन्हें इस भौतिक सृष्टि का मूल कारण मानना चाहिए। उनके बल का कोई अन्त नहीं है, न ही असंख्य मुखों से उनका कोई पूर्ण वर्णन ही कर सकता है। इसलिए वे अनन्त कहे जाते हैं। समस्त जीवों के प्रति दयालु होने के कारण उनका चिन्मय शरीर प्रकट हुआ। शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित् से अनन्तदेव के यश का वर्णन इस प्रकार करते हैं।

श्रीशुक उवाच

तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजनसहस्रान्तर आस्ते या वै कला भगवतस्तामसी समाख्यातानन्त इति सात्वतीया द्रष्टृदृश्ययोः सङ्कर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षणमित्याचक्षते. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले; तस्य—पाताललोक के; मूल-देशे—मूलभाग में; त्रिंशत्—तीस; योजन—आठ मील की दूरी की इकाई; सहस्र-अन्तरे—एक हजार (योजन) की दूरी पर; आस्ते—स्थित है; या—जो; वै—निश्चय ही; कला—अंश का अंश; भगवतः—श्रीभगवान् का; तामसी—अंधकार से सम्बन्धित; समाख्याता—कहलाने वाला; अनन्तः—अनन्त; इति—इस प्रकार; सात्वतीयाः—भक्तगण; द्रष्टृ-दृश्ययोः—पदार्थ तथा आत्मा का; सङ्कर्षणम्—परस्पर आकर्षित करने वाला; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; अभिमान—आत्म-सम्मान; लक्षणम्—लक्षण; यम्—जिसको; सङ्कर्षणम्—संकर्षण; इति—इस प्रकार; आचक्षते—विद्वान कहते हैं।.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से कहा—हे राजन्, पाताल लोक से २,४०,००० मील नीचे श्रीभगवान् के एक अन्य अवतार निवास करते हैं। वे भगवान् अनन्त अथवा भगवान् संकर्षण कहलाते हैं और भगवान् विष्णु के अंश हैं। वे सदैव दिव्य पद पर आसीन हैं, किन्तु तमोगुणी देवता भगवान् शिव के आराध्य होने के कारण कभी-कभी तामसी कहलाते हैं। भगवान् अनन्त सभी बद्धजीवों के अहं तथा तमोगुण के प्रमुख देवता हैं। जब बद्धजीव यह सोचता है कि यह संसार भोग्य है और मैं उसका भोक्ता हूँ तो यह जीवन-दृष्टि संकर्षण द्वारा प्रेरित होती है। इस प्रकार संसारी बद्धजीव स्वयं को ही परमेश्वर मानने लगता है।

तात्पर्य : मायावादी दार्शनिकों की तरह ही मनुष्यों का एक वर्ग है जो *अहं ब्रह्मास्मि* तथा *सोऽहं* वैदिक मन्त्रों का अर्थ ''मैं ही परब्रह्म हूँ'' तथा ''मैं ईश्वर से अभिन्न हूँ'' लगाता है। इस प्रकार की झूठी विचारधारा एक प्रकार का मोह है। इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* (..८) में *जनस्य मोहोऽयमहं ममेति* के रूप में हुआ है। जैसाकि उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है इस झूठी विचारधारा के प्रेरक

श्रीमूर्ति भगवान् संकर्षण हैं। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१.१) में इसकी पुष्टि की है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ और मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है।" ईश्वर सबों के हृदयों में संकर्षण रूप में स्थित हैं और जब कोई असुर अपने आपको परमेश्वर से एकाकार मानता है, तो ईश्वर उसे उस अंधकार में रहने देते हैं। यद्यपि ऐसा आसुरी जीव परमेश्वर का एक नगण्य विभिन्नांश मात्र होता है, किन्तु जीव अपनी वास्तविक स्थिति को भूलकर अपने को परमेश्वर समझने लगता है। चूँकि ऐसी विस्मृति भगवान् संकर्षण द्वारा उत्पन्न की जाती है इसलिए कभी-कभी उन्हें *तामसी* कहा जाता है। तामसी शब्द से यह इंगित नहीं होता कि उनका भौतिक शरीर है। वे सदैव दिव्य है, किन्तु तामसी कार्यों के कर्ता भगवान् शिव की परम-आत्मा होने के कारण संकर्षण कभी-कभी तामसी कहलाते हैं।

यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; इदम्—यह; क्षिति-मण्डलम्—ब्रह्माण्ड; भगवतः—श्रीभगवान् का; अनन्त-मूर्तेः—अनन्त देव के रूप में; सहस्र-शिरसः—एक हजार फणों वाले; एकस्मिन्—एक; एव—केवल; शीर्षणि—फण में; ध्रियमाणम्—रखा हुआ; सिद्धार्थः इव—(तथा) श्वेत सरसों के दाने के तुल्य; लक्ष्यते—दिखाई पड़ता है।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—भगवान् अनन्त के सहस्र फणों में से एक फण के ऊपर रखा हुआ यह विशाल ब्रह्माण्ड श्वेत सरसों के दाने के समान प्रतीत होता है। भगवान् अनन्त के फण की तुलना में यह नगण्य है।

यस्य ह वा इदं कालेनोपसञ्जिहीर्षतोऽमर्षविरचितरुचिरभ्रमद्भ्रुवोरन्तरेण साङ्कर्षणो नाम रुद्र एकादशव्यूहस्त्र्यक्षस्त्रिशिखं शूलमुत्तम्भयन्नुदतिष्ठत्. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; ह वा—निस्सन्देह; इदम्—यह (जगत); कालेन—कालक्रम से; उपसञ्जिहीर्षतः—संहार करने की कामना करते हुए; अमर्ष—क्रोध से; विरचित—निर्मित; रुचिर—अत्यन्त सुन्दर; भ्रमत्—घूमते हुए; भ्रुवोः—भृकुटियाँ के; अन्तरेण—भीतर से; साङ्कर्षणः नाम—सांकर्षण नामक; रुद्रः—भगवान् शिव के अवतार, रुद्र; एकादश-व्यूहः—ग्यारह विस्तारों वाला; त्रि-अक्षः—तीन नेत्र; त्रि-शिखम्—तीन नोकों वाले; शूलम्—त्रिशूल; उत्तम्भयन्—उठाते हुए; उदतिष्ठत्—उठा।

प्रलयकाल उपस्थित होने पर जब भगवान् अनन्तदेव सम्पूर्ण सृष्टि का संहार करना चाहते हैं, तो वे कुछ क्रुद्ध हो जाते हैं। तब उनकी दोनों भृकुटियों के बीच से त्रिशूल धारण किये हुए त्रिनेत्र रुद्र प्रकट होते हैं। यह रुद्र, जो संकर्षण कहलाते हैं, ग्यारह रुद्रों, अर्थात् भगवान् शिव के अवतारों का व्यूह होता है। वे सम्पूर्ण सृष्टि के संहार हेतु प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक सृष्टि में जीवात्माओं को अवसर प्रदान किया जाता है कि वे बद्ध जीवत्माओं के रूप में अपने कार्यकलाप समाप्त कर लें। जब वे इस अवसर का दुरुपयोग करती हैं और भगवान् के धाम को वापस नहीं जातीं तो भगवान् संकर्षण क्रोधित होते हैं। क्रोध के कारण भगवान् संकर्षण की भृकुटियों से भगवान् शिव के अंश रूप ग्यारह रुद्र प्रकट होते हैं और वे सब मिलकर सम्पूर्ण सृष्टि का संहार कर देते हैं।

यस्याङ्घ्रिकमलयुगलारुणविशदनखमणिषण्डमण्डलेष्वहिपतयः सह
सात्वतर्षभैरेकान्तभक्तियोगेनावनमन्तः स्ववदनानि
परिस्फुरत्कुण्डलप्रभामण्डितगण्डस्थलान्यतिमनोहराणि प्रमुदितमनसः खलु विलोकयन्ति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अङ्घ्रि-कमल—चरणकमल; युगल—दोनों; अरुण-विशद—चटक गुलाबी; नख—नाखूनों का; मणि-षण्ड—मणियों के समान; मण्डलेषु—गोलाकार पृष्ठों पर; अहि-पतयः—सर्पों के स्वामी; सह—साथ; सात्वत-ऋषभैः—श्रेष्ठ भक्तों के; एकान्त-भक्ति-योगेन—शुद्ध भक्ति के साथ; अवनमन्तः—नमस्कार करते हुए; स्व-वदनानि—अपने-अपने मुखों; परिस्फुरत्—चमकते हुए; कुण्डल—कान की बालियों की; प्रभा—ज्योति से; मण्डित—अलंकृत; गण्ड-स्थलानि—जिनके गाल; अति-मनोहराणि—अत्यन्त मनोहर; प्रमुदित-मनसः—प्रसन्न मन से; खलु—निस्संदेह; विलोकयन्ति—देखते हैं।

भगवान् संकर्षण के चरणकमलों के गुलाबी तथा पारदर्शी नाखून मानो दर्पण जैसे चमकाये गये बहुमूल्य मणि हैं। जब शुद्ध भक्त तथा नागों के अधिपति अत्यन्त भक्तिभाव से उन्हें नमस्कार करते हैं, तो उनके चरण-नखों में अपने सुन्दर मुखों की छाया देखकर अत्यन्त प्रमुदित हो उठते हैं। उनके गालों पर कान की देदीप्यमान् बालियाँ दमकती हैं और उनकी मुख-कान्ति अत्यन्त मोहक होती है।

यस्यैव हि नागराजकुमार्य आशिष
आशासानाश्चार्वङ्गवलयविलसितविशदविपुलधवलसुभगरुचिरभुजरजतस्तम्भेष्वगुरुचन्दनकुङ्कुमपङ्कानु
लेपेनावलिम्पमानास्तदभिमर्शनोन्मथितहृदयमकरध्वजावेशरुचिरललितस्मितास्तदनुरागमदमुदितमदविघूर्णितारुणकरुणावलोकनयनवदनारविन्दं सव्रीडं किल विलोकयन्ति. ॥ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; एव—ही; हि—निस्सन्देह; नाग-राज-कुमार्यः—नागराज की कुमारियाँ; आशिषः—आशीर्वाद; आशासानाः—आशावान होकर; चारु—सुन्दर; अङ्ग-वलय—शरीर मंडल पर; विलसित—शोभित; विशद—निष्कलंक; विपुल—दीर्घ; धवल—श्वेत; सुभग—सौभाग्यसूचक; रुचिर—सुन्दर; भुज—भुजाओं पर; रजत-स्तम्भेषु—चाँदी के ख भों के समान; अगुरु—सुगन्धित पदार्थ का; चन्दन—चन्दन का; कुङ्कु म—केशर का; पङ्क—चंदन से; अनुलेपेन—लेप से; अवलिम्पमानाः—लेपन करके; तत्-अभिमर्शन—अपने अंगों में स्पर्श द्वारा; उन्मथित—मथा हुआ; हृदय—हृदयों में; मकर-ध्वज—कामदेव का; आवेश—प्रवेश के कारण; रुचिर—अत्यन्त सुन्दर; ललित—नम्र; स्मिताः—मन्द-हास्य करती हुई; तत्—उसका; अनुराग—अनुराग; मद—गर्व से; मुदित—प्रसन्न; मद—दया के गर्व से; विघूर्णित—घूमती हुई; अरुण—गुलाबी; करुण-अवलोक—करुणा की दृष्टि से; नयन—नेत्र; वदन—(तथा) मुख; अरविन्दम्—कमलपुष्प के सदृश; स-व्रीडम्—सलज्ज; किल—निस्सन्देह; विलोकयन्ति—देखते हैं।

भगवान् अनन्त की आकर्षक दीर्घ भुजाएँ कंगनों से आकर्षक ढंग से अलंकृत हैं और पूर्णतया आध्यात्मिक हैं। श्वेत होने के कारण वे चाँदी के ख भों सी प्रतीत होती हैं। जब भगवान् के शुभाशीर्वाद की इच्छुक नागराजों की कुमारियाँ उनकी बाहों में अगुरु, चन्दन तथा कुमकुम का लेप लगाती हैं, तो उनके स्पर्श से उनके भीतर कामेच्छा जाग्रत हो उठती है। उनके मनोभावों को समझ कर भगवान् जब इन राजकुमारियों को कृपापूर्ण मुस्कान से देखते हैं, तो वे यह सोचकर लजा जाती हैं कि वे उनके मनोभावों को जानते हैं। तब वे मनोहर मुसकान सहित भगवान् के मुखकमल को देखतीं हैं, जो उनके भक्तों के प्यार से प्रमुदित तथा मद-विह्वल घूमती हुई लाल-लाल आँखों से सुशोभित रहता है।

तात्पर्य : जब स्त्री तथा पुरुष एक दूसरे के शरीर का स्पर्श करते हैं, तो सहज ही उनके मन में काम-भावना जाग्रत होती है। इस श्लोक से ऐसा सूचित होता है कि अलौकिक देहों में भी ऐसी ही अनुभूति होती है। भगवान् अनन्त तथा उन्हें सुख देने वाली नारियों दोनों ही के शरीर अलौकिक थे। इस प्रकार सभी अनूभूतियाँ मूलतः अलौकिक देह में विद्यमान रहती है। वेदान्त सूत्र से इसकी पुष्टि होती है—*जन्माद्यस्य यतः।* श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की इस सम्बन्ध में टीका है कि *आदि* शब्द का अर्थ है *आदिरस* जिसका उद्भव परमेश्वर से होता है। किन्तु आध्यात्मिक काम तथा प्राकृत काम में वैसा ही अन्तर है जैसाकि सोने तथा लोहे में। जो आत्म-साक्षात्कार में जितना ही अधिक सिद्ध होगा वह राधा एवं कृष्ण अथवा कृष्ण एवं व्रज की बालाओं के मध्य की कामभावनाओं को समझ सकता है। इसीलिए जब तक कोई अति अनुभवी तथा आत्मसिद्ध न हो उससे कृष्ण और गोपियों की कामभावनाओं की चर्चा करने के लिए निषेध किया जाता है। किन्तु यदि कोई शुद्ध एवं निष्ठावान् भक्त हो तो गोपी एवं कृष्ण की काम-अनुभूतियों की चर्चा करते समय उसका हृदय पूर्णतया कामरहित होता

है और वह आध्यात्मिक जीवन में तेजी से उन्नति करता है।

स एव भगवाननन्तोऽनन्तगुणार्णव आदिदेव उपसंहृतामर्षरोषवेगो लोकानां स्वस्तय आस्ते. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; भगवान्—श्रीभगवान्; अनन्तः—अनन्तदेव; अनन्त-गुण-अर्णवः—असीम दिव्य गुणों के सागर; आदि-देवः—आदि ईश्वर अथवा आद्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न रूप; उपसंहृत—जिसने इन्द्रियनिग्रह किया है; अमर्ष—उसकी असहनशीलता का; रोष—(तथा) क्रोध; वेगः—वेग, शक्ति; लोकानाम्—सभी लोकों के मनुष्यों के; स्वस्तये—कल्याण हेतु; आस्ते—रहते हैं।

भगवान् संकर्षण अनन्त दिव्य गुणों के सागर हैं जिससे वे अनन्तदेव कहलाते हैं। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न हैं। इस जगत के समस्त जीवों के कल्याण हेतु वे अपने क्रोध तथा अपनी असहनशीलता को रोके हुए अपने धाम में निवास करते हैं।

तात्पर्य : अनन्तदेव का मूल उद्देश्य इस भौतिक सृष्टि को विलय करना हैं, किन्तु वे अपने रोष तथा अमर्ष को रोके रहते हैं। इस जगत की सृष्टि बद्ध-जीवात्माओं को भगवान् के धाम जाने के लिए एक और अवसर प्रदान करने के लिए की जाती है, किन्तु अधिकांश जीव इस अवसर का लाभ नहीं उठाते। सृष्टि के बाद वे भौतिक जगत पर फिर से अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं। इन क्रियाओं से अनन्तदेव क्रुद्ध हो उठते हैं और सम्पूर्ण भौतिक जगत को विनष्ट कर देना चाहते हैं। किन्तु श्रीभगवान् होने के कारण वे हम पर दयालु हैं और अपने रोष तथा अमर्ष को रोक लेते हैं। कभी-कभी ही वे अपना रोष प्रकट करते हैं और भौतिक जगत का विनाश कर देते हैं।

ध्यायमानः सुरासुरोरगसिद्धगन्धर्वविद्याधरमुनिगणैरनवरतमदमुदितविकृतविह्वललोचनः सुललितमुखरिकामृतेनाप्यायमानः स्वपार्षदविबुधयूथपतीनपरिम्लानरागनवतुलसिकामोदमध्वासवेन माद्यन्मधुकरव्रातमधुरगीतश्रियं वैजयन्तीं स्वां वनमालां नीलवासा एककुण्डलो हलककुदि कृतसुभगसुन्दरभुजो भगवान्महेन्द्रो वारणेन्द्र इव काञ्चनीं कक्षामुदारलीलो बिभर्ति. ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ध्यायमानः—ध्यान किये जाते हुए; सुर—देवताओं को; असुर—असुर; उरग—सर्प; सिद्ध—सिद्धलोक के वासी; गन्धर्व—गंधर्वलोक के वासी; विद्याधर—विद्याधर; मुनि—मुनि; गणैः—समूहों द्वारा; अनवरत—लगातार; मद-मुदित—मद से प्रसन्न; विकृत—चञ्चल; विह्वल—इधर-उधर घूमते हुए; लोचनः—जिनके नेत्र; सु-ललित—सुललित; मुखरिक—वाणी के; अमृतेन—अमृत से; आप्यायमानः—अच्छे लगने वाले; स्व-पार्षद—अपने सहयोगी; विबुध-यूथ-पतीन्—देवताओं के विभिन्न समूहों के प्रमुख; अपरिम्लान—कभी न म्लान होने वाले; राग—जिसकी कांति; नव—नवीन; तुलसिका—तुलसी की मंजरियों की; आमोद—सुगंधि से; मधु-आसवेन—तथा मधु (शहद) से; माद्यन्—मद से युक्त होकर; मधुकर-व्रात—मधुमक्खियों का; मधुर-गीत—मीठे गानों से; श्रीयम्—अधिक सुन्दर बनकर; वैजयन्तीम्—वैजयन्ती नामक माला; स्वाम्—अपना; वनमालाम्—माला; नील-वासाः—नीले अम्बर से आवृत; एक-कुण्डलः—केवल एक कुण्डल धारण किये हुए; हल-ककुदि—हल की

मुठिया पर; कृत—रखा हुआ; सुभग—शुभ; सुन्दर—सुन्दर; भुजः—हाथ; भगवान्—श्रीभगवान्; महा-इन्द्रः—स्वर्ग के राजा; वारण-इन्द्रः—हाथी; इव—सदृश; काञ्चनीम्—स्वर्णिम; कक्षाम्—मेखला; उदार-लीलः—दिव्य लीलाओं में संलग्न; बिभर्ति—पहनते हैं।

शुकदेव गोस्वामी आगे बोले—देवता, असुर, उरग (सर्पदेव), सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर तथा अनेक सिद्ध सन्तजन भगवान् की निरन्तर प्रार्थना करते रहते हैं। मद के कारण भगवान् विह्वल प्रतीत होते हैं और उनके नेत्रपूर्ण पुष्पित फूलों की भाँति इधर-उधर गति करते हैं। वे अपने मुख से निकली मधुर वाणी से अपने पार्षदों, देवताओं के प्रमुखों को प्रसन्न करते हैं। नीलाम्बर और कान में एक कुण्डल धारण किये हुए वे अपनी पीठ पर हल को अपने दो सुघड़ हाथों से पकड़े हुए हैं। वे इन्द्र के समान श्वेत लगते हैं, वे अपनी कटि में स्वर्णिम मेखला और गले में चिर नवीन तुलसी दलों की वैजयन्तीमाला धारण किये हैं। तुलसी दलों की मधु जैसी गन्ध से आकर्षित होकर मधुमक्खियाँ माला के चारों ओर मँडराती रहती हैं, जिससे माला और भी सुन्दर लगने लगती है। इस प्रकार भगवान् दिव्य लीलाओं में संलग्न रहते हैं।

य एष एवमनुश्रुतो ध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासनाग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं
सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु निर्भिनत्ति तस्यानुभावान्भगवान्स्वायम्भुवो नारदः सह तुम्बुरुणा
सभायां ब्रह्मणः संश्लोकयामास. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एषः—यही; एवम्—इस प्रकार; अनुश्रुतः—प्रामाणिक गुरु से सुना जाकर; ध्यायमानः—ध्यान किया गया; मुमुक्षूणाम्—बद्ध जीवन से मुक्ति के आकांक्षी मनुष्यों का; अनादि—अनन्त; काल—काल; कर्म-वासना—कर्मों की कामना द्वारा; ग्रथितम्—दृढ़ता से बँधा हुआ; अविद्या-मयम्—माया शक्ति से युक्त; हृदय-ग्रन्थिम्—हृदय के भीतर की गाँठ; सत्त्व-रजः-तमः-मयम्—प्रकृति के तीनों गुणों से युक्त; अन्तः-हृदयम्—हृदय के भीतर; गतः—स्थित; आशु—शीघ्र ही; निर्भिनत्ति—काटता है; तस्य—संकर्षण का; अनुभावान्—यश; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; स्वायम्भुवः—ब्रह्मा के पुत्र; नारदः—नारद मुनि; सह—साथ; तुम्बुरुणा—तारयुक्त वाद्य यंत्र, तँबूरा के; सभायाम्—सभा में; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा का; संश्लोकयाम् आस—श्लोकों में वर्णित।

यदि भौतिक जीवन से मुक्ति पाने के इच्छुक पुरुष शिष्य परम्परा से प्राप्त गुरु के मुख से अनन्तदेव के यश को सुनते हैं और यदि वे संकर्षण का निरन्तर ध्यान धरते हैं, तो भगवान् उनके अन्तःकरण में प्रवेश करते हुए प्रकृति के तीनों गुणों के सारे कल्मष को दूर कर देते हैं और हृदय की उस कठोर ग्रंथि को काट देते हैं, जो सकाम कर्मों के द्वारा प्रकृति पर प्रभुत्व पाने की अभिलाषा के कारण अनन्त काल से दृढ़ता से बँधी हुई है। भगवान् ब्रह्मा के पुत्र नारद मुनि अपने पिता की सभा में अनन्तदेव के यश का सदैव गान करते हैं। वहाँ वे अपने द्वारा रचित शुभ

श्लोकों का गान अपने तम्बूरे के साथ करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अनन्तदेव के इन वर्णनों में से कोई भी काल्पनिक नहीं हैं। वे सभी दिव्य आनन्द एवं ज्ञान से पूर्ण हैं। किन्तु जब तक कोई उन्हें परम्परागत प्रामाणिक गुरु से प्रत्यक्ष नहीं सुनता, उन्हें नहीं समझ पाता। इस ज्ञान को ब्रह्माजी ने नारद मुनि को दिया और महामुनि नारद अपने संगी तम्बूरे सहित इस ज्ञान को विश्व भर में वितरित करते हैं। कभी-कभी श्रीभगवान् को उत्तमश्लोक कहकर वर्णित किया जाता है। नारद मुनि भगवान् अनन्त की प्रशंसा में अनेक श्लोक बनाते हैं, इसलिए इस श्लोक में *संश्लोकयाम् आस* (चुने हुए श्लोकों से) शब्द का व्यवहार हुआ है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव ब्रह्माजी से चली आने वाली शिष्य परम्परा से सम्बद्ध हैं। ब्रह्माजी नारद के गुरुदेव हैं, नारद व्यासदेव के गुरु हैं तथा व्यासदेव ने *श्रीमद्भागवत* की रचना *वेदान्त सूत्र* की टीका के रूप में की। फलतः गौड़ीय सम्प्रदाय के समस्त भक्तगण *श्रीमद्भागवत* में वर्णित भगवान् अनन्त की क्रियाओं को प्रामाणिक मानते हैं और इस प्रकार उन्हें भगवान् के धाम में वापस जाने का लाभ प्राप्त होता है। बद्धजीव के हृदय का कल्मष कूड़े के ढेर के समान है जो तीन प्रकार के गुणों द्वारा, विशेष रूप से रजो तथा तमोगुणों के द्वारा, उत्पन्न होता है। यह कल्मष कामेच्छा एवं धन की लालसा के रूप में प्रकट होता है। जैसाकि यहाँ पुष्टि की गई है, जब तक मनुष्य को परम्परागत दिव्य ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसके इस कल्मष से शुद्ध होने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

उत्पत्तिस्थितिलयहेतवोऽस्य कल्पाः
सत्त्वाद्याः प्रकृतिगुणा यदीक्षयासन् ।
यद्रूपं ध्रुवमकृतं यदेकमात्मन्
नानाधात्कथमु ह वेद तस्य वर्त्म ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उत्पत्ति—सृजन का; स्थिति—धारण या पालन; लय—(तथा) संहार या प्रलय; हेतवः—मूल कारण; अस्य—इस जगत के; कल्पाः—समर्थ होते हैं; सत्त्व-आद्याः—सत्त्वगुण इत्यादि; प्रकृति-गुणाः—भौतिक प्रकृति के गुण; यत्—जिसकी; ईक्षया—दृष्टि मात्र से; आसन्—हो गया; यत्-रूपम्—जिसका स्वरूप; ध्रुवम्—अपरिमित; अकृतम्—बिना उत्पत्ति हुए; यत्—जो; एकम्—एक; आत्मन्—स्वयं में; नाना—अनेक; अधात्—प्रकट हुआ; कथम्—कैसे; उ ह—निश्चय ही; वेद—जान सकता है; तस्य—उसका; वर्त्म—पथ, मार्ग।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दृष्टि फेरने से ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कारणस्वरूप भौतिक प्रकृति के गुणों को अपने-अपने कार्य में समर्थ कर देते हैं। परमात्मा

अनन्त तथा अनादि हैं और एक होते हुए भी अपने को नाना रूपों में प्रकट करते हैं। भला ऐसे परमेश्वर के कार्यों को मानव समाज कैसे जान सकता है?

तात्पर्य : वेदों से हमें ज्ञात होता है कि परमेश्वर भौतिक प्रकृति पर दृष्टि डालते (*स ऐक्षत*) हैं तो प्रकृति के तीन प्रकार के गुण प्रकट होते हैं और भौतिक जगत उत्पन्न होता है और भौतिक विविधता सृजित होती है। जब तक वे भौतिक शक्ति पर दृष्टिपात नहीं करते, तब तक इस भौतिक जगत की सृष्टि, पालन और लय की कोई सम्भावना नहीं रहती। ईश्वर सृष्टि के पहले से विद्यमान हैं फलत: वे सनातन और अपरिवर्तनशील हैं। अत: कोई कितना भी महान् विज्ञानी या दार्शनिक क्यों न हो, वह श्रीभगवान् के कार्यों की विधि को कैसे जान सकता है?

चैतन्यभागवत (आदि खण्ड १.४८-२ तथा १.८-६९) के नि म्नलिखित उद्धरण भगवान् अनन्त के यश को बताने वाले हैं—

कि ब्रह्मा, कि शिव, कि सनकादि 'कुमार'।

व्यास, शुक, नारदादि, 'भक्त' नाम याँर॥

''ब्रह्माजी, शिवजी, चारों कुमार (सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार), व्यासदेव, शुकदेव गोस्वामी तथा नारद—ये सभी ईश्वर के शुद्ध भक्त अथवा सनातन दास हैं।

सबार पूजित श्री-अनन्त-महाशय।

सहस्र-वदन प्रभु—भक्ति-रसमय॥

''उपर्युक्त ये सभी विशुद्ध भक्तजन भगवान् श्री अनन्त की आराधना करते हैं। वे सहस्र फणों वाले तथा समस्त भक्ति के आगार हैं।

आदिदेव, महा-योगी, 'ईश्वर', 'वैष्णव'।

महिमार अन्त इँहा ना जानये सब॥

''भगवान् अनन्त आदिपुरुष तथा योग के महान् नियन्ता हैं। साथ ही वे भगवान् के दास या वैष्णव हैं। उनकी महिमा का कोई अन्त नहीं है, अत: उन्हें पूर्णतया नहीं समझा जा सकता।

सेवन शुनिला, एबे शुन ठाकुराल।

आत्म-तंत्रे येन-मते वैसेन पाताल॥

''ईश्वर के प्रति उनके सेवाभाव का मैं पहले ही वर्णन कर चुका हूँ, अब आप सुनें कि आत्मनिर्भर अनन्तदेव पाताललोक में किस प्रकार अवस्थित हैं।

श्री-नारद-गोसाञि 'तुम्बुरु' करि' संगे।

से यश गायेन ब्रह्मा-स्थाने श्लोक-वंधे॥

''महामुनि नारद अपने कंधे पर तुम्बुरु धारण किये हुए भगवान् अनन्त की महिमा का सदैव गायन करते रहते हैं। उन्होंने भगवान् की प्रशंसा में अनेक दिव्य श्लोकों की रचना की है।

सृष्टि, स्थिति, प्रलय, सत्त्वादि यत गुण।

याँर दृष्टि-पाते हय, याय पुनः पुनः॥

''भगवान् अनन्त की दृष्टिमात्र से प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया होती है और सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय उत्पन्न होते हैं। ये गुण पुनः पुनः प्रकट होते रहते हैं।

अद्वितीय-रूप, सत्य अनादि महत्त्व।

तथापि 'अनन्त' हय, के बुझे से तत्त्व?

''भगवान् अद्वितीय तथा अनादि सत्य रूप हैं, अतः वे अनन्तदेव कहलाते हैं। भला उन्हें कौन समझ सकता है?

शुद्ध-सत्त्व-मूर्ति प्रभु धरेन करुणाय।

ये-विग्रहे सबार प्रकाश सुलीलाय॥

''उनका स्वरूप पूर्णतः आध्यात्मिक है और वे केवल अपनी करुणा से उसे प्रकट करते हैं। इस भौतिक जगत के सारे कार्यकलाप केवल उन्हीं के रूप के द्वारा संचालित हैं।

याँहारा तरंग शिखि' सिंह महावली।

निज-जन-मनो रञ्जे हञा कुतूहली॥

''वे अत्यन्त शक्तिशाली हैं और अपने पार्षदों तथा भक्तों को प्रसन्न करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं।

ये अनन्त-नामेर श्रवण-संकीर्तने।

ये-ते मते केने नाहि बोले ये-ते जने॥

अशेष-जन्मेर बंध छिण्डे सेइ-क्षणे।

अतएव वैष्णव ना छाड़े कभु ताने॥

''यदि हम भगवान् अनन्तदेव की महिमा का सामूहिक कीर्तन करने के प्रयास में लग जाँए तो जन्म-जन्मांतरों से एकत्र हमारे मन के कल्मष तुरन्त धुल जाँय। अत: वैष्णवजन अनन्तदेव की महिमागान का अवसर हाथ से नहीं जाने देते।

'शेष' ब-इ संसारेर गति नाहिं आर।

अनन्तेर नामे सर्व-जीवेर उद्धार॥

''भगवान् अनन्त शेष (अपरिमित अन्त) कहलाते हैं, क्योंकि वे इस भौतिक जगत से होकर जाने वाले हमारे मार्ग का अन्त करने वाले हैं। उनकी महिमा के कीर्तन मात्र से प्रत्येक प्राणी मुक्त हो सकता है।

अनन्त पृथिवी-गिरि समुद्र-सहिते।

ये-प्रभु धरेन गिरे पालन करिते॥

''अनन्तदेव अपने सिर पर विशाल सागर तथा पर्वतों से युक्त लाखों ग्रहों वाले सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करते हैं।

सहस्र फणार एक-फणे 'बिन्दु' येन।

अनन्त विक्रम, ना जानेन, 'आछे' हेन॥

''वे इतने विराट एवं शक्तिमान हैं कि यह ब्रह्माण्ड उनके एक फण पर जलबिन्दु के समान टिका हुआ है। वे नहीं जान पाते कि यह कहाँ पर हैं।

सहस्र-वदने कृष्ण-यश निरन्तर।

गाइते आछेन आदि-देव मही-धर॥

''श्रीअनन्तदेव अपने एक फण में ब्रह्माण्ड को धारण किये अपने सहस्रों मुखों से श्रीकृष्ण का यशोगान करते हैं।

गायेन अनन्त, श्री-यशेर नाहिं अन्त।

जय-भंग नाहि कारु, दोंहे—बलवन्त॥

"यद्यपि वे अनन्तकाल से भगवान् श्रीकृष्ण का यशोगान करते रहे हैं, किन्तु उसका कोई अन्त नहीं मिला है।

अद्यापिह 'शेष'-देव सहस्र-श्रीमुखे।

गायेन चैतन्य-यश अन्त नाहिं देखे॥

"आज भी भगवान् अनन्त श्री चैतन्य महाप्रभु के यश का गान कर रहे हैं और इसका कोई अन्त नहीं है।"

मूर्तिं नः पुरुकृपया बभार सत्त्वं
संशुद्धं सदसदिदं विभाति तत्र ।
यल्लीलां मृगपतिराददेऽनवद्या-
मादातुं स्वजनमनांस्युदारवीर्यः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मूर्तिम्—**श्रीभगवान् के विविध रूपों को**; नः—**हमको**; पुरु-कृपया—**अत्यन्त कृपाकरके**; बभार—**प्रदर्शित किया**; सत्त्वम्—**अस्तित्त्व**; संशुद्धम्—**नितान्त दिव्य**; सत्-असत् इदम्—**कार्य-कारण स्वरूप यह भौतिक जगत**; विभाति—**प्रकाशित होता है**; तत्र—**जिसमें**; यत्-लीलाम्—**जिनकी लीलाएँ**; मृग-पतिः—**सिंह के समान समस्त जीवों का स्वामी**; आददे—**शिक्षा दी**; अनवद्याम्—**कल्मषहीन**; आदातुम्—**जीतने के लिए**; स्व-जन-मनांसि—**अपने भक्तों के मन में**; उदार-वीर्यः—**जो अत्यन्त उदार एवं शक्तिमान है।**

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के भीतर स्थूल व सूक्ष्म जगत का अस्तित्व विद्यमान है। अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपावश वे विभिन्न दिव्य रूपों को प्रदर्शित करते हैं। परमेश्वर अत्यन्त उदार हैं एवं उनमें समस्त योग शक्तियाँ हैं। अपने भक्तों के मन को जीतने तथा उनके हृदय को आनन्दित करने के लिए वे नानाविध अवतारों में प्रकट होते हैं और अनेक लीलाएँ करते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है—"श्रीभगवान् समस्त कारणों के कारण स्वरूप हैं। उनकी इच्छा से ही स्थूल तथा सूक्ष्म अवयव परस्पर क्रिया करते हैं। वे अपने शुद्ध भक्तों के हृदयों को प्रमुदित करने के लिए ही विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं।" उदाहरणार्थ, अपने भक्त को प्रसन्न करने के लिए परमेश्वर पृथ्वी को गर्भोदक सागर से उठाने के लिए भगवान् वराह के दिव्य रूप में अवतरित हुए।

यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मा-
दार्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा ।

हन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं
कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिनका; नाम—पवित्र नाम; श्रुतम्—सुना हुआ; अनुकीर्तयेत्—जप सकता है; अकस्मात्—दैवयोग से; आर्तः—विपदाग्रस्त व्यक्ति; वा—अथवा; यदि—यदि; पतितः—पतित व्यक्ति; प्रलम्भनात्—हँसी से; वा—अथवा; हन्ति—नष्ट करता है; अंहः—पापी; सपदि—उस क्षण; नृणाम्—मानव समाज का; अशेषम्—अपरिमित; अन्यम्—दूसरे को; कम्—क्या; शेषात्—भगवान् शेष की अपेक्षा; भगवतः—श्रीभगवान् की; आश्रयेत्—शरण में जावे; मुमुक्षुः—मुक्तिकामी व्यक्ति।

यदि कोई आर्त अथवा पतित व्यक्ति भी प्रामाणिक गुरु से भगवान् का पवित्र नाम सुनकर उसका जप करता है, तो वह तुरन्त पवित्र हो जाता है। यदि वह हँसी में, अथवा अकस्मात् भी भगवन्नाम का जप करता है, तो वह तथा जो उसे सुनता है समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं। अतः भौतिक बन्धनों से छुटकारा चाहने वाला व्यक्ति भगवान् शेष के नाम-जप से कैसे कतरा सकता है? भला वह और किसकी शरण ग्रहण करे?

मूर्धन्यर्पितमणुवत्सहस्रमूर्ध्नो
भूगोलं सगिरिसरित्समुद्रसत्त्वम् ।
आनन्त्यादनिमितविक्रमस्य भूम्नः
को वीर्याण्यधि गणयेत्सहस्रजिह्वः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मूर्धनि—शिर अथवा फण पर; अर्पितम्—स्थिर; अणु-वत्—अणु के समान; सहस्र-मूर्ध्नः—सहस्र फणों वाले अनन्त का; भू-गोलम्—यह ब्रह्माण्ड; स-गिरि-सरित्-समुद्र-सत्त्वम्—अनेक पर्वतों, वृक्षों, समुद्रों तथा जीवात्माओं सहित; आनन्त्यात्—अनन्त होने से; अनिमित-विक्रमस्य—अपरिमेय शक्ति; भूम्नः—परमेश्वर; कः—कौन; वीर्याणि—शक्तियाँ; अधि—निस्सन्देह; गणयेत्—गिन सकता है; सहस्र-जिह्वः—भले ही सहस्र जीभें क्यों न हों।

अपरिमित होने के कारण ईश्वर की शक्ति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अनेक विशाल पर्वतों, नदियों, सागरों, वृक्षों तथा जीवात्माओं से पूर्ण यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उनके सहस्रों फणों में से एक के ऊपर अणु के समान टिका हुआ है। भला, सहस्र जिह्वाओं से भी क्या कोई उनकी महिमा का वर्णन कर सकता है?

एवम्प्रभावो भगवाननन्तो
दुरन्तवीर्योरुगुणानुभावः ।
मूले रसायाः स्थित आत्मतन्त्रो
यो लीलया क्ष्मां स्थितये बिभर्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्-प्रभावः—इतना शक्तिशाली; भगवान्—श्रीभगवान्; अनन्तः—अनन्त; दुरन्त-वीर्य—अपार शौर्य; उरु—महान्; गुण-अनुभावः—दिव्य गुणों तथा यशों से युक्त; मूले—पादभाग में; रसायाः—निम्नतर लोकों के; स्थितः—स्थित; आत्म-तन्त्रः—पूर्णतया आत्मनिर्भर; यः—जो; लीलया—सरलतापूर्वक; क्ष्माम्—ब्रह्माण्ड को; स्थितये—पालन हेतु; बिभर्ति—धारण करता है।.

उन शक्तिमान भगवान् अनन्तदेव के महान् एवं यशस्वी गुणों का कोई पारावार नहीं है। वास्तव में उनका शौर्य अनन्त है। स्वयं आत्मनिर्भर होते हुए भी वे प्रत्येक वस्तु के आधार हैं। वे पाताललोक में वास करते हैं और इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण किये रहते हैं।

एता ह्येवेह नृभिरुपगन्तव्या गतयो यथाकर्मविनिर्मिता यथोपदेशमनुवर्णिताः कामान्कामयमानैः. ॥ १४॥

शब्दार्थ

एताः—ये सब; हि—निस्सन्देह; एव—ही; इह—इस ब्रह्माण्ड में; नृभिः—समस्त जीवों द्वारा; उपगन्तव्याः—उपलब्ध करने योग्य; गतयः—गन्तव्य; यथा-कर्म—अपने-अपने पूर्व कर्मों के अनुसार; विनिर्मिताः—उत्पन्न किये गये; यथा-उपदेशम्—जैसा उपदेश दिया गया; अनुवर्णिताः—तदनुसार वर्णित; कामान्—भौतिक सुख; कामयमानैः—कामना करने वालों के द्वारा।.

हे राजन्, मैंने अपने गुरु से जैसा सुना था, उसी रूप में मैंने बद्धजीवों के सकाम कर्मों एवं कामनाओं के अनुसार इस जगत की सृष्टि का पूर्ण वर्णन आपसे किया है। भौतिक कामनाओं से पूर्ण बद्धजीवों को विभिन्न लोकों में अनेक स्थान प्राप्त होते रहते हैं और इस प्रकार वे इसी भौतिक सृष्टि के भीतर रहते चले आते हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—

अनादिकरम-फले,

पडि' भवार्णव-जले, तरिबारे ना देखि उपाय।

"हे प्रभो, मैं यह नहीं जानता कि मेरा भौतिक जीवन कब प्रारम्भ हुआ, किन्तु मुझे इसका पूरा अनुभव होता है कि मैं अज्ञान के इस भवसागर में गिर गया हूँ। अब मैं यह भी देख सकता हूँ कि आपके चरणकमलों की शरण के अतिरिक्त उसमें से निकलने का कोई दूसरा उपाय नहीं हैं।" इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं—

अयि नन्दतनुज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥

"हे भगवन्, नन्द महाराज के पुत्र! मैं आपका चिरन्तन दास हूँ। न जाने मैं कैसे अज्ञान के इस भवसागर में गिर गया हूँ। अतः कृपा करके भौतिक जीवन की विषम स्थिति से मेरा उद्धार कीजिए।"

एतावतीर्हि राजन्पुंसः प्रवृत्तिलक्षणस्य धर्मस्य विपाकगतय उच्चावचा विसदृशा यथाप्रश्नं व्याचख्ये किमन्यत्कथयाम इति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

एतावतीः—इतने प्रकार की; हि—ही; राजन्—हे राजन्; पुंसः—मानव प्राणियों की; प्रवृत्ति-लक्षणस्य—प्रवृत्तियों द्वारा लक्षणीभूत; धर्मस्य—कार्य सम्पादन का; विपाक-गतयः—परिणामी गन्तव्य; उच्च-अवचाः—उच्च तथा निम्न; विसदृशाः—विभिन्न; यथा-प्रश्नम्—आपके प्रश्न के अनुसार; व्याचख्ये—मैंने वर्णन किया है; किम् अन्यत्—और क्या; कथयाम—कहूँ; इति—इस प्रकार।

हे राजन्, इस प्रकार मैंने आपको बताया है कि प्रायः मनुष्य किस प्रकार अपनी-अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य करते हैं और उसी के अनुसार उच्च या निम्न लोकों में भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं। आपने ये बातें मुझसे पूछीं थी और मैंने जो अधिकारियों से सुना है उसे आपसे बता दिया। अब आगे क्या सुनाऊँ?

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् अनन्त की महिमा'' नामक पचीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छब्बीस

नारकीय लोकों का वर्णन

इस अध्याय में यह बताया गया है कि पापी मनुष्य किस प्रकार विभिन्न नरकों में जाता है जहाँ यमदूत विविध प्रकार से उसे दण्ड देते हैं। जैसाकि भगवद्गीता (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''मोहग्रस्त जीवात्मा भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर अपने को ही सारे कार्यों का कर्ता सोचता है जो कि वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।'' मूर्ख व्यक्ति अपने आपको नियमों से मुक्त मानता है। वह सोचता है कि न तो ईश्वर है और न ही कोई नियामक सिद्धान्त हैं और वह जो चाहे कर सकता है। इस प्रकार वह अनेक पापकर्म करता है, जिसके कारण उसे जन्म-जन्मांतर विभिन्न नारकीय परिस्थितियों में रखा जाता है, जिससे प्रकृति के नियमानुसार उसे दण्डित किया जा सके। प्रकृति के नियमों के वश में रह कर भी वह अज्ञानतावश अपने को स्वतंत्र मानता है और उसकी

यातना का यही मूल सिद्धान्त है। ये नियम तीन गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत कार्य करते हैं और इसीलिए प्रत्येक मनुष्य भी तीन प्रकार के प्रभावों के अन्तर्गत कार्य करता है। अपने कर्मों के अनुसार वह इस जीवन में या अगले जीवन में विभिन्न कर्मफलों की यातनाएँ भोगता है। धार्मिक पुरुष नास्तिकों से भिन्न रीति से कार्य करते हैं, अत: वे भिन्न प्रकार से कर्मफल भोगते हैं।

शुकदेव गोस्वामी ने निम्नलिखित अट्ठाईस प्रकार के नरकों का वर्णन किया है—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, संन्दश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टक-शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अय:पान, क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दंशशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन तथा सूचीमुख।

यदि कोई व्यक्ति दूसरे का धन, पत्नी या सम्पत्ति चुराता है, तो उसे तामिस्र नामक नरक में डाला जाता है। यदि कोई ठग कर पराई स्त्री का उपभोग करता है, तो उसे अन्धतामिस्र नरक की कठिन यातना सहनी पड़ती है। उस मूढ़ पुरुष के जो शरीर में ही व्यस्त रह कर और इसी सिद्धान्त के आधार पर अन्य जीवात्माओं की हिंसा करके अपना तथा अपने परिवार का पालन करता है रौरव नामक नरक में डाला जाता है। वहाँ पर उसके द्वारा वध किये गये पशु रुरु नामक प्राणियों के रूप में जन्म लेकर उसे पीड़ित करते रहते हैं। जो विभिन्न पशुओं तथा पक्षियों को मारकर पकाते हैं उन्हें यमराज के दूत कुम्भीपाक नामक नरक में रखते हैं जहाँ उन्हें उबलते तेल में डाल दिया जाता है। ब्राह्मण का वध करने वाले को कालसूत्र नामक नरक में डाला जाता है जहाँ की भूमि समतल तथा ताम्र से बनी होती है और भट्ठी के समान गर्म रहती है। ब्राह्मणहन्ता उस प्रदेश में अनेक वर्षों तक जलता रहता है। धार्मिक नियमों का पालन न करने वाले तथा मनमानी करने वाले को या जो किसी दुष्ट का अनुयायी होता है, उसे असिपत्रवन नरक में रखा जाता है। जो अधिकारी न्याय करने में गलती करता है अथवा जो निर्दोष को दण्डित करता है उसे यमराज के दूत शूकरमुख नामक नरक में ले जाकर अत्यन्त क्रूरता से पीटते हैं।

भगवान् ने मनुष्य को उच्च कोटि की चेतना प्रदान की है, अत: वह अन्य प्राणियों के कष्टों तथा सुखों का अनुभव कर सकता है। विवेक से रहित मनुष्य की अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति

होती है। यमराज के दूत ऐसे पुरुष को अन्धकूप नामक नरक में ले जाते हैं जहाँ वह अपने पीड़ितों के द्वारा उचित दण्ड पाता है। जो व्यक्ति अतिथि का उचित सत्कार नहीं करता या उसे भोजन नहीं कराता, किन्तु स्वयं भोजन करता है उसे कृमिभोजन नरक प्राप्त होता है जहाँ उसे असंख्य कीड़े-मकोड़े लगातार काटते हैं।

चोर को संदंश नामक नरक की प्राप्ति होती है। अभोग्य स्त्री के साथ यौन सम्बन्ध बनाने वाले व्यक्ति को तप्तसूर्मि नामक नरक में भेजा जाता है। जो व्यक्ति पशुओं के साथ यौन-संसर्ग करता है उसे वजकण्टक-शाल्मली नामक नरक में डाला जाता है। उच्चकुल में जन्म लेकर तदनुकूल कार्य न करने वाले व्यक्ति को रक्त, पूय तथा मूत्र की वैतरणी नदी में रखा जाता है। पशु की भाँति रहने वाले व्यक्ति को पूयोद नरक में एवं वन के पशुओं का बिना स्वीकृति के क्रूरतापूर्वक वध करने वाले को प्राणरोध नरक में रखा जाता है। जो व्यक्ति धर्म के नाम पर पशु-हत्या करता है उसे विशसन नरक में और जो अपनी पत्नी को अपना वीर्य पीने के लिए बाध्य करता है उसे लालाभक्ष नरक में भेजा जाता है। जो किसी के घर में आग लगाता है या किसी को विष देता है उसे सारमेयादन नामक नरक में रखा जाता है। झूठी गवाही देकर जीविका चलाने वाले को अवीचि नरक भोगना पड़ता है।

मद्यपान करने वाले को अय:पान नरक में तथा जो बड़ों के प्रति आदरभाव नहीं प्रकट करता उसे क्षारकर्दम नरक में रखा जाता है। भैरव को नर-बलि देने वाले पुरुष को रक्षोगणभोजन नामक नरक में तथा पालतू पशुओं को मारने वाले को शूलप्रोत नरक में रखा जाता है। अन्यों को सताने वाले व्यक्ति को दंदशूक में तथा जीवित प्राणी को गुफा के भीतर बन्द रखने वाले व्यक्ति को अवट-निरोधन नामक नरक में रखा जाता है। जो व्यक्ति अपने घर में आए अतिथि पर अनावश्यक क्रोध करता है उसे पर्यावर्तन नरक में तथा धन से मदान्ध तथा और धन संचय का चिन्तन करने वाले व्यक्ति को सूचीमुख नरक में भेजा दिया जाता है।

इन नरकों के वर्णन के पश्चात् शुकदेव गोस्वामी बताते हैं कि पवित्र पुरुष किस प्रकार देवताओं के वास स्वर्गलोक को जाते हैं और पुण्यों के क्षीण होने पर किस प्रकार इस पृथ्वी पर पुन: आते हैं। अन्त में वे भगवान् के विराट रूप का वर्णन करते हैं और उनके कार्यों की महिमा बताते हैं।

राजोवाच
महर्ष एतद्वैचित्र्यं लोकस्य कथमिति. ॥ १ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा बोला; महर्षे—हे महर्षि (शुकदेव गोस्वामी); एतत्—यह; वैचित्र्यम्—विचित्रता; लोकस्य—जीवात्माओं की; कथम्—किस प्रकार; इति—इस प्रकार।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे महाशय, जीवात्माओं को विभिन्न भौतिक गतियाँ क्यों प्राप्त होती हैं ? कृपा करके मुझसे कहें।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने विवेचना की है कि इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न नरक लोक गर्भोदक सागर से थोड़ा ऊपर स्थित हैं और वहीं स्थित रहते हैं। इस अध्याय में यह बताया गया है कि समस्त पापी लोग किस प्रकार इन नरक लोकों में जाते हैं और वहाँ पर यमराज के दूतों द्वारा प्रताड़ित किये जाते हैं। विभिन्न प्राणी अपने विगत कर्मों के अनुसार सुख या दुख भोगते हैं।

ऋषिरुवाच
त्रिगुणत्वात्कर्तुः श्रद्धया कर्मगतयः पृथग्विधाः सर्वा एव सर्वस्य तारतम्येन भवन्ति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—महामुनि (शुकदेव गोस्वामी) बोले; त्रि-गुणत्वात्—तीन गुणों के कारण; कर्तुः—कर्ता का; श्रद्धया—श्रद्धा के कारण; कर्म-गतयः—कार्यों के कारण स्थितियाँ; पृथक्—भिन्न; विधाः—प्रकार; सर्वाः—सभी; एव—इस प्रकार; सर्वस्य—उन सबों का; तारतम्येन—विभिन्न मात्राओं में; भवन्ति—सम्भव होते हैं।

महामुनि शुकदेव बोले—हे राजन्, इस जगत में सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण में स्थित तीन प्रकार के कर्म होते हैं। चूँकि सभी मनुष्य इन तीन गुणों से प्रभावित होते हैं, अतः कर्मों के फल भी तीन प्रकार के होते हैं। जो सतोगुण के अनुसार कर्म करता है, वह धार्मिक एवं सुखी होता है, जो रजोगुण में कर्म करता है उसे कष्ट तथा सुख के मिश्रित रूप में प्राप्त होते हैं और जो तमोगुण के वश में कर्म करता है, वह सदैव दुखी रहता है और पशुतुल्य जीवन-बिताता है। विभिन्न गुणों से भिन्न-भिन्न मात्रा में प्रभावित होने के कारण जीवात्माओं को विभिन्न गतियाँ प्राप्त होती हैं।

अथेदानीं प्रतिषिद्धलक्षणस्याधर्मस्य तथैव कर्तुः श्रद्धाया वैसादृश्यात्कर्मफलं विसदृशं भवति या ह्यनाद्यविद्यया कृतकामानां तत्परिणामलक्षणाः सृतयः सहस्रशः प्रवृत्तास्तासां प्राचुर्येणानुवर्णयिष्यामः. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; इदानीम्—अब; प्रतिषिद्ध—निषिद्ध; लक्षणस्य—लक्षणों वाला; अधर्मस्य—अपवित्र कार्यों का; तथा—उसी तरह का; एव—निश्चय ही; कर्तुः—कर्ता का; श्रद्धायाः—श्रद्धा का; वैसादृश्यात्—अन्तर के कारण; कर्म-फलम्—कर्मों का फल; विसदृशम्—भिन्न; भवति—होता है; या—जो; हि—निस्संदेह; अनादि—अनन्त काल से; अविद्यया—अज्ञानता के कारण; कृत—किया हुआ; कामानाम्—कामी जनों का; तत्-परिणाम-लक्षणाः—ऐसी अपवित्र कामनाओं के फलों के लक्षण; सृतयः—जीवन की नारकीय दशाएँ; सहस्रशः—हजार प्रकार से; प्रवृत्ताः—फलित; तासाम्—उनका; प्राचुर्येण—विस्तार से; अनुवर्णयिष्यामः—वर्णन करूँगा।

जिस प्रकार पवित्र कर्म करने से स्वर्गिक जीवन में विभिन्न गतियाँ प्राप्त होती हैं उसी प्रकार दुष्कर्म करने से नारकीय जीवन में विभिन्न गतियाँ प्राप्त होती हैं। जो तमोगुण से प्रेरित होने वाले दुष्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं अपनी अज्ञानता की कोटि के अनुसार नारकीय जीवन में विभिन्न कोटियों में रखे जाते हैं। यदि कोई पागलपन के कारण तमोगुण में कार्य करता है, तो उसे सबसे कम कष्ट भोगना पड़ता है। जो दुष्कर्म करता है, किन्तु पवित्र और अपवित्र कर्मों का अन्तर समझता है, उसे मध्यम कष्टकारक नरक में स्थान मिलता है। किन्तु जो नास्तिकतावश बिना समझे-बूझे दुष्कर्म करता है उसे निकृष्ट नारकीय जीवन बिताना पड़ता है। अनादिकाल से अज्ञानतावश प्रत्येक जीव अनेकानेक कामनाओं के कारण हजारों प्रकार के नरक लोकों में ले जाया जाता रहा है। मैं यथासम्भव उनका वर्णन करने का यत्न करूँगा।

राजोवाच
नरका नाम भगवन्किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहोस्विदन्तराल इति. ॥ ४॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; नरकाः—नारकीय प्रदेश; नाम—नामक; भगवन्—हे भगवान्; किम्—क्या; देश-विशेषाः—कोई विशेष देश; अथवा—या; बहिः—बाह्य; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों (ब्रह्माण्ड) के; आहोस्वित्—अथवा; अन्तराले—ब्रह्माण्ड के भीतर मध्यवर्ती स्थानों में; इति—इस प्रकार।

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—भगवान्, क्या ये नरक ब्रह्माण्ड के बाहर, इसके भीतर या इसी लोक में भिन्न-भिन्न स्थानों पर हैं?

ऋषिरुवाच
अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च जलाद्यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा दिशि स्वानां गोत्राणां परमेण समाधिना सत्या एवाशिष आशासाना निवसन्ति. ॥ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—ऋषि ने उत्तर दिया; अन्तराले—मध्यवर्ती स्थान में; एव—निश्चय ही; त्रि-जगत्याः—तीनों लोकों के; तु—लेकिन; दिशि—दिशा; दक्षिणस्याम्—दक्षिणी; अधस्तात्—नीचे; भूमेः—पृथ्वी पर; उपरिष्टात्—थोड़ा ऊपर; च—तथा; जलात्—गर्भोदक सागर से; यस्याम्—जिसमें; अग्निष्वात्ता-आदयः—अग्निष्वात्ता इत्यादि; पितृ-गणाः—पितर-गण; दिशि—

दिशा में; स्वानाम्—उनके अपने; गोत्राणाम्—परिवार के; परमेण—अत्यधिक; समाधिना—भगवान् के ध्यान में मग्न होकर; सत्याः—सत्य में; एव—निश्चय ही; आशिषः—आशीर्वाद; आशासानाः—कामना करने वाले; निवसन्ति—रहते हैं।

महर्षि शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया—सभी नरकलोक तीनों लोकों तथा गर्भोदक सागर के मध्य में स्थित हैं। वे ब्रह्माण्ड के दक्षिण की ओर भूमण्डल के नीचे तथा गर्भोदक सागर के जल से थोड़ा ऊपर स्थित हैं। पितृलोक भी इसी गर्भोदक सागर तथा अधःलोकों के मध्य के प्रदेश में स्थित है, जिसमें अग्निष्वात्ता आदि समस्त पितृलोक के वासी परम समाधि में लीन होकर भगवान् का ध्यान करते हैं और सदैव अपने गोत्र (परिवारों) की मंगल-कामना करते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है, हमारे लोक के नीचे सात अधःलोक हैं जिनमें सबसे नीचे के लोक को पाताललोक कहा जाता है। पाताललोक के नीचे अन्य लोक हैं, जिन्हें नरकलोक कहते हैं। ब्रह्माण्ड के नीचे गर्भोदक सागर फैला हुआ है, अतः पाताललोक तथा गर्भोदक सागर के मध्य ही नरकलोक हैं।

यत्र ह वाव भगवान्पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु सम्परेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; ह वाव—निस्संदेह; भगवान्—सर्वशक्तिमान; पितृ-राजः—यमराज, पितरों के राजा; वैवस्वतः—सूर्यदेव के पुत्र; स्व-विषयम्—अपना राज्य; प्रापितेषु—पहुँच जाने पर; स्व-पुरुषैः—अपने दूतों द्वारा; जन्तुषु—मानव प्राणी; सम्परेतेषु—मृत; यथा-कर्म-अवद्यम्—बद्ध जीवन के नियमों तथा विधानों के उल्लंघन की मात्रा के अनुसार; दोषम्—दोष, त्रुटि; एव—निश्चय ही; अनुल्लङ्घित-भगवत्-शासनः—जो श्रीभगवान् के आदेश का कभी भी उल्लंघन नहीं करता; सगणः—अपने अनुचरों सहित; दमम्—दण्ड; धारयति—देता है।

पितरों के राजा यमराज हैं जो सूर्यदेव के अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र हैं। वह अपने गणों सहित पितृलोक में रहते हैं और भगवान् द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करते हुए यमदूत समस्त पापियों को मृत्यु के पश्चात् उनके पास ले आते हैं। अपने कार्यक्षेत्र में लाए जाने के पश्चात् उनके विशेष पापकर्मों के अनुसार यमराज अपना निर्णय देकर उनको समुचित दंड हेतु अनेक नरकों में से किसी एक में भेज देते हैं।

तात्पर्य : यमराज कोई काल्पनिक या पौराणिक पात्र नहीं; वह अपने धाम पितृलोक का स्वामी है। नास्तिकतावादी भले ही नरक में विश्वास न करते हों, किन्तु शुकदेव गोस्वामी नरक-लोकों के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। ये नरक गर्भोदक सागर तथा पाताललोक के मध्य स्थित हैं। यमराज की

नियुक्ति श्रीभगवान् ने यह देखने के लिए की है कि मानव प्राणी उनके नियमों का उल्लंघन न करें। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१७) में की गई है—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण:।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति: ॥

''कर्म की गूढ़ताओं को समझ पाना कठिन है, अत: मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म, विकर्म तथा अकर्म के स्वरूप को भली भाँति जाने।'' मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म, विकर्म तथा अकर्म की प्रकृति को समझकर उसी के अनुसार कार्य करे। यही श्रीभगवान् का नियम है। जो बद्धजीव इस जगत में इन्द्रियभोग के उद्देश्य से आये हैं, उन्हें कतिपय विधि-विधानों के अन्तर्गत इन्द्रियभोग करने दिया जाता है। यदि वे इन विधानों का उल्लंधन करते हैं, तो इसकी परख की जाती है और उन्हें यमराज द्वारा दण्ड दिया जाता है। वह उन्हें नरकलोक में ले जाता है और कृष्णभावनामृत में पुन: ले आने के लिए उन्हें दण्डित करके अपराध मुक्त करता है। किन्तु माया के वशीभूत होकर बद्धजीव तमोगुण से पूर्ण रहते हैं। इस प्रकार यमराज द्वारा पुन: पुन: दण्डित होकर भी वे होश नहीं सँभाल पाते और बारम्बार पापकर्म करते हुए भौतिक स्थिति में रहते जाते हैं।

तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति अथ तांस्ते राजन्नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामस्तामिस्त्रोऽन्धतामिस्त्रो रौरवो महारौरव: कुम्भीपाक: कालसूत्रमसिपत्रवनं सूकरमुखमन्धकूप: कृमिभोजन: सन्दंशस्तप्तसूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोद: प्राणरोधो विशसनं लालाभक्ष: सारमेयादनमवीचिरय:पानमिति; किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजन: शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधन: पर्यावर्तन: सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका विविधयातनाभूमय:. ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ह—निश्चय ही; एके—कोई कोई; नरकान्—नरकों को; एक-विंशतिम्—इक्कीस; गणयन्ति—गिनते हैं; अथ—अत:; तान्—उनको; ते—तुमको; राजन्—हे राजन्; नाम-रूप-लक्षणत:—नामों, रूपों तथा लक्षणों के अनुसार; अनुक्रमिष्याम:—मैं क्रम से वर्णन करूँगा; तामिस्त्र:—तामिस्त्र; अन्ध-तामिस्त्र:—अन्धतामिस्त्र; रौरव:—रौरव; महा-रौरव:—महारौरव; कुम्भी-पाक:—कुम्भीपाक; काल-सूत्रम्—कालसूत्र; असि-पत्रवनम्—असिपत्रवन; सूकर-मुखम्—सूकरमुख; अन्ध-कूप:—अन्धकूप; कृमि-भोजन:—कृमिभोजन; सन्दंश:—सन्दंश; तप्त-सूर्मि:—तप्तसूर्मि; वज्र-कण्टक-शाल्मली—वज्रकंटक-शाल्मली; वैतरणी—वैतरणी; पूयोद:—पूयोद; प्राण-रोध:—प्राणरोध; विशसनम्—विशसन; लाला-भक्ष:—लालाभक्ष; सारमेयादनम्—सारेमेयादन; अवीचि:—अवीचि; अय:-पानम्—अय:पान; इति—इस प्रकार; किञ्च—कुछ और; क्षार-कर्दम:—क्षारकर्दम; रक्ष:-गण-भोजन:—रक्षोगणभोजन; शूल-प्रोत:—शूलप्रोत; दन्द-शूक:—न्दशूक; अवट-निरोधन:—अवटनिरोधन; पर्यावर्तन:—पर्यावर्तन; सूची-मुखम्—सूचीमुख; इति—इस तरह; अष्टा-विंशति:—अट्ठाईस; नरका:—नरकलोक; विविध—विभिन्न; यातना-भूमय:—नारकीय यातना वाले स्थल।.

कुछ विद्वान नरक लोकों की कुल संख्या इक्कीस बताते हैं, तो कुछ अट्ठाईस। हे राजन्, मैं

क्रमश: उनके नाम, रूप तथा लक्षणों का वर्णन करूँगा। विभिन्न नरकों के नाम ये हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्रकंटक-शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अय:पान, क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन तथा सूचीमुख। ये सभी लोक जीवात्माओं को दण्डित करने के लिए हैं।

तत्र यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते अनशनानुदपानदण्डताडनसन्तर्जनादिभिर्यातनाभिर्यात्यमानो जन्तुर्यत्र कश्मलमासादित एकदैव मूर्च्छामुपयाति तामिस्रप्राये. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्र—नरक लोकों में; य:—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; पर-वित्त-अपत्य-कलत्राणि—पराया धन, पत्नी तथा सन्तान; अपहरति—अपहरण करता है; स:—वह व्यक्ति; हि—निश्चय ही; काल-पाश-बद्ध:—काल अथवा यमराज के रस्सों द्वारा बाँधा जाकर; यम-पुरुषै:—यमराज के दूतों द्वारा; अति-भयानकै:—अत्यन्त भयानक; तामिस्रे नरके—तामिस्र नामक नरक में; बलात्—बलपूर्वक; निपात्यते—फेंक दिया जाता है; अनशन—भूखों मारना; अनुदपान—बिना जल के; दण्ड-ताडन—डंडे से प्रताड़ित; सन्तर्जन-आदिभि:—डाँट-फटकार इत्यादि; यातनाभि:—कठोर दण्ड द्वारा; यात्यमान:—दण्डित होकर; जन्तु:—जीवात्मा; यत्र—जहाँ; कश्मलम्—दैन्य; आसादित:—प्राप्त करके; एकदा—कभी-कभी; एव—ही; मूर्च्छाम्—मूर्च्छा; उपयाति—प्राप्त करता है; तामिस्र-प्राये—नितान्त अंधकार की स्थिति में।

हे राजन्, जो पुरुष दूसरों की वैध पत्नी, सन्तान या धन का अपहरण करता है, उसे मृत्यु के समय क्रूर यमदूत काल के रस्सों में बाँधकर बलपूर्वक तामिस्र नामक नरक में डाल देते हैं। इस अंधकारपूर्ण लोक में यमदूत पापी पुरुषों को डाँटते, मारते पीटते और प्रताड़ित करते हैं। उसे भूखा रखा जाता है और पीने को पानी भी नहीं दिया जाता है। इस प्रकार यमराज के क्रुद्ध दूत उसे कठोर यातना देते हैं और वह इस यातना से कभी-कभी मूर्च्छित हो जाता है।

एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपयुङ्क्ते यत्र शरीरी निपात्यमानो यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्च भवति यथा वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तस्मादन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; एव—ही; अन्धतामिस्रे—अन्धतामिस्र नरक में; य:—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; वञ्चयित्वा—ठग कर; पुरुषम्—दूसरे व्यक्ति को; दार-आदीन्—पत्नी तथा सन्तान; उपयुङ्क्ते—भोग करता है; यत्र—जहाँ; शरीरी—शरीरधारी व्यक्ति; निपात्यमान:—बलपूर्वक फेंका जाकर; यातना-स्थ:—अत्यन्त दयनीय स्थिति में रहकर; वेदनया—ऐसी वेदना से; नष्ट मति:—जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है; नष्ट दृष्टि:—जिनकी दृष्टि क्षीण हो चुकी है; च—भी; भवति—हो जाता है; यथा—जितना कि;

वनस्पतिः—वृक्ष; वृश्च्यमान—काटे जाने पर; मूलः—जिनकी जड़; तस्मात्—इस कारण; अन्धतामिस्त्रम्—अन्धतामिस्त्र; तम्—उसको; उपदिशन्ति—कहते हैं।

जो व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को धोखा देकर उसकी पत्नी तथा सन्तान को भोगता है वह अन्धतामिस्त्र नामक नरक में स्थान पाता है। वहाँ पर उसकी स्थिति जड़ से काटे गए वृक्ष जैसी होती है। अंधतामिस्त्र में पहुँचने के पूर्व ही पापी जीव को अनेक कठिन यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। ये यातनाएँ इतनी कठोर होती हैं कि वह बुद्धि तथा दृष्टि दोनों को खो बैठता है। इसी कारण से बुद्धिमान जन इस नरक को अन्धतामिस्त्र कहते हैं।

यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति. ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; एतत्—यह देह; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; मम—मेरा; इदम्—यह; इति—इस प्रकार; भूत-द्रोहेण—अन्य जीवात्माओं की ईर्ष्या से; केवलम्—अकेले; स्व-कुटुम्बम्—अपने कुटुम्बी जनों को; एव—केवल; अनुदिनम्—नित्य-प्रति; प्रपुष्णाति—निर्वाह करता है; सः—ऐसा व्यक्ति; तत्—वह; इह—यहाँ; विहाय—छोड़कर; स्वयम्—स्वयं; एव—ही; तत्—उसका; अशुभेन—पाप द्वारा; रौरवे—रौरव में; निपतति—गिर जाता है।

ऐसा व्यक्ति जो अपने शरीर को ''स्व'' मान लेता है अपने शरीर तथा अपनी पत्नी और पुत्रों के पालन के लिए धन कमाने के लिए अहर्निश कठोर श्रम करता है। ऐसा करने में वह अन्य जीवात्माओं के प्रति हिंसा कर सकता है। ऐसे पुरुष को मृत्यु के समय अपनी तथा अपने परिवार की देहों को त्यागना पड़ता है और अन्य प्राणियों के प्रति की गई ईर्ष्या का कर्मफल यह मिलता है कि उसे रौरव नामक नरक में फेंक दिया जाता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१०.८४.१३) में कहा गया है कि

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके

स्वधीः कलत्रादिषु भौमइज्यधीः।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित्

जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

''जो तीन तत्त्वों (पित्त, कफ तथा वायु) से भरे शरीर रूप थैले को ''स्व'' मान लेता है, जो अपनी पत्नी तथा पुत्रों से घनिष्ठतापूर्वक बँधा रहता है, जो अपनी भूमि को पूज्य मानता है, जो पवित्र तीर्थस्थानों के जल में स्नान करता है, किन्तु जो वास्तविक ज्ञानी पुरुषों से लाभ नहीं उठाता, वह गधे

या गाय के तुल्य है।'' दो प्रकार के पुरुष जीवन की भौतिकता में मग्न रहते हैं। प्रथम प्रकार के पुरुष अज्ञानतावश अपने शरीर को ''स्व'' मान लेते हैं अत: वे निश्चय ही पशुतुल्य हैं (*स एव गोखर:*)। किन्तु दूसरे प्रकार का पुरुष न केवल अपने भौतिक शरीर को ''स्व'' मान लेता है, वरन् अपने शरीर-पालन के लिए नाना प्रकार के पाप करता है। वह अपने परिवार के लिए और अपने लिए सबों को ठगता है और अन्यों से अकारण ईर्ष्या करता है। ऐसा व्यक्ति रौरव नरक में फेंक दिया जाता है। यदि कोई अपने शरीर को ही पशुओं की तरह स्वयं मानता है, तो वह अधिक पापी नहीं होता। किन्तु यदि अपने शरीर-पालन के लिए वृथा ही पापकर्म करता है, तो उसे रौरव नरक में रखा जाता है। ऐसा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का मत है। यद्यपि पशुओं में जीवन के प्रति देहात्मबुद्धि है, किन्तु वे अपने शरीर अपने जोड़ों या बच्चों के पालन के लिए कोई पाप नहीं करते। इसलिए पशुओं को नरक नहीं मिलता, किन्तु जब मनुष्य ईर्ष्या करता है और अपने शरीर-पालन के लिए अन्यों को ठगता है, तो उसे नारकीय अवस्था में रखा जाता है।

ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातनामुपगतं त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति तस्माद्रौरवमित्याहू रुरुरिति सर्पादतिक्रूरसत्त्वस्यापदेशः. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ये—वे जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; यथा—जितना कि; एव—ही; अमुना—उसके द्वारा; विहिंसिताः—पीड़ित किये गये; जन्तवः—जीवात्माएँ; परत्र—अगले जन्म में; यम-यातनाम् उपगतम्—यमराज द्वारा यातना पहुँचाये जाने पर; ते—वे जीवात्माएँ; एव—निस्संदेह; रुरवः—रुरु (एक ईर्ष्यालु पशु); भूत्वा—बनकर; तथा—उतना; तम्—उसको; एव—ही; विहिंसन्ति—पीड़ा पहुँचाते हैं; तस्मात्—इस कारण; रौरवम्—रौरव; इति—इस प्रकार; आहुः—विद्वानों का कथन है; रुरुः—रुरु नामक पशु; इति—इस प्रकार; सर्पात्—सर्प की अपेक्षा; अति-क्रूर—अत्यधिक निर्दय तथा ईर्ष्यालु; सत्त्वस्य—जीव का; अपदेशः—नाम।

इस जीवन में ईर्ष्यालु व्यक्ति अनेक जीवात्माओं के प्रति हिसंक कृत्य करता है। अतः मृत्यु के पश्चात् यमराज द्वारा नरक ले जाये जाने पर जो जीवात्माएँ उसके द्वारा पीड़ित की गई थीं वे रुरु नामक जानवर के रूप में प्रकट होकर उसे असह्य पीड़ा पहुँचाते हैं। विद्वान लोग इसे ही रौरव नरक कहते हैं। रुरु सर्प से भी अधिक ईर्ष्यालु होता है और प्रायः इस संसार में दिखाई नहीं पड़ता है।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार रुरु को भारशृंग (*अति-क्रूरस्य भारशृंगाख्य-सत्त्वस्य अपदेश: संज्ञा*) भी कहा जाता है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ *संदर्भ* में इसकी पुष्टि की है— *रुरु शब्दस्य*

स्वयं मुनिनैव टीका-विधानाल्लोकेष्वप्रसिद्ध एवायं जन्तु-विशेषः। इस प्रकार भले ही इस जगत में रुरु दिखाई न पड़ते हों, लेकिन शास्त्रों से इनके अस्तिव की पुष्टि होती है।

एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहम्भरः. ॥ १२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; एव—ही; महा-रौरवः—महारौरव; यत्र—जहाँ; निपतितम्—फेंका जाकर; पुरुषम्—व्यक्ति को; क्रव्यादाः नाम—क्रव्याद नामक; रुरवः—रुरु पशु; तम्—उसको (दोषी पुरुष); क्रव्येण—उसके मांस-भक्षण हेतु; घातयन्ति—मारते हैं; यः—जो; केवलम्—केवल; देहम्भरः—अपने शरीर का पालन करने पर तुले रहते हैं।.

जो व्यक्ति अन्यों को पीड़ा पहुँचाकर अपने ही शरीर का पालन करता है उसे दण्डस्वरूप महारौरव नामक नरक दिये जाने को अनिवार्य कहा गया है। इस नरक में क्रव्याद नामक रुरु पशु उसको सताते और उसका मांस खाते हैं।

तात्पर्य : ऐसे पशुतुल्य व्यक्ति को जो केवल देहात्मबुद्धि में रहता है क्षमा नहीं किया जाता। उसे महारौरव नामक नरक में रखा जाता है जहाँ उस पर क्रव्याद नामक रुरु पशु आक्रमण करते हैं।

यस्त्विह वा उग्रः पशून्पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति. ॥ १३॥

शब्दार्थ

यः—वह व्यक्ति जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; उग्रः—अत्यन्त क्रूर; पशून्—पशु को; पक्षिणः—पक्षियों को; वा—अथवा; प्राणतः—जीवित अवस्था में; उपरन्धयति—पकाता है; तम्—उसको; अपकरुणम्—अत्यन्त निष्ठुर; पुरुष-आदैः—जो पुरुष के मांस का भक्षण करते हैं, उनके द्वारा; अपि—यहाँ तक कि; विगर्हितम्—भर्त्सना की जाती है ; अमुत्र—अगले जन्म में; यम-अनुचराः—यमराज के दूत; कुम्भीपाके—कुम्भीपाक नरक में; तप्त-तैले—उबलते तेल में; उपरन्धयन्ति—पकाते हैं।.

क्रूर व्यक्ति अपने शरीर के पालन तथा अपनी जीभ की स्वाद पूर्ति के लिए निरीह जीवित पशुओं तथा पक्षियों को पका खाते हैं। ऐसे व्यक्तियों की मनुजाद (मनुष्य-भक्षक) भी भर्त्सना करते हैं। अगले जन्मों में वे यमदूतों के द्वारा कुम्भीपाक नरक में ले जाये जाते हैं, जहाँ उन्हें उबलते तेल में भून डाला जाता हैं।

यस्त्विह ब्रह्मध्रुक्स कालसूत्रसंज्ञके नरके अयुतयोजनपरिमण्डले ताम्रमये तप्तखले उपर्यधस्तादग्न्यर्काभ्यामतितप्यमानेऽभिनिवेशितः क्षुत्पिपासाभ्यां च दह्यमानान्तर्बहिःशरीर आस्ते शेते चेष्टतेऽवतिष्ठति परिधावति च यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि. ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; ब्रह्म-ध्रुक्—ब्राह्मण की हत्या करने वाला; सः—ऐसा व्यक्ति; कालसूत्र-संज्ञके—कालसूत्र नामक; नरके—नरक में; अयुत-योजन-परिमण्डले—अस्सी हजार मील की परिधि वाले; ताम्र-मये—ताम्र से बने; तप्त—गरम किये हुए; खले—समतल स्थल में; उपरि-अधस्तात्—ऊपर तथा नीचे; अग्नि—अग्नि द्वारा; अर्काभ्याम्—(तथा) सूर्य द्वारा; अति-तप्यमाने—अत्यधिक गरम किये जाने पर; अभिनिवेशितः—प्रविष्ट कराये जाने पर; क्षुत्-पिपासाभ्याम्—भूख तथा प्यास से; च—तथा; दह्यमान—जलाया जाकर; अन्तः—भीतर से; बहिः—बाहर से; शरीरः—जिसका शरीर; आस्ते—रहता है; शेते—कभी लेटता है; चेष्टते—कभी अपने अंगों को हिलाता-डुलाता है; अवतिष्ठति—कभी खड़ा होता है; परिधावति—कभी इधर-उधर दौड़ता है; च—भी; यावन्ति—जितने; पशु-रोमाणि—पशु के शरीर के रोम; तावत्—उतने; वर्ष-सहस्राणि—हजारों वर्ष।

ब्राह्मण-हन्ता को कालसूत्र नामक नरक में रखा जाता है, जिसकी परिधि अस्सी हजार मील की है और जो पूरे का पूरा ताम्बे से बना है। इस लोक की ताम्र-सतह ऊपर से तपते सूर्य द्वारा और नीचे से अग्नि द्वारा तप्त होने से अत्यधिक गरम रहती है। इस प्रकार ब्राह्मण का वध करने वाला भीतर और बाहर से जलाया जाता है। भीतर-भीतर वह भूख-प्यास से और बाहर से झुलसा देने वाले सूर्य तथा ताम्र की सतह के नीचे की अग्नि से झुलसता रहता है। अतः वह कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी खड़ा होता है और कभी इधर-उधर दौड़ता है। इस प्रकार वह उतने हजार वर्षों तक यातना सहता रहता है जितने कि पशु-शरीर में रोमों की संख्या होती है।

यस्त्विह वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाखण्डं चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य कशया प्रहरन्ति तत्र हासावितस्ततो धावमान उभयतो धारैस्तालवनासिपत्रैश्छिद्यमानसर्वाङ्गो हा हतोऽस्मीति परमया वेदनया मूर्च्छितः पदे पदे निपतति स्वधर्महा पाखण्डानुगतं फलं भुङ्क्ते . ॥ १ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्संदेह; निज-वेद-पथात्—वेदों द्वारा बताये गये अपने पथ से; अनापदि—बिना आपात काल के; अपगतः—दूर हटा हुआ; पाखण्डम्—पाखण्डवाद; च—तथा; उपगतः—पास पहुँचा हुआ; तम्—उसको; असि-पत्रवनम्—असिपत्रवन नामक नरक में; प्रवेश्य—प्रविष्ट कराकर; कशया—चाबुक से; प्रहरन्ति—पीटते हैं; तत्र—वहाँ; ह—ही; असौ—वह; इतः ततः—इधर-उधर; धावमानः—दौड़ते हुए; उभयतः—दोनों ओर; धारैः—तीक्ष्ण नौकों से; ताल-वन-असि-पत्रैः—ताड़ वृक्षों की तलवार जैसी पत्तियों से; छिद्यमान—छिदकर; सर्व-अङ्गः—जिसका सम्पूर्ण शरीर; हा—हाय; हतः—मर गया; अस्मि—हूँ; इति—इस प्रकार; परमया—असह्य; वेदनया—पीड़ा से; मूर्च्छितः—मूर्च्छित, संज्ञाशून्य; पदे पदे—प्रति पग पर; निपतति—गिर पड़ता है; स्व-धर्म-हा—अपने धर्म के नियमों का हन्ता; पाखण्ड-अनुगतम् फलम्—नास्तिक पथग्रहण करने का फल; भुङ्क्ते—भोगता है, सहता है।

यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार की विपत्ति न होने पर भी वैदिक पथ से हटता है, तो यमराज के दूत उसे असिपत्रवन नामक नरक में ले जाकर कोड़ों से पीटते हैं। जब वह अत्यधिक पीड़ा के कारण इधर-उधर दौड़ता है, तो उसे अपने चारों ओर तलवार के समान तीक्ष्ण ताड़ वृक्षों की पत्तियों के बीच छटपटाता है। इस प्रकार पूरा शरीर क्षत-विक्षत होने से वह प्रति पग-पग पर

मूर्च्छित होता रहता है और चीत्कार करता है, ''हाय! अब मैं क्या करूँ? मैं किस प्रकार से बचूँ!'' मान्य धार्मिक नियमों से विपथ होने का ऐसा ही दण्ड मिलता है।

तात्पर्य : वास्तव में धार्मिक नियम केवल एक है— *धर्मं तु साक्षाद् भवगत्प्रणीतम्।* श्रीभगवान् के आदेशों का पालन करना ही एकमात्र धार्मिक नियम है। दुर्भाग्यवश, इस कलियुग में विशेषत: प्रत्येक व्यक्ति नास्तिक है। मनुष्य ईश्वर में विश्वास तक नहीं करते, उनके वचनों का पालन तो दूर रहा। *निज-वेद-पथ* का यह अर्थ भी हो सकता है-''किसी के अपने धार्मिक नियमों का समुच्चय।'' प्रारम्भ में केवल एक वेद-पथ अर्थात् धार्मिक नियमों का समुच्चय था, अब अनेक हैं। कोई चाहे जिन धार्मिक नियमों का पालन करे, मात्र बन्धन यह है कि वह उनका कठोरता से पालन करे। नास्तिक वह है जो वेदों को नहीं मानता। किन्तु यदि कोई भिन्न धर्म-पथ का अनुसरण करता है, तो इस श्लोक के अनुसार उसे चाहिए कि वह उसका अनुसरण करे। कोई चाहे हिन्दू हो या मुसलमान अथवा ईसाई, उसे अपने ही धार्मिक नियमों का पालन करना चाहिए। किन्तु यदि कोई स्वत: अपने मन में अपना धर्म-पथ गढ़ लेता है या वह किसी भी धार्मिक नियम का पालन नहीं करता, तो उसे असिपत्रवन नामक नरक की यातना भोगनी पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को किन्हीं धार्मिक नियमों का पालन करना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह पशु से किसी भी प्रकार श्रेष्ठतर नहीं। ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ रहा है, मनुष्य नास्तिक होते जा रहे हैं और तथाकथित धर्म-निरपेक्षता को ग्रहण कर रहे हैं। उन्हें इसका तनिक भी ज्ञान नहीं है कि असिपत्रवन में उन्हें दण्डित किया जाएगा जैसा कि इस श्लोक में वर्णित है।

यस्त्विह वै राजा राजपुरुषो वा अदण्ड्ये दण्डं प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीरदण्डं स पापीयान्नरकेऽमुत्र सूकरमुखे निपतति तत्रातिबलैर्विनिष्पिष्यमाणावयवो यथैवेहेक्षुखण्ड आर्तस्वरेण स्वनयन्क्वचिन्मूर्च्छितः कश्मलमुपगतो यथैवेहादृष्टदोषा उपरुद्धाः. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; राजा—राजा; राज-पुरुषः—राजा का आदमी; वा—अथवा; अदण्ड्ये—अदण्डनीय को; दण्डम्—दण्ड; प्रणयति—देता है; ब्राह्मणे—ब्राह्मण को; वा—अथवा; शरीर-दण्डम्—शारीरिक दण्ड; सः—वह व्यक्ति, राजा अथवा राज्याधिकारी; पापीयान्—पापी मनुष्यों को; नरके—नरक में; अमुत्र—अगले जन्म में; सूकरमुखे—सूकरमुख नरक में; निपतति—गिरता है; तत्र—वहाँ; अति-बलैः—अत्यन्त बलशाली यमदूतों द्वारा; विनिष्पिष्यमाण—कुचला जाकर; अवयवः—शरीर के विभिन्न अंग; यथा—सदृश; एव—ही; इह—यहाँ; इक्षु-खण्डः—गन्नों के टुकड़े; आर्त-स्वरेण—करुण स्वर से; स्वनयन्—चिल्लाते हुए; क्वचित्—कभी-कभी; मूर्च्छितः—मूर्च्छित होकर;

कश्मलम् उपगतः—मोहग्रस्त होकर; यथा—सदृश; एव—निस्सन्देह; इह—यहाँ; अदृष्ट-दोषाः—जो दोषी नहीं है; उपरुद्धाः—दण्ड हेतु बन्दी बनाया गया।

अगले जन्म में यमदूत निर्दोष पुरुष या ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड देने वाले पापी राजा अथवा राज्याधिकारी को सूकरमुख नामक नरक में ले जाते हैं जहाँ उसे यमराज के दूत उसी प्रकार कुचलते हैं जिस प्रकार गन्ने को पेर कर रस निकाला जाता है। जिस प्रकार से निर्दोष व्यक्ति दण्डित होते समय अत्यन्त दण्डनीय ढंग से चिल्लाता है और मूर्च्छित होता है ठीक उसी तरह पापी जीवात्मा भी आर्तनाद करता एवं मूर्च्छित होता है। निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देकर पीड़ित करने का यही फल है।

यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तीनामविविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति तत्र हासौ तैर्जन्तुभिः पशुमृगपक्षिसरीसृपैर्मशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये के चाभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमाणस्तमसि विहतनिद्रानिर्वृतिरलब्धावस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे जीवः. ॥ १७॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; भूतानाम्—कुछ जीवात्माओं को; ईश्वर—परम नियन्ता द्वारा; उपकल्पित—बनाया गया; वृत्तीनाम्—जिनकी जीविका; अविविक्त—न जानते हुए; पर-व्यथानाम्—पर-पीड़ा; स्वयम्—अपने आप; पुरुष-उपकल्पित—श्रीभगवान् द्वारा निर्मित; वृत्तिः—जिनकी जीविका; विविक्त—जानते हुए; पर-व्यथः—पर पीड़ा; व्यथाम् आचरति—तो भी पीड़ा पहुँचाता है; सः—ऐसा व्यक्ति; परत्र—अगले जन्म में; अन्धकूपे—अन्धकूप नरक में; तत्—उनको; अभिद्रोहेण—द्रोह करने से; निपतति—गिरता है; तत्र—वहाँ; ह—निस्सन्देह; असौ—वह व्यक्ति; तैः जन्तुभिः—उन-उन जीवों द्वारा; पशु—पशु; मृग—जंगली जानवर; पक्षि—पक्षी; सरीसृपैः—सर्प; मशक—मच्छर; यूका—जूँ; मत्कुण—कीड़े; मक्षिक-आदिभिः—मक्खी आदि; ये के—अन्य जितने; च—और; अभिद्रुग्धाः—दण्डित; तैः—उनके द्वारा; सर्वतः—सर्वत्र; अभिद्रुह्यमाणः—पीड़ा पहुँचाये हुए; तमसि—अंधकार में; विहत—विक्षुब्ध; निद्रा-निर्वृतिः—जिनके वासस्थान; अलब्ध—प्राप्त न होने वाले; अवस्थानः—आवास; परिक्रामति—घूमता है; यथा—जिस प्रकार; कु-शरीरे—निम्न योनि के देह में; जीवः—जीव।

परमेश्वर की व्यवस्था से खटमल तथा मच्छर जैसे निम्न श्रेणी के जीव मनुष्यों तथा अन्य पशुओं का रक्त चूसते हैं। इन तुच्छ प्राणियों को इसका ज्ञान नहीं होता है कि उनके काटने से मनुष्यों को पीड़ा होती होगी। किन्तु उच्च श्रेणी के मुनष्यों—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—में चेतना विकसित रूप में होती है, अतः वे जानते हैं कि किसी का प्राणघात करना कितना कष्टदायक है। यदि ज्ञानवान होते हुए भी मनुष्य विवेकहीन तुच्छ प्राणियों को मारता है या सताता है, तो वह निश्चय ही पाप करता है। श्रीभगवान् ऐसे मनुष्य को अन्धकूप में रखकर दण्डित करते हैं जहाँ उसे वे समस्त पक्षी तथा पशु, सर्प, मच्छर, जूँ, कीड़े, मक्खियाँ तथा अन्य प्राणी, जिनको उसने अपने जीवनकाल में सताया था, उस पर चारों ओर से आक्रमण करते हैं

और उसकी नींद हराम कर देते हैं। आराम न कर सकने के कारण वह अंधकार में घूमता रहता है। इस प्रकार अन्धकूप में उसे वैसी ही यातना मिलती है जैसी कि निम्न योनि के प्राणी को।

तात्पर्य : इस शिक्षाप्रद श्लोक से हमें पता चलता है कि निम्न प्राणी प्रकृति के नियमानुसार मनुष्यों को तंग करने के लिए उत्पन्न किये गये हैं, अत: वे दण्डनीय नहीं हैं। चूँकि मनुष्यों में चेतना विकसित है, अत: वे वर्णाश्रम धर्म के नियमों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकते, अन्यथा भर्त्सना के पात्र होंगे। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—''प्रकृति के त्रिगुणों और नियत कर्म के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं।'' अत: समस्त मनुष्यों को चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित करना चाहिए और उन्हें निर्दिष्ट नियमों के अनुसार कार्य करना चाहिए। वे उन नियमों से तनिक भी विपथ नहीं हो सकते। इन नियमों में से एक में बताया गया है उन्हें किसी पशु को, यहाँ तक कि जो मनुष्यों को सताते हैं उन्हें भी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। यद्यपि शेर किसी पशु पर आक्रमण करके उसे मार कर उसका मांस खाता है तथापि वह पापमय नहीं है, किन्तु यदि विकसित चेतना से पूर्ण मनुष्य भी ऐसा करे तो उसे दण्डित किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वह मनुष्य जो अपनी विकसित चेतना का उपयोग नहीं करता, वरन् उल्टे पशुवत् व्यवहार करता है, वह अनेक नरकों में दण्ड पाता है।

यस्त्विह वा असंविभज्याश्नाति यत्किञ्चनोपनतमनिर्मितपञ्चयज्ञो वायससंस्तुतः स परत्र कृमिभोजने नरकाधमे निपतति तत्र शतसहस्रयोजने कृमिकुण्डे कृमिभूतः स्वयं कृमिभिरेव भक्ष्यमाणः कृमिभोजनो यावत्तदप्रत्ताप्रहूतादोऽनिर्वेशमात्मानं यातयते. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यः—कोई व्यक्ति जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; असं-विभज्य—बिना बाँटे; अश्नाति—खाता है; यत् किञ्चन—जो भी; उपनतम्—श्रीकृष्ण की कृपा से प्राप्त; अनिर्मित—बिना किये हुए; पञ्च-यज्ञः—पाँच प्रकार के यज्ञ; वायस—कौवे; संस्तुतः—सम रूप में वर्णित; सः—ऐसा पुरुष; परत्र—अगले जन्म में; कृमिभोजने—कृमिभोजन लोक में; नरक-अधमे—अत्यन्त निकृष्ट नरक में; निपतति—गिरता है; तत्र—वहाँ; शत-सहस्र-योजने—१,००,००० योजन वाले (८,००,००० मील वाले); कृमि-कुण्डे—कीड़ों के कुंड में; कृमि-भूतः—कीड़ों में से एक बनना; स्वयम्—स्वयं; कृमिभिः—अन्य कीड़ों के द्वारा; एव—निश्चय ही; भक्ष्यमाणः—भक्षित होकर; कृमि-भोजनः—खाद्य कीड़े; यावत्—जहाँ तक; तत्—वह कुंड चौड़ा है; अप्रत्त-अप्रहूत—बिना बाँटा और बिना दिया हुआ भोजन; अदः—जो खाता है; अनिर्वेशम्—जिसने परिशोध नहीं किया; आत्मानम्—अपने आपको; यातयते—पीड़ा पहुँचाता है।

जो मनुष्य कुछ भोजन प्राप्त होने पर उसे अतिथियों, वृद्ध पुरुषों तथा बच्चों को न बाँट कर स्वयं खा जाता है अथवा बिना पंचयज्ञ किये खाता है, उसे कौवे के समान मानना चाहिए। मृत्यु

के बाद वह सबसे निकृष्ट नरक कृमिभोजन में रखा जाता है। इस नरक में एक लाख योजन (८,००,००० मील वाले) विस्तृत वाला कीड़ों से परिपूर्ण एक कुंड है। वह इस कुंड में कीड़ा बनकर रहता है और दूसरों कीड़ों को खाता है और ये कीड़े उसे खाते हैं। जब तक वह पापी अपने पापों का प्रायश्चित नहीं कर लेता, तब तक वह कृमिभोजन के नारकीय कुंड में उतने वर्षों तक पड़ा रहता है, जितने योजन इस कुंड की चौड़ाई है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

''यज्ञ से बचे भोजन को करने वाले भगवद्भक्त सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।'' हमें सारा भोजन श्रीभगवान् से प्राप्त है। *एको बहूंना यो विदधाति कामान्*—भगवान् हर एक को जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान करते हैं, अत: हमें चाहिए कि उनके अनुग्रह को यज्ञ द्वारा स्वीकार करें। यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। दरअसल, जीवन का एकमात्र उद्देश्य यज्ञ करना है। श्रीकृष्ण के अनुसार (*भगवद्गीता* ३.९)—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

''भगवान विष्णु के लिए यज्ञरूप में कर्म करना चाहिए, अन्यथा कर्म से इस भौतिक जगत में मनुष्य बँध जाता है। इसलिए हे कुन्तीपुत्र! विष्णु की प्रसन्नता के लिए निर्दिष्ट कर्म का आचरण कर। इस प्रकार करने से तू नित्य अनासक्त तथा बन्धनमुक्त रहेगा।'' यदि हम यज्ञ नहीं करते है और दूसरों को प्रसाद वितरित नहीं करते तो हमारे जीवन को धिक्कार है। यज्ञ कर लेने तथा आश्रितों को अर्थात् बच्चों, ब्राह्मणों तथा वृद्धों को प्रसाद वितरित कर लेने के बाद ही मनुष्य को भोजन करना चाहिए। किन्तु यदि कोई केवल अपने लिए या अपने परिवार के लिए रसोई बनाता है, तो वह तथा उसे खाने वाले धिक्कारणीय हैं। मृत्यु के बाद उसे कृमिभोजन नामक नरक में डाल दिया जाता है।

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन्यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यः—कोई व्यक्ति जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; स्तेयेन—चोरी से; बलात्—बलपूर्वक; वा—अथवा; हिरण्य—सोना; रत्न—रत्न; आदीनि—इत्यादि; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण का; वा—अथवा; अपहरति—चुराता है; अन्यस्य—अन्यों का; वा—या; अनापदि—आपत्ति के समय नहीं; पुरुषः—व्यक्ति; तम्—उसको; अमुत्र—अगले जीवन में; राजन्—हे राजा; यम-पुरुषाः—यमराज के दूत; अयः-मयैः—लोहे से निर्मित; अग्नि-पिण्डैः—अग्नि में तप्त किये गये गोलों से; सन्दंशैः—संडसी से; त्वचि—चमड़ी पर; निष्कुषन्ति—टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं।

हे राजन्, जो पुरुष आपत्तिकाल न होने पर भी ब्राह्मण अथवा अन्य किसी के रत्न तथा सोना लूट लेता है, वह सन्दंश नामक नरक में रखा जाता है। वहाँ पर उसकी चमड़ी संडसी और लोहे के गरम पिंडों से उतारी जाती है। इस प्रकार उसका पूरा शरीर खण्ड-खण्ड कर दिया जाता है।

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया सूर्म्या. ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अगम्याम्—अनुपयुक्त; स्त्रियम्—स्त्री को; अगम्यम्—अगम्य; वा—अथवा; पुरुषम्—पुरुष को; योषित्—स्त्री; अभिगच्छति—संभोग के लिए पास जाते हैं; तौ—वे दोनों; अमुत्र—अगले जीवन में; कशया—कोड़ों से; ताडयन्तः—पीटते हुए; तिग्मया—अत्यन्त तप्त; सूर्म्या—मूर्ति द्वारा; लोह-मय्या—लोह से निर्मित; पुरुषम्—पुरुष; आलिङ्गयन्ति—आलिंगन करते हैं; स्त्रियम्—स्त्री को; च—भी; पुरुष-रूपया—पुरुष के रूप में; सूर्म्या—मूर्ति द्वारा।

यदि कोई पुरुष या स्त्री विपरीत लिंग वाले अगम्य सदस्य के साथ संभोग करते हैं, तो मृत्यु के बाद यमराज के दूत उसे तप्तसूर्मि नामक नरक में दण्ड देते हैं। वहाँ पर ऐसे पुरुष तथा स्त्रियाँ कोड़े से पीटे जाते हैं। पुरुष को तप्तलोह की बनी स्त्री से और स्त्री को ऐसी ही पुरुष-प्रतिमा से आलिंगित कराया जाता है। व्यभिचार के लिए ऐसा ही दण्ड है।

तात्पर्य : सामान्यतः पुरुष को अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री के साथ संभोग नहीं करना चाहिए। वैदिक नियमों के अनुसार पराई स्त्री मातृ-तुल्य होती है और अपनी माँ, बहन तथा पुत्री के साथ संभोग करना एकदम वर्जित है। यदि कोई पराई स्त्री के साथ ऐसे अवैध सम्बन्ध रखता है, तो यह कार्य अपनी माँ के साथ प्रसंग करने के तुल्य माना जाता है। ऐसे कार्य अत्यन्त पापमय हैं। यही नियम स्त्री पर भी लागू होता है। यदि वह अपने पति को छोड़कर पर-पति से संभोग करती है, तो यह कार्य अपने पिता या पुत्र के साथ यौन-सम्बन्ध रखने के तुल्य है। अवैध स्त्री-पुरुष संभोग सदैव वर्जित

है और जो कोई ऐसा करता है उसे दण्ड भोगना पड़ता है जैसा कि इस श्लोक में वर्णित है।

यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्तमानं वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति. ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; सर्व-अभिगमः—विवेकहीन होकर पशुओं तथा मनुष्यों के साथ मैथुन करता है; तम्—उसको; अमुत्र—अगले जन्म में; निरये—नरक में; वर्तमानम्—विद्यमान; वज्रकण्टक-शाल्मलीम्—वज्र के समान काँटों वाला सेमल वृक्ष पर; आरोप्य—चढ़ाकर; निष्कर्षन्ति—नीचे की ओर खींचते हैं।.

जो व्यक्ति विवेकहीन होकर—यहाँ तक कि पशुओं के साथ भी—व्यभिचार करता है उसे मृत्यु के बाद वज्रकंटकशाल्मली नामक नरक में ले जाया जाता है। इस नरक में वज्र के समान कठोर काँटों वाला सेमल का वृक्ष है। यमराज के दूत पापी पुरुष को इस वृक्ष से लटका देते हैं और घसीटकर नीचे की ओर खींचते हैं जिससे काँटों के द्वारा उसका शरीर बुरी तरह चिथड़ जाता है।

तात्पर्य : कामेच्छा इतनी प्रबल होती है कि कभी-कभी मनुष्य गाय के साथ मैथुन करता है या स्त्री कुत्ते के साथ संभोग करती है। ऐसे पुरुषों तथा स्त्रियों को वज्रकष्टकशाल्मली नामक नरक में डाला जाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन अवैध यौन का निषेध करता है। इन श्लोकों में दिये गये विवरण से हम यह समझ सकते हैं कि अवैध यौन कितना पापमय कृत्य है। कभी-कभी लोगों को नरक के इन विवरणों पर विश्वास नहीं होता, किन्तु कोई माने या न माने, हर कार्य को प्रकृति के नियमों के अनुसार सम्पन्न होना है। उससे कोई बच नहीं सकता।

ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वा अपाखण्डा धर्मसेतून्भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाघेन कर्मपाकमनुस्मरन्तो विण्मूत्रपूयशोणितकेशनखास्थिमेदोमांसवसावाहिन्यामुपतप्यन्ते. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; राजन्याः—राज परिवार के सदस्य अथवा क्षत्रिय; राज-पुरुषाः—राज्याधिकारी; वा—अथवा; अपाखण्डाः—यद्यपि श्रेष्ठ कुलों में जन्म लेता है; धर्म-सेतून्—निर्दिष्ट धार्मिक नियमों की मर्यादाएँ; भिन्दन्ति—उल्लंघन करते हैं; ते—वे; सम्परेत्य—मरने के पश्चात्; वैतरण्याम्—वैतरणी में; निपतन्ति—गिर पड़ते हैं; भिन्न-मर्यादाः—जिन्होंने विधि विधानों को तोड़ दिया है; तस्याम्—उसमें; निरय-परिखा-भूतायाम्—नरक को घेरने वाली खाई; नद्याम्—नदी में; यादः-गणैः—हिंस्त्र जल-जीवों द्वारा; इतः ततः—इधर-उधर; भक्ष्यमाणाः—खाया जाकर; आत्मना—शरीर से; न—नहीं; वियुज्यमानाः—विलग किया जाकर; च—तथा; असुभिः—प्राणवायु द्वारा; उह्यमानाः—ले जाया जाकर; स्व-अघेन—अपने ही पाप कर्मों के द्वारा; कर्म-पाकम्—कुकर्मों का फल; अनुस्मरन्तः—स्मरण करते हुए; विट्—मल; मूत्र—

मूत्र; पूय—पीब; शोणित—रक्त; केश—बाल; नख—नाखून; अस्थि—हड्डियाँ; मेदः—मज्जा; मांस—मांस; वसा—चर्बी; वाहिन्याम्—नदी में; उपतप्यन्ते—सन्तप्त होते रहते हैं।

जो मनुष्य श्रेष्ठ कुल—यथा क्षत्रिय, राज परिवार या अधिकारी वर्ग—में जन्म ले करके नियत नियमों के पालन की अवहेलना करता है और इस प्रकार से अधम बन जाता है, वह मृत्यु के समय वैतरणी नामक नरक की नदी में जा गिरता है। यह नदी नरक को घेरने वाली खाईं के समान है और अत्यन्त हिंस्त्र जलजीवों से पूर्ण है। जब पापी मनुष्य को वैतरणी नदी में फेंका जाता है, तो जल के जीव उसे तुरन्त खाने लगते हैं और पापमय शरीर होने के कारण वह अपने शरीर को त्याग नहीं पाता। वह निरन्तर अपने पापमय कर्मों को स्मरण करता है और मल, मूत्र, पीब, रक्त, केश, नख, हड्डी, मज्जा, मांस तथा चर्बी से भरी हुई उस नदी में अत्यधिक यातनाएँ पाता है।

ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचारनियमास्त्यक्तलज्जाः पशुचर्यां चरन्ति ते चापि प्रेत्य पूयविण्मूत्रश्लेष्ममलापूर्णार्णवे निपतन्ति तदेवातिबीभत्सितमश्नन्ति. ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; वृषली-पतयः—शूद्रों के पति; नष्ट—नष्ट; शौच-आचार-नियमाः—सफाई, अच्छा आचरण और नियमित जीवन; त्यक्त-लज्जाः—लज्जारहित; पशु-चर्याम्—पशुओं का आचरण; चरन्ति—पालन करते हैं; ते—वे; च—भी; अपि—निस्सन्देह; प्रेत्य—मरकर; पूय—पीब; विट्—मल; मूत्र—मूत्र; श्लेष्म—श्लेष्मा; मला—लार; पूर्ण—भरा हुआ; अर्णवे—समुद्र में; निपतन्ति—गिरते हैं; तत्—वह; एव—एकमात्र; अतिबीभत्सितम्—अत्यन्त बीभत्स (घृणित); अश्नन्ति—भोजन करते हैं।

निम्नकुल में जन्मी शूद्र स्त्रियों के निर्लज्ज पति पशुओं की भाँति रहते हैं, अतः उनमें आचरण, शुचिता या नियमित जीवन का अभाव रहता है। ऐसे व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् पूयोद नामक नरक में फेंक दिये जाते हैं जहाँ वे मल, पीब, श्लेष्मा, लार तथा ऐसी ही अन्य वस्तुओं से पूर्ण समुद्र में रखे जाते हैं। जो शूद्र अपने को नहीं सुधार पाते वे इस सागर में गिरकर इन घृणित वस्तुओं को खाने के लिए बाध्य किये जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड

अमृत बलिया येबा खाय

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे

तार जन्म अदः-पते याय

उनका कथन है कि कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड मार्गों का अनुसरण करने वाले मनुष्य मानव जन्म का अवसर खोते हैं और जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। अतः सदैव सम्भावना बनी रहती है कि उसे पूयोद नरक में रखा जाय जहाँ उसे मल, मूत्र, पीब, श्लेष्मा, लार तथा अन्य घृणित पदार्थों को खाने के लिए बाध्य किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि यह श्लोक विशेष रूप से शूद्रों के सम्बन्ध में कहा गया है। यदि कोई शूद्र रूप में जन्म लेता है, तो उसे निरन्तर पूयोद सागर में लौट कर अत्यन्त घृणित पदार्थ खाने पड़ते हैं। अतः जन्मजात शूद्र से यह आशा की जाती है कि वह ब्राह्मण बने, यही मानव जीवन का अभिप्राय है। प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह ऊपर उठे। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—''प्रकृति के त्रिगुणों और नियत कर्म के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं।'' यदि कोई मनुष्य गुणों से शूद्र है, तो उसे चाहिए कि वह अपनी स्थिति सुधार कर ब्राह्मण पद तक पहुँचने के लिए प्रयास करे। किसी को उसे रोकना नहीं चाहिए। चाहे उस की वर्तमान स्थिति कुछ भी हो वास्तव में हर एक को वैष्णव पद तक पहुँचना है। तब वह स्वतः ब्राह्मण हो जाता है। यह तभी सम्भव है जब कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार हो, क्योंकि प्रत्येक प्राणी को हम वैष्णव पद तक लाना चाहते हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य समस्त कार्यों को त्याग दो और केवल मेरी शरण में आओ। मनुष्य को चाहिए कि शूद्र, क्षत्रिय या वैश्य के वृत्तिपरक कर्मों को त्याग कर वैष्णवों के कर्तव्यों को ग्रहण करे जिसमें ब्राह्मण के कार्यों का समावेश है। इसकी व्याख्या श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.३२) में इस प्रकार की है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

''हे पार्थ! मेरी शरण लेकर तो जो निम्नयोनि वाले स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं वे भी परम गति पा सकते हैं।'' मानव जीवन का विशिष्ट उद्देश्य घर लौटना अर्थात् भगवान् के धाम को जाना है। यह सुविधा हर एक को मिलनी चाहिए, चाहे वह शूद्र हो या वैश्य, स्त्री हो या क्षत्रिय। *कृष्णभावनामृत* आन्दोलन का यही उद्देश्य है। किन्तु यदि कोई शूद्र बने रहने में सन्तुष्ट है, तो उसे इस श्लोक के

अनुसार यातना भोगनी होगी—*तद् एवातिबीभत्सितम् अश्नन्ति।*

ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयो मृगया विहारा अतीर्थे च मृगान्निघ्नन्ति तानपि सम्परेताँल्लक्ष्यभूतान्यमपुरुषा इषुभिर्विध्यन्ति. ॥ २४॥

शब्दार्थ

ये—वे जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—या; श्व—कुत्तों; गर्दभ—तथा गधे के; पतयः—स्वामी; ब्राह्मण-आदयः—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य; मृगया विहाराः—वन में आखेट करने में रुचि दिखाने वाले; अतीर्थे—बताये हुए से इतर; च—भी; मृगान्—पशुओं को; निघ्नन्ति—मारते हैं; तान्—उनको; अपि—निस्सन्देह; सम्परेतान्—मर कर; लक्ष्य-भूतान्—लक्ष्य बनाकर; यम-पुरुषाः—यमराज के दूत; इषुभिः—तीरों द्वारा; विध्यन्ति—बींधते हैं।.

यदि इस जीवन में उच्च वर्ग का मनुष्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) कुत्ते, गधे तथा खच्चर पालता है और उन्हें जंगल में आखेट करने तथा वृथा ही पशुओं को मारने में अत्यधिक रुचि लेता है, तो मृत्यु के पश्चात् वह प्राणरोध नामक नरक में डाला जाता है। वहाँ पर यमराज के दूत उसे लक्ष्य बनाकर अपने तीरों से बेध डालते हैं।

तात्पर्य : विशेषकर पाश्चात्य देशों में, सामन्त लोग जंगल में पशुओं का शिकार करने के लिए कुत्ते तथा घोड़े पालते हैं। चाहे पूर्व हो या पश्चिम, कलियुग में सामन्तवादी व्यक्ति जंगल में जाकर वृथा ही पशु-वध करते हैं। उच्च वर्ग के पुरुषों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) को ब्रह्मज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए और शूद्रों को भी उस पद पर पहुँचने का अवसर देना चाहिए। यदि इसके बजाय वे आखेट में रत होते हैं, तो वे दण्डित होते हैं जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है। वे यमदूतों के द्वारा न केवल बाणों से बिद्ध किये जाते हैं, वरन् पीब, मूत्र तथा मल के सागर में रखे जाते हैं।

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून्विशसन्ति तानमुष्मिँल्लोके वैशसे नरके पतितान्निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति. ॥ २॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; दाम्भिकाः—सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा से गर्वित; दम्भ-यज्ञेषु—प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए किये गये यज्ञ में; पशून्—पशुओं को; विशसन्ति—मारते हैं; तान्—उनको; अमुष्मिन् लोके—अगले जगत में; वैशसे—वैशस या विशसन; नरके—नरक में; पतितान्—गिरे हुए; निरय-पतयः—यमराज के दूत; यातयित्वा—प्रचुर पीड़ा प्रदान करके; विशसन्ति—मार डालते हैं।.

जो व्यक्ति इस जन्म में अपने ऊँचे पद पर गर्व करता है और केवल भौतिक प्रतिष्ठा के लिए पशुओं की बलि चढ़ाता है, उसे मृत्यु के पश्चात् वैशसन नामक नरक में रखा जाता है। वहाँ यम के दूत उसे अपार कष्ट देकर अन्त में उसका वध कर देते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.४१) में श्रीकृष्ण कहते हैं—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*—''योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोकों में अनेक वर्षों तक सुख भोगकर सदाचारी ब्राह्मणों अथवा धनवानों के प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है।'' ऐसा जन्म पाकर उसे चाहिए कि भक्तियोग को परिपूर्ण बनाये। किन्तु कुसंग के कारण वह प्राय: भूल जाता है कि श्रीभगवान् ने ही उसे यह प्रतिष्ठित पद प्रदान किया है। वह अनेक प्रकार के तथाकथित यज्ञ यथा कालीपूजा या दुर्गापूजा करके इसका दुरुपयोग करता है और निरीह पशुओं की बलि चढ़ाता है। ऐसे पुरुष को किस प्रकार दण्डित किया जाता है उसका वर्णन इस श्लोक में हुआ है। इस श्लोक का एक शब्द *दम्भयज्ञेषु* महत्त्वपूर्ण है। यदि यज्ञ करते समय वैदिक शिक्षाओं का पालन नहीं किया जाता और केवल दिखावे के लिए पशुओं की बलि की जाती है, तो वह मृत्यु के उपरान्त दण्ड का भागी है। कलकत्ते में ऐसे अनेक कसाईघर हैं, जहाँ ऐसा मांस बिकता है जो देवी काली पर बलि चढ़ा होता है। शास्त्रों का मत है कि मास में एक बार देवी काली को छोटे बकरे की बलि दी जा सकती है। यह कहीं नहीं उल्लिखित है कि मन्दिर-पूजा के बहाने कसाईघर चलाया जाये और वृथा ही पशुओं का वध किया जाये। जो ऐसा करते हैं उन्हें दण्ड भोगना पड़ता है। जैसा कि यहाँ पर वर्णित है।

यस्त्विह वै सवर्णां भार्यां द्विजो रेतः पाययति काममोहितस्तं पापकृतममुत्र रेतःकुल्यायां पातयित्वा रेतः सम्पाययन्ति. ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; सवर्णाम्—उसी जाति की; भार्याम्—अपनी पत्नी को; द्विजः—उच्च जाति का व्यक्ति (यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य); रेतः—वीर्य; पाययति—पीने को बाध्य करता है; काम-मोहितः—काम से मोहित; तम्—उसको; पाप-कृतम्—पाप करते हुए; अमुत्र—अगले जन्म में; रेतः-कुल्यायाम्—वीर्य की नदी में; पातयित्वा—फेंककर; रेतः—वीर्य; सम्पाययन्ति—पीने को बाध्य करते हैं।.

यदि कोई मूर्ख द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) भोगेच्छा से अपनी पत्नी को अपने वश में रखने के लिए उसे अपना वीर्य पीने को बाध्य करता है, तो मृत्यु के पश्चात् उसे लालाभक्ष नरक में रखा जाता है। वहाँ उसे वीर्य की नदी में डाल कर वीर्य पीने को विवश किया जाता है।

तात्पर्य : अपना वीर्य पत्नी को पीने के लिए बाध्य करना इन्द्रजाल है, जिसे अत्यन्त कामी पुरुष अपनाते हैं। उनका कहना है कि ऐसा घृणित कार्य करने से पत्नी सदैव आज्ञाकारी बनी रहती है। सामान्यत: निम्न वर्ग के पुरुष ही ऐसा करते हैं, किन्तु यदि उच्च वर्ग में जन्मा व्यक्ति ऐसा करता है, तो

उसे मृत्यु के पश्चात् लालाभक्ष नरक में ले जाया जाता है, जहाँ शुक्र नदी में डुबाकर उसे वीर्य पीने को बाध्य किया जाता है।

ये त्विह वै दस्यवोऽग्निदा गरदा ग्रामान्सार्थान्वा विलुम्पन्ति राजानो राजभटा वा तांश्चापि हि परेत्य यमदूता वज्रदंष्ट्राः श्वानः सप्तशतानि विंशतिश्च सरभसं खादन्ति. ॥ २७॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; दस्यवः—चोर तथा डाकू; अग्नि-दाः—आग लगाने वाले; गरदाः—विष पिलाने वाले; ग्रामान्—गाँवों को; सार्थान्—वणिक वर्ग को; वा—अथवा; विलुम्पन्ति—लूटते हैं; राजानः—राजा; राज-भटाः—अधिकारी जन; वा—अथवा; तान्—उनको; च—भी; अपि—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; परेत्य—मरने पर; यमदूताः—यमराज के दूतगण; वज्र-दंष्ट्राः—कठोर दाँतों वाले; श्वानः—कुत्ते; सप्त-शतानि—सात सौ; विंशतिः—बीस; च—और; सरभसम्—भूक्खड़तापूर्वक; खादन्ति—निगल जाते हैं।.

इस जगत में कुछ लोगों का व्यवसाय ही लूटपाट करना है जो दूसरों के घरों में आग लगाते हैं अथवा उन्हें विष देते हैं। यही नहीं, राज्य-अधिकारी कभी-कभी वणिक जनों को आयकर अदा करने पर विवश करके तथा अन्य विधियों से लूटते हैं। मृत्यु के पश्चात् ऐसे असुरों को सारमेयादन नामक नरक में रखा जाता है। उस नरक में सात सौ बीस कुत्ते हैं जिनके दाँत वज्र के समान कठोर हैं। ये कुत्ते यमराज के दूतों के आदेश पर ऐसे पापीजनों को भूके भेड़ियों की भाँति निगल जाते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के बारहवें स्कंध में यह कहा गया है कि इस कलिकाल में प्रत्येक व्यक्ति तीन प्रकार की विपत्तियों से पीड़ित रहेगा—वर्षा का अभाव, दुर्भिक्ष तथा राज्य द्वारा अधिक कर वसूली। चूँकि मनुष्य अधिकाधिक पापी होते जा रहे हैं, इसलिए वर्षा का अभाव होगा जिससे अन्न नहीं उपजेगा। दुर्भिक्ष के कारण उत्पन्न लोगों का कष्ट कम करने के बहाने सरकार व्यवसायी वर्ग पर विशेष रूप से भारी कर लगायेगी। इस श्लोक में कहा गया है कि ऐसी सरकार के अधिकारी दस्यु अथवा चोर होते हैं। इनका मुख्य काम होगा लोगों की सम्पत्ति लूटना। चाहे वह राजमार्ग का लुटेरा हो या राजकीय चोर, ऐसे व्यक्ति को अगले जीवन में सारमेयादन नामक नरक में गिराकर दण्डित किया जायेगा जहाँ उसे नृशंस कुत्ते काटेंगे।

यस्त्विह वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने वा कथञ्चित्स वै प्रेत्य नरकेऽवीचिमत्यधःशिरा निरवकाशे योजनशतोच्छ्रायाद्गिरिमूर्ध्नः सम्पात्यते यत्र जलमिव स्थलमश्मपृष्ठमवभासते तदवीचिमत्तिलशो विशीर्यमाणशरीरो न म्रियमाणः पुनरारोपितो निपतति. ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अनृतम्—असत्य, झूठ; वदति—बोलता है; साक्ष्ये—साक्षी देने में; द्रव्य-विनिमये—वस्तुओं के आदान-प्रदान में; दाने—दान देने में; वा—अथवा; कथञ्चित्—किसी प्रकार; सः—वह व्यक्ति; वै—निस्संदेह; प्रेत्य—मरकर; नरके—नरक में; अवीचिमति—अवीचिमत् नामक (जिसमें जल नहीं है); अधः-शिराः—अधोमुख; निरवकाशे—आधारहीन; योजन-शत—आठ सौ मील की; उच्छ्रायात्—ऊँचाई वाला; गिरि—पर्वत की; मूर्ध्नः—चोटी से; सम्पात्यते—फेंक दिया जाता है; यत्र—जहाँ; जलम् इव—जल सदृश; स्थलम्—स्थल, भूमि; अश्म-पृष्ठम्—पथरीली सतह वाले; अवभासते—प्रतीत होता है; तत्—वह; अवीचिमत्—बिना जल या लहरों वाला; तिलशः—तिल के बीजों सदृश सूक्ष्म खंडों में; विशीर्यमाण—फाड़ा जा करके; शरीरः—देह; न म्रियमाणः—न मरने वाले; पुनः—फिर; आरोपितः—चोटी तक उठा हुआ; निपतति—नीचे गिरती है।

इस जीवन में जो व्यक्ति किसी की झूठी गवाही देने, व्यापार करते अथवा दान देते समय किसी भी तरह का झूठ बोलता है, वह मरने पर यमराज के दूतों द्वारा बुरी तरह से प्रताड़ित किया जाता है। ऐसा पापी व्यक्ति आठ सौ मील ऊँचे पर्वत की चोटी से मुँह के बल अवीचिमत् नामक नरक में नीचे फेंक दिया जाता है। इस नरक का कोई आधार नहीं होता और उस की पथरीली भूमि जल की लहरों के समान प्रतीत होती है, किन्तु इसमें जल नहीं है; इसलिए इसे अवीचिमत् (जलरहित) कहा गया है। वहाँ से बारम्बार गिराये जाने से उस पापी व्यक्ति के शरीर के छोटे छोटे टुकड़े हो जाने पर भी प्राण नहीं निकलते और उसे बारम्बार दण्ड सहना पड़ता है।

यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्तत्कलत्रं वा सुरां व्रतस्थोऽपि वा पिबति प्रमादतस्तेषां निरयं नीतानामुरसि पदाक्रम्यास्ये वह्निना द्रवमाणं कार्ष्णायसं निषिञ्चन्ति. ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; विप्रः—विद्वान ब्राह्मण; राजन्यः—क्षत्रिय; वैश्यः—वैश्य; वा—अथवा; सोम-पीथः—सोमरस पान करते हैं; तत्—उसकी; कलत्रम्—स्त्री; वा—अथवा; सुराम्—मदिरा; व्रत-स्थः—व्रत रखने वाला; अपि—निश्चय ही; वा—अथवा; पिबति—पीता है; प्रमादतः—मोहवश; तेषाम्—उन सबों को; निरयम्—नरक तक; नीतानाम्—लाया जाकर; उरसि—वक्षस्थल पर; पदा—पैर से; आक्रम्य—प्रहार कर; अस्ये—मुँह में; वह्निना—अग्नि से; द्रवमाणम्—पिघलाया; कार्ष्णायसम्—लोह; निषिञ्चन्ति—उड़ेलते हैं।

जो ब्राह्मणी या ब्राह्मण मद्यपान करता है उसे यमराज के दूत अयःपान नामक नरक में ले जाते हैं। यदि कोई क्षत्रिय, वैश्य अथवा व्रत धारण करने वाला मोहवश सोमपान करता है, तो वह भी इस नरक में स्थान पाता है। अयःपान नरक में यम के दूत उनकी छाती पर चढ़ कर उनके मुँह के भीतर तप्त पिघला लोहा उड़ेलते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को केवल नाम का ही ब्राह्मण नहीं होना चाहिए और न ही सभी प्रकार के

पापकर्म, विशेष रूप से मद्यपान करना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जनों को चाहिए कि अपने वर्णानुसार आचरण करें। यदि वे पतित होकर मद्यपान के आदी अर्थात् शूद्र बन जाते हैं, तो उन्हें यहाँ वर्णित विधि से दण्डित किया जाएगा।

अथ च यस्त्विह वा आत्मसम्भावनेन स्वयमधमो जन्मतपोविद्याचारवर्णाश्रमवतो वरीयसो न बहु मन्येत स मृतक एव मृत्वा क्षारकर्दमे निरयेऽवाक्शिरा निपातितो दुरन्ता यातना ह्यश्नुते. ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—आगे; च—भी; यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—या; आत्म-सम्भावनेन—झूठी प्रतिष्ठा से; स्वयम्—स्वयं; अधमः—अत्यन्त नीच; जन्म—जन्म; तपः—तप; विद्या—ज्ञान; आचार—सद्-आचरण; वर्ण-आश्रम-वतः—वर्णाश्रम के नियमों का कठोरता से पालन करते हुए; वरीयसः—अधिक आदरणीय का; न—नहीं; बहु—अधिक; मन्येत—आदर करता है; सः—वह; मृतकः—मृत शरीर; एव—मात्र; मृत्वा—मरने के बाद; क्षारकर्दमे—क्षारकर्दम नामक; निरये—नरक में; अवाक्-शिरा—अधोमुख; निपातितः—गिराया जाकर; दुरन्ताः यातनाः—अत्यन्त वेदनामयी स्थिति; हि—निस्सन्देह; अश्नुते—भोगता है।

जो निम्न जाति में उत्पन्न होकर घृणित होते हुए भी इस जीवन में यह सोच कर झूठा गर्व करता है कि "मैं महान् हूँ" और उच्च जन्म, तप, शिक्षा, आचार, जाति अथवा आश्रम में अपने से बड़ों का उचित आदर नहीं करता वह इसी जीवन में मृत-तुल्य है और मृत्यु के पश्चात् क्षारकर्दम नरक में सिर के बल नीचे गिराया जाता है। वहाँ उसे यमदूतों के हाथों से अत्यन्त कठिन यातनाएँ सहनी पड़ती हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि वह झूठा गर्व न करे। उसे चाहिए कि जन्म, शिक्षा, आचरण, जाति अथवा आश्रम में अपने से उच्चतर व्यक्ति के प्रति आदर-भाव दिखाए। यदि वह ऐसा नहीं करता और झूठा गर्व करता है, तो उसे क्षारकर्दम नरक में दण्ड सहना पड़ता है।

ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो नृपशून्खादन्ति तांश्च ते पशव इव निहता यमसदने यातयन्तो रक्षोगणाः सौनिका इव स्वधितिनावदायासृक्पिबन्ति नृत्यन्ति च गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; पुरुषाः—व्यक्ति; पुरुष-मेधेन—नरबलि द्वारा; यजन्ते—आराधना (देवी काली या भद्रकाली की) करते हैं; याः—जो; च—तथा; स्त्रियः—स्त्रियाँ; नृ-पशून्—बलि चढ़ाये जाने वाले मनुष्य; खादन्ति—खाते हैं; तान्—उनको; च—तथा; ते—वे; पशवः इव—पशुओं के सदृश; निहताः—मारे जाकर; यम-सदने—यमराज के धाम में; यातयन्तः—दण्ड देते हुए; रक्षः-गणाः—राक्षस होकर; सौनिकाः—मानने वाले; इव—इदृश; स्वधितिना—तलवार से; अवदाय—खण्ड-खण्ड करके; असृक्—रक्त; पिबन्ति—पीते हैं; नृत्यन्ति—नाचते हैं; च—तथा; गायन्ति—गाते हैं; च—भी; हृष्यमाणाः—प्रसन्न होकर; यथा—जिस प्रकार; इह—इस लोक में; पुरुष-अदाः—मनुष्य-भक्षी।

इस संसार में ऐसे भी पुरुष तथा स्त्रियाँ हैं, जो भैरव या भद्रकाली को नर-बलि चढ़ाकर अपने द्वारा बलि किए गये शिकार का मांस खाते हैं। ऐसे यज्ञ करने वालों को मृत्यु के पश्चात् यमलोक में ले जाया जाता है जहाँ उनके शिकार (मारे गये व्यक्ति) राक्षस का रूप धारण करके अपनी तेज तलवारों से उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। जिस प्रकार इस लोक में नर-भक्षकों ने नाचते गाते हुए अपने शिकार का रक्तपान किया था उसी तरह उनके शिकार अब अपने वध करने वालों का रक्तपान करके आनन्दित होते हैं।

ये त्विह वा अनागसोऽरण्ये ग्रामे वा वैश्रम्भकैरुपसृतानुपविश्रम्भय्य
जिजीविषून्शूलसूत्रादिषूपप्रोतान्क्रीडनकतया यातयन्ति तेऽपि च प्रेत्य यमयातनासु शूलादिषु प्रोतात्मानः
क्षुत्तृड्भ्यां चाभिहताः कङ्कवटादिभिश्चेतस्ततस्तिग्मतुण्डैराहन्यमाना आत्मशमलं स्मरन्ति. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अनागसः—निर्दोष; अरण्ये—वन में; ग्रामे—गाँव में; वा—अथवा; वैश्रम्भकैः—श्रद्धा के द्वारा; उपसृतान्—पास लाये जाकर; उपविश्रम्भय्य—विश्वास के साथ प्रेरणा देकर; जिजीविषून्—जो रक्षित होना चाहते हैं; शूल-सूत्र-आदिषु—बर्छा, धागा आदि पर; उपप्रोतान्—लगा हुआ; क्रीडनकतया—गेंद के सदृश; यातयन्ति—पीड़ा पहुँचाते हैं; ते—वे पुरुष; अपि—निश्चय ही; च—तथा; प्रेत्य—मरने के पश्चात्; यम-यातनासु—यमराज की यातनाएँ; शूल-आदिषु—बर्छे आदि पर; प्रोत-आत्मानः—जिनके शरीर जड़ दिये गये हैं; क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; च—भी; अभिहताः—अभिभूत; कङ्क-वट-आदिभिः—बगुला तथा गीध जैसे पक्षियों द्वारा; च—तथा; इतः ततः—इधर-उधर; तिग्म-तुण्डैः—तीखी चोंचों वाले; आहन्यमानाः—मारे जाकर; आत्म-शमलम्—अपने पापकर्मों को; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं।.

इस जीवन में कुछ व्यक्ति गाँव या वन में रक्षा के लिए आये हुए पशुओं तथा पक्षियों को शरण देते हैं और उन्हें अपनी सुरक्षा का विश्वास हो जाने के बाद उन्हें बर्छे या डोरे में फाँस कर घोर पीड़ा पहुँचाकर उनसे खिलौने जैसा खेलते हैं। ऐसे व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् यमराज के दूतों द्वारा शूलप्रोत नामक नरक में ले जाये जाते हैं जहाँ उनके शरीरों को तीक्ष्ण नुकीले भालों से छेदा जाता है। वे भूख तथा प्यास से तड़पते रहते हैं और उनके शरीरों को गीध तथा बगुले जैसे तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षी चारों ओर से नोंचते हैं। इस प्रकार से यातना पाकर उन्हें पूर्वजन्म में किये गये पाप-कर्मों का स्मरण होता है।

ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उल्बणस्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति
यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपसृत्य ग्रसन्ति यथा बिलेशयान्. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वै—निस्सन्देह; भूतानि—जीवात्माओं को; उद्वेजयन्ति—वृथा ही पीड़ा पहुँचाते हैं; नराः—मनुष्य; उल्बण-स्वभावाः—स्वभाव से क्रोधी; यथा—जिस प्रकार; दन्दशूकाः—सर्प; ते—वे; अपि—भी; प्रेत्य—मरने के बाद; नरके—नरक में; दन्दशूक-आख्ये—दन्दशूक नामक; निपतन्ति—गिरते हैं; यत्र—जहाँ; नृप—हे राजन्; दन्दशूकाः—सर्प; पञ्च-मुखाः—पाँच फणों वाले; सप्त-मुखाः—सात फण वाले; उपसृत्य—ऊपर पहुँच कर; ग्रसन्ति—खा जाते हैं; यथा—जिस तरह; बिलेशयान्—चूहों को।

जो व्यक्ति इस जीवन में ईर्ष्यालु सर्पों के समान क्रोधी स्वभाव वाले अन्य जीवों को पीड़ा पहुँचाते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् दन्दशूक नामक नरक में गिरते हैं। हे राजन्, इस नरक में पाँच या सात फण वाले सर्प हैं, जो इन पापात्माओं को उसी प्रकार खा जाते हैं जिस प्रकार चूहों को सर्प खाते हैं।

ये त्विह वा अन्धावटकुसूलगुहादिषु भूतानि निरुन्धन्ति तथामुत्र तेष्वेवोपवेश्य सगरेण वह्निना धूमेन निरुन्धन्ति. ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अन्ध-अवट—अंधकूप; कुसूल—अन्न भण्डार, खत्ती; गुह-आदिषु—तथा गुफाओं आदि में; भूतानि—जीवात्माओं को; निरुन्धन्ति—रोके रखते हैं, बन्दी बनाए रखते हैं; तथा—उसी प्रकार; अमुत्र—अगले जीवन में; तेषु—उन-उन स्थानों में; एव—निश्चय ही; उपवेश्य—घुसाकर; सगरेण—विषाक्त धुएँ से; वह्निना—अग्नि से; धूमेन—धुआँ से; निरुन्धन्ति—बन्दी बनाए रखते हैं।

जो व्यक्ति इस जीवन में अन्य जीवों को अन्धे कुएँ, खत्ती या पर्वत की गुफाओं में बन्दी बनाकर रखते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् अवट-निरोधन नामक नरक में रखे जाते हैं। वहाँ वे स्वयं अंधे कुओं में धकेल दिये जाते हैं, जहाँ विषैले धुएँ से उनका दम घुटता है और वे घोर यातनाएँ उठाते हैं।

यस्त्विह वा अतिथीनभ्यागतान्वा गृहपतिरसकृदुपगतमन्युर्दिधक्षुरिव पापेन चक्षुषा निरीक्षते तस्य चापि निरये पापदृष्टेरक्षिणी वज्रतुण्डा गृध्राः कङ्ककाकवटादयः प्रसह्योरुबलादुत्पाटयन्ति. ॥ ३॥

शब्दार्थ

यः—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; इह—इस जीवन में; वा—अथवा; अतिथीन्—अतिथियों को; अभ्यागतान्—अभ्यागतों (आने वालों) को; वा—अथवा; गृह-पतिः—गृहस्थ; असकृत्—अनेक बार; उपगत—प्राप्त करके; मन्युः—क्रोध; दिधक्षुः—जलाने का इच्छुक; इव—सदृश; पापेन—पापपूर्ण; चक्षुषा—नेत्रों द्वारा; निरीक्षते—दृष्टि डालता है; तस्य—उसका; च—तथा; अपि—निश्चय ही; निरये—नरक में; पाप-दृष्टेः—पापपूर्ण दृष्टि वाले की; अक्षिणी—आँखें, नेत्र; वज्र-तुण्डाः—वज्र के समान बलिष्ठ चोंच वाले; गृध्राः—गीध; कङ्क—कंक (बगुले); काक—कौवे; वट-आदयः—तथा अन्य पक्षी; प्रसह्य—आक्रामक रूप से; उरु-बलात्—अत्यन्त बलपूर्वक; उत्पाटयन्ति—बाहर निकाल लेते हैं।

जो गृहस्थ अपने घर आये अतिथियों अथवा अभ्यागतों को क्रोध भरी कुटिल दृष्टि से देखता है मानो उन्हें भस्म कर देगा, उसे पर्यावर्तन नामक नरक में ले जाकर रखा जाता है जहाँ उसे वज्र

जैसी चोंच वाले गीध, बगुले, कौवे तथा इसी प्रकार के अन्य पक्षी घूरते हैं और सहसा झपट कर तेजी से उनकी आँखें निकाल लेते हैं।

तात्पर्य : वैदिक शिष्टाचार के अनुसार, यदि गृहस्थ के घर उनका शत्रु भी पधारे तो उसे ऐसी विनम्रता से मिलना चाहिए कि वह भूल जाये कि वह अपने शत्रु के घर आया है। घर आये अतिथि का विनम्रतापूर्वक स्वागत करना चाहिए। यदि वह अवांछित है, तो गृहस्थ को चाहिए कि उसको घूरे नहीं, क्योंकि जो ऐसा करता है, वह मरने पर पर्यावर्तन नामक नरक में रखा जाता है, जहाँ गीध, कौवे जैसे अनेक भयानक पक्षी उस पर सहसा टूट पड़ेंगे और उसकी आँखें निकाल लेंगे।

यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहङ्कृतिस्तिर्यक्प्रेक्षणः सर्वतोऽभिविशङ्की अर्थव्ययनाशचिन्तया परिशुष्यमाणहृदयवदनो निर्वृतिमनवगतो ग्रह इवार्थमभिरक्षति स चापि प्रेत्य तदुत्पादनोत्कर्षणसंरक्षणशमलग्रहः सूचीमुखे नरके निपतति यत्र ह वित्तग्रहं पापपुरुषं धर्मराजपुरुषा वायका इव सर्वतोऽङ्गेषु सूत्रैः परिवयन्ति. ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो व्यक्ति; तु—लेकिन; इह—इस लोक में; वा—अथवा; आढ्य-अभिमतिः—सम्पत्ति के कारण गर्वीला; अहङ्कृतिः—अभिमानी; तिर्यक्-प्रेक्षणः—कुटिल दृष्टि वाला; सर्वतः अभिविशङ्की—सदैव अन्यों के द्वारा, यहाँ तक कि अपने से श्रेष्ठ जनों द्वारा भी, ठगे जाने से सशंकित; अर्थ-व्यय-नाश-चिन्तया—व्यय तथा क्षति के विचार के कारण; परिशुष्यमाण—सूख गया है जो; हृदय-वदनः—जिसका हृदय तथा मुख; निर्वृतिम्—प्रसन्नता; अनवगतः—न प्राप्त करके; ग्रहः—भूत; इव—सदृश; अर्थम्—सम्पत्ति; अभिरक्षति—रखवाली करता है; सः—वह; च—भी; अपि—निस्सन्देह; प्रेत्य—मरने के बाद; तत्—उस धन का; उत्पादन—आय का; उत्कर्षण—वृद्धि; संरक्षण—सुरक्षा; शमल-ग्रहः—पाप-कर्मों को स्वीकार करता हुआ; सूचीमुखे—सूचीमुख नामक; नरके—नरक में; निपतति—गिर जाता है; यत्र—जहाँ; ह—निस्संदेह; वित्त-ग्रहम्—धन हरने वाले भूत की तरह; पाप-पुरुषम्—अत्यन्त पापी मनुष्य को; धर्मराज-पुरुषाः—धर्मराज के दूत; वायकाः इव—चतुर दर्जियों की भाँति; सर्वतः—सर्वत्र; अङ्गेषु—शरीर के अंगों पर; सूत्रैः—धागे के द्वारा; परिवयन्ति—सिलते हैं।

जो व्यक्ति इस लोक में अथवा इस जीवन में अपनी सम्पत्ति पर अभिमान करता है, वह सदैव सोचता रहता है कि वह कितना धनी है और कोई उसकी बराबरी कर सकता है क्या? उसकी नजर टेढ़ी हो जाती है और वह सदैव भयभीत रहता है कि कोई उसकी सम्पत्ति ले न ले। वह अपने से बड़े लोगों पर आशंका करता है। अपनी सम्पत्ति की हानि के विचार मात्र से उसका मुख तथा हृदय सूखने लगते हैं, अतः वह सदैव अति अभागे दुष्ट मनुष्य की तरह लगता है। उसे वास्तविक सुख-लाभ नहीं हो पाता और वह यह नहीं जानता कि चिन्तामुक्त जीवन कैसा होता है। धन अर्जित करने, उसको बढ़ाने तथा उसकी रक्षा के लिए वह जो पापकर्म करता है उसके कारण उसे सूचीमुख नामक नरक में रखा जाता है जहाँ यमराज के दूत उसके सारे शरीर को

दर्जियों की तरह धागे से सिल देते हैं।

तात्पर्य : जब किसी के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति हो जाती है, तो वह निश्चय ही घमंडी बन जाता है। आधुनिक सभ्यता में मनुष्यों की यही स्थिति है। वैदिक संस्कृति के अनुसार ब्राह्मणों के पास कुछ भी नहीं होता, जबकि क्षत्रियों के पास काफी धनसम्पदा होती है किन्तु वह भी केवल शास्त्रों के आदेशानुसार यज्ञ तथा अन्य सत्कर्म करने के लिए होती है। वैश्य भी कृषि, गोपालन तथा व्यापार से ईमानदारी के साथ धन कमाता है। किन्तु यदि शूद्र को धन प्राप्त हो जाता है, तो वह उसका बिना सूझबूझ के अपव्यय करता है या फिर संचय करता है जो उसके काम नहीं आता। चूँकि इस युग में सुपात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य नहीं हैं, अत: प्राय: प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है (*कलौ शूद्र-सम्भव:*)। फलस्वरूप शूद्र-मानसिकता से आधुनिक सभ्यता को भारी क्षति पहुँच रही है। शूद्र यह नहीं जानता कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के लिए धन का किस प्रकार उपयोग किया जाये। धन को लक्ष्मी भी कहते हैं और लक्ष्मी जी सदैव नारायण की सेवा में संलग्न रहती हैं। अत: जहाँ भी धन हो, उसे भगवान् नारायण की सेवा में लगाना चाहिए। प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह धन का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में करे। यदि वह धन का उपयोग इस कार्य के लिए नहीं करता और आवश्यकता से अधिक धन-संग्रह करता है, तो अवैध सम्पत्ति के कारण उसे गर्व हो जाता है। यह धन वास्तव में श्रीकृष्ण का है जैसाकि *भगवद्गीता* (.२९) में उन्होंने कहा है— *भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—"समस्त यज्ञों एवं तपों का वास्तविक भोक्ता मैं हूँ और मैं ही समस्त लोकों का स्वामी हूँ।" अत: सब कुछ श्रीकृष्ण का है। कुछ भी किसी और का नहीं है। जिसके पास आवश्यकता से अधिक धन है उसको श्रीकृष्ण के लिए खर्च करना चाहिए। मनुष्य यदि ऐसा नहीं करता तो वह अपनी झूठी सम्पत्ति के कारण गर्व से फूल उठेगा, अत: अगले जन्म में उसे दण्डित होना पड़ेगा।

एवंविधा नरका यमालये सन्ति शतश: सहस्रशस्तेषु सर्वेषु च सर्व एवाधर्मवर्तिनो ये केचिदिहोदिता अनुदिताश्चावनिपते पर्यायेण विशन्ति तथैव धर्मानुवर्तिन इतरत्र इह तु पुनर्भवे त उभयशेषाभ्यां निविशन्ति. ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एवम्-विधाः—इस प्रकार के; नरकाः—अनेक नरक; यम-आलये—यमराज के लोक में; सन्ति—हैं; शतशः—सैकड़ों; सहस्रशः—हजारों; तेषु—उन लोकों में; सर्वेषु—सबों में; च—भी; सर्वे—सभी; एव—निस्संदेह; अधर्म-वर्तिनः—पुरुष जो वैदिक नियमों या विधि-विधानों का पालन नहीं करते; ये केचित्—जो भी; इह—यहाँ; उदिताः—वर्णित; अनुदिताः—जिनका वर्णन नहीं हुआ है; च—तथा; अवनि-पते—हे राजन्; पर्यायेण—विभिन्न प्रकार पापकर्मों के अनुसार; विशन्ति—प्रवेश करते हैं; तथा एव—उसी प्रकार; धर्म-अनुवर्तिनः—जो पवित्र हैं और वैदिक आदेशों के अनुसार कार्य करते हैं; इतरत्र—अन्यत्र; इह—इस लोक में; तु—लेकिन; पुनः-भवे—दूसरे जन्म में; ते—वे सब; उभय-शेषाभ्याम्—पुण्यों अथवा पापों के फल के शेष भाग से; निविशन्ति—प्रवेश करते हैं।

हे राजन्, यमलोक में इसी प्रकार के सैकड़ों-हजारों नरक हैं। मैने जिन पापी मनुष्यों का वर्णन किया है—और जिनका वहाँपर उल्लेख नहीं हुआ—वे सब अपने पापों की कोटि के अनुसार इन विभिन्न नरकों में प्रवेश करेंगे। किन्तु जो पुण्यात्मा हैं, वे अन्य लोकों में, अर्थात् देवताओं के लोकों में जाते हैं। तो भी, अपने पुण्य-पाप के फलों के क्षय होने पर पुण्यात्मा तथा पापी दोनों ही पुनः पृथ्वी पर लौट आते हैं।

तात्पर्य : इसी वर्णन से *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण के उपदेश प्रारम्भ होते हैं—*तथा देहान्तर-प्राप्तिः*—इस भौतिक जगत में प्रत्येक प्राणी विभिन्न लोकों में एक देह से दूसरे में परिवर्तित होने के लिए आया है। ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः—सतो गुणी उच्च लोकों की जाते हैं। *अधो गच्छन्ति तामसाः*—इसी प्रकार जो तामसी हैं, वे नरक लोकों में प्रवेश करते हैं। किन्तु ये दोनों प्रकार के प्राणी जन्म-मृत्यु के चक्कर में घूमते रहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि पवित्रात्मा भी स्वर्गलोक में सुखोपभोग के पश्चात् पृथ्वी पर लौटते हैं (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*)। अतः एक लोक से दूसरे में गमन करने से जीवन की समस्याओं का अन्त नहीं हो जाता। वे तो तभी हल हो सकती हैं जब हमें यह भौतिक देह फिर धारण न करनी पड़े। ऐसा तभी सम्भव है जब कोई कृष्णभावनाभावित हो जाये। जैसाकि स्वयं श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.९) में कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर से जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।" यही जीवन की सिद्धि और जीवन की समस्याओं का सही हल है। हमें न तो उच्चलोकों में जाने के लिए उत्सुक होना चाहिए, न ही ऐसा कर्म करना चाहिए कि नरक में जाना पड़े। इस भौतिक जगत का पूर्ण उद्देश्य तभी प्राप्त होगा जब हम अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करके भगवान् के धाम वापस जा सकें। ऐसा करने

का सरलतम उपाय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा निर्दिष्ट किया गया है *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* मनुष्य को न तो पवित्र, न ही अपवित्र होना चाहिए। उसे भक्त होना चाहिए और श्रीकृष्ण के चरणकमलों में समर्पित होना चाहिए। समर्पण की विधि भी सरल ही है। इसे एक बालक भी कर सकता है—*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।* मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव श्रीकृष्ण का ही चिन्तन "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे" का कीर्तन करते हुए करे। मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीकृष्ण का भक्त बने, उनकी आराधना करे और उन्हें नमस्कार करे। इस प्रकार उसे अपने जीवन के समस्त कार्यों को भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में अर्पित करना चाहिए।

निवृत्तिलक्षणमार्ग आदावेव व्याख्यातः; एतावानेवाण्डकोशो यश्चतुर्दशधा पुराणेषु विकल्पित उपगीयते यत्तद्भगवतो नारायणस्य साक्षान्महापुरुषस्य स्थविष्ठं रूपमात्ममायागुणमयमनुवर्णितमादृतः पठति शृणोति श्रावयति स उपगेयं भगवतः परमात्मनोऽग्राह्यमपि श्रद्धाभक्तिविशुद्धबुद्धिर्वेद. ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

निवृत्ति-लक्षण-मार्गः—त्याग अथवा मुक्ति का मार्ग; आदौ—प्रारम्भ में (द्वितीय तथा तृतीय स्कन्धों में); एव—निस्संदेह; व्याख्यातः—कहा जा चुका है; एतावान्—यह सब; एव—निश्चय ही; अण्ड-कोशः—यह ब्रह्माण्ड जो एक बृहद् अंडे के सदृश है; यः—जो; चतुर्दश-धा—चौदह खण्डों में; पुराणेषु—पुराणों में; विकल्पितः—विभक्त; उपगीयते—वर्णित; यत्—जो; तत्—वह; भगवतः—श्रीभगवान् का; नारायणस्य—नारायण का; साक्षात्—प्रत्यक्ष; महा-पुरुषस्य—परम पुरुष का; स्थविष्ठम्—स्थूल; रूपम्—रूप; आत्म-माया—अपनी शक्ति का; गुण—गुणों का; मयम्—युक्त; अनुवर्णितम्—वर्णित; आदृतः—आदरपूर्वक; पठति—पढ़ता है; शृणोति—अथवा सुनता है; श्रावयति—अथवा व्याख्या करता है; सः—वह पुरुष; उपगेयम्—गीत; भगवतः—श्रीभगवान् का; परमात्मनः—परमात्मा का; अग्राह्यम्—जिसका समझ पाना कठिन है; अपि—यद्यपि; श्रद्धा—श्रद्धा; भक्ति—तथा भक्ति से; विशुद्ध—शुद्ध; बुद्धिः—जिसकी बुद्धि; वेद—जानती है।

प्रारम्भ में (द्वितीय तथा तृतीय स्कंन्ध में) मैं यह बता चुका हूँ कि मुक्तिमार्ग पर किस प्रकार अग्रसर हुआ जा सकता है। पुराणों में चौदह खण्डों में विभक्त अंड सदृश विशाल ब्रह्माण्ड की स्थिति का वर्णन किया गया है। यह विराट रूप भगवान् का बाह्य शरीर माना जाता है, जिसकी उत्पत्ति उनकी शक्ति और गुणों से हुई है। इसे ही सामान्यतः विराट रूप कहते हैं। यदि कोई श्रद्धा सहित भगवान् के इस बाह्य रूप का वर्णन पढ़ता है, अथवा इसके विषय में सुनता या फिर अन्यों को भागवत धर्म अथवा कृष्णभावनामृत समझाता है, तो आत्म-चेतना अथवा कृष्णभावनामृत में उनकी श्रद्धा तथा भक्ति क्रमशः बढ़ती जाती है। यद्यपि इस भावना को विकसित कर पाना कठिन है, किन्तु इस विधि से मनुष्य अपने को शुद्ध कर सकता है और

धीरे-धीरे परम सत्य को जान सकता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा *श्रीमद्भागवतम्* का प्रकाशन विशेषत: आधुनिक सभ्य मानवों के लाभार्थ किया जा रहा है, जिससे वह मूल भावना को जाग्रत कर सके। इस चेतना के बिना मनुष्य पूर्ण अंधकार में भटकता है। मनुष्य चाहे स्वर्ग को जाये या नरक को, वह अपना समय नष्ट ही करता है। अत: उसे चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* में वर्णित भगवान् के विराट रूप के विषय में सुने। इससे वह अपने आपको बद्ध जीवन से बचा सकेगा और धीरे-धीरे मुक्तिमार्ग की ओर उठते हुए भगवान् के धाम को वापस जा सकेगा।

श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः ।
स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर(गुरु-परम्परा से); स्थूलम्—स्थूल; तथा—और; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; रूपम्—रूप; भगवतः—श्रीभगवान् का; यतिः—संन्यासी या भक्त; स्थूले—स्थूल रूप; निर्जितम्—विजित; आत्मानम्—मन को; शनैः—धीरे-धीरे; सूक्ष्मम्—भगवान् के सूक्ष्म रूप में; धिया—बुद्धि से; नयेत्—ले जाना चाहिए; इति—इस प्रकार।

जो मुक्ति का इच्छुक है, मुक्ति के पथ को ग्रहण करता है तथा बद्ध जीवन के प्रति आकृष्ट नहीं होता, वह यती या भक्त कहलाता है। ऐसे पुरुष को पहले भगवान् के स्थूल विराट रूप का चिन्तन करते हुए मन को वश में करना चाहिए और तब धीरे-धीरे श्रीकृष्ण के दिव्य रूप (सत्-चित्-आनन्द-विग्रह) का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार उसका मन समाधि में स्थिर हो जाता है। भक्ति के द्वारा भगवान् के सूक्ष्म रूप का साक्षात्कार किया जा सकता है और यही भक्तों का गन्तव्य है। इस प्रकार उसका जीवन सफल बन जाता है।

तात्पर्य : कहा गया है कि—*महत्सेवां द्वारं आहुर्विमुक्तेः*—यदि कोई मुक्तिमार्ग पर आगे बढ़ना चाहता है, तो उसे महात्माओं या मुक्त भक्तों की संगति करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी संगति में श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण तथा साज-सामग्री के सम्बन्ध में श्रवण, वर्णन तथा कीर्तन का अवसर प्राप्त होता है जिन सबका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। बन्धन पथ पर सदैव जन्म-मृत्यु का चक्कर लगा रहता है। जो इस बन्धन से मुक्ति चाहता है उसे अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ में सम्मिलित हो जाना चाहिए और भक्तों से *श्रीमद्भागवत* सुनने का लाभ उठाना चाहिए तथा कृष्णभावनामृत का प्रसार करने के लिए इसका वर्णन भी करना चाहिए।

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्र-
पातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था ।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य
स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

भू—पृथ्वीलोक; द्वीप—तथा अन्य लोक; वर्ष—भूभाग; सरित्—नदियाँ; अद्रि—पर्वत; नभः—आकाश; समुद्र—सागर; पाताल—नीचे के लोक; दिक्—दिशाएँ; नरक—समस्त नरक लोक; भागण-लोक—नक्षत्र तथा उच्चतर लोक; संस्था—स्थिति; गीता—वर्णित; मया—मेरे द्वारा; तव—तुम्हारे लिए; नृप—हे राजन्; अद्भुतम्—विचित्र; ईश्वरस्य—श्रीभगवान् का; स्थूलम्—स्थूल; वपुः—शरीर; सकल-जीव-निकाय—समस्त जीव समुदायों का; धाम—आवास।

हे राजन्, अभी मैंने तुमसे इस पृथ्वीलोक, अन्य लोक, उनके वर्ष, नदी एवं पर्वत का वर्णन किया है। मैंने आकाश, समुद्र, अधोलोक, दिशाएँ, नरक, ग्रह तथा नक्षत्रों का भी वर्णन किया है। ये भगवान् के विराट रूप के अवयव हैं, जिन पर समस्त जीवात्माएँ आश्रित हैं। इस प्रकार मैंने भगवान् के बाह्य शरीर के अद्भुत विस्तार की व्याख्या की है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत "नारकीय लोकों का वर्णन" नामक छब्बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

—होनोलुलु के पंचतत्त्व मंदिर में दिनांक जून, १९७ को स म्पूर्ण हुआ।

गौड़ीय भाष्य में श्रीकृष्णकृपामूर्ति भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीजी महाराज के द्वारा लिखी गई एक पूरक टिप्पणी है। उसका अनुवाद इस प्रकार है—

जिन विद्वानों को समस्त वैदिक शास्त्रों का ज्ञान है वे यह मानते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के असंख्य अवतार हैं। इन अवतारों की दो श्रेणियाँ की गई हैं—*प्राभव* तथा *वैभव।* शास्त्रों के अनुसार प्राभव अवतारों की भी दो श्रेणियाँ हैं—अनन्त तथा अवर्णित। *श्रीमद्भागवत* के पंचम स्कंध में तृतीय से लेकर षष्ठम अध्याय तक ऋषभदेव का वर्णन है, किन्तु उनके सत् रूप का विस्तृत वर्णन नहीं हुआ है। अतः उन्हें प्राभव अवतारों में दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत (अवर्णित) माना जाता है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध, अध्याय तीन, श्लोक तेरह में कहा गया है—

अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥

''भगवान् विष्णु आठवें अवतार में महाराज नाभि (आग्निध्र के पुत्र) तथा उनकी पत्नी मेरुदेवी के पुत्र के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने सिद्धि, जीवन की परमहंस अवस्था का मार्ग दिखलाया जिसकी उपासना वर्णाश्रम धर्म के सभी पालन करने वालों द्वारा की जाती है।'' ऋषभदेव श्रीभगवान् हैं और उनका शरीर दिव्य सच्चिदानन्दविग्रह है। अत: यह पूछा जा सकता है कि वे मल-मूत्र किस प्रकार विसर्जित करते होंगे? इस प्रश्न का उत्तर गौड़ीय वेदान्त आचार्य बलदेव विद्या-भूषण ने अपनी पुस्तक *सिद्धान्त-रत्न* (प्रथम भाग मूलपाठ ६-६८) में दिया है। जो पू र्ण ज्ञानी नहीं हैं, वे अभक्तों का ध्यान ऋषभदेव द्वारा मलमूत्र विसर्जित करने की ओर आकर्षित करते हैं, क्योंकि वे दिव्य शरीर के सत्-चित्-आनन्द-विग्रह को नहीं समझ पाते। *श्रीमद्भागवत* के पंचम स्कन्ध (.६.११) में इस युग के मोहग्रस्त तथा भ्रमित स्थिति वाले भौतिकतावादियों का पूरी तरह वर्णन हुआ है। पंचम स्कंध में ही अन्यत्र (..१९) में ऋषभदेव ने कहा है— *इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं,* ''मेरा यह शरीर भौतिकतावादियों के लिए अचिन्त्य है।'' भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में भी (१.११) इसकी पुष्टि की है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

''मेरे मानव रूप में अवतरित होने पर मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को तथा सब पर मेरे परम प्रभुत्व को नहीं जानते।'' पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के मानवीय रूप को समझ पाना अत्यन्त दुष्कर है और सामान्य व्यक्ति के लिए तो यह अचिन्त्य है। इसलिए ऋषभदेव ने स्वत: बताया है कि उनका शरीर आत्ममय (सत्-चित्-आनन्द-विग्रह) है। इसलिए वे मलमूत्र विसर्जित नहीं करते थे। यद्यपि वे ऊपर से मल-मूत्र विसर्जित करते प्रतीत होते थे, किन्तु वह भी दिव्य होने के कारण सामान्य मनुष्य द्वारा अनुकरणीय नहीं है। *श्रीमद्भागवत* में यह भी कहा है कि ऋषभदेव का मल-मूत्र दिव्य सुगन्धि से युक्त था। भले ही कोई ऋषभदेव का अनुकरण कर ले, किन्तु वह सुगन्धित मल विसर्जित नहीं कर सकता।

अत: ऋषभदेव के कार्यकलाप उनके तथाकथित एवं विज्ञापित अनुयायियों के, जिन्हें *अर्हत्* कहते हैं, कथनों की पुष्टि नहीं करते। वैदिक नियमों के प्रतिकूल कार्य करते हुए भला वे ऋषभदेव के

अनुयायी कैसे हो सकते हैं ? शुकदेव गोस्वामी ने बताया है कि भगवान् ऋषभदेव के लक्षणों को सुनने के बाद कोंक, वेंक तथा कुटक के राजा ने अर्हत नामक धार्मिक नियमों की प्रणाली का सूत्रपात किया। ये नियम वैदिक नियमों के अनुकूल नहीं थे, अत: इन्हें *पाखंड धर्म* कहा गया। अर्हत् सम्प्रदाय के सदस्य ऋषभदेव के कार्यों को भौतिक मानते थे। किन्तु ऋषभदेव तो श्रीभगवान् के अवतार हैं, अत: वे दिव्य पद पर हैं और उनकी समता कोई नहीं कर सकता।

स्वयं ऋषभदेव द्वारा श्रीभगवान् के कार्यों का प्राकट्य हुआ। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* (.६.८) में कहा गया है—*दावानलस्तद्वनमालेलिहान: सह तेन ददाह*—ऋषभदेव की लीलाओं की समाप्ति पर एक दावानल में सम्पूर्ण वन तथा भगवान् का शरीर जलकर भस्म हो गया। इसी प्रकार ऋषभदेव ने लोगों की अविद्या को भस्म कर डाला। अपने पुत्रों को दिए गये उपदेशों में उन्होंने परमहंसों के लक्षणों का प्राकट्य किया। किन्तु अर्हत् सम्प्रदाय के नियमों का ऋषभदेव की शिक्षाओं से मेल नहीं खाता।

श्रील बलदेव विद्याभूषण की टिप्पणी है कि *श्रीमद्‌भागवत* के अष्टम स्कंध में ऋषभदेव का अन्य विवरण भी प्राप्त होता है, किन्तु वे ऋषभदेव इस स्कंध के ऋषभदेव से भिन्न हैं।

।।पञ्चम: स्कन्ध: समाप्त: ।।

preliminary page 3

श्रीमद्‌भागवतम्

(भगवत्-सन्देश)

पंचम स्कन्ध

''सृष्टि की प्रेरणा''

(अध्याय १-२६)

मूल संस्कृत पाठ, शब्दार्थ, (हिन्दी अनुवाद)

तथा विस्तृत तात्पर्य सहित

कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् अभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य: अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

preliminary page

विषय-सूची

आमुख
प्रस्तावना
अध्याय एक
महाराज प्रियव्रत का चरित्र
अध्याय का सारांश
गृहस्थ जीवन का बंधन
भगवान् के चरणारविन्द की छाया
प्रियव्रत द्वारा नारद के चरणारविन्द की खोज
प्रियव्रत को देखने के लिए ब्रह्मा का भूलोक आना
प्रियव्रत से ब्रह्मा की बातचीत
वर्णाश्रम विभागों की व्यवस्था वैज्ञानिक है
परमेश्वर द्वारा मनुष्य का मार्गदर्शन
आत्म-संयमी न होने वाले की छह सपत्नियाँ
प्रियव्रत द्वारा ब्रह्मा की आज्ञा अंगीकार किया जाना
प्रियव्रत के दस पुत्र
रानी बर्हिष्मती द्वारा प्रियव्रत की शक्ति का बढ़ाना
प्रियव्रत द्वारा रथ से सूर्य का पीछा करना
प्रियव्रत द्वारा वैराग्य के विषय में बोलना
प्रियव्रत के चरित्र के सम्बन्ध में श्लोक
अध्याय दो
महाराज आग्नीध्र का चरित्र
आग्नीध्र द्वारा ब्रह्मा की पूजा किया जाना
पूर्वचित्ति द्वारा आग्नीध्र का आकृष्ट किया जाना
पूर्वचित्ति की शक्तिशाली चितवन
आग्नीध्र द्वारा सुन्दरी के शरीर की प्रशंसा
आग्नीध्र के नौ पुत्र
आग्नीध्र का पितृलोक भेजा जाना
अध्याय तीन
राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म
नाभि तथा उनकी पत्नी द्वारा विष्णु की पूजा
नाभि के समक्ष विष्णु का प्रकट होना
फल की कामना से यज्ञों का सम्पन्न किया जाना
नाभि द्वारा भगवान् के ही समान पुत्र की कामना करना
ऋषियों की स्तुतियों से भगवान् का प्रसन्न होना
मेरुदेवी के पुत्र रूप में भगवान् का प्रकट होना

अध्याय चार
भगवान् ऋषभदेव के लक्षण
नाभि के पुत्र में समस्त गुणों का प्राकट्य
ऋषभदेव का चक्रवर्ती सम्राट् होना
ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत
वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ऋषभदेव द्वारा शासन चलाना
अध्याय पाँच
भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश
मानव जीवन का उद्देश्य
भौतिक शरीर–दुखों का कारण
घर, पत्नी तथा सन्तान के प्रति आसक्ति
हृदय–ग्रंथि को छिन्न करना
ऋषभदेव, श्री भगवान् के रूप में
भगवान् का ब्राह्मणों के प्रति झुकाव
इन्द्रियों का असली कार्य
ऋषभदेव द्वारा अवधूत का वेष अंगीकार किया जाना
ऋषभदेव द्वारा गायों तथा हिरनों का–सा आचरण
अध्याय छह
भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलाप
मन के साथ मित्रता न करना
जंगल की आग में ऋषभदेव के शरीर का भस्म होना
पतित आत्माओं के उद्धार हेतु ऋषभदेव का अवतार
ऋषभदेव की लीलाओं का श्रवण
अध्याय सात
राजा भरत के कार्यकलाप
भरत तथा पंचजनी के पाँच पुत्र
वासुदेव को प्रसन्न करने के लिए भरत द्वारा यज्ञों का अनुष्ठान
भरत द्वारा गृहस्थ जीवन का परित्याग
भरत द्वारा सूर्योदय में नारायण की पूजा
अध्याय आठ
भरत महाराज के चरित्र का वर्णन
मृग शावक पर भरत की सहानुभूति
मृग के स्नेह में भरत का बँध जाना
भरत द्वारा मृग को राजकुमार के रूप में अंगीकार करना
मृत्यु के बाद भरत को मृग शरीर की प्राप्ति
भरत का पश्चात्ताप

अध्याय नौ

जड़ भरत का महान् चरित्र

ब्राह्मण के परिवार में भरत का जन्म लेना

अपने पिता के समक्ष जड़ भरत का मूर्खवत् व्यवहार करना

जड़भरत का केवल भोजन के लिए कार्य करना

साक्षात् देवी काली द्वारा जड़ भरत की रक्षा करना

अध्याय दस

जड़ भरत तथा महाराज रहूगण की वार्ता

राजा की पालकी ढोने के लिए जड़ भरत को बाध्य किया जाना

राजा द्वारा जड़ भरत की आलोचना करना

राजा को जड़ भरत का उत्तर

जड़ भरत द्वारा पुन: पालकी ढोना

जड़ भरत से राजा की प्रार्थना

राजा द्वारा प्रश्नों का पूछा जाना

अध्याय ग्यारह

जड़ भरत द्वारा राजा रहूगण को शिक्षा

भौतिक सुख नगण्य हैं

बन्धन तथा मुक्ति मन के द्वारा उत्पन्न होते हैं

मुक्त आत्मा को वस्तुएँ स्पष्ट दिखती हैं

भक्ति द्वारा मन पर विजय पाना

अध्याय बारह

महाराज रहूगण तथा जड़ भरत की वार्ता

जड़ भरत के उपदेश ओषधि के समान हैं

ब्रह्माण्ड का वास्तविक अस्तित्व नहीं है

भक्त के अनुग्रह से परम सत्य का प्राकट्य होता है

महान् भक्तों की संगति

अध्याय तेरह

राजा रहूगण तथा जड़ भरत के बीच और आगे वार्ता

संसार रूपी जंगल में लुटेरे

गृहस्थ जीवन की तुलना जंगल की अग्नि से

जीवात्माएँ परस्पर शत्रुता उत्पन्न करती हैं

राजा बहिरंगा-शक्ति के शिकार के रूप में

जड़ भरत का राजा द्वारा किये गये अनादर को भूल जाना

अध्याय चौदह

भौतिक संसार भोग का एक महान् वन

भौतिक परिवेश द्वारा आत्मा का बद्ध होना

पारिवारिक सदस्य भेड़ियों तथा सियारों के तुल्य
स्वर्ण ऐश्वर्य तथा ईर्ष्या का कारण है
भौतिक सुख की मृगतृष्णा
तथाकथित साधुओं द्वारा वैदिक नियमों के विरुद्ध प्रचार करना
गृहस्थ जीवन दावाग्नि के समान है
निद्रारूपी अजगर द्वारा भौतिकतावादियों का निगला जाना
अध्यात्मवादियों द्वारा सकाम कर्म के पथ की भर्त्सना
बद्धजीव के कष्ट
अनधिकृत मानव-निर्मित भगवान्
गृहस्थ जीवन से क्षणिक इन्द्रिय-सुख का मिलना
भौतिक जीवन में कोई सुखी नहीं
सकाम कर्म की लता
भरत महाराज के विचित्र कार्यकलाप
महाराज भरत का जीवन मननीय है

अध्याय पन्द्रह

प्रियव्रत के वंशजों का यश-वर्णन
सुमति द्वारा ऋषभदेव के पथ का अनुगमन
प्रामाणिक उपदेशकों के आदर्श राजा प्रतीह
राजा गय के राज्यादेश के गुण
दक्ष की कन्याएँ राजा गय का अभिषेक करती हैं
प्रियव्रत का वंशमणि राजा विरज

अध्याय सोलह

जम्बूद्वीप का वर्णन
विश्व रूप का चिन्तन
जम्बूद्वीप स्थल के नौ विभाग
सुमेरु पर्वत के पार्श्ववर्ती चार पर्वत
आम्ररस से निर्मित अरुणोदा नदी
महाकदम्ब वृक्ष से मधु की नदियों का प्रवाह
सुमेरु पर्वत के पादवर्ती पर्वत
ब्रह्माजी की पुरी

अध्याय सत्रह

गंगा-अवतरण
गंगा नदी की उत्पत्ति
गंगा का अन्तरिक्ष पथ में से प्रवाह
सकाम कर्मों का क्षेत्र भारतवर्ष
नारायण का चतुर्व्यूह

शिव द्वारा संकर्षण की स्तुति
शेष द्वारा अपने फनों पर ब्रह्माण्डों को धारण करना
अध्याय अट्ठारह
जम्बूद्वीप के निवासियों द्वारा भगवान् की स्तुति
भद्रश्रवा द्वारा हयशीर्ष की पूजा
हयग्रीव द्वारा वेदों का उद्धार
प्रह्लाद द्वारा उच्चरित मंत्र
मुकुन्द के कार्यकलापों का श्रवण
कामदेव द्वारा अपनी दिव्य इन्द्रियों का आस्वाद
श्रीकृष्ण एकमात्र पति
वैवस्वत मनु द्वारा भगवान् मत्स्य की पूजा
अर्यमा द्वारा कच्छप रूप विष्णु की पूजा
कपिलदेव द्वारा दृश्य जगत का विश्लेषण
आदि शूकर रूप भगवान्
अध्याय उन्नीस
जम्बूद्वीप का वर्णन
रामचन्द्र के नित्य सेवक के रूप में हनुमान
भगवान् रामचन्द्र का सन्देश
अयोध्या के भक्तों का परम धाम वापस जाना
नर-नारायण की महिमा
भौतिकतावादी शरीरिक सुखों में आसक्त रहते हैं
भारतवर्ष की मुख्य नदियाँ
देवताओं द्वारा भारतवर्ष में मानव जन्म लेने की अभिलाषा
देवताओं की पूजा करने वालों को भगवान् द्वारा वरदान
जम्बूद्वीप को घेरने वाले आठ छोटे-छोटे द्वीप
अध्याय बीस
ब्रह्माण्ड-रचना का विश्लेषण
प्लक्षद्वीप के वासियों द्वारा सूर्य की प्राप्ति
सुरासागर से घिरा शाल्मलीद्वीप
कुशद्वीप में कुशों के झाड़
वरुणदेव द्वारा रक्षित क्रौंच पर्वत
मट्ठे के सागर से घिरा शाकद्वीप
पुष्करद्वीप का बृहत् कमल-पुष्प
स्वर्ण से निर्मित भूमि
लोकों को धारण करने के लिए भगवान् द्वारा अपने रूप प्रकट करना
अध्याय इक्कीस

सूर्य की गतियों का वर्णन
समस्त लोकों का स्वामी सूर्य
मानसोत्तर पर्वत के ऊपर से सूर्य की यात्रा
चन्द्रमा का दिखना और अदृश्य होना
सूर्यदेव का रथ
अध्याय बाईस
ग्रहों की कक्ष्याएँ
सूर्य तथा ग्रहों की गतियाँ
सूर्यदेव की तीन प्रकार की गतियाँ
चन्द्रमा भगवान् के प्रताप का प्रतिनिधि
बृहस्पति ब्राह्मणों के लिए अनुकूल है
अध्याय तेईस
शिशुमार ग्रह-मण्डल
समस्त नक्षत्रों तथा लोकों की धुरी स्वरूप ध्रुवतारा
शिशुमार का रूप
शिशुमार चक्र की पूजा का मंत्र
अध्याय चौबीस
नीचे के स्वर्गीय लोकों का वर्णन
सूर्य तथा चन्द्रमा का वैरी राहु
कृत्रिम स्वर्गों में सुन्दर नगरियाँ
बल असुर द्वारा की सृष्टि तीन प्रकार की स्त्रियाँ करना
बलि महाराज द्वारा वामनदेव को सर्वस्व दान
बलि महाराज की वाणी
अनेक फनों वाले सर्पों का स्थान महातल:-
अध्याय पच्चीस
भगवान् अनन्त की महिमा
भगवान् अनन्त का सौन्दर्य
अनन्तदेव द्वारा क्रोध तथा असहशीलता को वश में किया जाना
नारद मुनि द्वारा सदैव अनन्त का गुणगान
अनन्त द्वारा ब्रह्माण्ड का सुगमता से पालन
अध्याय छब्बीस
नारकीय लोकों का वर्णन
नरक लोकों की स्थिति
विभिन्न नरकों के नाम
रुरु नामक पशु
निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देने की सजा

अवैध स्त्री–पुरुष–संभोग के लिए दण्ड
पशुओं की वृथा बलि के लिए दण्ड
ईर्ष्यालु सर्पों के तुल्य मनुष्यों को दण्ड
पुण्यात्मा तथा पापी दोनों पृथ्वी पर वापस आते हैं
परिशिष्ट
लेखक परिचय